॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

५१

महाकवि श्रीकालिदासविरचितं

रघुवंशमहाकाव्यम्

श्रीमल्लिनाथकृतसञ्जीविनीटीकायुत 'मणिप्रभा' हिन्दीटीकोपेतम् ।

(परीक्षोपयोगि १-५ सर्गात्मकम्)

हिन्दीटीकाकारः-

पं० श्री ब्रह्मशङ्करमिश्रः साहित्यशास्त्री

चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, बनारस-१

सं० २०१३] मूल्यं ३) [ई० १९५६

भूमिका

काव्यकी उपादेयता—

यह संसार का अटल नियम है कि प्रत्येक व्यक्ति किसी प्रयोजनके बिना किसी भी कार्य को नहीं करता तथा प्राणिमात्र भी जहाँ तक सम्भव है सरलतापूर्वक अधिकसे अधिक सुख-समृद्धिकी इच्छा रखता है। अतएव यहाँ पर हमें यह विचार करना है कि काव्यका प्रयोजन क्या है? तथा वह कौन-सा सरल साधन है जिससे अधिकसे अधिक सरलतापूर्वक सुख-समृद्धिकी प्राप्ति हो सके। प्रथम प्रश्नके विषयमें भरत मुनिने स्पष्ट कहा है कि—धर्मार्थियोंको धर्म, कामार्थियोंको काम, दुष्टोंको निग्रह, कायरोंको साहस, शूरवीरोंको उत्साह, मूर्खोंको ज्ञान, विद्वानोंको वैदुष्य तथा दुःखियों, शान्तों और शोकार्तोंको विश्रान्ति देनेवाला तथा धर्म, यश, आयुष्यको देनेवाला बुद्धिवर्धक एवं परमहितकारक काव्य है (१)। भामहाचार्यने काव्यको धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थचतुष्टयका साधन कहा है तथा मम्मटाचार्यने काव्यको यश, धन एवं व्यवहारज्ञानका दाता, अमङ्गलनाशक, तत्काल परमसुखप्रद और कान्तावत् उपदेशप्रद बतलाया है।

अब प्रश्न यह उठता है कि वेदान्त, उपनिषद् आदि विविध शास्त्रोंका परिशीलन छोड़कर काव्यका ही परिशीलन क्यों किया जाय? इस सम्बन्धमें केवल इतना ही कहना है कि कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो सरल मार्गसे सिद्ध होने वाले कार्यको कठिन मार्गसे सिद्ध करना चाहेगा। ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यके द्वारा अनायास ही जब इष्टसिद्धि होती है तो क्यों तदर्थ श्रमसाध्य एवं नीरस शास्त्रोंका परिशीलन किया जाय? जो रोग मधुर औषधसे दूर हो सकता है, उसके लिए भला कौन चतुर व्यक्ति कटु औषध-सेवन करना चाहेगा। यही बात वक्रोक्तिजीवितकार भी कहते हैं—अन्यान्य शास्त्र कड़वे औषधके समान अविद्यारूप रोग का नाश करने वाले हैं परन्तु काव्य शास्त्र अमृतवत् आह्लादपूर्वक अविद्यारूप रोगका नाशक है। तथा आचार्य भामहने भी उक्त विषयका ही समर्थन किया है (२)। इतना ही

---

(१) नाट्यशास्त्र १।१०९-१२४ (२) काव्यालङ्कार ५।३

नहीं, अपि तु काव्यके द्वारा राजनीति तथा लोकव्यवहार का ज्ञान भी होता है। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, बाण, माघ, श्रीहर्ष आदि परस्सहस्र काव्यनिर्माताओं को अजरामरत्व देनेवाले उनके रचित 'काव्यशास्त्र' ही हैं। उद्भट आदि विद्वानोंको राजकोषसे प्रतिदिन एक लाख असर्फियां मिलती थीं(१) तथा कवियोंको ही राजदरबारोंमें सान्धिविग्रहिक, मुख्यामात्य आदि सम्माननीय पद प्राप्त होते थे। सूर्य भगवान्‌के स्तुतिकाव्यसे मयूरादि कवियोंके कुष्ठ रोगका नाश होना भी शास्त्रों में पाया जाता है। अत एव काव्यको शृङ्गाररस-प्रधान मानकर रसिकमात्रोंके लिए उपयुक्त कहना नितान्त भ्रमात्मक धारणा है।

काव्य-हेतु—

काव्य-रचनाके लिए अधिकतम आचार्योंका सिद्धान्त है कि—शक्ति, निपुणता तथा अभ्यासका होना अत्यन्त आवश्यक है। इनमें-से स्वस्थ मनमें अनेक प्रकारके अर्थोंका भान एवं सरल पदोंके स्फुरण को 'शक्ति' या 'प्रतिभा' कहते हैं। जिस कविमें इसका सहज अभाव है, वह यद्यपि व्युत्पत्ति तथा अभ्यासके द्वारा कविता भले ही कर ले, किन्तु उसमें वह सरसता नहीं आ सकती जो प्रतिभा-सम्पन्न कविके काव्यमें है। वेद, धर्मशास्त्र, पुराण, व्याकरण, छन्द, कला, इतिहास, कामतन्त्र, आयुर्वेद, कोष आदि विविध शास्त्रोंको एवं काव्यशास्त्रविषयक साहित्यालङ्कारादि ग्रन्थोंका आम्नायपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना 'निपुणता' या 'व्युत्पत्ति' कहलाती है। इसके द्वारा कवि आचाराविरुद्ध कविता करनेमें समर्थ होता है। सततसंलग्न होकर स्वयं तथा गुरुजनके समक्ष काव्यरचनामें लगकर क्रमिक विकास करते रहना 'अभ्यास' कहलाता है। जैनाचार्य वाग्भट (प्रथम) ने प्रतिभाको काव्यका कारण, व्युत्पत्तिको विभूषण तथा अभ्यासको अधिकोत्पादक अर्थात् तीनों को ही काव्यका कारण माना है (२)। काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्यने भी सम्मिलित तीनोंको ही काव्योत्पत्तिमें कारण माना है (३)।

काव्य-लक्षण—

सबका वर्णन करने या जाननेवाला 'कवि' कहलाता है। तथा श्लोकोंको प्रथित करे या वर्णन करे (कवते श्लोकान् प्रथते वर्णयति वा 'कविः') उसे 'कवि' कहते हैं ऐसा अमरकोषके टीकाकार भानुजिदीक्षित का मत है। तथा यही बात अभिधानचिन्तामणिकर्ता हेमचन्द्राचार्यने भी स्वोपज्ञवृत्तिमें व्यक्त की है। 'कवि' शब्द

---

(१) राजतरङ्गिणी देखें। (२) वाग्भटालङ्कार १।३

(३) काव्यप्रकाश १।३ तथा उसकी वृत्ति 'त्रयः सम्मिलिताः··············हेतुर्न तु हेतवः' इति।

का प्रयोग यद्यपि, (१) शुक्राचार्य (२) एवं विद्वत्सामान्य (३) के लिए भी होता है, तथापि मुख्यतया प्रथमतः वाल्मीकि एवं व्यास के लिए प्रयुक्त देखा जाता है। 'वाल्मीकि-रामायण' को 'आदिकाव्य' भी कहते हैं, उसमें आद्यन्त सर्गबन्ध भी है, जो काव्य के लक्षणों में से अन्यतम लक्षण है (इसका विशदीकरण आगे किया जायगा); अत एव प्रत्येक सर्गके अन्तमें 'इत्यार्षे आदिकाव्ये'का उल्लेख वाल्मीकि-रामायणमें आद्यन्त मिलता है। महर्षि व्यासकृत महाभारत भी 'कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम्' (महाभारत १।६१) इस व्यासोक्त वचनसे 'काव्य'में परिगणित है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने भी 'अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः।' (सा० द० ६।५८०) इस कारिकाकी व्याख्यामें 'अस्मिन् महाकाव्ये, यथा—महाभारतम्' कहते हुए महाभारतको स्पष्ट रूपमें 'महाकाव्य' स्वीकार किया है। अत एव व्यासजीके लिए भी 'कवि' शब्द का प्रयोग अत्यन्त सङ्गत है। इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि ये ही दो ग्रन्थ—वाल्मीकि-रामायण तथा महाभारत—अनन्तरके सभी कवियोंके उपजीव्य हुए। महाभारतके विषयमें तो स्पष्ट कहा भी है—

'इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः।
पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः॥'
तथा—'इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः॥'

अग्निपुराणमें अलङ्कार एवं गुणोंसे युक्त तथा निर्दोष पदावलीको 'काव्य' कहनेके बाद इस काव्यमें वचनचातुरीको प्रधानता रहने पर भी रसको ही काव्यका प्राण कहा गया है(४)। वामनाचार्यने भी यही स्वीकार किया है(५)। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने तो रसको ही काव्यकी आत्मा माना है(६)तथा पण्डितराज जगन्नाथने रसगङ्गाधरमें रमणीयार्थप्रतिपादक शब्दको काव्यकी संज्ञा दी है और उस रसमें

(१) 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' (शुक्ल यजु० ४०।८) तथा—'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' (श्रीमद्भाग० १।१।१)

(२) 'शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कविः।' (अमरकोष १।३।२५)

(३) 'विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः···सङ्ख्यावान् पण्डितः कविः।' (अमरकोष २।७।५)

(४) 'संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्नपदावली।
काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितम्॥' (अग्निपुराण ३३७।७)
तथा—'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।' (अग्निपु० ३३७।३३)

(५) द्रष्टव्य—काव्यालङ्कारसूत्र १।१।१-३ तथा उसकी वृत्ति।

(६) 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।' (सा० द० १)

चमत्कारको सार बतलाया है(१)। इस प्रकार समष्टिरूपसे विचार करने पर चमत्कारयुक्त रसात्मक सगुण सालङ्कार एवं निर्दोष वाक्यको 'काव्य' कहते हैं। यही निष्कृष्ट लक्षण काव्यका होता है।

काव्यके भेद—

यहाँ तक 'काव्य' का निष्कृष्ट लक्षण कहनेके बाद उसके भेदोंका निर्देश करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने काव्यके दो भेद कहे हैं—दृश्यकाव्य तथा श्रव्यकाव्य। प्रथम दृश्यकाव्यको 'रूपक' भी कहते हैं। यह (दृश्य या रूपक) 'नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी और प्रहसन'के भेदसे दश प्रकारका होता है। तथा द्वितीय (श्रव्यकाव्य) पद्यात्मक, गद्यात्मक तथा गद्यपद्यात्मक भेदसे तीन प्रकारका होता है। इनमें-से भी प्रथम पद्यात्मक काव्यके महाकाव्य, खण्डकाव्य, कुलक, कलापक, सन्दानितक, युग्मक और मुक्तक—ये ७ भेद हैं; द्वितीय गद्यात्मक काव्यके कथा, आख्यायिका ये दो और विश्वनाथके मतसे मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक—ये चार भेद हैं(२)। तृतीय गद्यपद्यात्मक काव्यको 'चम्पू' तथा उसीके राजस्तुतिपरक होने पर 'विरुद' और बहुभाषावाला होनेपर 'करम्भक' कहते हैं(३)।

महाकवि कालिदास और उनकी विशेषतायें—

हम पहले आदि कवि वाल्मीकि तथा महर्षि व्यास की चर्चा कर चुके हैं उनके अनन्तर महाकवि कालिदासका नाम सर्वप्रथम आता है। इस महाकविके नामसे केवल विद्वत्समाज ही नहीं, अपितु साधारणतम शिक्षित तथा कतिपय अशिक्षित समाज तक सुरिपचित है। इसका कारण यह है कि कविमें जिन गुणोंकी आवश्यकता है, वे सभी गुण इस महाकविमें पूर्णरूपसे विद्यमान थे। इस महाकविकी नैसर्गिक एवं सामयिक वाणीमें शूरवीरोंसे लेकर कायरोंतकमें उत्साह भरनेकी शक्ति थी तो विद्वानोंसे लेकर मूर्खों तकमें पात्रानुकूल रचनाओंसे ज्ञान भरनेकी अदृष्टचर कला थी। प्रकृतिका सूक्ष्म निरीक्षण तथा मानवमानसके भीतर अन्तर्हित गूढतम भावके ज्ञानमें कालिदासको स्वतःसिद्धि प्राप्त थी। शृङ्गार रसके तो ये अन्यतम महाकवि थे ही, करुण रसमें भी इन्हें पूर्णतया सफलता मिली है। कुमारसम्भवके रति-विलाप, रघुवंशके अज-विलाप में किये गये करुणात्मक वर्णनसे कौन ऐसा सहृदय होगा जो उनके दुःखसे दुःखी होकर चार बूँद आंसू न

(१) 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।' तथा—'रसे सारश्चमत्कारः।'

(२) 'वृत्तबन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकञ्च चतुर्विधम्॥' (सा० द० ६।५८६).

(३) 'द्रष्टव्य—साहित्यदर्पण ६।५८९-५९१

बहा दे । इस महाकविके नाटकत्रय यद्यपि एकसे एक बढ़कर हैं, किन्तु 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' नाटक तो नाटकमालामणियोंका सुमेरु (मध्यनायकमणि) है, जिसकी तुलना भारतीय महाकवियोंका नाटक ही नहीं, अपितु विदेशीय महाकवियोंका भी नाटक अद्यावधि नहीं कर सका—इस बातको विदेशीय साहित्य-समीक्षक विद्वान् भी कहते एवं मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हैं(१)। उसमें भी चतुर्थ अङ्कमें महाकविने शकुन्तलाकी विदाईके समयमें आश्रमवासी मनुष्योंको ही नहीं, अपितु मृगी, मयूरी, चक्रवाक और तो क्या ? लता तकको भी रुला दिया है(२)। यह है महाकविका लोकोत्तर चमत्कार, जिसके कारण आज भी मानव ऋणी है और आचन्द्रदिवाकर कालतक रहेगा। शकुन्तलाके प्रति उपदेश तथा राजाके प्रति सन्देश(३) तो प्रत्येक गृहस्थके लिए हृदयमें उतारकर आचरणीय है, वह केवल शकुन्तला या राजा दुष्यन्तके लिये महर्षि कण्वका सन्देश नहीं, किन्तु समस्त भारतीय गृहस्थ नर-नारियोंके लिये सुवर्णाक्षरोंमें अङ्कितकर रखने योग्य माननीय महाकवि कालिदासका सन्देश है। महाकविका भौगोलिक ज्ञान कितना समुन्नत था इसका पता मेघदूत तथा रघुवंशके रघुदिग्विजय तथा अज-स्वयंवर-वर्णनसे स्पष्ट है। सैकड़ों वर्षोंतक वैज्ञानिक अनुसन्धानमें कोटिशः रुपया व्यय करनेके बाद जिस बातका आधुनिक वैज्ञानिक पता लगा सके हैं, उसको हमारे महाकवि कालिदासने आजसे दो सहस्र वर्ष पूर्व ही 'धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः' (मेघदूत पूर्व० श्लो० ५) के द्वारा डङ्केकी चोटसे घोषित कर चुके थे। कुमारसम्भव, मेघदूत तथा शाकुन्तलके वर्णनसे स्पष्ट है कि इन्हें हिमालय तथा उत्तर भारतका वर्णन जितना प्रिय था, उतना विन्ध्यपर्वत तथा दक्षिण भारतका नहीं। कालिदास भारतीय संस्कृति (वैदिक संस्कृति) के सच्चे उपासक थे, इसीलिये उन्होंने यथास्थान सन्ध्योपासनादि नित्यक्रिया, ब्रह्मचर्यादि आश्रम, जातकर्मादि संस्कारका वर्णन किया है। गो-ब्राह्मणके तो आप सच्चे उपासक थे; चक्रवर्ती दिलीपके द्वारा २१ दिन तक 'नन्दिनी' की सेवा करनेके उपरान्त पुत्रप्राप्तिरूप मनोरथकी सिद्धि होना तथा 'गोमूत्र' के नेत्रमें लगाने मात्रसे दिव्य दृष्टि प्राप्त करना गो-सेवाका और आतिथ्यसत्काररूप स्वकर्तव्यसे विमुखी महर्षि-कण्वसुता शकुन्तलाका दुर्वासाके शापसे नानाविध कष्ट सहना ब्राह्मणसेवा-विमुखता का एवं कौत्सशिष्यवरतन्तुको अपार धनराशि दान देकर 'अज' को पुत्ररूपमें प्राप्त

---

(१) यथा—'काव्येषु नाटकं श्रेष्ठं तत्रापि च शकुन्तला।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥' इति ।

(२) 'उग्गीण्णदब्भकवला मई परिच्चत्तणत्तणा मोरी ।
ओसरिअपाण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सुं विअ लदाओ ॥' (अभि० शाकु० ४।१४)

(३) द्रष्टव्य—अभिज्ञानशाकुन्तलका चतुर्थ अङ्क ।

करना ब्राह्मण-सेवाका स्पष्ट उदाहरण है। रघुवंशके नवम तथा अष्टादश सर्गकी रचना महाकविने यमकमें की है। आपकी रचनामें वैदर्भी रीति एवं प्रसाद गुणका बाहुल्य पाया जाता है। उपमाके तो आप बेजोड़ कवि हैं, कहा भी है—'उपमा कालिदासस्य'। छोटे-से छोटे प्रसङ्गका भी आप उपमाके विना प्रायः वर्णन नहीं करते, वह उपमा भी ऐसी होती है कि मशीनके पुर्जेके समान बिलकुल फिट हो जाती है, लेशमात्र भी खींचा-तानी नहीं करनी पड़ती। रघुवंशके मङ्गलाचरणको ही लीजिये, महाकविने नित्यसम्बद्ध एवं लोकव्यवहारमूलक होनेसे मातृ-पितृकल्प शब्द-अर्थको नित्य सम्बद्ध एवं जगत्के माता-पिता पार्वती-परमेश्वरकी उपमा देकर कितनी सुन्दर कल्पना की है। इतना ही नहीं, थोड़ा गम्भीर विचार करनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि महाकवि कालिदासने 'पार्वती-परमेश्वर' शब्दसे जगत्कर्तृत्व होनेके कारण संसारके मातृ-पितृस्थानीय प्रकृति-पुरुषको लक्षितकर अपने सूक्ष्म दार्शनिक ज्ञानका परिचय दिया है।

निवासस्थान तथा-जीवनचरित

महाकवि कालिदासने अपने निवासके विषयमें किसी ग्रन्थमें किञ्चिन्मात्र भी संकेत नहीं किया है। जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं कि इनको विन्ध्य एवं दक्षिण भारतकी अपेक्षा हिमालय तथा उत्तर भारतका वर्णन अतिशय प्रिय था, इसमें इन्हें पूर्णतया सफलता मिली है। इसी वर्णनके आधारपर कुछ विद्वान् इन्हें कश्मीरी मानते हैं। महाकाली देवीका उपासक होनेसे कुछ लोग बङ्गाली मानते हैं तो कुछ लोग विदर्भदेशोत्पन्न मानते हैं। लघुतम रचना मेघदूतमें उज्जयिनीका सविस्तर वर्णन करनेसे कुछ इतिहासज्ञ विद्वान् इन्हें उज्जयिनी निवासी बतलाते हैं। इसी प्रकार महाकविका जीवनवृत्त भी सन्तमसाच्छन्न-सा है। इनके सम्बन्धमें जो जो किंवदन्तियां प्रचलित हैं, उनमेंसे कुछ निम्नलिखित हैं—प्रथम यह किंवदन्ती है कि महाकवि कालिदास पहले महामूर्ख थे। शास्त्रार्थमें अनेक उद्भट विद्वानोंको पराजित करनेवाली तथा शास्त्रार्थमें अपने विजेताके साथ ही विवाह करनेकी प्रतिज्ञा की हुई एक राजकुमारीसे जल-भुनकर कुछ विद्वानोंने कालिदासको राजसभामें लाकर इनके पाण्डित्यकी बड़ी प्रशंसा करके राजकुमारीसे विवाह सम्बन्ध करा दिया। अनन्तर घर जानेपर राजकुमारीने वज्रमूर्ख जानकर तिरस्कारपूर्वक इन्हें घरसे निकाल दिया। तदनन्तर इस प्रकार तिरस्कृत होकर ये भगवती महाकालीकी आराधनासे वरदान प्राप्त कर पुनः घर लौटे तो इनकी पत्नी राजकुमारीने पूछा कि—'अस्तिकश्चिद्वागर्थः ?' (१)इसके उत्तरमें महाकविने क्रमशः 'अस्ति, कश्चित्, वागर्थः' तीन प्रश्नगत पदोंके आधार पर 'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्म....'. 'कश्चित्का-

(१) कहीं २ '.......वाग्विशेषः' ऐसा पाठ है।

न्ताविरहगुरुणा......' और 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ......' इस प्रकार कुमारसम्भव, मेघदूत तथा रघुवंश—इन तीन ग्रन्थोंकी रचना की। द्वितीय किंवदन्ती यह है कि महाकवि कालिदास लङ्काके राजा कुमारदास के राजपण्डित या मित्र थे। वहां पर इन्हें किसी वेश्याने मार डाला। तृतीय किंवदन्तीके अनुसार इनकी मृत्यु 'धारा' नगरीमें हुई ऐसा कहा जाता है।

समय-निरूपण—

महाकवि कालिदासके समयका निर्णय भी इनके जीवनवृत्त तथा निवास-स्थानके समान ठीक-ठीक नहीं हो सका है। तथापि अनुसन्धानके द्वारा इतिहासज्ञ विद्वानोंने इनके समयके विषयमें जो मत अबतक स्थिर किया है, वह इस प्रकार है। कतिपय इतिहासवेत्ता कालिदासका समय ईसवीय षष्ठ शतकमें मानते हैं और अपने पक्षकी पुष्टिमें ईसवीय षष्ठ शतकमें महाराज यशोधर्माने हूणवंशीय राजा मिहिरकुलको पराजित किया था। अतएव—

'धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥'

इस श्लोकमें उल्लिखित विक्रमादित्य ही महाराजा यशोधर्मा थे। किन्तु यशोधर्माके विक्रमादित्यकी उपाधि धारण करनेका कोई प्रमाण कहीं नहीं मिलता, तथा ये शकादि नहीं, अपितु हूणादि थे, अतएव डाक्टर हार्नलीका उक्त मत सयुक्तिक नहीं है। फर्ग्यूसन सा० का मत है कि ५४४ ई० में कारूरकी लड़ाईमें उज्जयिनी-नरेशने हूणोंको पराजित कर अपनी विजयको स्थायी करनेके लिए अपने नाम पर विक्रम संवत् चालू किया और उसकी प्राचीनता सिद्ध करने के लिए ६०० वर्ष पूर्व (ई० वर्षसे ५७ वर्ष पहले) उस संवत्का स्थापनाकाल कल्पित किया। यही महाकवि कालिदासके विक्रमादित्य हैं, अतः कालिदासका समय ईसवीय वर्षका षष्ठ शतक मानना चाहिये। परन्तु इस मतको अन्य इतिहासवेत्ता स्वीकार नहीं करते, उनका मत है कि भारतवर्षमें विक्रमादित्य नामका कोई भी राजा ईसवीय वर्षके षष्ठ शतकमें नहीं हुआ और न किसी राजाने ६०० वर्ष पूर्व स्थापनाकाल मानकर कोई संवत् ही चालू किया। इस सम्बन्धमें श्रद्धेय पं० बलदेवजी उपाध्याय का अभिमत ठीक मालूम पड़ता है। उनका कहना है कि—पूर्वकालमें मालव गणोंका विशेष प्रभुत्व था, वह जाति सिकन्दरसे पराजित होकर राजपूतानेकी ओर आयी तथा मालवमें अपना पुनः प्रभुत्व जमाया। इस अर्सेमें इसे लगभग दो सौ वर्ष व्यतीत हो गये। इस गणराज्यके मुखिया विक्रमादित्य थे, इन्होंने ही युद्धमें शकोंको हराया, विजयके हर्षोल्लासमें नवीन संवत् चालू किया। गणराज्यमें किसी व्यक्तिकी

नहीं किन्तु समष्टिकी प्रमुखता रहती है, अतएव उक्त वह संवत् 'मालव संवत्' नामसे प्रसिद्ध हुआ। इन्हीं विक्रमादित्यके सभापण्डित नवरत्नोंमेंसे महाकवि कालिदास भी अन्यतम थे, अतएव कालिदासका समय ईसवीय-वर्षके एक शतक पूर्व मानना उचित प्रतीत होता है। मध्यभारत प्रान्तमें स्थित मन्दसौरके शिलालेखसे इसे मालव संवत् होनेकी पूर्णतया पुष्टि होती है। उक्त शिलालेख इस प्रकार है—

'मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्वने॥' (वत्सभट्टिः)

कालिदासको ईसवीय वर्षके षष्ठ शतकमें माननेवालोंका तृतीय पक्ष यह कहता है कि—कालिदासके ग्रन्थसे पता चलता है कि वे ग्रीक ज्यौतिषसे सुपरिचित थे। उक्त ग्रीक ज्यौतिष सिद्धान्त भारतमें सर्वप्रथम प्रचारक आर्यभट्ट ईसवीय वर्षके पञ्चम शतकके अन्तिम पादमें हुए, अतएव कालिदासका समय ईसवीय वर्षका षष्ठ शतक मानना सर्वथा न्याय्य है। किन्तु डा० मैकडोनेल्डका कहना है कि ग्रीक ज्यौतिष सिद्धान्तका भारतवर्षमें सर्वप्रथम प्रचार करनेवाले आर्यभट्ट नहीं हैं, क्योंकि 'रोमकसिद्धान्त' नामक ग्रन्थसे स्पष्ट है कि भारतीय जनता आर्यभट्टसे पहले ही ग्रीक ज्योतिष सिद्धान्तसे पूर्णतया परिचित थी। यह ग्रन्थ आर्यभट्टसे भी पूर्व समयका है। अतएव उक्त सिद्धान्तके आधार पर महाकवि कालिदासका ईसवीय वर्षके षष्ठ शतकमें विद्यमान होना कदापि प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। कालिदासको ईसवीय वर्षके षष्ठ शतकमें माननेवालोंका चतुर्थ पक्ष यह है कि—कालिदासकृत मेघदूत पूर्वार्द्धके 'अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः······' (मे० दू० पूर्वा० १४) श्लोकका म० म० मल्लिनाथने स्वकृत 'सञ्जीवनी' व्याख्या में द्वितीय अर्थ करते हुए 'निचुल' नामक विद्वान्को कालिदासका सहाध्यायी और उन (कालिदास) की रचनाओंमें 'दिङ्नागाचार्य' के द्वारा प्रदर्शित दोषोंका उद्धारक बतलाया है। ये दोनों विद्वान् (निचुल तथा दिङ्नागाचार्य) बौद्ध थे तथा इनमेंसे दिङ्नागाचार्य ईसवीय वर्षके षष्ठ शतकमें वर्तमान 'वसुबन्धु' के शिष्य थे, अतएव कालिदासका समय भी ईसवीय वर्षका षष्ठ शतक ही मानना चाहिये, किन्तु यह पक्ष भी सर्वसम्मत नहीं है क्योंकि 'वसुबन्धु' ईसवीय वर्षके षष्ठ शतकमें नहीं, अपितु चतुर्थ शतकमें वर्तमान थे, उनके ग्रन्थोंका अनुवाद चीनी भाषामें, ईसवीय वर्षके चतुर्थ शतकका चरम पाद तथा पञ्चम शतकके प्रथम पाद में होना दृढतम-प्रमाण है। इन कारणोंसे कालिदासका ईसवीय वर्षके षष्ठ शतकमें अस्तित्व मानना किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता।

आदरणीय के० बी० पाठक कालिदासको स्कन्दगुप्त विक्रमादित्यका समकालीन

मानते हैं। उनका कहना है कि रघुवंशमें रघुके दिग्विजयवर्णनके प्रसङ्गमें कालिदासने 'वङ्क्षु' (वर्तमानमें–अरबसागरमें गिरनेवाली आमू दरिया) नदीके तटपर हूणोंके रघुद्वारा पराजित होने का वर्णन किया है। हूण जातीय लोग आक्सस नदीके तटपर ईसवीय वर्षके पञ्चम शतकके प्रथम पादमें बस गये थे और स्कन्दगुप्त विक्रमादित्यके साथ उनका युद्ध ईसवीय वर्षके पञ्चम शतकके मध्यमें हुआ, इस कारण कालिदासका समय वही (ईसवीय वर्षका पञ्चम शतक) मानना उचित है। इस पक्षमें माननीय कान्तानाथ शास्त्री तैलङ्ग यह दोष बतलाते हैं कि अधिकतम ग्रन्थोंमें 'वङ्क्षु'के स्थान पर 'सिन्धु' पाठ मिलता है। इस पाठको ठीक मान लेनेपर यह मानना पड़ेगा कि हूण जातिके लोगोंके 'सिन्धु' नदीके तटपर बसनेके समयमें कालिदास हुए थे और यह समय ईसवीय वर्षका षष्ठ शतक सिद्ध होता है, क्योंकि यशोधर्मासे पराजित मिहिर कुलने ईसवीय वर्षके षष्ठ शतकमें हूण राज्यकी स्थापना की थी। यदि 'वङ्क्षु' पाठ ही ठीक मान लिया जाय तो आमू दरिया (आक्सस नदी) के तटपर केसरकी उत्पत्ति माननी पड़ती है, यह भूगोलशास्त्रके विरुद्ध है, क्योंकि भूगोलमें 'सिन्धु' नदीके तटपर ही केसरकी उत्पत्ति मानी गयी है। अतएव कालिदासको ईसवीय वर्षके पञ्चम शतकमें मानना भी सिद्धान्तसङ्गत नहीं है।

महाकवि कालिदासको ईसवीय वर्षके चतुर्थ शतकमें माननेवाले डा० कीथका कथन है कि अश्वघोषके प्राकृत की अपेक्षा कालिदासका प्राकृत अर्वाचीन है, कालिदास ग्रीक ज्यौतिषके पारिभाषिक शब्दोंसे सुपरिचित थे। उनके रचित ग्रन्थोंके वर्णनसे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि उनके समयमें वैदिक धर्मका प्रचुरमात्रामें प्रचार था, देश सुखैश्वर्यसम्पन्न था; अतएव ये कालिदास किसी–न–किसी गुप्तवंशीय सम्राट्के आश्रित होंगे और वह गुप्त सम्राट् सम्भवतः द्वितीय चन्द्रगुप्त ही होंगे। कालिदासने 'कुमारसम्भव' की रचना भी इन्हीं सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीयके पुत्र कुमारगुप्तकी जन्मकालीन घटनापर की है। परन्तु यह पक्ष भी इतना ही सिद्ध करता है कि कालिदास किसी गुप्त सम्राट्के आश्रित थे, सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय ही थे, इस विषयमें कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिलता, अतः गुप्तवंशमें स्कन्दगुप्त भी महाप्रतापी तथा विक्रमादित्योपाधिधारी हो चुके हैं और इनके ही आश्रित महाकवि कालिदासको माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त समुद्रगुप्तका प्रयागका स्तम्भलेख उनकी मृत्युके बाद सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीयके समयमें लिखा गया जो विद्वान् मानते हैं, उनके सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि कालिदास सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीयके आश्रित थे तो उक्त प्रयाग का स्तम्भलेख इनसे न लिखाकर निम्नस्तरके विद्वान् 'हरिसेन'से क्यों लिखवाया गया? अतएव इन कारणों से कालिदासको सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीयका आश्रित मानकर ईसवीय

वर्षके चतुर्थ शतकमें कालिदासका समय मानना भी निर्णीत पक्ष नहीं कहा जा सकता।

कतिपय विद्वानों का यह पक्ष है कि महाकवि कालिदास तथा बौद्ध दार्शनिक कवि अश्वघोषकी कल्पना-शैलीमें अधिक साम्य है। जैसा कि कालिदासकृत रघुवंशके द्वितीय सर्गके २४ वें तथा सप्तम सर्गके ११ वें श्लोकों और क्रमशः अश्वघोषकृत बुद्धचरितके त्रयोदश सर्गके ५७ वें तथा तृतीय सर्गके १९ वें श्लोकोंके साथ उक्त साम्य स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त रघुवंशके सप्तम सर्गमें ५ वें से १५ वें श्लोक तक नगरमें प्रवेश करते हुए वधूवरको देखनेके लिए उत्कण्ठित रमणियोंका जो मनोरम वर्णन कालिदासने किया है, ठीक वैसा ही वर्णन अश्वघोषकृत बुद्धचरितके तृतीय सर्गके १३ वें से २४ वें श्लोक तक मिलता है, अत एव अश्वघोषके परवर्ती कालिदासका बुद्धचरितमें अश्वघोषकल्पित भावका अनुसरण करना स्पष्ट हो जाता है। अश्वघोष ईसवीय वर्षके प्रथम शतकके वर्तमान कुषाण नरेशके समकालीन थे, अतः उत्तरार्द्धमें कालिदासका समय ईसवीय वर्षके द्वितीय शतकमें मानना उचित है। इसके विपक्षमें श्रद्धेय पं० बलदेव मिश्रजीका कथन है कि कालिदास काव्य-कलाके आकर थे, उनपर सर्वास्तिवादी दार्शनिक बौद्ध कवि अश्वघोषका प्रभाव नहीं पड़ा है, अपि तु अश्वघोषपर ही कालिदास का प्रभाव पड़ा है, उन्हों (अश्वघोष) ने काव्यकलाको धर्मप्रचारका जनताप्रिय उत्कृष्ट साधन मानकर उसे अपनाया। यदि अश्वघोषके भावोंको कालिदासने अपनाया होता तो रघुवंशके इन्दुमती स्वयंवरके बादका जो अभिराम वर्णन मिलता है ठीक वही ज्योंका त्यों वर्णन उन्हीं रघुवंशके पद्योंसे कुमारसम्भवके सप्तम सर्गमें पार्वतीशिवको देखनेके लिये उत्कण्ठित रमणियोंका करके अश्वघोषका ऋण दुबारा व्यक्त नहीं करते, अपि तु रूपान्तर देकर उसे छिपाने का यत्न करते। अतः उचित यही प्रतीत होता है कि कालिदासने अश्वघोषका अनुकरण नहीं किया है, बल्कि अश्वघोषने ही कालिदास का अनुकरण किया है, अतएव कालिदासका समय अश्वघोषसे पहले अर्थात् ईस-वीय वर्षका प्रथम शतक होना चाहिये।

उपर्युक्त बातकी ही पुष्टि जैनविद्वान् मेरुतुङ्गाचार्यकृत 'पट्टावलि'से एवं ऐतिहा-सिक अन्वेषणोंसे भी होती है। 'पट्टावली' में उज्जयिनी नरेश गर्दभिल्लके राजकुमार विक्रमादित्यने शकोंको पराजितकर उज्जयिनीका राज्य पुनः ले लिया था, यह घटना अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीरके निर्वाणके ४७० वर्ष पहले की है। प्रबन्धकोष एवं शत्रुञ्जयमाहात्म्यसे भी उक्त विषय प्रमाणित होता है। वह उज्जयिनी नरेश विद्वानोंको लाखोंका दान करता था, महाप्रतापी, उदार शूरवीर था। उक्त इसी विक्रमादित्यके आश्रित कालिदासको माननेपर उनका समय ईसवीय वर्षके पूर्व प्रथम शतक होता है; किन्तु माननीय कान्तानाथ शास्त्री तैलङ्ग का अभिमत है कि

पाश्चात्य विद्वान् कालिदासकृत समाजके वर्णनादिसे उन (कालिदास) को किसी गुप्त सम्राट् का ही आश्रित होना स्वीकार करते हैं।

अन्तमें बहुत ऊहापोह करनेके बाद यह तो निश्चित है कि कालिदासने अपनी रचना मालविकाग्निमित्र नाटकमें 'अग्निमित्र' को नायक बनाया है, वह अग्निमित्र शुंगवंशीय पुष्यमित्रका पुत्र था, जिसका समय ईसवीय सन्के पूर्वद्वितीय शतक इतिहासज्ञोंने माना है। तथा ईसवीय वर्षके सप्तम शतकमें वर्तमान हर्षचरितकर्ता महाकवि 'बाणभट्ट'ने कादम्बरीके कथामुखमें कवियोंका वर्णन करते हुए कालिदास का भी नाम लिया है, (१)अतएव महाकवि कालिदासका समय ईसवीय वर्षके पूर्व द्वितीय शतक तथा ईसवीय वर्षके बाद सप्तम शतकका पूर्वार्द्ध या षष्ठशतक सिद्ध होता है।

कालिदासके ग्रन्थ—

हम पहले कह चुके हैं कि महाकवि कालिदासने अपने विषयमें कहीं कुछ भी नहीं लिखा है। अतएव उनकी जीवनी तथा समयके समान रचना भी यद्यपि सन्देहसे परे नहीं है तथापि 'रघुवंश तथा कुमारसम्भव' नामक दो महाकाव्य, 'मेघदूत' नामक एक खण्डकाव्य और 'अभिज्ञानशाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र तथा विक्रमोर्वशीय' नामके तीन नाटक इनके ग्रन्थ हैं। 'ऋतुसंहार' काव्य तथा 'श्रुतबोध' नामक छन्दःशास्त्रका छोटा सा ग्रन्थ भी इन्हीं की रचनाओंमें से है ऐसा भी कुछ विद्वान् मानते हैं। कतिपय विद्वान् 'नलोदय काव्य' पुष्पबाणविलास काव्य, द्वात्रिंशत्पुत्तलिका, श्रृङ्गारतिलक, श्रृङ्गाररसाष्टक, और 'विवाहवृन्दावन' ग्रन्थोंको भी कालिदासकी ही रचना मानते हैं। यह तो निश्चित ही है कि उपर्युक्त सब ग्रन्थ महाकवि कालिदासकी रचना हैं, किन्तु तीन कालिदास हो चुके हैं, (२) उनमें किसने कौन-कौनसे ग्रन्थ रचे यह विवादका विषय है, तथापि पूर्व ६ ग्रन्थ (२ महाकाव्य, १ खण्डकाव्य तथा ३ नाटक ग्रन्थ) हमारे विवेच्य प्रथम महाकवि कालिदासकी ही रचना हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है।

महाकाव्यका लक्षण—

साहित्यदर्पणमें विश्वनाथने महाकाव्यका लक्षण इस प्रकार कहा है—महाकाव्य की रचना सर्गोंमें होती है, उसमें एक देवता या धीर और उदात्तगुणयुक्त श्रेष्ठ वंशमें

---

(१) 'निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥' (हर्षचरित १।१६)

(२) जैसा राजशेखरने कहा है—
'एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
श्रृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ?॥'

उत्पन्न क्षत्रिय नायक होता है अथवा एक वंशमें उत्पन्न अनेक राजा भी नायक होते हैं। इस महाकाव्यमें शृङ्गार वीर तथा शान्त—इन तीनोंमें-से कोई एक रस अङ्गी (प्रधान) तथा अन्य रस अङ्ग रहते हैं। नाटककी सभी सन्धियां महाकाव्यमें रहती हैं। इस महाकाव्य में कोई इतिहासप्रसिद्ध या सज्जनाश्रित वृत्तका वर्णन रहता है। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों का लाभ महाकाव्यका फल (प्रयोजन) होता है। सर्वप्रथम ग्रन्थादिमें आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक या वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण किया जाता है। किसी-किसी महाकाव्यमें दुष्टोंकी निन्दा तथा सज्जनोंकी प्रशंसा भी की जाती है। इस महाकाव्य के प्रत्येक सर्गमें एक छन्द होता है तथा सर्गके अन्तमें छन्दका परिवर्तन कर दिया जाता है अथवा अनेक छन्दोंवाले भी पद्य किसी-किसी सर्गमें देखे जाते हैं। न बहुत बड़े और न बहुत छोटे कमसे कम आठ सर्ग महाकाव्य में होते हैं। सर्गकी समाप्तिमें अग्रिम सर्गकी कथाका सङ्केत रहता है। सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातः, मध्याह्न, आखेट, पर्वत, वन, समुद्र, सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृङ्गार, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, युद्धयात्रा, विवाह, मन्त्रणा, पुत्रोत्पत्ति आदिका साङ्गोपाङ्ग वर्णन इस महाकाव्यमें यथावसर किया जाता है। कवि, वर्णनीय विषय, नायक या दूसरे किसीके नामपर महाकाव्यका नामकरण किया जाता है। इसके सर्गका नाम सर्गमें वर्णनीय कथा-प्रसङ्गके आधारपर रहता है।

रघुवंशमहाकाव्य—

इस प्रकार 'रघुवंश' तथा 'कुमारसम्भव' उपर्युक्त महाकाव्यके समस्त लक्षणोंसे युक्त होनेसे 'महाकाव्य' की श्रेणीमें आते हैं।

कुमारसम्भवमें १७ सर्ग हैं, इसमें कुमार अर्थात् कार्तिकेयके जन्मका वर्णन है। इसकी रचना रघुवंशके पहले कालिदासने की ऐसा विद्वानोंका अभिमत है। कतिपय विद्वान् तो कुमारसम्भवके आदिम ७ सर्गोंको ही कालिदासकी रचना मानते हैं तथा कतिपय अष्टम सर्गको भी। इन आठ सर्गों पर ही म० म० मल्लिनाथकी व्याख्या है। शेष सर्गोंकी रचना किसी महाराष्ट्र कविने की यह डा० जेकोबीका मत है—ऐसा माननीय कान्तानाथ शास्त्री तैलङ्गका (१) कथन है।

—हरगोविन्द शास्त्री

---

(१) चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस से प्रकाशित कुमारसम्भव पञ्चम सर्गकी प्रस्तावनामें तैलङ्ग शास्त्री का इस प्रसंगमें विस्तृत विवेचन पढ़िये।

संक्षिप्तकथासार

प्रथम सर्ग

सारी भोग विलास योग्य वस्तुओं के रहने पर भी महाराज दिलीप पुत्र के बिना अत्यन्त दुःखी होकर सभी राज्यकार्य को भृत्यों पर सौंप कर अपनी धर्मपत्नी सुदक्षिणा के साथ गुरु वशिष्ठ के आश्रम में पहुंचे। वशिष्ठजी ने उनसे सत्कार के साथ कुशल पूछा। राजा ने कहा-भगवन्! आप की दया से सब आनन्द है किन्तु आप की पुत्रवधू इस सुदक्षिणा की सन्तति को नहीं देखकर सारे रत्नों से भण्डार भरे होने पर भी सन्तति के बिना मुझको शान्ति नहीं मिल रही है। इसलिये मुझे कल्याण का मार्ग दिखा दीजिये। वशिष्ठजी ने सन्तति निरोध का रहस्य जानकर राजा से कहा—पूर्व जन्म में इन्द्र का उपस्थान कर लौटते समय आप ने ऋतुस्नाता गर्भ चाहने वाली अपनी धर्म पत्नी के पास आने की त्वरासे मार्ग में सुरभि (गौ) को नहीं पूजितकर अपमानित किया। बाद में उसने शाप दे दिया—'तूने मेरा घोर अपमान किया है इसलिये जब तक तू मेरी सन्तति की आराधना नहीं करेगा तब तक तुझे सन्तान नहीं होगी।' उस शाप को आकाश गङ्गा के निनाद से आपने नहीं सुना। इसीलिये आपको सन्तति नहीं होती। सुरभि तो अभी पाताल चली गई है किन्तु उसकी पुत्री नन्दिनी यहीं है। उसकी आराधना कर आप सफल मनोरथ हो सकते हैं। यह सुनकर महाराज दिलीप प्रसन्न हो उठे।

द्वितीय सर्ग

गुरु वशिष्ठ के आदेशानुसार सबेरे ही राजा दिलीप नन्दिनी गौ को आगे कर आराधनार्थ वन चले जाते थे और रात होनेपर अरुन्धती सहित वशिष्ठजीके चरणों को दबाकर नन्दिनी की पुनः परिचर्या करके सो जाते थे। इस तरह परिचर्या करते २ राजा दिलीप के २१ दिन बीत गये। एक दिन दिलीप की भक्ति की परीक्षा करने के लिये कैलास की गुफा में घुसकर माया-निर्मित बनावटी सिंह से आक्रान्त होकर नन्दिनी बहुत जोर से चिल्ला उठी। राजा दिलीप ने नन्दिनी पर चढ़े हुए सिंह को देखकर उसको मारने के लिए तरकस से बाण निकालने लगे, इतने में उनका हाथ बाण के पङ्खों में चिपक गया। क्रोध के मारे जलते हुए राजा को मनुष्यवाणी द्वारा विस्मित करते हुए सिंह ने कहा—हे राजन्! भगवान् शङ्कर की दया से आप मेरा एक भी बाल बांका नहीं कर सकते। मैं बहुत दिनों से भूखा हूँ

इसको खाकर तृप्त होऊँगा, इसलिये आप वापस घर लौट जाइये। इस बात को सुनकर राजा ने कहा—हे मृगेन्द्र ! भगवान् शङ्कर और गुरु वशिष्ठ जी दोनों ही मेरे पूज्य हैं दोनों का आदर करना मेरा कर्तव्य है। इसलिये इस नन्दिनी को छोड़कर मेरे ही शरीर से आप अपनी भूख मिटालें। बाद में सिंह द्वारा अनेक प्रकार मना करने पर भी राजा उसके सामने अपने शरीर को अर्पित कर शिर झुकाकर खड़े हो गये। उस समय देवों ने उन पर फूलों की वर्षा की। नन्दिनी ने कहा—'वत्स ! उठो' गुरु की दया से मैं तेरे ऊपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। वर माङ्गो, हाथ जोड़कर दिलीप ने कहा—मातः ! मुझे सन्तान चाहिये। 'तथास्तु' कहकर 'मेरा दूध पीओ' ऐसी उसने आज्ञा दी। गुरु की आज्ञा से नन्दिनी का दूध पीकर सुदक्षिणा के साथ राजा राजधानी लौट आये और रानी सुदक्षिणा को गर्भचिन्ह प्रकट होने लगा।

तृतीय सर्ग

राजा ने सुदक्षिणा की गर्भकालिक सारी अभिलाषाओं को पूर्ण करके बड़ी धूम धाम के साथ पुरोहितों द्वारा पुंसवन-सीमन्तोन्नयनादि संस्कारों को कराया। पूर्ण समय होने पर शुभ मुहूर्त में पुत्रोत्पन्न सुनकर राजा अत्यन्त मुदित हुए। वशिष्ठ ने जातकर्म संस्कार विधिपूर्वक सम्पन्न किया। दिलीप ने पुत्र का नाम 'रघु' रखा। रघु चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगे और थोड़े ही दिनों में सभी कला कौशल एवं विद्याओं में पारंगत हो गये। युवा होने पर राजा दिलीप ने उनको युवराज पद पर नियुक्त कर सौवाँ अश्वमेध यज्ञ प्रारंभ कर दिया जिसकी पूर्ति के लिये रघु को रक्षक बनाकर दिग्विजय के लिये घोड़ा छोड़ा गया किन्तु रक्षकों के सामने ही इन्द्र ने उस घोड़ा को चुरा लिया। घोड़ा के अपहरण से सब चकित हो उठे। उसी समय नन्दिनी वहाँ आगई। रघु ने उसके मूत्र से आंखों को पोंछ कर घोड़ा चुराकर ले जाते हुए इन्द्र को देखा और बाणों से देवराज इन्द्र की बांह को बेधकर इन्द्र-ध्वज को काट डाला। इसतरह दोनों की घोर लड़ाई शुरू हो गई। रघु की वीरता पर प्रसन्न होकर इन्द्र ने कहा—वत्स ! घोड़ा को छोड़कर दूसरा कोई वर माङ्गो। रघु ने कहा—यदि आप घोड़ा नहीं देना चाहते तो मेरे पिताजी सौवा यज्ञ नहीं करके भी अश्वमेध यज्ञ के फल का भागी हों यह वर दें। इन्द्र 'तथास्तु' कहकर स्वर्ग चले गये। बाद में राजा दिलीप रघु जैसे वीर योग्य पुत्र को राजगद्दी पर बैठाकर वाणप्रस्थाश्रम में चले गये।

चतुर्थ सर्ग

रघु के राज्यशासन प्रणाली से अत्यन्त प्रभावित होकर थोड़े ही दिनों में सारी प्रजायें दिलीप को भी भूल सी गयीं। न्याय से प्रजापालन करते हुए उनके गुणों से आकृष्ट होकर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों ही रूपान्तर ग्रहण कर उनके पास आगईं। शरदृऋतु आनेपर महाराज रघु दिग्विजय करने की भावना से शुभ मुहूर्त में होमादिविधि सम्पन्न कर बड़ी तैयारी से सेनाओं को सजाकर पूर्व दिशा की ओर चल पड़े। रास्ते में राजाओं को पराजित करते हुए समुद्र के पास पहुँचकर कलिङ्ग देश की ओर बढ़े। कलिङ्गवासियों ने रघु को पराजित करने की बहुत कोशिश की किन्तु अन्त में वे लोग हार गये। बाद में रघु समुद्र किनारे के रास्ते से दक्षिण दिशा की ओर जाकर पाण्ड्यों के साथ लड़े। अन्त में पाण्ड्यों को जीतकर बीच के अत्यन्त बीहर पर्वतीय रास्तों को पारकर केरल देश की ओर चल पड़े। वहाँ जाकर पारसियों के साथ घमाशान लड़ाई होने लगी। उस लड़ाई में बहुत प्रतिपक्षी मारे गये। बाद में उत्तर दिशा की ओर जाते हुए पहले हूण देश में पहुंचे और हूण देश वासियों को भी लड़कर पराजित कर दिया। कम्बोजदेशवासियों ने तो रघु का नाम सुनते ही भय के मारे घबड़ाकर आत्मसमर्पण कर दिया। बाद में बडी सेना के साथ कैलास पर्वत पर चढ़ गये। वहाँ भी पर्वतीयों के साथ युद्ध कर के बहुत से महत्वपूर्ण स्थानों को जीतकर प्राग् ज्योतिषेश्वर की ओर आगे बढ़े। परन्तु उनके तेज को नहीं सहन कर कामरूप की ओर जाकर उनसे सत्कृत होकर दलबल के साथ अयोध्या लौट आये। अयोध्या में महाराज रघुने सब दिशाओं को जीतने के उपलक्ष्य में धूमधाम के साथ पुष्कल दक्षिणा देकर विश्वजित् नामक यज्ञ को सम्पन्न किया।

पञ्चम सर्ग

जिस समय महाराज रघु समस्त धनराशिको दान कर तपस्वी के समान जीवन बिता रहे थे उसी समय वरतन्तु के शिष्य कौत्स ऋषि ने आकर कहा— राजन्! चतुर्दश विद्या समाप्त कर गुरु को १४ कोटि धन देना अभीष्ट है किन्तु आपकी ऐसी गरीबी देखकर तो मैं अत्यन्त निरस्त हो गया हूँ। यह सुनकर महाराज रघु ने कहा—भगवन्! कुछ काल मेरी यज्ञशाला में आप ठहरने की कृप करें, मैं तब तक उसके लिये भरसक चेष्टा करता हूँ। इस तरह उनको आश्वासन देकर कुबेर से धन लेने की कामना से एक रथ पर शस्त्रों को सजाकर रात में उसी पर सो गये। सबेरे रघु के उठने से पहिले ही आकर मंत्री ने खजाने में

अकस्मात् धन वर्षण की बातें कहीं। यह सुनकर महाराज ने कौत्स को बुलाकर यथेष्ट धन दे दिया। कौत्स ने बड़ी प्रसन्नता से कहा—राजन्! आपके लिये कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं है इसलिये आप अपने स्वरूप के अनुरूप पुत्र को प्राप्त कीजिये। उसी पुत्र का नाम 'अज' पड़ा। क्रमशः अज ने अपना बाल्यकाल बिताकर सारी कला कौशल विद्याओं को पढ़कर भोज राजा की बहन के स्वयंवर वृत्तान्त को उनके भृत्य द्वारा जानकर पिता से प्रेरित होकर 'क्रथकैशिकों' के प्रति सैनिकों के साथ प्रस्थान किया। मार्ग में नर्मदा तट पर तम्बू खड़ाकर ठहरे हुए थे, कि इतने में एक जङ्गली हाथी उनके घोड़े—हाथी को विद्रावित करता हुआ आ पहुँचा। अज ने उसको एक बाण मारा। बाण लगते ही वह हाथी रूप बदल कर गन्धर्व रूप धारण कर अज के सामने खड़ा होकर बोला—राजकुमार! मैं प्रियदर्शन का पुत्र प्रियंवद नाम का गन्धर्व हूँ। मैंने मतङ्गनाम मुनि को गर्व से अपमानित करने का यह फल पाया है। प्रार्थना करने पर मुनि से आपके बाण से ही वेधित होकर उक्त हाथी के शरीर से छुटकारा पाने का वर पाया था। उसी के वरदान का यह फल है कि आज मैं भाग्य से आप को प्राप्त कर ऋषि शाप से मुक्त हुआ हूँ। मैं प्रसन्नता से आपको एक गान्धर्व अस्त्र देता हूँ। आप इसे ग्रहण कीजिये, इसके प्रभाव से शत्रुओं पर शस्त्रप्रहार के बिना ही आप विजय प्राप्त करेंगे। यह सुनकर अज लज्जित होकर कथंचित् उस अस्त्र को ग्रहण कर आगे चल पड़े। थोड़े ही काल में भोज की राजधानी के पास पहुँचे। आये हुए अज का समाचार सुनते ही भृत्यों के साथ राजाभोज उनके पास स्वागतार्थ उपस्थित हुए और बहुत आदर के साथ उनको अपनी राजधानी में ले आये।

॥ श्रीः ॥

रघुवंशमहाकाव्यम्

'सञ्जीविनी' 'मणिप्रभा' टीकाद्वयोपेतम्

प्रथमः सर्गः

मातापितृभ्यां जगतो नमो वामार्धजानये ।
सद्यो दक्षिणदृक्पातसंकुचद्वामदृष्टये ॥ १ ॥

अन्तरायतिमिरोपशान्तये शान्तपावनमचिन्त्यवैभवम् ।
तन्नरं वपुषि कुञ्जरं मुखे मन्महे किमपि तुन्दिलं महः ॥ २ ॥

शरणं करवाणि शर्मदं ते चरणं वाणि ! चराचरोपजीव्यम् ।
करुणामसृणैः कटाक्षपातैः कुरु मामम्ब ! कृतार्थसार्थवाहम् ॥ ३ ॥

वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासिकी-
मन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।
वाचामाकलयद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥ ४ ॥

मल्लिनाथकविः सोऽयं मन्दात्मानुजिघृक्षया ।
व्याचष्टे कालिदासीयं काव्यत्रयमनाकुलम् ॥ ५ ॥

कालिदासगिरां सारं कालिदासः सरस्वती ।
चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद्विदुर्नान्ये तु मादृशाः ॥ ६ ॥

तथाऽपि दक्षिणावर्तनाथाद्यैः क्षुण्णवर्त्मसु ।
वयं च कालिदासोक्तिष्ववकाशं लभेमहि ॥ ७ ॥

भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता ।
एषा सञ्जीविनी टीका तामद्योज्जीवयिष्यति ॥ ८ ॥

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥ ९ ॥

इह खलु सकलकविशिरोमणिः कालिदासः (काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे) इत्यालङ्कारिकवचन-

प्रामाण्यात्काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनतां, (काव्यालापांश्च वर्जयेद्) इत्यस्य निषेधशास्त्रस्यासत्काव्यविषयतां च पश्यन् रघुवंशाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुः, चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिसम्प्रदायाविच्छेदलक्षणफलसाधनभूतविशिष्टदेवतानमस्कारस्य शिष्टाचारपरिप्राप्तत्वाद् (आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वाऽपि तन्मुखम्) इत्याशीर्वादाद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वात्, काव्यनिर्माणस्य विशिष्टशब्दार्थप्रतिपत्तिमूलकत्वेन विशिष्टशब्दार्थयोश्च (शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा । अर्थरूपं यदखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः) इति वायुपुराणसंहितावचनबलेन पार्वतीपरमेश्वरायत्तदर्शनात्तत्प्रतिपित्सया तावेवाभिवादयते—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ १ ॥

वागिति । वागर्थाविवेत्येकं पदम् । इवेन सह नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च । पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं चेति वक्तव्यम् । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । वागर्थाविव शब्दार्थाविव सम्पृक्तौ नित्यसम्बद्धावित्यर्थः । नित्यसम्बद्धयोरुपमानत्वेनोपादानात् । 'नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः' इति मीमांसकाः । जगतो लोकस्य पितरौ । माता च पिता च पितरौ । 'पिता मात्रा' इति द्वन्द्वैकशेषः । 'मातापितरौ पितरौ मातरपितरौ प्रसूजनयितारौ' इत्यमरः । एतेन शर्वशिवयोः सर्वजगज्जनकतया वैशिष्ट्यमिष्टार्थप्रदानशक्तिः परमकारुणिकत्वं च सूच्यते । पर्वतस्यापत्यं स्त्री पार्वती 'तस्यापत्यम्' इत्यण् । 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्०' इत्यादिना ङीप् । पार्वती च परमेश्वरश्च पार्वतीपरमेश्वरौ । परमशब्दः सर्वोत्तमत्वद्योतनार्थः । मातुरभ्यर्हितत्वादल्पाक्षरत्वाच्च पार्वतीशब्दस्य पूर्वनिपातः। वागर्थप्रतिपत्तये शब्दार्थयोः सम्यग्ज्ञानार्थं विन्देऽभिवादये । अत्रोपमाऽलङ्कारः स्फुट एव । तथोक्तं—(स्वतः सिद्धेन भिन्नेन सम्पन्नेन च धर्मतः । साध्यमन्येन वर्ण्यस्य वाच्यं चेदेकगोपमा ॥) इति प्रायिकश्चोपमाऽलङ्कारः कालिदासोक्तकाव्यादौ । भूदेवताकस्य सर्वगुरोर्मगणस्य प्रयोगाच्छुभलाभः सूच्यते । तदुक्तं-(शुभदो मो भूमिमयः) इति वकारस्यामृतबीजत्वात्प्रचयगमानादिसिद्धिः ॥१॥

शब्द और अर्थके समान नित्य मिले हुए, संसार के माता-पिता, उमा और महेश्वर को मैं (कालिदास) शब्द और अर्थ का भलीभाँति से ज्ञान होने के लिये नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

सम्प्रति कविः स्वाहङ्कारं परिहरति 'क सूर्य'–इत्यादिश्लोकद्वयेन—

क ? सूर्यप्रभवो वंशः क ? चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥ २ ॥

केति । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम् । 'ऋदोरप्' । 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इति साधुः । सूर्यः प्रभवो यस्य स सूर्यप्रभवो वंशः क ? अल्पो विषयो

ज्ञेयोऽर्थो यस्याः सा मे मतिः प्रज्ञा च क्व? द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयतः। सूर्यवंशमाकलयितुं न शक्नोमीत्यर्थः। तथा च तद्विषयप्रबन्धनिरूपणं तु दूरापास्तमिति भावः। तथा हि। दुस्तरं तरितुमशक्यम् 'ईषद्दुःसुषु०' इत्यादिना खल्प्रत्ययः। सागरं मोहादज्ञानादुडुपेन प्लवेन। 'उडुपं तु प्लवः कोलः' इत्यमरः। अथवा चर्मावनद्धेन यानपात्रेण। 'चर्मावनद्धमुडुपं प्लवः काष्ठं करण्डवत्' इति सज्जनः। तितीर्षुस्तरीतुमिच्छुरस्मि भवामि। तरतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। अल्पसाधनैरधिकारम्भो न सुकर इति भावः। इदं च वंशोत्कर्षकथनं स्वप्रबन्धमहत्त्वार्थमेव। तदुक्तम्–(प्रतिपाद्यमहिम्ना च प्रबन्धो हि महत्तरः) इति ॥ २ ॥

कहाँ सूर्य से उत्पन्न हुआ वंश (रघुकुल) और कहाँ थोड़े विषयों का ग्रहण करनेवाली मेरी बुद्धि, अतः उसके वर्णन करने में मैं अज्ञान से पनसुहिया डोंगी द्वारा दुस्तर सागर पार करने की इच्छा करनेवाले की भांति हूँ ॥ २ ॥

मन्दः सन् महाकाव्यं चिकीर्षुः कविः स्वासामर्थ्यं कथयति—

मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ॥ ३ ॥

मन्द इति। किं च मन्दो मूढः। 'मूढाल्पापटुनिर्भाग्या मन्दाः स्युः' इत्यमरः। तथाऽपि कवियशःप्रार्थी कवीनां यशः काव्यनिर्माणेन जातं तत्प्रार्थनाशीलोऽहं प्रांशुनोन्नतपुरुषेण लभ्ये प्राप्ये फले फलविषये लोभादुद्बाहुः फलग्रहणायोच्छ्रितहस्तो वामनः खर्व इव। 'खर्वो ह्रस्वश्च वामनः' इत्यमरः। उपहास्यतामुपहासविषयताम्। 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत्प्रत्ययः। गमिष्यामि प्राप्स्यामि ॥ ३ ॥

कवियों के यश पाने की इच्छा करनेवाला, मन्दबुद्धि मैं उसी प्रकार हास्यास्पद होऊँगा जैसे कि लम्बे पुरुष के हाथ लगने योग्य फल की ओर लोभ से ऊपर हाथ किया हुआ बौना पुरुष होता है ॥ ३ ॥

मन्दश्चेत्तर्हि त्यज्यतामयमुद्योग इत्यत आह—

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन्पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥ ४ ॥

अथवेति। अथवा पक्षान्तरे पूर्वैः सूरिभिः कविभिर्वाल्मीक्यादिभिः कृतवाग्द्वारे कृतं रामायणादिप्रबन्धरूपा या वाक् सैव द्वारं प्रवेशो यस्य तस्मिन्। अस्मिन्सूर्यप्रभवे वंशे कुले। जन्मनैकलक्षणः सन्तानो वंशः। वज्रेण मणिवेधकसूचीविशेषेण। 'वज्रं त्वस्त्री कुलिशशस्त्रयोः। मणिवेधे रत्नभेदे' इति केशवः। समुत्कीर्णे विद्धे मणौ रत्ने सूत्रस्येव मे मम गतिः सञ्चारोऽस्ति। वर्णनीये रघुवंशे मम वाक्प्रसरोऽस्तीत्यर्थः ॥

अथवा पहले के कवियों (वाल्मीकि आदि) के द्वारा वर्णन किये हुए रामायण प्रबन्धात्मक द्वार वाले सूर्यवंशमें, मणि वेधनेवाले सूचीविशेष से वेध किये हुये मणि में सूत्र की भाँति मेरी गति है ॥ ४ ॥

एवं रघुवंशे लब्धप्रवेशस्तद्वर्णनां प्रतिजानानः 'सोऽहम्' इत्यादिभिः पञ्चभिः श्लोकैः कुलकेनाह—

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥ ५ ॥

स इति । सोऽहं 'रघूणामन्वयं वक्ष्ये' इत्युत्तरेण सम्बन्धः । किंविधानां रघूणामित्यत्रोत्तराणि विशेषणानि योज्यानि । आजन्मनः । जन्मारभ्येत्यर्थः । 'आङ् मार्यादाऽभिविध्योः' इत्यव्ययीभावः । शुद्धानाम् । सुप्सुपेति समासः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । आजन्मशुद्धानाम् । निषेकादिसर्वसंस्कारसम्पन्नानामित्यर्थः । आफलोदयमाफलसिद्धेः कर्म येषां ते तथोक्तास्तेषाम् । प्रारब्धान्तगामिनामित्यर्थः । आसमुद्रं क्षितेरीशानाम् । सार्वभौमाणामित्यर्थः । आनाकं रथवर्त्म येषां तेषाम् । इन्द्रसहचारिणामित्यर्थः । अत्र सर्वत्राङोऽभिविध्यर्थत्वं द्रष्टव्यम् । अन्यथा मर्यादाऽर्थत्वे जन्मादिषु शुद्ध्यभावप्रसङ्गात् ॥ ५ ॥

वह 'मन्दबुद्धि' मैं 'कालिदास' जन्म से निषेकादि संस्कारों से शुद्ध, फलकी सिद्धिपर्यन्त कर्म को करनेवाले, समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का शासन करनेवाले, स्वर्ग तक रथ के मार्ग वाले 'रघु के वंशको कहता हूँ' [यह आगे के तीन श्लोकों में भी लगाना चाहिये । कुलक होने से यहाँ से पाँचवें श्लोक से इस अर्थका आक्षेप किया जाता है] ॥ ५ ॥

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।
यथाऽपराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ॥ ६ ॥

यथेति । विधिमनतिक्रम्य यथाविधि । 'यथाऽसादृश्ये' इत्यव्ययीभावः । तथा हुतशब्देन सुप्सुपेति समासः । एवं 'यथाकामार्चित–'इत्यादीनामपि द्रष्टव्यम् । यथाविधि हुता अग्नयो यैस्तेषाम् । यथाकाममभिलाषमनतिक्रम्यार्चितार्थिनाम् । यथाऽपराधमपराधमनतिक्रम्य दण्डो येषां तेषाम् । यथाकालं कालमनतिक्रम्य प्रबोधिनां प्रबोधनशीलानाम् । चतुर्भिर्विशेषणैर्देवतायजनार्थिसत्कारदण्डधरत्वप्रजापालनसमयजागरूकत्वादीनि विवक्षितानि ॥ ६ ॥

विधिपूर्वक अग्नि में आहुति देनेवाले, इच्छानुसार याचकों का सम्मान करनेवाले, अपराध के अनुसार दण्ड देनेवाले, उचित समय पर सावधान रहने वाले ॥ ६ ॥

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥ ७ ॥

त्यागायेति । त्यागाय सत्पात्रे विनियोगस्त्यागस्तस्मै । 'त्यागो विहापितं दानम्' इत्यमरः । संभृतार्थानां सञ्चितधनानाम् । न तु दुर्व्यापाराय । सत्याय मितभाषिणां मितभाषणशीलानाम् । न तु पराभवाय । यशसे कीर्तये । 'यशः कीर्तिः समज्ञा च' इत्यमरः । विजिगीषूणां विजेतुमिच्छूनाम् । न त्वर्थसंग्रहाय । प्रजायै

संतानाय गृहमेधिनां दारपरिग्रहाणाम् । न तु कामोपभोगाय । अत्र 'त्यागाय' इत्यादिषु 'चतुर्थी तदर्थार्थ–' इत्यादिना तादर्थ्ये चतुर्थीसमासविधानज्ञापकाच्चतुर्थी । गृहैर्दारैर्मेधन्ते सङ्गच्छन्त इति गृहमेधिनः । 'दारेष्वपि गृहाः पुंसि' इत्यमरः । 'जाया च गृहिणी गृहम्' इति हलायुधः । 'मेधृ संगमे' इति धातोर्णिनिः । एभिर्विशेषणैः परोपकारित्वं सत्यवचनत्वं यशःपरत्वं पितॄणां शुद्धत्वं च विवक्षितानि ॥ ७ ॥

सत्पात्र को दान देने के लिए धन इकट्ठा करने वाले, यश के हेतु विजय चाहने वाले, सन्तानार्थ विवाह करने वाले ॥ ७ ॥

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ॥ ८ ॥

शैशव इति । शिशोर्भावः शैशवं बाल्यम् । 'प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रा–' इत्यण्प्रत्ययः । 'शिशुत्वं शैशवं बाल्यम्' इत्यमरः । तस्मिन् वयस्यभ्यस्तविद्यानाम् । एतेन ब्रह्मचर्याश्रमो विवक्षितः । यूनो भावो यौवनं तारुण्यम् । युवादित्वादण्प्रत्ययः । 'तारुण्यं यौवनं समे' इत्यमरः । तस्मिन् वयसि विषयैषिणां भोगाभिलाषिणाम् । एतेन गृहस्थाश्रमो विवक्षितः । वृद्धस्य भावो वार्द्धकं वृद्धत्वम् । 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च' इति वुञ्प्रत्ययः । 'वार्द्धकं वृद्धसंघाते वृद्धत्वे वृद्धकर्मणि' इति विश्वः । सङ्घातार्थे च 'वृद्धाच्च' इति वक्तव्यात्सामूहिको वुञ् । तस्मिन् वार्द्धके वयसि मुनीनां वृत्तिरिव वृत्तिर्येषां तेषाम् । एतेन वानप्रस्थाश्रमो विवक्षितः । अन्ते शरीरत्यागकाले योगेन परमात्मध्यानेन । 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः । तनुं देहं त्यजन्तीति तनुत्यजां देहत्यागिनाम् । 'कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति क्विप् । एतेन भिक्षवाश्रमो विवक्षितः ॥ ८ ॥

बालकपन में ही समस्त विद्याओं को अभ्यस्त कर लेने वाले, युवावस्था में भोग की अभिलाषा रखने वाले, बुढ़ापे में मुनियों की तरह जीविका रखने वाले, अन्त में (शरीर त्याग करने के समय) योग (चित्तवृत्ति के निरोध) से शरीर त्याग करने वाले ॥ ८ ॥

रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन् ।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः ॥ ९ ॥

रघूणामिति । सोऽहं लब्धप्रवेशः । तनुवाग्विभवोऽपि स्वल्पवाणीप्रसारोऽपि सन् । तेषां रघूणां गुणैस्तद्गुणैः । आजन्मशुद्ध्यादिभिः कर्तृभिः कर्णं मम श्रोत्रमागत्य चापलाय चापलं चपलकर्माविमृश्यकरणरूपं कर्तुम् । युवादित्वात्कर्मण्यण् । 'क्रियाऽर्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इत्यनेन चतुर्थी । प्रचोदितः प्रेरितः सन् । रघूणामन्वयं तद्विषयप्रबन्धं वक्ष्ये । कुलकम् ॥ ९ ॥

(ऐसे) रघुवंशियोंके वंश को, मैं वाणी का वैभव थोड़ा होते हुये भी कान में सुनाई पड़े

हुये, उन्हीं के गुणों के द्वारा विना विचार किये ही वर्णन करने के लिये, प्रेरणा किया हुआ कह रहा हूँ ॥ ९ ॥

सम्प्रति स्वप्रबन्धपरीक्षार्थं सतः प्रार्थयते—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः ।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा ॥ १० ॥

तमिति । तं रघुवंशाख्यं प्रबन्धं सदसतोर्गुणदोषयोर्व्यक्तेर्हेतवः कर्तारः सन्तः श्रोतुमर्हन्ति । तथा हि । हेम्नो विशुद्धिर्निर्दोषस्वरूपं श्यामिकाऽपि लोहान्तरसंसर्गात्मको दोषोऽपि वाऽग्नौ संलक्ष्यते । नान्यत्र । तद्वदत्रापि सन्त एव गुणदोषविवेकाधिकारिणः । नान्य इति भावः ॥ १० ॥

भले और बुरे के विचार करने वाले पण्डित लोग उसे सुनने के लिये योग्य हैं, क्योंकि सुवर्ण की शुद्धता और श्यामता अग्नि ही में देखी जाती है ॥ १० ॥

वर्ण्यं वस्तूपक्षिपति श्लोकद्वयेन—

वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम् ।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ॥ ११ ॥

वैवस्वत इति । मनस ईषिणो मनीषिणो धीरः । विद्वांस इति यावत् । पृषोदरादित्वात्साधुः । तेषां माननीयः पूज्यः । छन्दसां वेदानाम् । 'छन्दः पद्ये च वेदे च' इति विश्वः । प्रणव ओंकार इव । महीं क्षियन्तीशत इति महीक्षितः क्षितीश्वराः । क्षिधातोरैश्वर्यार्थात्क्विप् तुगागमश्च । तेषामाद्य आदिभूतः । विवस्वतः सूर्यस्यापत्यं पुमान्वैवस्वतो नाम वैवस्वत इति प्रसिद्धो मनुरासीत् ॥ ११ ॥

पण्डितों में पूज्य, वेदों में प्रणव (ओङ्कार) के समान राजाओं में प्रथम 'वैवस्वत' नाम से प्रसिद्ध मनु हुये ॥ ११ ॥

वर्ण्ये रघुवंशे प्रधानपुरुषस्य रघोः पितृनामकथनम्—

तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः ।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव ॥ १२ ॥

तदिति । शुद्धिरस्यास्तीति शुद्धिमान् । तस्मिञ्छुद्धिमति तदन्वये तस्य मनोरन्वये वंशे । 'अन्ववायोऽन्वयो वंशो गोत्रं चाभिजनं कुलम्' इति हलायुधः । अतिशयेन शुद्धिमाञ्छुद्धिमत्तरः । 'द्विवचनविभज्योप–' इत्यादिना तरप् । दिलीप इति प्रसिद्धो राजा इन्दुरिव राजेन्दू राजश्रेष्ठः । 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इत्यादिना समासः । क्षीरनिधाविन्दुरिव प्रसूतो जातः ॥ १२ ॥

उन 'वैवस्वत' मनु के पवित्र वंश में, अतिपवित्र, राजाओं में चन्द्र (श्रेष्ठ) 'दिलीप' नाम से प्रसिद्ध, क्षीरसमुद्र में चन्द्रमा के समान उत्पन्न हुये ॥ १२ ॥

'व्यूढ' इत्यादिभिस्त्रिभिः श्लोकैर्दिलीपं विशिनष्टि—

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्त्रो धर्म इवाश्रितः ॥ १३ ॥

व्यूढेति । व्यूढं विपुलमुरो यस्य स व्यूढोरस्कः । 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' इति कप्प्रत्ययः । 'व्यूढं विपुलं भद्रं स्फारं समं वरिष्ठं च' इति यादवः । वृषस्य स्कन्ध इव स्कन्धो यस्य स तथा । 'सप्तम्युपमान–' इत्यादिनोत्तरपदलोपी बहुव्रीहिः । शालो वृक्ष इव प्रांशुरुन्नतः शालप्रांशुः । 'प्राकारवृक्षयोः शालः शाकः सर्जतरुः स्मृतः' इति यादवः । 'उच्चप्रांशून्नतोदग्रोच्छ्रितास्तुङ्गे' इत्यमरः । महाभुजो महाबाहुः । आत्मकर्मक्षमं स्वव्यापारानुरूपं देहमाश्रितः प्राप्तः क्षात्रः क्षत्रसंबन्धी धर्म इव स्थितः । मूर्तिमान् पराक्रम इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा ॥ १३ ॥

चौड़ी छाती वाले, बैल के कन्धे के समान कन्धे वाले, साल सरीखे ऊंचे, लम्बी भुजा वाले, अपने काम के करने में समर्थ देह को धारण किये हुये, जैसे क्षत्रियों का धर्म पराक्रम हो, उसके समान दिलीप हुये ॥ १३ ॥

सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोऽभिभाविना ।
स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वी क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना ॥ १४ ॥

सर्वेति । सर्वातिरिक्तसारेण सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽधिकबलेन । 'सारो बले स्थिरांशे च' इत्यमरः । सर्वाणि भूतानि तेजसाऽभिभवतीति सर्वतेजोऽभिभावी तेन । सर्वेभ्य उन्नतेनात्मना शरीरेण 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि' इति विश्वः । मेरुरिव । उर्वीं क्रान्त्वाऽऽक्रम्य स्थितः । मेरावपि विशेषणानि तुल्यानि । (अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः । तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥) इति मनुवचनाद्राज्ञः सर्वतेजोऽभिभावित्वं ज्ञेयम् ॥ १४ ॥

सबसे अधिक बलवान् (मेरुपक्ष में सबसे अधिक स्थिर), सभी लोगों के तेज को अपने प्रभावसे (मेरुपक्षमें कान्तिसे) नीचा दिखाने वाले, सबसे अधिक ऊँचे शरीर से मेरु पर्वत के समान पृथ्वी को दबा कर बैठे हुए ॥ १४ ॥

आकारसदृशप्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः ।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भसदृशोदयः ॥ १५ ॥

आकारेति । आकारेण मूर्त्या सदृशी प्रज्ञा यस्य सः । प्रज्ञया सदृशागमः प्रज्ञाऽनुरूपशास्त्रपरिश्रमः । आगमैः सदृश आरम्भः कर्म यस्य स तथोक्तः । आरभ्यत इत्यारम्भः कर्म । तत्सदृश उदयः फलसिद्धिर्यस्य स तथोक्तः ॥ १५ ॥

आकार के सदृश बुद्धिवाले, बुद्धि के सदृश शास्त्र का अभ्यास करने वाले, शास्त्रके अनुरूप कर्म प्रारम्भ करने वाले, प्रारम्भ किये हुये कर्म के अनुरूप फलसिद्धि प्राप्त करने वाले (दिलीप हुए) ॥ १५ ॥

तस्य भयङ्करत्वं मनोरमत्वञ्च दर्शयति—

भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम् ।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णवः ॥ १६ ॥

भीमेति । भीमैश्च कान्तैश्च नृपगुणै राजगुणैस्तेजःप्रतापादिभिः कुलशीलादाक्षिण्यादिभिश्च स दिलीप उपजीविनामाश्रितानाम् । यादोभिर्जलजीवैः 'यादांसि जलजन्तवः' इत्यमरः । रत्नैश्चार्णव इव । अधृष्योऽनभिभवनीयः । अभिगम्य आश्रयणीयश्च बभूव ॥ १६ ॥

भयानक और मनोरम राजगुणों (तेज, प्रताप आदि और दया दाक्षिण्यादि) के कारण आश्रितों को वह राजा दिलीप, जलजन्तु और रत्नोंके कारण समुद्रके समान दूर रहने योग्य और सेवा करने योग्य हुये ॥ १६ ॥

तस्य प्रजा राजनिदेशवर्त्तिन्य इत्याह—

रेखामात्रमपि क्षुण्णादा मनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ॥ १७ ॥

रेखेति । नियन्तुः शिक्षकस्य सारथेश्च तस्य दिलीपस्तु संबन्धिन्यो नेमीनां चक्रधाराणां वृत्तिरिव वृत्तिर्व्यापारो यासां ताः, 'चक्रधारा प्रधिर्नेमिः' इति यादवः । 'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात्प्रधिः पुमान्' इत्यमरः । प्रजाः । आ मनोः, मनुमारभ्येत्यभिविधिः । पदद्वयं चैतत् । समासस्य विभाषितत्वात् । क्षुण्णादभ्यस्तात्प्रहताच्च वर्त्मन आचारपद्धतेरध्वनश्च परमधिकम् । इतस्तत इत्यर्थः । रेखा प्रमाणमस्येति रेखामात्रं रेखाप्रमाणम् । ईषदपीत्यर्थः । 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' इत्यनेन मात्रच्प्रत्ययः । परशब्दविशेषणं चैतत् । न व्यतीयुर्नातिक्रान्तवत्यः । कुशलसारथिप्रेषिता रथनेमय इव तस्या प्रजाः पूर्वक्षुण्णमार्गं न जहुरिति भावः ॥ १७ ॥

शिक्षक अथवा सारथि के सदृश उस राजा दिलीप के रथ के पहिये की भाँति चलने वाली प्रजायें मनुके समय से बताये हुये (रथचक्रधारापक्षमें खुदे हुए) मार्ग से लकीर बाहर न गई ॥ १७ ॥

तस्य करग्रहणं प्रजानां सुखविधानार्थमित्याह—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥ १८ ॥

प्रजानामिति । स राजा प्रजानां भूत्या अर्थाय भूत्यर्थं वृद्ध्यर्थमेव । (अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या) ग्रहणक्रियाविशेषणं चैतत् । ताभ्यः प्रजाभ्यो बलिं षष्ठांशरूपं करमग्रहीत् । 'भागधेयः करो बलिः' इत्यमरः । तथाहि । रविःसहस्रं गुणा यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा सहस्रगुणं सहस्रधोत्स्रष्टुं दातुम् । उत्सर्जनक्रियाविशेषणं चैतत् । रसमम्ब्वादत्ते गृह्णाति । 'रसो गन्धे रसे स्वादे तिक्तादौ

विषरोगयोः । शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधात्वम्बुपारदे ॥' इति विश्वः ॥ १८ ॥

प्रजाओं के भलाई के लिये ही वह राजा दिलीप उन सबों (प्रजाओं) से कर लेता था, जैसे-कि सहस्रगुणा बरसाने के लिये ही सूर्य जल लेता है ॥ १८ ॥

सम्प्रति बुद्धिशौर्य्यसम्पन्नस्य तस्यार्थसाधनेषु परानपेक्षत्वमाह—

सेना परिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् ।
शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता ॥ १९ ॥

सेनेति । तस्य राज्ञः सेना चातुरङ्गबलम् परिच्छाद्यतेऽनेनेति परिच्छद उपकरणं बभूव । छत्रचामरादितुल्यमभूदित्यर्थः । 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' इति घप्रत्ययः । 'छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य' इत्युपधाह्रस्वः । अर्थस्य प्रयोजनस्य तु साधनं द्वयमेव । शास्त्रेष्वकुण्ठिताऽव्याहता बुद्धिः 'व्यापृता' इत्यपि पाठः । धनुष्याततासऽऽरोपिता मौर्वी ज्या च । 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः । नीतिपुरःसरमेव तस्य शौर्यमभूदित्यर्थः ॥ १९ ॥

उस राजा दिलीपकी सेना तो छत्र-चामर के समान केवल शोभार्थ हुई । क्योंकि प्रयोजन सिद्ध दो से होते थे, एक तो शास्त्रों में पैनी बुद्धि से और दूसरे धनुष पर चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा से ॥ १९ ॥

राज्यमूलं मन्त्रसंरक्षणं तस्यासीदित्याह—

तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढाकारेङ्गितस्य च ।
फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव ॥ २० ॥

तस्येति । संवृतमन्त्रस्य गुप्तविचारस्य । 'वेदभेदे गुप्तवादे मन्त्रः' इत्यमरः । शोकहर्षादिसूचको भृकुटीमुखरागादिराकार इङ्गितं चेष्टितं हृदयगतविकारो वा । 'इङ्गिते हृद्गतो भावो बहिराकार आकृतिः' इति सज्जनः । गूढे आकारेङ्गिते यस्य स्वभावचापलाद्भ्रमपरम्परया मुखरागादिलिङ्गैर्वाऽतृतीयगामिमन्त्रस्य तस्य प्रारभ्यन्त इति प्रारम्भाः सामाद्युपायप्रयोगाः । प्रागित्यव्ययेन पूर्वजन्मोच्यते तत्र भवाः प्राक्तनाः । 'सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च' इत्यनेन ट्युलप्रत्ययः । संस्काराः पूर्वकर्मवासना इव । फलेन कार्येणानुमेयाऽनुमातुं योग्या आसन् । अत्र याज्ञवल्क्यः-(मन्त्रमूलं यतो राज्यमतो मन्त्रं सुरक्षितम् । कुर्याद्यथा तन्न विदुः कर्मणामाफलोदयात्) ॥ इति ॥ २० ॥

विचारको गुप्त रखने वाले तथा बाहर-भीतर के हर्षशोकादिसूचक चिह्नों को छिपाने वाले, उस राजा दिलीप के कार्य 'सामदामाद्युपाय' फलों से अनुमान किये जाते थे, जैसे-कि पूर्वजन्म के संस्कार ॥ २० ॥

सम्प्रति सामाद्युपायान्विनैवात्मरक्षाऽऽदिकं कृतवानित्याह—

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत् ॥ २१ ॥

जुगोपेति । अत्रस्तोऽभीतः सन् । 'त्रस्तो, भीरुभीरुकभीलुकाः' इत्यमरः । त्रासोपाधिमन्तरेणैव त्रिवर्गसिद्धेः प्रथमसाधनत्वादेवात्मानं शरीरं जुगोप रक्षितवान् । अनातुरोऽरुग्ण एव धर्मं सुकृतं भेजे । अर्जितवानित्यर्थः । अगृध्नुरगर्धनशील एवार्थमाददे स्वीकृतवान् । 'गृध्नुस्तु गर्धनः । लुब्धोऽभिलाषुकस्तृष्णक्समौ लोलुपलोलुभौ' इत्यमरः । 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' इति क्नुप्रत्ययः । असक्त आसक्तिरहित एव सुखमन्वभूत् ॥ २१ ॥

उस (राजा दिलीप) ने बिना डरे हुये अपने शरीर की रक्षा की, बिना रोगी होते हुये धर्म का सेवन किया, बिना लोभी होते हुये धन का ग्रहण किया और बिना आसक्त होते हुये सुख का अनुभव किया ॥ २१ ॥

परस्परविरुद्धानामपि गुणानां तत्र साहचर्य्यमासीदित्याह—

ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः ।
गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ॥ २२ ॥

ज्ञान इति । ज्ञाने परवृत्तान्तज्ञाने सत्यपि मौनं वाङ्नियमनम् । यथाऽऽह कामन्दकः—(नान्योपतापि वचनं मौनं व्रतचरिष्णुता) इति । शक्तौ प्रतीकारसामर्थ्येऽपि क्षमा अपकारसहनम् । अत्र चाणक्यः—(शक्तानां भूषणं क्षमा) इति । त्यागे वितरणे सत्यपि श्लाघाया विकत्थनस्य विपर्ययोऽभावः । अत्राह मनुः—(न दत्वा परिकीर्तयेद्) इति । इत्थं तस्य गुणा ज्ञानादयो गुणैर्विरुद्धैर्मौनादिभिरनुबन्धित्वात्सहचारित्वात् सह प्रसवो जन्म येषां ते सप्रसवाः सोदरा इवाभूवन् । विरुद्धा अपि गुणास्तस्मिन्नविरोधेनैव स्थिता इत्यर्थः ॥ २२ ॥

दूसरे के वृत्तान्त को जानते हुये भी उस विषयमें चुप रहना, सामर्थ्य रहने पर भी अपकार सहन करना, दान करने पर भी अपनी बड़ाई न करना, इस प्रकार से उस राजा दिलीप के ज्ञानादि गुणविरुद्ध मौनादि गुणों के साथ रहने से सहोदर के समान हुये ॥२२॥

द्विविधं वृद्धत्वं ज्ञानेन वयसा च । तत्र तस्य ज्ञानेन वृद्धत्वमाह—

अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः ।
तस्य धर्मरतेरासीद्वृद्धत्वं जरसा विना ॥ २३ ॥

अनाकृष्टेति । विषयैः शब्दादिभिः । 'रूपं शब्दो गन्धरसस्पर्शाश्च विषया अमी' इत्यमरः । अनाकृष्टस्यावशीकृतस्य विद्यानां वेदवेदाङ्गादीनां पारदृश्वनः पारमन्तं दृष्टवतः । दृशेः क्वनिप् । धर्मे रतिर्यस्य तस्य राज्ञो जरसा जरया विना । 'विस्रसा जरा' इत्यमरः । 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्ययः । 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति जरसादेशः । वृद्धत्वं वार्धकमासीत् । तस्य यूनो विषयवैराग्यादिज्ञानगुणसम्पत्त्या ज्ञानतो वृद्धत्वमासीदित्यर्थः । नाथस्तु चतुर्विध वृद्धत्वमिति ज्ञात्वा 'अनाकृष्टस्य' इत्यादिना विशेषणत्रयेण वैराग्यज्ञानशीलवृद्धत्वान्युक्तानीत्यवोचत् ॥ २३ ॥

विषयादिकों से नहीं खींचे जाते हुये (विषयों के वश में न होते हुये), विद्याओं के पार देखनेवाले (अन्त करनेवाले) धर्म में रुचि रखनेवाले उस राजा दिलीप को वृद्धावस्था (आये) विना उक्त विशेषणों से वृद्धता प्रगट हुई ॥ २३ ॥

द्विविधं पितृत्वं रक्षणेनोत्पादनेन च तत्र तस्य रक्षणेन पितृत्वमाह—

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥ २४॥

प्रजानामिति। प्रजायन्त इति प्रजा जनाः 'उपसर्गे च संज्ञायाम्' इति डप्रत्ययः। 'प्रजा स्यात्संततौ जने' इत्यमरः। तासां विनयस्य शिक्षाया आधानात्करणात् सन्मार्गप्रवर्तनादिति यावत्। रक्षणाद् भयहेतुभ्यस्त्राणाद् आपन्निवारणादिति यावत्। भरणादन्नपानादिभिः पोषणादपि। अपिः समुच्चये। स राजा पिताऽभूत्। तासां पितरस्तु जन्महेतवो जन्ममात्रकर्तारः केवलमुत्पादका एवाभूवन्। जननमात्र एव पितॄणां व्यापारः। सदा शिक्षारक्षणादिकं तु स एव करोतीति तस्मिन्पितृत्वव्यपदेशः। आहुश्च—(स पिता यस्तु पोषकः) इति ॥ २४ ॥

नम्रता आदि की शिक्षा देने से, आपत्तियों से बचाने से और अन्नादिकों के द्वारा पोषण करने से, वे दिलीप ही प्रजाओं के पिता हुये और उन प्रजाओं के पिता तो केवल जन्म देने में ही कारण हुये ॥ २४ ॥

तस्यार्थकामावपि धर्म एवास्तामित्याह—

स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्परिणेतुः प्रसूतये।
अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः॥ २५॥

स्थित्या इति। दण्डमर्हन्तीति दण्ड्याः 'दण्डादिभ्यो यः' इति यप्रत्ययः। (अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति)॥ इति शास्त्रवचनात्। तान्दण्ड्यानेव स्थित्यै लोकप्रतिष्ठायै दण्डयतः शिक्षयतः। प्रसूतये संतानायैव परिणेतुर्दारान्परिगृह्णतः। मनीषिणो विदुषः। दोषज्ञस्येति यावत्। 'विद्वान्विपश्चिद्दोषज्ञः संसुधीः कोविदो बुधः। धीरो मनीषी' इत्यमरः। तस्य दिलीपस्यार्थकामावपि धर्म एवास्तां जातौ। अस्तेर्लङ्। अर्थकामसाधनयोर्दण्डविवाहयोर्लोकस्थापनप्रजोत्पादनरूपधर्मार्थत्वेनानुष्ठानादर्थकामावपि धर्मशेषतामापादयन्स राजा धर्मोत्तरोऽभूदित्यर्थः। आह च गौतमः—(न पूर्वाह्णमध्यदिनापराह्णानफलान्कुर्याद् यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यस्तेषु धर्मोत्तरः स्यात्)। इति ॥२५॥

'लोक मर्यादा की' स्थिति के लिये अपराधियों को दण्ड देनेवाले, सन्तानके लिये विवाह करने वाले 'अत एव' बुद्धिमान् उस राजा दिलीप के अर्थ और काम भी धर्म ही हुये ॥ २५ ॥

तस्य दिलीपस्येन्द्रेण सह परस्परविनिमयेन सख्यमाह—

दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम् ।
संपद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम् ॥ २६ ॥

दुदोहेति । स राजा यज्ञाय यज्ञं कर्तुं गां भुवं दुदोह । करग्रहणेन रिक्तां चकारेत्यर्थः । मघवा देवेन्द्रः सस्याय सस्यं वर्धयितुं दिवं स्वर्गं दुदोह । द्युलोकान्महीलोके वृष्टिमुत्पादयामासेत्यर्थः । 'क्रियाऽर्थोपपद–' इत्यादिना यज्ञसस्याभ्यां चतुर्थी । एवमुभौ सम्पदो विनिमयेन परस्परमादानप्रतिदानाभ्यां भुवनद्वयं दधतुः पुपुषतुः । राजा यज्ञैरिन्द्रलोकमिन्द्रश्चोदकेन भूलोकं पुपोषेत्यर्थः । उक्तं च दण्डनीतौ–(राजा त्वर्थान्समाहृत्य कुर्यादिन्द्रमहोत्सवम् । प्रीणितो मेघवाहस्तु महतीं वृष्टिमावहेत) ॥ इति ॥ २६ ॥

उस (राजा दिलीप) ने यज्ञ करने के लिये पृथ्वी को 'षष्ठांशरूप' कर ग्रहण द्वारा दुहा और इन्द्र ने धान्य की वृद्धि करने के लिये स्वर्ग को वृष्टि द्वारा दुहा 'इस प्रकार से' दोनों 'इन्द्र और दिलीप' परस्पर 'धन और वृष्टि रूप' अपनी २ सम्पत्ति के बदलनेसे दोनों ने 'स्वर्ग और मर्त्य' लोक की रक्षा की ॥ २६ ॥

तस्य राज्ये तस्करभयं नासीदित्याह—

न किलानुययुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यशः ।
व्यावृत्ता यत्परस्वेभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता ॥ २७ ॥

नेति । राजानोऽन्ये नृपा रक्षितुर्भयेभ्यस्त्रातुस्तस्य राज्ञो यशो नानुययुः किल नानुचक्रुः खलु । कुतः । यद्यस्मात्कारणात्तस्करता चौर्यं परस्वेभ्यः परधनेभ्यः स्वविषयभूतेभ्यो व्यावृत्ता सती श्रुतौ वाचकशब्दे स्थिता प्रवृत्ता । अपहार्यान्तराभावात्तस्करशब्द एवापहृत इत्यर्थः। अथवा । (अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि) इति न्यायेन शब्दे स्थिता स्फुरिता न तु स्वरूपतोऽस्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

अन्य राजा लोग 'भय से' रक्षा करने वाले उस राजा दिलीप के यश का अनुकरण नहीं कर सके, क्योंकि उसके राज्य में 'चोरी यह शब्द' अपने विषयभूत दूसरे के द्रव्य से पृथक् होती हुई केवल श्रवणगोचर हुई अथवा चोरी अर्थवाचक चोरी शब्द के ही चुराने में प्रवृत्त हुई ॥ २७ ॥

तस्य शिष्ट एव प्रियो दुष्ट एवाप्रिय आसीदित्याह—

द्वेष्योऽपि संमतः शिष्टस्तस्यार्त्तस्य यथौषधम् ।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता ॥ २८ ॥

द्वेष्य इति । शिष्टो जनो द्वेष्यः शत्रुरपि । आर्त्तस्य रोगिण औषधं यथौषधमिव । तस्य संमतोऽनुमत आसीत् । दुष्टो जनः प्रियोऽपि प्रेमास्पदीभूतोऽपि । उरगक्षता सर्पदष्टाऽङ्गुलीव । (छिन्द्याद्बाहुमपि दुष्टमात्मनः) इति न्यायात् त्याज्य आसीत् । तस्य शिष्ट एव बन्धुर्दुष्ट एव शत्रुरित्यर्थः ॥ २८ ॥

जिस प्रकार रोगी को कड़वी 'हितकर' औषधि भी प्यारी होती है, उसी प्रकार उस राजा दिलीप का द्वेष करने के योग्य 'वैरी' होता हुआ भी सज्जन प्यारा होता था और प्यारा होता हुआ भी दुर्जन सांप से काटी हुई अङ्गुली की भाँति छोड़ देने के योग्य होता था ॥ २८ ॥

तस्य परोपकारित्वमाह—

तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना ।
तथा हि सर्वे तस्यासन्परार्थैकफला गुणाः ॥ २९ ॥

तमिति । वेधाः स्रष्टा । 'स्रष्टा प्रजापतिर्वेधाः' इत्यमरः । तं दिलीपम् । समाधीयतेऽनेनेति समाधिः कारणसामग्री । महाभूतानां यः समाधिस्तेन महाभूतसमाधिना विदधे ससर्ज । नूनं ध्रुवम् । इत्युत्प्रेक्षा । तथाहि । तस्य राज्ञः सर्वे गुणा रूपरसादिमहाभूतगुणवदेव परार्थः परप्रयोजनमेवैकं मुख्यं फलं येषां ते तथोक्ता आसन् । महाभूतगुणोपमानेन कारणगुणाः कार्यं सङ्क्रामन्तीति न्यायः सूचितः॥२९॥

ब्रह्मा जी ने उस राजा दिलीप को महाभूतों (पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश) के कारण की सामग्री से बनाया था, निश्चय करके उस राजा दिलीप के सभी 'शौर्य्यादि' गुण 'पञ्च महाभूतों के रूपरसादि गुणोंके तुल्य' पराये प्रयोजन वाले ही थे ॥ २९ ॥

तस्य चक्रवर्त्तित्वमाह—

स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम् ।
अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकपुरीमिव ॥ ३० ॥

स इति । स दिलीपः । वेलाः समुद्रकूलानि । 'वेला कूलेऽपि वारिधेः' इति विश्वः । ता एव वप्रवलयाः प्राकारवेष्टनानि यस्यास्ताम् । 'स्याच्चयो वप्रमस्त्रियाम् । प्राकारो वरणः शालः प्राचीनं प्रान्ततो वृतिः' इत्यमरः । परितः खातं परिखा दुर्गवेष्टनम् । 'खातं खेयं तु परिखा' इत्यमरः । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इत्यत्रापिशब्दात्खनेर्डप्रत्ययः । अपरिखाः परिखाः सम्पद्यमानाः कृताः परिखीकृताः सागरा यस्यास्ताम् । अभूततद्भावे च्विः । अविद्यमानमन्यस्य राज्ञः शासनं यस्यास्तामनन्यशासनामुर्वीमेकपुरीमिव शशास । अनायासेन शासितवानित्यर्थः ॥ ३० ॥

उस राजा दिलीप ने समुद्र का किनारा है कङ्कण के तरह चाहारदीवारी जिसकी और समुद्र है खान जिसकी, ऐसी अन्य किसी राजा से शासन नहीं की जाती हुई पृथ्वी को एक नगरी की भांति शासन किया ॥ ३० ॥

तस्य पत्न्या नामाह—

तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा ।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा ॥ ३१ ॥

तस्येति । तस्य राज्ञो मगधवंशे जाता मगधवंशजा । 'सप्तम्यां जनेर्डः' इति

ड्प्रत्ययः । एतेनाभिजात्यमुक्तम् । दाक्षिण्यं परच्छन्दानुवर्तनम् । 'दक्षिणः सरलोदारपरच्छन्दानुवर्त्तिषु' इति शाश्वतः । तेन रूढं प्रसिद्धम् । तेन नाम्ना । अध्वरस्य यज्ञस्य दक्षिणा दक्षिणाऽऽख्या पत्नीव सुदक्षिणेति प्रसिद्धा पत्न्यासीत् । अत्र श्रुतिः-(यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसः) इति । (दक्षिणाया दाक्षिण्यं नामर्त्विजो दक्षिणत्वप्रापकत्वम् । ते दक्षन्ते दक्षिणां प्रतिगृह्य) इति च ॥ ३१ ॥

उस राजा दिलीप की मगधवंश में उत्पन्न हुई दूसरे के मनोऽनुकूल चलने के कारण यज्ञ का पत्नी दक्षिणा के तरह सुदक्षिणा इस नाम से प्रसिद्ध पटरानी थी ॥ ३१ ॥

तस्यानेकासु पत्नीषु सतीष्वपि प्रिया सुदक्षिणैवेत्याह—

कलत्रवन्तमात्मानमवरोधे महत्यपि ।
तया मेने मनस्विन्या लक्ष्म्या च वसुधाऽधिपः ॥ ३२ ॥

कलत्रवन्तमिति । वसुधाऽधिपः । अवरोधेऽन्तःपुरवर्गे महति सत्यपि मनस्विन्या दृढचित्तया पतिचित्तानुवृत्त्यादिनिर्बन्धक्षमयेत्यर्थः । तथा सुदक्षिणया लक्ष्म्या चात्मानं कलत्रवन्तं भार्यावन्तं मेने । 'कलत्रं श्रोणिभार्ययोः' इत्यमरः । वसुधाऽधिप इत्यनेन वसुधया चेति गम्यते ॥ ३२ ॥

उस राजा दिलीप का रनिवास बहुत बड़ा होने पर भी (बहुत सी रानियां होने पर भी) दृढचित्त सुदक्षिणा और लक्ष्मी से ही वह अपने को स्त्री वाला समझता था ॥ ३२ ॥

दिलीपः स्वपत्न्यां बहुदिनावधि पुत्रोत्पत्तिप्रतीक्षणं कृतवानित्याह—

तस्यामात्मानुरूपायामात्मजन्मसमुत्सुकः ।
विलम्बितफलैः कालं स निनाय मनोरथैः ॥ ३३ ॥

तस्यामिति । स राजा । आत्मानुरूपायां तस्याम् । आत्मनो जन्म यस्यासावात्मजन्मा पुत्रः । तस्मिन्समुत्सुकः । यद्वा । आत्मनो जन्मनि पुत्ररूपेणोत्पत्तौ समुत्सुकः सन् । (आत्मा वै पुत्रनामासि) इति श्रुतेः । विलम्बितं फलं पुत्रप्राप्तिरूपं येषां तैर्मनोरथैः कदा मे पुत्रो भवेदित्याशाभिः कालं निनाय यापयामास ॥ ३३ ॥

उस 'राजा दिलीप' ने अपने मनके अनुरूप उस 'सुदक्षिणा' में पुत्र के जन्म के विषय में उत्सुक होते हुये, विलम्ब है जिस के फल में ऐसे 'कब मेरा पुत्र होगा' इस आकांक्षा से समय बिताया ॥ ३३ ॥

सन्तानार्थमुद्योक्तुं प्रवृत्तस्य राज्ञो मन्त्रिवर्गे राज्यभारसमर्पणमित्याह—

संतानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता ।
तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे ॥ ३४ ॥

संतानेति । तेन दिलीपेन । संतानोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तस्मै संतानार्थाय विधयेऽनुष्ठानाय । स्वभुजादवतारिताऽवरोपिता जगतो लोकस्य गुर्वी धूर्भारः सचिवेषु निचिक्षिपे निहिता ॥ ३४ ॥

सन्तान प्राप्ति के लिये अनुष्ठान 'करने' के निमित्त अपने बाहु से उतारे हुये जगत् के बड़े भारी (प्रजापालनरूप कार्य) भार को मन्त्रियों के ऊपर रख दिया ॥ ३४ ॥

पुत्रप्राप्तिकाम्यया दिलीपस्य स्वगुरोर्वसिष्ठस्याश्रमे गमनमित्याह—

अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया ।
तौ दम्पती वसिष्ठस्य गुरोर्जग्मतुराश्रमम् ॥ ३५ ॥

अथेति । अथ धुरोऽवतारानन्तरं पुत्रकाम्ययाऽऽत्मनः पुत्रेच्छया 'काम्यच्च' इति पुत्रशब्दात्काम्यच्प्रत्ययः । 'अप्रत्ययात्' इति पुत्रकाम्यतेरप्रत्ययः । ततष्टाप् । तथा तौ दम्पती जायापती । राजदन्तादिषु जायाशब्दस्य दमिति निपातनात्साधुः । प्रयतौ पूतौ विधातारं ब्रह्माणमभ्यर्च्य 'स खलु पुत्रार्थिभिरुपास्यते' इति मान्त्रिकाः । गुरोः कुलगुरोर्वसिष्ठस्याश्रमं जग्मतुः पुत्रप्राप्त्युपायापेक्षयेति शेषः ॥ ३५ ॥

मन्त्रियों के ऊपर राज्यभार सौंपने के अनन्तर पुत्र की कामना से पवित्र हो, वे दोनों स्त्री पुरुष सुदक्षिणा और दिलीप ब्रह्मा की पूजा कर गुरु वसिष्ठ के आश्रम को गये ॥ ३५ ॥

तयोरेकरथेन वसिष्ठाश्रमगमनमित्याह—

स्निग्धगम्भीरनिर्घोषमेकं स्यन्दनमास्थितौ ।
प्रावृषेण्यं पयोवाहं विद्युदैरावताविव ॥ ३६ ॥

स्निग्धेति । स्निग्धो मधुरो गम्भीरो निर्घोषो यस्य तमेकं स्यन्दनं रथम् । प्रावृषि भवः प्रावृषेण्यः । 'प्रावृष एण्यः' इत्येण्यप्रत्ययः । तं प्रावृषेण्यं पयोवाहं मेघं विद्युदैरावताविव । आस्थितावारूढौ । जग्मतुरिति पूर्वेण सम्बन्धः । इरा आपः । 'इरा भूवाक्सुराऽप्सु स्यात्' इत्यमरः । इरावान्समुद्रः । तत्र भव ऐरावतोऽभ्रमातङ्गः । 'ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमुवल्लभाः' इत्यमरः । 'अभ्रमातङ्गत्वाच्चाभ्रस्थरूपत्वात्' इति क्षीरस्वामी । अत एव मेघारोहणं विद्युत्साहचार्यञ्च घटते । किञ्च विद्युत ऐरावतसाहचर्यादैरावती संज्ञा । ऐरावतस्य स्त्र्यैरावतीति क्षीरस्वामी । तस्मात्सुष्ठूक्तं विद्युदैरावताविवेति । एकरथारोहणोक्त्या कार्यसिद्धिबीजं दम्पत्योरत्यन्तसौमनस्यं सूचयति ॥ ३६ ॥

मधुर और गम्भीर शब्द करने वाले एक ही रथ पर वर्षाकाल के मेघ के ऊपर चढ़े हुये बिजली और ऐरावत हाथी की भांति वे दोनों सुदक्षिणा और दिलीप चले ॥ ३६ ॥

सेनाविरहितयोस्तयोर्गमने कारणमाह—

मा भूदाश्रमपीडेति परिमेयपुरःसरौ ।
अनुभावविशेषात्तु सेनापरिवृताविव ॥ ३७ ॥

मा भूदिति । पुनः किंभूतौ दंपती । आश्रमपीडा मा भून्मास्त्विति हेतोः । 'माङि लुङ्' इत्याशीरर्थे लुङ् । 'न माङ्योगे' इत्यडागमनिषेधः । परिमेयपुरःसरौ मितपरिचरौ । अनुभावविशेषात्तु तेजोविशेषात्सेनापरिवृताभ्यामिव स्थितौ ॥ ३७ ॥

गुरु वसिष्ठ के आश्रम को पीडा न हो, इस 'कारण' से थोड़े 'इने गिने' नौकरों (राजा के आगे २ चलने वालों) से युक्त होते हुये भी प्रभाव की अधिकता के कारण से सेना से घिरे हुये की भांति 'दिखलाई पड़ते हुये' वे दोनों सुदक्षिणा और दिलीप चले जाते थे ॥ ३७ ॥

मार्गे तयोः सुखदवायुभिः सेव्यमानयोर्गमनमित्याह—

सेव्यमानौ सुखस्पर्शैः शालनिर्यासगन्धिभिः ।
पुष्परेणूत्किरैर्वातैराधूतवनराजिभिः ॥ ३८ ॥

सेव्यमानाविति । पुनः कथंभूतौ । सुखशीतलत्वात्प्रियः स्पर्शो येषां तैः । शालनिर्यासगन्धिभिः सर्जतरुनिस्यन्दगन्धवद्भिः । 'शालः सर्जतरुः स्मृतः' इति शाश्वतः । उत्किरन्ति विक्षिपन्तीत्युत्किराः । 'इगुपध–' इत्यादिना किरतेः कप्रत्ययः । पुष्परेणूनामुत्किरास्तैराधूता मान्द्यादीषत्कम्पिता वनराजयो यैस्तैर्वातैः सेव्यमानौ ॥ ३८ ॥

सुखकर स्पर्श वाली, शाल वृक्षों से निकले हुये, गन्ध से युक्त, पुष्पों के परागों को उड़ानेवाली, वायु का 'सुदक्षिणा और दिलीप' सेवन करते हुये जाने लगे ॥ ३८ ॥

मार्गे मयूरवाणीः शृण्वतोस्तयोर्गमनमित्याह—

मनोऽभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः ।
षड्जसंवादिनीः केका द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः ॥ ३९ ॥

मनोऽभिरामा इति । रथनेमिस्वनोन्मुखैः । मेघध्वनिशङ्कयोन्नमितमुखैरित्यर्थः । शिखण्डिभिर्मयूरैर्द्विधा भिन्नाः शुद्धविकृतभेदेनाविष्कृतावस्थायां च्युताच्युतभेदेन वा षड्जो द्विविधः । तत्साहश्यात्केका अपि द्विधा भिन्ना इत्युच्यते । अत एवाह-षड्जसंवादिनीरिति । षड्भ्यः स्थानेभ्यो जातः षड्जः । तदुक्तम्–(नासाकण्ठमुरस्तालुजिह्वादन्तांश्च संस्पृशन् । षड्भ्यः संजायते यस्मात्तस्मात्षड्ज इति स्मृतः ॥) स च तन्त्रीकण्ठजन्मा स्वरविशेषः । 'निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः । पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः ॥' इत्यमरः । षड्जेन संवादिनीः सदृशीः । तदुक्तं मातङ्गेन–(षड्जं मयूरो वदति) इति । मनोऽभिरामाः, मनसः प्रियाः । के मूर्ध्नि कायन्ति ध्वनन्तीति केका मयूरवाण्यः 'केका वाणी मयूरस्य' इत्यमरः । ताः केकाः शृण्वन्तौ, इति श्लोकार्थः ॥ ३९ ॥

रथ के चक्रप्रान्त के शब्द को सुन कर ऊपर मुख किये हुये मयूरों द्वारा दो प्रकार की हुई षड्ज स्वर का अनुसरण करने वाली तथा मन को प्रसन्न करने वाली वाणी को सुनते हुये वे दोनों चले ॥ ३९ ॥

मृगद्वन्द्वं पश्यतोस्तयोर्गमनम्—

परस्पराक्षिसादृश्यमदूरोज्झितवर्त्मसु ।
मृगद्वन्द्वेषु पश्यन्तौ स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु ॥ ४० ॥

परस्परेति । विश्रम्भाददूरं समीपं यथा भवति तथोज्झितं वर्त्म यैस्तेषु । स्यन्दनाबद्धदृष्टिषु स्यन्दने रथ आबद्धाऽऽसञ्जिता दृष्टिर्नेत्रं यैस्तेषु । 'दृग्दृष्टिनेत्रलोचनचक्षुर्नयनाम्बकेक्षणाक्षीणि' इति हलायुधः । कौतुकवशाद्रथासक्तदृष्टिष्वित्यर्थः । मृग्यश्च मृगाश्च मृगाः । "पुमान् स्त्रिया" इत्येकशेषः । तेषां द्वन्द्वेषु मिथुनेषु । 'स्त्रीपुंसौ मिथुनं द्वन्द्वम्' इत्यमरः । परस्पराणां सादृश्यं पश्यन्तौ । द्वन्द्वशब्दसामर्थ्यान्मृगीषु सुदक्षिणाऽक्षिसादृश्यं दिलीपो दिलीपाक्षिसादृश्यं च मृगेषु सुदक्षिणेत्येवं विवेक्तव्यम् ॥४०॥

समीपमें रथ के मार्ग को छोड़े हुये, रथ की ओर दृष्टि लगाये हुये, मृग के जोड़ों में परस्पर (एक दूसरों के) आंखों की समानता को देखते हुये (वे दोनों चले) ॥ ४० ॥

मार्गे क्वचित् सारसान् पश्यन्तौ जग्मतुरित्याह—

श्रेणीबन्धाद्वितन्वद्भिरस्तम्भां तोरणस्रजम् ।
सारसैः कलनिर्ह्रादैः क्वचिदुन्नमिताननौ ॥ ४१ ॥

श्रेणीबन्धादिति । श्रेणीबन्धात्पङ्क्तिबन्धाद्धेतोरस्तम्भामाधारस्तम्भरहिताम् । तोरणं बहिर्द्वारम् । 'तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्' इत्यमरः । तत्र या स्रग्विरच्यते तां तोरणस्रजं वितन्वद्भिः । कुर्वद्भिरिवेत्यर्थः । उत्प्रेक्षाव्यञ्जकेवशब्दप्रयोगाभावेऽपि गम्योत्प्रेक्षेयम् । कलनिर्ह्रादैरव्यक्तमधुरध्वनिभिः सारसैः पक्षिविशेषैः । करणैः । क्वचिदुन्नमिताननौ । 'सारसो मैथुनी कामी गोनर्दः पुष्कराह्वयः' इति यादवः ॥ ४१ ॥

पङ्क्ति बांधने से (पंक्ति बांध कर चलने से) विना खम्भे के बन्दनवार (की तरह शोभा) को करते हुये, अस्पष्ट मधुर शब्द वाले सारस पक्षियों के कारण कभी कभी ऊपर की ओर मुख किये हुये (वे दोनों चले) ॥ ४१ ॥

गच्छतोस्तयोः पथ्यनुकूलवायुवहनमित्याह—

पवनस्यानुकूलत्वात्प्रार्थनासिद्धिशंसिनः ।
रजोभिस्तुरगोत्कीर्णैरस्पृष्टालकवेष्टनौ ॥ ४२ ॥

पवनस्येति । प्रार्थनासिद्धिशंसिनोऽनुकूलत्वादेव मनोरथसिद्धिसूचकस्य पवनस्यानुकूलत्वाद्गन्तव्यदिगभिमुखत्वात् । तुरगोत्कीर्णै रजोभिरस्पृष्टा अलका देव्याः, वेष्टनमुष्णीषं च राज्ञो ययोस्तौ तथोक्तौ । 'शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः' इति वक्ष्यति ॥ ४२ ॥

मनोरथ की सिद्धि को सूचित करने वाली वायु की अनुकूलता (सम्मुख दिशा के तरफ बहने) के कारणसे, घोड़ों के खुरों से उठी हुई धूलि से "सुदक्षिणा" के घुंघुराले बाल और "दिलीप" के सिरपेंच नहीं छुए गये "ऐसे वे दोनों चले" ॥ ४२ ॥

मार्गे कमलानां गन्धं जिघ्रतोस्तयोर्गमनमित्याह—

सरसीष्वरविन्दानां वीचिविक्षोभशीतलम् ।
आमोदमुपजिघ्रन्तौ स्वनिःश्वासानुकारिणम् ॥ ४३ ॥

सरसीष्विति । सरसीषु वीचिविक्षोभशीतलभूमिसंघट्टनेन शीतलं स्वनिःश्वासमनुकर्तुं शीलमस्येति स्वनिःश्वासानुकारिणम् । एतेन तयोरुत्कृष्टस्त्रीपुंसजातीयत्वमुक्तम् । अरविन्दानामामोदमुपजिघ्रन्तौ घ्राणेन गृह्णन्तौ ॥ ४३ ॥

तालाबों में लहरों के झकोरों से शीतल, अतएव अपने निःश्वास "मुख की वायु" का नकल करने वाले, कमलों के मनोहर सुगन्ध को सूंघते हुये वे दोनों चले ॥ ४३ ॥

यज्ञे ब्राह्मणेभ्यः प्रदत्ते ग्रामे ग्रामे तेषामाशीर्वादग्रहणमित्याह—

ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु यूपचिह्नेषु यज्वनाम् ।
अमोघाः प्रतिगृह्णन्तावर्घ्यानुपदमाशिषः ॥ ४४ ॥

ग्रामेष्विति । आत्मविसृष्टेषु स्वदत्तेषु । यूपो नाम संस्कृतः पशुबन्धाय दारुविशेषः । यूपा एव चिह्नानि येषां तेषु ग्रामेष्वमोघाः सफला यज्वनां विधिनेष्टवताम् । 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः । "सुयजोर्ङ्वनिप्" इति ङ्वनिप्प्रत्ययः । आशिष आशीर्वादान् । अर्घः पूजाविधिः । तदर्थं द्रव्यमर्घ्यम् । "पादार्घाभ्यां च" इति यत्प्रत्ययः । 'षट् तु त्रिष्वर्घ्यमर्घार्थे पाद्यं पादाय वारिणि' इत्यमरः । अर्घ्यस्यानुपदमन्वक् । अर्घ्यस्वीकारानन्तरमित्यर्थः । प्रतिगृह्णन्तौ स्वीकुर्वन्तौ । पदस्य पश्चादनुपदम् । पश्चादर्थेऽव्ययीभावः । 'अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपदं क्लीबमव्ययम्' इत्यमरः ॥४४॥

स्वयं "दानमें" दिये हुये यज्ञ के स्तम्भों से चिह्नित ग्रामों में विधिपूर्वक यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों के अव्यर्थ "कभी निष्फल न जाने वाले" आशीर्वादों को अर्घ्य स्वीकार करने के अनन्तर ग्रहण करते हुए "वे दोनों चले" ॥ ४४ ॥

मार्गे वन्यवृक्षाणां नामानि पृच्छतोस्तयोर्गमनमित्याह—

हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् ।
नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम् ॥ ४५ ॥

हैयङ्गवीनमिति । ह्यस्तनगोदोहोद्भवं घृतं हैयङ्गवीनम् । 'तत्तु हैयङ्गवीनं यद्ह्योगोदोहोद्भवं घृतम्' इत्यमरः । "हैयङ्गवीनं संज्ञायाम्" इति निपातः । तत्सद्यो घृतमादायोपस्थितान्घोषवृद्धान् । 'घोष आभीरपल्ली स्याद्' इत्यमरः । वन्यानां मार्गशाखिनां नामधेयानि पृच्छन्तौ । 'दुह्याच्—' इत्यादिना पृच्छतेर्द्विकर्मकत्वम् । कुलकम् ॥ ४५ ॥

गाय के ताजा दूध का मक्खन लेकर उपस्थित हुये घोष (अहिरों के ग्राम) में (रहने वाले) वृद्धों से जङ्गली रास्ते के वृक्षों के नामों को पूछते हुये "वे दोनों चले" ॥ ४५ ॥

तयोर्गच्छतोश्चित्राचन्द्रमसोरिव शोभाऽभूदित्याह—

काऽप्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतोः शुद्धवेषयोः ।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ॥ ४६ ॥

काऽपीति । व्रजतोर्गच्छतोः शुद्धवेषयोरुज्ज्वलनेपथ्ययोस्तयोः सुदक्षिणादिलोप-

योश्चित्राचन्द्रमसोरिव योगे सति काऽप्यनिर्वाच्याऽभिख्या शोभाऽऽसीत्। 'अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः। "आतश्चोपसर्गे" इत्यण्प्रत्ययः। चित्रा नक्षत्रविशेषः। शिशिरापगमे चैत्र्यां चित्रापूर्णचन्द्रमसोरिवेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

जाते हुये उज्ज्वल वेष वाले उन दोनों (सुदक्षिणा और दिलीप) का तुषार से निर्मुक्त हुये चित्रा नक्षत्र और चन्द्रमा के समान योग होने पर अनिर्वचनीय शोभा हुई ॥ ४६ ॥

पत्न्यै मार्गेऽद्भुतवस्तुजातं दर्शयतो दिलीपस्य गमनमित्याह—

तत्तद्भूमिपतिः पत्न्यै दर्शयन्प्रियदर्शनः।
अपि लङ्घितमध्वानं बुबुधे न बुधोपमः ॥ ४७ ॥

तत्तदिति । प्रियं दर्शनं स्वकर्मकं यस्यासौ प्रियदर्शनः। योगदर्शनीय इत्यर्थः। भूमिपतिः पत्न्यै तत्तदद्भुतं वस्तु दर्शयंल्लङ्घितमतिवाहितमप्यध्वानं न बुबुधे न ज्ञातवान्। बुधः सौम्य उपमोपमानं यस्येति विग्रहः। इदं विशेषणं तत्तद्दर्शयन्नित्युपयोगितयैवास्य ज्ञातृत्वसूचनार्थम् ॥ ४७ ॥

देखने में सुन्दर, "अतएव" चन्द्रपुत्र बुध के समान, राजा "दिलीप" अद्भुत वस्तुओं को रानी "सुदक्षिणा" को दिखलाते हुये, लांघे हुये (पीछे छोड़े हुये) मार्ग को भी न जान सके ॥ ४७ ॥

सुदक्षिणादिलीपयोर्वसिष्ठाश्रमप्रापणमित्याह—

स दुष्प्रापयशाः प्रापदाश्रमं श्रान्तवाहनः।
सायं संयमिनस्तस्य महर्षेर्महिषीसखः ॥ ४८ ॥

स इति । दुष्प्रापयशा दुष्प्रापमन्यदुर्लभं यशो यस्य स तथोक्तः। श्रान्तवाहनो दूरोपगमनात्क्लान्तयुग्यः। महिष्याः सखा महिषीसखः। "राजाहः सखिभ्यष्टच्" इति टच्प्रत्ययः। सहायान्तरनिरपेक्ष इति भावः। स राजा सायं सायंकाले संयमिनो नियमवतस्तस्य महर्षेर्वसिष्ठस्याश्रमं प्रापत्प्राप। पुषादित्वादङ् ॥ ४८ ॥

"दूसरों के" दुर्लभ यश वाले, थके हुये हैं वाहन जिसके, ऐसे पटरानी सुदक्षिणा के सहित वे राजा दिलीप, सायङ्काल के समय संयम रखने वाले उन पूर्वोक्त कुलगुरु महर्षि वसिष्ठ के आश्रम में पहुंचे ॥ ४८ ॥

तमाश्रमं विशिनष्टि—

वनान्तरादुपावृत्तैः समित्कुशफलाहरैः।
पूर्यमाणमदृश्याग्निप्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः ॥ ४९ ॥

वनान्तरादिति । वनान्तरादन्यस्माद्वनादुपावृत्तैः प्रत्यावृतैः। समिधश्च कुशांश्च फलानि चाहर्तुं शीलं येषामिति समित्कुशफलाहरास्तैः "आङि ताच्छील्ये" इति हरतेराङ्पूर्वादच्प्रत्ययः। अदृश्यैर्दर्शनायोग्यैरग्निभिर्वैतानिकैः। प्रत्युद्याताः प्रत्युद्गतास्तैः। तपस्विभिः पूर्यमाणम्। (प्रोष्यागच्छतामाहिताग्नीनामग्नयः प्रत्युद्यान्ति)

इति श्रुतेः । यथाऽऽह—(कामं पितरं पुत्राः प्रोषितवन्तं प्रत्याधावन्ति । एवमेत-मग्नयः प्रत्याधावन्ति सशकलान्दारूनिवाहरन् इति) ॥ ४९ ॥

दूसरे जङ्गल से लौटे हुये, समिधा, कुश, और फल के लाने वाले, दूसरों से नहीं दिखाई पड़ते हुये अग्नि के द्वारा अगुवानी किये गये तपस्वियों से भरे हुये "आश्रम में पहुंचे ॥४९॥

आश्रमस्थमृगवर्णनमित्याह—

आकीर्णमृषिपत्नीनामुटजद्वाररोधिभिः ।
अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः ॥ ५० ॥

आकीर्णमिति । नीवाराणां भाग एव भागधेयोऽशः । "भागरूपनामभ्यो धेयः" इति वक्तव्यसूत्रात्स्वार्थाभिधेये धेयप्रत्ययः । तस्योचितैः । अत एवोटजानां पर्णशालानां द्वाररोधिभिर्द्वाररोधकैर्मृगैर्ऋषिपत्नीनामपत्यैरिव । आकीर्णं व्याप्तम् ॥ ५० ॥

तृणधान्य के भाग को पाने वाले, "तथा" पर्णशाला "कुटी" के द्वार को रोकने वाले, ऋषि पत्नियों के सन्तानों की तरह मृगों से भरे हुये, "आश्रम में पहुंचे" ॥ ५० ॥

आश्रमस्थपक्षिणां सद्यः सेचिततरुमूलजलपानमित्याह—

सेकान्ते मुनिकन्याभिस्तत्क्षणोज्झितवृक्षकम् ।
विश्वासाय विहङ्गानामालवालाम्बुपायिनाम् ॥ ५१ ॥

सेकान्त इति । सेकान्ते वृक्षमूलसेचनावसाने मुनिकन्याभिः सेक्त्रीभिः । आल-वालेषु जलावापप्रदेशेषु यदम्बु तत्पायिनाम् । 'स्यादालवालमावालमावापः' इत्यमरः। विहङ्गानां पक्षिणां विश्वासाय विश्रम्भाय । 'समौ विश्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः । तत्क्षणे सेकक्षण उज्झिता वृक्षका ह्रस्ववृक्षा यस्मिंस्तम् । ह्रस्वार्थे कप्रत्ययः ॥ ५१ ॥

वृक्षों की क्यारियों का जल पीने का स्वभाव है जिनका, ऐसे पक्षियों के विश्वास के लिये (अर्थात्–कोई भय नहीं है ऐसा विश्वास दिलाने के लिये) मुनिकन्याओं के द्वारा सींचे जाने के उपरान्त तत्काल ही छोड़े गये हैं छोटे वृक्ष जिसमें "ऐसे आश्रम में पहुँचे" ॥ ५१ ॥

तत्रत्यानां मृगाणां रोमन्थवर्त्तनमित्याह—

आतपात्ययसंक्षिप्तनीवारासु निषादिभिः ।
मृगैर्वर्तितरोमन्थमुटजाङ्गनभूमिषु ॥ ५२ ॥

आतपेति । आतपस्यात्ययेऽपगमे सति संक्षिप्ता राशीकृता नीवारास्तृणधान्यानि यासु तासु । 'नीवारास्तृणधान्यानि' इत्यमरः । उटजानां पर्णशालानामङ्गनभूमिषु चत्वरभागेषु 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इति । 'अङ्गनं चत्वराजिरे' इति चामरः । निषा-दिभिरुपविष्टैर्मृगैर्वर्तितो निष्पादितो रोमन्थश्चर्वितचर्वणं यस्मिन्नाश्रमे तम् ॥ ५२ ॥

घाम के न रहने पर इकट्ठे किये गये हैं नीवार नामक धान्य जिसमें, ऐसी पर्णशाला के आंगन की भूमि में बैठने वाले, हरिण जहां पागुर कर रहे हैं ऐसे आश्रम में पहुंचे ॥५२॥

तत्रत्यो हुतहवनीयद्रव्यगन्धयुक्तो धूम इत्याह—

अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान् ।
पुनानं पवनोद्धूतैर्धूमैराहुतिगन्धिभिः ॥ ५३ ॥

अभ्युत्थितेति । अभ्युत्थिताः प्रज्वलिताः । होमयोग्या इत्यर्थः । (समिद्धेऽग्नावाहुतीर्जुहोति) इति वचनात् । तेषामग्नीनां पिशुनैः सूचकैः पवनोद्धूतैः । आहुतिगन्धो येषामस्तीत्याहुतिगन्धिनस्तैर्धूमैराश्रमोन्मुखानतिथीन् पुनानं पवित्रीकुर्वाणम् ॥ कुलकम् ॥ ५३ ॥

प्रज्वलित अग्नि को सूचित करने वाली "तथा" वायु से फैले हुये, आहुति के गन्ध से मिले हुये धूयें से आश्रम की ओर आने के लिये उन्मुख अतिथियों को पवित्र करने वाले "आश्रम में पहुंचे" ॥ ५३ ॥

आश्रमप्राप्त्यनन्तरं रथादवतरणमित्याह—

अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान्विश्रामयेति सः ।
तामवारोहयत्पत्नीं रथादवततार च ॥ ५४ ॥

अथेति । अथाश्रमप्राप्त्यनन्तरं स राजा यन्तारं सारथिम् । धुरं वहन्तीति धुर्या युग्याः। "धुरो यड्ढकौ" इति यत्प्रत्ययः । 'धूर्वहे धुर्यधौरेयधुरीणाः सधुरन्धराः इत्यमरः । धुर्यान्रथाश्वान्विश्रामय विनीतश्रमान्कुर्वित्यादिश्याज्ञाप्य तां पत्नीं रथादवारोहयदवतारितवान्स्वयं चावततार 'विश्रमय' इति ह्रस्वपाठे "जनीजृष्–" इति मित्त्वे "मितां ह्रस्वः" इति ह्रस्वः। दीर्घपाठे "मितां ह्रस्वः" इति सूत्रे "वा चित्तविरागे" इत्यतो 'वा' इत्यनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाऽऽश्रयणाद्ध्रस्वाभाव इति वृत्तिकारः ॥५४॥

उसके बाद वह "राजा दिलीप" सारथि को "घोड़ों को विश्राम कराओ" यह आज्ञा देकर उस "अपनी" स्त्री "सुदक्षिणा" को रथ से उतारे और स्वयं भी उतरे ॥ ५४ ॥

मुनयो दिलीपार्हणां चक्रुरित्याह—

तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः ।
अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे ॥ ५५ ॥

तस्मा इति । सभायां साधवः सभ्याः । "सभाया यः" इति यप्रत्ययः। गुप्ततमेन्द्रिया अत्यन्तनियमितेन्द्रिया मुनयः सभार्याय गोप्त्रे रक्षकाय । नयः शास्त्रमेव चक्षुस्तत्त्वावेदकं प्रमाणं यस्य तस्मै नयचक्षुषे। अत एवार्हते प्रशस्ताय । पूज्यायेत्यर्थः। "अर्हः प्रशंसायाम्" इति शतृप्रत्ययः। तस्मै राज्ञेऽर्हणां पूजां चक्रुः । 'पूजा नमस्याऽपचितिः सपर्यार्चाऽऽर्हणाः समाः' इत्यमरः ॥ ५५ ॥

सभ्य जितेन्द्रिय मुनियों ने, रानी के सहित, रक्षा करने वाले, नीतिशास्त्र रूपी नेत्र वाले "अत एव" पूज्य उन राजा दिलीप की पूजा की ॥ ५५ ॥

सायङ्कालीनक्रियान्तेऽरुन्धतीसहितस्य गुरोर्दर्शनमित्याह—

विधेः सायन्तनस्यान्ते स ददर्श तपोनिधिम् ।
अन्वासितमरुन्धत्या स्वाहयेव हविर्भुजम् ॥ ५६ ॥

विधेरिति । स राजा सायन्तनस्य सायम्भवस्य । "सायंचिरम्—" इत्यादिना ट्युल्प्रत्ययः । विधेर्जपहोमाद्यनुष्ठानस्यान्तेऽवसानेऽरुन्धत्यान्वासितं पश्चादुपवेशनेनोपसेवितम् । कर्मणि क्तः । उपसर्गवशात्सकर्मकत्वम् 'अन्वास्यैनाम्' इत्यादिवदुपपद्यते । तपोनिधिं वशिष्ठम् । स्वाहया स्वाहादेव्या । 'अथाग्नायी स्वाहा च हुतभुक्प्रिया' इत्यमरः । अन्वासितं हविर्भुजमिव ददर्श । (समित्पुष्पकुशाग्न्यम्बुमृदन्नाक्षतपाणिकः । जपं होमं च कुर्वाणो नाभिवाद्यो द्विजो भवेत् ॥) इत्यनुष्ठानस्य मध्येऽभिवादननिषेधाद्विधेरन्ते ददर्शेत्युक्तम् । अन्वासनं चात्र पतिव्रताधर्मत्वेनोक्तं न तु कर्माङ्गत्वेन । विधेरन्त इति कर्मणः समाप्त्यभिधानात् ॥ ५६ ॥

उस "राजा दिलीप" ने सायङ्कालीन अनुष्ठान के समाप्त होने पर अरुन्धती से सेवित तपोनिधि "वशिष्ठ" को स्वाहा देवी से सेवित अग्नि की भांति देखा ॥ ५६ ॥

सुदक्षिणादिलीपयोः सपत्नीकस्य गुरोः पादाभिवन्दनमित्याह—

तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी ।
तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः ॥ ५७ ॥

तयोरिति । मागधी मगधराजपुत्री राज्ञी सुदक्षिणा राजा च तयोररुन्धतीवशिष्ठयोः पादाञ्जगृहतुः । 'पादः, पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । पादग्रहणमभिवादनम् । गुरुपत्नी गुरुश्च कर्तारौ, सा च स च तौ सुदक्षिणादिलीपौ कर्मभूतौ । प्रीत्या हर्षेण प्रतिननन्दतुः । आशीर्वादादिभिः संभावयाञ्चक्रतुरित्यर्थः ॥ ५७ ॥

मगध देश के राजा की लड़की रानी "सुदक्षिणा" और राजा "दिलीप" ने उन दोनों "अरुन्धती और वशिष्ठ" के चरणों को पकड़ा "प्रणाम किया" । तथा गुरु "वशिष्ठ" और गुरुपत्नी "अरुन्धती" ने प्रेम से उन दोनों "सुदक्षिणा और दिलीप" को आशीर्वाद दिया ॥

वशिष्ठो दिलीपं राज्यविषयककुशलं पृष्टवानित्याह—

तमातिथ्यक्रियाशान्तरथक्षोभपरिश्रमम् ।
पप्रच्छ कुशलं राज्ये राज्याश्रममुनिं मुनिः ॥ ५८ ॥

तमिति । मुनिः । अतिथ्यर्थमातिथ्यम् । "अतिथेर्ञ्यः" इति ञ्यप्रत्ययः । आतिथ्यस्य क्रिया तयाशान्तो रथक्षोभेण यः परिश्रमः स यस्य स तं तथोक्तम् । राज्यमेवाश्रमस्तत्र मुनिं मुनितुल्यमित्यर्थः । तं दिलीपं राज्ये कुशलं पप्रच्छ प्रच्छतेस्तु द्विकर्मकत्वमित्युक्तम् । यद्यपि राज्यशब्दः पुरोहितादिष्वन्तर्गतत्वाद्राजकर्मवचनः । तथाऽप्यत्र सप्ताङ्गवचनः । 'उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु' इत्युत्तरविरोधात् । तथाऽऽह मनुः—(स्वाम्यमात्यपुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ तथा सुहृत् । सप्तैतानि समस्तानि

लोकेऽस्मिन् राज्यमुच्यते ॥) इति। तत्र (ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्। वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च) इति मनुवचने सत्यपि तस्य राज्ञो महानुभावत्वाद्ब्राह्मणोचितः कुशलप्रश्न एव कृत इत्यनुसंधेयम्। अत एवोक्तं-राज्याश्रममुनिम्' इति ॥ ५८ ॥

मुनि "वशिष्ठ" ने अतिथि सत्कार के द्वारा रथ के हिलने से उत्पन्न हुई, थकावट जिसकी दूर होगयी है, ऐसे राज्यरूपी आश्रम के विषय में मुनि तुल्य उन "राजा दिलीप" से राज्य "स्वामी-मन्त्री-नगर-देश-खजाना-दण्ड-मित्र-" विषयक कुशल पूछा ॥ ५८॥

वशिष्ठस्य कुशलप्रश्नानन्तरं दिलीपस्योत्तरदानोपक्रमः—

अथाथर्वनिधेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः।
अर्थ्यामर्थपतिर्वाचमाददे वदतां वरः ॥ ५९ ॥

अथेति। अथ प्रश्नानन्तरं विजितारिपुरो विजितशत्रुनगरो वदतां वक्तृणां वरः श्रेष्ठः "यतश्च निर्धारणम्" इति षष्ठी। अर्थपतिः राजाऽथर्वणोऽथर्ववेदस्य निधेस्तस्य मुनेः पुरोऽग्रेऽर्थ्यामर्थादनपेताम्। 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्ययः। वाचमाददे। वक्तुमुपक्रान्तवानित्यर्थः। अथर्वनिधेरित्यनेन पुरोहितकृत्याभिज्ञत्वात्तत्कर्मनिर्वाहकत्वं मुनेरस्तीति सूच्यते। यथाऽऽह कामन्दकः-(त्रय्यां च दण्डनीत्यां च कुशलः स्यात्पुरोहितः। अथर्वविहितं कुर्यान्नित्यं शान्तिकपौष्टिकम् ॥ इति ॥ ५९॥

"गुरु वशिष्ठ के कुशल प्रश्न पूछ चुकने के" बाद, वैरियों के नगरों को जीतने वाले, बोलने वालों में श्रेष्ठ, विभव के पति "राजा दिलीप" ने, अथर्ववेद के खजाना "अथवेद के विद्वान्" उन "वशिष्ठ ऋषि" के आगे प्रयोजन से युक्त बात छेड़ी ॥ ५९ ॥

यस्य त्वं गुरुरसि तस्य राज्ये सर्वत्र कुशलमस्त्येवेत्याह—

उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ॥ ६० ॥

उपपन्नमिति। हे गुरो! सप्तस्वङ्गेषु स्वाम्यमात्यादिषु। 'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च। सप्ताङ्गानि' इत्यमरः। शिवं कुशलमुपपन्नं ननु युक्तमेव। नन्ववधारणे। 'प्रश्नावधारणानुज्ञाऽनुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः। कथमित्यत्राह- यस्य मे दैवीनां देवेभ्य आगतानां दुर्भिक्षादीनाम् मानुषीणां मनुष्येभ्य आगतानां चौरभयादीनाम्। उभयत्रापि "तत आगतः" इत्यण्। "टिड्ढाणञ्-" इत्यादिना ङीप्। आपदां व्यसनानां त्वं प्रतिहर्ता वारयिताऽसि। अत्राह कामन्दकः-(हुताशनो जलं व्याधिर्दुर्भिक्षं मरणं तथा। इति पञ्चविधं दैवं मानुषं व्यसनं ततः ॥ आयुक्तकेभ्यश्चौरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात्। पृथिवीपतिलोभाच्च नराणां पञ्चधा मतम् ॥) इति ॥ ६० ॥

" हे गुरो"! मेरे "राज्य के" सात अङ्गों "स्वामी, मन्त्री, मित्र, खजाना, (पुर) राष्ट्र,

किला, सेना," में कुशल क्यों न हो क्योंकि जिसके दैवी, "अग्नि, जल, रोग, दुर्भिक्ष, मरण, इन पांच" और मानुषी "ठग, चौर, शत्रु, राजा का कृपापात्र, राजा का लोभ इन पांच" आपत्तियों के नाश करने वाले आप "स्वयं विद्यमान" हैं ॥ ६० ॥

तत्र मानुषापत्प्रतीकारमाह—

तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात्प्रशमितारिभिः ।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः ॥ ६१ ॥

तवेति । दूरात्परोक्ष एव प्रशमितारिभिः । मन्त्रान्कृतवान्मन्त्रकृत् । "सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः" इति क्विप् । तस्य मन्त्रकृतो मन्त्राणां स्रष्टुः प्रयोक्तुर्वा तव मन्त्रैः कर्तृभिः । दृष्टं प्रत्यक्षं यल्लक्ष्यं यन्मात्रं भिन्दन्तीति दृष्टलक्ष्यभिदो मे शराः प्रत्यादिश्यन्त इव । वयमेव समर्थाः । किमेभिः पिष्टपेषकैरिति निराक्रियन्त इवेत्युत्प्रेक्षा । 'प्रत्यादेशो निराकृतिः' इत्यमरः । त्वन्मन्त्रसामर्थ्यादेव नः पौरुषं फलतीति भावः ॥ ६१ ॥

मन्त्र के प्रयोग करनेवाले आप के जो दूर ही से (परोक्ष ही में) वैरियों के नाश करनेवाले मन्त्र हैं, वे प्रत्यक्ष ही में वेधने वाले मेरे बाणों को व्यर्थ से करते हैं ॥ ६१ ॥

संप्रति दैविकापत्प्रतीकारमाह—

हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु ।
वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम् ॥ ६२ ॥

हविरिति । हे होतः ! त्वया विधिवदग्निष्वावर्जितं प्रक्षिप्तं हविराज्यादिकं कर्तृ । अवग्रहो वर्षप्रतिबन्धः । "अवे ग्रहो वर्षप्रतिबन्धे" इत्यप्प्रत्ययः । 'वृष्टिर्वर्षं तद्विघातेऽवग्राहावग्रहौ समौ' इत्यमरः । तेन विशोषिणां विशुष्यतां सस्यानां वृष्टिर्भवति वृष्टिरूपेण सस्यान्युपजीवयतीति भावः । अत्र मनुः-(अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ इति ॥ ६२ ॥

हे हवन करने वाले ! "गुरो !" आपसे विधिपूर्वक अग्नि में दी हुई आहुति अकाल से सूखते हुये धानों "वृक्षादिकों के फलों" के सम्बन्ध में वृष्टिरूप होती है । ॥ ६२॥

स्वप्रजानां सर्वतो भावेन सुखित्वे त्वद्ब्रह्मवर्चसं हेतुरित्याह—

पुरुषायुषजीविन्यो निरातङ्का निरीतयः ।
यन्मदीयाः प्रजास्तस्य हेतुस्त्वद्ब्रह्मवर्चसम् ॥ ६३ ॥

पुरुषायुषेति । आयुर्जीवितकालः । पुरुषस्यायुः पुरुषायुषम् । वर्षशतमित्यर्थः । (शतायुर्वै पुरुषः) इति श्रुतेः । "अचतुरविचतुरसुचतुर-" इत्यादिसूत्रेणाच्प्रत्ययान्तो निपातः । मदीयाः प्रजाः पुरुषायुषं जीवन्तीति पुरुषायुषजीविन्यः । निरातङ्का निर्भयाः । 'आतङ्को भयमाशङ्का' इति हलायुधः । निरीतयोऽतिवृष्ट्यादिरहिता इति यत्तस्य सर्वस्य त्वद्ब्रह्मवर्चसं तव व्रताध्ययनसंपत्तिरेव हेतुः । "व्रताध्ययनसं-

पत्तिरित्येतद्ब्रह्मवर्चसम्" इति हलायुधः। ब्रह्मणो वर्चो ब्रह्मवर्चसम्। "ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः" इत्यच्प्रत्ययः। (अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषिकाः शलभाः शुकाः। अत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ॥) इति कामन्दकः ॥ ६३ ॥

जो मेरी प्रजायें, पुरुष की आयु "सौ वर्ष" तक जीने वाली, निर्भय और ईति "अतिवर्षा, सूखा, चूहा, टीडी, सुआ, पक्षी" राजाओं की चढाई से बची हुई हैं"। सो इन सबों का कारण आपका ब्रह्मतेज "सदाचार वेद वेदाङ्गाध्ययन से उत्पन्न पुण्य" ही है॥

भवादृशेन मद्गुरुणा सर्वं मे सुखं भवतीत्याह—

त्वयैवं चिन्त्यमानस्य गुरुणा ब्रह्मयोनिना।
सानुबन्धाः कथं न स्युः संपदो मे निरापदः॥ ६४॥

त्वयैवमिति। ब्रह्मा योनिः कारणं यस्य तेन ब्रह्मपुत्रेण गुरुणा त्वयैवमुक्तप्रकारेण चिन्त्यमानस्यानुध्यायमानस्य। अत एव निरापदो व्यसनहीनस्य मे संपदः सानुस्यूतयोऽविच्छिन्ना इति यावत्। कथं न स्युः। स्युरेत्यर्थः॥ ६४॥

"जब" ब्रह्मपुत्र आप "मेरे" गुरु हैं। और "सर्वदा" उक्त प्रकार से "मेरे कल्याण की" चिन्ता किया करते हैं। "तो फिर" आपत्ति से रहित मेरी सम्पत्ति "निरन्तर" अविच्छिन्न "स्थिर" क्यों न रहे॥ ७४॥

संप्रत्यागमनप्रयोजनमाह—

किन्तु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम्।
न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी॥ ६५॥

किन्त्विति। किन्तु तवैतस्यां वध्वां स्नुषायाम्। 'वधूर्जाया स्नुषा चैव' इत्यमरः। अदृष्टा सदृश्यनुरूपा प्रजा येन तं मां सद्वीपाऽपि। रत्नानि सूयत इति रत्नसूरपि। "सत्सूद्विष—" इत्यादिना क्विप्। मेदिनी नावति न प्रीणाति। अवधातू रक्षणगतिप्रीत्याद्यर्थेषूपदेशादत्र प्रीणने। रत्नसूरपीत्यनेन सर्वरत्नेभ्यः पुत्ररत्नमेव श्लाघ्यमिति सूचितम्॥ ६५॥

परन्तु आपकी इस शिष्य वधू में "अपने" सदृश सन्तान होती हुई न देखने वाले मुझको द्वीपों के सहित रत्नों को पदा करने वाली पृथ्वी भी नहीं भाती॥ ६५॥

पुत्राभावेन पितॄणां दुःखेन पिण्डग्रहणं भविष्यतीत्याह—

नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः।
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः॥ ६६॥

नूनमिति। मत्तः परं मदनन्तरम् "पञ्चम्यास्तसिल्" पिण्डविच्छेददर्शिनः पिण्डदानविच्छेदमुत्प्रेक्षमाणाः। वंशोद्भवा वंश्याः पितरः। स्वधेत्यव्ययं पितृभोज्ये वर्तते। तस्याः संग्रहे तत्परा आसक्ताः सन्तः श्राद्धे पितृदानं निवापः स्याच्छ्राद्धं तत्कर्म शास्त्रतः' इत्यमरः। प्रकामभुजः पर्याप्तभोजिनो न भवन्ति। नूनं सत्यम्। 'कामं

प्रकामं पर्याप्तम्' इत्यमरः । निर्धना ह्यापद्धनं कियदपि संगृह्णन्तीति भावः ॥ ६६ ॥

मेरे बाद पिण्ड का लोप देखने वाले, स्वधा इकट्ठी करने में लगे हुये, मेरे पूर्वज श्राद्ध में इच्छापूर्वक भोजन करने के लिये निश्चय उत्साह नहीं कर रहे हैं ॥ ६६ ॥

पुत्राभावेन पितॄणां दुःखेन जलग्रहणं भविष्यतीत्याह—

मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया ।
पयः पूर्वैः स्वनिःश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते ॥ ६७ ॥

मत्परमिति । मत्परं मदनन्तरम् । "अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते" इत्यनेन पञ्चमी । दुर्लभं दुर्लभ्यं मत्वा मयाऽऽवर्जितं मद्दत्तं पयः पूर्वैः पितृभिः स्वनिःश्वासैर्दुःखजैः कवोष्णमीषदुष्णं यथा तथोपभुज्यते । नूनमिति वितर्के । कवोष्णमिति कुशब्दस्य कवादेशः । 'कोष्णं कवोष्णं मन्दोष्णं कदुष्णं त्रिषु तद्वति' इत्यमरः ॥ ६७ ॥

मेरे बाद "जल को" दुर्लभ समझ कर "इस समय मुझसे दिये जल को "मेरे" पूर्वज "पितृगण" अपने "दुःखजन्य" निःश्वासों से थोड़ा गरम "जैसे हो वैसे" पीते हैं । "ऐसा मैं" अनुमान "करता हूं" ॥ ६७ ॥

पितॄणानुद्धृतस्य दिलीपस्य दुःखप्रकाशनमित्याह—

सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः ।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः ॥ ६८ ॥

स इति । इज्या यागः 'व्रजयजोर्भावे क्यप्" इति क्यप्प्रत्ययः । तथा विशुद्धात्मा विशुद्धचेतनः प्रजालोपेन सन्तत्यभावेन निमीलितः । कृतनिमीलनः सोऽहम् । लोक्यत इति लोकः । न लोक्यत इत्यलोकः, लोकश्चालोकश्चात्र स्त इति । लोकश्चासावलोकश्चेति वा, लोकालोकश्चक्रवालोऽचल इव । 'लोकालोकश्चक्रवालः' इत्यमरः । प्रकाशत इति प्रकाशश्च दैवर्णविमोचनात् । न प्रकाशत इत्यप्रकाशश्च पितॄणा विमोचनात् । पचाद्यच् । अस्मीति शेषः । लोकालोकोऽप्यन्तः सूर्यसंपर्काद्बहिस्तमोव्याप्त्या च प्रकाशश्चाप्रकाशश्चेति मन्तव्यम् ॥ ६८ ॥

यज्ञ करने के कारण से शुद्ध चित्तवाला तथा—पुत्रके न दिखाई पड़ने (न होने) से आँख मूंदे हुहे "अन्धा" जैसा मैं "दिलीप' लोकालोक पर्वत की भांति प्रकाशवान् "दीप्तिमान्" और अप्रकाशवान् "मलिन" हो रहा हूं ॥ ६८ ॥

ननु तपोदानादिसम्पन्नस्य किमपत्यैरित्यत्राह—

लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम् ।
सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥ ६९ ॥

लोकान्तरेति । समुद्भवत्यस्मादिति समुद्भवः कारणम् । तपोदाने समुद्भवो यस्य तत्तपोदानसमुद्भवं यत्पुण्यं तल्लोकान्तरे परलोके सुखं सुखकरम् । शुद्धवंशे भवा

शुद्धवंश्या सन्ततिर्हि परत्र परलोके, इह च लोके शर्मणे सुखाय । 'शर्मशातसुखानि च' इत्यमरः । भवतीति शेषः ॥ ६९ ॥

तप और दान है कारण जिसका ऐसा जो पुण्य, वह परलोक में सुख देने वाला होता है। परन्तु पवित्र वंश मे उत्पन्न हुई सन्तति इस लोक और परलोक दोनों ही में सुख के लिये होती है ॥ ६९ ॥

समर्थोऽपि कथमनपत्यं मां ज्ञात्वा भवान्न दूयत इत्याह—

तया हीनं विधातर्मां कथं ? पश्यन्न दूयसे ।
सिक्तं स्वयमिव स्नेहाद् बन्ध्यमाश्रमवृक्षकम् ॥ ७० ॥

तयेति । हे विधातः ! स्रष्टः !, तया सन्तत्या हीनमनपत्यं माम् । स्नेहात्प्रेम्णा स्वयमेव सिक्तं जलसेकेन वर्धितं बन्ध्यमफलम् । 'बन्ध्योऽफलोऽवकेशी च' इत्यमरः । आश्रमस्य वृक्षकं वृक्षपोतमिव । पश्यन्कथं न दूयसे न परितप्यसे ? विधातरित्यनेन समर्थोऽप्युपेक्षस इति गम्यते ॥ ७० ॥

हे विधातः ! सन्तान से हीन मुझे स्नेह से स्वयं सींचे हुये फल से रहित आश्रम के छोटे वृक्ष की भांति देखते हुये किस कारण से आप दुःखी नहीं होते हो ॥ ७० ॥

दिलीपस्य स्वकीयापुत्रत्वस्यासह्यपीडत्वकथनमित्याह—

असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे ।
अरुन्तुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिनः ॥ ७१ ॥

असह्यपीडमिति । हे भगवन् ! मे ममान्त्यमृणं पैतृकमृणम् । अनिर्वाणस्य मज्जनरहितस्य । 'निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे विनाशे गजमज्जने' इति यादवः । दन्तिनो गजस्य । अरुर्मर्म तुदतीत्यरुन्तुदं मर्मस्पृक् । 'व्रणोऽस्त्रियामीर्ममरुः' इति, 'अरुन्तुदन्तु मर्मस्पृक्' इति चामरः । "विध्वरुषोस्तुदः" इति खश्प्रत्ययः । "अरुर्द्विषद्—" इत्यादिना मुमागमः । आलानं बन्धनस्तम्भमिव । 'आलानं बन्धनस्तम्भे' इत्यमरः । असह्या सोढुमशक्या पीडा दुःखं यस्मिंस्तदवेहि । दुःसहदुःखजनकं विद्धीत्यर्थः । 'निर्वाणोत्थानशयनानि त्रीणी गजकर्माणि' इति पालकाप्ये । (ऋणं देवस्य यागेन ऋषीणां दानकर्मणा । सन्तत्या पितृलोकानां शोधयित्वा परिव्रजेत्) ॥ ७१ ॥

हे भगवन् ! मेरे अन्तिम "पैतृक" ऋण को बिना स्नान किये हुये हाथी के मर्म को दुःख देने वाले बांधने के खम्भे की तरह असह्य पीड़ा "पहुचाने" वाला "आप" समझें॥७१॥

दिलीपस्य पुत्रप्राप्तौ प्रयत्नं कर्तुं वशिष्ठं प्रति कथनमित्याह—

तस्मान्मुच्ये यथा तात ! संविधातुं तथाऽर्हसि ।
इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः ॥ ७२ ॥

तस्मादिति । हे तात ! तस्मात्पैतृकादृणाद्यथा मुच्ये मुक्तो भवामि । कर्मणि लट् । तथा संविधातुं कर्तुमर्हसि । हि यस्मात्कारणादिक्ष्वाकूणामिक्ष्वाकुवंश्या-

नाम् । तद्राजत्वाद्बहुष्वणो लुक् । दुरापे दुष्प्राप्येऽर्थे । सिद्धयस्त्वदधीनास्त्वदायत्ताः । इक्ष्वाकूणामिति शेषे षष्ठी । "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इत्यनेन कृद्योगे षष्ठी-निषेधात् ॥ ७२ ॥

हे तात ! उस "पैतृक ऋण" से जिस प्रकार से मैं छुटकारा पाऊँ उस प्रकार से "उसे" करने के लिये आप योग्य हो । क्योंकि इक्ष्वाकु कुल के राजाओं के कठिन कार्य के विषय में सिद्धियां आप के अधीन हैं ॥ ७२ ॥

दिलीपप्रश्नं श्रुत्वा वशिष्ठस्य तदुपरि विचार इत्याह—

इति विज्ञापितो राज्ञा ध्यानस्तिमितलोचनः ।
क्षणमात्रमृषिस्तस्थौ सुप्तमीन इव ह्रदः ॥ ७३ ॥

इतीति । इति राज्ञा विज्ञापित ऋषिर्ध्यानेन स्तिमिते लोचने यस्य सध्यान-स्तिमितलोचनो निश्चलाक्षः सन्क्षणमात्रं सुप्तमीनो ह्रद इव तस्थौ ॥ ७३ ॥

इस प्रकार से राजा "दिलीप" से निवेदन किये गये "वसिष्ठ" ऋषि ध्यान से दोनों आँखें मूंदे हुए क्षण मात्र, सोई मछलियां हैं जिसमें ऐसे अगाध जलाशय की भांति स्थिर रहे ॥ ७३ ॥

वशिष्ठस्य ध्यानचक्षुषा पुत्रप्रतिबन्धकारणं विज्ञाय दिलीपं प्रति कथनमित्याह—

सोऽपश्यत्प्रणिधानेन संततेः स्तम्भकारणम् ।
भावितात्मा भुवो भर्तुरथैनं प्रत्यबोधयत् ॥ ७४ ॥

स इति । स मुनिः प्रणिधानेन चित्तैकाग्र्येण भावितात्मा शुद्धान्तकरणोः भुवो भर्तुर्नृपस्य सन्ततेः स्तम्भकारणं सन्तानप्रतिबन्धकारणमपश्यत् । अथानन्तरमेनं नृपं प्रत्यबोधयत् । स्वदृष्टं ज्ञापितवानित्यर्थः । एनमिति "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ-" इत्यादिनाऽणिकर्तुः कर्मत्वम् ॥ ७४ ॥

चित्त की एकाग्रता द्वारा शुद्ध अन्तःकरण वाले उन "वसिष्ठ ऋषि" ने, पृथवी के पालन करने वाले "राजा दिलीप" की सन्तति के प्रतिबन्ध "न होने" के कारण को देखा, उसके बाद इन "राजा दिलीप" को भी बतलाया ॥ ७४ ॥

वशिष्ठस्य राज्ञः सन्तानप्रतिबन्धकारणकथनमित्यत्राह—

पुरा शक्रमुपस्थाय तवोर्वीं प्रति यास्यतः ।
आसीत्कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः पथि ॥ ७५ ॥

पुरेति । पुरा पूर्वं शक्रमिन्द्रमुपस्थाय संसेव्योर्वीं प्रति भुवमुद्दिश्य यास्यतो गमिष्यतस्तव पथि वर्त्मनि कल्पतरुच्छायामाश्रिता सुरभिः कामधेनुरासीत् । तत्र स्थितेत्यर्थः ॥ ७५ ॥

पहले "किसी समय में" इन्द्र का दर्बार करके पृथ्वी की ओर लौटते हुए तुम्हारे मार्ग में कल्पवृक्ष की छाया का सेवन करती हुई कामधेनु थी ॥ ७५ ॥

कामधेनोः प्रदक्षिणाऽकरणे हेतुं प्रदर्शयन्नाह—

धर्मलोपभयाद्राज्ञीमृतुस्नातामिमां स्मरन्।
प्रदक्षिणक्रियाऽर्हायां तस्यां त्वं साधु नाचरः॥ ७६॥

धर्मेति। ऋतुः पुष्पं रज इति यावत्। 'ऋतुः स्त्रीकुसुमेऽपि च' इत्यमरः। ऋतुना निमित्तेन स्नातामिमां राज्ञीं सुदक्षिणां धर्मस्यर्त्वभिगमनलक्षणस्य लोपाद्भ्रंशाद्भयं तस्मात्स्मरन्ध्यायन्। (मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम्। प्रदक्षिणानि कुर्वीत विज्ञातांश्च वनस्पतीन्॥) इति शास्त्रात्प्रदक्षिणक्रियाऽर्हायां प्रदक्षिणकरणयोग्यायां तस्यांधेन्वां त्वं साधु प्रदक्षिणादिसत्कारं नाचरो नाचरितवानसि। व्यासक्ता हि विस्मरन्तीति भावः। ऋतुकालाभिगमने मनुः—(ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा) इति। अकरणे दोषमाह पराशरः—(ऋतुस्नातां तु यो भार्यां स्वस्थः सन्नोपगच्छति। बालगोघ्नापराधेन विध्यते नात्र संशयः॥) इति। तथा च—(ऋतुस्नातां तु यो भार्यासन्निधौ नोपगच्छति। घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः) इति॥ ७६॥

ऋतुकाल (रजोदर्शन) निमित्तक स्नान की हुई, इस रानी सुदक्षिणाको धर्म के लोप के भय से स्मरण करते हुये तुमने प्रदक्षिण क्रिया के योग्य उस काम धेनु के विषय में उचित "प्रदक्षिणादि सत्कार" नहीं किया॥ ७६॥

अनादृतायाः सुरभेर्दिलीपाय शापप्रदानमित्याह—

अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा॥ ७७॥

अवजानासीति। यस्मात्करणान्मामवजानासि तिरस्करोषि। अतः कारणान्मत्प्रसूतिं मम संततिमनाराध्यासेवयित्वा ते तव प्रजा न भविष्यतीति स सुरभिस्त्वां शशाप। 'शप आक्रोशे'॥ ७७॥

तूने मेरा अनादर किया इस कारण से मेरी सन्तति की आराधना किये विना तुझे सन्तान नही होगी ऐसा उस 'कामधेनु' ने तुम्हें शाप दिया॥ ७७॥

कथं तदस्माभिर्न श्रुतमित्याह—

स शापो न त्वया राजन्न च सारथिना श्रुतः।
नदत्याकाशगङ्गायाः स्रोतस्युद्दामदिग्गजे॥ ७८॥

स इति। हे राजन्! स शापस्त्वया न श्रुतः सारथिना च न श्रुतः। अश्रवणे हेतुमाह-क्रीडाऽर्थमागता उद्दामानो दाम्न उद्गता दिग्गजा यस्मिंस्तथोक्ते। आकाशगङ्गाया मन्दाकिन्याः स्रोतसि प्रवाहे नदति सति॥ ७८॥

हे राजन्! इस शाप को तुमने और सारथि ने भी नहीं सुना। क्योंकि "स्नान करने

के लिये आये हुये "अतः एव" बन्धन से छूटे हुये "ऐरावत आदि" दिग्गजों का आकाशगङ्गा (मन्दकिनी) के प्रवाह में अव्यक्त शब्द हो रहा था ॥ ७८ ॥

अस्तु प्रस्तुते किमायातमित्यत्राह—

ईप्सितं तदवज्ञानाद्विद्धि सार्गलमात्मनः ।
प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः ॥ ७९ ॥

ईप्सितमिति । तदवज्ञानात्तस्या धेनोरवज्ञानादपमानादात्मनः स्वस्याप्तुमिष्टमीप्सितं मनोरथम् । आप्नोतेः सन्नन्तात्क्त ईकारश्च । सार्गलं सप्रतिबन्धं विद्धि जानीहि । तथा हि । पूज्यपूजाया व्यतिक्रमोऽतिक्रमणं श्रेयः प्रतिबध्नाति ॥ ७९ ॥

उस कामधेनुका अनादर करने से अपने "सन्तानरूप" मनोरथ को तुम रुका हुआ समझो । क्योंकि पूज्यों की पूजा का उल्लङ्घन करना कल्याण को रोकता है ॥ ७९ ॥

तर्हि गत्वा तामाराधयामि । सा वा कथंचिदागमिष्यतीत्याशा न कर्त्तव्येत्याह—

हविषे दीर्घसत्रस्य सा चेदानीं प्रचेतसः ।
भुजङ्गपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति ॥ ८० ॥

हविष इति । सा च सुरभिरिदानीं दीर्घं सत्रं चिरकालसाध्यो यागविशेषो यस्य तस्य प्रचेतसो हविषे दध्याज्यादिहविरर्थं भुजङ्गावरुद्धद्वारं ततो दुष्प्रवेशं पातालमधितिष्ठति । पाताले तिष्ठतीत्यर्थः । "अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म" इति कर्मत्वम् ॥

और वह कामधेनु इस समय बहुत समय में पूर्ण होने वाले यज्ञ के कर्त्ता वरुण के हवि "दधि घृत आदि" के लिये सांपों से रुके हुए द्वार वाले पाताल लोक में रहती है ॥८०॥

तर्हि का गतिरित्याह—

सुतां तदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः ।
आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघा हि सा ॥ ८१ ॥

सुतामिति । तस्याः सुरभेरियं तदीया । तां सुतां सुरभेः प्रतिनिधिं कृत्वा शुचिः शुद्धः । सह पत्न्या वर्तत इति सपत्नीकः सन् । "नद्यृतश्च" इति कप्प्रत्ययः । आराधय । हि यस्मात्कारणात्सा प्रीता तुष्टा सती । कामान्दोग्धीति कामदुघा भवति । "दुहः कब्घश्च" इति कप्प्रत्ययो घादेशश्च ॥ ८१ ॥

उस कामधेनु की लड़की को उसी के "स्थान पर" प्रतिनिधि करके तुम शुद्ध मन होकर रानी के सहित उसकी सेवा करो, क्योंकि वह "नन्दिनी" प्रसन्न होती हुई मनोरथ को पूरा करने वाली होती है ॥ ८१ ॥

कामधेनुसुताया नन्दिन्या वनादागमनमित्यत्राह—

इति वादिन एवास्य होतुराहुतिसाधनम् ।
अनिन्द्या नन्दिनी नाम धेनुराववृते वनात् ॥ ८२ ॥

इतीति । इति वादिनो वदत एव होतुर्हवनशीलस्य । "तृन्" इति तृन्प्रत्ययः ।

अस्य मुनेराहुतीनां साधनं कारणम् । नन्दयतीति व्युत्पत्त्या नन्दिनीनामानिन्द्याऽगर्भा प्रशस्ता धेनुर्वनादाववृते प्रत्यागता । (अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम्) इति भावः ॥ ८२ ॥

इस प्रकार से कहते हुए ही उन वशिष्ठ महर्षि की आहुति का साधन "नन्दिनी" नाम से प्रसिद्ध "नई ब्याई हुई" धेनु वन से लौटकर आई ॥ ८२ ॥

सम्प्रति धेनुं विशिनष्टि—

ललाटोदयमाभुग्नं पल्लवस्निग्धपाटला ।
बिभ्रती श्वेतरोमाङ्कं सन्ध्येव शशिनं नवम् ॥ ८३ ॥

ललाटेति । पल्लववत्स्निग्धा चासौ पाटला च । संध्यायामप्येतद्विशेषणं योज्यम् । ललाट उदयो यस्य स ललाटोदयः । तमाभुग्नमीषद्वक्रम् । 'आविद्धं कुटिलं भुग्नं वेल्लितं वक्रमित्यपि' इत्यमरः । "ओदितश्च" इति निष्ठातस्य नत्वम् । श्वेतरोमाण्येवाङ्कस्तं बिभ्रती । नवं शशिनं बिभ्रती संध्येव स्थिता ॥ ८३ ॥

पल्लव के तरह चिक्कण श्वेत युक्त लाल रङ्ग वाली, ललाट में उत्पन्न हुये, कुछ टेढ़े, सफेद रोयें रूपी चिह्न को धारण करती हुई, अत एव द्वितीया के चन्द्रमा को धारण करती हुई सन्ध्या के समान, वह नन्दिनी (बन से लौट कर आई) ॥ ८३ ॥

पुनरपि धेनुवर्णनप्रसङ्गेनाह—

भुवं कोष्णेन कुण्डोध्नी मेध्येनावभृथादपि ।
प्रस्नवेनाभिवर्षन्ती वत्सालोकप्रवर्तिना ॥ ८४ ॥

भुवमिति । कोष्णेन किंचिदुष्णेन । 'कवं चोष्णे" इति चकारात्कादेशः । अवभृथादप्यवभृथस्नानादपि मेध्येन पवित्रेण । 'पूतं पवित्रं मेध्यं च, इत्यमरः । वत्सस्यालोकेन प्रदर्शनेन प्रवर्तिना प्रवहता प्रस्नवेन क्षीराभिष्यन्दनेनाभुवमभिवर्षन्ती सिञ्चन्ती । कुण्डमिवोध आपीनं यस्याः सा कुण्डोध्नी । 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः । "ऊधसोऽनङ्" इत्यनङादेशः । "बहुव्रीहेरूधसो ङीष्" ॥ ८४ ॥

कुछ गरम, यज्ञ के अन्त में इष्टिपूर्वक स्नानार्थ जल से भी पवित्र, बछड़े के देखने से बहते हुये दूध के टपकने से पृथिवी को सींचती हुई, अत एव—बटुलोईकी भांति मोट स्तनों वाली 'नन्दिनी वन से लौटी' ॥ ८४ ॥

नन्दिन्याः खुरोद्धूतरजसां पूतत्ववर्णनपूर्वकं तां विशिनष्टि—

रजःकणैः खुरोद्धूतैः स्पृशद्भिर्गात्रमन्तिकात् ।
तीर्थाभिषेकजां शुद्धिमादधाना महीक्षितः ॥ ८५ ॥

रज इति । खुरोद्धूतैरन्तिकात्समीपे गात्रं स्पृशद्भिः । "दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च" इति चकारात्पञ्चमी । रजसां कणैः । महीं क्षियत ईष्ट इति महीक्षित्तस्य । तीर्थाभिषेकेण जातां तीर्थाभिषेकजाम् । शुद्धिमादधाना कुर्वाणा । एतेन वायव्यं स्नान-

मुक्तम् । उक्तं च मनुना—(आग्नेयं भस्मना स्नानमवगाह्यं तु वारुणम् । आपोहिष्ठेति च ब्राह्मं वायव्यं गोरजः स्मृतम् ॥ इति ॥ ८५ ॥

खुरों से उठी हुई, अत एव समीप होने के कारण से शरीर को स्पर्श करती हुई, धूलि के कणों से राजा दिलीप की, ऋषियों से सेवित तीर्थ सम्बन्धी जल में स्नान करने से उत्पन्न शुद्धि को करती हुई नन्दिनी वन से लौटी ॥ ८५ ॥

तां दृष्ट्वा वशिष्ठः पुनर्दिलीपं प्रत्याह—

तां पुण्यदर्शनां दृष्ट्वा निमित्तज्ञस्तपोनिधिः ।
याज्यमाशंसितावन्ध्यप्रार्थनं पुनरब्रवीत् ॥ ८६ ॥

तामिति । निमित्तज्ञः शकुनज्ञस्तपोनिधिर्वसिष्ठः पुण्यं दर्शनं यस्यास्तां धेनुं दृष्ट्वा । आशंसितं मनोरथः । नपुंसके भावे क्तः । तत्रावन्ध्यं सफलं प्रार्थनं यस्य स तम् । अवन्ध्यमनोरथमित्यर्थः । याजयितुं योग्यं याज्यं पार्थिवं पुनरब्रवीत् ॥ ८६ ॥

शकुन शास्त्र के जानने वाले, तपोनिधि "वशिष्ठजी" पवित्र (सुन्दर) दर्शनवाली, "उस नन्दिनी" को देखकर "पुत्रप्राप्तिरूप" मनोरथ के विषय में सफल है प्रार्थना जिसकी, ऐसे, यज्ञ कराने के योग्य (यजमान) "राजा दिलीप" से फिर बोले ॥ ८६ ॥

किमब्रवीदित्याकाङ्क्षायां सफलमनोरथत्वे हेतुं प्रदर्शयन्नाह—

अदूरवर्तिनीं सिद्धिं राजन्विगणयात्मनः ।
उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्तित एव यत् ॥ ८७ ॥

अदूरवर्तिनीमिति । हे राजन् ! आत्मनः कार्यस्य सिद्धिमदूरवर्तिनीं शीघ्रभाविनीं विगणय विद्धि । यद्यस्मात्कारणात्कल्याणी मङ्गलमूर्तिः । "बह्वादिभ्यश्च" इति ङीप् । इयं धेनुर्नाम्नि कीर्तिते कथिते सत्येवोपस्थिता ॥ ८७ ॥

हे महाराज ! आप अपने पुत्रप्राप्ति रूप कार्य की सिद्धि को निकट आई हुई समझें । क्योंकि यह (सामने आती हुई) कल्याणमूर्ति नन्दिनी नाम लेते ही उपस्थित हुई ॥ ८७ ॥

पुत्रप्राप्त्यर्थं नन्दिनीपरिचर्यामुपदिशन्नाह—

वन्यवृत्तिरिमां शश्वदात्मानुगमनेन गाम् ।
विद्यामभ्यसनेनेव प्रसादयितुमर्हसि ॥ ८८ ॥

वन्यवृत्तिरिति । वने भवं वन्यं कन्दमूलादिकं वृत्तिराहारो यस्य तथाभूतः-सन् । इमां गां शश्वत्सदा । आप्रसादादविच्छेदेनेत्यर्थः । आत्मनस्तवः कर्तुः । अनुगमनेनानुसरणेन । अभ्यसनेनानुष्ठातुरभ्यासेन विद्यामिव प्रसादयितुं प्रसन्नां कर्तुमर्हसि ॥

तुम वन में उत्पन्न हुये कन्दमूलादि खाकर निरन्तर इस गायके पीछे २ चल कर के, जैसे निरन्तर अभ्यास से विद्या प्रसन्न की जाती है। उसी तरह से इसे प्रसन्न करने के लिये योग्य हो ॥ ८८ ॥

गवानुसरणप्रकारमाह—

प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः स्थितायां स्थितिमाचरेः ।
निषण्णायां निषीदास्यां पीताम्भसि पिबेरपः ॥ ८९ ॥

प्रस्थितायामिति । अस्यां नन्दिन्यां प्रस्थितायां प्रतिष्ठेथाः प्रयाहि । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । स्थितायां निवृत्तगतिकायां स्थितिमाचरेः स्थितिं कुरु । तिष्ठेत्यर्थः । निषण्णायामुपविष्टायां निषीदोपविश । विध्यर्थे लोट् । पीतमम्भो यया तस्यां पीताम्भसि सत्यामपः पिबेः पिब ॥ ८९ ॥

हे राजन् ! इस (नन्दिनी) के चलने पर तुम (इसके पीछे २) चलो, ठहरने पर ठहरो, बैठने पर बैठो और पानी पीने पर पानी पीओ ॥ ८९ ॥

साम्प्रतं नन्दिनीपरिचर्यायां सुदक्षिणयाऽनुष्ठास्यमानं कर्म ब्रुवन्नाह—

वधूर्भक्तिमती चैनामर्चितामातपोवनात् ।
प्रयता प्रातरन्वेतु सायं प्रत्युद्व्रजेदपि ॥ ९० ॥

वधूरिति । वधूर्जाया च भक्तिमती गन्धादिभिरर्चितामेनां प्रातरातपोवनात् । आङ्मर्यादायाम् । पदद्वयं चैतत् । अन्वेत्वनुगच्छतु । सायमपि प्रत्युद्व्रजेत्प्रत्युद्गच्छेत् । विध्यर्थे लिङ् ॥ ९० ॥

वधू 'सुदक्षिणा' भक्ति 'श्रद्धा' से युक्त पवित्र मन होकर 'गन्धादिकों से' पूजित इस 'नन्दिनी' के पीछे २ प्रातःकाल तपोवन की सीमा तक 'वन में पहुँचाने के लिये' जाए और सायङ्काल को भी 'तपोवन की सीमा पर जाकर इसका' स्वागत करे ॥ ९० ॥

नन्दिनीपरिचर्याऽवधिं निर्दिशन्नाह—

इत्याप्रसादादस्यास्त्वं परिचर्यापरो भव ।
अविघ्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम् ॥ ९१ ॥

इतीति । इत्यनेन प्रकारेण त्वमाप्रसादात्प्रसादपर्यन्तम् । 'आङ्मर्यादाऽभिविध्योः' इत्यस्य वैभाषिकत्वादसमासत्वम् । अस्या धेनोः परिचर्यापरः शुश्रूषापरो भव । ते तवाविघ्नं विघ्नस्याभावोऽस्तु । 'अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभाव-' इत्यादिनाऽर्थाभावेऽव्ययीभावः । पितेव पुत्रिणां सत्पुत्रवताम् । प्रशंसायामिनिप्रत्ययः । धुर्ये स्थेयास्तिष्ठेः । आशीरर्थे लिङ् । 'एर्लिङि' इत्याकारस्यैकारादेशः । त्वत्सदृशो भवत्पुत्रोऽस्त्विति भावः ॥ ९१ ॥

इस प्रकार जब तक यह नन्दिनी प्रसन्न न होये, तब तक तुम इसकी सेवा करने में तत्पर रहो, तुम्हारे विघ्नों का अभाव रहे (अर्थात् तुम्हें विघ्नों का सामान न करना पड़े), पिता के समान तुम भी अच्छे पुत्रवालों में मुख्य हो (अर्थात् तुम्हें अपने समान पुत्र प्राप्त हो) ॥ ९१ ॥

राज्ञो दिलीपस्य सप्रेम गुरोराज्ञाग्रहणमाह—

तथेति प्रतिजग्राह प्रीतिमान्सपरिग्रहः ।
आदेशं देशकालज्ञः शिष्यः शासितुरानतः ॥ ९२ ॥

तथेतीति । देशकालज्ञः । देशोऽग्निसंनिधिः, कालोऽग्निहोत्रावसानसमयः । विशिष्टदेशकालोत्पन्नमार्षज्ञानमव्याहतमिति जानन् । अत एव प्रीतिमाञ्छिष्योऽन्तेवासी राजा सपरिग्रहः सपत्नीकः । 'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः । आनतो विनयनम्रः सन् शासितुर्गुरोरादेशमाज्ञां तथेति प्रतिजग्राह स्वीचकार ।

देश और काल को जानने वाले अत एव प्रसन्न शिष्य राजा दिलीप ने पत्नी 'सुदक्षिणा' के सहित विनय से नम्र 'होते हुये' उपदेश करने वाले गुरु की आज्ञा को 'वैसा ही हो' यह कह कर स्वीकार किया ॥ ९२ ॥

अथ रात्रिकालं विज्ञाय दिलीपशयनार्थं वसिष्ठानुशासनमाह—

अथ प्रदोषे दोषज्ञः संवेशाय विशांपतिम् ।
सूनुः सूनृतवाक्स्रष्टुर्विससर्जोर्जितश्रियम् ॥ ९३ ॥

अथेति । अथ प्रदोषे रात्रौ दोषज्ञो विद्वान् । 'विद्वान्विपश्चिद्दोषज्ञः' इत्यमरः । सूनृतवाक् सत्यप्रियवाक् । 'प्रियं सत्यं च सूनृतम्' इति हलायुधः । स्रष्टुः सूनुर्ब्रह्मपुत्रो मुनिः । अनेन प्रकृतकार्यनिर्वाहकत्वं सूचयति । ऊर्जितश्रियं विशांपतिं मनुजेश्वरम् । 'द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ' इत्यमरः । संवेशाय निद्रायै । 'स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेश इत्यपि' इत्यमरः । विससर्जाज्ञापयामास ॥ ९३ ॥

उसके (गुरु वशिष्ठ की आज्ञा ग्रहण करने के) बाद रात्रि के प्रथम प्रहर होने पर (प्रत्येक विषय के) दोषों को जानने वाले (सर्वज्ञ) तथा सत्य और प्रियभाषी ब्रह्मा के (मानस) पुत्र (वशिष्ठ ऋषि) ने राजा दिलीप को सोने के लिये आज्ञा दी ॥ ९३ ॥

महर्षेर्वशिष्ठस्य दिलीपाय मुनिजनार्हसामग्रीसम्पादनमाह—

सत्यामपि तपःसिद्धौ नियमापेक्षया मुनिः ।
कल्पवित्कल्पयामास वन्यामेवास्य संविधाम् ॥ ९४ ॥

सत्यामिति । कल्पविद्व्रतप्रयोगाभिज्ञो मुनिः । तपःसिद्धौ सत्यामपि । तपसैव राजयोग्याहारसंपादनसामर्थ्ये सत्यपीत्यर्थः । नियमापेक्षया तदाप्रभृत्येव व्रतचर्यापेक्षया । अस्य राज्ञो वन्यामेव । संविधीयतेऽनयेति संविधाम् । कुशादिशयनसामग्रीम् । 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः । 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' इति कर्माद्यर्थत्वम् । कल्पयामास संपादयामास ॥ ९४ ॥

व्रत के प्रयोग को जानने वाले मुनि 'वशिष्ठजी' ने तप की सिद्धि 'राजाओं के उपभोग योग्य सामग्री सम्पादन करने की सामर्थ्य' रहते हुये भी 'नन्दिनी की सेवारूप'

व्रत का विचार कर इन 'राजा दिलीप' के लिये वन में उत्पन्न हुए 'वनवासियों के उपभोग करने के योग्य' सामग्री का प्रबन्ध किया ॥ ९४ ॥

वशिष्ठाज्ञया पर्णशालायां पत्न्या सह प्रसुप्तस्य दिलीपस्य ब्राह्ममुहूर्ते निद्रात्यागमाह—

निर्दिष्टां कुलपतिना स पर्णशाला-
मध्यास्य प्रयतपरिग्रहद्वितीयः ।
तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानां
संविष्टः कुशशयने निशां निनाय ॥ ९५ ॥

निर्दिष्टामिति । स राजा कुलपतिना मुनिकुलेश्वरेण वसिष्ठेन निर्दिष्टां पर्णशाला-मध्यास्याधिष्ठाय । तस्यामधिष्ठानं कृत्वेत्यर्थः । 'अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म' इत्यनेना धारस्य कर्मत्वम् । कर्मणि द्वितीया । प्रयतो नियतः परिग्रहः पत्नी द्वितीयो यस्येति स तथोक्तः । कुशानां शयने संविष्टः सुप्तः सन् । तस्य वसिष्ठस्य शिष्याणामध्ययने-नापररात्रे वेदपाठेन निवेदितमवसानं यस्यास्तां निशां निनाय गमयामास । अपर-रात्रेऽध्ययने मनुः—(निशान्ते न परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत्) । (न चापर-रात्रमधीत्य पुनः स्वपेद्) इति गौतमश्च । प्रहर्षिणीवृत्तमेतत् । तदुक्तम्—(म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्) ॥ ९५ ॥

इति सञ्जीविनीव्याख्यायां वसिष्ठाश्रमाभिगमनो नाम प्रथमः सर्गः ।

उन राजा दिलीप ने कुलपति 'दश सहस्र मुनियों को अन्नादि देकर वेद पढ़ाने वाले ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जी' की बताई हुई पर्णकुटी 'पत्तों से बनी हुई कुटी' में निवास कर 'वंश आदि से' शुद्ध धर्मपत्नी सुदक्षिणा के साथ कुशों से बनी हुई शय्या पर सोये हुये, वशिष्ठजी के विद्यार्थियों के वेदाध्ययन करने से ज्ञात हो गया है प्रातःकाल का होना जिसका ऐसी रात को बिताया ॥ ९५ ॥

इति रघुवंशमहाकाव्ये प्रथमः सर्गः समाप्तः ।

द्वितीयः सर्गः

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम् ।
वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच ॥ १ ॥

**आशासु राशीभवदङ्गवल्लीभासैव दासीकृतदुग्धसिन्धुम् ।
मन्दस्मितैर्निन्दितशारदेन्दुं वन्देऽरविन्दासनसुन्दरि ! त्वाम् ॥**

अथेति । अथ निशानयनानन्तरं यशोधनः प्रजानामधिपः प्रजेश्वरः प्रभाते प्रातः-काले जायया सुदक्षिणया प्रतिग्राहयित्र्या प्रतिग्राहिते स्वीकारिते गन्धमाल्ये यया

सा जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्या, तां तथोक्ताम् । पीतं पानमस्यास्तीति पीतः पीतवानित्यर्थः । 'अर्श आदिभ्योऽच्' इत्यच्प्रत्ययः । 'पीता गावो भुक्ता ब्राह्मणाः' इति महाभाष्ये दर्शनात् । पीतः प्रतिबद्धो वत्सो यस्यास्तामृषेर्धेनुं वनाय वनं गन्तुम् । 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इत्यनेन चतुर्थी । मुमोच मुक्तवान् । जायापदसामर्थ्यात्सुदक्षिणायाः पुत्रजननयोग्यत्वमनुसन्धेयम् । तथा हि श्रुतिः–(पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम् । तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते ॥ तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ॥) इति । यशोधन इत्यनेन पुत्रवत्ताकीर्तिलोभाद्राजानर्हे गोरक्षणे प्रवृत्त इति गम्यते । (अस्मिन्सर्गे वृत्तमुपजातिः— (अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः) ॥ १ ॥

रातके बीत जाने पर प्रातःकाल प्रजाओं के पालन करने वाले, यश को ही धन समझने वाले राजा दिलीप ने रानी सुदक्षिणा के द्वारा पूजन में प्राप्त चन्दन और पुष्पोंकी माला को धारण की हुई, दूध पी चुकने के बाद जिसका बछड़ा बांध दिया गया है, ऐसी ऋषि वशिष्ठ की नई ब्याही हुई नन्दिनी नाम गौ को जङ्गल में चरने के लिये खोल दिया ॥१॥

तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलनां धुरि कीर्त्तनीया ।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ॥ २ ॥

तस्या इति । पांसवो दोषा आसां सन्तीति पांसुलाः स्वैरिण्यः । 'स्वैरिणी पांसुला' इत्यमरः । 'सिध्मादिभ्यश्च' इति लच्प्रत्ययः । अपांसुलानां पतिव्रतानां धुर्यग्रे कीर्त्तनीया परिगणनीया । मनुष्येश्वरधर्मपत्नी । खुरन्यासैः पवित्राः पांसवो यस्य तम् । 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांसुर्ना न द्वयो रजः' इत्यमरः । तस्या धेनोर्मार्गम् । स्मृतिर्मन्वादिवाक्यं श्रुतेर्वेदवाक्यस्यार्थमभिधेयमिव अन्वगच्छदनुसृतवती च । यथा स्मृतिः श्रुतिक्षुण्णमेवार्थमनुसरति तथा साऽपि गोखुरक्षुण्णमेव मार्गमनुससारेत्यर्थः । धर्मपत्नीत्यत्राश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः प्रकृतिविकाराभावात् । पांसुलपथवृत्तावप्यपांसुलानामिति विरोधालङ्कारो ध्वन्यते ॥ २ ॥

पतिव्रताओं में अग्रणी राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा ने नन्दिनी के खुरों के रखने से पवित्र धूलि वाले मार्ग का उसी भांति अनुसरण किया जैसे मन्वादि स्मृतियाँ वेद के वाक्यों के अर्थों का अनुसरण करती हैं ॥ २ ॥

निवर्त्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः ।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् ॥ ३ ॥

निवर्त्त्येति । दयालुः कारुणिकः । 'स्याद्दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः । 'स्पृहिगृहि–' इत्यादिनाऽऽलुच्प्रत्ययः । यशोभिः सुरभिर्मनोज्ञः । 'सुरभिः स्यान्मनोज्ञेऽपि' इति विश्वः । राजा तां दयितां निवर्त्त्य सौरभेयीं कामधेनुसुतां नन्दिनीम् । धरन्तीति धराः । पचाद्यच् । पयसां धराः पयोधराः स्तनाः । 'स्त्रीस्तनाब्दौ पयो-

धरौ' इत्यमरः । अपयोधराः पयोधराः सम्पद्यमानाः पयोधरीभूताः । अभूततद्भावे च्विः । 'कुगतिप्रादयः' इति समासः । पयोधरीभूताश्चत्वारः समुद्रा यस्यास्ताम् । 'अनेकमन्यपदार्थे' इत्यनेकपदार्थग्रहणसामर्थ्यात्त्रिपदो बहुव्रीहिः । गोरूपधरामुर्वीमिव जुगोप ररक्ष । भूरक्षणप्रयत्नेनेव ररक्षेति भावः । धेनुपक्षे—पयसा दुग्धेना धारीभूताश्चत्वारः समुद्रा यस्याः सा तथोक्ताम् । दुग्धतिरस्कृतसागरामित्यर्थः ॥३॥

दया से युक्त कीर्त्तियों से सुशोभित राजा दिलीप प्यारी पटरानी सुदक्षिणा को लौटा कर जिस के दूध से चारों समुद्र तिरस्कृत हैं ऐसी उस नन्दिनी को, चार समुद्रों को चार स्तनों के रूप में धारण की हुई गौ के रूप में उपस्थित पृथ्वी की भांति रक्षा करने लगे ॥ ३ ॥

व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः ।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः ॥ ४ ॥

व्रतायेति । व्रताय धेनोरनुचरेण न तु जीवनायेति भावः । तेन दिलीपेन शेषोऽवशिष्टोऽप्यनुयायिवर्गोऽनुचरवर्गो न्यषेधि निवर्त्तितः । शेषत्वं सुदक्षिणाऽपेक्षया । कथं तर्ह्यात्मरक्षणमत आह—न चेति । तस्य दिलीपस्य शरीररक्षा चान्यतः पुरुषान्तराच्च । कुतः । हि यस्मात्कारणान्मनोः प्रसूयत इति प्रसूतिः सन्ततिः स्ववीर्यगुप्ता स्ववीर्येणैव रक्षिता । न हि स्वनिर्वाहकस्य परापेक्षेति भावः ॥ ४ ॥

गोसेवा व्रत पालन करने के लिये सेवक की भांति पीछे २ चलने वाले उन 'राजा दिलीप' ने 'सुदक्षिणा' के लौटाने के बाद बचे हुये अनुचर वर्ग को भी पीछे पीछे आने से रोका और उनको शरीर की रक्षा करने के लिये भी दूसरे पुरुष की आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि 'वैवस्वत' मनु के वंश में उत्पन्न राजा लोग अपने ही पराक्रम से आत्मरक्षा कर लेते थे ॥ ४ ॥

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च ।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥ ५ ॥

आस्वादवद्भिरिति । सम्राट् मण्डलेश्वरः । 'येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः । शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्' इत्यमरः । स राजा आस्वादवद्भिः रसवद्भिः स्वादयुक्तैरित्यर्थः । तृणानां कवलैर्ग्रासैः । 'ग्रासस्तु कवलः पुमान्' इत्यमरः । कण्डूयनैः खर्जनैः । दंशानां वनमक्षिकाणां निवारणैः । 'दंशस्तु वनमक्षिका' इत्यमरः । अव्याहतैरप्रतिहतैः स्वैरगतैः स्वच्छन्दगमनैश्च । तस्या धेन्वाः समाराधनतत्परः शुश्रूषाऽऽसक्तोऽभूत् । तदेव परं प्रधानं यस्येति तत्परः । 'तत्परे प्रसितासक्तौ' इत्यमरः ॥५॥

चक्रवर्त्ती वे राजा दिलीप स्वादयुक्त कोमल २ तृणों के ग्रासों से शरीर के खुजलाने से, वन के मच्छड़ों के 'बैठने पर डसे' उड़ाने से और विना रुकावट के स्वच्छन्द फिरने देने से उस 'नन्दिनी' को प्रसन्न करने में तत्पर हुये ॥ ५ ॥

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥ ६ ॥

स्थित इति । भूपतिस्तां गां स्थितां सतीं स्थितः सन् । स्थितिरूर्ध्वावस्थानम् । प्रयातां प्रस्थितामुच्चलितः प्रस्थितः । निषेदुषीं निषण्णाम् । उपविष्टामित्यर्थः । 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुप्रत्ययः । 'उगितश्च' इति ङीप् । आसनबन्ध उपवेशने धीरः । स्थित उपविष्टः सन्नित्यर्थः । जलमाददानां जलं पिबन्तीं । जलाभिलाषी जलं पिबन्नित्यर्थः । इत्थं छायेवान्वगच्छदनुसृतवान् ॥ ६ ॥

पृथ्वीपति 'राजा दिलीप' ने उस नन्दिनी के ठहरने पर ठहरते थे, चलने पर चलते थे, बैठने पर बैठते थे, जल पीने पर जल पीते थे, इस प्रकार छाया की भांति अनुसरण किया ॥ ६ ॥

स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः ।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ॥ ७ ॥

स इति । न्यस्तानि परिहृतानि चिह्नानि छत्रचामरादीनि यस्यास्तां, तथाभूतामपि, तेजोविशेषेण प्रभावातिशयेनानुमिताम्, सर्वथा राजैवायं भवेदित्यूहितां राजलक्ष्मीं दधानः स राजा, अनाविष्कृतदानराजिर्बहिरप्रकटितमदरेखः । अन्तर्गता मदावस्था यस्य सोऽन्तर्मदावस्थः, तथाभूतो द्विपेन्द्र इव आसीत् ॥ ७ ॥

यद्यपि छत्र-चामरादि चिह्नों से भूषित नहीं हैं तथापि अपने तेज की अधिकता से हीं जानी जाती हुई राजलक्ष्मी को धारण करते हुये, प्रकट रूप से नहीं दिखाई पड़ रही हैं मदरेखा जिसकी, अत एव भीतर में स्थित है मद की अवस्था जिसकी, ऐसे गजराज की भाँति मालूम पड़ते थे ॥ ७ ॥

लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम् ।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान् ॥ ८ ॥

लतेति । लतानां वल्लीनां प्रतानैः कुटिलतन्तुभिरुद्ग्रथिता उन्नमय्य ग्रथिता ये केशास्तैरुपलक्षितः । 'इत्थंभूतलक्षणे' इति तृतीया । स राजा । अधिज्यमारोपितमौर्वीकं धनुर्यस्य सोऽधिज्यधन्वा सन् । 'धनुषश्च' इत्यनङादेशः । मुनिहोमधेनो रक्षापदेशाद्रक्षणव्याजात् । वन्यान् वने भवान् दुष्टसत्त्वान् दुष्टजन्तून् 'द्रव्यासु व्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः । विनेष्यन् शिक्षयिष्यन्निव दावं वनम् 'वने च वनवह्नौ च दावो दव इहेष्यते' इति यादवः । विचचार । वने चचारेत्यर्थः । 'देशकालाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्' इति दावस्य कर्मत्वम् ॥ ८ ॥

लताओं के टेढ़े २ सूत के समान शाखादिकोंसे उलझे हुये शिर के बालों से सुशोभित वे राजा दिलीप प्रत्यञ्चा चढ़े हुये धनुष को धारण किये हुये वशिष्ठ महर्षि के होम की सामग्री

घृतादि देने वाली नन्दिनी की रक्षा करने के व्याज से ढनैले दुष्ट 'व्याघ्रादि' जीवों का शासन करने के लिये मानो जङ्गल में घूम रहे थे ॥ ८ ॥

'विसृष्ट' इत्यादिभिः षड्भिः श्लोकैस्तस्य महामहिमतया द्रुमादयोऽपि राजोपचारं चक्रुरित्याह—

विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य ।
उदीरयामासुरिवोन्मदानामालोकशब्दं वयसां विरावैः ॥ ६ ॥

विसृष्टेति । विसृष्टाः पार्श्वानुचराः पार्श्ववर्तिनो जना येन तस्य । पाशभृता वरुणेन समस्य तुल्यस्य । 'प्रचेता वरुणः पाशी' इत्यमरः । अनुभावोऽनेन सूचितः । तस्य राज्ञः पार्श्वयोर्द्रुमाः । उन्मादानामुत्कटमदानां वयसां खगानाम् । 'खगवाल्यादिनोर्वयः' इत्यमरः । विरावैः शब्दैः । आलोकस्य शब्दं वाचकमालोकयेति शब्दं जयशब्दमित्यर्थः । 'आलोको जयशब्दः स्याद्' इति विश्वः । उदीरयामासुरिवावदन्निव, इत्युत्प्रेक्षा ॥ ९ ॥

पार्श्ववर्ती अनुचरवृन्द के छोड़ देने पर भी वरुण के समान 'प्रभावशाली' उन राजा दिलीप के आसपास के वृक्षों ने उन्मत्त पक्षियों के शब्दों द्वारा जयशब्द उच्चारण किया ऐसा मालूम पड़ता था ॥ ९ ॥

मरुत्प्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमर्च्यमारादभिवर्त्तमानम् ।
अवाकिरन्बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः ॥ १० ॥

मरुत्प्रयुक्ताश्चेति । मरुत्प्रयुक्ता वायुना प्रेरिताः, बाललताः, आरात्समीपेऽभिवर्त्तमानम् । 'आराद्दूरसमीपयोः' इत्यमरः । मरुतो वायोः सखा मरुत्सखोऽग्निः । स इवाभातीति मरुत्सखाभम् । 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः । अर्घ्यं पूज्यं तं दिलीपं प्रसूनैः पुष्पैः । पौरकन्याः पौराश्च ताः कन्या आचारार्थैर्लाजैराचारलाजैरिव । अवाकिरन् तस्योपरि निक्षिप्तवत्य इत्यर्थः । सखा हि सखायमागतमुपचरतीति भावः ॥१०॥

वायु से प्रेषित (हिलाई गई) कोमल २ लताओं ने अग्नितुल्य (तेजस्वी) समीप में स्थित, पूज्य उन (राजा दिलीप) के ऊपर फूलों की वर्षा की, जैसे कि नगरवासियों की कन्यायें मङ्गलार्थक धान के लावों की वर्षा करती हैं ॥ १० ॥

धनुर्भृतोऽप्यस्य दयाऽऽर्द्रभावमाख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः ।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्ष्णां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः ॥ ११ ॥

धनुर्भृत इति । धनुर्भृतोऽप्यस्य राज्ञः । एतेन भयसम्भावना दर्शिता । तथाऽपि विशङ्कैर्निर्भीकैरन्तःकरणैः कर्तृभिः । दयया कृपारसेनार्द्रो भावोऽभिप्रायो यस्य तद्दयाऽऽर्द्रभावं तदाख्यातम् । दयाऽऽर्द्रभावमेतदित्याख्यातमित्यर्थः । 'भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टाऽऽत्मजन्मसु' इत्यमरः । तथाविधं वपुर्विलोकयन्त्या हरिण्याऽक्ष्णां प्रकामविस्तारस्यात्यन्तविशालतायाः फलमापुः । (विमलं कलुषीभवच्च

चेतः कथयत्येव हितैषिणं रिपुं च) इति न्यायेन स्वान्तःकरणवृत्तिप्रामाण्यादेव विश्रब्धं ददृशुरित्यर्थः ॥ ११ ॥

धनुष को धारण किये हुये भी राजा दिलीप का शङ्का से शून्य अपने अन्तःकरणों के द्वारा दया से आर्द्र अभिप्राय मालूम पड़ने से उनके शरीर को विशेष रूप से देखती हुई हरिणियों ने अपने अपने आँखों का अत्यन्त बड़े होने का फल प्राप्त किया। ॥ ११ ॥

स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम् ।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः ॥ १२ ॥

स इति । स दिलीपो मारुतपूर्णरन्ध्रैः । अत एव कूजद्भिः स्वनद्भिः कीचकैर्वेणुविशेषैः । 'वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इत्यमरः । वंशः सुषिरवाद्यविशेषः । 'वंशादिकं तु सुषिरम्' इत्यमरः । आपादितं सम्पादितं वंशस्य कृत्यं कार्यं यस्मिन्कर्मणि तत्तथा । कुञ्जेषु लतागृहेषु । 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः । वनदेवताभिरुद्गीयमानमुच्चैर्गीयमानं स्वं यशः शुश्राव श्रुतवान् ॥ १२ ॥

उन राजा दिलीप ने वायु से भरे हुये छिद्रों के होने से शब्द करते हुये कीचकसञ्ज्ञक बांसों के द्वारा वंशी का कार्य सम्पादन जिसमें हो रहा है, ऐसे लतागृहों में वन की अधिष्ठात्री देवियों से ऊँचे स्वरों में गाये जाते हुए अपने यश को सुना ॥ १२ ॥

पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी ।
तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ॥ १३ ॥

पृक्त इति । गिरिषु निर्झराणां वारिप्रवाहाणम् । 'वारिप्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः । तुषारैः सीकरैः । 'तुषारौ हिमसीकरौ' इति शाश्वतः । पृक्तः सम्पृक्तोऽनोकहानां वृक्षाणामाकम्पितानीषत्कम्पितानि पुष्पाणि तेषां यो गन्धः सोऽस्यास्तीत्याकम्पितपुष्पगन्धी । ईषत्कम्पितपुष्पगन्धवान् । एवं शीतो मन्दः सुरभिः पवनो वायुरनातपत्रं व्रतार्थं परिहृतच्छत्रम् । अत एवातपक्लान्तमाचारेण पूतं शुद्धं तं नृपं सिषेवे । आचारपूतत्वात्स राजा जगत्पावनस्यापि सेव्य आसीदिति भावः ॥ १३ ॥

पहाड़ी झरनों के जलबिन्दुओं से युक्त, अत एव शीतल तथा वृक्षों के कुछ २ हिले हुये फूलों के गन्ध को लेता हुआ 'मन्द २ सुगन्धित' वायु, व्रत करने से छत्र से रहित अत एव घाम से मुरझाये हुये, सदाचार से पवित्र उन राजा दिलीप की सेवा करने लगा ॥ १३ ॥

शशाम वृष्ट्याऽपि विना दवाग्निरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः ।
ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने ॥ १४ ॥

शशामेति । गोप्तरि तस्मिन् वनं गाहमाने प्रविशति सति वृष्ट्या विनाऽपि दवाग्निर्वनाग्निः 'दवदावौ वनानले' इति हैमः । शशाम । फलानां पुष्पाणां च वृद्धिः । विशेष्यत इति विशेषा अतिशयिताऽऽसीत् । कर्मार्थे घञ्प्रत्ययः । सत्त्वेषु जन्तुषु

मध्ये । 'यतश्च निर्धारणम्' इति सप्तमी । अधिकः प्रबलो व्याघ्रादिरूपं दुर्बलं हरिणादिकं न बबाधे ॥ १४ ॥

जगत् के रक्षा करने वाले उन राजा दिलीप के वन में प्रवेश करने पर वृष्टि के विना ही वन की अग्नि शान्त हुई, फल और पुष्पों की वृद्धि अधिक हुई तथा बनैले जीवों के बीच में 'कोई' बलवान् 'व्याघ्रादि' अपने से निर्बल किसी 'मृगादि' को नहीं सताने लगा ॥१४॥

सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥ १५ ॥

सञ्चारेति । पल्लवस्य रागो वर्णः पल्लवरागः । 'रागोऽनुक्तौ मात्सर्ये क्लेशादौ लोहितादिषु' इति शाश्वतः । स इव ताम्रा पल्लवरागताम्रा पतङ्गस्य सूर्यस्य प्रभा कान्तिः 'पतङ्गः पक्षिसूर्ययोः' इति शाश्वतः । मुनेर्धेनुश्च । दिगन्तराणि दिशामवकाशान् । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये' इत्यमरः । सञ्चारेण पूतानि शुद्धानि कृत्वा दिनान्ते सायंकाले निलयायास्तमयाय । धेनुपक्षे आलयाय च गन्तुं प्रचक्रमे ॥ १५ ॥

पल्लव के वर्ण के तरह लाल वर्ण वाली सूर्य की प्रभा और मुनि वसिष्ठ की धेनु ये दोनों, दिशाओं के मध्यभाग को अपने २ सञ्चार से पवित्र कर दिन के अन्त (सध्याकाल) में अस्त होने के लिये तथा अपने आश्रम से पहुँचने के लिये उपक्रम करने लगीं ॥ १५ ॥

तां देवतापित्रतिथिक्रियाऽर्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना ॥ १६ ॥

तामिति । मध्यमलोकपालो भूपालः । देवतापित्रतिथीनां क्रिया यागश्राद्धदानानि ता एवार्थः प्रयोजनं यस्यास्तां धेनुमन्वगनुपदं ययौ । 'अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपदं क्लीबमव्ययम्' इत्यमरः । सतां मतेन सद्भिर्मान्येन । 'गतिबुद्धि–'इत्यादिना वर्त्तमाने क्तः । 'क्तस्य च वर्त्तमाने' इति षष्ठी । तेन राज्ञोपपन्ना युक्ता सा धेनुः । सतां मतेन विधिनाऽनुष्ठानेनोपपन्ना युक्ता साक्षात्प्रत्यक्षा श्रद्धाऽऽस्तिक्यबुद्धिरिव बभौ च ॥ १६ ॥

भूलोक के पालन करने वाले राजा दिलीप देवता, पितर और अतिथि लोगों के कार्यों (यज्ञ–श्राद्ध–भोजनादि) को साधने वाली, उस धेनु के पीछे पीछे चले और सज्जनों के द्वारा पूजित उनसे युक्त, वह (नन्दिनी) भी सज्जनों से किये गये अनुष्ठान से युक्त श्रद्धा जैसी सुशोभित होती है वैसी सुशोभित होने लगी ॥ १६ ॥

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि ।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन् ॥ १७ ॥

स इति । स राजा । पल्वलेभ्योऽल्पजलाशयेभ्य उत्तीर्णानि निर्गतानि वराहाणां

यूथानि कुलानि येषु तानि । बर्हाण्येषां सन्तीति बर्हिणो मयूराः । 'मयूरो बर्हिणो बर्ही' इत्यमरः । 'फलबर्हाभ्यामिनच्प्रत्ययो वक्तव्यः' आवासवृक्षाणामुन्मुखा बर्हिणो येषु तानि । श्यामायमानानि वराहबर्हिणादिमलिनीम्ना, अश्यामानि श्यामानि भवन्तीति श्यामायमानानि । 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' इति क्यष्प्रत्ययः । 'वा क्यषः' इत्यात्मनेपदे शानच् । मृगैरध्यासिता अधिष्ठिताः शाद्वला येषु तानि । शादाः शष्पाण्येषु देशेषु सन्तीति शाद्वलाः शष्पश्यामदेशाः । 'शाद्वलः शादहरिते' इत्यमरः । 'शादः कर्दमशष्पयोः' इति विश्वः । 'नडशादाड्ड्वलच्' इति ड्वलच्प्रत्ययः । वनानि पश्यन्ययौ ॥ १७ ॥

वे राजा दिलीप, छोटे २ तालाबों से निकले हुए बनैले सूअरों के झुण्डवाले, अपने २ आवासयोग्य वृक्षों के तरफ 'जाने के लिये' उन्मुख मयूरों वाले तथा हरिण जिन पर बैठे हुए हैं ऐसे घासों से हरे प्रदेश, 'अत एव सर्वत्र' श्याम ही श्याम वनों को देखते हुए जाने लगे ॥ १७ ॥

आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद्गृष्टिर्गुरुत्वाद्वपुषो नरेन्द्रः ।
उभावलञ्चक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम् ॥ १८ ॥

आपीनेति । गृष्टिः सकृत्प्रसूता गौः । 'गृष्टिः सकृत्प्रसूता गौः' इति हलायुधः । नरेन्द्रश्च । उभौ यथाक्रमम् । आपीनमूधः । 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः । आपीनस्य भारोद्वहने प्रयत्नात्प्रयासात् वपुषो गुरुत्वादाधिक्याच्च । अञ्चिताभ्यां चारुभ्यां गताभ्यां गमनाभ्यां तपोवनादावृत्तेः पन्थास्तं तपोवनावृत्तिपथम् 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' इत्यनेन समासान्ताऽप्रत्ययः । अलञ्चक्रतुर्भूषितवन्तौ ॥ १८ ॥

पहिला बार की ब्याही हुई नन्दिनी और राजा दिलीप इन दोनों ने क्रम से (नन्दिनी) स्तनों के भार के धारण करने में प्रयास करने के कारण से तथा (राजा दिलीप) शरीर की स्थूलता के कारण से अपने २ सुन्दर गमन से तपोवन से लौटने के मार्ग को सुशोभित किया ॥ १८ ॥

वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्त्तमानं वनिता वनान्तात् ।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपङ्क्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् ॥ १९ ॥

वसिष्ठेति । वसिष्ठधेनोरनुयायिनमनुचरं वनान्तादावर्त्तमानं प्रत्यागतं तं दिलीपं वनिता सुदक्षिणा निमेषेष्वलसा मन्दा पक्ष्मणां पङ्क्तिर्यस्याः सा निर्निमेषा सतीत्यर्थः । लोचनाभ्यां करणाभ्याम् । उपोषिताभ्यामिव । उपवासो भोजननिवृत्तिस्तद्वद्भ्यामिव । वसतेः कर्त्तरि क्तः । पपौ । यथोपोषितोऽतितृष्णया जलमधिकं पिबति तद्वदतितृष्णयाऽधिकं व्यलोकयदित्यर्थः ॥ १९ ॥

वसिष्ठ महर्षि की नई ब्याही हुई नन्दिनी नाम की धेनु के पीछे २ चलनेवाले तपोवन के प्रान्त भाग से लौटते हुए उन राजा दिलीप को स्नेह करने वाली रानी सुदक्षिणा ने नेत्र

के बन्द करने में आलसी बरौनी वाली होती हुई (अर्थात् एक टक से) प्यासे की भाँति आँखों से पिया अर्थात देखा ॥ १९ ॥

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या ॥ २० ॥

पुरस्कृतेति। वर्त्मनि पार्थिवेन पृथिव्या ईश्वरेण। 'तस्येश्वरः' इत्यञ्प्रत्ययः। पुरस्कृताऽग्रतः कृता धर्मस्य पत्नी धर्मपत्नी धर्मार्थपत्नीत्यर्थः। अश्वघासादिवत्ता-दर्थ्ये षष्ठीसमासः। पार्थिवस्य धर्मपत्न्या प्रत्युद्गता सा धेनुस्तदन्तरे तयोर्दम्पत्यो-र्मध्ये। दिनक्षपयोर्दिनरात्र्योर्मध्यगता सन्ध्येव विरराज।

मार्ग में राजा दिलीप द्वारा आगे को गई और उनकी पटरानी सुदक्षिणा से आगे जाकर ली हुई (अगवानी की गई) वह नन्दिनी सुदक्षिणा और दिलीप के बीच में दिन और रात के मध्य में स्थित सन्ध्याकाल की भांति शोभित हुई ॥ २० ॥

प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्याः शृङ्गान्तरं द्वारमिवार्थसिद्धेः ॥ २१ ॥

प्रदक्षिणीकृत्येति। अक्षतानां पात्रेण सह वर्त्तत इति साक्षतपात्रौ हस्तौ यस्याः सा सुदक्षिणा पयस्विनीं प्रशस्तक्षीरां तां धेनुं प्रदक्षिणीकृत्य प्रणम्य च। अस्या धेन्वा विशालं शृङ्गमध्यम्। अर्थसिद्धेः कार्यसिद्धेर्द्वारं प्रवेशमार्गमिव, आनर्चार्चयामास। अर्चतेर्भौवादिकाल्लिट् ॥ २१ ॥

अक्षतों से युक्त पात्र को हाथ में लिये रानी सुदक्षिणा ने उत्तम दूध वाली उस नन्दिनी की प्रदक्षिणा तथा वन्दना कर उसके चौड़े दोनों सीगों के मध्यभाग का, पुत्राप्तिरूप प्रयोजन सिद्ध होने के द्वार की भांति जानकर पूजन किया ॥ २१ ॥

वत्सोत्सुकाऽपि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत्सेति ननन्दतुस्तौ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि ॥ २२ ॥

वत्सोत्सुकाऽपीति। सा धेनुर्वत्सोत्सुकाऽपि वत्स उत्कण्ठिताऽपि स्तिमिता निश्चला सती सपर्यां पूजां प्रत्यग्रहीदिति हेतोस्तौ दम्पती ननन्दतुः। पूजास्वीकार-स्यानन्दहेतुमाह—भक्त्येति। पूज्येष्वनुरागो भक्तिस्तयोपपन्नेषु युक्तेषु विषये तद्विधानां तस्या धेन्वा विधेव विधा प्रकारो येषां तेषाम् महतामित्यर्थः। प्रसादस्य चिह्नानि लिङ्गानि पूजास्वीकारादीनि पुरःफलानि पुरोगतानि प्रत्यासन्नानि येषां तानि हि। अवलम्बितफलसूचकलिङ्गदर्शनादानन्दो युज्यत इत्यर्थः ॥ २२ ॥

उस नन्दिनी ने अपने बछड़े को देखने के लिये उत्कण्ठा युक्त होने पर भी स्थिर होती हुई 'सुदक्षिणा द्वारा किए गये' पूजन को स्वीकार किया वे दोनों सुदक्षिणा और दिलीप प्रसन्न हुए। क्योंकि अपने में अनुराग रखने वाले जनों के विषय में नन्दिनी के समान बड़े लोगों की प्रसन्नता का चिह्न, शीघ्र अभीष्ट सिद्धि करनेवाले निश्चय करके होते हैं ॥२२॥

गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ समाप्य सान्ध्यञ्च विधिं दिलीपः ।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम् ॥ २३ ॥

गुरोरिति । भुजोच्छिन्नरिपुर्दिलीपः सदारस्य दारैररुन्धत्या सह वर्त्तमानस्य गुरोः । उभयोरपीत्यर्थः । 'भार्या जायाऽथ पुम्भूम्नि दाराः' इत्यमरः । पादौ निपीड्याभिवन्द्य । सान्ध्यायां विहितं विधिमनुष्ठानं च समाप्य । दोहावसाने निषण्णामासीनां दोग्ध्रीं दोहनशीलाम् । 'तृन्' इति तृन्प्रत्ययः । धेनुमेव पुनर्भेजे सेवितवान् । दोग्ध्रीमिति निरुपपदप्रयोगात्कामधेनुत्वं गम्यते ॥ २३ ॥

बाहुओं से शत्रुओं को नष्ट करने वाले राजा दिलीप ने पत्नी के सहित गुरु का चरण दबा कर और सायङ्कालिक कृत्य को समाप्त कर दुह चुकने के बाद सुखपूर्वक बैठी हुई नन्दिनी की फिर से सेवा शुरू की ॥ २३ ॥

तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः ।
क्रमेण सुप्तामनुसंविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत् ॥ २४ ॥

तामिति । गोप्ता रक्षको गृहिणीसहायः पत्नीद्वितीयः सन् । उभावपीत्यर्थः । अन्तिके न्यस्ता बलयः प्रदीपाश्च यस्यास्तां तथोक्तां पूर्वोक्तां निषण्णां धेनुमन्वास्यानूपविश्य क्रमेण सुप्तामन्वनन्तरं संविवेश सुष्वाप । प्रातः सुप्तोत्थितामनूदतिष्ठदुत्थितवान् । अत्रानुशब्देन धेनुराजव्यापारयोः पौर्वापर्यमुच्यते, क्रमशब्देन धेनुर्व्यापाराणामेवेत्यपौनरुक्त्यम् । 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इति द्वितीया ॥ २४ ॥

रक्षा करने वाले सुदक्षिणा के सहित राजा दिलीप जिनके समीप में उपहारसम्बन्धी दीप रक्खे गये हैं, ऐसी उस बैठी हुई नन्दिनी के पीछे बैठकर क्रम से उस (नन्दिनी) के सोने के पीछे सोये और प्रातःकाल उसके सोकर उठ जाने के पीछे उठे ॥ २४ ॥

इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्तेः ।
सप्त व्यतीयुस्त्रिगुणानि तस्य दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य ॥ २५ ॥

इत्थमिति । इत्थमनेन प्रकारेण प्रजार्थं सन्तानाय महिष्या समभिषिक्तपत्न्या सह । 'कृताभिषेका महिषी' इत्यमरः । व्रतं धारयतः महनीया पूज्या कीर्त्तिर्यस्य तस्य, दीनानामुद्धरणं दैन्यविमोचनं तत्रोचितस्य परिचितस्य तस्य नृपस्य, त्रयो गुणा आवृत्तयो येषां तानि त्रिगुणानि त्रिरावृत्तानि सप्त दिनान्येकविंशतिदिनानि व्यतीयुः ॥ २५ ॥

इस प्रकार पुत्र के लिये महारानी सुदक्षिणा के साथ नियम को धारण करते हुए प्रशंसनीय कीर्त्तिवाले दीनों के उद्धार करने में लगे हुए महाराज दिलीप के तिगुने सात (इक्कीस) दिन बीत गये ॥ २५ ॥

अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः ।
गङ्गाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश ॥ २६ ॥

अन्येद्युरिति । अन्येद्युरन्यस्मिन्दिने द्वाविंशे दिने । 'सद्यः परुत्परा०' इत्यादिना निपातनादव्ययत्वम् । 'अथात्राह्नयथ पूर्वेऽह्नीत्यादौ पूर्वोत्तरापरात् । तथाऽधरान्यान्यतरेतरात्पूर्वेद्युरादयः' इत्यमरः । मुनिहोमधेनुः । आत्मानुचरस्य भावमभिप्रायं दृढभक्तित्वम् । 'भावोऽभिप्राय आशयः' इति यादवः । जिज्ञासमाना ज्ञातुमिच्छन्ती । 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' इत्यात्मनेपदे शानच् । प्रपतन्त्यस्मिन्निति प्रपातः पतनप्रदेशः । गङ्गायाः प्रपातस्तस्यान्ते समीपे विरूढानि जातानि शष्पाणि बालतृणानि यस्मिंस्तत् । 'शष्पं बालतृणं घासः' इत्यमरः । गौरीगुरोः पार्वतीपितुर्गह्वरं गुहामाविवेश ॥ २६ ॥

दूसरे (बाइसवें) दिन वसिष्ठ की होमसम्बन्धी धेनु (नन्दिनी) अपने सेवक राजा दिलीप का 'मेरे में दृढभक्ति है या नहीं' इस भाव को जानने की इच्छा रखती हुई, गङ्गा के वारिप्रवाह के समीप उगी हुई है छोटी २ घासें जिसमें ऐसे पार्वती के पिता (हिमालय पर्वत) की गुफा में घुसी ॥ २६ ॥

सा दुष्प्रधर्षा मनसाऽपि हिंस्रैरित्यद्रिशोभाप्रहितेक्षणेन ।
अलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष ॥ २७ ॥

सेति । सा धेनुर्हिंस्रैर्व्याघ्रादिभिर्मनसाऽपि दुष्प्रधर्षा दुर्धर्षेति हेतोरद्रिशोभायां प्रहितेक्षणेन दत्तदृष्टिना नृपेणालक्षिताभ्युत्पतनमाभिमुख्येनोत्पतनं यस्य स सिंहस्तां धेनुं प्रसह्य हठात् । 'प्रसह्य तु हठार्थकम्' इत्यमरः । चकर्ष । किलेत्यलीके ॥ २७ ॥

'यह नन्दिनी हिंसक व्याघ्रादि दुष्ट जीवों द्वारा मन से भी बड़ी कठिनाई से तकलीफ पहुँचाने के योग्य है' इस कारण से निश्चिन्त हो हिमालय की शोभा देखने में दृष्टि को लगाये हुए राजा दिलीप के द्वारा जिसका आक्रमण करना नहीं देखा गया ऐसा मायाकृत सिंह जबरदस्ती उस नन्दिनी को बनावटी ढङ्ग से फाड़ने लगा ॥ २७ ॥

तदीयमाक्रन्दितमार्त्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम् ।
रश्मिष्विवादाय नरेन्द्रसक्तां निवर्त्तयामास नृपस्य दृष्टिम् ॥ २८ ॥

तदीयमिति । गुहानिबद्धेन प्रतिशब्देन प्रतिध्वनिना दीर्घम् । तस्या इदं तदीयम् । आक्रन्दितमार्त्तवर्षणम् । आर्त्तेषु विपन्नेषु साधोर्हितकारिणो नृपस्य नगेन्द्रसक्तां दृष्टिम् । रश्मिषु प्रग्रहेषु 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः । आदायेव गृहीत्वेव निवर्त्तयामास ॥ २८ ॥

गुफा में टकराई हुई प्रतिध्वनि से बचे हुए उस (नन्दिनी) के आर्त्तनाद ने दुःखियों के विषय में सज्जन (रक्षक) राजा दिलीप की हिमालय पर्वत (की शोभा देखने) में लगी दृष्टि को लगाम पकड़ कर जैसे कोई घोड़े आदि को फेरता है वैसे ही अपनी ओर फेर लिया ॥

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श ।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम् ॥ २९ ॥

स इति । धनुर्धरः सः नृपः पाटलायां रक्तवर्णायां गवि तस्थिवांसं स्थितम् , 'क्वसुश्च' इति क्वसुप्रत्ययः । केसरिणं सिंहम् । सानुमतोऽद्रेः । धातोर्गैरिकस्य विकारो धातुमयी तस्यामधित्यकायामूर्ध्वभूमौ 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इति त्यकन्प्रत्ययः । प्रफुल्लो विकसितस्तम् । 'फुल्ल विकसने' इति धातोः पचाद्यच् । प्रफुल्लम् इति तकारपाठे 'ञिफला विसरणे' इति धातोः कर्त्तरि क्तः 'उत्परस्यातः' इत्युकारादेशः । लोध्राख्यं द्रुममिव ददर्श ॥ २९ ॥

धनुष को धारण करने वाले उन राजा दिलीप ने श्वेतयुक्त लाल वर्णवाली नन्दिनी के ऊपर बैठे हुए सिंह को पर्वत की गैरिक धातुमयी ऊँची भूमि में लगे हुये लोध्र वृक्ष की भाँति देखा ॥ २९ ॥

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः ।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत् प्रसभोद्धृतारिः ॥ ३० ॥

तत इति । ततः सिंहदर्शनानन्तरं मृगेन्द्रगामी 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । 'शरणं रक्षणे गृहे' इति यादवः । शरणे साधुः शरण्यः । 'तत्र साधुः' इति यत्प्रत्ययः । प्रसभेन बलात्कारेणोद्धृता अरयो येन स नृपतिः राजा जाताभिषङ्गो जातपराभवः सन् । 'अभिषङ्गः पराभवः' इत्यमरः । वध्यस्य वधार्हस्य । 'दण्डादिभ्यो यः' इति यप्रत्ययः । मृगेन्द्रस्य वधाय निषङ्गात्तूणीरात् । 'तूणीपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः' इत्यमरः । शरमुद्धर्त्तुमैच्छत् ।

सिंह के दर्शन के बाद मृगेन्द्र की तरह चलने वाले रक्षा करने में निपुण, दुश्मनों को बलपूर्वक उखाड़ने वाले अपमान पाये हुए राजा दिलीप ने सिंह को मारने के लिये तरकश में बाण निकालने के लिये इच्छा की ॥ ३० ॥

वामेतरस्तस्य करः प्रहर्त्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे ।
सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ॥ ३१ ॥

वामेतर इति । प्रहर्त्तुस्तस्य वामेतरो दक्षिणः करः । नखप्रभाभिर्भूषितानि विच्छुरितानि कङ्कस्य पक्षिविशेषस्य पत्राणि यस्य तस्मिन् । 'कङ्कः पक्षिविशेषे स्याद् गुप्ताकारो युधिष्ठिरे' इति विश्वः । 'कङ्कस्तु कर्कट' इति यादवः । सायकस्य पुङ्ख एक कर्त्तर्याख्ये मूलप्रदेशे । 'कर्त्तरि पुङ्खे' इति यादवः । सक्ताङ्गुलिः सन् । चित्रार्पितारम्भश्चित्रलिखितशरोद्धरणोद्योग इव अवतस्थे ॥ ३१ ॥

प्रहार करने वाले राजा दिलीप का दाहिना हाथ, अपने नख की कान्ति से भूषित कङ्क (पक्षी पङ्ख) जिसमें लगे हुये हैं ऐसे बाण के मूलप्रदेश में ही लगी हुई है अङ्गुलियाँ जिसकी, ऐसा होता हुआ, चित्र में लिखे हुये बाण निकालने के उद्योग में लगे हुए की भाँति हो गया ॥ ३१ ॥

बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युरभ्यर्णमागस्कृतमस्पृशद्भिः ।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः ॥ ३२ ॥

बाहुप्रतिष्टम्भेति । बाह्वोः प्रतिष्टम्भेन प्रतिबन्धेन । 'प्रतिबन्धः प्रतिष्टम्भः' इत्यमरः । विवृद्धमन्युः प्रवृद्धरोषो राजा । मन्त्रौषधिभ्यां रुद्धवीर्यः प्रतिबद्धशक्तिर्भोगी सर्प इव 'भोगी राजभुजङ्गयोः' इति शाश्वतः । अभ्यर्णमन्तिकम् । 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम्' इत्यमरः । आगस्कृतमपराधकारिणमस्पृशद्भिः स्वतेजोभिरन्तरदह्यत । 'अधिक्षेपाद्यसहनं तेजःप्राणात्ययेष्वपि' इति यादवः ॥ ३२ ॥

हाथ के रुक जाने से बढ़े हुए क्रोधवाले, राजा दिलीप, मन्त्र और औषधि से बाँध दिया गया है पराक्रम जिसका ऐसे साँप की भाँति समीप में (स्थित) अपराधी को नहीं स्पर्श करते हुए अपने तेज से भीतर जलने लगे ॥ ३२ ॥

तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम् ।
विस्माययन्विस्मितमात्मवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः ॥ ३३ ॥

तमिति । निगृहीता पीडिता धेनुर्येन स सिंहः । आर्याणां सतां गृह्यं पक्ष्यम् 'पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च' इति क्यप् । मनुवंशस्य केतुं चिह्नं केतुवद्व्यावर्त्तकम् । सिंह इवोरुसत्त्वो महाबलस्तम् । आत्मनो वृत्तौ बाहुस्तम्भरूपे व्यापारेऽभूतपूर्वत्वाद्विस्मितम् । कर्त्तरि क्तः । तं दिलीपं मनुष्यवाचा करणेन पुनर्विस्माययन्विस्मयमाश्चर्यं प्रापयन्निजगाद । 'स्मिङ् ईषद्धसने' इति धातोर्णिचि वृद्धावायादेशे शतृप्रत्यये च सति विस्माययन्निति रूपं सिद्धम् । 'विस्मापयन्' इति पाठे पुगागममात्रं वक्तव्यम् । तच्च 'नित्यं स्मयतेः' इति हेतुस्मयविवक्षायामेवेति 'भीस्म्योर्हेतुभये' इत्यात्मनेपदे 'विस्मापयमान' इति स्यात् । तस्मान्मनुष्यवाचा विस्माययन्निति रूपं सिद्धम् । करणविवक्षायां न कश्चिद्दोषः ॥ ३३ ॥

नन्दिनी को पीडित किया हुआ सिंह सज्जनों के पक्ष में रहने वाले मनुवंश के द्योतक सिंह के समान महान् बलवान् अपने बाहुस्तम्भरूप व्यापार के विषय में चकित हुए उन राजा दिलीप को मनुष्यवाणी से पुनः चकित करता हुआ बोला ॥ ३३ ॥

अलं महीपाल ! तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात् ।
न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ ३४ ॥

अलमिति । हे महीपाल ! तव श्रमेणालम् ! साध्याभावाच्छ्रमो न कर्त्तव्य इत्यर्थः । अत्र गम्यमानसाधनक्रियाऽपेक्षया श्रमस्य करणत्वात्तृतीया । उक्तं च न्यासोद्द्योते (न केवलं श्रूयमाणैव क्रियानिमित्तं करणभावस्य । अपि तर्हि गम्यमानाऽपि) इति । 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इत्यमरः । इतोऽस्मिन्मयि । सार्वविभक्तिकस्तसिः । प्रयुक्तमप्यस्त्रं वृथा स्यात् । तथाहि—पादपोन्मूलने शक्तिर्यस्य तत्तथोक्तं, मारुतस्य रंहो वेगः शिलोच्चये पर्वते न मूर्च्छति न प्रसरति ॥ ३४ ॥

हे पृथ्वी के पालन करने वाले महाराज दिलीप ! आपका श्रम करना वृथा है, अतः रहने दीजिये, क्योंकि मेरे ऊपर चलाया हुआ अस्त्र भी वैसा ही व्यर्थ होगा, जैसा कि पेड़ों को उखाड़ने वाली शक्ति रखने वाले वायुका वेग पर्वतके विषय में व्यर्थ होता है ॥३४॥

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पदार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम् ।
अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्त्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥ ३५ ॥

कैलासेति । कैलास इव गौरः शुभ्रस्तम् । 'चामीकरं च शुभ्रं च गौरमाहुर्मनीषिणः' इति शाश्वतः । वृषं वृषभमारुरुक्षोरारोढुमिच्छोः । स्वस्योपरि पदं निक्षिप्य वृषमारोहतीत्यर्थः । अष्टौ मूर्त्तयो यस्य स तस्याष्टमूर्त्तेः शिवस्य पादार्पणं पादन्यासस्तदेवानुग्रहः प्रसादस्तेन पूतं पृष्ठं यस्य तं तथोक्तम् । निकुम्भमित्रं कुम्भोदरं नाम किङ्करं मामवेहि विद्धि । 'पृथिवी सलिलं तेजो वायुराकाशमेव च । सूर्याचन्द्रमसौ सोमयाजी चेत्यमूर्त्तयः' । इति यादवः ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! कैलास पर्वत के तुल्य श्वेत बैल पर चढ़ने की इच्छा करने वाले आठ (पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश-सूर्य-चन्द्र-सोमयाजी) हैं मूर्त्तियां जिनकी ऐसे शिवजी के चरण रखने रूप अनुग्रह से पवित्र पीठवाला, निकुम्भ (शिवजी का प्रसिद्ध गण) का मित्र 'कुम्भोदर' नाम से प्रसिद्ध 'शिवजी का' नौकर मुझे तुम जानो ॥ ३५ ॥

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन ।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः ॥ ३६ ॥

अमुमिति । पुरोऽग्रतोऽमुं देवदारुं पश्यसि इति काकुः । असौ देवदारुः । वृषभो ध्वजो यस्य स तेन शिवेन पुत्रीकृतः पुत्रत्वेन स्वीकृतः । अभूततद्भावे च्विः । यो देवदारुः स्कन्दस्य मातुर्गौर्या हेम्नः कुम्भ एव स्तनस्तस्मान्निःसृतानां पयसामम्बूनां रसज्ञः स्वादज्ञः, स्कन्दपक्षे—हेमकुम्भ इव स्तन इति विग्रहः । पयसां क्षीराणाम् । 'पयः क्षीरं पयोऽम्बु च' इत्यमरः । स्कन्दसमानप्रेमास्पदमिति भावः ॥ ३६ ॥

हे राजन् ! तुम जो आगे स्थित इस देवदारु के वृक्ष को देख रहे हो इसे शङ्करजी ने पुत्रभाव से माना है, जो कि कार्त्तिकेय की मां पार्वतीजी के सोने के घटरूपी स्तनों से निकले हुए दूधरूपी जल के स्वाद का जानने वाला है स्कन्दपक्ष में सोने के घड़े के समान स्तनों से निकले हुए दूध के स्वाद का जानने वाला है ॥ ३६ ॥

कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य ।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः ॥ ३७ ॥

कण्डूयेति । कदाचित्कटं कपोलं कण्डूयमानेन घर्षयता । 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' इति यक् ततः शानच् । वन्यद्विपेनास्य देवदारोस्त्वगुन्मथिता । अथाद्रेस्तनया गौरी असुरास्त्रैरालीढं क्षतम् । सेनां नयतीति सेनानीः स्कन्दः । 'पार्वतीनन्दनः स्कन्दः सेनानीः' इत्यमरः । 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप् । तमिव, एनं देवदारुं शुशोच ।

किसी समय में गण्डस्थल को रगड़ते हुये किसी जंगली हाथी ने इस देवदारु वृक्ष की छाल उचेड़ डाली, इसके बाद पार्वतीजी ने दैत्यों के अस्त्रों से चोट खाये हुये अपने पुत्र स्कन्द के समान इसके सम्बन्ध में भी शोक किया ॥ ३७ ॥

तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्ति ॥ ३८ ॥

तदेति । तदा तत्कालः प्रभृतिरादिर्यस्मिन्कर्मणि तत्तथा तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थं भयार्थं शूलभृता शिवेन, अङ्कं समीपमागताः प्राप्ताः सत्त्वाः प्राणिनो वृत्तिर्यस्मिंस्तत् 'अङ्कसमीप उत्सङ्गे चिह्ने स्थानापराधयोः' इति केशवः । सिंहत्वं विधाय । अस्मिन्नद्रिकुक्षौ गुहायामहं व्यापारितो नियुक्तः ॥ ३८ ॥

उसी समय से जङ्गली हाथियों के डराने के लिये, शूल के धारण करने वाले श्रीशिवजी ने समीप में आये हुए प्राणियों पर निर्वाह करने वाली सिंहवृत्ति देकर मुझे इस पहाड़ की गुफा में नियुक्त किया है ॥ ३८ ॥

तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण ।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव ॥ ३९ ॥

तस्येति । परमेश्वरेण प्रदिष्टो निर्दिष्टकालो भोजनवेला यस्याः सोपस्थिता प्राप्तैषा गोरूपा शोणितपारणा रुधिरस्य व्रतान्तभोजनं, सुरद्विषो राहोः, चन्द्रमस इयं चान्द्रमसी सुधेव, क्षुधितस्य बुभुक्षितस्य तस्याङ्कागतसत्त्ववृत्तेर्मे मम सिंहस्य तृप्त्या अलं पर्याप्ता । 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलं वषड्योगाच्च' इत्यनेन चतुर्थी ॥ ३९ ॥

शिवजी के बताये हुये भोजन के समय पर उपस्थित यह गोरूप रुधिरसम्बन्धी व्रत के समाप्ति के समय का भोजन दैत्य राहु के लिये चन्द्रसम्बन्धी अमृत की भांति, भूखे हुये उस की अर्थात् समीप में आये हुये प्राणियों को खाकर जीवन निर्वाह करने वाले मुझ सिंह की तृप्ति के लिये पर्याप्त (पूरा) होगा ॥ ३९ ॥

स त्वं निवर्त्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान्दर्शितशिष्यभक्तिः ।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ॥ ४० ॥

स त्वमिति । स एवमुपायशून्यस्त्वं लज्जां विहाय निवर्त्तस्व । भवांस्त्वं गुरोर्दर्शिता प्रकाशिता शिष्यस्य कर्त्तव्या भक्तिर्येन स तथोक्तोऽस्ति । ननु गुरुधनं विनाश्य कथं तत्समीपं गच्छेयमत आह—शस्त्रेणेति । यद्रक्ष्यं धनं शस्त्रेणायुधेन । 'शस्त्रमायुधलोहयोः' इत्यमरः । अशक्या रक्षा यस्य तदशक्यरक्षम् । रक्षितुमशक्यमित्यर्थः । तद्रक्ष्यं नष्टमपि शस्त्रभृतां यशो न क्षिणोति न हिनस्ति । अशक्यार्थेष्वप्रतिविधानं च दोषायेति भावः ॥ ४० ॥

उपाय से शून्य पूर्वोक्त तुम लज्जा को छोड़ कर लौट जाओ और तुमने गुरु के सम्बन्ध

में शिष्यों के योग्य भक्ति दिखला दी और जो रक्षा करने योग्य वस्तु शस्त्र से रक्षा करने के योग्य नहीं होती वह नष्ट होती हुई भी शस्त्रधारी के कीर्त्ति को नष्ट नहीं कर सकती है ॥ ४० ॥

इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य ।
प्रत्याहतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार ॥ ४१ ॥

इतीति । पुरुषाणामधिराजो नृप इति प्रगल्भं मृगाधिराजस्य वचो निशम्य श्रुत्वा गिरिशस्येश्वरस्य प्रभावात्प्रत्याहतास्त्रः कुण्ठितास्त्रः सन्नात्मनि विषयेऽवज्ञामपमानं शिथिलीचकार । तत्याजेत्यर्थः । अवज्ञातोऽहमिति निर्वेदं न प्रापेत्यर्थः । समानेषु हि क्षत्रियाणामभिमानो न सर्वेश्वरं प्रतीति भावः ॥ ४१ ॥

नराधिप दिलीप ने इस प्रकार से ढीठ सिंह के वचन को सुनकर शङ्कर के प्रभाव से अपने अस्त्र की रुकी हुई गति जानकर अपने विषय में अपमान के भाव को शिथिल कर दिया, अर्थात् अपना अपमान नहीं समझा ॥ ४१ ॥

प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभङ्गे वितथप्रयत्नः ।
जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः ॥ ४२ ॥

प्रतीति । स एव पूर्वः प्रथमो भङ्गः प्रतिबन्धो यस्य तस्मिंस्तत्पूर्वभङ्गे इषुप्रयोगे वितथप्रयत्नो विफलप्रयासः । अत एव वज्रं कुलिशं मुमुक्षन्मोक्तुमिच्छन् । अम्बकं लोचनम् । 'दृग्दृष्टिनेत्रलोचनचक्षुर्नयनाम्बकेक्षणाक्षीणि' इति हलायुधः । त्रीण्यम्बकानि यस्य स त्र्यम्बको हरः, तस्य वीक्षणेन जडीकृतो निष्पन्दीकृतः । वज्रं पाणौ यस्य स वज्रपाणिरिन्द्रः । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवत इति वक्तव्यम्' इति पाणेः सप्तम्यन्तस्योत्तरनिपातः । स इव स्थितो नृप एनं सिंहं प्रत्यब्रवीच्च (बाहुं सवज्रं शक्रस्य क्रुद्धस्यास्तम्भयत्प्रभुः) इति महाभारते ॥ ४२ ॥

पहले पहल यही है रुकावट जिसका ऐसे बाण के चलाने में निष्फल प्रयत्न वाले अत एव शङ्कर भगवान् के देखने से ही निश्चेष्ट किये हुये वज्र का प्रहार करने की इच्छा करने वाले, वज्र है हाथ में जिसके ऐसे इन्द्र के समान स्थित राजा दिलीप इस सिंह के प्रत्युत्तर में बोले ॥ ४२ ॥

संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र ! कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः ।
अन्तर्गतं प्राणभृतां हि वेद सर्वं भवान्भावमतोऽभिधास्ये ॥ ४३ ॥

संरुद्धचेष्टस्येति । मृगेन्द्र ! संरुद्धचेष्टस्य प्रतिबद्धव्यापारस्य मम तद्वचो वाक्यं कामं हास्यं परिहसनीयम् । यद्वचः 'स त्वं मदीयेन' (२।४५) इत्यादिकमहं विवक्षुर्वक्तुमिच्छुरस्मि । तर्हि तूष्णीं स्थीयतामित्याशङ्क्येश्वरकिङ्करत्वात्सर्वज्ञं त्वां प्रति न हास्यमित्याह—अन्तरिति । हि यतो भवान्प्राणभृतामन्तर्गतं हृद्गतं वाग्वृत्त्या बहिरप्रकाशितमेव सर्वं भावं वेद वेत्ति । 'विदो लटो वा' इति णलादेशः । अतोऽहमभि-

भास्ये वक्ष्यामि । वच इति प्रकृतं कर्म सम्बद्ध्यते । अन्ये त्वीदृग्वचनमाकर्ण्यासम्भावितार्थमेतदित्युपहसन्ति, अतस्तु मौनमेव भूषणम् । त्वं तु वाङ्मनसयोरेकविध एवायमिति जानासि । अतोऽभिधास्ये यद्वचोऽहं विवक्षुरित्यर्थः ॥ ४३ ॥

हे सिंह ! यद्यपि रुकी हुई है चेष्टा जिसकी, ऐसे मुझ दिलीप का वह वचन अत्यन्त परिहास करने के योग्य है, जिसे कि मैं कहने की इच्छा करने वाला हो रहा हूँ, तथापि आप सभी जीवों के हृदय के भाव जानते हैं, इससे कहूँगा ॥ ४३ ॥

मान्यः स मे स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः ।
गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम् ॥ ४४ ॥

मान्य इति । प्रत्यवहारः प्रलयः । स्थावराणां तरुशैलादीनां जङ्गमानां मनुष्यादीनां सर्गस्थितिप्रत्यवहारेषु हेतुः स ईश्वरो मे मम मान्यः पूज्यः । अलङ्घ्यशासन इत्यर्थः । शासनं च 'सिंहत्वमङ्कागतसत्त्ववृत्ति' (२।३८) इत्युक्तरूपम् । तर्हि विसृज्य गम्यताम् । नेत्याह–गुरोरपीति । पुरस्तादग्रे नश्यदिदमाहिताग्नेर्गुरोर्धनमपि गोरूपमनुपेक्षणीयम् । आहिताग्नेरिति विशेषणेनानुपेक्षाकारणं हविःसाधनत्वं सूचयति ॥ ४४ ॥

स्थावर (वृक्ष-पर्वत-आदि) और जङ्गमों (मनुष्यादिकों) के उत्पत्ति, पालन और संहार करने में कारण वे श्रीशिवजी मेरे पूज्य हैं, (अर्थात् उनकी आज्ञा माननीय है) और आगे नष्ट होता हुआ यह अग्निहोत्र करने वाले गुरुजी वसिष्ठ महाराज का गोरूप धन भी उपेक्षा करने के योग्य नहीं है, (अर्थात् इसकी रक्षा करनी चाहिये) ॥ ४४ ॥

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्त्तयितुं प्रसीद ।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः ॥ ४५ ॥

स इति । सोऽङ्कागतसत्त्ववृत्तिस्त्वं मदीयेन देहेन शरीरस्य वृत्तिं जीवनं निर्वर्त्तयितुं सम्पादयितुं प्रसीद । दिनावसाने उत्सुको माता समागमिष्यतीत्युत्कण्ठितो बालवत्सो यस्याः सा महर्षेरियं धेनुर्विसृज्यताम् ॥ ४५ ॥

समीप में आये हुए प्राणियों से अपना जीवन निर्वाह करने वाले (वह) तुम मेरे शरीर से अपने शरीर का जीवन रखने के लिये अनुग्रह करो और दिन के समाप्त होने पर 'हमारी माँ आती होगी' इससे उत्कण्ठित छोटे बछड़े वाली महर्षि वसिष्ठ की इस धेनु 'नन्दिनी' को छोड़ो ॥ ४५ ॥

अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन् ।
भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्त्ती किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे ॥ ४६ ॥

अथेति । अथ भूतेश्वरस्य पार्श्ववर्त्यनुचरः स सिंहो गिरेर्गह्वराणां गुहानाम् । 'देवखातबिले गुहा । गह्वरम्' इत्यमरः । अन्धकारं ध्वान्तं दंष्ट्रामयूखैः, शकलानि

खण्डानि कुर्वन् । निरस्यन्नित्यर्थः । किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं नृपं भूयो बभाषे । हास्यकारणम् 'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्' इति वक्ष्यमाणं द्रष्टव्यम् ॥ ४६ ॥

दिलीप के कह चुकने के बाद भगवान् शङ्कर के पास का रहने वाला वह सिंह हिमालय पर्वत की गुफाओं के अन्धकार को दाँतों की कान्ति से टुकड़े २ करता हुआ कुछ हँसकर दिलीप से फिर बोला ॥ ४६ ॥

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च ।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम् ॥४७॥

एकातपत्रमिति । एकातपत्रमेकच्छत्रं जगतः प्रभुत्वं स्वामित्वम् । नवं वयो यौवनम् । इदं कान्तं रम्यं वपुश्च । इत्येवं बहु अल्पस्य हेतोरल्पेन कारणेन, अल्पफलायेत्यर्थः । 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी । हातुं त्यक्तुमिच्छंस्त्वं विचारे कार्याकार्यविमर्शे मूढो मूर्खो मे मम प्रतिभासि ॥ ४७ ॥

एकच्छत्र संसार की प्रभुता, नवीन युवावस्था और यह सुन्दर शरीर इन सब बहुतों को थोड़े से नन्दिनीरूप फल के लाभ के कारण से छोड़ने की इच्छा करते हुये तुम 'क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये' इसके विचार करने में मुझे मूर्ख मालूम पड़ते हो॥

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते ।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ ! पितेव पासि ॥ ४८ ॥

भूतानुकम्पेति । तव भूतेष्वनुकम्पा कृपा चेत् । 'कृपा दयाऽनुकम्पा स्यात्' इत्यमरः । कृपैव वर्त्तते चेदित्यर्थः । तर्हि त्वदन्ते तव नाशे सतीयमेका गौः । स्वस्ति क्षेममस्या अस्तीति स्वस्तिमती भवेत् । जीवेदित्यर्थः । 'स्वस्त्याशीः क्षेमपुण्यादौ' इत्यमरः । हे प्रजानाथ ! जीवन्पुनः पितेव प्रजा उपप्लवेभ्यो विघ्नेभ्यः शश्वत्सदा । 'पुनः सदार्थयोः शश्वत्' इत्यमरः । पासि रक्षसि । स्वप्राणव्ययेनकधेनुरक्षणाद्वारं जीवितेनैव शश्वदखिलजगत्त्राणमित्यर्थः ॥ ४८ ॥

हे राजन् ! तुम्हारी प्राणियों के ऊपर दया यदि है, तो तुम्हारे मर जाने पर केवल यही एक गौ कल्याण से युक्त हो सकती है । हे प्रजाओं के स्वामी महाराज दिलीप ! जीते हुए निश्चय कर आप पिता के समान प्रजाओं की विघ्नों से निरन्तर रक्षा कर सकते हैं ॥ ४८ ॥

न धर्मलोपादियं प्रवृत्तिः किन्तु गुरुभयादित्यत आह—

अथैकधेनोरपराधचण्डाद्गुरोः कृशानुप्रतिमाद् बिभेषि ।
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोघ्नीः ॥४६॥

अथेति । अथेति पक्षान्तरे । अथवा । एकैव धेनुर्यस्य तस्मात् । अयं कोपकारणोपन्यास इति ज्ञेयम् । अत एवापराधे गवोपेक्षालक्षणे सति चण्डादतिकोपनात् । 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः । अत एव कृशानुः प्रतिमोपमा यस्य तस्मादग्निकल्पान् गुरोर्बिभेषि । इति काकुः । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानात्पञ्चमी ।

अल्पवित्तस्य धनहानिरतिदुःसहेति भावः। अस्य गुरोर्मन्युः क्रोधः 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः। घटा इवोधांसि यासां ता घटोघ्नीः। 'उधसोऽनङ्' इत्यनङादेशः। 'बहुव्रीहेरूधसो ङीष्' इति ङीष्। कोटिशो गाः स्पर्शयता प्रतिपादयता। 'विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम्' इत्यमरः। भवता विनेतुमपनेतुं शक्यः॥ ४९॥

अथवा हे राजन्! एक ही है धेनु जिसके अत एव गौ के रक्षा न करने रूप अपराध होने से अत्यन्त क्रुद्ध हुये, अग्नि के तुल्य अपने गुरु वसिष्ठजी से यदि तुम डरते हो तो, उनके क्रोध को घड़े के समान बड़े २ स्तनों वाली करोड़ों गायों को देते हुये दूर करने में समर्थ हो॥ ४९॥

तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम्।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नमृद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः॥ ५०॥

तद्रक्षेति। तत्तस्मात्कारणात्कल्याणपरम्पराणां भोक्तारम्। कर्मणि षष्ठी। ऊर्जो बलमस्यास्तीत्यूर्जस्वलम्। 'ज्योत्स्नातमिस्रे' त्यादिना वलच् प्रत्ययान्तो निपातः। आत्मदेहं रक्ष। ननु गामुपेक्ष्यात्मदेहरक्षणे स्वर्गहानिः स्यात्। नेत्याह—महीतलेति। ऋद्धं समृद्धं राज्यं महीतलस्पर्शनमात्रेण भूतलसम्बन्धमात्रेण भिन्नमैन्द्रमिन्द्रसम्बन्धिपदं स्थानमाहुः स्वर्गान्न भिद्यत इत्यर्थः॥ ५०॥

इस कारण से हे राजन्! तुम उत्तरोत्तर सुखों का भोग करने वाले अत्यन्त बल से युक्त अपने शरीर की रक्षा करो, क्योंकि विद्वान् लोग समृद्धिशाली राज्यको केवल पृथ्वीतल के सम्बन्ध होनेसे अलग हुआ इन्द्रसम्बन्धी स्थान (स्वर्ग) कहते हैं॥ ५०॥

एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव॥ ५१॥

एतावदिति। मृगेन्द्र एतावदुक्त्वा विरते सति गुहागतेनास्य सिंहस्य प्रतिस्वनेन शिलोच्चयो शैलोऽपि प्रीत्या तमेवार्थं क्षितिपालमुच्चैरभाषतेव इत्युत्प्रेक्षा। भाषिरयं ब्रुविसमानार्थकत्वाद् द्विकर्मकः। ब्रुविस्तु द्विकर्मकेषु पठितः। तदुक्तम्—(दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ। ब्रुविशासिगुणेन च यत्सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना॥) इति॥ ५१॥

सिंह के इतना कहकर चुप हो जाने पर गुफा में पहुँची हुई इसकी प्रतिध्वनि द्वारा पर्वत भी प्रेम से मानो उसी बात को राजा दिलीप से जोर से कहने लगा॥ ५१॥

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच।
धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरीक्ष्यमाणः सुतरां दयालुः॥ ५२॥

निशम्येति। देवानुचरस्येश्वरकिङ्करस्य सिंहस्य वाचं निशम्य मनुष्यदेवो राजा पुनरप्युवाच। किम्भूतः सन्। तेन सिंहेन यदध्यासितं व्याक्रमणम्। नपुंसके भावे क्तः। तेन कातरे अक्षिणी यस्यास्तया। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्' इति

क्षण् । 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष् । किंवा वक्ष्यतीति भीत्यैवं स्थितयेत्यर्थः । धेन्वा निरीक्ष्यमाणः । अत एव सुतरां दयालुः सन् । सुतरामित्यत्र 'द्विवचनविभज्य–' इत्यादिना सुशब्दात्तरप् । 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' इत्यनेनाम्प्रत्ययः । 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययसंज्ञा ॥ ५२ ॥

शङ्कर भगवान् के नौकर (सिंह) की वाणी को सुनकर मनुष्यों के राजा (वे दिलीप) फिर भी (उससे) बोले, जोकि—उस सिंह के द्वारा आक्रान्त होने से आकुल नेत्रों वाली नन्दिनी से देखे जाते हुये अत एव अत्यन्त दयालु हो रहे थे ॥ ५२ ॥

किमुवाचेत्याह—

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्त्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः ।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा ॥ ५३ ॥

क्षतादिति । 'क्षणु हिंसायाम्' इति धातोः सम्पदादित्वात्क्विप् । 'गमादीनाम्' इति वक्तव्यादनुनासिकलोपे तुगागमे च क्षदिति रूपं सिद्धम् । क्षतात् नाशात् त्रायत इति क्षत्त्रः । सुपीति योगविभागात्कः । तामेतां व्युत्पत्तिं कविरर्थतोऽनुक्रामति–क्षतादित्यादिना । उदग्र उन्नतः क्षत्त्रस्य क्षत्त्रवर्णस्य शब्दो वाचकः क्षत्त्रशब्द इत्यर्थः । क्षतात्त्रायत इति व्युत्पत्त्या भुवनेषु रूढः किल प्रसिद्धः खलु । नाश्वकर्णादिवत्केवलरूढः, किन्तु पङ्कजादिवद्योगरूढ इत्यर्थः । ततः किमित्यत आह—तस्य क्षत्त्रशब्दस्य विपरीतवृत्तेर्विरुद्धव्यापारस्य क्षतत्त्राणमकुर्वतः पुंसो राज्येन किम् । उपक्रोशमलीमसैर्निन्दामलिनैः । 'उपक्रोशो जुगुप्सा च कुत्सा निन्दा च गर्हणे' इत्यमरः । 'ज्योत्स्नातमिस्रा–' इत्यादिना मलीमसशब्दो निपातितः । 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः । तैः प्राणैर्वा किम् । निन्दितस्य सर्वं व्यर्थमित्यर्थः । एतेन 'एकातपत्रम्' (२।४७) इत्यादिना श्लोकद्वयेनोक्तं प्रयुक्तमिति वेदितव्यम् ॥ ५३ ॥

उन्नत जो क्षत्रिय वर्ण शब्दका वाचक क्षत्र शब्द है सो 'क्षत अर्थात् नाश से जो बचावे वह क्षत्रिय कहलाता है' इस व्युत्पत्ति से संसार में 'पङ्कज' के तरह योगरूढि से प्रसिद्ध है, अतः उस क्षत्र शब्द से विपरीत व्यापार करने वाले अर्थात् नाशसे नहीं रक्षा करने वाले पुरुष के राज्य और अपकीर्त्ति से मलिन हुए प्राण ये दोनों व्यर्थ हैं ॥ ५३ ॥

'अथैकधेनोः' (२–४९) इत्यत्रोत्तरमाह—

कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम् ।
इमामनूनां सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयाऽस्याम् ॥ ५४ ॥

कथमिति । अनुनयः क्रोधापनयः । चकारो वाकारार्थः । महर्षेरनुनयो वाऽन्यासां पयस्विनीनां दोग्ध्रीणां गवां विश्राणनाद्दानात् । 'त्यागो विहापितं दानमुत्सर्जनविसर्जने । विश्राणनं वितरणम्' इत्यमरः । कथं नु शक्यः । न शक्य

इत्यर्थः । अत्र हेतुमाह—इमां गां सुरभेः कामधेनोः 'पञ्चमी विभक्तेः' इति पञ्चमी । अनूनामन्यूनामवेहि जानीहि । तर्हि कथमस्याः परिभवो भूयादित्याह—रुद्रौजसेति । अस्यां गवि त्वया कर्त्रा प्रहृतं तु प्रहारस्तु । नपुंसके भावे क्तः । रुद्रौजसेश्वरसामर्थ्येन न तु स्वयमित्यर्थः । 'सप्तम्यधिकरणे च' इति सप्तमी ॥ ५४ ॥

महर्षि वसिष्ठजी के क्रोध की शान्ति दूसरी दूध देने वाली गायों के देने से किस प्रकार हो सकती है ? 'अर्थात् कभी नहीं हो सकती है' क्योंकि-'इसे कामधेनु से कम नहीं समझना चाहिये' और इस के ऊपर तुम्हारा आक्रमण हुआ है, उसे भी शङ्कर भगवान् के सामर्थ्य से ही समझना चाहिये न कि अपनी सामर्थ्य से ॥ ५४ ॥

तर्हि किं चिकीर्षितमित्याह—

सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः ।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियाऽर्थः ॥ ५५ ॥

सेयमिति । सेयं गौर्मया निष्क्रीयते प्रत्याह्रियतेऽनेन परिगृहीतमिति निष्क्रयः प्रतीशीर्षकम् 'एरच्' इत्यच्प्रत्ययः । स्वदेहार्पणमेव निष्क्रयं तेन । भवतस्त्वत्तः । पञ्चम्यास्तसिल् । मोचयितुं न्याय्या न्यायादनपेता । युक्तेत्यर्थः । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इत्यनेन यत्प्रत्ययः । एवं सति तव पारणा भोजनं विहता न स्यात् । मुनेः क्रिया होमादिः स एवार्थः प्रयोजनम् । स चालुप्तो भवेत् । स्वप्राणव्ययेनापि स्वामिगुरुधनं संरक्ष्यमिति भावः ॥ ५५ ॥

कामधेनु के तुल्य उसी इस नन्दिनी का मुझे अपने शरीर का त्याग कर देना ही रूप निष्क्रय के द्वारा आप से छुड़ाना न्यायसङ्गत है, ऐसा करने पर आपका व्रतके अन्त का भोजन (पारणा) भी नष्ट नहीं होगा, वसिष्ठ महर्षि का होमादिरूप प्रयोजन भी नष्ट नहीं होगा ॥ ५५ ॥

अत्र भवानेव प्रमाणमित्याह—

भवानपीदं परवानवैति महान् हि यत्नस्तव देवदारौ ।
स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन ॥ ५६ ॥

भवानिति । परवान्स्वामिपरतन्त्रो भवानपि । 'परतन्त्रः पराधीनः परवान्नाथवानपि' इत्यमरः । इदं वक्ष्यमाणमवैति । भवताऽनुभूयत एवेत्यर्थः । 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषः । किमित्यत आह—हि यस्माद्धेतोः । 'हि हेताववधारणे' इत्यमरः । तव देवदारौ विषये महान् यत्नः । महता यत्नेन रक्ष्यत इत्यर्थः । इदं शब्दोक्तमर्थं दर्शयति—स्थातुमिति । रक्ष्यं, वस्तु विनाश्य विनाशं गमयित्वा स्वयमक्षतेनाव्रणेन । नियुक्तेनेति शेषः । नियोक्तुः स्वामिनोऽग्रे स्थातुं शक्यं न हि ॥ ५६ ॥

पराधीन होते हुए आप भी इस (आगे कही जाने वाली) बात को जानते हैं, क्योंकि आपका देवदारु के विषय में 'रक्षा करने के लिए' बहुत भारी प्रयत्न है । 'अत एव' रक्षा

करने के योग्य वस्तु का नाश कर के स्वयं विना नष्ट हुए ही नौकर स्वामी के आगे उपस्थित होने के लिए समर्थ नहीं हो सकता ॥ ५६ ॥

सर्वथा चैतदप्रतिहार्यमित्याह—

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः ।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु ॥ ५७ ॥

किमिति । किमपि किं वाऽहं तवाहिंस्योऽवध्यो मतश्चेत्तर्हि मे यश एव शरीरं तस्मिन्दयालुः कारुणिको भव । 'स्याद्दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः । ननु मुख्यमुपेक्ष्यामुख्यशरीरे कोऽभिनिवेशोऽत आह—एकान्तेति । मद्विधानां मादृशानां विवेकिनामेकान्तविध्वंसिष्ववश्यविनाशिषु भौतिकेषु पृथिव्यादिभूतविकारेषु पिण्डेषु शरीरेष्वनास्था खल्वनपेक्षैव । 'आस्था त्वालम्बनास्थानयत्नापेक्षासु कथ्यते' इति विश्वः ॥

और मैं यदि तुम्हारी समझ में अवध्य हूँ तो मेरे यशरूप शरीर के विषय में तुम दयायुक्त हो, क्योंकि हमारे ऐसे लोगों के अवश्य नष्ट होने वाले पृथ्वी–जल–तेज–वायु–आकाश इन पाँच महाभूतों से बने हुए शरीर में अपेक्षा नहीं रहती है ॥ ५७ ॥

सौहार्दादहमनुसरणीयोऽस्मीत्याह—

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ सङ्गतयोर्वनान्ते ।
तद्भूतनाथानुग ! नार्हसि त्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम् ॥ ५८ ॥

सम्बन्धमिति । सम्बन्धं सख्यम् । आभाषणमालापः पूर्वं कारणं यस्य तमाहुः । 'स्यादाभाषणमालापः' इत्यमरः । स तादृक्सम्बन्धो वनान्ते सङ्गतयोर्नावावयोर्वृत्तो जातः । तत्तो हेतोर्हे भूतनाथानुग ! शिवानुचर ! एतेन तस्य महत्त्वं सूचयति । अत एव सम्बन्धिनो मित्रस्य मे प्रणयं याच्ञाम् । 'प्रणयास्त्वमी । विश्रम्भयाच्ञाप्रेमाणः' इत्यमरः । विहन्तुं नार्हसि ॥ ५८ ॥

सम्बन्ध (मैत्री) को जो बातचीत से उत्पन्न हुआ लोग कहते हैं, वह वन के बीच में मिले हुये हम दोनों का हो चुका है, इस कारण से हे शिवजी के अनुचर सिंह ! तुम सम्बन्धी होकर मुझ दिलीप की प्रार्थना को विफल करने के लिये योग्य नहीं हो ॥ ५८ ॥

तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यः प्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः ।
स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डमिवामिषस्य ॥ ५९ ॥

तथेतीति । तथेति गामुक्तवते हरये सिंहाय । 'कपौ सिंहे सुवर्णे च वर्णे विष्णौ हरिं विदुः' इति शाश्वतः । सद्यस्तत्क्षणे प्रतिष्टम्भात्प्रतिबन्धाद्विमुक्तो बाहुर्यस्य स दिलीपः । न्यस्तशस्त्रस्त्यक्तायुधः सन् । स्वदेहम् । आमिषस्य मांसस्य । 'पललं क्रव्यमामिषम्' इत्यमरः । पिण्डं कवलमिव । उपानयत्समर्पितवान् । एतेन निर्ममत्वमुक्तम् ॥ ५९ ॥

'वैसा ही हो' इस वचन को कहते हुए सिंह के लिए, उसी क्षण में बन्धन से खुली

बाहु वाले उन राजा दिलीप ने शस्त्र के त्यागने वाले होते हुए अपने शरीर को मांस के पिण्ड (ग्रास) के समान समर्पण कर दिया ॥ ५९ ॥

तस्मिन् क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम् ।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥ ६० ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन्क्षणे उग्रं सिंहनिपातमुत्पश्यत उत्प्रेक्षमाणस्य तर्कयतोऽवाङ्मुखस्य 'स्यादवाङप्यधोमुखः' इत्यमरः । प्रजानां पालयितू राज्ञ उपर्युपरिष्टात् 'उपर्युपरिष्टात्' इति निपातः । विद्याधराणां देवयोनिविशेषाणां हस्तैर्मुक्ता पुष्पवृष्टिः पपात ॥ ६० ॥

उस क्षण में उत्कट सिंह के आक्रमण के विषय में विचार करते हुये नीचे को मुख किए प्रजाओं के पालन करने वाले राजा दिलीप के ऊपर विद्याधर नामक देवयोनिविशेषों के हाथों से छोड़ी गई फूलों की वर्षा हुई ॥ ६० ॥

उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन् ।
ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रतः प्रस्रविणीं न सिंहम् ॥ ६१ ॥

उत्तिष्ठेति । राजा अमृतमिवाचरतीत्यमृतायमानं तत् 'उपमानादाचारे' इति क्यच् । ततः शानच् । उत्थितमुत्पन्नं 'हे वत्स ! उत्तिष्ठ' इति वचो निशम्य श्रुत्वा । उत्थितः सन् । अस्तेः शतृप्रत्ययः । अग्रतोऽग्रे प्रस्रवः क्षीरस्रावोऽस्ति यस्याः सा तां प्रस्रविणीं गां स्वां जननीमिव ददर्श सिंहं न ददर्श ॥ ६१ ॥

राजा दिलीप ने अमृत के समान (नन्दिनी के मुख से) निकले हुये 'हे पुत्र ! उठो' इस वचन को सुनकर उठते हुये आगे 'स्थित' जिसके 'स्तनों से' दूध बह रहा है ऐसी गौ (नन्दिनी) को अपनी मां के समान देखा 'किन्तु' सिंह को नहीं देखा ॥ ६१ ॥

तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो ! मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि ।
ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः ॥ ६२ ॥

तमिति । विस्मितमाश्चर्यं गतम् । कर्त्तरि क्तः । तं दिलीपं धेनुरुवाच किमित्यत्राह—हे साधो ! मया मायामुद्भाव्य कल्पयित्वा परीक्षितोऽसि । ऋषिप्रभावान्मय्यन्तको यमोऽपि प्रहर्तुं न प्रभुर्न समर्थः अन्ये हिंस्रा घातुकाः । 'शरारुर्घातुको हिंस्रः' इत्यमरः । 'नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः' इत्यादिना रप्रत्ययः । किमुत सुष्ठु न प्रभव इति योज्यम् । 'बलवत्सुष्ठु किमुत स्वत्यतीव च निर्भरे' इत्यमरः ॥ ६२ ॥

आश्चर्य से युक्त उन राजा दिलीप से धेनु बोली कि—हे सज्जन महाराज दिलीप ! मैंने माया को उत्पन्न कर तुम्हारी परीक्षा ली थी, महर्षि वशिष्ठ जी के प्रभाव से यमराज भी मुझ पर प्रहार करने के लिये समर्थ नहीं हैं दूसरे हिंस्र व्याघ्रादि तो अत्यन्त समर्थ नहीं हैं ॥ ६२ ॥

भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि ते पुत्र ! वरं वृणीष्व ।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम् ॥ ६३ ॥

भक्त्येति । हे पुत्र ! गुरौ भक्त्या मय्यनुकम्पया च ते तुभ्यं प्रीताऽस्मि । 'क्रियाग्रहणमपि कर्त्तव्यम्' इति चतुर्थी । वरं देवेभ्यो वरणीयमर्थम् । 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक् प्रिये' इत्यमरः । वृणीष्व स्वीकुरु । तथाहि—मां केवलानां पयसां प्रसूतिं कारणं नावेहि न विद्धि । किन्तु प्रसन्नां माम् । कामान्दोग्धीति कामदुघा तामवेहि । 'दुहः कब्घश्च' इति कप्रत्ययः ॥ ६३ ॥

हे पुत्र ! वसिष्ठ महर्षि के विषय में भक्ति रहने से और मेरे विषय में दया रखने से मैं तुझपर प्रसन्न हूँ । इसलिए तू वर माँग और मुझे केवल दूध देने वाली गाय मत समझ, प्रसन्न होने पर अभिलाषों को पूरी करने वाली जान ॥ ६३ ॥

ततः समानीय स मानितार्थी हस्तौ स्वहस्तार्जितवीरशब्दः ।
वंशस्य कर्त्तारमनन्तकीर्त्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ॥ ६४ ॥

तत इति । ततो मानितार्थी । स्वहस्तार्जितो वीर इति शब्दो येन एतेनास्य दातृत्वं दैन्यराहित्यं चोक्तम् । स राजा हस्तौ समानीय संधाय । अञ्जलिं बद्ध्वेत्यर्थः । वंशस्य कर्त्तारं प्रवर्त्तयितारम् । अत एव रघुकुलमिति प्रसिद्धिः । अनन्तकीर्तिं स्थिरयशसं तनयं सुदक्षिणायां ययाचे ॥ ६४ ॥

उसके बाद याचकों को सन्तुष्ट करने वाले अपने हाथों से 'वीर' इस शब्दको प्राप्त करने वाले उन राजा दिलीप ने दोनों हाथों को जोड़ कर वंश को चलाने वाले स्थिर कीर्त्तिशाली पुत्र 'अपनी रानी' सुदक्षिणा में होने की प्रार्थना की ॥ ६४ ॥

सन्तानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा ।
दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश ॥ ६५ ॥

सन्तानेति । पयस्विनी गौः । सन्तानं कामयत इति सन्तानकामः । 'कर्मण्यण्' तस्मै राज्ञे तथेति काम्यत इति कामो वरः । कर्मार्थे घञ्प्रत्ययः । तं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञाय हे पुत्र ! मदीयं पयः पत्रपुटे पत्रनिर्मिते पात्रे दुग्ध्वोपभुङ्क्ष्व । 'उपयुङ्क्ष्व' इति वा पाठः । 'पिब' इति तमादिदेशाज्ञापितवती ॥ ६५ ॥

उस उत्तम दूध वाली नन्दिनी ने पुत्र चाहने वाले राजा दिलीप से 'वैसा ही हो' इसी वरदान की प्रतिज्ञा कर 'हे पुत्र ! मेरे दूध को पत्ते के दोने में दुह कर पीलो' ऐसी उन्हें आज्ञा दी ॥ ६५ ॥

वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः ! ।
औधस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः ॥६६॥

वत्सस्येति । हे मातः ! वत्सस्य वत्सपीतस्य शेषम्, वत्सपीतावशिष्टमित्यर्थः । होम एवार्थः, तस्य विधिरनुष्ठानम् , तस्य च शेषम् । होमावशिष्टमित्यर्थः । तव ऊधसि भवमौधस्यं क्षीरम् । 'शरीरावयवाच्च' इति यत्प्रत्ययः । रक्षिताया उर्व्याः षष्ठांशं षष्ठभागमिव । 'ऋषेरनुज्ञामधिगम्य उपभोक्तुमिच्छामि ॥ ६६ ॥

हे मां! मैं बछड़े के पीने से तथा होमरूप प्रयोजन के अनुष्ठान (अग्निहोत्रादि) से बचे हुवे तुम्हारे स्तनों से निकले हुवे दूध को पालन की गई पृथ्वी के षष्ठांश (छठा भाग रूप) करके तरह ऋषि वसिष्ठ की आज्ञा प्राप्त करके पीना चाहता हूँ॥ ६६॥

इत्थं क्षितीशेन वसिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव।
तदन्विता हैमवताच्च कुक्षेः प्रत्याययावाश्रममश्रमेण॥ ६७॥

इत्थमिति। इत्थं क्षितीशेन विज्ञापिता वसिष्ठस्य धेनुः प्रीततरा, पूर्वं शुश्रूषया प्रीता सम्प्रत्यनया विज्ञापनया प्रीतितराऽतिसन्तुष्टा बभूव। तदन्विता तेन दिलीपेनान्विता हैमवताद्धिमवत्सम्बन्धिनः कुक्षेर्गुहायाः सकाशादश्रमेणानायासेनाश्रमं प्रत्यययावागता च॥ ६७॥

इस प्रकार से राजा दिलीप की प्रार्थना करने से वसिष्ठ महर्षि की धेनु नन्दिनी अत्यन्त प्रसन्न हुई और दिलीप से युक्त होती हुई हिमालय की गुफा से बिना परिश्रम के आश्रम की तरफ लौटी॥ ६७॥

तस्या प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य।
प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव॥ ६८॥

तस्या इति। प्रसन्नेन्दुरिव मुखं यस्य स नृपाणां गुरुर्दिलीपः प्रहर्षचिह्नैर्मुखरागादिभिरनुमितमूहितं तस्या धेनोः प्रसादमनुग्रहं प्रहर्षचिह्नैरेव ज्ञातत्वात्पुनरुक्तयेव वाचा गुरवे निवेद्य विज्ञाप्य पश्चात्प्रियायै शशंस। कथितस्यैव कथनं पुनरुक्तिः। न चेह तदस्ति। किन्तु चिह्नैः कथितप्रायत्वात्पुनरुक्तयेव स्थितयेत्युत्प्रेक्षा॥ ६८॥

निर्मल चन्द्रमा की भाँति स्वच्छ मुखवाले राजाओं में श्रेष्ठ दिलीप ने अधिक प्रसन्नता के द्योतक मुख की लालिमा आदि चिह्नों से जिसका अनुमान हो रहा था, ऐसे उस नन्दिनी के वरप्रदानरूपी अनुग्रह को हर्ष के जानने वाले चिह्नों से कहने से पहिले ही मालूम हो जाने से दुबारा कही जाती हुई की भाँति वाणी के द्वारा गुरु जी से निवेदन किया पश्चात् प्यारी पटरानी सुदक्षिणा से भी कहा॥ ६८॥

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम्।
पपौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्त्तमिवातितृष्णः॥ ६९॥

स इति। अनिन्दितात्माऽगर्हितस्वभावः। सत्सु वत्सलः प्रेमवान्सद्वत्सलः। 'वत्सांसाभ्यां कामबले' इति लच्प्रत्ययः। वसिष्ठेः कृताभ्यनुज्ञः। कृतानुमतिः स राजा वत्सस्य हुतस्य चावशेषं पीतहुतावशिष्टं नन्दिन्याः स्तन्यं क्षीरं शुभ्रं मूर्त्तं परिच्छिन्नं यश इव। अतितृष्णः सन् पपौ॥ ६९॥

प्रशंसनीय स्वभाव वाले, सज्जनों से प्रेम रखने वाले, वसिष्ठ महर्षि की आज्ञा को प्राप्त किये हुए, उन राजा दिलीप ने बछड़े के पीने से तथा अग्निहोत्र से बचे हुए नन्दिनी

के दूध को सफेद मूर्ति को धारण किये हुए यश की भांति अधिक तृष्णा से युक्त होते हुए पिया ॥ ६९ ॥

प्रातर्यथोक्तव्रतपारणाऽन्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य ।
तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः ॥७०॥

प्रातरिति । वशी वसिष्ठः प्रातः । यथोक्तस्य व्रतस्य गोसेवारूपस्याङ्गभूता या पारणा तस्या अन्ते प्रास्थानिकं प्रस्थानकाले भवं तत्कालोचितमित्यर्थः । 'कालाठञ्' इति ठञ्प्रत्ययः । 'यथा कथंचिद् गुणवृत्त्याऽपि काले वर्त्तमानत्वात् प्रत्यय इष्यते' इति वृत्तिकारः । ईयते प्राप्यतेऽनेनेत्ययनं स्वस्त्ययनं शुभावहमाशीर्वादं प्रयुज्य तौ दम्पति स्वां राजधानीं प्रति प्रस्थापयामास ॥ ७० ॥

इन्द्रियों के ऊपर अपनी प्रभुता रखने वाले (जितेन्द्रिय) वशिष्ठ महर्षि ने प्रातः-काल में पूर्वोक्त गोसेवारूप व्रत की पारणा कर चुकने के बाद प्रस्थान-कालोचित स्वस्त्ययन करके उन दोनों स्त्री-पुरुष सुदक्षिणा और दिलीप को उनकी राजधानी अयोध्या की तरफ भेजा ॥ ७० ॥

प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्त्तुररुन्धतीं च ।
धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः ॥ ७१ ॥

प्रदक्षिणीकृत्येति । नृपो हुतं तर्पितं, हुतमश्नातीति हुताशोऽग्निः । 'कर्मण्यण्' । तं भर्त्तुर्मुनेरनन्तरम् प्रदक्षिणानन्तरमित्यर्थः । 'अरुन्धतीं च सवत्सां धेनुं च प्रदक्षिणीकृत्य प्रगतो दक्षिणम् । 'तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च' इत्यव्ययीभावः । ततश्च्विः । अप्रदक्षिणं सम्पद्यमानं कृत्वा प्रदक्षिणीकृत्य सद्भिर्मङ्गलाचारैरुदग्रतरप्रभावः सन् प्रतस्थे ॥

राजा दिलीप ने आहुति दिए हुए अग्नि की तथा रक्षा करने वाले वसिष्ठ जी की प्रदक्षिणा कर चुकने के बाद उनकी पत्नी अरुन्धती तथा बछड़े के सहित नन्दिनी की भी प्रदक्षिणा करके अच्छे मङ्गलमय प्रदक्षिणा आदि करने से बढ़े हुये तेज वाले होते हुए प्रस्थान किया ॥ ७१ ॥

श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः ।
ययावनुद्घातसुखेन मार्गं स्वेनेव पूर्णेन मनोरथेन ॥ ७२ ॥

श्रोत्रेति । धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुर्व्रतादिदुःखसहनशीलः स नृपः श्रोत्राभिरामध्वनिना कर्णाह्लादकरस्वनेनानुद्घातः । पाषाणादिप्रतिघातरहितः । अत एव सुखयतीति सुखः, तेन रथेन स्वेन पूर्णेन सफलेन मनोरथेनेव मार्गमध्वानं ययौ । मनोरथपक्षे-ध्वनिः श्रुतिः । अनुद्घातः प्रतिबन्धनिवृत्तिः ॥ ७२ ॥

धर्मपत्नी सुदक्षिणा के सहित व्रतादि सम्बन्धी दुःखों के सहन करने वाले उन राजा दिलीप ने कानों को सुख देनेवाली है ध्वनि जिसकी, तथा नीचे ऊँचे पत्थरों के ठोकर लगने से जिसमें से नहीं गिर सकता, अत एव सुखप्रद रथ से जो सुनने से कानों को

सुख देने वाला है तथा प्रतिबन्ध के दूर हो जाने से आनन्दप्रद है ऐसे अपने सफल हुए मनोरथ के समान रास्ता को तय करने लगे ॥ ७२ ॥

तमाहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजाऽर्थव्रतकर्शिताङ्गम् ।
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम् ॥ ७३ ॥

तमिति। अदर्शनेन प्रवासनिमित्तेनाहितौत्सुक्यं जनितदर्शनोत्कण्ठ्यम्। प्रजाऽर्थेन सन्तानार्थेन व्रतेन नियमेन कर्शितं कृशीकृतमङ्गं यस्य तम्। नवोदयं नवाभ्युदयं प्रजास्तृप्तिमनाप्नुवद्भिरतिगृध्नुभिर्नेत्रैः। औषधीनां नाथं सोममिव तं राजानं पपुः। अत्यास्थया ददृशुरित्यर्थः। चन्द्रपक्षे–अदर्शनं कलाक्षयनिमित्तं प्रजाऽर्थं लोकहितार्थं व्रतं देवताभ्यः कलादाननियमः (तं च सोमं पपुर्देवाः पर्यायेणानुपूर्वशः) इति व्यासः। उदय आविर्भावः। अन्यत्समानम् ॥ ७३ ॥

प्रवास करने के कारण से नहीं देख पड़ने से 'चन्द्रपक्ष में' कला के क्षय हो जाने से नहीं दीख पड़ने से लोगों से देखने की उत्कण्ठा जिसने उत्पन्न करा दी है तथा पुत्र के लिए गोसेवारूप व्रत करने से जिनका शरीर कृश हो गया है 'चन्द्रपक्ष में' लोक के हित के लिये देवताओं को अमृतरूपी कलाओं के दानरूपी नियम से जिनका शरीर कृश हो गया है, तथा जिनकी नवीन उन्नति हुई है 'चन्द्रपक्ष में' जिनका नवीन आविर्भाव हुआ है, ऐसे औषधियों के स्वामी चन्द्रमा की भांति उन राजा दिलीप को प्रजाओं ने अतृप्त नेत्रों से देखा ॥ ७३ ॥

पुरन्दरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः ।
भुजे भुजङ्गेन्द्रसमानसारे भूयः स भूमेर्धुरमाससञ्ज ॥ ७४ ॥

पुरन्दरेति। पुरः पुरीरसुराणां दारयतीति पुरन्दरः शक्रः। 'पूःसर्वयोर्दारिसहोः' इति खच्प्रत्ययः। 'वाचंयमपुरन्दरौ च' मुमागमो निपातितः। तस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य स नृपः पौरैरभिनन्द्यमानः। उत्पताकमुच्छ्रितध्वजम्। 'पताका वैजयन्ती स्यात् केतनं ध्वजमस्त्रियाम्' इत्यमरः। पुरं प्रविश्य भुजङ्गेन्द्रेण समानसारे तुल्यबले। 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु' इत्यमरः। भुजे भूयो भूमेर्धुरमाससञ्ज स्थापितवान् ॥ ७४ ॥

इन्द्र के समान कान्ति वाले उन राजा दिलीप ने पुरवासियों से अभिनन्दन किये जाते हुए, जिसमें पताकायें फहरा रही थीं, ऐसे 'अयोध्या' नामक नगर में प्रवेश करके सर्पराज वासुकि के समान बल रखने वाले बाहु पर फिर पृथ्वी के पालनरूप भार को धारण किया ॥ ७४ ॥

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमैशम् ।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः ॥७५॥

अथेति। अथ द्यौः सुरवर्त्म। 'द्यौः स्वर्गसुरवर्त्मनोः' इति विश्वः। अत्रेर्महर्षेर्नय-

नयोः समुत्थमुत्पन्नं नयनसमुत्थम् । 'आतश्चोपसर्गे'इति कप्रत्ययः । ज्योतिरिव चन्द्रमिवेत्यर्थः । 'अत्रेशः स्यादत्रिनेत्रप्रसूतः' इति हलायुधः । चन्द्रस्यात्रिनेत्रोद्भूतत्वमुक्तं हरिवंशे 'नेत्राभ्यां वारि सुस्राव दशधा द्योतयद्दिशः । तद्गर्भविधिना हृष्टा दिशो देव्यो दधुस्तदा ॥ समेत्य धारयामासुर्न च ताः समशक्नुवन् । स ताभ्यः सहसैवाथ दिग्भ्यो गर्भः प्रभावितः । पपात भासयंल्लोकाञ्छीतांशुः सर्वभावनः ।' इति । सुरसरिद् गङ्गा वह्निना निष्ठ्यूतं निक्षिप्तं 'च्छ्वोःशूडनुनासिके च' इत्यनेन निपूर्वात् ष्ठीवतेर्वकारस्य ऊठ् । 'नुत्तनुन्नास्तनिष्ठ्यूताविद्धक्षिप्तेरिताः समाः' इत्यमरः । ऐशं तेजः स्कन्दमिव । अत्र रामायणम्-(ते गत्वा पर्वतं राम कैलासं धातुमण्डितम् । अग्निं नियोजयामासुः पुत्रार्थं सर्वदेवताः । देवकार्यमिदं देव ! समाधत्स्व हुताशन ! शैलपुत्र्यां महातेजो गङ्गायां तेज उत्सृज । देवतानां प्रतिज्ञाय गङ्गामभ्येत्य पावकः । गर्भं धारय वै देवि ! देवतानामिदं प्रियम् । इत्येतद्वचनं श्रुत्वा दिव्यं रूपमधारयत् । सा तस्या महिमां दृष्ट्वा समन्तादवकीर्य च । समन्ततस्तु तां देवीमभ्यषिञ्चत पावकः । सर्वस्रोतांसि पूर्णानि गङ्गाया रघुनन्दन ! । इति ।) राज्ञी सुदक्षिणा नरपतेर्दिलीपस्य कुलभूत्यै संततिलक्षणायै गुरुभिर्महद्भिर्लोकपालानामनुभावैस्तेजोभिरभिनिविष्टमनुप्रविष्टं गर्भमाधत्त दधावित्यर्थः । अत्र मनुः-(अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः) इति । आधत्त इत्यनेन स्त्रीकर्तृकधारणमात्रमुच्यते । तथा मन्त्रे च दृश्यते—(यथेयं पृथिवी मह्युत्ताना गर्भमादधे । एवं तं गर्भमाधेहि दशमे मासि सूतवे) । इत्याश्वलायनानां सीमन्तमन्त्रे स्त्रीव्यापारधारण आधानशब्दप्रयोगदर्शनादिति । मालिनीवृत्तमेतत् । तदुक्तम्—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति लक्षणात् ॥ ७५ ॥

इति संजीवनीव्याख्यायां नन्दिनीवरदानो नाम द्वितीयः सर्गः ।

इसके बाद आकाश ने जैसे अत्रि मुनि के नेत्रों से उत्पन्न ज्योतिःस्वरूप चन्द्रमा को और देवनदी गंगाजी ने जैसे अग्नि से फेंके हुये शंकरसम्बन्धी (स्कन्दको पैदा करने वाले) वीर्य को धारण किया उसी भांति रानी सुदक्षिणा ने भी राजा दिलीप के कुल की 'सन्तानरूप' सम्पत्ति के लिए श्रेष्ठ लोकपालों के तेज से गर्भ को धारण किया ॥ ७५ ॥

इति रघुवंशमहाकाव्ये द्वितीयः सर्गः ।

तृतीयः सर्गः ।

'राज्ञी गर्भमाधत्त' (२-७५) इत्युक्तं । सम्प्रति गर्भलक्षणानि वर्णयितुं प्रस्तौति—

अथेप्सितं भर्त्तुरुपस्थितोदयं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम् ।
निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः सुदक्षिणा दौर्हृदलक्षणं दधौ ॥ १ ॥

उपाधिगम्योऽप्यनुपाधिगम्यः समावलोक्योऽप्यसमावलोक्यः ।
भावोऽपि योऽभूदभवः शिवोऽयं जगत्यपायादपि नः स पायात् ॥

अथेति । अथ गर्भधारणानन्तरं सुदक्षिणा उपस्थितोदयं प्राप्तकालं भर्तुर्दिलीपस्येप्सितं मनोरथम् । भावे क्तः । पुनः सखीजनस्योद्वीक्षणानां दृष्टीनां कौमुदीमुखं चन्द्रिकाप्रादुर्भावम् । यद्वा कौमुदी नाम दीपोत्सवतिथिः । तदुक्तं भविष्योत्तरे— (कौ मोदन्ते जना यस्यां तेनासौ कौमुदी मता) इति । तस्या मुखं प्रारम्भम् । 'सखीजनोद्वीक्षणकौमुदी' इति पाठं केचित्पठन्ति । इक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेरविच्छेदस्य निदानं मूलकारणम् । 'निदानं त्वादिकारणम्' इत्यमरः । एवंविधं दौर्हृदलक्षणं गर्भचिह्नं वक्ष्यमाणं दधौ । स्वहृदयेन गर्भहृदयेन च द्विहृदया गर्भिणी । यथाऽह वाग्भटः-(मातृजमस्य हृदयं मातुश्च हृदयेन तत् । सम्बद्धं तेन गर्भिण्याः श्रेष्ठं श्रद्धाभिमानम् ।) इति । तत्सम्बन्धित्वाद् गर्भो दौर्हृदमित्युच्यते । सा च तद्योगाद्दौर्हृदिनीति । तदुक्तं संग्रहे-(द्विहृदयां नारीं दौर्हृदिनीमाचक्षते) इति । अत्र दौर्हृदलक्षणस्येप्सितत्वेन कौमुदीमुखत्वेन च निरूपणाद् रूपकालङ्कारः । अस्मिन् सर्गे वंशस्थं वृत्तम्—(जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ) इति लक्षणात् ॥ १ ॥

उस के बाद रानी सुदक्षिणा ने जिसका समय उपस्थित हो गया है और जो स्वामी महाराज दिलीप का अभीष्ट है तथा सखी लोगों के नेत्रों को आह्लादित करने वाली चन्द्रिका का जो प्रादुर्भावस्वरूप है और जो इक्ष्वाकुवंश के सन्तान (पुत्र) का मुख्य कारण है, ऐसे गर्भ के लक्षण जो कि आगे शरीर की कृशता आदि से कहे जायेंगे उसको धारण किया ॥१॥

सम्प्रति क्षामताऽऽख्यं गर्भलक्षणं वर्णयति—

शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन साऽलक्ष्यत लोध्रपाण्डुना ।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ॥ २ ॥

शरीरेति । शरीरस्य सादात्कार्श्यादसमग्रभूषणा परिमिताभरणा लोध्रपुष्पेणेव पाण्डुना मुखेनोपलक्षिता सा सुदक्षिणा । विचेया मृग्यास्तारका यस्यां सा तथोक्ता । विरलनक्षत्रेत्यर्थः । तनुप्रकाशेनाल्पकान्तिना शशिनोपलक्षितेषदसमाप्तप्रभाता प्रभातकल्पा । प्रभातादीषदूनेत्यर्थः । 'तसिलादिष्वाकृत्वसुच' इति प्रभातशब्दस्य पुंवद्भावः । शर्वरी रात्रिरिव । अलक्ष्यत । शरीरसादादिगर्भलक्षमाह वाग्भटः—

(क्षामता गरिमा कुचेर्मूर्च्छा छर्दिररोचकम् । जृम्भा प्रसेकः सदनं रोमराज्याः प्रकाशनम्) ॥ इति ॥ २ ॥

शरीर के कृश हो जाने के कारण से सारे आभूषणों को नहीं पहने हुई लोध्र के फूल के रङ्ग की तरह पाण्डु वर्ण वाले मुख से उपलक्षित (लक्ष्य की जाती हुई) उस रानी सुदक्षिणा को गिने जाने लायक (विरल) नक्षत्रों वाली थोड़ी कान्ति से युक्त चन्द्रमा से उपलक्षित सबेरा होने में थोड़ी ही देरी जिसमें है, ऐसी रात्रि के समान लोगोंने देखा ॥२॥

तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ ।
करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचां शुचिव्यपाये वनराजिपल्वलम् ॥ ३ ॥

तदिति । क्षितीश्वरो रहसि मृत्सुरभि मृदा सुगन्धि तस्या आननं तदाननं सुदक्षिणामुखमुपाघ्राय तृप्तिं न ययौ । कः कमिव । शुचिव्यपाये ग्रीष्मावसाने । 'शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृङ्गाराषाढयोः सिते । ग्रीष्मे हुतवहेऽपि स्यादुपधाशुद्धमन्त्रिणि' इति विश्वः । पयोमुचां मेघानां पृषतैर्बिन्दुभिः । 'पृषन्ति बिन्दुपृषताः' इत्यमरः । सिक्तमुक्षितं वनराज्याः पल्वलमुपाघ्राय करी गज इव । अत्र करिवनराजिपल्वलानां कान्तकामिनीवदनसमाधिरनुसन्धेयः । गर्भिणीनां मृद्भक्षणं लोकप्रसिद्धमेव । एतेन दोहदाख्यं गर्भलक्षणमुच्यते ॥ ३ ॥

पृथ्वी के स्वामी राजा दिलीप ने एकान्त में मिट्टी के खाने से सुगन्ध युक्त उस सुदक्षिणा के मुख को सूंघ कर, गर्मी के अन्त में मेघों के बूंदों से सींचे हुए वन की कतारों के बीच में स्थित छोटे तालाब (थोड़े जल वाले गड्ढे) को सूंघ कर हाथी के समान तृप्ति को नहीं प्राप्त किया ॥ ३ ॥

दौर्हृदलक्षणे मृद्भक्षणे हेत्वन्तरमुत्प्रेक्षते—

दिवं मरुत्वानिव भोक्ष्यते भुवं दिगन्तविश्रान्तरथो हि तत्सुतः ।
अतोऽभिलाषे प्रथमं तथाविधे मनो बबन्धान्यरसान्विलङ्घ्य सा ॥४॥

दिवमिति । हि यस्माद्दिगन्तविश्रान्तरथश्चक्रवर्ती तस्याः सुतस्तत्सुतः । मरुत्वानिन्द्रः । 'इन्द्रो मरुत्वान्मघवा' इत्यमरः । दिवं स्वर्गमिव भुवं भोक्ष्यते । 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदम् । अतः प्रथमं सा सुदक्षिणा तथाविधे भूविकारे मृद्रूपे । अभिलष्यत इत्यभिलाषो भोज्यवस्तु तस्मिन् । कर्मणि घञ्प्रत्ययः । रस्यन्ते स्वाद्यन्त इति रसा भोग्यार्थाः । अन्ये च ते रसाश्च तान्विलङ्घ्य विहाय मनो बबन्ध । विदधावित्यर्थः । दोहदहेतुकस्य मृद्भक्षणस्य पुत्रभूभोगसूचनार्थत्वमुत्प्रेक्षते ॥ ४ ॥

क्योंकि दिशाओं के अन्त में रथ को विश्राम कराने (पहुँचाने) वाला (चक्रवर्ती) उस (सुदक्षिणा) का पुत्र इन्द्र जैसे स्वर्गका भोग करता है उसी भांति पृथ्वी का भोग करेगा इस कारण से प्रथम उस (सुदक्षिणा) ने उस प्रकार के मिट्टीरूप भोग्यवस्तु में अन्य चखने लायक वस्तुओं को छोड़ कर मन लगाया ॥ ४ ॥

न मे ह्रिया शंसति किञ्चिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकोसलेश्वरः ॥ ५ ॥

नेति। मगधस्य राज्ञोऽपत्यं स्त्री मागधी सुदक्षिणा। 'वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्' 'द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्' इत्यण्प्रत्ययः। ह्रिया किञ्चित् किमपीप्सितमिष्टं मे मह्यं न शंसति नाचष्टे। केषु वस्तुषु स्पृहावतीत्यनुवेलमनुक्षणमादृत आदृतवान्। कर्तरि क्तः। 'आदृतौ सादरार्चितौ' इत्यमरः। प्रियायाः सखीः सहचरीरुत्तरकोसलेश्वरो दिलीपः। पृच्छति स्म पप्रच्छ। 'लट् स्मे' इत्यनेन भूतार्थे लट्। सखीनां विश्रम्भभूमित्वादिति भावः॥ ५॥

मगध देश के राजा की लड़की रानी सुदक्षिणा लज्जा से किसी अभिलाषा को मुझसे नहीं प्रकट करती है, अतः किन वस्तुओं में पाने की उस की इच्छा रहती है। इस बात को वारंवार आदरपूर्वक रानी की सखियों से उत्तरकोशल देश के अधिपति राजा दिलीप पूछा करते थे॥ ५॥

उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम्।
न हीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेरभूदनासाद्यमधिज्यधन्वनः ॥ ६ ॥

उपेत्येति। दोहदं गर्भिणीमनोरथः। 'दोहदं दौर्हृदं श्रद्धा लालसेन समं स्मृतम्' इति हलायुधः। सा सुदक्षिणा दोहदेन गर्भिणीमनोरथेन दुःखशीलतां दुःखस्वभावमुपेत्य प्राप्य यद्वस्तु वव्रे आचकांक्ष तदाहृतमानीतम्। भर्त्रेति शेषः। अपश्यदेव अलभतेत्यर्थः। कुतः। हि यस्मादस्य भूपतेस्त्रिदिवेऽपि स्वर्गेऽपीष्टं वस्त्वनासाद्यमनवाप्यं नाभूत्। किं याच्ञया? नेत्याह—अधिज्यधन्वन इति। नहि वीरपत्नीनामलभ्यं नाम किञ्चिदस्तीति भावः। अत्र वाग्भटः—(पादशोफो विदाहोऽन्ते श्रद्धा च विविधात्मिका) इति। एतच्च पत्नीमनोरथपूरणाकरणे दृष्टदोषसम्भवाद् न तु राज्ञः प्रीतिलौल्यात्। तदुक्तम्—(देयमप्यहितं तस्यै हितोपहितमल्पकम्। श्रद्धाविघाते गर्भस्य विकृतिश्च्युतिरेव वा।) अन्यत्र च—(दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात्) इति॥ ६॥

उस सुदक्षिणा ने गर्भिणियों का मनोरथ द्वारा जो दुःख पाने का स्वभाव है उसे पाकर जिस वस्तु के पाने की इच्छा की उसी को महाराज दिलीप से तुरत मंगवाई गई देखा। क्योंकि—धनुष को चढ़ाये हुए इन महाराज दिलीपके स्वर्ग में भी वाञ्छित वस्तु हो तो वह भी पाने के लायक नहीं हुई यह नहीं कह सकते अर्थात् पाने के योग्य ही हुई॥ ६॥

क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा।
पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा ॥ ७ ॥

क्रमेणेति। सा सुदक्षिणा क्रमेण दोहदव्यथां च निस्तीर्य प्रचीयमानावयवा

पुष्यमाणावयवा सती । पुराणपत्राणामपगमानन्तरं सनद्धाः सञ्जाताः प्रत्यग्रत्वान्मनोज्ञाः पल्लवा यस्या सा लतेव रराज ॥ ७ ॥

और वह रानी सुदक्षिणा क्रम से गर्भिणियों के मनोरथ से जो व्यथा होती है, उसे अतिक्रमण करके, जिस के अवयव पुष्ट हो रहे हैं, ऐसी होती हुई पुराने पत्तों के गिरने के बाद, नवीन होने से सुन्दर पल्लव जिसमें उत्पन्न हो गये हैं ऐसी लता के समान सुशोभित हुई ॥ ७ ॥

लक्षणान्तरं वर्णयति—

दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम् ।
तिरश्चकार भ्रमराभिलीनयोः सुजातयोः पङ्कजकोशयोः श्रियम् ॥ ८ ॥

दिनेष्विति । दिनेषु दोहददिवसेषु गच्छत्सु सत्सु नितान्तपीवरमतिस्थूलम् । आसमन्तान्नीले मुखे चूचुके यस्य तत् । तदीयं स्तनद्वयम् । भ्रमरैरभिलीनयोरभिव्याप्तयोः सुजातयोः सुन्दरयोः पङ्कजकोशयोः पद्ममुकुलयोः श्रियं तिरश्चकार । अत्र वाग्भटः–(अश्लेष्टता स्तनौ पीनौ श्वेतान्तौ कृष्णचूचुकौ) इति ॥ ८ ॥

कुछ दिन व्यतीत होने पर अत्यन्त मोटे और चारों तरफ से नील वर्ण मुख वाले उस सुदक्षिणा के दोनों कुचों ने भौंरों से व्याप्त सुन्दर कमल की दो कलियों को शोभा को 'अपनी शोभा से' नीचा कर दिया ॥ ८ ॥

निधानगर्भामिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम् ।
नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत ॥ ९ ॥

निधानेति । नृपः ससत्त्वामापन्नसत्त्वां गर्भिणीमित्यर्थः । 'आपन्नसत्त्वा स्याद् गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी' इत्यमरः । महिषीं, निधानं निधिर्गर्भे यस्यास्तां सागराम्बरां समुद्रवसनाम् भूमिमिवेत्यर्थः । 'भूतधात्री रत्नगर्भा जगती सागराम्बरा' इति कोशः । अभ्यन्तरे लीनः पावको यस्यास्तां शमीमिव । शमीतरौ वह्निरस्तीत्यत्र लिङ्गं 'शमीगर्भादग्निं जनयतीति' । अन्तःसलिलामन्तर्गतजलां सरस्वतीं नदीमिव । अमन्यत । एतेन गर्भस्य भाग्यवत्त्वतेजस्वित्वपावनत्वानि विवक्षितानि ॥ ९ ॥

राजा दिलीप ने गर्भिणी रानी सुदक्षिणा को, गर्भ में रत्नों के निधि को रखने वाली पृथ्वी तथा भीतर में छिपी हुई अग्नि को रखने वाले शमी वृक्ष और अन्तर्गत जल वाली सरस्वती नदी के समान समझा ॥ ९ ॥

प्रियाऽनुरागस्य मनःसमुन्नतेर्भुजार्जितानां च दिगन्तसम्पदाम् ।
यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रिया धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः ॥ १० ॥

प्रियेति । धीरः स राजा प्रियायामनुरागस्य मनसः समुन्नतेरौदार्यस्य भुजेन भुजबलेन करेण वाऽर्जितानां, न तु वाणिज्यादिना । दिगन्तेषु सम्पदां धृतेः 'पुत्रो मे भविष्यती'ति सन्तोषस्य च । 'धृतेर्योगान्तरे धैर्यं धारणाध्वरतुष्टिषु' इति विश्वः ।

सदृशीरनुरूपाः । पुमान्सूयतेऽनेनेति पुंसवनं तदादिर्यासां ताः क्रिया यथाक्रमं क्रममनतिक्रम्य व्यधत्त कृतवान् । आदिशब्देनानवलोमनसीमन्तोन्नयने गृह्येते । अत्र (मासि द्वितीये तृतीये वा पुंसवनं यदा पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युक्तः स्यात्) इति पारस्करः । (चतुर्थेऽनवलोमनम्) इत्याश्वलायनः । (षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तोन्नयनम्) इति याज्ञवल्क्यः ॥ १० ॥

बुद्धिमान् उन राजा दिलीप का जैसा रानी सुदक्षिणा में स्नेह था, तथा जैसी उनमें मन की उदारता थी और बाहुबल से उपार्जित चारों दिशाओं के प्रान्त की जैसी सम्पत्ति थी, तथा मेरा पुत्र होगा इससे जितना सन्तोष था, उसके अनुरूप पुंसवन आदि सभी संस्कारों को जैसा जिसका क्रम है उसी क्रम से उन्होंने किया ॥ १० ॥

सुरेन्द्रमात्राऽऽश्रितगर्भगौरवात् प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः ।
तयोपचाराञ्जलिखिन्नहस्तया ननन्द पारिप्लवनेत्रया नृपः ॥ ११ ॥

सुरेन्द्रेति । गृहागतो नृपः सुरेन्द्राणां लोकपालानां मात्राभिरंशैराश्रितस्यानुप्रविष्टस्य गर्भस्य गौरवाद्भारात्प्रयत्नेन मुक्तासनया । आसनादुत्थितयेत्यर्थः । उपचारस्याञ्जलावञ्जलीकरणे खिन्नहस्तया पारिप्लवनेत्रया तरलाक्ष्या । 'चञ्चलं तरलं चैव पारिप्लवपरिप्लवः' इत्यमरः । तया सुदक्षिणया ननन्द । ('सुरेन्द्रमात्राऽऽश्रित' इत्यत्र मनुः–अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृपः) इति ॥ ११ ॥

गृह में आये हुए राजा दिलीप लोकपालों के अंशों से भरे हुये गर्भ की गुरुता से कोशिश करके अपने आसन का परित्याग किये हुई, तथा उपचारार्थ (प्रणाम करने के लिये) अञ्जलि बांधने में शिथिल हाथ वाली होती हुई, अत एव चञ्चल नेत्रों वाली उस रानी सुदक्षिणा से बहुत खुश हुये ॥ ११ ॥

कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भभर्मणि ।
पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्श काले दिवमभ्रितामिव ॥१२॥

कुमारेति । अथ कुमारभृत्या बालचिकित्सा । 'संज्ञायां समजनिषद–'इत्यादिना क्यप् । तस्यां कुशलैः कृतिभिः । 'कृती कुशल इत्यपि' इत्यमरः । आप्तैर्हितैर्भिषग्भिर्वैद्यैः । 'भिषग्वैद्यो चिकित्सके' इत्यमरः । गर्भस्य भर्मणि । 'भरणे पोषणे भर्म' इति हैमः । 'भृतिर्भर्म' इति शाश्वतः । भृञो मनिन्प्रत्ययः । 'गर्भकर्मणि' इति पाठे गर्भाधानप्रतीतावौचित्यभङ्गः । अनुष्ठिते कृते सति । काले दशमे मासि । अन्यत्र ग्रीष्मावसाने । प्रसवस्य गर्भमोचनस्योन्मुखीम् । आसन्नप्रसवामित्यर्थः । 'स्यादुत्पादे फले पुष्पे प्रसवो गर्भमोचने' इत्यमरः । प्रियां भार्याम् । अभ्राण्यस्याः सञ्जातान्यभ्रिता ताम् । 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' इतीतच्प्रत्ययः । दिवमिव । पतिर्भर्त्ता प्रतीतो हृष्टः सन् । 'ख्याते हृष्टे प्रतीतः' इत्यमरः । ददर्श दृष्टवान् ॥ १२ ॥

उसके (आसन्न प्रसव के लक्षण जानने के) बाद बालचिकित्सा में निपुण विश्वासपात्र वैद्यों के द्वारा गर्भ की रक्षा कर चुकने पर समय प्राप्त होने पर अर्थात् दशवें महीने में, 'आकाशपक्ष में' वर्षा ऋतु के आरम्भ काल में बच्चा जनने के तरफ उन्मुख होती हुई प्यारी पत्नी सुदक्षिणा को वर्षणोन्मुख मेघों से व्याप्त आकाश स्थली की भाँति स्वामी राजा दिलीप ने प्रसन्न होते हुये देखा ।। १२ ।।

ग्रहैस्ततः पञ्चभिरुच्चसंश्रयैरसूर्यगैः सूचितभाग्यसम्पदम् ।
असूत पुत्रं समये शचीसमा त्रिसाधना शक्तिरिवार्थमक्षयम् ॥ १३ ॥

ग्रहैरिति । ततः शच्येन्द्राण्या समा । 'पुलोमजा शचीन्द्राणी' इत्यमरः । सा सुदक्षिणा समये प्रसूतिकाले सति दशमे मासीत्यर्थः । (दशमे मासि जायते ।) इति श्रुतेः । उच्चसंश्रयैरुच्चसंस्थैस्तुङ्गस्थानगैरसूर्यगैरनस्तमितैः कैश्चिद् यथासम्भवं पञ्चभिर्ग्रहैः सूचिता भाग्यसम्पद्यस्य तं पुत्रम् । त्रीणि प्रभावमन्त्रोत्साहात्मकानि साधनान्युत्पादकानि यस्याः सा त्रिसाधना शक्तिः । 'शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजा' इत्यमरः । अक्षयमर्थमिव । असूत । 'षूङ् प्राणिगर्भविमोचने' इत्यात्मनेपदिषु पठ्यते । तस्माद्धातोः-कर्त्तरि लङ् । अत्रेदमनुसंधेयम्—(अजवृषभमृगाङ्गनाकुलीरा झषवणिजौ च दिवाकरादितुङ्गाः । दशशिखिमनुयुक्तिथीन्द्रियांशैस्त्रिनवकविंशतिभिश्च तेऽस्तनीचा ॥) इति सूर्यादीनां सप्तानां ग्रहाणां मेषवृषभादयो राशयः श्लोकोक्तक्रमविशिष्टा उच्चस्थानानि स्वस्वतुङ्गापेक्षया सप्तमस्थानानि च नीचानि । तत्रोच्चेष्वपि दशमादयो रात्रिंत्रिंशांशा यथाक्रममुच्चेषु परमोच्चा नीचेषु परमनीचा इति जातकश्लोकार्थः । अत्रांशस्त्रिंशो भागः । यथाऽऽह नारदः-(त्रिंशद्भागात्मकं लग्नम्) इति । सूर्यप्रत्यासत्तिर्ग्रहाणामस्तमयो नाम । तदुक्तं लघुजातके-(रविणाऽस्तमयो योगो वियोगस्तूदयो भवेत्) इति । ते च स्वोच्चस्थाः फलन्ति नास्तगा नापि नीचगाः । तदुक्तं राजमृगाङ्के—(स्वोच्चे पूर्णं स्वर्क्षकेऽर्द्धं सुहृद्भे पादं द्विड्भेऽल्पं शुभं खेचरेन्द्रः । नीचस्थायी नास्तगो वा न किञ्चित्पादं नूनं स्वत्रिकोणे ददाति ॥) इति तदिदमाह कविरुच्चसंस्थैरसूर्यगैरिति च । एवं सति यस्य जन्मकाले पञ्चप्रभृतयो ग्रहाः स्वोच्चस्थाः स एव तुङ्गो भवति । तदुक्तं कूटस्थीये—(सुखिनः प्रकृष्टकार्या राजप्रतिरूपकाश्च राजानः । एकद्वित्रिचतुर्भिर्जायन्तेऽतः परं दिव्याः ॥ इति) तदिदमाह पञ्चभिरिति ॥ १३ ॥

उसके बाद इन्द्राणी के तुल्य रानी सुदक्षिणा ने प्रसव का समय (दशवां महीना) होने पर उच्च स्थान में स्थित सूर्य के सान्निध्य से अस्त को नहीं प्राप्त होते हुये पाँच ग्रहों के द्वारा जिसकी भाग्यसम्पत्ति सूचित हो रही है ऐसे पुत्र को प्रभाव, उत्साह, मन्त्र इन तीन उपायों से उत्पन्न होने वाली शक्ति जैसे अक्षय अर्थ को उत्पन्न करती है, उस भाँति उत्पन्न किया ॥ १३ ॥

दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः प्रदक्षिणार्चिर्हविरग्निराददे।
बभूव सर्वं शुभशंसि तत्क्षणं भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम्॥ १४॥

दिश इति। तत्क्षणं तस्मिन् क्षणे। 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया। दिशः प्रसेदुः प्रसन्ना बभूवुः। मरुतो वाताः सुखा मनोहरा ववुः। अग्निः प्रदक्षिणार्चिः सन् हविराददे स्वीचकार। इत्थं सर्वं शुभशंसि शुभसूचकं बभूव। तथाहि। तादृशां रघुप्रकाराणां भवो जन्म लोकाभ्युदयाय। भवतीति शेषः। ततो देवा अपि सन्तुष्टा इत्यर्थः॥ १४॥

उस क्षण (रघु के जन्म समय) में दिशायें निर्मल हो गई, सुख पहुँचाने वाला जिसका स्पर्श है, ऐसा वायु बहने लगा। अग्नि, दक्षिण के तरफ घूमकर जिसकी ज्वाला निकल रही है ऐसा होता हुआ, हवि घृत आदि को ग्रहण करने लगा। इस प्रकार से सभी 'उस समय' शुभ-सूचक लक्षण होने लगे। क्योंकि इस तरह के महापुरुषों का जन्म जगत् के कल्याण के लिये होता है॥ १४॥

अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा।
निशीथदीपाः सहसा हतत्विषो बभूवुरालेख्यसमर्पिता इव॥ १५॥

अरिष्टशय्यामिति। 'अरिष्टं सूतिकागृहम्' इत्यमरः। अरिष्टे सूतिकागृहे शय्यां तल्पं परितोऽभितः 'अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति द्वितीया। विसारिणा सुजन्मनः शोभनोत्पत्तेः। 'जनुर्जननजन्मानि जनिरुत्पत्तिरुद्भवः' इत्यमरः। तस्य शिशोर्निजेन नैसर्गिकेण तेजसा सहसा हतत्विषः क्षीणकान्तयो निशीथदीपा अर्द्धरात्रप्रदीपाः। 'अर्धरात्रनिशीथौ द्वौ' इत्यमरः। आलेख्यसमर्पिताश्चित्रार्पिता इव बभूवुः। निशीथशब्दो दीपानां प्रभाऽऽधिक्यसम्भावनाऽर्थः॥ १५॥

सूतिकागृह में शय्या के चारों तरफ फैलने वाले, सुन्दर जन्म लेने वाले उस बालक रघु के स्वाभाविक तेज से एकाएक कान्ति क्षीण हो गयी है जिनकी ऐसे अर्धरात्रि के समय सभी प्रदीप चित्र में लिखे हुये की भांति हो गये अर्थात् मालूम पड़ने लगे॥ १५॥

जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसम्मिताक्षरम्।
अदेयमासीत् त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्रमुभे च चामरे॥ १६॥

जनायेति। भूपतेर्दिलीपस्यामृतसम्मिताक्षरममृतसमानाक्षरम्। 'सरूपसमसम्मिताः' इत्याह दण्डी। कुमारजन्म पुत्रोत्पत्तिं शंसते कथयते शुद्धान्तचरायान्तःपुरचारिणे जनाय त्रयमेवादेयमासीत्। तत् किं शशिप्रभमुज्ज्वलं छत्रम्। उभे चामरे च। छत्रादीनां राज्ञः प्रधानाङ्गत्वादिति भावः॥ १६॥

राजा दिलीप को अमृत के समान अक्षर हैं जिसके ऐसे 'पुत्र का जन्म हुआ है' इस बात को कहते हुये अन्तःपुर में चलने फिरने वाले जो लोग हैं, उनके लिये तीन ही

वस्तुएँ नहीं देने योग्य थीं, एक चन्द्र के समान उज्ज्वल वर्ण छत्र और दो चामर, बाकी कुल वस्तुएँ देने योग्य थीं ॥ १६ ॥

निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्तं पिबतः सुताननम् ।
महोदधेः पूर इवेन्दुदर्शनाद् गुरुः प्रहर्षः प्रबभूव नात्मनि ॥ १७ ॥

निवातेति । निवातो निर्वातप्रदेशः । 'निवातावाश्रयावातौ' इत्यमरः । तत्र यत् पद्म तद्वस्तिमितेन निष्पन्देन चक्षुषा नेत्रेण कान्तं सुन्दरं सुताननं पुत्रमुखं पिबतस्तृष्णया पश्यतो नृपस्य गुरुरुत्कटः प्रहर्षः (कर्त्ता) इन्दुदर्शनाद् गुरुर्महोदधेः पूरो जलौघ इव । आत्मनि शरीरे न प्रबभूव स्थातुं न शशाक । अन्तर्न माति स्मेति यावत् । न ह्यल्पाधारेऽधिकं मीयत इति भावः । यद्वा हर्ष आत्मनि स्वस्मिन्विषये न प्रबभूव । आत्मानं नियन्तुं न शशाक । किन्तु बहिर्निर्जगामेत्यर्थः ॥ १७ ॥

वायु से रहित प्रदेश में स्थित कमल की भाँति निश्चल नेत्रों से सुन्दर पुत्र के मुख को तृष्णापूर्वक देखते हुये राजा दिलीप का पुत्रदर्शन से उत्पन्न महान् आनन्द चन्द्र के देखने से महान् समुद्र के जल की वृद्धि के समान शरीर के भीतर ठहरने में समर्थ न हो सका किन्तु बाहर निकल पड़ा ॥ १७ ॥

स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते ।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ ॥ १८ ॥

स इति । दिलीपसूनुः । तपस्विना पुरोहितेन । 'पुरोधास्तु पुरोहितः' इत्यमरः । वसिष्ठेन । तपस्वित्वात्तदनुष्ठितं कर्म सवीर्यं स्यादिति भावः । तपोवनादेत्यागत्य । अखिले समग्रे जातकर्मणि कर्त्तव्यसंस्कारविशेषे कृते सति । प्रयुक्तः संस्कारः शाणोल्लेखनादिर्यस्य स तथोक्तः । आकरोद्भवः खनिप्रभवः । 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्' इत्यमरः । मणिरिव । अधिकं बभौ वसिष्ठमन्त्रप्रभावात्तेजिष्ठोऽभूदित्यर्थः । अत्र मनुः— (प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते) इति ॥ १८ ॥

वे राजा दिलीप के नवजात पुत्र, तपस्वी पुरोहित वसिष्ठ महर्षि के द्वारा तपोवन से आकर सम्पूर्ण जातकर्म नामक संस्कार विशेष के किये जाने पर जिसका शान पर चढ़ाना आदि संस्कार हो चुका है, ऐसे खान से निकले हुये मणि की भांति अधिक सुशोभित हुये ॥

सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ॥ १९ ॥

सुखेति । सुखः सुखकरः श्रवः श्रवणं येषां ते सुखश्रवाः श्रुतिसुखाः । मङ्गलतूर्यनिस्वना मङ्गलवाद्यध्वनयो वारयोषितां वेश्यानाम् । 'वारस्त्री गणिका वेश्या रूपाजीवा' इत्यमरः । प्रमोदनृत्यैर्हर्षनर्त्तनैः सह मागधीपतेर्दिलीपस्य सद्मनि केवलं गृह एव न व्यजृम्भन्त । किन्तु द्यौरोको येषां ते दिवौकस देवाः । पृषोदरादित्वात्साधुः । तेषां

पथ्याकाशेऽपि व्यजृम्भन्त। तस्य देवांशत्वाद् देवोपकारित्वाच्च देवदुन्दुभयोऽपि नेदुरिति भावः॥ १९॥

सुनने में सुखकर मङ्गलवाद्य मृदङ्ग आदि की ध्वनि, वेश्याओं के आनन्द सम्बन्धी नाच के साथ मगध देश के राजा की लड़की सुदक्षिणा के स्वामी महाराज दिलीप के गृह में ही केवल नहीं स्फुट हुआ, किन्तु देवताओं के मार्ग आकाश में भी स्फुट हुआ॥ १९॥

न संयतस्तस्य बभूव रक्षितुर्विसर्जयेद्यं सुतजन्महर्षितः।
ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलं तदा पितॄणां मुमुचे स बन्धनात्॥२०॥

नेति। रक्षितुः सम्यक्पालनशीलस्य तस्य दिलीपस्य। अत एव चौराद्यभावात् संयतो बद्धो न बभूव नाभूत्। किं तेनात आह—विसर्जयेदिति। सुतजन्मना हर्षितस्तोषितः सन् यं बद्धं विसर्जयेद्विमोचयेत्। किन्तु स राजा तदा पितॄणामृणाभिधानाद्बन्धनात्केवलमेकं यथा तथा स्वयमेव। एक एवेत्यर्थः। 'केवलः कृत्स्न एकश्च केवलश्चावधीरितः' इति शाश्वतः। मुमुचे कर्मकर्त्तरि लिट्। स्वयमेव मुक्त इत्यर्थः। अस्मिन्नर्थे–[एष वा अनृणो यः पुत्री] इति श्रुतिः प्रमाणम्॥ २०॥

भलीभाँति रक्षा करने वाले उन दिलीप महाराज का कोई कैदी नहीं था कि जिसे पुत्रजन्म से प्रसन्न होते हुए छोड़ें, किन्तु ये महाराज उस समय पितरों के ऋणरूपी बन्धन से अकेले स्वयं ही मुक्त हुये॥ २०॥

श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम्॥२१॥

श्रुतस्येति। अर्थविच्छब्दार्थज्ञः पार्थिवः पृथिवीश्वरो दिलीपः। अयमर्भको बालकः श्रुतस्य शास्त्रस्यान्तं पारं यायात्। तथा युधि परेषां शत्रूणामन्तं पारं च यायात्। यातुं शक्नुयादित्यर्थः। 'शकि लिङ् च' इति शक्यार्थे लिङ्। इति हेतोर्धातोः। 'अभिवविलघिगत्यर्थाः' इति लघिधातोर्गमनाख्यमर्थमर्थवित्त्वादवेक्ष्यालोच्य। आत्मसम्भवं पुत्रं नाम्ना रघुं चकार। 'लङ्घिबह्योर्नलोपश्च'। इत्युप्रत्यये 'बालमूललघ्वलमङ्गुलीनां वा लो रत्वमापद्यते' इति वैकल्पिके रेफादेशे रघुरिति रूपं सिद्धम्। अत्र शङ्खः 'आशौचे व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते' इति॥ २१॥

शब्दों के अर्थों को जानने वाले पृथ्वी के स्वामी राजा दिलीप ने यह बालक शास्त्र के पार को निश्चय जा सकेगा (जान सकेगा) तथा युद्ध में शत्रुओं के पार (नाश) को जा सकेगा (कर सकेगा) इस कारण लघि धातु के जाना रूप अर्थ को विचार कर अपने लड़के का रघु ऐसा नाम रखा॥ २१॥

पितुः प्रयत्नात्स समग्रसम्पदः शुभैः शरीरावयवैर्दिने दिने।
पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः॥ २२॥

पितुरिति। स रघुः समग्रसम्पदः पूर्णलक्ष्मीकस्य पितुर्दिलीपस्य प्रयत्नाच्छुभैर्म-

नोहरैः शरीरावयवैः । हरिदश्वदीधितेः सूर्यस्य रश्मेः । 'भास्वद्विवस्वत्सप्ताश्वहरिदश्वोष्णरश्मयः' इत्यमरः । अनुप्रवेशाद्बालचन्द्रमा इव दिने दिने प्रतिदिनम् । 'नित्यवीप्सयोः' इति द्विर्वचनम् । वृद्धिं पुपोष । अत्र वराहसंहितावचनम्–(सलिलमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्च्छितास्तमो नैशम् । क्षपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यान्तः) इति ॥ २२ ॥

वह बालक रघु पूर्ण सम्पत्तिशाली पिता दिलीप के प्रयत्न से मनोहर अङ्ग और उपाङ्गों से सूर्य की किरणों के भीतर प्रवेश करने से बाल चन्द्रमा (प्रतिपद् के चन्द्रमा) की भांति प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त करने लगा ॥ २२ ॥

उमावृषाङ्कौ शरजन्मना यथा यथा जयन्तेन शचीपुरन्दरौ ।
तथा नृपः सा च सुतेन मागधी ननन्दतुस्तत्सदृशेन तत्समौ ॥ २३ ॥

उमेति । उमावृषाङ्कौ पार्वतीवृषभध्वजौ शरजन्मना कार्त्तिकेयेन । 'कार्त्तिकेयो महासेनः शरजन्मा षडाननः' इत्यमरः । यथा ननन्दतुः । शचीपुरन्दरौ जयन्तेन जयन्ताख्येन सुतेन । 'जयन्तः पाकशासनिः' इत्यमरः । यथा ननन्दतुः । तथा तत्समौ ताभ्यामुमावृषाङ्काभ्यां शचीपुरन्दराभ्यां च समौ समानौ सा मागधी नृपश्च तत्सदृशेन ताभ्यां कुमारजयन्ताभ्यां सदृशेन सुतेन ननन्दतुः । मागधी प्रागव्याख्याता ॥ २३ ॥

पार्वती और भगवान् शङ्कर ने कार्त्तिकेय से और इन्द्राणी तथा इन्द्र ने जयन्त से जैसा आनन्द पाया, उसी तरह से उन दोनों (पार्वती और शङ्कर जी तथा इन्द्राणी और इन्द्र) के सदृश वह सुदक्षिणा और राजा दिलीप (इन दोनों) ने उन दोनों (कार्त्तिकेय और जयन्त) के सदृश पुत्र रघुसे आनन्द पाया ॥ २३ ॥

रथाङ्गनाम्नोरिव भावबन्धनं बभूव यत्प्रेम परस्पराश्रयम् ।
विभक्तमप्येकसुतेन तत्तयोः परस्परस्योपरि पर्यचीयत ॥ २४ ॥

रथाङ्गेति । रथाङ्गनाम्नी च रथाङ्गनामा च रथाङ्गनामानौ चक्रवाकी 'पुमान्स्त्रिया' इत्येकशेषः । तयोरिव तयोर्दम्पत्योर्भावबन्धनं हृदयाकर्षकं परस्पराश्रयमन्योन्यविषयं यत्प्रेम बभूव तदेकेन केवलेन ताभ्यामन्येन वा । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । सुतेन विभक्तमपि कृतविभागमपि परस्परस्योपरि पर्यचीयत ववृधे । कर्मकर्त्तरि लङ् । अकृत्रिमत्वात्स्वयमेवोपचितमित्यर्थः । यदेकाधारं वस्तु तदाधारद्वये विभज्यमानं हीयते । अत्र तु तयोः प्रागेकैककर्त्तृकमेकैकविषयं प्रेम सम्प्रति द्वितीयविषयलाभेऽपि नाहीयत । प्रत्युतोपचितमेवाभूदिति भावः ॥ २४ ॥

चकवा चकवी की भाँति उन दोनों (सुदक्षिणा और दिलीप) के हृदय को आकृष्ट करने वाला अन्योन्य विषयक जो प्रेम था वह केवल पुत्र रघु के द्वारा बट जाने पर भी परस्पर एक दूसरे के ऊपर बढ़ता गया ॥ २४ ॥

उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम्।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः॥ २५॥

उवाचेति। सोऽर्भकः शिशुः। 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः। धात्र्योपमात्रा। 'धात्री जनन्यामलकीवसुमत्युपमातृषु' इति विश्वः। प्रथममुदितमुपदिष्टं वच उवाच। तदीयामङ्गुलिमवलम्ब्य ययौ च। प्रणिपातस्य शिक्षयोपदेशेन नम्रोऽभूच्च। इति यत्तेन पितुर्मुदं ततान॥ २५॥

वह बालक रघु धाई के द्वारा पहले उच्चारण किये 'तात आदि' वचन का उच्चारण करने लगा और उसकी अङ्गुली का सहारा लेकर चलने लगा तथा प्रणाम करने की शिक्षा से बड़ों के सामने नम्र होने लगा, इन सब पूर्वोक्त प्रकारों से पिता के हर्ष को बढ़ाने लगा॥

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि।
उपान्तसंमीलितलोचनो नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ॥ २६॥

तमिति। शरीरयोगजैः सुखैस्त्वचि त्वगिन्द्रियेऽमृतं निषिञ्चन्तं वर्षन्तमिव तं पुत्रमङ्कमारोप्य मुदाविर्भावादुपान्तयोः प्रान्तयोः संमीलितलोचनः सन् नृपश्चिरात्सुतस्पर्शरसज्ञतां ययौ। रसः स्वादः॥ २६॥

'पुत्र के' अङ्ग के सङ्ग से उत्पन्न आनन्द के द्वारा मानो त्वचा पर अमृत बरसाते हुये उस पुत्र को गोद में बिठा कर नेत्रप्रान्त को बन्द किये हुये राजा दिलीप ने बहुत दिनों से अभिलषित पुत्र के स्पर्श सुख की अभिज्ञता को प्राप्त किया॥ २६॥

अमंस्त चानेन परार्ध्यजन्मना स्थितेरभेत्ता स्थितिमन्तमन्वयम्।
स्वमूर्त्तिभेदेन गुणाग्र्यवर्त्तिना पतिः प्रजानामिव सर्गमात्मनः॥२७॥

अमंस्तेति। स्थितेरभेत्ता मर्यादापालकः स नृपः परार्ध्यजन्मनोत्कृष्टजन्मनाऽनेन रघुणाऽन्वयं वंशम्। प्रजानां पतिर्ब्रह्मा। गुणाः सत्त्वादयः। तेष्वग्र्येण मुख्येन सत्त्वेन वर्त्तते व्याप्रियत इति गुणाग्र्यवर्त्ती तेन। स्वस्य मूर्त्तिभेदेनावतारविशेषेण विष्णुनाऽऽत्मनः सर्गं सृष्टिमिव। स्थितिमन्तं प्रतिष्ठावन्तममंस्त मन्यते स्म। मन्यतेरनुदात्तत्वादिट्प्रतिषेधः। अत्रोपमानोपमेययोरितरेतरविशेषणानीतरेतरत्र योज्यानि। तत्र रघुपक्षे गुणा विद्याविनयादयः। 'गुणोऽप्रधाने रूपादौ मौर्व्यां सूदे वृकोदरे। स्तम्बे सत्त्वादिसंध्यादिविद्याऽऽदिहरितादिषु॥' इति विश्वः। शेषं सुगमम्॥

मर्यादा की रक्षा करनेवाले राजा दिलीप ने उत्कृष्ट जन्मवाले इस रघुके द्वारा वंशको, जिस भाँति प्रजापति ब्रह्माजी सर्वगुणवाले अपने अवतार विशेष विष्णु भगवान्‌के द्वारा अपनी सृष्टि को स्थिर रहनेवाली मानते हैं उसी भाँति स्थिर रहने वाला माना॥ २७॥

स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्॥ २८॥

स इति। (चूडाकार्यं द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः। प्रथमेऽब्दे तृतीये वा

कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥) इति मनुस्मरणात्तृतीये वर्षे वृत्तचूलो निष्पन्नचूडाकर्मा सन् । डलयोरभेदः । स रघुः । (प्राप्ते तु पञ्चमे वर्षे विद्याऽऽरम्भं च कारयेत्) इति वचनात्पञ्चमे वर्षे । चलकाकपक्षकैश्चञ्चलशिखण्डकैः । 'बालानां तु शिखा प्रोक्ता काकपक्षः शिखण्डकः' इति हलायुधः । सवयोभिः स्निग्धैः ॥ 'वयस्यः स्निग्धः' इत्यमरः । अमात्यपुत्रैरन्वितः सन् लिपेः पञ्चाशद्वर्णात्मिकाया मातृकाया यथावद्ग्रहणेन सम्यग्बोधेनोपायभूतेन वाङ्मयं शब्दजातम् । नद्या मुखं द्वारम् । 'मुखं तु वदने मुख्यारम्भे द्वाराभ्युपाययोः' इति यादवः । तेन कश्चिन्मकरादिः समुद्रमिव । आविशत्प्रविष्टः । ज्ञातवानित्यर्थः ॥ २८ ॥

चूडाकर्म संस्कार हो चुकने पर उस बालक रघु ने चञ्चल शिखावाले अपने समवयस्क मन्त्रिपुत्रों के सहित वर्णमाला का भली भाँति परिचय पा चुकने पर उसी के द्वारा समस्त वाङ्मय में नदी के द्वारा मकरादि जैसे समुद्र में प्रवेश करते हैं, उसी भांति प्रवेश किया ॥

अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम् ।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति ॥ २९ ॥

अथेति । (गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् । गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भाच्च द्वादशे विशः ॥) इति मनुस्मरणादथ गर्भादेकादशेऽब्दे विधिवदुपनीतं गुरुप्रियमेनं रघुं विपश्चितो विद्वांसो गुरवो विनिन्युः शिक्षितवन्तः । ते गुरवोऽत्रास्मिन् रघाववन्ध्ययत्नाश्च बभूवुः । तथाहि । क्रिया शिक्षा । 'क्रिया तु निष्कृतौ शिक्षाचिकित्सायागकर्मसु' इति यादवः । वस्तुनि पात्रभूत उपहिता प्रयुक्ता प्रसीदति फलति । 'क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्' इति कौटिल्यः ॥ २९ ॥

इसके बाद गर्भ से ११ वें वर्ष में शास्त्रानुकूल उपनयन कर चुकने पर गुरुओं के प्रिय इन रघु को विद्वान् गुरु लोगों ने शिक्षा दी और वे गुरु लोग इन रघु के विषय में सफल श्रमवाले हुये, क्योंकि शिक्षा सत्पात्र को दी हुई फलवती होती है ॥ २९ ॥

धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः ।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः ॥ ३० ॥

धिय इति । अत्र कामन्दकः—शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा । ऊहापोहाऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणा ॥ इति । आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती । एता विद्याश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः ॥ इति च । उदारधीरुत्कृष्टबुद्धिः । स रघुः समग्रैर्धियो गुणैः । चत्वारोऽर्णवा उपमा यासां ताश्चतुरर्णवोपमाः । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्युत्तरपदसमासः । चतस्रो विद्याः । हरितां दिशामीश्वरः सूर्यः पवनातिपातिभिर्हरिद्भिर्निजाश्वैः । 'हरित्ककुभि वर्णे च तृणवाजिविशेषयोः' इति कोशः । चतस्रो दिश इव क्रमात्ततार । चतुरर्णवोपमात्वं दिशामपि द्रष्टव्यम् ॥

अच्छी बुद्धिवाले उन राजकुमार रघु ने समग्र (गुरुशुश्रूषा—श्रवण—ग्रहण—धारण—

ऊहापोह-अर्थज्ञान तत्त्वज्ञान) इन बुद्धि के गुणों के द्वारा चार समुद्र के समान चार (आन्वीक्षिकी वेदत्रयी-वार्ता-दण्डनीति आदि) विद्याओं को दिशाओं के स्वामी (सूर्य) जैसे पवन से भी अधिक वेगवान् अपने घोड़ों से चारों दिशाओं को क्रम से पार करते हैं, उसी भांति पार किया ॥ ३० ॥

त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत् ।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः ॥ ३१ ॥

त्वचमिति । स रघुः । 'कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः । वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च' इति मनुस्मरणान्मेध्यां शुद्धां रौरवीं रुरुसम्बन्धिनीम् । 'रुरुर्महाकृष्णसार' इति यादवः । त्वचं चर्म परिधाय वसित्वा मन्त्रवत्समन्त्रकमस्त्रमाग्नेयादिकं पितुरेवोपाध्यायादशिक्षताभ्यस्तवान् । 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादानसंज्ञा । पितुरेवेत्यवधारणमुपपादयति-नेति । तद्गुरुरेकोऽद्वितीयः पार्थिव केवलं पृथिवीश्वर एव नाभूत् । किन्तु क्षितौ स दिलीप एको धनुर्धरोऽप्यभूत् ॥३१॥

उस (रघु) ने पवित्र रुरु मृग के चर्म को धारण करके मन्त्रयुक्त (आग्नेयादि) अस्त्रों को पिता ही से सीखा, क्योंकि-उसके पिता (दिलीप महाराज) अद्वितीय चक्रवर्ती महाराज केवल न थे, किन्तु-पृथ्वी में वह अद्वितीय धनुर्धर भी थे ॥ ३१ ॥

महोक्षतां वत्सतरः स्पृशन्निव द्विपेन्द्रभावं कलभः श्रयन्निव ।
रघुः क्रमाद्यौवनभिन्नशैशवः पुपोष गाम्भीर्यमनोहरं वपुः ॥ ३२ ॥

महोक्षतामिति । रघुः क्रमाद्यौवनेन भिन्नशैशवो निरस्तशिशुभावः सन् । महानुक्षा महोक्षो महर्षभः 'अचतुरविचतुर' इत्यादिसूत्रेण निपातनादकारान्तत्वम् । तस्य भावस्तत्ता तां स्पृशन्गच्छन्वत्सतरो दम्य इव । 'दम्यवत्सतरौ समौ' इत्यमरः । द्विपेन्द्रभावं । महागजत्वं श्रयन्भजन्कलभः करिपोत इव । गाम्भीर्येणाचापलेन मनोहरं वपुः पुपोष ॥ ३२ ॥

रघु क्रम से युवावस्था के द्वारा लड़कपन दूर होने पर बड़े भारी बैल के भावको प्राप्त किये हुये दमन करने लायक बछड़े की भांति तथा गजराज के भाव (स्वभाव) को प्राप्त किये हुये हाथीके बच्चे की भांति चञ्चलता न होने से सुन्दर शरीरको पुष्ट करने लगे ॥३२॥

अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्त्तयद् गुरुः ।
नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः ॥ ३३ ॥

अथेति । 'गौर्नाऽऽदित्ये बलीवर्दे क्रतुभेदर्षिभेदयोः । स्त्री तु स्याद्दिशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि । पुंस्त्रियोः स्वर्गवज्राम्बुरश्मिदृग्बाणलोमसु ॥' इति केशवः । गावो लोमानि केशा दीयन्ते खण्ड्यन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या गोदानं नाम ब्राह्मणादीनां षोडशादिषु वर्षेषु कर्त्तव्यं केशान्ताख्यं कर्मोच्यते । तदुक्तं मनुना—(केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते । राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥

इति । अथ गुरुः पिता 'गुरुः गीष्पतिपित्रादौ' इत्यमरः । अस्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्त्तयत् । कृतवानित्यर्थः । अथ नरेन्द्रकन्यास्तं रघुम् । दक्षस्य सुता रोहिण्यादयस्तमोनुदं चन्द्रमिव । 'तमोनुदोऽग्निचन्द्रार्काः' इति विश्वः । सत्पतिमवाप्याबभुः । रघुरपि तमोनुत् । अत्र मनुः—'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम् । अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्' इति ॥ ३३ ॥

इसके बाद पिता दिलीप महाराज ने इन राजकुमार रघुका 'केशान्त' नामक संस्कार कर चुकने के बाद विवाह संस्कार किया, उसके बाद जिस तरह राजकन्यायें रोहिणी आदि चन्द्र को पाकर सुशोभित हुई थीं उसी भांति सुशोभित हुईं ॥ ३३ ॥

सम्प्रति यौवराज्ययोग्यतामाह—

युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः ।
वपुः प्रकर्षादजयद् गुरुं रघुस्तथाऽपि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥ ३४ ॥

युवेति । युवा युगो नाम धुर्यस्कन्धगः सच्छिद्रप्रान्तो यानाङ्गभूतो दारुविशेषः । 'यानाद्यङ्गे युगः पुंसि युगं युग्मे कृतादिषु' इत्यमरः । युगवद्व्यायतौ दीर्घौ बाहू यस्य सः । अंसावस्य स्त इत्यंसलो बलवान् मांसलश्चेति वृत्तिकारः । 'बलवान्मांसलोंऽसलः' इत्यमरः । 'वत्सांसाभ्यां कामबले' इति लच्प्रत्ययः । कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरो विशालग्रीवः । 'परिणाहो विशालता' इत्यमरः । रघुर्वपुषः प्रकर्षादाधिक्याद्यौवनकृताद्गुरुं पितरमजयत् । तथाऽपि विनयात् नम्रत्वे नीचैरल्पकोऽदृश्यत । अनेनानौद्धत्यं च विवक्षितम् ॥ ३४ ॥

युवावस्था को प्राप्त हुये युग (यान का अङ्गभूत दारुविशेष जूआ) की भांति लम्बी भुज वाले बलवान्, किवाड़ की तरह चौड़ी छाती वाले तथा विशाल ग्रीवा वाले रघु ने यद्यपि शरीर की अधिकतासे पिताको जीत लिया था, तथाऽपि विनयसे छोटे ही दीख पड़ते थे ॥३४॥

सम्प्रति तस्य यौवराज्यमाह—

ततः प्रजानां चिरमात्मना धृतां नितान्तगुर्वीं लघयिष्यता धुरम् ।
निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक् ॥ ३५ ॥

तत इति । तत आत्मना चिरं धृतां नितान्तगुर्वीम् । 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीष् । प्रजानां धुरं पालनप्रयासं लघयिष्यता, लघुं करिष्यता । 'तत्करोति तदाचष्टे' इति लघुशब्दाण्णिच् । ततो 'लृटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः । नृपेण दिलीपेनासौ रघुर्निसर्गेण स्वभावेन संस्कारेण शास्त्राभ्यासजनितवासनया च विनीतो नम्र इति हेतोः । युवराज इति शब्दं भजतीति तथोक्तः । 'भजो ण्विः' इति ण्विप्रत्ययः । चक्रे कृतः । (द्विविधो विनयः स्वाभाविकः कृत्रिमश्च) इति कौटिल्यः तदुभयसम्पन्नत्वात्पुत्रं युवराजं चकारेत्यर्थः । अत्र कामन्दकः=(विनयोपग्रहान्भूत्यै

कुर्वीत नृपतिः सुतान् । अविनीतकुमारं हि कुलमाशु विशीर्यते ॥ विनीतमौरसं पुत्रं यौवराज्येऽभिषेचयेत् ॥) इति ॥ ३५ ॥

उसके बाद स्वयं बहुत दिनों से धारण किये हुये अत्यन्त भारयुक्त प्रजापालन सम्बन्धी भार को हल्का करने की इच्छा करनेवाले राजा दिलीप ने यह रघु स्वभाव से तथा शास्त्र के अभ्यास करने से उत्पन्न वासना से नम्र है इस कारण से उसे युवराज पद से भूषित किया ॥ ३५ ॥

नरेन्द्रमूलायतनादनन्तरं तदास्पदं श्रीर्युवराजसंज्ञितम् ।
अगच्छदंशेन गुणाभिलाषिणी नवावतारं कमलादिवोत्पलम् ॥ ३६ ॥

नरेन्द्रेति । गुणान्विनयादीन्सौरभ्यादींश्चाभिलषतीति गुणाभिलाषिणी राज्यलक्ष्मीः पद्माश्रया च नरेन्द्रो दिलीप एव मूलायतनं प्रधानस्थानं तस्मात् । अपादानात् । अनन्तरं संनिहितम् । युवराज इति संज्ञाऽस्य सञ्जाता युवराजसंज्ञितम् । तारकादित्वादितच्प्रत्ययः । आत्मनः पदं स्थानमास्पदम् । 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः । स रघुरित्यास्पदं तदास्पदम् । कमलाच्चिरोत्पन्नात् नवावतारमचिरोत्पन्नमुत्पलमिव । अंशेनागच्छत् । स्त्रियो हि यूनि रज्यन्त इति भावः ॥३६॥

विनयादि गुणों की अभिलाषा रखने वाली राजलक्ष्मी के पक्ष में सुगन्ध आदि गुणों की अभिलाषा रखने वाली कमलालया लक्ष्मी, राजा दिलीप रूप प्रधान स्थान से समीप में स्थित युवराज इस पदवी को धारण करने वाले रघुरूप अपने स्थान को जैसे पुराने कमल से नवीन उत्पन्न हुये कमल को पद्मालया जाती है, वैसे ही एक अंश से गई ॥ ३६ ॥

विभावसुः सारथिनेव वायुना घनव्यपायेन गभस्तिमानिव ।
बभूव तेनातितरां सुदुःसहः कटप्रभेदेन करीव पार्थिवः ॥ ३७ ॥

विभावसुरिति । सारथिना सहायभूतेन । एतद्विशेषणमुत्तरवाक्येष्वप्यनुषञ्जनीयम् । वायुना विभावसुर्वह्निरिव । 'सूर्यवह्नी विभावसू' इत्यमरः । घनव्यपायेन शरत्समयेन सारथिना गभस्तिमान्सूर्य इव । कटो गण्डः । 'गण्डः कटो मदो दानम्' इत्यमरः । तस्य प्रभेदः स्फुटनम् । मदोदय इत्यर्थः । तेन करीव पार्थिवो दिलीपस्तेन रघुणाऽतितरामत्यन्तं सुदुःसहः सुष्ठ्वसह्यो बभूव ॥ ३७ ॥

सहायभूत वायु से जैसे अग्नि और मेघ का नाश जिसमें हैं ऐसे सहायभूत शरत्काल से जैसे सूर्य, तथा सहायभूत गण्डस्थल के फूटने से (मदके उदय होने से) जैसे हाथी, अत्यन्त सुदुःसह हो जाता है, उसी भांति राजा दिलीप भी सहायभूत उस रघु से 'दुश्मनों के लिये' भली भांति दुःसह हुये अर्थात् नहीं जीतने लायक हुये ॥ ३७ ॥

नियुज्य तं होमतुरङ्गरक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुद्रुतम् ।
अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतं क्रतूनामपविघ्नमाप सः ॥ ३८ ॥

नियुज्येति । शतक्रतुरिन्द्र उपमा यस्य स शतक्रतूपमः स दिलीपः । (शतं के

तुल्या राजपुत्रा देवा आशापालाः) इत्यादिश्रुत्या । राजसुतैरनुद्रुतमनुगतं धनुर्धरं तं रघुं होमतुरङ्गाणां रक्षणे नियुज्य । एकेन क्रतुनाऽपूर्णमेकोनं क्रतूनामश्वमेधानां शतमपविघ्नमपगतविघ्नं यथा तथाऽऽप ॥ ३८ ॥

इन्द्र के तुल्य उन दिलीप महाराज ने राजकुमारों से अनुसरण किये गये धनुष के धारण करने वाले उन युवराज रघु को होम के लिये जो अश्वमेध यज्ञ सम्बन्धी घोड़े थे, उनकी रक्षा करने में नियुक्त करके एक कम सौ अश्वमेध यज्ञ को निर्विघ्न समाप्त किया ॥

ततः परं तेन मखाय यज्वना तुरङ्गमुत्सृष्टमनर्गलं पुनः ।
धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढविग्रहः ॥ ३९ ॥

तत इति । ततः परमेकोनशतक्रतुप्राप्त्यनन्तरं यज्वना विधिनेष्टवता तेन दिलीपेन पुनः पुनरपि मखाय मखं कर्तुम् । 'क्रियाऽर्थोपपदस्य–' इत्यादिना चतुर्थी । उत्सृष्टं मुक्तमनर्गलमप्रतिबन्धनम् । अव्याहतस्वैरगतिमित्यर्थः । अपर्यावर्त्तयन्तोऽश्वमनुचरन्ति इत्यापस्तम्बस्मरणात् । तुरङ्गं धनुर्भृतां रक्षिणां रक्षकाणामग्रत एव शक्रो गूढविग्रहः सन् । जहार किल । किलेत्यैतिह्ये ॥ ३९ ॥

उसके (९९ वां यज्ञ समाप्त होने के) बाद विधिपूर्वक यज्ञ करने वाले उन दिलीप महाराज से फिर से यज्ञ करने के लिये छोड़े हुये विना रोक टोक अपने मन से चलने वाले घोड़े को धनुर्धारी रक्षकों के आगे से ही इन्द्र गुप्त शरीर वाला होता हुआ हर ले गया ॥३९॥

विषादलुप्तप्रतिपत्ति विस्मितं कुमारसैन्यं सपदि स्थितं च तत् ।
वशिष्ठधेनुश्च यदृच्छयाऽऽगता श्रुतप्रभावा ददृशेऽथ नन्दिनी ॥ ४० ॥

विषादेति । तत्कुमारस्य सैन्यं सेना सपदि । विषाद इष्टनाशकृतो मनोभङ्गः । तदुक्तम् (विषादश्चेतसो भङ्ग उपायाभावनाशयोः) इति । तेन लुप्ता प्रतिपत्तिः कर्त्तव्यज्ञानं यस्य तत्तथोक्तम् । विस्मितमश्वनाशस्याकस्मिकत्वादाश्चर्याविष्टं सत् । स्थितं तस्थौ । अथ श्रुतप्रभावा यदृच्छया स्वेच्छयाऽऽगता । रघोः स्वप्रसादलब्धत्वादनुजिघृक्षयेति भावः । नन्दिनी नाम । वसिष्ठधेनुश्च ददृशे । द्वौ चकारावविलम्बसूचकौ ॥ ४० ॥

जब राजकुमार रघु की वह सेना उसी क्षण (घोड़ा के न दीख पड़ने के क्षण) विषाद से 'क्या करना चाहिये क्या नहीं करना चाहिये' इस विचार से शून्य विस्मित होती हुई निश्चल स्थित हुई, तब उसके बाद जिसका प्रभाव सबसे विदित है, ऐसी अपनी इच्छा से आई हुई नन्दिनी नाम की वशिष्ठ महर्षि की धेनु को लोगों ने देखा ॥ ४० ॥

तदङ्गनिस्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम् ।
अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दनः ॥ ४१ ॥

तदङ्गेति । सतां पुरस्कृतः पूजितो दिलीपनन्दनो रघुः पुण्येन तस्या नन्दिन्या

यदङ्गं तस्य निस्यन्दो द्रवः स एव जलम्। मूत्रमित्यर्थः। तेन लोचने प्रमृज्य शोधयित्वा। अतीन्द्रियेष्विन्द्रियाण्यतिक्रान्तेषु। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः। द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु परवल्लिङ्गताप्रतिषेधाद्विशेष्यनिघ्नत्वम्। भावेष्वपि वस्तुषूपपन्नदर्शनः सम्पन्नसाक्षात्कारशक्तिर्बभूव॥ ४१॥

सज्जनों से पूजित दिलीप महाराज के पुत्र युवराज रघु, पवित्र उस नन्दिनी के अङ्ग से उत्पन्न जल (मूत्र) से दोनों आंखों को धोकर इन्द्रियों से नहीं प्रत्यक्ष होने वाली भी वस्तुओं में देखने की शक्ति वाले हो गये॥ ४१॥

स पूर्वतः पर्वतपक्षशातनं ददर्श देवं नरदेवसम्भवः।
पुनः पुनः सूतनिषिद्धचापलं हरन्तमश्वं रथरश्मिसंयतम्॥ ४२॥

स इति। नरदेवसम्भवः स रघुः पुनः पुनः सूतेन निषिद्धचापलं निवारितौद्धत्यं रथस्य रश्मिभिः प्रग्रहैः। 'किरणप्रग्रहो रश्मी' इत्यमरः। संयतं बद्धमश्वं हरन्तं पर्वतपक्षाणां शातनं छेदकं देवमिन्द्रं पूर्वतः पूर्वस्यां दिशि ददर्श॥ ४२॥

राजा दिलीप के लड़के उन युवराज रघु ने वारम्बार सारथि के द्वारा जिसकी उद्धतपना रोकी जा रही थी और जो रथ की डोरी से बंधा हुआ था, ऐसे घोड़े को हरण करके ले जाते हुये पर्वतों के पक्षों को काटने वाले देवराज इन्द्र को पूर्व दिशा में देखा॥ ४२॥

शतैस्तमक्ष्णामनिमेषवृत्तिभिर्हरिं विदित्वा हरिभिश्च वाजिभिः।
अवोचदेनं गगनस्पृशा रघुः स्वरेण धीरेण निवर्त्तयन्निव॥ ४३॥

शतैरिति। रघुस्तमश्वहर्त्तारमनिमेषवृत्तिभिर्निमेषव्यापारशून्यैरक्ष्णां शतैर्हरिभिर्हरिद्वर्णैः। 'हरिर्वाच्यवदाख्यातो हरित्कपिलवर्णयोः' इति विश्वः। वाजिभिरश्वैश्च हरिमिन्द्रं विदित्वा। 'हरिर्वातार्कचन्द्रेन्द्रयमोपेन्द्रमरीचिषु' इति विश्वः। एनमिन्द्रं गगनस्पृशा व्योमव्यापिना धीरेण गम्भीरेण स्वरेण ध्वनिनैव निवर्त्तयन्निवावोचत्॥

युवराज रघु उन्हें (अश्व के हरण करने वाले को) निमेष (पलक का गिरना) शून्य व्यापार वाले सैकड़ों आँखों के द्वारा तथा हरे रङ्ग के घोड़ों के द्वारा इन्द्र जानकर उसे आकाश में गूंज जाने वाले गम्भीर स्वर से लौटाते हुये की भांति बोले॥ ४३॥

मखांशभाजां प्रथमो मनीषिभिस्त्वमेव देवेन्द्र! सदा निगद्यसे।
अजस्रदीक्षाप्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय कथं प्रवर्त्तसे॥ ४४॥

मखांशेति। हे देवेन्द्र! मनीषिभिस्त्वमेव मखांशभाजां यज्ञभागभुजां प्रथमः सदा निगद्यसे कथ्यसे। तथाऽऽप्यजस्रदीक्षायां प्रयतस्य मद्गुरोः क्रियाविघाताय। क्रतुविघाताय। क्रियां विहन्तुमित्यर्थः। 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इति चतुर्थी। कथं प्रवर्तसे॥ ४४॥

हे इन्द्र! विद्वान् लोग आप ही को यज्ञ के भाग को ग्रहण करने वाले देवताओं के यज्ञ में प्रथम सदा बतलाते हैं अतः निरन्तर यज्ञसम्बन्धी दीक्षा लेने में प्रवृत्त (सदा यज्ञ

ही करते हुये) मेरे पिता दिलीप महाराज के अश्वमेध यज्ञ को नष्ट करने के लिये आप क्यों प्रवृत्त हो रहे हैं ॥ ४४ ॥

त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषस्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा ।
स चेत्स्वयं कर्मसु धर्मचारिणां त्वमन्तरायो भवसि च्युतो विधिः ॥४५॥

त्रिलोकेति । त्रयाणां लोकानां नाथस्त्रिलोकनाथः । 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इत्यनेनोत्तरपदसमासः । तेन त्रैलोक्यनियामकेन । दिव्यचक्षुषाऽतीन्द्रियार्थदर्शिना त्वया मखद्विषः क्रतुविघातकाः सदा नियम्या ननु शिक्ष्याः खलु । स त्वं धर्मचारिणां कर्मसु क्रतुषु स्वयमन्तरायो विघ्नो भवसि चेत् । विधिरनुष्ठानं च्युतः च्युतः । लोके सत्कर्मकथैवास्तमियादित्यर्थः ॥ ४५ ॥

त्रिलोक के स्वामी दिव्य दृष्टि वाले आप के द्वारा यज्ञ के विध्वंस करने वाले राक्षसादि सदा निश्चय करके दण्डनीय हैं, अतः ऐसे जो आप हैं सो धर्म के आचरण करने वाले सज्जनों के यज्ञादि कर्म में स्वयम् यदि विघ्न हो रहे हैं तो यज्ञादि सत्कर्म नष्ट हुआ ही है अर्थात् लोक में तब सत्कर्म की कथा भी अस्त ही है ॥ ४५ ॥

तदङ्गमग्र्यं मघवन्महाक्रतोरमुं तुरङ्गं प्रतिमोक्तुमर्हसि ।
पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम् ॥ ४६ ॥

तदङ्गमिति । हे मघवन् ! तत्तस्मात्कारणान्महाक्रतोरश्वमेधस्याग्र्यं श्रेष्ठमंगं साधनममुं तुरङ्गं प्रतिमोक्तुं प्रतिदातुमर्हसि । तथाहि । श्रुतेः पथः दर्शयितारः सन्मार्गप्रदर्शका ईश्वरा महान्तो मलीमसां मलिनां पद्धतिं मार्गं नाददते न स्वीकुर्वते । असन्मार्गं नावलम्बन्त इत्यर्थः । 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः ॥ ४६ ॥

हे इन्द्र ! इस कारण से महायज्ञ (अश्वमेध) का प्रधान साधन इस घोड़े को छोड़ने के लिये आप समर्थ होवें क्योंकि—वेद के मार्ग को दिखाने वाले बड़े लोग मलिन (निन्दित) मार्ग (यज्ञ का अश्व चुराना रूप) का अवलम्बन नहीं करते हैं ॥ ४६ ॥

इति प्रगल्भं रघुणा समीरितं वचो निशम्याधिपतिर्दिवौकसाम् ।
निवर्त्तयामास रथं सविस्मयः प्रचक्रमे च प्रतिवक्तुमुत्तरम् ॥ ४७ ॥

इतीति । इति रघुणा समीरितं प्रगल्भं वच निशम्याकर्ण्य । दिवौकसः स्वर्गौकसः । 'दिवं स्वर्गेऽन्तरिक्षे च' इति विश्वः । तेषामधिपतिर्देवेन्द्रो रघुप्रभावात्सविस्मयः सन् । रथं निवर्त्तयामास । उत्तरं प्रतिवक्तुं प्रचक्रमे च ॥ ४७ ॥

इस प्रकार से रघु के द्वारा कहे हुये धृष्ट वचन को सुन कर देवताओं के स्वामी इन्द्र ने रघु के प्रभाव से आश्चर्ययुक्त होते हुये रथ को लौटाया और उत्तर देने के लिये आरम्भ किया ॥ ४७ ॥

यदात्थ राजन्यकुमार ! तत्तथा यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः ।
जगत्प्रकाशं तदशेषमिज्यया भवद्गुरुर्लङ्घयितुं ममोद्यतः ॥ ४८ ॥

यदिति । हे राजन्यकुमार ! क्षत्रियकुमार ! 'मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट्' इत्यमरः यद्वाक्यमात्थ ब्रवीषि । 'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः' इत्यनेनाहादेशः । तत्तथा सत्यम् । किन्तु यशोधनैरस्मादृशैः परतः शत्रुतो यशो रक्ष्यम् । ततः किमत आह—भवद्गुरुस्त्वत्पिता जगत्प्रकाशं लोकप्रसिद्धमशेषं सर्वं मम तद्यश इज्यया यागेन लङ्घयितुं तिरस्कर्तुमुद्यत उद्युक्तः ॥ ४८ ॥

हे क्षत्रियकुमार रघु ! तुम जिस बात को कह रहे हो सो उसी तरह से (ठीक) ही है, किन्तु यश ही को धन मानने वाले हमारे ऐसे लोगों को शत्रु से यश की रक्षा करनी उचित है और आप के पिता जगत् में अतिशय प्रसिद्ध जो सम्पूर्ण मेरा यश है, उसे यज्ञ से लङ्घन करने के लिये उद्यत हो रहे हैं ॥ ४८ ॥

किं तद्यश इत्याह—

हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः ।
तथा विदुर्मां मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी नहि शब्द एषः नः ॥४९॥

हरिरिति । पुरुषेषूत्तम इति सप्तमीसमासः । 'न निर्धारणे' इति षष्ठीसमास-निषेधात् । कर्मधारये तु 'सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' इत्युत्तमपुरुष इति स्यात् । यथा हरिर्विष्णुरेक एव पुरुषोत्तमः स्मृतः । यथा च त्र्यम्बकः शिव एव महेश्वरः स्मृतः । नापरोऽपरः पुमान्न । तथा मां मुनयः । शतक्रतुं विदुर्विदन्ति । 'विदो लटो वा' इति झेरुसादेशः । नोऽस्माकम् । हरिहरयोर्मम चेत्यर्थः । एष त्रितयोऽपि शब्दो द्वितीयगामी नहि । द्वितीयाप्रकरणे गम्यादीनामुपसङ्ख्यानात्समासः ॥ ४९ ॥

जिस प्रकार विष्णु ही केवल पुरुषोत्तम कहे जाते हैं और जिस प्रकार से त्र्यम्बक ही केवल महेश्वर कहे जाते हैं और दूसरा कोई नहीं कहा जाता है, उसी भांति से मुनि लोग मुझे शतक्रतु (सौ अश्वमेध यज्ञ का करने वाला) समझते हैं। हम लोगों के ये तीनों (पुरुषोत्तम-महेश्वर-शतक्रतु) शब्द दूसरे पुरुष के लिये नहीं हैं ॥ ४९ ॥

अतोऽयमश्वः कपिलानुकारिणा पितुस्त्वदीयस्य मयाऽपहारितः ।
अलं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः पदं पदव्यां सगरस्य सन्ततेः ॥५०॥

अत इति । यतोऽहमेव शतक्रतुरतस्त्वदीयस्य पितुरयं शततमोऽश्वः कपिलानुकारिणा कपिलमुनितुल्येन मयाऽपहारितोऽपहृतः । अपहारित इति स्वार्थे णिच् । तवात्राश्वे प्रयत्नेनालम् । प्रयत्नो मा कारीरित्यर्थः । निषेधस्य निषेधं प्रति करणत्वात्तृतीया । सगरस्य राज्ञः सन्ततेः सन्तानस्य पदव्यां पदं मा निधाः न निधेहि । निपूर्वाद्धातोर्लुङ् । 'न माङ्योगे' इत्यडागमप्रतिषेधः । महदास्कन्दनं ते विनाशमूलं भवेदिति भावः ॥ ५० ॥

क्योंकि मैं ही केवल अश्वमेध का करनेवाला हूँ दूसरा कोई नहीं है इस कारण से तुम्हारे पिता के इस घोड़े को कपिल ऋषि के तुल्य मैंने चुरा लिया है। तुम्हारा इस घोड़े के विषय में 'छुड़ाने के लिये' प्रयत्न करना वृथा है, और सगर महाराज के पुत्रों के मार्ग में पैर मत रक्खो अर्थात उनका अनुसरण मत करो ॥ ५० ॥

ततः प्रहस्यापभयः पुरन्दरं पुनर्बभाषे तुरगस्य रक्षिता ।
गृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान् ॥५१॥

तत इति । ततस्तुरगस्य रक्षिता रघुः प्रहस्य प्रहासं कृत्वा । अपभयो निर्भीकः सन् । पुनः पुरन्दरं बभाषे । किमिति–हे देवेन्द्र ! यद्येषोऽश्वामोचनरूपस्ते तव सर्गो निश्चयः । 'सर्गः स्वभावनिर्मोक्षनिश्चयाध्यायसृष्टिषु' इत्यमरः । तर्हि शस्त्रं गृहाण । भवान् रघुं मामनिर्जित्य कृतमनेनेति कृती । कृतकृत्यो न खलु । 'इष्टादिभ्यश्च' इतीनिप्रत्ययः । रघुमित्यनेनात्मनो दुर्जयत्वं सूचितम् ॥ ५१ ॥

उसके (इन्द्र की बात सुन चुकने के) बाद घोड़े की रक्षा करने वाले रघु हँस कर निर्भीक होते हुये इन्द्र से बोले–हे देवेन्द्र ! यदि वह 'घोड़ा न छोड़ना रूप' आपका निश्चय है तो शस्त्र को ग्रहण करिये, क्योंकि आप मुझे विना जीते घोड़ा ले जाने रूप कार्य में निश्चय कृतकृत्य नहीं हो सकेंगे ॥ ५१ ॥

स एवमुक्त्वा मघवन्तमुन्मुखः करिष्यमाणः सशरं शरासनम् ।
अतिष्ठदालीढविशेषशोभिना वपुःप्रकर्षेण विडम्बितेश्वरः ॥ ५२ ॥

स इति । स रघुरुन्मुखः सन् मघवन्तमिन्द्रमेवमुक्त्वा शरासनं चापं सशरं करिष्यमाणः । आलीढेनालीढाख्येन स्थानभेदेन विशेषशोभिनाऽतिशयशोभिना वपुःप्रकर्षेण देहौन्नत्येन विडम्बितेश्वरोऽनुसृतपिनाकी सन् । अतिष्ठत् । आलीढलक्षणमाह यादवः–(स्थानानि धन्विनां पञ्च तत्र वैशाखमस्त्रियाम् । त्रिवितस्त्यन्तरौ पादौ मण्डलं तोरणाकृति ॥ अन्वर्थं स्यात्समपदमालीढं तु ततोऽग्रतः । दक्षिणे वाममाकुञ्च्य प्रत्यालीढं विपर्ययः ॥) इति ॥ ५२ ॥

वह रघु ऊपर को मुख किये हुये इन्द्र से इस प्रकार कह कर धनुष को बाण से युक्त किया जाने वाला करते हुए आलीढ नामक (आगे की ओर दाहिना पैर कुछ नीचे को झुका हो और बाँया पैर पीछे की ओर तना हुआ रखा हो तो उसे आलीढ नामक पैतरा धनुर्विद्या के जानने वाले कहते हैं) पैतरे से विशेष शोभा देने वाले देह के औन्नत्य से शङ्कर भगवान् का अनुसरण किये हुये खड़ा हुआ ॥ ५२ ॥

रघोरवष्टम्भमयेन पत्त्रिणा हृदि क्षतो गोत्रभिदप्यमर्षणः ।
नवाम्बुदानीकमुहूर्त्तलाञ्छने धनुष्यमोघं समधत्त सायकम् ॥ ५३ ॥

रघोरिति । रघोरवष्टम्भमयेन स्तम्भरूपेण । 'अवष्टम्भः सुवर्णे च स्तम्भप्रारम्भयोरपि' इति विश्वः । पत्त्रिणा बाणेन हृदि हृदये क्षतो विद्धः । अत एवामर्षणोऽ-

सहनः । क्रुद्ध इत्यर्थः । गोत्रभिदिन्द्रोऽपि । 'सम्भावनीये धीरेऽपि गोत्रः क्षोणीधरे मतः' इति विश्वः । नवाम्बुदानामनीकस्य वृन्दस्य मुहूर्तं क्षणमात्रं लाञ्छने चिह्नभूते धनुषि । दिव्ये धनुषीत्यर्थः । अमोघमवन्ध्यं सायकं बाणं समधत्त संहितवान् ॥ ५३ ॥

रघु के स्तम्भरूप बाण के द्वारा हृदय में क्षत (घाव) हो जाने से क्रोधित हुये, पर्वतों के भेदन करने वाले (इन्द्र) ने भी नवीन मेघ के समूह की थोड़ी देर चिह्न (शोभा) को धारण करने वाले धनुष पर अमोघ (कभी व्यर्थ नहीं जाने वाला) बाण सन्धान किया ॥

दिलीपसूनोः स बृहद्भुजान्तरं प्रविश्य भीमासुरशोणितोचितः ।
पपावनास्वादितपूर्वमाशुगः कुतूहलेनेव मनुष्यशोणितम् ॥ ५४ ॥

दिलीप इति । भीमानां भयङ्कराणामसुराणां शोणिते रुधिर उचितः परिचितः स इन्द्रमुक्त आशुगः सायको दिलीपसूनोः रघोर्बृहद्विशालं भुजान्तरं वक्षः प्रविश्य । अनास्वादितपूर्वं पूर्वमनास्वादितम् । सुप्सुपेति समासः । मनुष्यशोणितं कुतूहलेनेव पपौ ॥ ५४ ॥

भयङ्कर दैत्यों के रक्तपान में अभ्यस्त वा विदित उस बाण ने दिलीप के पुत्र रघु के विशाल वक्षःस्थल में प्रविष्ट होकर जिसका पहले कभी स्वाद नहीं लिया है ऐसे मनुष्य के रक्त का कुतूहल से मानो पान किया ॥ ५४ ॥

हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ ।
भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्किते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥ ५५ ॥

हरेरिति । कुमारस्य स्कन्दस्य विक्रम इव विक्रमो यस्य स तथोक्तः । 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य—' इत्यादिना समासः । कुमारोऽपि रघुरपि सुरद्विपस्यैरावतस्यास्फालनेन कर्कशा अङ्गुलयो यस्य स तस्मिन् । शच्याः पत्रविशेषकैरङ्किते शचीपत्रविशेषकाङ्किते हरेरिन्द्रस्य भुजे स्वनामचिह्नं स्वनामाङ्कितं सायकं निचखान निखातवान् । निष्कण्टकराज्यमासस्यायं महानभिभव इति भावः ॥ ५५ ॥

कात्तिकेय के समान अत्यन्त पराक्रमी युवराज रघु ने भी ऐरावत हाथी के उत्साहार्थ मारने से कठिन अङ्गुलियां जिसकी हो रही हैं तथा इन्द्राणी के तिलक का जिसमें चिह्न है, ऐसे इन्द्र के बाहु मध्य में अपने नाम का चिह्न जिसमें मौजूद है ऐसे बाण को गाड़ दिया ॥ ५५ ॥

जहार चान्येन मयूरपत्रिणा शरेण शक्रस्य महाशनिध्वजम् ।
चुकोप तस्मै स भृशं सुरश्रियः प्रसह्य केशव्यपरोपणादिव ॥ ५६ ॥

जहारेति । अन्येन मयूरपत्रिणा मयूरपत्रवता शरेण शक्रस्येन्द्रस्य महाशनिध्वजं महान्तमशनिरूपं ध्वजं जहार चिच्छेद च । स शक्रः । सुरश्रियः प्रसह्य बलात्कृत्य केशानां व्यपरोपणादवतारणाच्छेदनादिव । तस्मै रघवे भृशमत्यर्थं चुकोप ।

तं हन्तुमियेषेत्यर्थः। 'क्रुधद्रुहेर्ष्याऽसूयाऽर्थानां यं प्रति कोपः' इत्यनेन सम्प्रदानाच्चतुर्थी।

उसके बाद फिर रघु ने दूसरे मयूर के पंखों से युक्त बाण से इन्द्र की बड़ी भारी वज्र के चिह्न से युक्त पताका को काट डाला और तब इन्द्र ने देवताओं की राजयक्ष्मी के केश जबर्दस्ती कट जाने की तरह पताका कट जाने से उस रघु के ऊपर अत्यन्त कोप किया ॥५६॥

तयोरुपान्तस्थितसिद्धसैनिकं गरुत्मदाशीविषभीमदर्शनैः ।
बभूव युद्धं तुमुलं जयैषिणोरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च पत्त्रिभिः ॥ ५७ ॥

तयोरिति । जयैषिणोरन्योऽन्यजयाकाङ्क्षिणोस्तयोरिन्द्ररघ्वोः । गरुत्मन्तः पक्षवन्तः । 'गरुत्पक्षच्छदाः पत्रम्' इत्यमरः । आशीविषाः आशिषि दंष्ट्रायां विषं येषां ते आशीविषाः सर्पाः । पृषोदरादित्वात्साधुः 'स्त्री त्वाशीर्हिताशंसाऽहिदंष्ट्रयोः' इत्यमरः । त इव भीमदर्शनाः । सपक्षाः सर्पा इव द्रष्टॄणां भयावहा इत्यर्थः । तैरधोमुखैरूर्ध्वमुखैश्च । धन्विनोरुपर्यधोदेशावस्थितत्वादिति भावः । पत्त्रिभिर्बाणैरुपान्तस्थितास्तटस्थाः सिद्धा देवा इन्द्रस्य सैनिकाश्च रघोर्यस्मिंस्तत्तथोक्तं तुमुलं संकुलं युद्धं बभूव ॥ ५७ ॥

परस्पर विजय पाने की इच्छा रखने वाले उन दोनों इन्द्र और रघु का पक्षयुक्त (उड़ने वाले) सर्पों के समान देखने में भयङ्कर अधोमुख (इन्द्र के) तथा ऊर्ध्वमुख (रघु के) वाले बाणों से पास में ही स्थित हैं सिद्ध (इन्द्र के) और सैनिक (रघु के) जिसमें ऐसा घमासान युद्ध हुआ ॥ ५७ ॥

अतिप्रबन्धप्रहितास्त्रवृष्टिभिस्तमाश्रयं दुष्प्रसहस्य तेजसः ।
शशाक निर्वापयितुं न वासवः स्वतश्च्युतं वह्निमिवाद्भिरम्बुदः ॥५८॥

अतिप्रबन्धेति । वासवोऽतिप्रबन्धेनातिसातत्येन प्रहिताभिः प्रयुक्ताभिरस्त्रवृष्टिभिर्दुष्प्रसहस्य दुःखेन प्रसह्यत इति दुष्प्रसहं तस्य । दुःखेनाप्यसह्यस्येत्यर्थः । तेजसः प्रतापस्याश्रयं तं रघुम् । अम्बुदोऽद्भिः स्वतश्च्युतं निर्गतं वह्निमिव । निर्वापयितुं न शशाक । रघोरपि लोकपालात्मकस्येन्द्रांशसम्भवत्वादिति भावः ॥ ५८ ॥

इन्द्र अत्यन्त यत्न से प्रयोग किये हुये अस्त्रों की वृष्टि से अत्यन्त दुःसह प्रताप के स्थान उस रघु को, जैसे बादल जल की वृष्टि से अपने से उत्पन्न अग्नि (वैद्युताग्नि) को बुझाने के लिये समर्थ नहीं होता, उसी भांति बुझाने के लिये (शान्त करने के लिये) समर्थ नहीं हुये ॥ ५८ ॥

ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनाङ्किते प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम् ।
रघुः शशाङ्कार्द्धमुखेन पत्त्रिणा शरासनज्यामलुनाद्बिडौजसः ॥५९॥

तत इति । ततो रघुर्हरिचन्दनाङ्किते प्रकोष्ठे मणिबन्धे प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीं प्रमथ्यमानार्णव इव धीरं गम्भीरं नदतीति तां तथोक्ताम् । वेवेष्टि व्याप्नोतीति विड् व्यापकमोजो यस्य स तस्य बिडौजस इन्द्रस्य । पृषोदरादित्वात्साधुः ।

शरासनज्यां धनुर्मौर्वीम् । शशाङ्कस्यार्द्धः खण्ड इव मुखं फलं यस्य तेन पत्त्रिणाऽलुनादच्छिनत् ॥ ५९ ॥

इसके बाद रघु ने हरिचन्दन लगे हुये प्रकोष्ठ (केहुनी से कलाई पर्यन्त भाग) में मथे जाते हुये समुद्र की भांति गम्भीर शब्द करने वाली इन्द्र के धनुषकी प्रत्यञ्चा को चन्द्र के आधे टुकड़े के समान फल वाले बाण से काट दिया ॥ ५९ ॥

स चापमुत्सृज्य विवृद्धमत्सरः प्रणाशनाय प्रबलस्य विद्विषः ।
महीध्रपक्षव्यपरोपणोचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रमाददे ॥ ६० ॥

स इति । विवृद्धमत्सरः प्रवृद्धवैर इन्द्रश्चापमुत्सृज्य प्रबलस्य विद्विषः शत्रोः प्रणाशनाय वधाय । महीं धारयन्तीति महीध्राः पर्वताः । मूलविभुजादित्वात्कप्रत्ययः । तेषां पक्षव्यपरोपणे पक्षच्छेद उचितं स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रं वज्रायुधमाददे जग्राह॥६०॥

'धनुष की प्रत्यञ्चा के कट जाने से' जिसका क्रोध अत्यन्त बढ़ गया है, ऐसे इन्द्र ने धनुष को छोड़ कर अत्यन्त बलवान् शत्रु रघु का नाश करने के लिये पर्वतों के पक्षों के काटने में प्रसिद्ध, चमकती हुई प्रभा का मण्डल जिसके चारों तरफ है ऐसे वज्रसंज्ञक अस्त्र को ग्रहण किया ॥ ६० ॥

रघुर्भृशं वक्षसि तेन ताडितः पपात भूमौ सह सैनिकाश्रुभिः ।
निमेषमात्रादवधूय तद्व्यथां सहोत्थितः सैनिकहर्षनिःस्वनैः ॥ ६१ ॥

रघुरिति । रघुस्तेन वज्रेण भृशमत्यर्थं वक्षसि ताडितो हतः सन् । सैनिकानामश्रुभिः सह भूमौ पपात । तस्मिन्पतिते ते रुरुदुरित्यर्थः । निमेषमात्रात्तद्व्यथां दुःखमवधूय तिरस्कृत्य सैनिकानां हर्षेण ये निःस्वनाः क्ष्वेडास्तैः सहोत्थितश्च । तस्मिन्नुत्थिते हर्षात् सिंहनादांश्चक्रुरित्यर्थः ॥ ६१ ॥

रघु उस (इन्द्र से छोड़े हुये) वज्र से छाती में अत्यन्त चोट लगने से सैनिकों के अश्रु के साथ जमीन पर गिर पड़े और क्षणभर के बाद ही उसकी पीड़ा को सहन करके सैनिकों के हर्ष से किये सिंहनाद के साथ ही उठ पड़े ॥ ६१ ॥

तथाऽपि शस्त्रव्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुषः ।
तुतोष वीर्यातिशयेन वृत्रहा पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ॥ ६२ ॥

तथाऽपीति । तथाऽपि वज्रपातेऽपि शस्त्राणामायुधानां व्यवहारेण व्यापारेण निष्ठुरे क्रूरे विपक्षभावे शात्रवे चिरं तस्थुषः स्थितवतोऽस्य रघोर्वीर्यातिशयेन । वृत्रं हतवानिति वृत्रहा । 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' । तुतोष । स्वयं वीर एव वीरं जानातीति भावः । कथं शत्रोः सन्तोषोऽत आह–गुणैः सर्वत्र शत्रुमित्रोदासीनेषु पदमङ्घ्रिर्निधीयते । गुणैः सर्वत्र संक्रम्यत इत्यर्थः । गुणाः शत्रूनप्यावर्जयन्तीति भावः ॥६२॥

उस प्रकार के वज्रप्रहार होने पर भी अस्त्रों के व्यवहार करने से निष्ठुर शत्रुभाव

में बहुत देर से स्थित हुये इस रघु के पराक्रम की अधिकता से वृत्रासुर को (उसी वज्र से) मारने वाले इन्द्र प्रसन्न हुये, क्योंकि – गुण ही सर्वत्र शत्रु-मित्रादिकों में पैर को स्थापित करता है अर्थात् गुण से ही सर्वत्र आदर होता है ॥ ६२ ॥

असङ्गमद्रिष्वपि सारवत्तया न मे त्वदन्येन विसोढमायुधम् ।
अवेहि मां प्रीतमृते तुरङ्गमात्किमिच्छसीति स्फुटमाह वासवः ॥६३॥

असङ्गमिति । सारवत्तयाऽद्रिष्वप्यसङ्गमप्रतिबन्धं मे आयुधं वज्रं त्वदन्येन न विसोढम् । अतो मां प्रीतं सन्तुष्टमवेहि । तुरङ्गमादृते तुरङ्गं वर्जयित्वा । 'अन्यारादितरर्त्ते–' इति पञ्चमी किमिच्छसीति स्फुटं वासव आह—तुरङ्गमादन्यद्देयं नास्तीति भावः ॥ ६३ ॥

सारवान् (दृढ़) होने से पर्वतों में भी नहीं रुकने वाला मेरा अस्त्र जो यह वज्र है, इसे तुम्हारे अलावा किसी दूसरे ने नहीं सहन किया है, अतः हमें तुम प्रसन्न समझो, और घोड़े को छोड़ कर क्या चाहते हो ? ऐसा इन्द्र ने प्रकाश रूप से रघु से कहा ॥ ६३ ॥

ततो निषङ्गादसमग्रमुद्धृतं सुवर्णपुङ्खद्युतिरञ्जिताङ्गुलिम् ।
नरेन्द्रसूनुः प्रतिसंहरन्निषुं प्रियंवदः प्रत्यवदत्सुरेश्वरम् ॥ ६४ ॥

तत इति । ततो निषङ्गात्तूणीरादसमग्रं यथा तथोद्धृतं सुवर्णपुङ्खद्युतिभी रञ्जिता अङ्गुलयो येन तमिषुं प्रतिसंहरन्निवर्त्तयन् । नाप्रहरन्तं प्रहरेदिति निषेधादिति भावः । प्रियं वदतीति प्रियंवदः । 'प्रियवशे वदः खच्' इति खच्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषदजन्तस्य' इति मुमागमः । नरेन्द्रसूनू रघुः सुरेश्वरं प्रत्यवदत् । न तु प्राहरदिति भावः ॥ ६४ ॥

उसके (इन्द्र की बात सुनने के) बाद तरकस से पूरे नहीं निकाले हुये जिसके सुवर्ण-मय मूल भाग की कान्ति से अङ्गुलियां रङ्ग गई हैं ऐसे बाण को फिर से तरकस में रखते हुये प्रियवचन बोलने वाले महाराज दिलीप के कुमार रघु देवताओं के प्रभु इन्द्र से बोले ॥ ६४ ॥

अमोच्यमश्वं यदि मन्यसे प्रभो ततः समाप्ते विधिनैव कर्मणि ।
अजस्रदीक्षाप्रयतः स मद्गुरुः क्रतोरशेषेण फलेन युज्यताम् ॥ ६५ ॥

अमोच्यमिति । हे प्रभो इन्द्र ! अश्वममोच्यं मन्यसे यदि ततस्तर्ह्यजस्रदीक्षायां प्रयतः स मद्गुरुर्मम पिता विधिनैव कर्मणि समाप्ते सति क्रतोर्यत्फलं तेन फलेनाशेषेण कृत्स्नेन युज्यतां युक्तोऽस्तु । अश्वमेधफललाभे किमश्वेनेति भावः ॥ ६५ ॥

हे प्रभो ! अश्व को यदि नहीं छोड़ने लायक आप समझते हैं तो जो निरन्तर यज्ञ की दीक्षा में लगे हुये हैं, ऐसे वे मेरे पिता महाराज दिलीप विधिपूर्वक कर्म की समाप्ति होने पर यज्ञ का जो फल होता है उस सम्पूर्ण फल से युक्त होयँ, 'यह मैं चाहता हूँ' ॥६५॥

यथा च वृत्तान्तमिमं सदोगतस्त्रिलोचनैकांशतया दुरासदः ।
तवैव संदेशहराद्विशांपतिः शृणोति लोकेश तथा विधीयताम् ।। ६६ ।।

यथेति । सदोगतः सदो गृहं गतस्त्रिलोचनस्येश्वरस्यैकांशतयाऽष्टानामन्यतममूर्त्तित्वात् । दुरासदोऽस्मादृशैर्दुष्प्राप्यो विशांपतिर्यथेमं वृत्तान्तं तव संदेशहराद्वार्त्ताहरादेव शृणोति च । हे लाकेशेन्द्र ! तथा विधीयताम् ॥ ६६ ॥

और यज्ञमण्डप में स्थित शङ्कर भगवान् का भी एक अंश (यजमान रूपमूर्त्ति) होने से हमारे ऐसे लोगों के लिये बड़ी कठिनाई से प्राप्त होने के योग्य महाराजाधिराज दिलीप जी जिस प्रकार इस वृत्तान्त को तुम्हारे दूत से ही सुनें, हे लोकपाल इन्द्र जी ! वैसा आप करें ।। ६६ ।।

तथेति कामं प्रतिशुश्रुवान् रघोर्यथाऽऽगतं मातलिसारथिर्ययौ ।
नृपस्य नातिप्रमनाः सदोगृहं सुदक्षिणासूनुरपि न्यवर्त्तत ।। ६७ ।।

तथेतीति । मातलिसारथिरिन्द्रो रघोः सम्बन्धिनं कामं मनोरथं तथेति तथास्त्विति प्रतिशुश्रुवान् । 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुप्रत्ययः । यथाऽऽगतं ययौ । सुदक्षिणासूनू रघुरपि नातिप्रमना विजयलाभेऽप्यश्वनाशान्नातीव तुष्टः सन् । नञर्थस्य सुप्सुपेति समासः । नृपस्य सदोगृहं प्रति न्यवर्त्तत ॥ ६७ ॥

मातलि नामक सारथि है जिसका ऐसे इन्द्रजी रघु की अभिलाषा के सम्बन्ध में वैसा ही होगा 'जैसा कि तुमने कहा है' ऐसी प्रतिज्ञा करके जिस मार्ग से आये थे उसी मार्ग से गये और सुदक्षिणा के पुत्र रघु भी 'विजय होने पर भी घोड़ा न मिलने से' अत्यन्त प्रसन्न चित्त नहीं होते हुये राजा दिलीप के सभाभवन की ओर लौटे ।। ६७ ।।

तमभ्यनन्दत्प्रथमं प्रबोधितः प्रजेश्वरः शासनहारिणा हरेः ।
परामृशन्हर्षजडेन पाणिना तदीयमङ्गं कुलिशव्रणाङ्कितम् ।। ६८ ।।

तमिति । हरेरिन्द्रस्य शासनहारिणा पुरुषेण प्रथमं प्रबोधितो ज्ञापितः । वृत्तान्तमिति शेषः । प्रजेश्वरो दिलीपो हर्षजडेन हर्षशिशिरेण पाणिना कुलिशव्रणाङ्कितम् । तस्य रघोरिदं तदीयम् । अङ्गं शरीरं परामृशंस्तं रघुमभ्यनन्दत् ॥ ६८ ॥

इन्द्र की आज्ञा को लाने वाले पुरुष से (रघु के आने के) पहिले ही वृत्तान्त को जाने हुए प्रजाओं के मालिक, राजा दिलीप ने हर्ष से कांपते हुये हाथ से वज्र के घाव से युक्त उन (रघु) के शरीर का स्पर्श करते हुये उन (रघु) का अभिनन्दन किया ।। ६८ ।।

इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासनः ।
समारुरुक्षुर्दिवमायुषः क्षये ततान सोपानपरम्परामिव ।। ६९ ।।

इतीति । महनीयशासनः पूजनीयाज्ञः क्षितीश इत्यनेन प्रकारेण 'इति हेतुप्रकर-

णप्रकारादिसमाप्तिषु' इत्यमरः । महाक्रतूनामश्वमेधानां नवभिरधिकां नवतिमेकोनशतमायुषः क्षये सति दिवं स्वर्गं समारुरुक्षुरारोढुमिच्छुः सोपानानां परम्परां पंक्तिमिव ततान ॥ ६९ ॥

जिसकी आज्ञा सभी लोगों को माननीय है ऐसे पृथ्वी के स्वामी राजा दिलीप ने इस प्रकार से नव अधिक नब्बे अर्थात् निन्यानवे ९९ अश्वमेध नामक महायज्ञको जो पूरा किया सो मानों जीवन समाप्त होने पर ऊपर स्वर्ग पर चढ़ने की इच्छा रखने वाले की भांति सीढ़ियों की पङ्क्ति तैयार की ॥ ६९ ॥

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम् ।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥ ७० ॥

अथेति । अथ विषयेभ्यो व्यावृत्तात्मा निवृत्तचित्तः स दिलीपो यथाविधि यथाशास्त्रं यूने सूनवे नृपतिककुदं राजचिह्नम् । 'ककुद्मत्ककुदं श्रेष्ठे वृषाङ्के राजलक्ष्मणि' इति विश्वः । सितातपवारणं श्वेतच्छत्रं दत्त्वा तया देव्या सुदक्षिणया सह मुनिवनतरोश्छायां शिश्रिये श्रितवान् । वानप्रस्थाश्रमं स्वीकृतवानित्यर्थः । तथाहि । गलितवयसां वृद्धानामिक्ष्वाकूणामिक्ष्वाकोर्गोत्रापत्यानाम् । तद्राजसंज्ञकत्वादणो लुक् । इदं वनगमनं कुलव्रतम् । देव्या सहेत्यनेन सपत्नीकवानप्रस्थाश्रमपक्ष उक्तः । तथा च याज्ञवल्क्यः-(सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वाऽनुगतो वनम् । वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत् ।) इति । हरिणीवृत्तमेतत् । तदुक्तम्-(रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा) इति ॥ ७० ॥

इति सञ्जीविनीव्याख्यायां रघुराज्याभिषेको नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इसके बाद विषयों (इन्द्रियग्राह्य रूपादिकों) से जिनका चित्त हट गया है, ऐसे दिलीप महाराज शास्त्रोक्त रीति से युवावस्था को प्राप्त पुत्र रघु को राजचिह्न श्वेतच्छत्र देकर पूर्वोक्त महारानी सुदक्षिणा के साथ मुनिजनों के तपोवन के वृक्षोंकी छाया का सेवन करने लगे (अर्थात्-वानप्रस्थाश्रम ले लिया), क्योंकि-वृद्ध इक्ष्वाकुवंश के राजाओं का यह (वन में जाना) कुलागत नियम है ॥ ७० ॥

इति तृतीयः सर्गः ।

चतुर्थः सर्गः ।

अथ प्राप्तराज्यस्य रघोः कीदृशी शोभाऽऽसीत्तामेवाह—

स राज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं बभौ ।
दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः ॥ १ ॥

शारदा शारदाम्भोजवदना वदनाम्बुजे ।
सर्वदा सर्वदाऽस्माकं सन्निधिं सन्निधिं क्रियात् ॥

स इति । स रघुर्गुरुणा पित्रा दत्तं राज्यं राज्ञः कर्म प्रजापरिपालनात्मकम् । पुरोहितादित्वाद्यक् । प्रतिपद्य प्राप्य । दिनान्ते सायंकाले सवित्रा सूर्येण निहितं तेजः प्रतिपद्य हुताशनोऽग्निरिव । अधिकं बभौ । (सौरं तेजः सायमग्निं संक्रमते । आदित्यो वा अस्तः सन्नग्निमनुप्रविशति । अग्निं वा आदित्यः सायं प्रविशति) इत्यादिश्रुतिः प्रमाणम् ॥ १ ॥

वह रघु महाराज पिताके दिये हुये राज्य (प्रजापालन रूप कर्म) को पाकर सायङ्काल में सूर्यके द्वारा स्थापित तेजको पाकर जैसे अग्नि अधिक सुशोभित होता है उसी भांति अधिक सुशोभित होने लगे ॥ १ ॥

अथ रघो राज्येऽवस्थानं श्रुत्वा शत्रूणां हृदि सन्तापाधिक्यं बभूवेत्याह—

दिलीपानन्तरं राज्ये तं निशम्य प्रतिष्ठितम् ।
पूर्वं प्रधूमितो राज्ञां हृदयेऽग्निरिवोत्थितः ॥ २ ॥

दिलीपेति । दिलीपानन्तरं राज्ये प्रतिष्ठितमवस्थितं तं रघुं निशम्याकर्ण्य पूर्वं दिलीपकाले राज्ञां हृदये प्रकर्षेण धूमोऽस्य सञ्जातः प्रधूमितोऽग्निः सन्तापाग्निरुत्थित इव प्रज्वलित इव । पूर्वेभ्योऽधिकसन्तापोऽभूदित्यर्थः । राजकर्तृकस्यापि निशमनस्याग्नावुपचारान्न समानकर्तृकत्वविरोधः ॥ २ ॥

दिलीप महाराजके बाद प्रतिष्ठित हुए उन महाराज रघु को सुनकर पहले (दिलीप महाराज के) समयमें जो राजाओंके हृदय में धूमयुक्त सन्तापाग्नि थी सो इस समय प्रज्वलित हो उठी अर्थात् पहले की अपेक्षा अधिक सन्ताप हुआ ॥ २ ॥

अथ रघुं राज्येऽवस्थितं दृष्ट्वा सर्वा अपि प्रजाः प्रसन्ना बभूवुरित्याह—

पुरुहूतध्वजस्येव तस्योन्नयनपङ्क्तयः ।
नवाभ्युत्थानदर्शिन्यो ननन्दुः सप्रजाः प्रजाः ॥ ३ ॥

पुरुहूतेति । पुरुहूतध्वज इन्द्रध्वजः । स किल राजभिर्वृष्ट्यर्थं पूज्यत इत्युक्तं भविष्योत्तरे (एवं यः कुरुते यात्रामिन्द्रकेतोर्युधिष्ठिर ! । पर्जन्यः कामवर्षी स्यात्तस्य राज्ये न संशयः ॥) इति । (चतुरस्रं ध्वजाकारं राजद्वारे प्रतिष्ठितम् । आहुः शक्रध्वजं नाम पौरलोकसुखावहम् ।) इति । पुरुहूतध्वजस्येव तस्य रघोर्नवाभ्युत्थानमभ्युन्न-

तिमभ्युदयं च पश्यन्तीति नवाभ्युत्थानदर्शिन्यः । ऊर्ध्वं प्रस्थिता उल्लसिताश्च नयनपङ्क्तयो यासां ताः सप्रजाः ससन्तानाः प्रजा जनाः । 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने' इत्युभयत्राप्यमरः । ननन्दुः ॥ ३ ॥

इन्द्रकी पताकाकी तरह रघु महाराजके नवीन अभ्युदय (तरक्की) को देखने वाले अत एव ऊपरको नेत्र समूहों को किये हुये सन्तान सहित प्रजा लोग प्रसन्न हुये ॥ ३ ॥

अथ रघोः सिंहासनारूढलक्षण एव शत्रुमण्डलमपि पदाक्रान्तमभूदित्याह—

सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना ।
तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम् ॥ ४ ॥

सममेवेति । द्विरद इव द्विरदैश्च गच्छतीति द्विरदगामी तेन । 'कर्तर्युपमाने' इति 'सुप्यजातौ' इति च णिनिः । तेन रघुणा समं युगपदेव द्वयं समाक्रान्तमधिष्ठितम् । किं तद् द्वयम् । पितुरागतं पित्र्यम् । 'पितुर्यत्' इति यत्प्रत्ययः । सिंहासनम् अखिलमरीणां मण्डलं राष्ट्रं च ॥ ४ ॥

हाथीकी तरह लीलापूर्वक चलनेवाले अथवा हाथी पर चलने वाले रघुने साथ ही दोनों को दबाया, एक तो पितासे प्राप्त सिंहासनको दूसरे सम्पूर्ण शत्रुमण्डलको ॥ ४ ॥

अथ सिंहासनारोहणानन्तरं तस्य लक्ष्मीसन्निधानमाह—

छायामण्डललक्ष्येण तमदृश्या किल स्वयम् ।
पद्मा पद्मातपत्रेण भेजे साम्राज्यदीक्षितम् ॥ ५ ॥

छायेति । अत्र रघोस्तेजोविशेषेण स्वयं सन्निहितया लक्ष्म्या छत्रधारणं कृतमित्युत्प्रेक्षते । पद्मा लक्ष्मीः । 'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया' इत्यमरः । सा स्वयमदृश्या किल किलेति सम्भावनायाम् । सती । छायामण्डललक्ष्येण कान्तिपुञ्जानुमेयेन न तु स्वरूपतो दृश्येन । छायामण्डलमित्यनेनातपज्ञानं लक्ष्यते । 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इत्युभयत्राप्यमरः । पद्मातपत्रेण पद्ममेवातपत्रं तेन कारणभूतेन साम्राज्यदीक्षितं साम्राज्ये साम्राज्यकर्मणि मण्डलाधिपत्ये दीक्षितमभिषिक्तं तं भेजे । अन्यथा कथमेतादृशी कान्तिसम्पत्तिरिति भावः ॥ ५ ॥

लक्ष्मी स्वयं अदृश्य रूप से विद्यमान हुई छाया (कान्ति या छाया) के मण्डल से जिसका अनुमान किया जा सका है, ऐसे उन रघु महाराज की सेवा करने लगी ॥ ५ ॥

सम्प्रति सरस्वतीसान्निध्यमाह—

परिकल्पितसान्निध्या काले काले च बन्दिषु ।
स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती ॥ ६ ॥

परिकल्पितेति । सरस्वती च काले काले सर्वेष्वपि योग्यकालेषु । 'नित्यवीप्सयोः' इति वीप्सायां द्विवचनम् । बन्दिषु परिकल्पितसान्निध्या कृतसन्निधाना सती स्तुत्यं

स्तोत्राहं तं रघुम् । अर्थ्याभिरर्थादनपेताभिः । 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्ययः । स्तुतिभिः स्तोत्रैरुपतस्थे । देवताबुद्ध्या पूजितवतीत्यर्थः । देवतात्वं च (ना विष्णुः पृथिवीपतिः) इति वा लोकपालात्मकत्वाद्वेत्यनुसंधेयम् । एवं च सति 'उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिषु' इति वक्तव्यादात्मनेपदं सिध्यति ॥ ६ ॥

सरस्वती देवी ने भी समय समय पर बन्दियों की समीपवर्त्तिनी होती हुई स्तुति करने के योग्य उन रघु महाराज को अर्थ से युक्त उचित स्तोत्रों द्वारा देवबुद्धि से या लोकपालों के अंश से उत्पन्न होने के कारण पूजन किया ॥ ६ ॥

अथ रघोरनन्यपूर्वमिव पृथ्वीशासनमासीदित्याह—

मनुप्रभृतिभिर्मान्यैर्भुक्ता यद्यपि राजभिः ।
तथाऽप्यनन्यपूर्वेव तस्मिन्नासीद्वसुन्धरा ॥ ७ ॥

मनुप्रभृतिभिरिति । वसुन्धरा मनुप्रभृतिभिर्मन्वादिभिर्मान्यैः पूज्यै राजभिर्भुक्ता यद्यपि । भुक्तैवेत्यर्थः । यद्यपीत्यवधारणे । 'अप्यर्थे यदि वाऽर्थे स्यात्' इति केशवः । तथाऽपि । तस्मिन् राज्ञि । अन्यः पूर्वो यस्याः साऽन्यपूर्वा अन्यपूर्वा न भवतीत्यनन्यपूर्वा अनन्योपभुक्तेवासीत् । तत्प्रथमपतिकेवानुरक्तवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

पृथ्वी मनु आदि माननीय राजाओं से यद्यपि भोगी गई थी, तथापि उन महाराज रघु में अन्य से जैसे नहीं भोगी गई हो ऐसी अनुरक्त हुई ॥ ७ ॥

अत्र कारणमाह—

स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः ।
आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः ॥ ८ ॥

स इति । हि यस्मात्कारणात्स रघुर्युक्तदण्डतया यथाऽपराधदण्डतया सर्वस्य लोकस्य मन आददे जहार । क इव । अतिशीतोऽत्युष्णो वा न भवतीति नातिशीतोष्णः । नञर्थस्य नशब्दस्य 'सुप्सुपे'ति समासः । दक्षिणो दक्षिणदिग्भवो नभस्वान्वायुरिव । मलयानिल इवेत्यर्थः । युक्तदण्डतयेत्यत्र कामन्दकः–(उद्वेजयति तीक्ष्णेन मृदुना परिभूयते । दण्डेन नृपतिस्तस्माद्युक्तदण्डः प्रशस्यते) । इति ॥ ८ ॥

क्योंकि उस रघु ने अपराध के अनुसार दण्ड देने से सभी लोगों के मन को हरण कर लिया जैसे कि—न अत्यन्त शीत और न अत्यन्त गरम बहने वाला दक्षिण दिशा का पवन सब लोगों के मन को हरण करता है ॥ ८ ॥

अथ रघोः सुप्रबन्धेन प्रजावर्गस्य दिलीपकर्तृकसुप्रबन्धस्य विस्मरणमाह—

मन्दोत्कण्ठाः कृतास्तेन गुणाधिकतया गुरौ ।
फलेन सहकारस्य पुष्पोद्गम इव प्रजाः ॥ ९ ॥

मन्देति । तेन रघुणा प्रजा गुरौ दिलीपविषये । सहकारोऽतिसौरभश्चूतः 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभः' इत्यमरः । तस्य फलेन पुष्पोद्गमे पुष्पोदय

इव ततोऽपि गुणाधिकतया हेतुना मन्दोत्कण्ठा अल्पौत्सुक्याः कृताः। गुणोत्तरश्चोत्तरो विषयः पूर्वं विस्मारयतीति भावः॥ ९॥

उन रघु महाराज ने प्रजा वर्ग को अपने पिता महाराज दिलीप के विषय में जैसे आम का फल-फूल (बौर) के निकलने के विषय में उस (बौर) की अपेक्षा अधिक गुण होने से लोगों को स्वल्प उत्कण्ठा वाला बना देता है उसी भांति बना दिया अर्थात् रघु के गुणों से लोग महाराज दिलीप को भूल गये॥ ९॥

अथ रघोः सदसतोर्मध्ये सदेवाभिमतमासीदित्याह—

नयविद्भिर्नवे राज्ञि सदसच्चोपदर्शितम्।
पूर्व एवाभवत्पक्षस्तस्मिन्नाभवदुत्तरः॥ १०॥

नयेति। नयविद्भिर्नीतिशास्त्रज्ञैर्नवे तस्मिन् राज्ञि विषये। तमधिकृत्येत्यर्थः। सद्धर्मयुद्धादिकमसत्कूटयुद्धादिकं चोपदर्शितम्। तस्मिन्राज्ञि पूर्वः पक्ष एवाभवत्। संक्रान्ति इत्यर्थः। इतरः पक्षो नाभवत्। न संक्रान्त इत्यर्थः। तत्र सदसतोर्मध्ये सदेवाभिमतं नासत्। तदुद्भावनं तु ज्ञानार्थमेवेत्यर्थः। पक्षः साधनयोग्यार्थः। 'पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु' इति केशवः॥ १०॥

नीति जानने वाले मन्त्रियों न नवीन महाराज रघु के विषय में अच्छा धर्मयुद्धादिक और बुरा कपट-युद्धादिक दोनों निवेदन करके दिखाया, पर उनके योग्य पहला धर्मयुद्धादि पक्ष ही निश्चय हुआ, दूसरा अधर्मयुद्धादि पक्ष निश्चय नहीं हुआ॥ १०॥

अथ रघो राज्ये द्रव्येषु गुणानां गन्धादीनामुत्कर्षमाह—

पञ्चानामपि भूतानामुत्कर्षं पुपुषुर्गुणाः।
नवे तस्मिन्महीपाले सर्वं नवमिवाभवत्॥ ११॥

पञ्चानामिति। पृथिव्यादीनां पञ्चानां भूतानामपि गुणा गन्धादय उत्कर्षमतिशयं पुपुषुः। अत्रोत्प्रेक्षते—तस्मिन्रघौ नाम नवे महीपाले सर्वं वस्तुजातं नवमिवाभवत्। तदेव भूतजातमिदानीमपूर्वगुणयोगादपूर्वमिवाभवदिति भावः॥ ११॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पांच महाभूतों के भी गुण गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द अत्यन्त पुष्ट हुये (अर्थात् पहले की अपेक्षा आधिक्य को प्राप्त हुये) उस नवीन महाराज रघु के राजा होने पर सभी वस्तुयें नवीन की तरह हो गईं॥ ११॥

अथ रघुरन्वर्थो राजाऽभूदित्याह—

यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्॥ १२॥

यथेति। यथा चन्द्रयत्याह्लादयतीति चन्द्र इन्दुः। चदिधातोरौणादिको रक्प्रत्ययः। प्रह्लादनादाह्लादकरणादन्वर्थोऽनुगतार्थनामकोऽभूत्। यथा च तपतीति तपनः सूर्यः। 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' इत्यनेन ल्युप्रत्ययः। प्रतापा-

स्सन्तापजननादन्वर्थः। तथैव स राजा प्रकृतिरञ्जनादन्वर्थः सार्थकराजशब्दोऽभूत्। यद्यपि राजशब्दो राजतेर्दीप्त्यर्थात्कनिन्प्रत्ययान्तो न तु रञ्जेस्तथाऽपि धातूनामनेकार्थत्वाद्रञ्जनाद्राजेत्युक्तं कविना ॥ १२ ॥

जिस प्रकार से चन्द्रमा आह्लाद उत्पन्न करने से सार्थक नाम वाले हुए और जिस प्रकार से सूर्य सन्ताप उत्पन्न करने से यथार्थ नामवाले हुये, उसी प्रकार से वे रघु महाराज भी पुरवासी लोगों के अनुराग को पैदा करने से यथार्थ नाम वाले राजा हुये ॥ १२ ॥

अथ चक्षुष्मतोऽपि रघोर्लोचनं शास्त्रमेवासीदित्याह—

कामं कर्णान्तविश्रान्ते विशाले तस्य लोचने ।
चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना ॥ १३ ॥

काममिति। विशाले तस्य रघोर्लोचने कामं कर्णान्तयोर्विश्रान्ते कर्णप्रान्तगते। चक्षुष्मत्ता तु चक्षुःफलं त्वित्यर्थः। सूक्ष्मान् कार्यार्थान्कर्तव्यार्थान्दर्शयति प्रकाशयतीति सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना शास्त्रेणैव शास्त्रं दृष्टिर्विवेकिनामिति भावः ॥ १३ ॥

यद्यपि बड़े बड़े उन रघु महाराज के लोचन हद से ज्यादा कान तक फैले हुए थे, परन्तु आंख का होना (आँखों का फल) तो गूढ़ कर्त्तव्य विषयों के दिखानेवाले शास्त्र से ही था, अर्थात् वे शास्त्र से देखकर कार्य करते थे न कि केवल आँखों से ही ॥ १३ ॥

अथ रघोर्दिग्विजययोग्यसमयः शरदृतुः प्राप्त इत्याह—

लब्धप्रशमनस्वस्थमथैनं समुपस्थिता ।
पार्थिवश्रीर्द्वितीयेव शरत्पङ्कजलक्षणा ॥ १४ ॥

लब्धेति। अथ लब्धस्य राज्यस्य प्रशमनेन परिपन्थिनामनुरञ्जनप्रतीकाराभ्यां स्थिरीकरणेन स्वस्थं समाहितचित्तमेनं रघुं पङ्कजलक्षणा पद्मचिह्ना। श्रियोऽपि विशेषणमेतत्। शरद्। द्वितीया पार्थिवश्री राजलक्ष्मीरिव समुपस्थिता प्राप्ता। (रक्षा पौरजनस्य देशनगरग्रामेषु गुप्तिस्तथा योधानामपि संग्रहोऽपि तुलया मानव्यवस्थापनम्। साम्यं लिङ्गिषु दानवृत्तिकरणं त्यागं समानेऽर्चनं कार्याण्येव महीभुजां प्रशमनान्येतानि राज्ये नवे) ॥ १४ ॥

इसके (राजासन पर बैठने के) बाद पाये हुये राज्य का (पौरजनों की रक्षा आदि प्रशमनात्मक कार्यों से) प्रशमन (शान्तिस्थापन) करने से शान्त चित्त हुये इन रघु महाराजको कमल ही है चिह्न जिसका ऐसी शरद् ऋतु दूसरी कमलरूप चिह्नवाली राजलक्ष्मी की भाँति प्राप्त हुई ॥ १४ ॥

अथ शरदृतुगुणान् वर्णयन् कविरादौ सूर्यस्य रघोश्च साम्यस्थितिमाह—

निर्वृष्टलघुभिर्मेघैर्मुक्तवर्त्मा सुदुःसहः ।
प्रतापस्तस्य भानोश्च युगपद्व्यानशे दिशः ॥ १५ ॥

निर्वृष्टेति। निःशेषं वृष्टा निर्वृष्टाः। कर्तरि क्तः। अत एव लघवः। तैर्मेघैर्मुक्तवर्त्मा॰

त्यक्तमार्गः । अत एव सुदुःसहः । तस्य रघोर्भानोश्च प्रतापः पौरुषमातपश्च । 'प्रतापौ पौरुषातपौ' इति यादवः । युगपद्दिशो व्यानशे व्याप ॥ १५ ॥

अच्छी तरह से जल बरसा चुकने से हलके हुए मेघों ने जिसके मार्ग को छोड़ दिया है, अत एव अत्यन्त दुःसह रघुका प्रताप और सूर्यका तेज दोनों एक समय ही सारी दिशाओं में व्याप्त हो गये ॥ १५ ॥

अथेन्द्रस्य वार्षिकधनुःसंहारानन्तरं रघोर्जैत्रधनुर्धारणमाह—

वार्षिकं संजहारेन्द्रो धनुर्जैत्रं रघुर्दधौ ।
प्रजाऽर्थसाधने तौ हि पर्यायोद्यतकार्मुकौ ॥ १६ ॥

वार्षिकमिति । इन्द्रः । वर्षासु भवं वार्षिकम् । वर्षानिमित्तमित्यर्थः । 'वर्षाभ्यष्ठक्' इति ठक्प्रत्ययः । धनुः संजहार । रघुर्जैत्रं जयशीलम् । जेतृशब्दात्तृन्नन्तात् 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इति स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । धनुर्दधौ हि यस्मात्ताविन्द्ररघू प्रजानामर्थस्य प्रयोजनस्य वृष्टिविजयलक्षणस्य साधनविषये पर्यायेणोद्यते कार्मुके याभ्यां तौ पर्यायोद्यतकार्मुकौ । 'पर्यायोद्यमविश्रमौ' इति पाठान्तरे पर्यायेणोद्यमो विश्रमश्च ययोस्तौ पर्यायोद्यमविश्रमौ । द्वयोः पर्यायकरणादक्लेश इति भावः ॥ १६ ॥

इन्द्रने वर्षा काल में उगने वाले धनुषको रख दिया और रघुने विजय करने वाले धनुष को धारण किया, क्योंकि वे दोनों इन्द्र और रघु प्रजाओंका प्रयोजन जो वर्षाका होना तथा दिग्विजयका करना है, उन दोनोंको बारी-बारीसे सिद्ध करने के लिये तत्पर रहते थे ॥१६॥

अथ शरदृतुकर्तृकं रघो राजचिह्नस्य छत्रचामररूपस्यानुकरणमाह—

पुण्डरीकातपत्रस्तं विकसत्काशचामरः ।
ऋतुर्विडम्बयामास न पुनः प्राप तच्छ्रियम् ॥ १७ ॥

पुण्डरीकेति । पुण्डरीकं सिताम्भोजमेवातपत्रं यस्य स तथोक्तः । विकसन्ति काशानि काशाख्यतृणकुसुमान्येव चामराणि यस्य स तथोक्तः । ऋतुः शरदृतुः पुण्डरीकनिभातपत्रं काशनिभचामरं तं रघुं विडम्बयामासानुचकार । तस्य रघोः श्रियं पुनः शोभां तु न प्राप । 'शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरिव कथ्यते' इति शाश्वतः ॥ १७ ॥

जिसका श्वेतकमल ही छत्र है तथा खिले हुये काश ही चामर है-ऐसा जो शरदृतु है, उसने यद्यपि श्वेतकमल के समान श्वेत छत्र तथा खिले हुए काश के समान चामर वाले उन रघु महाराज का अनुकरण किया, तथापि उनकी शोभा को नहीं प्राप्त किया ॥१७॥

अथ सर्वासां प्रजानां तस्मिन् रघौ पूर्णतमा प्रीतिरासीदित्याह—

प्रसादसुमुखे तस्मिंश्चन्द्रे च विशदप्रभे ।
तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरासीत्समरसा द्वयोः ॥ १८ ॥

प्रसादेति । प्रसादेन सुमुखे तस्मिन् रघौ विशदप्रभे निर्मलकान्तौ चन्द्रे च द्वयो-

विषये तदा चक्षुष्मतां प्रीतिरनुरागः समरसा समस्वादा । तुल्ययोगेति यावत् । 'रसो गन्धे रसः स्वादे' इति विश्वः । आसीत् ॥ १८ ॥

लोगों के अपार अनुग्रह करने से देखने में सुन्दर मुखवाले उन रघु महाराज तथा स्वच्छकान्ति वाले चन्द्रमा इन दोनों के विषय में उस समय जिनके आखें थीं ऐसे लोगों की प्रीति समान ही थी ॥ १८ ॥

अथ रघुयशसां धवलिमावर्णनमाह—

हंसश्रेणीषु तारासु कुमुद्वत्सु च वारिषु ।
विभूतयस्तदीयानां पर्यस्ता यशसामिव ॥ १९ ॥

हंसश्रेणीष्विति । हंसानां श्रेणीषु पंक्तिषु तारासु नक्षत्रेषु कुमुदानि येषु सन्तीति कुमुद्वन्ति । 'कुमुद्वान्कुमुदप्राये' इत्यमरः । 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' । तेषु कुमुदप्रायेष्वित्यर्थः । वारिषु च तदीयानां रघुसम्बन्धिनां यशसां विभूतयः सम्पदः पर्यस्ता इव प्रसारिताः किम् । इत्युत्प्रेक्षा । अन्यथा कथमेषां धवलिमेति भावः ॥ १९ ॥

हंसों की पंक्तियों में, नक्षत्रों में और कुमुद से युक्त जल में रघुसम्बन्धी यश की सफेदीरूप विभूति मानों फैली हुई थी ॥ १९ ॥

ग्रामीणस्त्रियोऽपि रघुयशोगानपरायणा आसन्नित्याह—

इक्षुच्छायानिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥ २० ॥

इक्षुच्छायेति । इक्षूणां छायेक्षुच्छायम् । 'छाया बाहुल्ये' इति नपुंसकत्वम् । तत्र निषण्णा इक्षुच्छायनिषादिन्यः 'इक्षुच्छायानिषादिन्यः' इति स्त्रीलिङ्गपाठे इक्षोश्छायेति विग्रहः । अन्यथा बहुत्वे नपुंसकत्वप्रसङ्गात् । शालीन्गोपायन्ति रक्षन्तीति शालिगोप्यः सस्यपालिकाः स्त्रियः । 'कर्मण्यण्' । 'टिड्ढाणञ्–' इत्यादिना ङीप् । गोप्तुः रक्षकस्य तस्य रघोः । गुणेभ्य उदयो यस्य तद्गुणोदय गुणोत्पन्नमाकुमारं कुमारादारभ्य कथोद्घातः कथाऽऽरम्भो यस्य तत् । कुमारैरपि स्तूयमानमित्यर्थः । यशो जगुर्गायन्ति स्म । अथवा कुमारस्य सतो रघोर्याः कथा इन्द्रविजयादयस्तत आरभ्याकुमारकथम् । तत्राप्यभिविधावव्ययीभावः । आकुमारकथमुद्घातो यस्मिन्कर्मणि । गानक्रियाविशेषणमेतत् । 'स्यादभ्यादानमुद्घात आरम्भः' इत्यमरः 'आकुमारकथोद्भूतम्' इति पाठे कुमारस्य सतस्तस्य कथाभिश्चरितैरुद्भूतं यद्यशस्तद्यश आरभ्य यशो जगुरिति व्याख्येयम् ॥ २० ॥

ईखकी छायामें बैठी हुई साठी आदि धानकी रखवाली करने वाली किसानों की स्त्रियोंने रक्षा करने वाले उन रघु महाराज के शूरता, उदारता आदि गुणों से प्रकट हुये बालकों तक से तारीफ किये गये यश का गान किया ॥ २० ॥

अथ रघोः प्रतापोदयेन निजाभिभवशङ्कया शत्रूणां मनः क्षुभितं बभूवेत्याह—

प्रससादोदयादम्भः कुम्भयोनेर्महौजसः ।
रघोरभिभवाशङ्कि चुक्षुभे द्विषतां मनः ॥ २१ ॥

प्रससादेति । महौजसः कुम्भयोनेरगस्त्यस्य । 'अगस्त्यः कुम्भसंभवः' इत्यमरः । उदयादम्भः प्रससाद प्रसन्नं बभूव । महौजसो रघोरुदयादभिभवाशङ्कि द्विषतां मनश्चुक्षुभे कालुष्यं प्राप । 'अगस्त्योदये जलानि प्रसीदन्ति' इत्यागमः ॥ २१ ॥

इधर महाबलवान् अगस्त्य जी का नक्षत्ररूपेण उदय होने से जल निर्मल हुआ और उधर महाबलशाली रघु महाराजका दिग्विजयके लिये सर्वत्र विजय करने वाले धनुषका धारण करना रूप, उदय होने से दुश्मनोंका मन अत्यन्त व्याकुल हो उठा ॥ २१ ॥

अथ रघोर्महोक्षवच्छौर्यमासीदित्याह—

मदोदग्राः ककुद्मन्तः सरितां कूलमुद्रुजाः ।
लीलाखेलमनुप्रापुर्महोक्षास्तस्य विक्रमम् ॥ २२ ॥

मदोदग्रा इति । मदोदग्रा मदोद्धताः । ककुदेषामस्तीति ककुद्मन्तः, महाककुद इत्यर्थः । यवादित्वान्मकारस्य वत्वाभावः । सरितां कूलान्युद्रुजन्तीति कुलमुद्रुजाः । 'उदि कूले रुजिवहोः' इति खश्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इत्यादिना मुमागमः । महान्त उक्षाणो महोक्षाः । 'अचतुर–' इत्यादिना निपातनादकारान्तः । लीलाखेलं विलाससुभगं तस्य रघोरुत्साहवतो वपुष्मतः परभञ्जकस्य विक्रमं शौर्यमनुप्रापुरनुचक्रुः ॥ २२ ॥

मदसे मतवाले बड़े ककुद (डील) वाले, नदियोंके किनारोंको गिराने वाले बड़े बड़े बैलोंने लीलापूर्वक खेलकी तरह उन रघु महाराजके विक्रम का अनुकरण किया २२ ॥

अथ रघोः सैन्ये मदोन्मत्ता गजेन्द्रा आसन्नित्याह—

प्रसवैः सप्तपर्णानां मदगन्धिभिराहताः ।
असूययेव तन्नागाः सप्तधैव प्रसुस्रुवुः ॥ २३ ॥

प्रसवैरिति । मदस्येव गन्धो येषां तैर्मदगन्धिभिः । 'उपमानाच्च' इतीकारः समासान्तः । सप्तपर्णानां वृक्षविशेषाणाम् । 'सप्तपर्णो विशालत्वक् शारदो विषमच्छदः' इत्यमरः । प्रसवैः पुष्पैराहतास्तस्य रघोर्नागा गजाः । 'गजेऽपि नागमातङ्गौ' इत्यमरः । असूययेवाहतिनिमित्तया स्पर्धयेव सप्तधैव प्रसुस्रुवुर्मदं ववृषुः । प्रतिगजगन्धाभिमानादिति भावः । 'करात्कटाभ्यां मेढ्राच्च नेत्राभ्यां च मदस्रुतिः' इति पालकाप्ये । करान्नासारन्ध्राभ्यामित्यर्थः ॥ २३ ॥

हाथीके मदके तुल्य गन्धवाले सप्तपर्ण के फूलों से आहत हुये उन रघु महाराज के सभी हाथी मानों स्पर्धा से सात प्रकार (सात अङ्गों) से मदको बरसाने लगे ॥ २३ ॥

अथ शरदृतुर्दिग्विजयाय तं रघुं प्रथमं प्रेरयामासेत्याह—

सरितः कुर्वती गाधाः पथश्चाश्यानकर्दमान्।
यात्रायै चोदयामास तं शक्तेः प्रथमं शरत्॥ २४॥

सरितो गाधाः सुप्रतराः कुर्वती। पथो मार्गांश्चाश्यानकर्दमाञ्छुष्कपङ्कान्कुर्वती। 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' इति श्यतेर्निष्ठातस्य नत्वम्। शरच्छरदृतुस्तं रघुं शक्तेरुत्साहशक्तेः प्रथमं प्राग्यात्रायै दण्डयात्रायै चोदयामास प्रेरयामास। प्रभावमन्त्रशक्तिसम्पन्नस्य शरत्स्वयमुत्साहमुत्पादयामासेत्यर्थः॥ २४॥

नदियों को सुखपूर्वक पार जाने लायक करती हुई तथा मार्गों के कीचड़ों को शुष्क करती हुई शरद् ऋतु प्रभाव-शक्ति तथा मन्त्र-शक्ति से युक्त उन रघु महाराज को उत्साह शक्ति होने के पहले ही दिग्विजय के लिये प्रेरणा करने लगी॥ २४॥

अथ रघोर्यात्रासमये शुभशकुनं सूचयन् वह्निः प्रदक्षिणार्चिर्बभूवेत्याह—

तस्मै सम्यग्घुतो वह्निर्वाजिनीराजनाविधौ।
प्रदक्षिणार्चिर्व्याजेन हस्तेनेव जयं ददौ॥ २५॥

वाजिनामश्वानां नीराजनाविधौ नीराजनाऽऽख्ये शान्तिकर्मणि सम्यग्विधिवद् हुतो होमसमिद्धो वह्निः। प्रगता दक्षिणं प्रदक्षिणम्। तिष्ठद्गुप्रभृतित्वादव्ययीभावः। प्रदक्षिणं याऽर्चिर्ज्वाला तस्या व्याजेन हस्तेनेव तस्मै जयं ददौ। उक्तमाहवयात्रायाम्—'इद्धः प्रदक्षिणगतो हुतभुङ्नृपस्य धात्रीं समुद्ररशनां वशगां करोति' इति। वाजिग्रहणं गजादीनामप्युपलक्षणं तेषामपि नीराजनाविधानात्॥ २५॥

घोड़ों के नीराजना नामक शान्तिकर्म में विधिपूर्वक हवन जिसमें किया गया है ऐसे होमाग्नि ने दक्षिण की तरफ घूमकर निकलती हुई ज्वाला के छल से मानो अपने हाथ से उन रघु महाराज के लिये विजय प्रदान किया॥ २५॥

स गुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः।
षड्विधं बलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया॥ २६॥

गुप्तौ मूलं स्वनिवासस्थानं प्रत्यन्तः प्रान्तदुर्गं च येन स गुप्तमूलप्रत्यन्तः। शुद्धपार्ष्णिरुद्धृतपृष्ठशत्रुः सेनया रक्षितपृष्ठदेशो वा। अयान्वितः शुभदैवान्वितः 'अयः शुभावहो विधिः' इत्यमरः। स रघुः, षड्विधं मौलभृत्यादिरूपं बलं सैन्यम्। 'मौलं भृत्यः सुहृच्छ्रेणी द्विषदाटविकं बलम्' इति कोषः। आदाय दिशां जिगीषया जेतुमिच्छया प्रतस्थे चचाल॥ २६॥

महाराज रघुने अपने निवास-स्थान तथा प्रान्त के दुर्गों की रक्षा का प्रबन्ध कर तथा सेना के पृष्ठ भाग को सुरक्षित कर एवं कल्याण करने वाले यात्राकालीन मङ्गलाचरणादिकों को विधिवत् संपादन कर छः प्रकार के बल (सैन्य) के साथ दिग्विजय की इच्छा से प्रस्थान किया॥ २६॥

अथ दिग्विजयाय प्रस्थितस्य तस्य रघोरुपरि पौरवृद्धाङ्गनानां लाजप्रक्षेपमाह—

अवाकिरन्वयोवृद्धास्तं लाजैः पौरयोषितः ।
पृषतैर्मन्दरोद्धूतैः क्षीरोर्मय इवाच्युतम् ॥ २७ ॥

वयोवृद्धाः पौरयोषितस्तं रघुं प्रयान्तं लाजैराचारलाजैः । मन्दरोद्धूतैः पृषतैर्बिन्दुभिः क्षीरोर्मयः, क्षीरसमुद्रोर्मयोऽच्युतं विष्णुमिव । अवाकिरन्पर्यक्षिपन् ॥२७॥

अवस्था में वृद्धा नगरवासियों की स्त्रियों ने दिग्विजय के लिये जाते हुये उन रघु महाराज के ऊपर मङ्गलार्थक लाजों (धान के खीलों) से, मन्दराचल से फेंके गये दुग्ध के बिन्दुओं से क्षीरसमुद्र की लहरों ने जैसे विष्णु भगवान् के ऊपर वर्षा की थी उसी भांति वर्षा की ॥ २७ ॥

अथ युग्मेन प्रथमं रघोः प्राच्यां दिशि गमनमभूदित्याह—

स ययौ प्रथमं प्राचीं तुल्यः प्राचीनबर्हिषा ।
अहिताननिलोद्धूतैस्तर्जयन्निव केतुभिः ॥ २८ ॥

प्राचीनबर्हिर्नाम कश्चिन्महाराज इति केचित् । प्राचीनबर्हिरिन्द्रः । 'पर्जन्यो मघवा वृषा हरिहयः प्राचीनबर्हिः स्मृतः' इतीन्द्रपर्यायेषु हलायुधाभिधानात् । तेन तुल्यः स रघुः अनिलेनानुकूलवातेनोद्धूतैः केतुभिर्ध्वजरहितान्रिपूंस्तर्जयन्निव भर्त्सयन्निव । तर्जिभर्त्स्योरनुदात्तत्वेऽपि चक्षिङो ङित्करणेनानुदात्तेत्त्वनिमित्तस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वज्ञापनात्परस्मैपदमिति वामनः । प्रथमं प्राचीं दिशं ययौ ॥ २८ ॥

इन्द्र के तुल्य वे रघुमहाराज अनुकूल वायु से फहराती हुई पताकाओं से दुश्मनों को मानों डराते हुये पहले पूर्व दिशा की तरफ चले ॥ २८ ॥

अथ कविः रघोः सैन्यबाहुल्यं द्योतयन्नाह—

रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसन्निभैः ।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम् ॥ २९ ॥

किं कुर्वन् स्यन्दनोद्धूतै रजोभिर्घनसन्निभैर्वर्णतः, क्रियातः, परिमाणतश्च मेघतुल्यैर्गजैश्च यथाक्रमं व्योमाकाशं भुवस्तलमिव भूतलं च व्योमेव कुर्वन् । ययाविति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ २९ ॥

रथ से उड़ी हुई धूलि से और मेघ के तुल्य (गर्जन करने वाले तथा वर्ण और आकार वाले) हाथियों से क्रम से आकाश को पृथ्वीतल की भांति और पृथ्वीतल को आकाश की भांति करते हुये 'वे रघु महाराज पूर्व दिशा को गये' ॥ २९ ॥

अथ रघोः सैन्यगमनं वर्णयन्नाह—

प्रतापोऽग्रे ततः शब्दः परागस्तदनन्तरम् ।
ययौ पश्चाद्रथादीति चतुःस्कन्धेव सा चमूः ॥ ३० ॥

अग्रे प्रतापस्तेजोविशेषः । 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः । ततः शब्दः सेनाकलकलः । तदनन्तरं परागो धूलिः । 'परागः पुष्परजसि, धूलि-

स्नानीययोरपि' इति विश्वः । पश्चाद्रथादि रथाश्वादिकं चतुरङ्गबलम् । 'रथानीकम्' इति पाठे, इति शब्दाध्याहारेण योज्यम् । इतीत्थं चतुःस्कन्धेव चतुर्व्यूहेव । 'स्कन्धः प्रकाण्डे कायांशे विज्ञानादिषु पञ्चसु । नृपे समूहे च' इति हैमः । सा चमूर्ययौ ॥३०॥

सबसे पहले रघु का प्रताप उसके बाद सेनाका कलकल शब्द और उसके बाद धूलि तथा पीछेसे रथ वगैरह, इस प्रकारसे चार व्यूह किये हुयेकी भांति रघुसेना चली ॥ ३० ॥

अथ रघोः शक्त्युत्कर्षाज्जले स्थलेऽपि च सर्वत्र सुखेन गमनमासीदित्याह—

मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः ।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः ॥ ३१ ॥

स रघुः शक्तिमत्त्वात्समर्थत्वान्मरुपृष्ठानि निर्जलस्थानानि । 'समानौ मरुधन्वानौ' इत्यमरः । उदम्भांस्युद्भूतजलानि चकार । नाव्याः = नौभिस्तार्याः नदीः । 'नाव्यं त्रिलिङ्गं नौतार्ये' इत्यमरः । 'नौवयोधर्मविषमूलसीतातुलाभ्यः—' इत्यादिना यत्प्रत्ययः । सुप्रतराः सुखेन तार्याश्चकार । विपिनान्यरण्यानि । 'अटव्यरण्यं विपिनम्' इत्यमरः । प्रकाशानि निर्वृक्षाणि चकार । शक्त्युत्कर्षात्तस्यागम्यं किमपि नासीदिति भावः ॥ ३१ ॥

उन रघु महाराज ने प्रभाव, उत्साह और मन्त्र शक्ति सम्पन्न होने से जल से रहित प्रदेशों को जल से युक्त और नौका से पार करने लायक नदियों को सुख से पार करने के योग्य, तथा जङ्गलों को (वृक्ष कट जाने से) प्रकाश युक्त कर दिया ॥ ३१ ॥

अथ पूर्वीयसिन्धुतटमुद्दिश्य गच्छन्तीं महतीं सेनां नयतो रघोः शोभां वर्णयन्नाह—

स सेनां महतीं कर्षन्पूर्वसागरगामिनीम् ।
बभौ हरजटाभ्रष्टां गङ्गामिव भगीरथः ॥ ३२ ॥

महतीं सेनां पूर्वसागरगामिनीं कर्षन् स रघुः हरस्य जटाभ्यो भ्रष्टां गङ्गां कर्षन् । (साऽपि पूर्वसागरगामिनी) भगीरथ इव बभौ । भगीरथो नाम कश्चित्कपिलदग्धानां सगराणां नप्ता, तत्पावनाय हरकिरीटाद् गङ्गां प्रवर्तयिता राजा, यत्सम्बन्धाद् गङ्गा च भागीरथी गीयते ॥ ३२ ॥

बड़ी भारी सेना जो कि पूर्वसमुद्र की तरफ जाने वाली थी उसे ले जाते हुये वे रघु महाराज उसी भांति सुशोभित हुये जैसे कि शङ्कर की जटा से नीची गिरी हुई पूर्व समुद्र की तरफ जाने वाली गङ्गा जो को लिये जाते हुए भगीरथ सुशोभित हुये थे ॥ ३२ ॥

अथ रघोः सन्यमार्गः प्रतिबन्धरहित आसीदित्याह—

त्याजितैः फलमुत्खातैर्भग्नैश्च बहुधा नृपैः ।
तस्यासीदुल्बणो मार्गः पादपैरिव दन्तिनः ॥ ३३ ॥

फलं लाभम् । 'फलं फले धने बीजे निष्पत्तौ भोगलाभयोः' इति केशवः । वृक्षपक्षे = प्रसवं च । त्याजितैः । त्यजेर्ण्यन्ताद् द्विकर्मकाद्प्रधाने कर्मणि क्तः । उत्खातैः

स्वपदाच्च्यावितैः । अन्यत्रोत्पाटितैः । बहुधा भग्नै रणे जितैः । अन्यत्र छिन्नैः । नृपैः । पादपैर्दन्तिनो गजस्येव । तस्य रघोर्मार्ग उल्बणः प्रकाश आसीत् । 'प्रकाशं प्रकटं स्पष्टमुल्बणं विशदं स्फुटम्' इति यादवः ॥ ३३ ॥

लाभ होना जिनका छिनवा लिया गया है और जो अपने स्थानसे च्युत कर दिये गये हैं तथा अनेक प्रकार से लड़ाई में जो जीत लिये गये हैं ऐसे शत्रुरूप राजाओं से उन रघु महाराज का मार्ग साफ (निष्कण्टक) हुआ, जैसे कि जिनके फल गिरा दिये गये हैं और जो जड़ से उखाड़ दिये गये हैं तथा तोड़ दिये गये हैं ऐसे वृक्षों से हाथी का मार्ग स्वच्छ (निष्कण्टक) हो जाता है ॥ ३३ ॥

अथ दिग्विजयं कुर्वतो रघोः पूर्वसमुद्रतटसमीपप्राप्तिमाह—

पौरस्त्यानेवमाक्रामंस्तांस्ताञ्जनपदाञ्जयी ।
प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः ॥ ३४ ॥

जयी जयनशीलः । 'जिदृक्षिविश्री०' इत्यादिनेनिप्रत्ययः । स रघुरेवम् । पुरो भवान्पौरस्त्यान्प्राच्यान् । 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्' इति त्यक्प्रत्ययः । तांस्तान् । सर्वानित्यर्थः । वीप्सायां द्विरुक्तिः । जनपदान् देशानाक्रामंस्तालीवनैः श्यामं महोदधेरुपकण्ठमन्तिकं प्राप ॥ ३४ ॥

विजयी वे रघु महाराज इस प्रकार से पूर्व दिशा के सब देशों पर अपना अधिकार करते हुए ताली के वनों से श्यामवर्ण जो महासमुद्र का तट प्रान्त है वहाँ पहुँचे ॥ ३४ ॥

अथ रघोः सकाशात्सुह्मदेशीयानां नृपाणां पादप्रणत्याऽऽत्मसंरक्षणमाह—

अनम्राणां समुद्धर्तुस्तस्मात्सिन्धुरयादिव ।
आत्मा संरक्षितः सुह्मैर्वृत्तिमाश्रित्य वैतसीम् ॥ ३५ ॥

अनम्राणाम् । कर्मणि षष्ठी । समुद्धर्तुरुन्मूलयितुस्तस्माद्रघोः सकाशात् । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इत्यपादानत्वात् पञ्चमी । सिन्धुरयान्नदीवेगादिव सुह्मैः सुह्मदेशीयैः । सुह्मादयः जनपदवचनाः क्षत्रियमाचक्षते । वैतसीं वेतसः सम्बन्धिनीं वृत्तिम् । प्रणतिमित्यर्थः । आश्रित्य । आत्मा संरक्षितः । अत्र कौटिल्यः = 'बलीयसाऽभियुक्तो दुर्बलः सर्वत्रानुप्रणतो वैतसधर्ममातिष्ठेत्' इति ॥ ३५ ॥

जो कि नम्र नहीं हैं ऐसे लोगों को उखाड़ देने वाले नदी के वेग के समान उन रघु महाराज से सुह्मदेश के राजाओंने वेत के तुल्य (नम्र हो जाना रूप) वृत्ति का आश्रय लेकर अपने को (नष्ट होने से) बचाया ॥ ३५ ॥

अथ रघुकर्तृकं वङ्गदेशीयानां राज्ञां पराभवमाह—

वङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान् ।
निचखान जयस्तम्भान् गङ्गास्रोतोऽन्तरेषु सः ॥ ३६ ॥

नेता नायकः स रघुर्नौभिः साधनैरुद्यतान् संनद्धान्वङ्गान्राज्ञस्तरसा बलेन ।

'तरसा बलरंहसी' इति यादवः । उत्खायोन्मूल्य गङ्गायाः स्रोतसां प्रवाहाणामन्तरेषु द्वीपेषु जयस्तम्भान्निचखान । स्थापितवानित्यर्थः ॥ ३६ ॥

बड़ी भारी सेना के नायक उन रघु महाराज ने नौकारूप साधनों से युद्ध के लिये उद्यत वङ्गदेश के राजाओं को बल से उखाड़ कर (जीत कर) गङ्गा के प्रवाह के बीच द्वीपों में अपने जय के स्मारक स्तम्भों को गाड़ दिया ॥ ३६ ॥

अथ रघोः समीपे विजितवङ्गदेशीयराजकर्तृकमुपहारस्वरूपधनार्पणमाह—

आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम् ।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः ॥ ३७ ॥

आपादपद्ममङ्घ्रिपद्मपर्यन्तं प्रणताः । अत एवोत्खाताः पूर्वमुद्धृता अपि प्रतिरोपिताः पश्चात्स्थापितास्ते वङ्गाः, कलमा इव शालिविशेषा इव । 'शालयः कलमाद्याश्च षष्टिकाद्याश्च पुंस्यमी' इत्यमरः । तेऽप्यापादपद्मं पादपद्ममूलपर्यन्तं प्रणताः । 'पादो बुध्ने तुरीयांशशैलप्रत्यन्तपर्वताः' इति विश्वः । उत्खातप्रतिरोपिताश्च । रघुं फलैर्धनैः । अन्यत्र सस्यैः । संवर्धयामासुः । 'फलं फले धने बीजे निष्पत्तौ भोगलाभयोः । सस्ये' इति केशवः ॥ ३७ ॥

'रघु महाराजके' चरणकमल तक झुके हुये 'शालिपक्ष में' अपने कमल सदृश मूल भाग तक झुके हुये, अत एव पहले राजपद से हटाये गये भी पश्चात् पुनः राजपद पर स्थापित किये गये 'शालिपक्ष में' पहले उखाड़े पश्चात् अन्यत्र फिर से बैठाये गये, उन वङ्गदेशी राजाओं ने अगहन मास में तैयार होने वाले 'कलम' नामक शालि विशेष की भांति धनों से 'शालिपक्ष में' फलों से उन रघु महाराज को पूर्ण कर दिया ॥ ३७ ॥

अथ रघुर्वङ्गान्विजित्य कलिङ्गाभिमुखो ययावित्याह—

स तीर्त्वा कपिशां सैन्यैर्बद्धद्विरदसेतुभिः ।
उत्कलादर्शितपथः कलिङ्गाभिमुखो ययौ ॥ ३८ ॥

स रघुर्बद्धा द्विरदा एव सेतवो यैस्तैः सैन्यैः कपिशां नाम नदीं तीर्त्वा । 'करभाम्' इति केचित्पठन्ति । उत्कलैः राजभिरादर्शितपथः सन्दर्शितमार्गः सन् । कलिङ्गाभिमुखो ययौ ॥ ३८ ॥

वे रघु महाराज जिसने हाथियों से ही पुल को तैयार किया है, ऐसी अपनी सेना के साथ कपिशा नाम की नदी को पार कर उत्कल देश के राजाओं से बताये हुये मार्ग से कलिङ्गदेश की तरफ (मुख किये हुये) चले ॥ ३८ ॥

अथ रघोः प्रतापो महेन्द्रपर्वतशिखरे व्याप्तो बभूवेत्याह—

स प्रतापं महेन्द्रस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं न्यवेशयत् ।
अङ्कुशं द्विरदस्येव यन्ता गम्भीरवेदिनः ॥ ३९ ॥

स रघुर्महेन्द्रस्य कुलपर्वतविशेषस्य । 'महेन्द्रो मलयः सह्यः शक्तिमानृक्षपर्वतः ।

विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः'। इति विष्णुपुराणात् । मूर्ध्नि तीक्ष्णं दुःसहं प्रतापम् । यन्ता सारथिर्गम्भीरवेदिनो द्विरदस्य गजविशेषस्य मूर्ध्नि तीक्ष्णं शितमङ्कुशमिव । न्यवेशयन्निक्षिप्तवान् । 'त्वग्भेदाच्छोणितस्रावान्मांसस्य क्रथनादपि । आत्मानं यो न जानाति सा स्याद् गम्भीरवेदिता'। इति राजपुत्रीये । 'चिरकालेन यो वेत्ति शिक्षां परिचितामपि । गम्भीरवेदी विज्ञेयः स गजो गजवेदिभिः' इति मृगचर्मीये ॥ ३९ ॥

उन रघु महाराजने महेन्द्र नामक पर्वतके शिखर पर दुःसह अपने प्रताप को जैसे सारथि (महावत) गम्भीरवेदी संज्ञक (चिरकाल होने पर जो अत्यन्त परिचित शिक्षा को समझता है उसे गम्भीरवेदी ऐसा गज शास्त्र के जानने वाले पण्डित जन कहते हैं) हाथी के मस्तक पर चोखे अङ्कुश को रखता है, उसी भांति रखा ॥ ३९ ॥

अथ कलिङ्गदेशाधिपो युद्धार्थं रघोरभिमुखो बभूवेत्याह—

प्रतिजग्राह कालिङ्गस्तमस्त्रैर्गजसाधनः ।
पक्षच्छेदोद्यतं शक्रं शिलावर्षीव पर्वतः ॥ ४० ॥

गजसाधनः सन् कलिङ्गानां राजा 'वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्'... 'द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्' इत्यनेनाण्प्रत्ययः। अस्त्रैरायुधैस्तं रघुम् । पक्षाणां छेदे उद्यतमुद्युक्तं शक्रं शिलावर्षी पर्वत इव प्रतिजग्राह प्रत्यभियुक्तवान् ॥ ४० ॥

गज ही है साधन (सेनाका अङ्ग) जिसका ऐसा कलिङ्गदेश का राजा आयुधसे उन रघु महाराज का जैसे पक्षों के काटने में प्रवृत्त इन्द्र का शिलाओं की वर्षा करने वाले पर्वतों ने सामना किया था उसी भांति किया ॥ ४० ॥

अथ रघोर्विजयलाभो बभूवेत्याह—

द्विषां विषह्य काकुत्स्थस्तत्र नाराचदुर्दिनम् ।
सन्मङ्गलस्नात इव प्रतिपेदे जयश्रियम् ॥ ४१ ॥

काकुत्स्थो रघुस्तत्र महेन्द्रादौ द्विषां नाराचदुर्दिनं नाराचानां बाणविशेषाणां दुर्दिनम् । लक्षणया वर्षमुच्यते । विषह्य सहित्वा सद्यथाशास्त्रं मङ्गलस्नात इव विजयमङ्गलार्थमभिषिक्त इव जयश्रियं प्रतिपेदे प्राप । 'यत्तु सर्वोषधिस्नानं तन्माङ्गल्यमुदीरितम्' इति यादवः ॥ ४१ ॥

ककुत्स्थ राजा के वंशज रघु महाराज ने उस महेन्द्र नामक पर्वत के ऊपर शत्रुओं के लोहे के बने हुये नाराच संज्ञक बाणों की घोर वर्षा को सहन करके जैसे कोई शास्त्रानुसार विजय मङ्गलके लिये सर्वोषधि से स्नान किया हुआ हो उस भांति जयलक्ष्मीको प्राप्त किया ॥

अथ महेन्द्रादौ रघुसैनिका विजयमहोत्सवं चक्रुरित्याह—

ताम्बूलानां दलैस्तत्र रचितापानभूमयः ।
नारिकेलासवं योधाः शात्रवं च पपुर्यशः ॥ ४२ ॥

तत्र महेन्द्रादौ युध्यन्त इति योधः । पचाद्यच् । रचिताः कल्पिता आपानभूमयः पानयोग्यप्रवेशा यैस्ते तथोक्ताः सन्तो नारिकेलासवं नारिकेलमद्यं ताम्बूलानां नागवल्लीनां दलैः पपुः । तत्र विजह्रुरित्यर्थः । शात्रवं यशश्च पपुः जह्रुरित्यर्थः ॥ ४२ ॥

उस महेन्द्र नामक पर्वत पर महाराज रघु के योद्धा लोगों ने मद्यपान करने के योग्य प्रदेशों की रचना कर नारियल का आसव बनाकर उसे पान के पत्तों से पिया (विहार किया) और शत्रुओं के यश का भी पान किया अर्थात् हरण किया ॥ ४२ ॥

अथ रघुर्महेन्द्रनाथं कालिङ्गं विजित्य पुनरपि तं राजासने स्थापयामासेत्याह—

गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः ।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥ ४३ ॥

धर्मविजयी धर्मार्थं विजयशीलः स नृपो रघुः । गृहीतश्चासौ प्रतिमुक्तश्च गृहीतप्रतिमुक्तः । तस्य महेन्द्रनाथस्य कालिङ्गस्य श्रियं जहार । धर्मार्थमिति भावः । मेदिनीं तु न जहार । शरणागतवात्सल्यादिति भावः ॥ ४३ ॥

धर्मार्थं विजय करने वाले शरणागतवत्सल महाराज रघु ने पहले पकड़ कर फिर छोड़ दिये गये कलिङ्ग–देशीय महेन्द्राचल के राजा की लक्ष्मी का ही केवल हरण किया न कि राज्य का ॥ ४३ ॥

अथ पूर्वदिशातो दक्षिणां दिशं रघुर्ययावित्याह—

ततो वेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना ।
अगस्त्याचरितामाशामनाशास्यजयो ययौ ॥ ४४ ॥

ततः प्राचीविजयानन्तरम् फलवत्पूगमालिना फलितक्रमुकश्रेणीमता । व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्ययः । वेलायाः समुद्रकूलस्य तटेनोपान्तेनैवागस्त्येनाचरितामाशां दक्षिणां दिशमनाशास्यजयः । अयत्नसिद्धत्वादप्रार्थनीयजयः सन् । ययौ 'अगस्त्यो दक्षिणामाशामाश्रित्य नभसि स्थितः । वरुणस्यात्मजो योगी विन्ध्यवातापिमर्दनः' इति ब्रह्मपुराणे ॥ ४४ ॥

पूर्व दिशा का विजय कर चुकने के बाद फल से लदे हुये सुपारी के वृक्ष कतार के कतार जिस में लगे हुए हैं ऐसे समुद्र के किनारे किनारे से ही अगस्त्य भगवान् से सेवित जो दक्षिण दिशा है उसकी तरफ अनायास ही विजय लाभ करने वाले महाराज रघु गये ॥

अथ दक्षिणां दिशं गच्छन् रघुर्मार्गे कावेरीं प्रापेत्याह—

स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना ।
कावेरीं सरितां पत्युः शङ्कनीयामिवाकरोत् ॥ ४५ ॥

स रघुः । गजानां दानेन मदेन सुगन्धिना सुरभिगन्धिना । 'गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः' इत्यनेनेकारादेशः समासान्तः । यद्यपि गन्धस्येत्वे तदेकान्तग्रहणं कर्त-

ध्यमिति नैसर्गिकगन्धविवक्षायामेवेकारादेशः, तथाऽपि 'निरङ्कुशाः कवयः' तथा माघकाव्ये–'ववुरयुक्छदगुच्छसुगन्धयः सततमास्ततगानगिरोऽलिभिः' (६।५०) नैषधे च 'अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा' (३।९४) इति । 'न कर्मधारयान्मत्वर्थीयः' इति निषेधादिनिप्रत्ययपक्षेऽपि जघन्य एव । सेनायां समवेताः सैन्याः । 'सेनायां समवेता ये सैन्यास्ते सैनिकाश्च ते' इत्यमरः । 'सेनाया वा' इति ण्यप्रत्ययः । तेषां परिभोगेण कावेरीं नाम सरितं, सरितां पत्युः समुद्रस्य शङ्कनीयामविश्वसनीयामिवाकरोत् । संभोगलिङ्गदर्शनाद्भर्तुरविश्वासो भवतीति भावः ॥ ४५ ॥

उन रघु महाराज ने हाथियों के मद से कावेरी नाम की नदी को नदियों के स्वामी समुद्र के नजदीक नहीं विश्वास करने के योग्य बना दिया ॥ ४५ ॥

अथ मार्गे रघुसैन्यं मलयाचलोपत्यकासु निवसति स्मेत्याह—

बलैरध्युषितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः ।
मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः ॥ ४६ ॥

विजिगीषोर्विजेतुमिच्छोर्गताध्वनस्तस्य रघोर्बलैः सैन्यैः । 'बलं शक्तिर्बलं सैन्यम्, इति यादवः । मारीचेषु मरीचवनेषूद्भ्रान्ताः परिभ्रान्ताः हारीताः पक्षिविशेषा यासु ताः । 'तेषां विशेषा हारीतो मद्गुः कारण्डवः प्लवः' इत्यमरः । मलयाद्रेरुपत्यका आसन्नभूमयः । 'उपत्यकाऽद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इत्यनेन त्यकन्प्रत्ययः । अध्युषिताः । उपत्यकासूषितमित्यर्थः । 'उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वम् ॥ ४६ ॥

विजय की इच्छा रखने वाले (दक्षिण दिशा का) कुछ रास्ता तय किये हुये उन रघु महाराज के सैनिकों ने जिस जगह पर मरीच के बनों में हारीत नामक चिड़ियाँ उड़ रही थीं ऐसी मलयाचल के समीप की भूमि (तराई) में डेरा डाला ॥ ४६ ॥

अथ मलयाद्रेरुपत्यकाभूमिं वर्णयंस्तत्रैलालतानां प्राचुर्यमासीदित्याह—

ससञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः ।
तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः ॥ ४७ ॥

अश्वैः क्षुण्णानामेलानामेलालतानामुत्पतिष्णव उत्पतनशीलाः । 'अलंकृञ्निराकृञ्–' इत्यादिनेष्णुच्प्रत्ययः । फलरेणवः फलरजांसि तुल्यगन्धिषु समानगन्धिषु । सर्वधनीतिवदिन्नन्तो बहुव्रीहिः । मत्तेभानां कटेषु ससञ्जुः सक्ताः । 'गजगण्डकटी-कटौ' इति कोशः ॥ ४७ ॥

घोड़ों के खुरों से खुदी हुई इलायचीके लताओं की उड़ती हुई फल की धूलि अपने समान सुगन्धि वाले मतवाले हाथियों के गण्डस्थल (मद बहने के स्थानों) में चिपक गई ॥

अथ मलयतरुषु बद्धान् सेनागजान्वर्णयन्नाह—

भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम् ।
नास्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीच्छेदिनामपि ॥ ४८ ॥

चन्दनानां चन्दनद्रुमाणां भोगिवेष्टनमार्गेषु सर्पवेष्टनाभिम्नेषु समर्पितं सञ्जितं त्रिपदीछेदिनां पादशृङ्खलच्छेदकानामपि 'त्रिपदी पादबन्धनम्' इति यादवः । करिणाम् । ग्रीवासु भवं ग्रैवं कण्ठबन्धनम् । 'ग्रीवाभ्योऽण्च' इत्यण्प्रत्ययः । नास्रसन्नस्रस्तमभूत् । 'धुद्भ्यो लुङि' इति परस्मैपदे पुषादित्वादङ् । 'अनिदिता'मिति नकारलोपः ॥ ४८ ॥

चन्दन के वृक्षों में सर्पों के लिपटे रहने से पड़ी हुई रेखाओं के बीचमें दिये हुए पैरके सीकड़ों को तोड़ डालने वाले हाथियों के गले के बन्धन (सीकड़) नहीं ढीले हुये ॥ ४८ ॥

अथ रघोः प्रतापं पाण्डुदेशाधिपतयो न विषेहिर इत्याह—

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि ।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥ ४९ ॥

दक्षिणस्यां दिशि रवेरपि तेजो मन्दायते मन्दं भवति । लोहितादित्वात्क्यष्प्रत्ययः । 'वा क्यषः' इत्यात्मनेपदम् । दक्षिणायने तेजोमान्द्यादिति भावः । तस्यामेव दिशि पाण्ड्याः पाण्डूनां जनपदानां राजानः पाण्ड्याः । 'पाण्डोर्ड्यण्वक्तव्यः' । रघोः प्रतापं न विषेहिरे न सोढवन्तः । सूर्यविजयिनोऽपि विजितवानिति नायकस्य महानुत्कर्षो गम्यते ॥ ४९ ॥

दक्षिण दिशा में सूर्य का भी तेज मन्द हो जाता है, पर उसी दिशा में पाण्डु देश के राजा लोग रघु महाराज के प्रताप को नहीं सह सके ॥ ४९ ॥

अथ रघवे पराजितानां पाण्डुदेशाधिपतीनामुपहारस्वरूपमुक्ताफलार्पणमाह—

ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः ।
ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव सञ्चितम् ॥ ५० ॥

ते पाण्ड्यास्ताम्रपर्ण्या नद्या समेतस्य सङ्गतस्य महोदधेः सम्बन्धि सञ्चितं मुक्तासारं मौक्तिकवरम् । 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु' इत्यमरः । स्वं स्वकीयं सञ्चितं यश इव । तस्मै रघवे निपत्य प्रणिपत्य ददुः । यशसः शुभ्रत्वादौपम्यम् । ताम्रपर्णीसङ्गमे मौक्तिकोत्पत्तिरिति प्रसिद्धम् ॥ ५० ॥

पाण्डुदेश के राजाओं ने ताम्रपर्णी नाम की नदी से मिले हुये दक्षिणसमुद्र सम्बन्धी इकट्ठे किये हुये उत्तमोत्तम मोतियों को अपने संचित यश की भांति उन रघु महाराज के पैरों पर रख कर नजराना किया ॥ ५० ॥

अथ रघुर्मलयदर्दुरपर्वतयोर्यथेच्छं निवासं कृत्वा सह्याद्रिमलङ्घयदिति युग्मेनाह—

स निविश्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ ।
स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ ॥ ५१ ॥
असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता ।
नितम्बमिव मेदिन्याः स्रस्तांशुकमलङ्घयत् ॥ ५२ ॥

युग्ममेतद् । असह्यविक्रमः सः रघुस्तटेषु सानुष्वालीनचन्दनौ व्याप्तचन्दनद्रुमौ । 'गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । स्तनपक्षे-प्रान्तेषु व्याप्तचन्दनानुलेपौ । तस्या दक्षिणस्या दिशः स्तनाविव स्थितौ मलयदर्दुरौ नाम शैलौ यथाकाम यथेच्छं निविश्योपभुज्य । 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इत्यमरः । उदकान्यस्य सन्तीत्युदन्वानुदधिः । 'उदन्वानुदधौ च' इति निपातः । उदन्वता दूरान्मुक्तं दूरतस्त्यक्तम् । 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन' इति समासः । 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' इत्यलुक् । स्रस्तांशुकं मेदिन्या नितम्बमिव स्थितं सह्यं सह्याद्रिमलङ्घयत्प्राप्तोऽतिक्रान्तो वा ॥ ५१-५२ ॥

जिनका पराक्रम दुश्मनोंके लिये असह्य है ऐसे वे रघु महाराज जिसका प्रान्तभाग चन्दनके वृक्षों से भरा हुआ है, 'स्तनपक्षमें' जिसके प्रान्तभाग में चन्दन का लेप हुआ है, ऐसे उस दक्षिण-दिशारूपी स्त्रीके स्तन की भांति स्थित मलय और दर्दुर नामक पर्वत पर इच्छापूर्वक उपभोग (विहार) करके 'स्तनपक्ष में' मर्दन कर के, समुद्रसे दूर छोड़े हुये अतः जहां से वस्त्र खिसक गया है ऐसे पृथ्वीरूप स्त्रीके पीछे भाग नितम्बकी भाँति स्थित सह्य नामक पर्वतको लांघ गये, अर्थात् उस पर्वत पर भी विहार करके आगे की ओर चले ॥

सम्प्रति प्रतीचीं दिशमभिययावित्याह—

तस्यानीकैर्विसर्पद्भिरपरान्तजयोद्यतैः ।
रामास्त्रोत्सारितोऽप्यासीत्सह्यलग्न इवार्णवः ॥ ५३ ॥

अपरान्तानां पाश्चात्यानां जय उद्यतैरुद्युक्तैः । 'अपरान्तास्तु पाश्चात्यास्ते च सूर्पारिकादयः' इति यादवः । विसर्पद्भिर्गच्छद्भिस्तस्य रघोरनीकैः सैन्यैः । 'अनीकं तु रणे सैन्ये' इति विश्वः । अर्णवो रामस्य जामदग्न्यस्यास्त्रैरुत्सारितः परिसारितोऽपि सह्यलग्न इवासीत् । सैन्यं द्वितीयोऽर्णव इवादृश्यतेति भावः ॥ ५३ ॥

पश्चिम देश के राजाओं के विजय करने में उद्यत अत एव समुद्र तटसे चलती हुई रघु महाराज की सेनाओं से समुद्र परशुरामजी के अस्त्रोंसे दूर किया गया भी सह्य पर्वत से मिले हुए की भांति मालूम पड़ने लगा ॥ ५३ ॥

अथ रघोर्महत् सैन्यं दृष्ट्वा भीताः सत्यः केरलयोषितः पलायिता आसन्नित्याह—

भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम् ।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः ॥ ५४ ॥

तेन रघुणा भयेनोत्सृष्टविभूषाणां परिहृतभूषणानां केरलयोषितां केरलाङ्गनानामलकेषु चमूरेणुः सेनारजश्चूर्णस्य कुङ्कुमादिरजसः प्रतिनिधीकृतः। एतेन योषितां पलायनं चमूनां च तदनुधावनं ध्वन्यते ॥ ५४ ॥

उन रघु महाराजने, डर के कारण से आभूषणों को छोड़कर भागती हुई केरल देशकी स्त्रियों के घुँघराले बालों में सेनाओं की धूलि को कुङ्कुम आदि सुगन्धित द्रव्यों के चूर्ण का प्रतिनिधि बना दिया ॥ ५४ ॥

अथ रघोः सैन्यं नदीं प्राप्येत्याह—

मुरलामारुतोद्धूतमगमत्कैतकं रजः ।
तद्योधवारबाणानामयत्नपटवासताम् ॥ ५५ ॥

मुरला नाम केरलदेशेषु काचिन्नदी। 'मुरलीमारुतोद्धतम्' इति केचित्पठन्ति। तस्य मारुतेनोद्धूतमुत्थापितं कैतकं केतकीसम्बन्धि रजस्तद्योधवारबाणानां रघुभटकञ्चुकानाम्। 'कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री' इत्यमरः। अयत्नपटवासतामयत्नसिद्धवस्त्रवासनाद्रव्यत्वमगमत्। 'पिष्टातः पटवासकः' इत्यमरः ॥ ५५ ॥

मुरला नाम की नदी के वायु से उड़ाये हुए केतकी पुष्प के परागने उन रघु महाराज के योधाओं के कञ्चुकों (कवचविशेषों) का बिना प्रयत्न के ही वस्त्र को सुगन्धित करने वाले चूर्ण का कार्य किया ॥ ५५ ॥

अथ पथि गच्छतो रघोर्वाहानां राजतालीवनमध्ये प्रवेशमाह—

अभ्यभूयत वाहानां चरतां गात्रशिञ्जितैः ।
वर्मभिः पवनोद्धूतराजतालीवनध्वनिः ॥ ५६ ॥

चरतां गच्छतां वाहानां वाजिनाम्। 'वाजिवाहार्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः' इत्यमरः। गात्रशिञ्जितैर्गात्रेषु शब्दायमानैः। कर्तरि क्तः। 'गात्रसञ्जितैः' इति वा पाठः। सञ्जतेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः। वर्मभिः कवचैः। 'मर्मरः' इति पाठे वाहानां गात्रशिञ्जितैर्गात्रध्वनिभिरित्यर्थः। मर्मरो मर्मरायमाण इति ध्वनेर्विशेषणम्। पवनेनोद्धूतानां कम्पितानां राजतालीवनानां ध्वनिरभ्यभूयत तिरस्कृतः ॥ ५६ ॥

चलते हुए घोड़ों के शरीरों पर शब्द करते हुए कवचों की ध्वनि से वायु से हिलते हुए तालवृक्षों के वन की ध्वनि तिरस्कृत हुई ॥ ५६ ॥

अथ मदस्राविणां रघुसेनागजानां गण्डस्थले पुन्नागतरुवनाद्भ्रमराणां निपतनमाह—

खर्जूरीस्कन्धनद्धानां मदोद्गारसुगन्धिषु ।
कटेषु करिणां पेतुः पुन्नागेभ्यः शिलीमुखाः ॥ ५७ ॥

खर्जूरीणां तृणद्रुमविशेषाणाम्। 'खर्जूरः केतकी ताली खर्जूरी च तृणद्रुमाः' इत्यमरः। स्कन्धेषु प्रकाण्डेषु। 'अस्त्री प्रकाण्डः स्कन्धः स्यान्मूलाच्छाखावधेस्तरोः' इत्यमरः। नद्धानां बद्धानां करिणां मदोद्गारेण मदस्रावेण सुगन्धिषु। 'गन्धस्ये-

द्युत्पूतिसुसुरभिभ्यः' इत्यनेनेकारः । कटेषु पुन्नागेभ्यो नागकेशरेभ्यः पुन्नागपुष्पाणि विहाय । ल्यब्लोपे पञ्चमी । शिलीमुखा अलयः पेतुः । 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः । ततोऽपि सौगन्ध्यातिशयादिति भावः ॥ ५७ ॥

खजूर के तनों में बँधे हुए हाथियों के मद के झरने से सुगन्धयुक्त गण्डस्थलों पर पुन्नाग (नागकेसर) के पुष्पों को छोड़कर भौंरे आ बैठे ॥ ५७ ॥

अथ पश्चिमदेशीया राजानो रघवे करं ददुरित्याह—

अवकाशं किलोदन्वान् रामायाभ्यर्थितो ददौ ।
अपरान्तमहीपालव्याजेन रघवे करम् ॥ ५८ ॥

उदन्वानुदधी रामाय जामदग्न्याय । अभ्यर्थितो याचितः सन् । अवकाशं स्थानं ददौ किल । किलेति प्रसिद्धौ । रघवे त्वपरान्तमहीपालव्याजेन करं बलिं ददौ । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । अपरान्तानां समुद्रमध्यदेशवर्तित्वात्तैर्दत्तकरे समुद्रदत्तत्वोपचारः । करदानं च भीत्या न तु याञ्चयेति रामाद्रघोरुत्कर्षः ॥ ५८ ॥

जिस समुद्र ने परशुरामजी के लिये प्रार्थना करने पर रहने के लिये अवकाश (स्थान) दिया था, उसी समुद्र ने रघु महाराजके लिये पश्चिम देश के राजाओं के व्याज से कर दिया ॥

अथ रघोर्जयस्तम्भस्त्रिकूटाद्रिरभूदित्याह—

मत्तेभरदनोत्कीर्णव्यक्तविक्रमलक्षणम् ।
त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भं चकार सः ॥ ५९ ॥

तत्र स रघुर्मत्तानामिभानां रदनोत्कीर्णानि दन्तक्षतान्येव । भावे क्तः । व्यक्तानि स्फुटानि विक्रमलक्षणानि पराक्रमचिह्नानि विजयवर्णावलिस्थानानि यस्मिंस्तं तथोक्तं त्रिकूटमेवोच्चैर्जयस्तम्भं चकार । गाढप्रकाशस्त्रिकूटोऽद्रिरेवोत्कीर्णस्तम्भो रघोर्जय-स्तम्भोऽभूदित्यर्थः ॥ ५९ ॥

उस केरल देश में उन रघु महाराज ने मतवाले हाथियों के दांतो के प्रहारों से खुदे हुये गड्ढे ही जिसमें स्पष्ट रूप से पराक्रम के चिह्न मौजूद हैं, ऐसे त्रिकूट नामक पर्वत को ही ऊँचा विजय का स्मरण दिलाने वाला स्तम्भ कायम किया ॥ ५९ ॥

अथ रघोः पारसीकाञ्जेतुं प्रस्थानमाह—

पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना ।
इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी ॥ ६० ॥

ततः स रघुः । संयमी योगी तत्त्वज्ञानेनेन्द्रियाख्यानिन्द्रियनामकान् रिपूनिव पारसीकान् राज्ञो जेतुं स्थलवर्त्मना प्रतस्थे न तु निर्दिष्टेनापि जलपथेन समुद्रयानस्य निषिद्धत्वादिति भावः ॥ ६० ॥

उसके (त्रिकूटाचल को ही विजयस्मारकस्तम्भ कायम कर चुकने के) बाद उन रघु

महाराजने योगीकी भाँति तत्वज्ञानसे इन्द्रिय नामक शत्रु के समान पारस देश के म्लेच्छ राजाओंको जीतने के लिये स्थल मार्ग से प्रस्थान किया ॥ ६० ॥

अथ रघुर्यवनस्त्रीमुखानां मधुनो मदरागं न सेह इत्याह—

यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः।
बालातपमिवाब्जानामकालजलदोदयः ॥ ६१ ॥

स रघुर्यवनीनां यवनस्त्रीणाम्। 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इति ङीष्। मुखानि पद्मानीव मुखपद्मानि। उपमितसमासः। तेषां मधुना मद्येन यो मदो मदरागः। कार्यकारणभावयोरभेदेन निर्देशः। तं न सेहे। कमिव। अकाले प्रावृड्व्यतिरिक्ते काले जलदोदयः। प्रायेण प्रावृषि पद्मविकाशस्याप्रसक्तत्वादब्जानां सम्बन्धिनं बालातपमिव। अब्जहितत्वादब्जसम्बन्धित्वं सौरातपस्य ॥ ६१ ॥

रघु ने यवन की स्त्रियोंके मद्यपान जनित कमल सदृश मुखको जैसे-वर्षा ऋतुके अलावे और ऋतुओं में मेघोंका उदय होना कमल सम्बन्धी सूर्यकी कोमल किरणोंको नहीं सहता है उसी भाँति नहीं सहन किया ॥ ६१ ॥

अथ पारसीकैः सह रघोस्तुमुलं युद्धं बभूवेत्याह—

सङ्ग्रामस्तुमुलस्तस्य पाश्चात्त्यैरश्वसाधनैः।
शार्ङ्गकूजितविज्ञेयप्रतियोधे रजस्यभूत् ॥ ६२ ॥

तस्य रघोरश्वसाधनैर्वाजिसैन्यैः। 'साधनं सिद्धिसैन्ययोः' इति हैमः। पश्चाद्भवैः पाश्चात्त्ययवनैः सह। 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्' इति त्यक्। सहार्थे तृतीया। शृङ्गाणां विकाराः शार्ङ्गाणि धनूंषि तेषां कूजितैः शब्दैः। 'शार्ङ्गं पुनर्धनुषि शार्ङ्गिणः। जये च शृङ्गविहिते चापेऽप्याह विशेषतः' इति केशवः। अथवा शार्ङ्गैः शृङ्गसम्बन्धिभिः कूजितैर्विज्ञेया अनुमेयाः प्रतियोधाः प्रतिभटा यस्मिंस्तस्मिन् रजसि तुमुलः संग्रामः सङ्कुलं युद्धमभूत्। 'तुमुलं रणसङ्कुले' इत्यमरः ॥ ६२ ॥

उन रघु महाराजका घोड़ों ही की सेना जिनकी है ऐसे पश्चिम दिशाके यवन राजाओं के साथ धनुषके टङ्कारों से ही जिसमें प्रतिद्वन्दी योद्धाओं का परिज्ञान होता था ऐसी (उड़ती हुई) धूलिमें घमासान युद्ध हुआ ॥ ६२ ॥

अथ रघुः स्वबाणच्छिन्नैः पारसीकानां शिरोभिः पृथ्वीं छादयामासेत्याह—

भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम्।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ॥ ६३ ॥

स रघुर्भल्लापवर्जितैर्बाणविशेषकृत्तैः। 'स्नुहीदलफलो भल्लः' इति यादवः। श्मश्रुलैः प्रवृद्धमुखरोमवद्भिः। 'सिध्मादिभ्यश्च' इति लच्प्रत्ययः। तेषां पाश्चात्यानां शिरोभिः सरघाभिर्मधुमक्षिकाभिर्व्याप्तैः। 'सरघा मधुमक्षिका' इत्यमरः। क्षुद्राः सरघाः। 'क्षुद्रा व्यङ्गा नटी वेश्या सरघा कण्टकारिका' इत्यमरः। क्षुद्राभिः कृतानि क्षौद्राणि मधूनि।

'मधु क्षौद्रं माक्षिकादि' इत्यमरः। 'क्षुद्राभ्रमरवटपादपादञ्' इति संज्ञायामञ्प्रत्ययः। तेषां पटलैः सञ्चयैरिव। 'पटलं तिलके नेत्ररोगे छन्दसि सञ्चये। पिटके परिवारे च' इति हैमः। महीं तस्ताराच्छादयामास॥ ६३॥

उन रघु महाराज ने क्षुद्रो के पत्ते की तरह जिसमें फल लगे हुए हैं ऐसे बाणों से कटे हुये दाढ़ी मूछों से युक्त उन पारसी राजाओं के शिरों से जैसे मधुमक्षिकाओं से ढके हुये मधु के छत्तों से ढक जावे उस भांति पृथ्वी को ढक दिया॥ ६३॥

अथ हतावशिष्टाः पारसीका राजानस्तं रघुं शरणं ययुरित्याह—

अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः।
प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम्॥ ६४॥

शेषा हतावशिष्टा अपनीतशिरस्त्राणा अपसारितशीर्षण्याः सन्तः। 'शीर्षकम्। शीर्षण्यं च शिरस्त्रे' इत्यमरः। शरणागतलक्षणमेतत्। तं रघुं शरणं ययुः। तथाहि। महात्मनां संरम्भः कोपः। 'संरम्भः सम्भ्रमे कोपे' इति विश्वः। प्रणिपातः प्रणतिरेव प्रतिकारो यस्य स। हि महतां परकीयमौद्धत्यमेवासह्यं न तु जीवितमिति भावः॥६४॥

युद्ध में मरने से बचे हुये राजा लोग अपने २ टोपों को उतारकर रघु महाराज के समीप (शरण में) प्राप्त हुये, क्योंकि निश्चय करके महात्माओं का कोप प्रणाम करने ही से दूर हो जाने वाला होता है॥ ६४॥

अथ रघोर्योधानां विजयश्रमनिवारणार्थं मद्यपानमाह—

विनयन्ते स्म तद्योधा मधुभिर्विजयश्रमम्।
आस्तीर्णाजिनरत्नासु द्राक्षावलयभूमिषु॥ ६५॥

तस्य रघोर्योधा भटा आस्तीर्णान्यजिनरत्नानि चर्मश्रेष्ठानि यासु तासु द्राक्षावलयानां भूमिषु। 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षा स्वाद्वी मधुरसेति च' इत्यमरः। मधुभिर्द्राक्षाफलप्रकृतिकैर्मद्यैर्विजयश्रमं युद्धखेदं विनयन्ते स्मापनीतवन्तः। 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' इत्यात्मनेपदम्। 'लट् स्मे' इति भूतार्थे लट्॥ ६५॥

उन रघु महाराज के योधाओं ने जिसमें उत्तम मृगचर्म आदि बिछे हुए हैं, ऐसी गोलाकार द्राक्षा की लताओं से वेष्टित भूभाग में द्राक्षा के फलों से बने हुये मद्य के द्वारा (अर्थात् मद्यपान करने से) विजय करने में जो परिश्रम हुआ है, उसे दूर किया॥ ६५॥

अथ रघोर्दिग्विजयार्थमुदीचीं दिशमुद्दिश्य प्रस्थानमभूदित्याह—

ततः प्रतस्थे कौबेरीं भास्वानिव रघुर्दिशम्।
शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव॥ ६६॥

ततो रघुर्भास्वान्सूर्य इव शरैर्बाणैरुस्रैः किरणैरिव। 'किरणोस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः' इत्यमरः। उदीच्यानुदग्भवान्नृपान्रसानुदकानीवोद्धरिष्यन्कौबेरीं कुबेर-

सम्बधिनीं दिशमुदीचीं प्रतस्थे । अनेकेनेवशब्देनेयमुपमा । यथाऽऽह दण्डी–'एकानेकेवशब्दत्वात्सा वाक्यार्थोपमा द्विधा' इति ॥ ६६ ॥

उसके (पश्चिम दिशा के देशों की विजय कर चुकने के) बाद रघु महाराज ने सूर्य जैसे किरणों से जलों का शोषण करने के लिए उत्तरायण होते हैं उसी भांति अपने बाणों से पश्चिम और उत्तर दिशा के देशाधिपति राजाओं को उखाड़ डालने (विजय करने) के लिये कुबेर की जो उत्तर दिशा है उसकी ओर प्रस्थान किया ॥ ६६ ॥

अथोदीचीं दिशं प्रस्थितस्य रघोः सेनासम्बन्धिनोऽश्वान् वर्णयन्नाह—

विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः ।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुङ्कुमकेसरान् ॥ ६७ ॥

सिन्धुर्नाम काश्मीरदेशेषु कश्चिन्नदविशेषः । 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्' इत्यमरः । सिन्धोस्तीरे विचेष्टनैरङ्गपरिवर्त्तनैर्विनीताध्वश्रमास्तस्य रघोर्वाजिनोऽश्वाः, लग्नाः कुङ्कुमकेसराः कुङ्कुमकुसुमकिञ्जल्का येषां तान् । यद्वा लग्नकुङ्कुमाः केसराः सटा येषां तान् । 'अथ कुङ्कुमम् । कश्मीरजन्म' इत्यमरः । 'केसरो नागकेसरे । तुरङ्गसिंहयोः स्कन्धकेशेषु बकुलद्रुमे । पुन्नागवृक्षे किञ्जल्के स्यात्' इति हैमः । स्कन्धान्कायान् । 'स्कन्धः प्रकाण्डे कायेंऽसे विज्ञानादिषु पञ्चसु । नृपे समूहे व्यूहे च' इति हैमः । दुधुवुः कम्पयन्ति स्म ॥ ६७ ॥

सिन्धु नामक नदी के किनारे उलट-पलट कर जिन्होंने अपने २ मार्ग की थकावट को दूर कर दिया है और जिनके स्कन्ध के बालों में केसर लगे हुये हैं ऐसे रघु महाराज के घोड़ों ने अपने २ शरीर या कन्धे को हिलाया (झाड़ा) ॥ ६७ ॥

अथ रघुर्हूणान् युधि जितवानित्याह—

तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् ।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम् ॥ ६८ ॥

तत्रोदीच्यां दिशि भर्तृषु व्यक्तविक्रमम् । भर्तृवधेन स्फुटपराक्रममित्यर्थः । रघुचेष्टितं रघुव्यापारः । हूणा जनपदाख्याः क्षत्रियाः तेषामवरोधा अन्तःपुरस्त्रियः । तासां कपोलेषु पाटलस्य पाटलिम्नस्ताडनादिकृतारुण्यस्यादेश्युपदेशकं बभूव । अथवा पाटल आदेश्यादेष्टा यस्य तद् बभूव । स्वयं लेक्ष्यायत इत्यर्थः ॥ ६८ ॥

उत्तर दिशा में अपने २ स्वामियों के विषय में जो पराक्रम हुये हैं वे जिनसे व्यक्त हो रहे हैं ऐसे रघु महाराज के व्यापार हूण देश के राजाओं की स्त्रियों के कपोलों पर जो (पतियों के मर जाने से दुःख में पीटने पर) रक्तवर्णता आ गई थी उसके उपदेश वाले हुये अर्थात् रघु ने हूणों को जीता है इसको बतलाने वाली उनकी स्त्रियों के कपोलों की रक्तवर्णता ही हुई ॥ ६८ ॥

अथ रघुः कम्बोजदेशवासिनो राज्ञोऽपि विजितवानित्याह—

काम्बोजाः समरे सोढुं तस्य वीर्यमनीश्वराः ।
गजालानपरिक्लिष्टैरक्षोटैः सार्धमानताः ॥ ६९ ॥

काम्बोजा राजानः समरे यस्य रघोर्वीर्यं प्रभावम् । 'वीर्यं तेजःप्रभावयोः' इति हैमः । सोढुमनीश्वरा अशक्ताः सन्तः गजानामालानं बन्धनम् । भावे ल्युटि । 'विभाषा लीयतेः' इत्यात्वम् । तेन परिक्लिष्टैः परिक्षतैरक्षोटवृक्षविषैः सार्धमानताः ॥

कम्बोज देशवासी राजा (काबूली) लोग युद्ध में उन रघु महाराज के प्रभाव (पराक्रम) को सहन करने में नहीं समर्थ होते हुये हाथियों के बांधने के लिये स्तम्भ स्वरूप होने से नीचे जाते हुये अखरोट के वृक्षों के साथ नम्र हो गये अर्थात् शिर झुकाये ॥ ६९ ॥

अथ रघवे काम्बोजाः पराजिताः सन्तोऽश्वधनादिकमुपायनं ददुरित्याह—

तेषां सदश्वभूयिष्ठास्तुङ्गा द्रविणराशयः ।
उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोसलेश्वरम् ॥ ७० ॥

तेषां काम्बोजानां सद्भिरश्वैर्भूयिष्ठा बहुलास्तुङ्गा द्रविणानां हिरण्यानाम् । 'हिरण्यं द्रविणं द्युम्नम्' इत्यमरः । राशय एवोपदा उपायनानि । 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः । कोसलेश्वरं कोसलदेशाधिपतिं तं रघुं शश्वदसकृद्विविशुः । 'मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समाः' इत्यमरः । तथाऽप्युत्सेका गर्वास्तु न विविशुः, सत्यपि गर्वकारणे न जगर्वेत्यर्थः ॥ ७० ॥

(हारे हुये) कम्बोज देश के राजाओं के बहुत से उत्तम २ घोड़े और बहुमूल्य स्वर्णकी राशि उपहार स्वरूप में लेकर कोसल देश के स्वामी उन रघु महाराज के पास उपस्थित हुये, किन्तु फिर भी (रघु के हृदय में) अहङ्कार नहीं पैदा हुआ ॥ ७० ॥

अथ कम्बोजविजयानन्तरं रघोर्हिमालयपर्वतारोहणमाह—

ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः ।
वर्धयन्निव तत्कूटानुद्धूतैर्धातुरेणुभिः ॥ ७१ ॥

ततोऽनन्तरमश्वसाधनः सन् गौर्या गुरुं पितरं शैलं हिमवन्तम् । उद्धूतैरश्वखुरोद्धूतैर्धातूनां गैरिकादीनां रेणुभिस्तत्कूटांस्तस्य शृङ्गाणि । 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इत्यमरः । वर्धयन्निव । आरुरोह । उत्पतद्धूलिदर्शनाद्गिरिशिखरवृद्धिभ्रमो जात इति भावः ॥ ७१ ॥

काबुलियों को विजय कर चुकने के बाद घुड़ सवारों को साथ में लिये हुये वे रघु महाराज हिमालय पर्वत पर, घोड़ों के खुरों से उड़ी हुई मनःशिला आदि धातुओं की धूलियों से पर्वत की चोटियों को बढ़ाते हुये की भांति चढे ॥ ७१ ॥

अथ हिमालयपर्वतगह्वरेषु सुप्तान् सिंहान् वर्णयन्नाह—

शशंस तुल्यसत्त्वानां सैन्यघोषेऽप्यसम्भ्रमम् ।
गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्यावलोकितम् ॥ ७२ ॥

शशंसेति । तुल्यसत्त्वानां सैन्यैः समानबलानाम् । गुहासु शेरत इति गुहाशयास्तेषाम् । 'अधिकरणे शेतेः' इत्यच्प्रत्ययः । 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री देवखातबिले गुहा' इत्यमरः । सिंहानां हरीणाम् । 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिः' इत्यमरः । सम्बन्धि परिवृत्य परावृत्यावलोकितं शयित्वैव ग्रीवाभङ्गेनावलोकनं कर्तृ सैन्यघोषे सेनाकलकले सम्भ्रमकारणे सत्यप्यसम्भ्रममन्तःक्षोभविरहितम् । नञः प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि समास इष्यते । शशंस कथयामास । सैन्येभ्य इत्यर्थाल्लभ्यते । बाह्यचेष्टितमेव मनोवृत्तेरनुमापकमिति भावः । असम्भ्रान्तत्वे हेतुस्तुल्यसत्त्वानामिति । न हि समबलाः समबलाद् बिभ्यतीति भावः ॥ ७२ ॥

समान बल वाले हिमालय पर्वत की गुफाओं में सोये हुये सिंहों का घूम कर (सोते २ गर्दन फेर कर) देखना जो है उसीने भय का कारण जो सेना का कलकल शब्द है, उसके होने पर भी निर्भीकता को प्रकट किया ॥ ७२ ॥

अथ हिमालयमारोहतो रघोः पथि गङ्गाऽम्बुकणोपेतः पवनो ववावित्याह—

भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचकध्वनिहेतवः ।
गङ्गाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे ॥ ७३ ॥

भूर्जेष्विति । भूर्जेषु भूर्जपत्रेषु । 'भूर्जपत्रो भुजो भूर्जो मृदुत्वक्चर्मिका मता' इति यादवः । मर्मरः शुष्कपर्णध्वनिः । 'मर्मरः शुष्कपर्णानाम्' इति यादवः । अयं च शुक्लादिशब्दवद्गुणिन्यपि वर्तते । प्रयुज्यते च—'मर्मरैरगुरुधूपगन्धिभिः' इति । अतो मर्मरीभूताः । मर्मरशब्दवन्तो भूता इत्यर्थः । कीचकानां वेणुविशेषाणां ध्वनिहेतवः । श्रोत्रसुखाश्चेति भावः । गङ्गाशीकरिणः शीतला इत्यर्थः । मरुतो वाता मार्गे तं सिषेविरे ॥

सूखे हुए भूर्जपत्र (भोजपत्र) के वनों में मर्मर शब्द युक्त, कीचक नामक वंशवृक्षों की ध्वनि को पैदा करने वाला गङ्गा के जल कणों से मिला हुआ (शीतल) वायु मार्ग में रघु महाराज की सेवा करने लगा, अर्थात् बहते हुए शीतल वायु ने रघु के श्रम को दूर किया ॥

अथ रघोः सैनिका मृगमदवासितशिलातलेषु मार्गश्रमापनयनार्थं निवासं चक्रुरित्याह—

विशश्रमुर्नमेरूणां छायास्वध्यास्य सैनिकाः ।
दृषदो वासितोत्सङ्गा निषण्णमृगनाभिभिः ॥ ७४ ॥

विशश्रमुरिति । सैनिकाः सेनायां समवेताः । प्राग्वहतीयष्ठक्प्रत्ययः । नमेरूणां सुरपुन्नागानां छायासु निषण्णानां दृषदुपविष्टानां मृगाणां कस्तूरीमृगाणां नाभिभिर्वासितोत्सङ्गाः सुरभितलका दृषदः शिला अध्यास्याधिष्ठाय । 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति कर्म । दृषत्स्वधिष्ठायेत्यर्थः । विशश्रमुर्विश्रान्ताः ॥ ७४ ॥

रघु के सैनिक लोगों ने सुरपुन्नाग (देवताओं की सुपारी) नामक वृक्षों की छाया में बैठे हुए कस्तूरी मृगों की (नाभि स्थित) कस्तूरी से जिनके पृष्ठ भाग सुगन्धित हो गये हैं ऐसी शिलाओं पर बैठकर विश्राम किया। ७४ ॥

अथ हिमवति रघोर्दीपकार्यं रात्रौ ज्योतिर्लताविशेषा एव कुर्वन्ति स्मेत्याह—

सरलासक्तमातङ्गग्रैवेयस्फुरितत्विषः ।
आसन्नोषधयो नेतुर्नक्तमस्नेहदीपिकाः ॥ ७५ ॥

सरलेति । सरलेषु देवदारुविशेषेष्वासक्तानि यानि मातङ्गानां गजानाम् ग्रीवासु भवानि ग्रैवेयाणि कण्ठश्रृङ्खलानि । 'ग्रीवाभ्योऽण्च' इति चकाराड्ढञ्प्रत्ययः। तेषु स्फुरितत्विषः प्रतिफलितभास ओषधयो ज्वलन्तो ज्योतिर्लताविशेषा नक्तं रात्रौ नेतुर्नायकस्य रघोरस्नेहदीपिकास्तैलनिरपेक्षाः प्रदीपा आसन् ॥ ७५ ॥

सरल नामक वृक्षों में बँधे हुये हाथियों के गले में बांधने की सीकड़ों में जिनकी कान्ति पड़ रही थी ऐसी ज्योतिर्लता नामक ओषधियां रात होने पर सेना के सञ्चालन करने वाले रघु महाराज के लिये तैलादि की अपेक्षा नहीं रखने वाले प्रदीप की भांति हुईं ॥ ७५ ॥

अथ रघोः सेनागजानामौन्नत्यं देवदारुस्कन्धवल्कलक्षतैः किराता जानन्ति स्मेत्याह—

तस्योत्सृष्टनिवासेषु कण्ठरज्जुक्षतत्वचः ।
गजवर्ष्म किरातेभ्यः शशंसुर्देवदारवः ॥ ७६ ॥

तस्येति । तस्य रघोरुत्सृष्टेषूज्झितेषु निवासेषु सेनानिवेशेषु कण्ठरज्जुभिर्गजग्रैवैः क्षता निष्पिष्टास्त्वचो येषां ते देवदारवः किरातेभ्यो वनचरेभ्यो गजानां वर्ष्म प्रमाणम्। 'वर्ष्म देहप्रमाणयोः' इत्यमरः। शशंसुः कथितवन्तः। देवदारुस्कन्धस्वक्क्षतैर्गजानामौन्नत्यमनुमीयत इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

उन रघु महाराज के छोड़े हुये सेनाके पड़ावों पर गले में बांधने के रस्सों से जिनके वल्कल उचड़ गये हैं ऐसे देवदारु के वृक्षों ने ही किरातों से हाथियों की ऊँचाई को कहा, अर्थात् जितनी ऊँचाई पर देवदारु के वल्कल उचड़ गये थे उतनी हाथियों की ऊँचाई किरातों ने समझी ॥ ७६ ॥

अथ रघोः पर्वतीयैर्म्लेच्छजातीयैः किरातादिभिः सह घोरं युद्धमभूदित्याह—

तत्र जन्यं रघोर्घोरं पर्वतीयैर्गणैरभूत् ।
नाराचक्षेपणीयाश्मनिष्पेषोत्पतितानलम् ॥ ७७ ॥

तत्रेति । तत्र हिमाद्रौ रघोः पर्वते भवैः पर्वतीयैः। 'पर्वताच्च' इति छप्रत्ययः। गणैरुत्सवसंकेताख्यैः सप्तभिः सह। 'गणानुत्सवसंकेतानजयत्सप्त पाण्डवः' इति महाभारते। नाराचानां बाणविशेषाणां क्षेपणीयानां भिन्दिपालानामश्मनां च निष्पेषेण सङ्घर्षेणोत्पतिता अनला यस्मिंस्तत्तथोक्तम्। 'क्षेपणीयो भिन्दिपालः लगुडो दीर्घो

महाफलः' इति यादवः। घोरं भीमं जन्यं युद्धमभूत्। 'युद्धमायोधनं जन्यम्' इत्यमरः ॥ ७७ ॥

उस हिमालय पर्वत पर रघु का वहां के निवासी उत्सवसङ्केताख्य सात म्लेच्छजाति के गणों के साथ केवल नाराच नामक बाण और भिन्दिपाल तथा पत्थर के टुकड़े, इन सबों के परस्पर रगड़ से अग्नि जिसमें उत्पन्न हो गयी थी ऐसा भयङ्कर युद्ध हुआ ॥७७॥

अथ पर्वतीयगणविजयिनो रघोर्यशोगानं तत्र किन्नरगणाश्चक्रुरित्याह—

शरैरुत्सवसङ्केतान् स कृत्वा विरतोत्सवान्।
जयोदाहरणं बाह्वोर्गापयामास किन्नरान् ॥ ७८ ॥

शरैरिति। स रघुः शरैर्बाणैरुत्सवसङ्केतान्नाम्नो गणान्विरतोत्सवान्कृत्वा। जित्वेत्यर्थः। किन्नरान्बाह्वोः स्वभुजयोर्जयोदाहरणं जयख्यापकं प्रबन्धावशेषं गापयामास। 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्त्ता स णौ' इत्यनेन किन्नराणां कर्मत्वम् ॥ ७८ ॥

उन रघु महाराज ने बाणों से उत्सवसङ्कत नामक सात पर्वत-निवासी म्लेच्छजाति के गिरोहों को युद्धमें बाणों से पराजित कर उनके उत्सवों को बन्द कर दिया और किन्नरों द्वारा अपने भुजबल का यशोगान कराया ॥ ७८ ॥

अथ पराजितानां पर्वतीयगणानां रघवे उपहारस्वरूपमणिगणाद्यर्पणमाह—

परस्परेण विज्ञातस्तेषूपायनपाणिषु।
राज्ञा हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिणा ॥ ७९ ॥

परस्परेणेति। तेषु गणेषूपायनयुक्ताः पाणयो येषां तेषु सत्सु परस्परेणान्योऽन्यं राज्ञा हिमवतः सारो धनरूपो विज्ञातः, हिमाद्रिणाऽपि राज्ञः सारो बलरूपो विज्ञातः। एतेन तत्रत्यवस्तूनामनर्घ्यत्वं गणानामभूतपूर्वश्च पराजय इति ध्वन्यते ॥७९॥

उन पर्वतीय उत्सवसंकेत नामक म्लेच्छजातिके सात गिरोहों के हाथमें उपहारस्वरूप रत्नादिकोंको लेकर रघुके शरण में उपस्थित होनेपर महाराज रघु और हिमालय ने परस्पर एक दूसरेके सारको जाना अर्थात् उपहार स्वरूप उन बहुमूल्यक रत्नों को देखकर महाराज रघुने हिमालयके धन रूप सारको और हिमालयने पर्वतीय उन वीरों को पराजित देखकर रघुके पराक्रमरूप सार को जाना ॥ ७९ ॥

अथ रघुरग्रे कैलासपर्वतमगत्वैव हिमालयशिखरादवततारेत्याह—

तत्राक्षोभ्यं यशोराशिं निवेश्यावरुरोह सः।
पौलस्त्यतुलितस्याद्रेरादधान इव ह्रियम् ॥ ८० ॥

तत्रेति। स रघुस्तत्र हिमाद्रावक्षोभ्यमहार्यं यशोराशिं निवेश्य निधाय। पौलस्त्येन रावणेन तुलितस्य चालितस्याद्रेः कैलासस्य ह्रियमादधानो जनयन्निव। अव-

स्तोहावततार । कैलासमगत्वैव प्रतिनिवृत्त इत्यर्थः । नहि शूराः परेण पराजितमभियुज्यन्त इति भावः ॥ ८० ॥

वे रघु महाराज उस हिमालय पर्वत पर अचल यशोराशि को रखकर रावण से हिलाये गये कैलास पर्वत को लज्जित करते हुयेकी भांति (वहां से) उतरे ॥ ८० ॥

अथ कामरूपाधिपती रघोर्भयेन कम्पितवानित्याह—

चकम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन् प्राग्ज्योतिषेश्वरः ।
तद्गजालानतां प्राप्तैः सह कालागुरुद्रुमैः ॥ ८१ ॥

चकम्प इति । तस्मिन् रघौ । तीर्णा लौहित्या नाम नदी येन तस्मिंस्तीर्णलौहित्ये सति । प्राग्ज्योतिषाणां जनपदानामीश्वरः, तस्य रघोर्गजानामालानतां प्राप्तैः कालागुरुद्रुमैः कृष्णागुरुवृक्षैः सह चकम्पे कम्पितवान् ॥ ८१ ॥

उन रघु राजा के लौहित्य नदी के पार करने पर प्राग्ज्योतिष देश का राजा उनके हाथियों के बांधने में स्तम्भ का काम जो दे रहे थे, ऐसे कालागुरु वृक्ष के साथ ही साथ कॉंप गया ॥ ८१ ॥

अथ कामरूपाधिपो रघो रथमार्गधूलिं दृष्ट्वैव भीतः सन् तेन सह युद्धं न कृतवानित्याह—

न प्रसेहे स रुद्धार्कमधारावर्षदुर्दिनम् ।
रथवर्त्मरजोऽप्यस्य कुत एव पताकिनीम् ॥ ८२ ॥

नेति । स प्राग्ज्योतिषेश्वरो रुद्धार्कमावृतसूर्यम् । अधारावर्षं च तद् दुर्दिनं च धारावृष्टिं विना दुर्दिनीभूतम् । अस्य रघो रथवर्त्मरजोऽपि न प्रसेहे । पताकिनीं सेनां तु कुत एव प्रसेहे । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ८२ ॥

प्राग्ज्योतिष देश का राजा सूर्य को ढक देने वाली निरन्तर जलवृष्टि के बिना मेघ से घिरे हुये दिन के समान मालूम पड़ने वाली इन रघु महाराज के रथमार्ग की धूलि को भी नहीं सह सका, फिर सेना को कैसे सहता ॥ ८२ ॥

अथ कामरूपाधिपो गजरत्नमुपायनीकृत्य रघोः शरणागतो बभूवेत्याह—

तमीशः कामरूपाणामत्याखण्डलविक्रमम् ।
भेजे भिन्नकटैर्नागैरन्यानुपरुरोध यैः ॥ ८३ ॥

तमिति । कामरूपाणां नाम देशानामीशोऽत्याखण्डलविक्रममतीन्द्रपराक्रमं तं रघुम् । भिन्नाः स्रवन्मदाः कटा गण्डा येषां तैर्नागैर्गजैः साधनैर्भेजे । नागान्दत्वा शरणङ्गत इत्यर्थः । कीदृशैर्नागैः । यैरन्यान्रघुव्यतिरिक्तान्नृपानुपरुरोध । शूराणामपि शूरो रघुरिति भावः ॥ ८३ ॥

कामरूपदेश के राजा ने पराक्रम में इन्द्र को भी अतिक्रमण करने वाले उन रघु महाराज की जिनके गण्डस्थलों से मद झर रहा था, ऐसे हाथियों से सेवा की, अर्थात्

हाथियों को भेंटमें देकर शरणागत हुआ, कैसे वे हाथी हैं, कि जिन हाथियों से रघु के अलावे और आक्रमणकारी राजाओं को दूर कर दिया था, अतः रघु शूर के भी शूर थे ॥ ८३ ॥

अथ कामरूपेश्वरो रघोः पादयोर्निपत्य रत्नान्युपायनीकृतवानित्याह—

कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम् ।
रत्नपुष्पोपहारेण छायामानर्च पादयोः ॥ ८४ ॥

कामेति । कामरूपेश्वरो हेमपीठस्याधिदेवतां तस्य रघोः पादयोश्छायां कनकमयपदपीठव्यापिनीं कान्तिं रत्नान्येव पुष्पाणि तेषामुपहारेण समर्पणेनानर्चार्चयामास ॥

कामरूप देश के राजा ने पैर रखने के लिए सोने के बने हुए आसन की अधिदेवता स्वरूप उन रघु महाराज के पैरों की कान्ति की रत्नरूपी फूलों को समर्पण करके पूजा की ॥

अथ रघुः सर्वा दिशो जित्वा दिग्विजयान्निवृत्तोऽभूदित्याह—

इति जित्वा दिशो जिष्णुर्न्यवर्तत रथोद्धतम् ।
रजो विश्रामयन्राज्ञां छत्रशून्येषु मौलिषु ॥ ८५ ॥

इतीति । जिष्णुर्जयशीलः । 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' इति ग्स्नुप्रत्ययः । स रघुरितीत्थं दिशो जित्वा रथैरुद्धतं रजश्छत्रशून्येषु । रघोरेकच्छत्रकत्वादिति भावः । राज्ञां मौलिषु किरीटेषु । 'मौलिः किरीटे धम्मिल्ले चूडाकङ्केलिमूर्धजे' इति हेमः । विश्रामयन् । सङ्क्रामयन्नित्यर्थः । न्यवर्तत निवृत्तः ॥ ८५ ॥

विजयी राजा रघु इस प्रकार से दिशाओं को विजय करके रथों से उड़ी हुई धूलि को छत्ररहित राजाओं के मुकुटों में जमाते हुए दिग्विजय करने से निवृत्त हुये ॥ ८५ ॥

अथ रघुर्विश्वजितं यज्ञं कृतवानित्याह—

स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम् ।
आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव ॥ ८६ ॥

स इति । स रघुः सर्वस्वं दक्षिणा यस्य तं सर्वस्वदक्षिणम् । 'विश्वजित्सर्वस्वदक्षिणः' इति श्रुतेः । विश्वजितं नाम यज्ञमाजह्रे, कृतवानित्यर्थः । युक्तं चैतदित्याह—सतां साधूनाम् वारिमुचां मेघानामिव । आदानमर्जनं विसर्गाय त्यागाय हि, पात्रविनियोगायेत्यर्थः ॥ ८६ ॥

उन रघुमहाराज ने जिसकी दक्षिणा में अपना सारा धन दे दिया जाता है, ऐसा विश्वजित् नाम का यज्ञ किया, क्योंकि यह उचित ही है कि—सज्जनों का लेना मेघों की भांति (जैसे मेघ समुद्र से जल लाता है और बरसा कर किसानों को खुश करता है) उसी प्रकार दूसरे को देने ही के लिये होता है ॥ ८६ ॥

अथ यज्ञान्ते स्वनिदेशायत्तीकृतेभ्यो नृपेभ्यो निजनिजगृहगमनाय रघुराज्ञां ददावित्याह—

सत्रान्ते सचिवसखः पुरस्क्रियाभिर्गुर्वीभिः शमितपराजयव्यलीकान् ।
काकुत्स्थश्चिरविरहोत्सुकावरोधान् राजन्यान्स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने ॥८७॥

सत्रान्त इति । काकुत्स्थो रघुः सत्रान्ते यज्ञान्ते । 'सत्रमाच्छादने यज्ञे सदा दाने धनेऽपि च' इत्यमरः । सचिवानाममात्यानां सखेति सचिवसखः सन् । 'सचिवो भृतकेऽमात्ये' इति हैमः । तेषामत्यन्तानुसरणद्योतनार्थं राज्ञः सखित्वव्यपदेशः । 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' । गुर्वीभिर्महतीभिः । 'गुरुर्महत्याङ्गिरसे पित्रादौ धर्मदेशके' इति हैमः । पुरस्क्रियाभिः पूजाभिः शमितं पराजयेन व्यलीकं दुःखं वैलक्ष्यं वा येषां तान् । 'दुःखे वैलक्ष्ये व्यलीकम्' इति यादवः । चिरविरहेणोत्सुकिता उत्कण्ठिता अवरोधा अन्तःपुराङ्गना येषां तान् । राज्ञोऽपत्यानि राजन्याः, क्षत्रियास्तान् । 'राजश्वशुराद्यत्' इत्यपत्यार्थे यत्प्रत्ययः । 'मूर्धाभिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट्' इत्यमरः । स्वपुरं प्रति निवृत्तये प्रतिगमनायानुमेनेऽनुज्ञातवान् । प्रहर्षिणीवृत्तमेतत् । तदुक्तम्-'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति ॥ ८७ ॥

काकुत्स्थ के वंश में पैदा हुये रघु महाराजने विश्वजित् नामक यज्ञ की समाप्ति होने पर मन्त्रियों के मित्र अर्थात् मन्त्रियों के मतका अनुसरण करनेवाले होते हुये, अत्यन्त आदर सत्कार द्वारा जिनके पराजय से उत्पन्न दुःख शान्त हो गये हैं और बहुत दिनों से विछोह होने के कारण जिनको अन्तःपुरकी स्त्रियां देखने के लिये उत्कण्ठित हो रही हैं, ऐसे क्षत्रिय राजाओं को अपने २ नगर की ओर जाने के लिए आज्ञा दी ॥ ८७ ॥

अथ स्वपुरं प्रति गमनाय प्राप्तानुज्ञानां राज्ञां प्रयाणकाले रघोः पादयोः प्रणिपतनमाह—

ते रेखाध्वजकुलिशातपत्रचिह्नं सम्राजश्चरणयुगं प्रसादलभ्यम् ।
प्रस्थानप्रणतिभिरङ्गुलीषु चक्रुर्मौलिस्रक्च्युतमकरन्दरेणुगौरम् ॥ ८८ ॥

त इति । ते राजानः । रेखा एव ध्वजाश्च कुलिशानि चातपत्राणि च, ध्वजाद्याकाररेखा इत्यर्थः । तानि चिह्नानि यस्य तत्तथोक्तम् । प्रसादेनैव लभ्यम् प्रसादलभ्यम् । सम्राजः सार्वभौमस्य रघोश्चरणयुगं प्रस्थाने प्रयाणसमये याः प्रणतयो नमस्कारास्ताभिः करणैः । अङ्गुलीषु, मौलिषु केशबन्धनेषु याः स्रजो माल्यानि ताभ्यश्च्युतैर्मकरन्दैः पुष्परसैः । 'मकरन्दः पुष्परसः' इत्यमरः । रेणुभिः परागैश्च । 'परागः सुमनोरजः' इत्यमरः । गौरं गौरवर्णं चक्रुः ॥ ८८ ॥

इति सञ्जीविनीव्याख्यायां रघुदिग्विजयो नाम चतुर्थः सर्गः ।

विश्वजित् यज्ञ के लिये निमंत्रित राजाओं ने पताका, वज्र और छत्र के चिह्न रेखारूप से जिनमें मौजूद हैं और जो कि अनुग्रह से पाने योग्य हैं, ऐसे चक्रवर्त्ती महाराजरघुके चरणों की अङ्गुलियों को घर जाने के समय प्रणाम करते समय अपने २ किरीटों में जो मालायें लगा रक्खी थीं, उनसे झरे हुये फूलों के रस तथा परागों से गौर वर्ण कर दिया ॥ ८८ ॥

इति चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

अथ गुरुदक्षिणाऽर्थी वरतन्तुशिष्यः कौत्स ऋषी रघुम्प्रापेत्याह—

तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोषजातम् ।
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणाऽर्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः ॥ १ ॥

इन्दीवरदलश्याममिन्दिराऽऽनन्दकन्दलम् ।
वन्दारुजनमन्दारं वन्देऽहं यदुनन्दनम् ॥

तमिति । विश्वजिति विश्वजिन्नाम्न्यध्वरे यज्ञे । 'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः' इत्यमरः । निःशेषं विश्राणितं दत्तम् । 'श्रणु दाने' चुरादिः । कोषाणामर्थराशीनां जातं समूहो येन तं तथोक्तम् । 'कोषोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधानेऽर्थौघदिव्ययोः' इत्यमरः । 'जातं जनिसमूहयोः' इति शाश्वतः । एतेन कौत्सस्यानवसरप्राप्तिं सूचयति । तं क्षितीशं रघुमुपात्तविद्यो लब्धविद्यो वरतन्तोः शिष्यः कौत्सः । 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' इत्यण् । इञोऽपवादः । गुरुदक्षिणाऽर्थी । 'पुष्करादिभ्यो देशे' इत्यत्रार्थाच्चासन्निहिते तदन्ताच्चेतीनिः । अप्रत्याख्येय इति भावः । प्रपेदे प्राप । अस्मिन्सर्गे वृत्तमुपजातिः । तल्लक्षणं तु—(स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ । अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः) ॥ इति ॥ १ ॥

विश्वजित् नामक यज्ञ में सारे अर्थ राशियों के समूह (खजानों) का दान किये हुये उन महाराज रघु के पास १४ विद्या (छन्द-कल्प-ज्योतिष-निरुक्त-शिक्षा-व्याकरण-इन छः अङ्गों के सहित ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-अथर्ववेद-ये ४ वेद और मीमांसा-न्याय-धर्मशास्त्र-पुराण) को प्राप्त किये हुए वरतन्तु नामक महर्षि के शिष्य कौत्स ऋषि गुरु की दक्षिणा स्वरूप १४ करोड़ धन को चाहने वाले होते हुये पहुंचे ॥ १ ॥

अथ रघुः कौत्सस्य स्वागतार्थमर्घ्यं गृहीत्वा सम्मुखं ययावित्याह—

स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः ।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः ॥ २ ॥

स इति । अनर्घशीलोऽमूल्यस्वभावः । असाधारणस्वभाव इत्यर्थः । 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इति । 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इति चामरशाश्वतौ । यशसा कीर्त्या ।

प्रकाशत इति प्रकाशः । पचाद्यच् । अतिथिषु साधुरातिथेयः । 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' इति ढञ् । स रघुः । हिरण्यस्य विकारो हिरण्मयम् । 'दाण्डिनायन०' इत्यादिना सूत्रेण निपातः । वीतहिरण्मयत्वादपगतसुवर्णपात्रत्वात् । यज्ञस्य सर्वस्वदक्षिणाकत्वादिति भावः । मृण्मये मृद्विकारे पात्रे । अर्घार्थमिदमर्घ्यम् । 'पादार्घाभ्यां च' इति यत् । पूजाऽर्थं द्रव्यं निधाय श्रुतेन शास्त्रेण प्रकाशं प्रसिद्धम् । श्रूयत इति श्रुतं वेदशास्त्रम् । 'श्रुतं शास्त्रावधृतयोः' इत्यमरः । अतिथिमभ्यागतं कौत्सम् । इत्यमरः । प्रत्युज्जगाम ॥ २ ॥

असाधारण शीलवान्, कीर्त्ति से परम प्रसिद्ध, अतिथियों का सत्कार करनेवाले, वे रघु महाराज, सोने के बने हुये पात्रों के न रहने से मिट्टी के बने हुये पात्र में अर्घनिमित्तक द्रव्य रख कर शास्त्र से परम प्रसिद्ध अतिथि कौत्स के पास उठ कर गये ॥ २ ॥

अथ कौत्समर्घ्यादिदानेन पूजयित्वाऽऽसने समुपवेश्य कृताञ्जलिः सन् रघुर्वक्तुमारेभ इत्याह—

तमर्चयित्वा विधिवद्विधिज्ञस्तपोधनं मानधनाग्रयायी ।
विशाम्पतिर्विष्टरभाजमारात्कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच ॥ ३ ॥

तमिति । विधिज्ञः शास्त्रज्ञः । अकरणे प्रत्यवायभीरुरित्यर्थः । मानधनानामग्रयाय्यग्रेसरः । अपयशोभीरुरित्यर्थः । कृत्यवित्कार्यज्ञः । आगमनप्रयोजनमवश्यं प्रष्टव्यमिति कृत्यवित् । विशाम्पतिर्मनुजेश्वरः । 'द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ' इत्यमरः । विष्टरभाजमासनगतम् । उपविष्टमित्यर्थः । 'विष्टरो विटपी दर्भमुष्टिः पीठाद्यमासनम्' इत्यमरः । 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' इति निपातः । तं तपोधनं विधिवद्विध्यर्हम् । यथाशास्त्रमित्यर्थः । 'तदर्हम्' इति वतिप्रत्ययः । अर्चयित्वाऽऽरात्समीपे । 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः । कृताञ्जलिः सन्निति वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाच ॥ ३ ॥

शास्त्र के जानने वाले, मान को ही धन मानने वालों में सर्वप्रथम, एवं 'आगमन का प्रयोजन अवश्य पूछना चाहिये' इस कार्य को जानने वाले राजा रघु आसन पर बैठे हुए उन तपोधन कौत्स ऋषिका विधिवत् पूजन करके समीप में हाथ जोड़े हुये इस प्रकार उन से बोले ॥ ३ ॥

अथ कौत्सं प्रति ब्रुवता रघुणा तद्गुरोः सर्वप्रथमं कुशलं पृष्टमित्याह—

अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे ! कुशली गुरुस्ते !
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः ॥ ४ ॥

अप्यग्रणीरिति । हे कुशाग्रबुद्धे ! सूक्ष्मबुद्धे ! । 'कुशाग्रीयमतिः प्रोक्तः सूक्ष्मदर्शी च यः पुमान्' इति हलायुधः । मन्त्रकृतां मन्त्रस्रष्टृणाम् । 'सुकर्मपापमन्त्र०' इत्यादिना क्विप् । ऋषीणामग्रणीः श्रेष्ठस्ते तव गुरुः कुशल्यपि क्षेमवान्किम् । अपिः प्रश्ने । 'गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि' इत्यमरः । यतो यस्माद् गुरोः

सकाशात्त्वयाऽशेषं ज्ञानम् । लोकेनोष्णरश्मेः । सूर्याच्चैतन्यं प्रबोध इव । आप्तं स्वीकृतम् ॥ ४ ॥

हे तीक्ष्णबुद्धि वाले ! ऋषे कौत्स ! मन्त्रों के स्मरण करने वाले ऋषियों में श्रेष्ठ वे आप के गुरुजी महाराज कुशल से तो हैं ? जिनसे आपने सम्पूर्ण ज्ञान उस भांति प्राप्त किया जिस भांति लोग सूर्य से प्रबोध प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

अथ सम्प्रति रघुकर्तृकं पुनर्महर्षेस्तपोविषयककुशलप्रश्नमाह—

कायेन वाचा मनसाऽपि शश्वद्यत्सम्भृतं वासवधैर्यलोपि ।
आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत् ॥ ५ ॥

कायेनेति । कायेनोपवासादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिना वाचा वेदपाठेन मनसा गायत्रीजपादिना कायेन वाचा मनसाऽपि करणेन वासवस्येन्द्रस्य धैर्यं लुम्पतीति वासवधैर्यलोपि । स्वपदापहारशङ्काजनकमित्यर्थः । यत्तपः शश्वदसकृत् । 'मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समा' इत्यमरः । सम्भृतं सञ्चितं महर्षेर्वरतन्तोस्त्रिविधं वाङ्मनःकायजं तत्तपोऽन्तरायैर्विघ्नैरिन्द्रप्रेरिताप्सरःशापैर्व्ययं नाशं नापाद्यते कच्चिद् न नीयते किम् । 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः ॥ ५ ॥

शरीर से (कृच्छ्रचान्द्रायणादि द्वारा) वाणी से (वेदपाठ द्वारा) और मन से (गायत्रीजपादि द्वारा) इन्द्र के धैर्य का नाश करने वाला (इन्द्र के पदके अपहरण की शङ्का को उत्पन्न करने वाला) जो (तप) बारबार सञ्चय किया हुआ महर्षि वरतन्तु का तीन प्रकार का (शरीर–वाणी–और मन से सम्पादित) तप है वह विघ्नों से (इन्द्र की भेजी हुई अप्सराओं से या शापों से) कभी नष्ट तो नहीं कराया जाता है ? ॥ ५ ॥

अथ रघुकर्तृकं महर्षेस्तपोवनवर्तिवृक्षविषयककुशलप्रश्नमाह—

आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम् ।
कच्चिन्न वाय्वादिरुपप्लवो वः श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम् ॥ ६ ॥

आधारेति । आधारबन्धप्रमुखैरालवालनिर्माणादिभिः प्रयत्नैरुपायैः । 'आधार आलवालेऽम्बुबन्धेऽधिकरणेऽपि च' इति विश्वः । सुतेभ्यो निर्गतो विशेषोऽतिशयो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा संवर्धितानां श्रमच्छिदां व आश्रमपादपानां वाय्वादिः । आदिशब्दाद्दावानलादिः । उपप्लवो बाधको न कच्चिदस्ति किम् ॥ ६ ॥

क्यारी बांधना, जल देना आदि उपायों से पुत्र के समान बढ़ाये गये जो (पथिकों की) थकावट को दूर करने वाले आप लोगों के तपोवन के वृक्ष हैं, उन सबों को झञ्झा वात–दावानल आदि उपद्रवों से कोई बाधा तो नहीं पहुँचती है ? ॥ ६ ॥

अथाश्रमस्थमृगीणां सद्योजातशिशुविषयकुशलप्रश्नमाह—

क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु ।
तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः ॥ ७ ॥

क्रियानिमित्तेष्विति । क्रियानिमित्तेष्वप्यनुष्ठानसाधनेष्वपि कुशेषु मुनिभिर्वत्सलत्वान्मृगस्नेहाद्भग्नकामाऽप्रतिहतेच्छा । तेषां मुनीनामङ्का एव शय्यास्तासु च्युतानि नाभिनालानि यस्याः सा तथोक्ता मृगीणां प्रसूतिः सन्ततिरनघाऽव्यसना कच्चित् । अनपायिनी किमित्यर्थः । 'दुःखैनोव्यसनेष्वघम्' इति यादवः । ते हि व्यालभयाद्दशरात्रमङ्क एव धारयन्ति ॥ ७ ॥

और अनुष्ठान के निमित्त रक्खे हुए भी कुशों में जो मुनि स्नेह वश हो जिन के खाने की इच्छा को नहीं रोक सके हैं (खाने दिया है) ऐसे उन मुनियों की गोदी रूप बिछौने पर जिन के नाभिनाल गिर पड़े हैं, ऐसे हरिणियों के नवजात बच्चे विपत्ति से रहित (कुशल से) तो हैं ? ॥ ७ ॥

अथ रघुर्ऋषिसेवितजलानां निरुपद्रवं पृच्छन्नाह—

निर्वर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितॄणाम् ।
तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित् ॥ ८ ॥

निर्वर्त्यत इति । यैस्तीर्थजलैर्नियमाभिषेको नित्यस्नानादिर्निर्वर्त्यते निष्पाद्यते । येभ्यो जलेभ्यः । उद्धृत्येति शेषः । पितॄणामग्निष्वात्तादीनां निवापाञ्जलयस्तर्पणाञ्जलयः । 'पितृदानं निवापः स्यात्' इत्यमरः । निर्वर्त्यन्ते । उञ्छानां प्रकीर्णोद्धृतधान्यानां षष्ठैः षष्ठभागैः पालकत्वाद्राजग्राह्यैरङ्कितानि सैकतानि पुलिनानि येषां तानि तथोक्तानि वो युष्माकं तानि तीर्थजलानि शिवानि भद्राणि कच्चित् । अनुपप्लवानि किमित्यर्थः । 'उञ्छो धान्यांशकादानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्' इति यादवः । 'षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च' इति षष्ठशब्दाद्भागार्थेऽन्प्रत्ययः । अत एवापूरणार्थत्वात् 'पूरणगुण०' इत्यादिना न षष्ठीसमासप्रतिषेधः । सिकता येषु सन्ति तानि सैकतानि । 'सिकताशर्कराभ्यां च' इत्यण्प्रत्ययः ॥ ८ ॥

जिन तीर्थों (जिनके जलों से ऋषि लोग नित्य स्नान तर्पणादि क्रिया करते हैं, उन्हें तीर्थ कहते हैं) के जलों से व्रतसम्बन्धी स्नानादि क्रिया निष्पन्न होती है, और जिन तीर्थजलों से पितृगग का तर्पण किया जाता है, और जिनके बालुकामय किनारे (बचे हुए कृषकों द्वारा धान्य की राशि उठा ले जाने पर एक एक कणों को उठाकर इकट्ठा किये गये राजा के लिये दिये) उञ्छ संज्ञक धान्यों के छठे भागों से सुशोभित हो रहे हैं ऐसे आप लोगों के तीर्थों के जल उपद्रव से रहित तो हैं ॥ ८ ॥

अथ रघुर्मुनिजनभक्ष्याणां नीवारादिधान्यानां निरुपद्रवं पृच्छन्नाह—

नीवारपाकादि कडङ्गरीयैरामृश्यते जानपदैर्न कच्चित् ।
कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं वन्यं शरीरस्थितिसाधनं वः ॥ ९ ॥

नीवारेति । कालेषु योग्यकालेषूपपन्नानामागतानामतिथीनां कल्प्या भागा यस्य तत्तथोक्तम् । वने भवं वन्यम् । शरीरस्थितेर्जीवितस्य साधनं वो युष्माकम् । पच्यत

इति पाकः फलम् । धान्यमिति यावत् । नीवारपाकादि । आदिशब्दाच्छ्यामाकादिधान्यसंग्रहः । जनपदेभ्य आगतैर्जानपदैः । 'तत आगतः' इत्यण् । कडङ्करीयैः । कडङ्करं बुसमर्हन्तीति कडङ्करीयाः । 'कडङ्करो बुसं क्लीबे धान्यत्वचि तुषः पुमान्' इत्यमरः । 'कडङ्करदक्षिणाच्छ च' इति छप्रत्ययः । तैर्गोमहिषादिभिर्नामृश्यते कच्चित् । न भक्ष्यते किमित्यर्थः ॥ ९ ॥

उचित समय पर (बलि वैश्वदेव कर चुकने पर) आये हुये अतिथियों के भागों की भी जिनमें कल्पना की जाती है, ऐसे जङ्गलों में उत्पन्न हुये, शरीर की स्थिति बनाये रखने के कारण रूप (भक्ष्य पदार्थ) जो आप लोगों के नीवार-सांवा आदि धान्य हैं उन्हें ग्राम से आये हुये भूसा खाने वाले गाय-भैंस तो नहीं खा जाते हैं ॥ ९ ॥

अथ किं गुरुणा प्रसन्नतया गृहस्थाश्रमं प्रवेष्टुं समाप्तविद्यस्त्वमाज्ञप्तः ? इति पृच्छन् रघुराह—

अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय ।
कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते ॥ १० ॥

अपीति । किञ्च त्वं प्रसन्नेन सता महर्षिणा सम्यग्विनीय शिक्षयित्वा । विद्यामुपदिश्येत्यर्थः । गृहाय गृहस्थाश्रमं प्रवेष्टुम् । 'क्रियाऽर्थोपपद०' इत्यादिना चतुर्थी । अनुमतोऽप्यनुज्ञातः किम् । हि यस्मात्ते तव सर्वेषामाश्रमाणां ब्रह्मचर्यवानप्रस्थयतीनामुपकारे क्षमं शक्तम् । 'क्षमं शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः । द्वितीयमाश्रमं गार्हस्थ्यं संक्रमितुं प्राप्तुमयं कालः । विद्याग्रहणानन्तर्यात्तस्येति भावः । 'कालसमयवेलासु तुमुन्' इति तुमुन् । सर्वोपकारक्षममित्यत्र मनुः—(यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः । वर्तन्ते गृहिणस्तद्वदाश्रित्येतर आश्रमाः) इति ॥

और आपसे प्रसन्न होते हुये महर्षि वरतन्तु जी ने भली भांति शिक्षा देकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिये क्या आपको आज्ञा दी है ? क्योंकि सभी (ब्रह्मचर्य-वानप्रस्थ-संन्यास) आश्रमों के उपकार करने में समर्थ जो दूसरा गार्हस्थ्य आश्रम है उसमें प्रविष्ट होने का यह समय है ॥ १० ॥

कुशलप्रश्नं विधायागमनप्रयोजनप्रश्नं चिकीर्षुराह—

तवार्हतो नाभिगमेन तृप्तं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे ।
अप्याज्ञया शासितुरात्मना वा प्राप्तोऽसि संभावयितुं वनान्माम् ॥ ११ ॥

तवार्हत इति । अर्हतः पूज्यस्य प्रशस्यस्य । 'अर्हः प्रशंसायाम्' इति शतृप्रत्ययः । तवाभिगमेनागमनमात्रेण मे मनो न तृप्तं न तुष्टम् । किन्तु नियोगक्रिययाऽऽज्ञाकरणेनोत्सुकं सोत्कण्ठम् । 'इष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः' इत्यमरः । 'प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च' इति सप्तम्यर्थे तृतीया । शासितुर्गुरोराज्ञयाप्यात्मना स्वतो वा । 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति तृतीया । मां सम्भावयितुं वनात्प्राप्तोऽसि । गुर्वर्थं स्वार्थं वाऽऽगमनमित्यर्थः ॥ ११ ॥

पूजनीय जो आप हैं, सो आपके (आप सदृश पूजनीय के) आने मात्र से ही मेरा मन सन्तुष्ट नहीं हुआ, किन्तु आप आज्ञा करें इस विषय में अत्यन्त उत्कण्ठित है अस्तु-आप क्या गुरु की आज्ञा से अथवा अपनी इच्छा से मुझे कृतार्थ करने के लिये जंगल से आये हैं? अर्थात् आप जिस लिये आये! उसे कहें ॥ ११ ॥

अथ पूर्वोक्तं रघुवचः श्रुत्वा तदुत्तरं दातुकामतया कौत्सो वक्ष्यमाणप्रकारेण समुवाचेत्याह—

इत्यर्घ्यपात्रानुमितव्ययस्य रघोरुदारामपि गां निशम्य ।
स्वार्थोपपत्तिं प्रति दुर्बलाशस्तमित्यवोचद्वरतन्तुशिष्यः ॥ १२ ॥

इतीति । अर्घ्यपात्रेण मृण्मयेनानुमितो व्ययः सर्वस्वत्यागो यस्य तस्य रघोरित्युक्तप्रकारामौदार्ययुक्तामपि गां वाचम् । 'मनोनियोगक्रिययोत्सुकं मे' इत्येवं रूपाम् । 'स्वर्गेषु पशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्ट्योः स्त्रियां पुंसि गौः' इत्यमरः । निशम्य श्रुत्वा वरतन्तुशिष्यः कौत्सः स्वार्थोपपत्तिं स्वकार्यसिद्धिं प्रति दुर्बलाशः सन्मृण्मयपात्रदर्शनाच्छिथिलमनोरथः संस्तं रघुमिति वक्ष्यमाणप्रकारेणावोचत् ॥ १२ ॥

अर्घ्य सम्बन्धी (मृण्मय) पात्र से ही जिसके सम्पूर्ण धन के खर्च हो जाने का पता लग गया है ऐसे उन रघु महाराज को 'हमारा मन आपकी आज्ञा पालन करने के लिये उत्कण्ठित है' इस तरह की उदारता से भरी हुई वाणी सुनकर भी वरतन्तु महर्षि के शिष्य कौत्स ऋषि अपने कार्य की सिद्धि की ओर से निराश होते हुये, उनसे आगे कहे जाने वाले प्रकार से बोले ॥ १२ ॥

अथ कौत्सो रघोः प्रश्नोत्तरं दातुकामतया तं प्रति भाषमाण आदौ 'नः सर्वप्रकारेण सर्वत्र कुशलमस्ती'त्याह—

सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजन्नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम् ।
सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा ॥ १३ ॥

सर्वत्रेति । हे राजन्! त्वं सर्वत्र नोऽस्माकं वार्तं स्वास्थ्यमवेहि जानीहि । 'वार्तं फल्गुन्यरोगे च' इत्यमरः । 'वार्तं पाटवमारोग्यं भव्यं स्वास्थ्यमनामयम्' इति यादवः । न चैतदाश्चर्यमित्याह—नाथ इति । त्वयि नाथ ईश्वरे सति प्रजानामशुभं दुःखं कुतः । तथाहि । अर्थान्तरं न्यस्यति—सूर्ये इत्यादिना । सूर्ये तपति प्रकाशमाने सति तमिस्रा तमस्ततिः । 'तमिस्रं तिमिरं रोगे तमिस्रा तु तमस्ततौ । कृष्णपक्षे निशायां च' इति विश्वः । 'तमिस्रम्' इति पाठे तमिस्रं तिमिरम् । 'तमिस्रं तिमिरं तमः' इत्यमरः । लोकस्य जनस्य । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । दृष्टेरावरणाय कथं कल्पेत? दृष्टिमावरितुं नालमित्यर्थः । क्लृपेरलमर्थत्वात्तद्योगे 'नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च' इत्यनेन चतुर्थी । 'अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्' इति भगवान्भाष्यकारः । कल्पेत सम्पद्येत न कल्पत इत्यर्थः । क्लृपि सम्पद्यमाने चतुर्थीति वक्तव्यात् ॥ १३ ॥

हे राजन्! सब विषयों में हम लोगों का कुशल है यह जानो, तुम्हारे ऐसे राजा के रहने पर प्रजाओं को दुःख कहां से है, अर्थात् कहीं से भी नहीं है, क्योंकि सूर्यके प्रकाशमान होने पर अन्धकार-समूह लोगों की दृष्टि को ढँकने के लिये किसी प्रकार से भी नहीं समर्थ होता है ॥ १३ ॥

'तवार्हतः' (५।१२) इत्यादिनोक्तं यत्तत्र चित्रमित्याह—

भक्तिः प्रतीच्येषु कुलोचिता ते पूर्वान्महाभाग ! तयातिशेषे ।
व्यतीतकालस्त्वहमभ्युपेतस्त्वामर्थिभावादिति मे विषादः ॥ १४ ॥

भक्तिरिति। प्रतीच्येषु पूज्येषु। 'पूज्यः प्रतीच्यः' इत्यमरः। भक्तिरनुरागविशेषस्ते तव कुलोचिता कुलाभ्यस्ता। 'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्यम्' इति यादवः। हे महाभाग ! सार्वभौम ! तया भक्त्या पूर्वानतिशेषेऽतिवर्तसे। किंतु सर्वत्र वार्ता चेत्तर्हि कथं खेदखिन्न इव दृश्यसेऽत आह—व्यतीतेति। अहं व्यतीतकालोऽतिक्रान्तकालः सन्नर्थिभावात्त्वामभ्युपेत इति मे मम विषादः॥ १४ ॥

'पूज्य जनों में भक्ति रखना' यह आपके कुल में परम्परा से चला आया है, अतः हे परमभाग्यशाली रघु महाराज ! आप (पूज्य-विषयक भक्ति) से अपने पूर्वजों को भी लांघ गये हैं,-अर्थात् पूज्यजनों में भक्ति रखने में आप अपने पूर्वजों से भी बढ़ कर हैं, किन्तु (सब जगह कुशल यदि है, तो आप उदास क्यों हैं ऐसा यदि आप कहें तो) मैं समय बीत जाने पर याचकरूप से आपके पास आया हूं, इसी से मुझे उदासी है ॥ १४ ॥

अथ धनप्राप्तौ निराशः सन्नपि कौत्सो रघुं प्रशंसन्नाह—

शरीरमात्रेण नरेन्द्र ! तिष्ठन्नाभासि तीर्थप्रतिपादितर्द्धिः ।
आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः ॥ १५ ॥

शरीरमात्रेणेति। हे नरेन्द्र! तीर्थे सत्पात्रे प्रतिपादिता दत्ता ऋद्धिर्येन स तथोक्तः। 'योनौ जलावतारे च मन्त्र्याद्यष्टादशस्वपि। पुण्यक्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थं स्याद्दर्शनेष्वपि'। इति हलायुधः। शरीरमात्रेण तिष्ठन्। आरण्यका अरण्ये भवा मनुष्या मनुष्यप्रमुखाः। 'अरण्यान्मनुष्ये' इति वुञ्प्रत्ययः। तैरुपात्ता फलमेव प्रसूतिर्यस्य स स्तम्बेन काण्डेनावशिष्टः (प्रकृत्यादित्वात्तृतीया)। नीवार इव। आभासि शोभसे॥

हे राजन्! सत्पात्रों को अपनी सारी सम्पत्ति दे देने से केवल बचे हुये शरीर से स्थित आप वन के रहने वाले मुनि जन आदिकों से फल तोड़ लिये जाने पर डांट मात्र से बचे हुए नीवार नामक मुनिधान्य के समान सुशोभित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

कौत्सो रघोर्मखजस्य निर्धनत्वस्य समीचीनत्वं पुनर्दृष्टान्तान्तरेण प्रदर्शयन्नाह—

स्थाने भवानेकनराधिपः सन्नकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति ।
पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः ॥ १६ ॥

स्थान इति । भवानेकनराधिपः सार्वभौमः सन् । मखजं मखजन्यम् । न विद्यते किंचन यस्येत्यकिंचनः । (मयूरव्यंसकादित्वात्तत्पुरुषः) । तस्य भावस्तत्त्वं निर्धनत्वं व्यनक्ति प्रकटयति । स्थाने युक्तम् । 'युक्ते द्वे सांप्रतं स्थाने' इत्यमरः । तथाहि सुरैर्देवैः पर्यायेण क्रमेण पीतस्य हिमांशोः कलाक्षयो वृद्धेरुपचयाच्छ्लाघ्यतरो हि वरः खलु । 'मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतो मदक्षीणो नागः शरदि सरितः श्यानपुलिनाः । कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालवनिता तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नृपाः ॥' (भर्तृ० २।४४) इति भावः । अत्र कामन्दकः– 'धर्मार्थं क्षीणकोषस्य क्षीणत्वमपि शोभते । सुरैः पीतावशेषस्य कृष्णपक्षे विधोरिव' ॥ इति ॥ १६ ॥

आप अद्वितीय महाराज (चक्रवर्ती) होते हुये भी जो विश्वजित् यज्ञ में सर्वस्व दान करने से उत्पन्न निर्धनता को प्रकट कर रहे हैं, वह उचित है, (बहुत भला मालूम पड़ता है), क्योंकि–देवताओं द्वारा क्रम से पीये गये चन्द्रमा की कलाओं का क्षय होना बढ़नेकी अपेक्षा निश्चय करके अधिकतर प्रशंसनीय होता है ॥ १६ ॥

कौत्सो रघोर्मखजं निर्धनत्वं स्तुत्वाऽन्यतो गुरुधनमाहर्तुं स्वकीयमन्यत्रगमनं सम्प्रति विज्ञापयन्नाह—

तदन्यतस्तावदनन्यकार्यो गुर्वर्थमाहर्तुमहं यतिष्ये ।
स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि ॥ १७ ॥

तदिति । तत्तस्मात्तावदनन्यकार्यः । 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ मानेऽवधारणे' इति विश्वः । प्रयोजनान्तररहितोऽहमन्यतो वदान्यान्तराद् गुर्वर्थं गुरुधनमाहर्तुमर्जयितुं यतिष्य उद्योक्ष्ये । ते तुभ्यं स्वस्ति शुभमस्तु । 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च' इत्यनेन चतुर्थी । तथाहि—चातकोऽपि । (धरणीपतितं तोयं चातकानां रुजाकरम्) इति हेतोरनन्यगतिकोऽपीत्यर्थः । निर्गलितोऽम्ब्वेव गर्भो यस्य तं शरद्घनं नार्दति न याचते । 'अर्द–गतौ याचने च' इति धातुः । 'याचनाऽर्थे रणेऽर्दनम्' इति यादवः ॥ १७ ॥

इस (आपकी निर्धनता के) कारण (जबतक अभीष्ट द्रव्य की प्राप्ति न होवे) तब तक गुरुदक्षिणा देने के अलावा दूसरा कोई प्रयोजन नहीं रखने वाला मैं (कौत्स ऋषि) दूसरे किसी दाता के पास से गुरु वरतन्तु महर्षिके लिये धन उपार्जन करनेके लिये कोशिश करूँगा, आपका कल्याण होवे और (पृथ्वी पर गिरा हुआ जल रोगकारक होने से केवल मेघ का ही जल पीनेवाला) चातक (पपीहा) पक्षी भी जब जलरहित (जिसके मध्यभाग से जल निकल गया है ऐसे शरत् काल के) मेघ से जल की याचना नहीं करता है तब मनुष्य होकर मेरा मांगना आपसे उचित नहीं है ॥ १७ ॥

पूर्वोक्तवाक्यमुक्त्वा गन्तुकामं कौत्सं निषिध्य, गुरवे प्रदेयं वस्तु किमात्मकं किम्परिमाणं वाऽस्तीति तं रघुः पृच्छन्नाह—

एतावदुक्त्वा प्रतियातुकामं शिष्यं महर्षेर्नृपतिर्निषिध्य ।
किं वस्तु विद्वन् ! गुरवे प्रदेयं त्वया कियद्वेति तमन्वयुङ्क्त ॥ १८ ॥

एतावदिति । एतावद्वाक्यमुक्त्वा प्रतियातुं कामो यस्य तं प्रतियातुकामं गन्तुकामम् । 'तुंकाममनसोरपि' इति मकारलोपः । महर्षेर्वरतन्तोः शिष्यं कौत्सं नृपती रघुर्निषिध्य निवार्य । हे विद्वन् ! त्वया गुरवे प्रदेयं वस्तु किं किमात्मकंकियत् किंपरिमाणं वा । इत्येवं तं कौत्समन्वयुङ्क्तापृच्छत् । 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः ॥१८॥

इतनी बात कह कर जाने की इच्छा करने वाले महर्षि वरतन्तु के शिष्य कौत्स ऋषि को महाराज रघु ने रोक कर—हे विद्वन् ! आपको जो गुरुजी के लिये देना है, वह वस्तु कौन सी और कितनी है, यह उनसे पूछा ॥ १८ ॥

अथ कौत्सो रघोः प्रश्नोत्तरं दित्सुराह—

ततो यथावद्विहिताध्वराय तस्मै स्मयावेशविवर्जिताय ।
वर्णाश्रमाणां गुरवे स वर्णी विचक्षणः प्रस्तुतमाचचक्षे ॥ १९ ॥

तत इति । ततो यथावद्यथाऽर्हम् । अर्हार्थे वतिः । विहिताध्वराय विधिवदनुष्ठितयज्ञाय । सदाचारायेत्यर्थः । स्मयावेशविवर्जिताय गर्वाभिनिवेशशून्याय । अनुद्धतायेत्यर्थः । वर्णानां ब्राह्मणादीनामाश्रमाणां ब्रह्मचर्यादीनां च गुरवे नियामकाय । 'वर्णाः स्युर्ब्राह्मणादयः' इति । 'ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुश्चतुष्टये । आश्रमोऽस्त्री' इति चामरः । सर्वकार्यनिर्वाहकायेत्यर्थः । तस्मै रघवे विचक्षणो विद्वान्वर्णी ब्रह्मचारी । 'वर्णिनो ब्रह्मचारिणः' इत्यमरः । 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' इतीनिप्रत्ययः । स कौत्सः प्रस्तुतं प्रकृतमाचचक्षे ॥ १९ ॥

उसके बाद शास्त्रानुकूल यज्ञ को जिसने किया है और जो गर्व के आवेश से शून्य हैं अर्थात् अहङ्कार शून्य हैं ऐसे चारों (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र) वर्णों और चारों (ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ-संन्यास) आश्रमों को अपने २ मार्ग पर चलाने वाले उन रघु महाराज से पण्डित और ब्रह्मचारी वे कौत्स ऋषि प्रकृत विषय को कहने लगे ॥ १९ ॥

अथ प्रकृतविषयमाचक्षाणः कौत्स आदौ गुरुदक्षिणार्थं साग्रहं कृतं गुरौ निवेदनमेव रघुं प्रत्याह—

समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद् गुरुदक्षिणायै ।
स मे चिरायास्खलितोपचारां तां भक्तिमेवागणयत्पुरस्तात् ॥ २० ॥

समाप्तेति । समाप्तविद्येन मया महर्षिर्गुरुदक्षिणायै गुरुदक्षिणास्वीकारार्थं विज्ञापितोऽभूत् । स च गुरुश्चिरायास्खलितोपचारां तां दुष्करां मे भक्तिमेव पुरस्तात्प्रथ-

ममगणयत्संख्यातवान् । भक्त्यैव सन्तुष्टः किं दक्षिणयेत्युक्तवानित्यर्थः । अथवा भक्तिमेव तां दक्षिणामगणयदिति योज्यम् ॥ २० ॥

१४ विद्याओं को प्राप्त किये हुए हमने गुरुदक्षिणा के लिये महर्षि वरतन्तु जी से जब प्रार्थना की, तब उन्हों ने बहुत दिन तक नियम-पूर्वक मुझसे की हुई पैर दबाना आदि सेवा ही को मुख्य दक्षिणा समझा अर्थात् यह कहा कि-मैं तेरी सेवा से ही प्रसन्न हूँ मुझे दक्षिणा से क्या काम है ? ॥ २० ॥

अथ दक्षिणाऽर्थं पुनः पुनः प्रार्थनया रुष्टो गुरुश्चतुर्दशकोटिमितं धनं दक्षिणारूपमानेतुं मामादिष्टवानिति कथयन् कौत्स आह—

निर्बन्धसञ्जातरुषाऽर्थकार्श्यमचिन्तयित्वा गुरुणाऽहमुक्तः ।
वित्तस्य विद्यापरिसंख्यया मे कोटीश्चतस्रो दश चाहरेति ॥ २१ ॥

निर्बन्धेति । निर्बन्धेन प्रार्थनाऽतिशयेन सञ्जातरुषा सञ्जातक्रोधेन गुरुणा । अर्थकार्श्यं दारिद्र्यमचिन्तयित्वाऽविचार्याहम् । वित्तस्य धनस्य चतस्रो दश च कोटीश्चतुर्दशकोटीर्मे मह्यमाहरानयेति विद्यापरिसंख्यया विद्यापरिसंख्याऽनुसारेणैवोक्तः । अत्र मनुः—अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः । पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥ इति ॥ २१ ॥

बारंबार दक्षिणा ग्रहण करने के लिये मेरे द्वारा प्रार्थना करने से क्रोधित होकर गुरुजी ने मेरी दरिद्रता की तरफ ख्याल न करके '१४ करोड़ द्रव्य मेरे लिये लाओ' ऐसा कहा अर्थात् जितनी विद्या पढ़ी थी उतनी विद्या की संख्या के अनुसार ही मुझ से धन लाने के लिये कहा ॥ २१ ॥

सम्प्रति भवन्तं निःस्वं मत्वा निजाभीप्सितद्रव्याप्तिमसम्भाव्य चान्यत्र जिगमिषुरस्मीति बोधयन् कौत्सो रघुम्प्रत्याह—

सोऽहं सपर्याविधिभाजनेन मत्वा भवन्तं प्रभुशब्दशेषम् ।
अभ्युत्सहे सम्प्रति नोपरोद्धुमल्पेतरत्वाच्छ्रुतनिष्क्रयस्य ॥ २२ ॥

सोऽहमिति । सोऽहं सपर्याविधिभाजनेनार्घ्यपात्रेण भवन्तं प्रभुशब्द एव शेषो यस्य तं मत्वा । निःस्वं निश्चित्येत्यर्थः । श्रुतनिष्क्रयस्य विद्यामूल्यस्याल्पेतरत्वादतिमहत्त्वात्सम्प्रत्युपरोद्धुं निर्बन्धुं नाभ्युत्सहे ॥ २२ ॥

'गुरुकी आज्ञा से मांगने के लिये मैं आया हुआ था' किन्तु पूजन करने का पात्र अर्थात् मृण्मय अर्घ्यपात्र द्वारा आपको केवल 'प्रभु' यह शब्द जिसके पास बच गया है, ऐसा समझकर अर्थात्-बिलकुल धन से रहित जान कर विद्या का मूल्य (गुरु-दक्षिणा) बहुत अधिक (१४ करोड़) होने से इस समय आप देवें इसके लिए बाध्य करने में मुझे उत्साह नहीं होता है । अर्थात् आपकी हालत देखकर मुझे कुछ कहने का साहस नहीं होता, अतः मेरा जाना ही उचित है ॥ २२ ॥

पूर्वोक्तं कौत्सवचः श्रुत्वा रघुः पुनस्तमुवाचेत्याह—

इत्थं द्विजेन द्विजराजकान्तिरावेदितो वेदविदां वरेण ।
एनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिरेनं जगाद भूयो जगदेकनाथः ॥ २३ ॥

इत्थमिति । द्विजराजकान्तिश्चन्द्रकान्तिः । 'द्विजराजः शशधरो नक्षत्रेशः क्षपाकरः' इत्यमरः । 'तस्मात्सोमो राजा नो ब्राह्मणानाम्' इति श्रुतेः । द्विजराजकान्तित्वेनार्थावाप्तिवैराग्यं वारयति । एनसः पापान्निवृत्तेन्द्रियवृत्तिर्यस्य स जगदेकनाथो रघुर्वेदविदां वरेण श्रेष्ठेन द्विजेन कौत्सेनेत्थमावेदितो निवेदितः सन् । एनं कौत्सं भूयः पुनर्जगाद ॥ २३ ॥

चन्द्रमा की तरह कान्ति वाले, पापों से निवृत्त इन्द्रिय वृत्ति वाले (जितेन्द्रिय) ये जगत् के एकमात्र प्रभु चक्रवर्ती रघु महाराज, वेद के जानने वालों में श्रेष्ठ ब्राह्मण (कौत्स ऋषि) के द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से निवेदन किये जाने पर उन कौत्स ऋषि से फिर बोले ॥

अथ रघुः कौत्समन्यत्रगमनात्परावर्त्तयन्नाह—

गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम् ।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे माभूत्परीवादनवावतारः ॥ २४ ॥

गुर्वर्थमिति । श्रुतस्य पारं दृष्टवाञ्छ्रुतपारदृश्वा । 'दृशेः क्वनिप्' इति क्वनिप् । गुर्वर्थं गुरुदक्षिणाऽर्थं यथा तथाऽर्थी याचकः । विशेषणद्वयेनाप्यस्याप्रत्याख्येयत्वमाह । रघोः सकाशात्कामं मनोरथमनवाप्याप्राप्य वदान्यान्तरं दात्रन्तरं गतः । 'स्युर्वदान्यस्थूललक्ष्यदानशौण्डा बहुप्रदे' इत्यमरः । इत्येवंरूपोऽयं परीवादस्य नवो नूतनः प्रथमोऽवतार आविर्भावो मे मा भून्माऽस्तु । रघोरिति स्वनामग्रहणं सम्भावितत्वद्योतनार्थम् । तथा च—(सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते) इति भावः ॥ २४ ॥

'शास्त्र के पारगामी, गुरु के लिये याचना करने वाले कौत्स जी रघु के पास से मनोरथ पूर्ण न होने से दूसरे दाता के यहां गये', इस तरह का यह निन्दा का पहले पहल नया (अवतार) सेहरा मेरा न होवे ॥ २४ ॥

अथ रघुः 'दिनत्रयाभ्यन्तरमेव भवदपेक्षितं धनं दास्या'मीत्युक्त्वा कौत्सं निवासयामासेत्याह—

स त्वं प्रशस्ते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे ।
द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन् यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम् ॥ २५ ॥

स इति । स त्वं महिते पूजिते प्रशस्ते प्रसिद्धे मदीयेऽग्न्यगारे त्रेताग्निशालायां चतुर्थोऽग्निरिव वसन्द्वित्राणि द्वे त्रीणि वाऽहानि दिनानि । संख्ययाऽव्ययाऽसन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये' इति बहुव्रीहिः । 'बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्' इति डच्प्रत्ययः समासान्तः । सोढुमर्हसि । हे अर्हन् ! मान्य ! । त्वदर्थं तव प्रयोजनं

साधयितुं यावद्यते यतिष्ये । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति भविष्यदर्थे लट् ॥ २५ ॥

अन्यत्र कहीं न जाकर मेरे कहने से रुके हुवे जो आप हैं सो सर्वों से पूजित अत एव प्रसिद्ध मेरी अग्निशाला में (दक्षिणाग्नि-गार्हपत्य-आहवनीय-इन तीन अग्निके साथ) चौथे अग्नि की भाँति रहते हुये तब तक २-३ दिन तक (और ठहरने से विलम्ब होने को) क्षमा करने में समर्थ हों । जब तक कि हे माननीय ! आप का प्रयोजन पूरा करने के लिये मैं यत्न करूँ ॥ २५ ॥

अथ रघुः कौत्सं निवास्य कुबेरात् तदभीष्टधनमाहर्तुमियेषेत्याह—

तथेति तस्यावितथं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्सङ्गरमग्रजन्मा ।
गामात्तसारां रघुरप्यवेक्ष्य निष्क्रष्टुमर्थं चकमे कुबेरात् ॥ २६ ॥

तथेतीति । अग्रजन्मा ब्राह्मणः प्रतीतः प्रीतः संस्तस्य रघोरवितथममोघं सङ्गरं प्रतिज्ञाम् । 'अथ प्रतिज्ञाऽऽजिसंविदापत्सु सङ्गरः' इत्यमरः । 'तां गिरम्' इति केचित्पठन्ति । तथेति प्रत्यग्रहीत् । रघुरपि गां भूमिमात्तसारां गृहीतधनामवेक्ष्य कुबेरार्थं निष्क्रष्टुमाहर्तुं चक्रम इयेष ॥ २६ ॥

द्विजों में श्रेष्ठ कौत्स ऋषि प्रसन्न होते हुये उन रघु महाराज की सत्य प्रतिज्ञा को जैसा आप कहते हैं वैसा ही होगा अर्थात् मैं २-३ दिन तक ठहरूँगा । ऐसा कह कर स्वीकार किया अर्थात् प्रतिज्ञा सच मानकर ठहर गये और रघु महाराज ने पृथ्वी को 'जिसका धन कर रूपसे ले लिया है' ऐसा समझ कर कुबेर से धन लेने की इच्छा की ॥ २६ ॥

ननु कुबेरो लोकपालोऽलकापुरवासी, अतस्तत्र रघोर्गमनमशक्यमित्यत आह—

वसिष्ठमन्त्रोक्षणजातप्रभावादुदन्वदाकाशमहीधरेषु ।
मरुत्सखस्येव बलाहकस्य गतिर्विजघ्ने नहि तद्रथस्य ॥ २७ ॥

वसिष्ठमन्त्रेति । वसिष्ठस्य यन्मंत्रेणोक्षणमभिमन्त्र्य प्रोक्षणं तज्जात्प्रभावात्साम-र्थ्याद्धेतोः । उदन्वदाकाशमहीधरेषूदन्वत्युदधावाकाशे महीधरेषु वा । मरुत्सखस्य मरुतः सखेति तत्पुरुषो बहुव्रीहौ समासान्ताभावात् । ततो वायुसहायस्येति लभ्यते । वारीणां वाहको बलाहकः (पृषोदरादित्वात्साधुः) तस्येव मेघस्येव । तद्रथस्य गतिः सञ्चारो न विजघ्ने न विहता हि ॥ २७ ॥

वसिष्ठ महर्षि के मन्त्र से अभिमन्त्रित जल छिड़कने से उत्पन्न सामर्थ्य से समुद्र, आकाश और पर्वतों में वायु की सहायता से जैसे मेघ की गति नहीं रुकती है उसी भाँति उन रघु महाराज के रथ की गति कहीं नहीं रुकती थी, अर्थात् सब जगह वे आ जा सकते थे, अतः कुबेर के पास जाकर धन ले आने की इच्छा करना ठीक ही है ॥ २७ ॥

अथ कुबेरं जिगीषू रघुः प्रातर्गमनार्थं रात्रौ रथमधिशयितवानित्याह—

अथाधिशिश्ये प्रयतः प्रदोषे रथं रघुः कल्पितशस्त्रगर्भम् ।
सामन्तसंभावनयैव धीरः कैलासनाथं तरसा जिगीषुः ॥ २८ ॥

अथेति । अथ प्रदोषे रजनीमुखे । तत्काले यानाधिरोहणविधानात् । प्रयतो धीरो रघुः । समन्ताद्भवः सामन्तः । राजमात्रमिति सम्भावनयैव कैलासनाथं कुबेरं तरसा बलेन जिगीषुर्जेतुमिच्छुः सन् । कल्पितं सज्जितं शस्त्रं गर्भे यस्य तं रथमधिशिश्ये । रथे शयितवानित्यर्थः । 'अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म' इति कर्मत्वम् ॥ २८ ॥

इसके (कुबेर से धन प्राप्त करने की इच्छा होने के) बाद सायङ्काल में (उस समय रथ पर चढ़ने का मुहूर्त्त होने से) धैर्यशाली (किसी से नहीं डरने वाले) रघु महाराज ने केवल यक्षों के राजा हैं न कि लोकपाल, इस सम्भावना से ही कैलास पर्वत के स्वामी कुबेर को बल से जीतने की इच्छा करते हुये जिसके मध्यभाग में सब शस्त्र रक्खे हुये हैं ऐसे रथ में शयन किया ॥ २८ ॥

अथ रघुं युद्धार्थमाजिगमिषुं वीक्ष्य कुबेरो रात्रावेव तदीयकोषागारे सुवर्णवृष्टिं कृतवानित्याह—

प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै सविस्मयाः कोशगृहे नियुक्ताः ।
हिरण्मयीं कोषगृहस्य मध्ये वृष्टिं शशंसुः पतितां नभस्तः ॥ २९ ॥

प्रातरिति । प्रातः प्रयाणाभिमुखाय तस्मै रघवे कोषगृहे नियुक्ता अधिकृता भाण्डागारिकाः सविस्मयाः सन्तः कोषगृहस्य मध्ये नभस्तो नभसः । (पञ्चम्यास्त-सिलप्रत्ययः) पतितां हिरण्मयीं सुवर्णमयीम् । 'दाण्डिनायन०' इत्यादिना निपातनात्साधुः । वृष्टिं शशंसुः कथयामासुः ॥ २९ ॥

प्रातःकाल यात्रा करने के लिये उद्यत उन रघु महाराज से खजाने पर नियुक्त किये हुये लोगों ने आश्चर्ययुक्त होते हुये खजाने के गृह के अन्दर आकाश से गिरी हुई सुवर्ण की वृष्टि को कहा ॥ २९ ॥

अथ यावती सुवर्णवृष्टिरभूत्तावतीं सर्वामेव रघुः कौत्साय ददावित्याह—

तं भूपतिर्भासुरहेमराशिं लब्धं कुबेरादभियास्यमानात् ।
दिदेश कौत्साय समस्तमेव पादं सुमेरोरिव वज्रभिन्नम् ॥ ३० ॥

तमिति । भूपती रघुः । अभियास्यमानादभिगमिष्यमाणात्कुबेराल्लब्धम् । वज्रेण कुलिशेन भिन्नं सुमेरोः पादं प्रत्यन्तपर्वतमिव स्थितम् । 'पादाः प्रत्यन्तपर्वताः' इत्यमरः । 'शृङ्गम्' इति क्वचित्पाठः । तं भासुरं भास्वरम् । 'भञ्जभासमिदो घुरच्' इति घुरच् । हेमराशिं समस्तं कृत्स्नमेव कौत्साय दिदेश ददौ । न तु चतुर्दशकोटि-मात्रमित्येवकारार्थः ॥ ३० ॥

महाराज रघु ने युद्ध के लिये चढ़ाई किये जाने वाले कुबेर से पाये हुये वज्र से कटकर, अलग हुये सुमेरु पर्वत के बिलकुल पास की छोटी पहाड़ी की भाँति स्थित, उस चमकते हुए, सम्पूर्ण स्वर्ण-राशि को कौत्स के लिये दे दिया ॥ ३० ॥

अथ कौत्सः सर्वस्वर्णराशिं दित्सो रघोः सकाशाच्चतुर्दशकोटितो नाधिकं ग्रहीतुमियेषेत्याह—

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥ ३१ ॥

जनस्येति । तावर्थिदातारौ द्वावपि साकेतनिवासिनोऽयोध्यावासिनः । 'साकेतः स्यादयोध्यायां कोसला नन्दिनी च सा' इति यादवः । जनस्याभिनन्द्यसत्त्वौ स्तुत्य-व्यवसायावभूताम् । 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' इत्यमरः । कौ द्वौ ! गुरुप्रदेयादधिकेऽतिरिक्तद्रव्ये निःस्पृहोऽर्थी । अर्थिकामादर्थिमनोरथादधिकं प्रददातीति तथोक्तः । 'प्रे दाज्ञः' इति कप्रत्ययः । नृपश्च ॥ ३१ ॥

वे (कौत्स और रघु) दोनों, अयोध्या के निवासी लोगों के निकट प्रशंसनीय व्यवसाय (व्यवहार) वाले हुये, एक तो गुरु के देने (१४ करोड़) से अधिक लेने में निःस्पृह याचक कौत्स ऋषि और दूसरे-याचक की कामना से अधिक देने वाले महाराज रघु ॥३१॥

अथ सफलमनोरथः सन् गन्तुकामः कौत्सः प्रणतं रघुमुवाचेत्याह—

अथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः ।
स्पृशन्करेणानतपूर्वकायं सम्प्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः ॥ ३२ ॥

अथेति । अथ प्रीतमना महर्षिः कौत्सः सम्प्रस्थितः प्रस्थास्यमानः सन् । 'आशंसायां भूतवच्च' इति भविष्यदर्थे क्तः । उष्ट्राणां क्रमेलकानां वामीनां वडवानां च शतैर्वाहितार्थं प्रापितधनमानतपूर्वकायम्, विनयनम्रमित्यर्थः । प्रजेश्वरं रघुं करेण स्पृशन्वाचमुवाच ॥ ३२ ॥

इसके बाद प्रसन्न मन हो महर्षि कौत्स जी प्रस्थान करते हुये, सैकड़ों ऊँटों और घोड़ियों से धन को पहुंचा देने का प्रबन्ध कर देने वाले, (पहुंचवा देने वाले) शरीर के आगे के भाग को झुकाये हुए अर्थात् विनय से नम्र प्रजाओं के प्रभु रघु महाराज को हाथ से स्पर्श करते हुये अर्थात् उनके ऊपर हाथ फेरते हुये बोले ॥ ३२ ॥

अथ कौत्सः स्वर्णवृष्टिमवलोक्य तदीयमत्यद्भुतं प्रभावं प्रशंसन्नाह—

किमत्र चित्रं यदि कामसूर्भूर्वृत्ते स्थितस्याधिपतेः प्रजानाम् ।
अचिन्तनीयस्तु तव प्रभावो मनीषितं द्यौरपि येन दुग्धा ॥ ३३ ॥

किमिति । वृत्ते स्थितस्य । (न्यायेनार्जनमर्थस्य वर्धनं पालनं तथा । सत्पात्रे प्रतिपत्तिश्च राजवृत्तं चतुर्विधम् ॥) इति कामन्दकः । तस्मिन्वृत्ते स्थितस्य प्रजानामधिपतेर्नृपस्य भूः कामान्सूत इति कामसूर्यदि । 'सत्सूद्विषद्रुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप्' इत्यनेन क्विप् । अत्र कामप्रसवने किं चित्रम् । न चित्रमित्यर्थः । किन्तु तव प्रभावो महिमा त्वचिन्तनीयः । येन त्वया द्यौरपि मनीषित-

मभिलषितं दुग्धा। दुहेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि क्तः। (प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्। अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः) इति स्मरणात् ॥

'न्याय से धनका उपार्जन करना, बढ़ाना, रक्षा करना, सत्पात्र को देना' इस तरह के चार प्रकार के राजाओं के व्यवहार में स्थित रहने वाले राजा की भूमि अभिलषित वस्तुओं को पैदा करने वाली यदि होवे तो इस विषय में कोई आश्चर्य नहीं है, किन्तु आप का प्रभाव वस्तुतः निश्चय करके अचिन्तनीय (आश्चर्यजनक) हैं, कि जिस प्रभाव से अपने अभिलषित वस्तु को आकाश से भी दुहा अर्थात् प्राप्त किया ॥ ३३ ॥

संप्रति कौत्सो रघवे 'पुत्रं त्वानुरूपं लभस्व' इत्याशीर्वादं ददावित्याह—

आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूतं श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते।
पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं भवन्तमीड्यं भवतः पितेव ॥ ३४ ॥

आशास्यमिति। सर्वाणि श्रेयांसि शुभान्यधिजग्मुषः प्राप्तवतस्ते तवान्यत्पुत्रातिरिक्तमाशास्यमाशीःसाध्यमाशंसनीयं वा पुनरुक्तभूतम्। सर्वसिद्धमित्यर्थः। किन्त्वीड्यं स्तुत्यं भवन्तं भवतः पितेवात्मगुणानुरूपम्। त्वया तुल्यगुणमित्यर्थः। पुत्रं लभस्व। प्राप्नुहि ॥ ३४ ॥

सभी कल्याणों को प्राप्त किये हुए, आप के लिये पुत्र के अलावा आशीर्वाद देना व्यर्थ है, अर्थात्–सभी मौजूद है, किन्तु फिर भी (पुत्र सुख न होने से मेरे आशीर्वाद से) प्रशंसा के योग्य आप सरीखे पुत्र को आप के पिता दिलीप महाराज ने जैसे पाया, वैसे ही आप भी अपने समान गुण से युक्त अर्थात् अपने तुल्य ही पुत्र को प्राप्त करें ॥ ३४ ॥

अथ कौत्स इत्थं रघव आशीर्वादं दत्वा गुरोः सकाशं गतः, सोऽपि शीघ्रमृषेराशिषा पुत्रं प्राप्तवानित्याह—

इत्थं प्रयुज्याशिषमग्रजन्मा राज्ञे प्रतीयाय गुरोः सकाशम्।
राजाऽपि लेभे सुतमाशु तस्मादालोकमर्कादिव जीवलोकः ॥ ३५ ॥

इत्थमिति। अग्रजन्मा ब्राह्मणः। 'अग्रजन्मा द्विजे श्रेष्ठे भ्रातरि ब्राह्मणि स्मृतः' इति विश्वः। इत्थं राज्ञ आशिषं प्रयुज्य दत्वा गुरोः सकाशं समीपं प्रतीयाय प्राप। राजाऽपि। जीवलोको जीवसमूहः। 'जीवः पाणिनि गीष्पतौ' इति विश्वः। अर्कादालोकं प्रकाशमिव। शीघ्रम्। 'चैतन्यम्' इति पाठे ज्ञानम्। तस्मादृषेराशु सुतं लेभे प्राप ॥ ३५ ॥

ब्राह्मण कौत्स महर्षि इस प्रकार से राजा को आशीर्वाद देकर अपने गुरु वरतन्तु महर्षि के पास चले गये और राजा ने भी जैसे जीव–समूह सूर्यसे प्रकाश को शीघ्र प्राप्त करता है, उसी तरह से उन पूर्वोक्त महर्षि कौत्स से अर्थात् उनके आशीर्वाद से शीघ्र ही पुत्र को प्राप्त किया, अर्थात् उनकी महिषी ने गर्भ धारण किया ॥ ३५ ॥

अथ कौत्समहर्षेराशीर्वादेन ब्राह्मे मुहूर्त्ते रघोर्महिषी पुत्ररत्नं प्रासूत, अत एव तस्य 'अजः' इति नामकरणं बभूवेत्याह—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम् ।
अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार ॥ ३६ ॥

ब्राह्म इति । तस्य रघोर्देवी महिषी ब्राह्मे । 'तस्येदम्' इत्यण् । ब्रह्मदेवताकेऽभिजिन्नामके मुहूर्त्ते किलेषदसमाप्तं कुमारं कुमारकल्पं स्कन्दसदृशम् । 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' इत्यनेन कल्पप्प्रत्ययः । कुमारं पुत्रं सुषुवे । 'कुमारो बालके स्कन्दे' इति विश्वः । अतो ब्राह्ममुहूर्त्तोत्पन्नत्वात्पिता रघुर्ब्रह्मणो विधेरेव नाम्ना तमात्मजन्मानं पुत्रमजमजनामकं चकार । 'अजो हरौ हरे कामे विधौ छागे रघोः सुते' इति विश्वः ॥ ३६ ॥

उन रघु महाराज की पटरानी ने ब्रह्मा जिसके अधिष्ठातृ देवता हैं ऐसे अभिजिन्नामक मुहूर्त में कार्त्तिकेय के समान बालक पैदा किया, इससे अर्थात् ब्राह्ममुहूर्त्त में उत्पन्न होनेसे पिता रघु महाराज ने ब्रह्मा के ही 'अज' इस नाम से उस पुत्र का 'अज' नाम रक्खा ॥३६॥

अथ बालको निजपितृतुल्य एवाभूदित्याह—

रूपं तदोजस्वि तदेव वीर्यं तदेव नैसर्गिकमुन्नतत्वम् ।
न कारणात्स्वाद्बिभिदे कुमारः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात् ॥ ३७ ॥

रूपमिति । ओजस्वि तेजस्वि बलिष्ठं वा । 'ओजस्तेजसि धातूनामवष्टम्भप्रकाशयोः । ओजो बले च दीप्तौ च' इति विश्वः । रूपं वपुः । 'अथ रूपं नपुंसकम् । स्वभावाकृतिसौन्दर्यवपुषि श्लोकशब्दयोः' ॥ इति विश्वः । तदेव पैतृकमेव वीर्यं शौर्यं तदेव । नैसर्गिकं स्वाभाविकमुन्नतत्वं तदेव । तादृशमेवेत्यर्थः । कुमारो बालकः । प्रवर्तित उत्पादितो दीपः प्रदीपात्स्वोत्पादकदीपादिव । स्वात्स्वकीयात् । 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति स्माद्भावो वैकल्पिकः । कारणाज्जनकान्न बिभिदे भिन्नो नाभूत् । सर्वात्मना तादृश एवाभूदित्यर्थः ॥ ३७ ॥

पिता के तुल्य तेज से युक्त शरीर वही, पराक्रम वही, स्वाभाविक चित्त का उन्नत होना भी वही, अर्थात्–पिता ही के तुल्य होने से बालक अज, जैसे–जलाया गया दीपक (जिस दीपक से जलाया गया है) उस (दीपक) से भिन्न नहीं होता, अर्थात्–उसी तरह से प्रकाशक होता है, उसी भांति अपने उत्पन्न करने वाले पिता रघु से भिन्न नहीं हुए, अर्थात्–पराक्रम आदि में पिता के समान ही हुए ॥ ३७ ॥

अथ बालकोऽजः क्रमशः सर्वा विद्या अधीत्य युवावस्थां प्राप्तः सन् यौवराज्यार्होऽभूदित्याह—

उपात्तविद्यं विधिवद् गुरुभ्यस्तं यौवनोद्भेदविशेषकान्तम् ।
श्रीः साभिलाषाऽपि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकाङ्क्ष ॥ ३८ ॥

उपात्तविद्यमिति । गुरुभ्यो विधिवद्यथाशास्त्रमुपात्तविद्यं लब्धविद्यम् । यौवनस्योद्भेदादाविर्भावाद्धेतोर्विशेषेण कान्तं सौम्यं तमजं प्रति साभिलाषाऽपि श्रीः धीरा स्थिरोन्नतचित्ता । 'स्थिरा चित्तोन्नतिर्या तु तद्धैर्यमिति संज्ञितम्' इति भूपालः । कन्या पितुरिव । गुरोरनुज्ञामाचकाङ्क्षेयेष । यौवराज्यार्होऽभूदित्यर्थः । अनुज्ञाशब्दात्पितृपारतन्त्र्यमुपमासामर्थ्यात्पाणिग्रहणयोग्यता च ध्वन्यते ॥ ३८ ॥

गुरुओं से विधिवद् (शास्त्रोक्त-रीति से ब्रह्मचर्यादि में रहकर तथा गुरुओं की सेवा करके) सम्पूर्ण १४ विद्याओं को प्राप्त किये हुए, जवानी आने से अत्यन्त सुन्दर उन राजकुमार अज के प्रति अनुरागिणी होती हुई भी राजलक्ष्मी धीरा (स्थिर उन्नत चित्त वाली) कन्या जैसे पिता की आज्ञा (मनोवाञ्छित पति वरण करने के लिये) चाहती है, वैसे-ही श्रेष्ठ रघु महाराज की अनुमति चाहने लगी, अर्थात्-राजकुमार अज युवराज बनाने के योग्य हो गये ॥ ३८ ॥

अथ रघुसमीपं विदर्भराजप्रेषितो दूत इन्दुमतीस्वयंवरार्थमजस्यानयनार्थमाजगामेत्याह—

अथेश्वरेण क्रथकैशिकानां स्वयंवरार्थं स्वसुरिन्दुमत्याः ।
आप्तः कुमारानयनोत्सुकेन भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः ॥ ३९ ॥

अथेश्वरेणेति । अथ स्वसुर्भगिन्या इन्दुमत्याः स्वयंवरार्थं कुमारस्याजस्यानयन उत्सुकेन क्रथकैशिकानां विदर्भदेशानामीश्वरेण स्वामिना भोजेन राज्ञाऽऽप्तो हितो दूतो रघवे विसृष्टः प्रेषितः (क्रियामात्रयोगेऽपि चतुर्थी) ॥ ३९ ॥

इसके बाद अपनी बहिन इन्दुमती के स्वयंवर के लिये युवराज 'अज' के बुलवाने में उत्कण्ठित विदर्भदेश के महाराज भोज ने अपने विश्वासपात्र दूत को रघु महाराज के पास भेजा ॥ ३९ ॥

अथ रघुर्विदर्भाधिपराजधानीम् प्रत्यजं सैन्यैः सह प्रस्थापयामासेत्याह—

तं श्लाघ्यसम्बन्धमसौ विचिन्त्य दारक्रियायोग्यदशं च पुत्रम् ।
प्रस्थापयामास ससैन्यमेनमृद्धां विदर्भाधिपराजधानीम् ॥ ४० ॥

तमिति । असौ रघुस्तं भोजं श्लाघ्यसम्बन्धमनूचानत्वादिगुणयोगात्स्पृहणीयसम्बन्धं विचिन्त्य विचार्य पुत्रं च दारक्रियायोग्यदशं विवाहयोग्यवयसं विचिन्त्य ससैन्यमेनं पुत्रमृद्धां समृद्धां विदर्भाधिपस्य भोजनस्य राजधानीं पुरीं प्रति प्रस्थापयामास । धीयतेऽस्यामिति धानी । 'करणाधिकरणयोश्च' इत्यधिकरणे ल्युट्प्रत्ययः । राज्ञां धानीति विग्रहः ॥ ४० ॥

इन रघु महाराज ने उन भोज महाराज के साथ सम्बन्ध प्रशंसनीय होगा, यह सोच कर तथा पुत्र की विवाह के योग्य अवस्था विचार कर सेना के सहित इन युवराज अज को समृद्धि-युक्त विदर्भ देश के महाराज की राजधानी को भेजा ॥ ४० ॥

अथ विदर्भराजधानीं प्रति गच्छतो रघुसूनोर्मार्गे रचितानि निवासस्थानानि नगरीविहारस्थानतुल्यान्यासन्नित्याह—

तस्योपकार्यारचितोपचारा वन्येतरा जानपदोपदाभिः ।
मार्गे निवासा मनुजेन्द्रसूनोर्बभूवुरुद्यानविहारकल्पाः ॥ ४१ ॥

तस्येति । उपकार्यासु राजयोग्येषु पटभवनादिषु । 'सौधोऽस्त्री राजसदनमुपकार्योपकारिका' इत्यमरवचनव्याख्याने क्षीरस्वामी । उपक्रियत उपकरोति वा पटमण्डपादि राजसदनमिति । रचिता उपचाराः शयनादयो येषु ते तथोक्ताः । जानपदानां जनपदेभ्य आगतानामुपदाभिरुपायनैः वन्या वनेभवा इतरे येषां ते वन्येतराः । अवन्या इत्यर्थः । 'न बहुव्रीहौ' इति सर्वनामसंज्ञानिषेधः । तत्पुरुषे सर्वनामसंज्ञा दुर्वारैव । तस्य मनुजेन्द्रसूनोरजस्य मार्गे निवासा वासनिका उद्यानान्याक्रीडाः । 'पुमानाक्रीड उद्यानम्' इत्यमरः । तान्येव विहारा विहारस्थानानि तत्कल्पाः । तत्सदृशा इत्यर्थः । 'ईषदसमाप्तौ०' इति कल्पप्प्रत्ययः । बभूवुः ॥ ४१ ॥

राजाओं के योग्य तम्बुओं मे शय्या आदिक जहां पर बिछी हुई हैं तथा नगरों से आये हुए उपहार स्वरूप सुख साधन सामग्रियों से जो जंगल में बने हुए की भाँति नहीं मालूम पड़ रहा है ऐसे उन महाराज रघु के युवराज अजके मार्ग के निवास-स्थान अपनी राजधानी के बगीचों में बने हुए विहार स्थानों के समान ही हुए ॥ ४१ ॥

अथ रघुसूनुरजो नर्मदातटं प्राप्य तत्र सैन्येन सह निवासं कृतवानित्याह—

स नर्मदारोधसि सीकरार्द्रैर्मरुद्भिरानर्तितनक्तमाले ।
निवेशयामास विलङ्घिताध्वा क्लान्तं रजोधूसरकेतु सैन्यम् ॥ ४२ ॥

स इति । विलङ्घिताध्वाऽतिक्रान्तमार्गः सोऽजः सीकरार्द्रैः । शीतलैरित्यर्थः । मरुद्भिर्वातैरानर्तिताः कम्पिता नक्तमालाश्चिरबिल्वाख्यवृक्षभेदाः । 'चिरबिल्वो नक्तमालः करजश्च करञ्जके' इत्यमरः । यस्मिंस्तस्मिन् । निवेशार्हे इत्यर्थः । नर्मदाया रोधसि रेवायास्तीरे क्लान्तं श्रान्तं रजोभिर्धूसराः केतवो ध्वजा यस्य तत्सैन्यं निवेशयामास ॥ ४२ ॥

मार्ग (मञ्जिल) को चल करके पूरा किये हुए उन युवराज अज ने जल के कणों से आर्द्र अर्थात् शीतल वायु से जहां पर चिरबिल्वनामक वृक्ष हिल रहे हैं, ऐसे नर्मदा नदी के किनारे पर थकी हुई, धूलि से धूसर जिनकी पताकाएं हो रही हैं, ऐसी अपनी सेना को ठहराया ॥ ४२ ॥

अथ सेनानिवासकरणानन्तरं नर्मदातः कश्चिद्वन्यो गज उत्थित इत्याह—

अथोपरिष्टाद् भ्रमरैर्भ्रमद्भिः प्राक्सूचितान्तःसलिलप्रवेशः ।
निर्धौतदानामलगण्डभित्तिर्वन्यः सरित्तो गज उन्ममज्ज ॥ ४३ ॥

अथेति । अथोपरिष्टादूर्ध्वम् । 'उपर्युपरिष्टात्' इति निपातः । भ्रमद्भिः । मद-लोभादिति भावः । भ्रमरैः प्रागुन्मज्जनात्पूर्वं सूचितो, ज्ञापितोऽन्तःसलिले प्रवेशो यस्य स तथोक्तः । निर्धौतदाने क्षालितमदे अत एवामले गण्डभित्ती यस्य स तथोक्तः । 'दानं गजमदे त्यागे' इति शाश्वतः । प्रशस्तौ गण्डौ गण्डभित्ती । 'प्रशंसा-वचनैश्च' इति समासः । भित्तिशब्दः प्रशस्तार्थः । तथा च गणरत्नमहोदधौ—'मतल्लिकोद्घमिश्राः स्युः प्रकाण्डस्थलभित्तयः' इति । भित्तिः प्रदेशो वा । 'भित्तिः प्रदेशे कुड्येऽपि' इति विश्वः । निर्धौतदानेनामला गण्डभित्तिर्यस्येति वा । वन्यो गजः सरित्तो नर्मदायाः सकाशात् । (पञ्चम्यास्तसिल्प्रत्ययः) । उन्म-मज्जोत्थितः ॥ ४३ ॥

सेना ठहरा चुकने के बाद मद के लोभ से ऊपर उड़ते हुए भौरों से पहले जल में डूब कर जिसका नहाना सूचित हो रहा था, अत एव (जल में डूब कर नहाने से) जिसके मद धुल गये हैं, ऐसे दोनों गण्डस्थल जिसके निर्मल हो रहे हैं ऐसा कोई जङ्गली हाथी नर्मदा नदी से निकला ॥ ४३ ॥

अथ नर्मदासलिलादुत्थितस्य गजस्य शोभां युग्मेन वर्णयितुकामः कविरादौ तस्य वप्रक्रियासूचकं दन्तद्वयमेव वर्णयन्नाह—

निःशेषविक्षालितधातुनाऽपि वप्रक्रियामृक्षवतस्तटेषु ।
नीलोर्ध्वरेखाशबलेन शंसन्दन्तद्वयेनाश्मविकुण्ठितेन ॥ ४४ ॥

निःशेषेति । कथम्भूतो गजः । निःशेषविक्षालितधातुनाऽपि धौतगैरिकादिना-ऽपि । नीलाभिरूर्ध्वाभी रेखाभिस्तटाभिघातजनिताभिः शबलेन कर्बुरेण । 'चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुर' इत्यमरः । अश्मभिः पाषाणैर्विकुण्ठितेन कुण्ठीकृतेन दन्तद्वयेन । ऋक्षवान्नाम कश्चित्तत्रत्यः पर्वतः । तस्य तटेषु वप्रक्रियां वप्रक्रीडाम् । उत्खातकेलिमित्यर्थः 'उत्खातकेलिः शृङ्गाद्यैर्वप्रक्रीडा निगद्यते' इति शब्दार्णवः । शंसन्कथयन् । सूचयन्नित्यर्थः । युग्मम् ॥ ४४ ॥

जल में डूबकर स्नान करने से जिसमें लगे हुए गैरिकादि धातु अच्छी तरह से धुलकर साफ हो गये हैं और पर्वत के तट प्रान्त पर प्रहार करने से ऊपर की तरफ काली रेखायें पड़ने से जो चितकाबर रङ्ग के हो रहे हैं, तथा पत्थरों से जिनके नोक घिस गये हैं ऐसे अपने दाँतों से 'ऋक्षवान्' नामक नर्मदा के पास के पर्वत के तट प्रान्तों में किये हुए उत्खात-केलि अर्थात् पत्थरों को दाँतों से उखाड़ने के खेल को सूचित करता हुआ वह नर्मदा से निकला हुआ हाथी सुशोभित होने लगा ॥ ४४ ॥

तीरमभिलष्याजिगमिषया बृहत्तरङ्गान् करेण विदारयतो गजस्य शोभामुत्प्रेक्ष-माणः कविराह—

संहारविक्षेपलघुक्रियेण हस्तेन तीराभिमुखः सशब्दम् ।
बभौ स भिन्दन्बृहतस्तरङ्गान् वार्यर्गलाभङ्ग इव प्रवृत्तः ॥ ४५ ॥

संहारेति । संहारविक्षेपयोः सङ्कोचनप्रसारणयोर्लघुक्रियेण क्षिप्रव्यापारेण । 'लघुं क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः । हस्तेन शुण्डादण्डेन । 'हस्तो नक्षत्रभेदे स्यात्करेभकरयोरपि' इति विश्वः । सशब्दं सघोषं बृहतस्तरङ्गान्भिन्दन् विदारयन् स्तीराभिमुखः स गजः । वारी गजबन्धनस्थानम् । 'वारी तु गजबन्धनी' इति यादवः । वार्या अर्गलाया विष्कम्भस्य भङ्गे भञ्जने प्रवृत्त इव बभौ ॥ ४५ ॥

बटोरने और फैलाने में जिसके व्यापार जल्दी २ हो रहे हैं, ऐसे अपने सूंड से शब्द के साथ जैसे हो वैसे बड़े २ तरङ्गों को चीरता हुआ नर्मदा के तीर की तरफ मुख किये हुए उस हाथी ने जैसे हाथी बांधने के स्थान की अर्गला के तोड़ने में प्रवृत्त होने से शोभा होती है, वैसी शोभा पाई ॥ ४५ ॥

इत्थं तरङ्गान् भिन्दन् स गजो यत्र तटेऽजसैन्यं स्थितं तत्तटं प्रापदिति वर्णयन् कविराह—

शैलोपमः शैवलमञ्जरीणां जालानि कर्षन्नुरसा स पश्चात् ।
पूर्वं तदुत्पीडितवारिराशिः सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प ॥ ४६ ॥

शैलोपम इति । शैलोपमः स गजः शैवलमञ्जरीणां जालानि वृन्दान्युरसा कर्षन्पश्चात्तटमुत्ससर्प । पूर्वं तेन गजेनोत्पीडितो नुन्नो वारिराशिर्यस्य स सरित्प्रवाहस्तटमुत्ससर्प ॥ ४६ ॥

पर्वत के समान आकार वाला वह हाथी शेवार के मञ्जरियों के समूहों को छाती से खींचता हुआ पीछे से तीर पर पहुंचा, और उसके पहिले उस गज से हिलाया गया है जल की राशि जिसकी ऐसा नदी का प्रवाह तट पर पहुँच गया ॥ ४६ ॥

अथ तटं प्राप्य ततस्तत्र स्थितसैन्यगजदर्शनेन तस्य वन्यगजेन्द्रस्य कपोलप्रदेशाभ्यां मदस्रावोऽभूदित्याह—

तस्यैकनागस्य कपोलभित्त्योर्जलावगाहक्षणमात्रशान्ता ।
वन्येतरानेकपदर्शनेन पुनर्दिदीपे मददुर्दिनश्रीः ॥ ४७ ॥

तस्येति । तस्यैकनागस्यैकाकिनो गजस्य कपोलभित्त्योर्जलावगाहेन क्षणमात्रं शान्ता निवृत्ता मददुर्दिनश्रीर्मदवर्षलक्ष्मीर्वन्येतरेषां ग्राम्याणामनेकपानां द्विपानां दर्शनेन पुनर्दिदीपे ववृधे ॥ ४७ ॥

हाथियों में मुख्य, उस गज के दोनों गण्डस्थलों में जल में डूब कर नहाने से जो क्षणमात्र के लिये शान्त हो गई थी, वही मद झरने की शोभा जंगली हाथियों से भिन्न अर्थात् सेना के हाथियों के देखने से पुनः बढ़ गई, अर्थात् पहले की अपेक्षा अधिक मद झरने लगा ॥ ४७ ॥

सम्प्रति तस्य वन्यगजेन्द्रस्योत्कटं मदगन्धमाघ्राय सेनास्थितगजेन्द्राणामवस्थां दर्शयन् कविराह—

सप्तच्छदक्षीरकटुप्रवाहमसह्यमाघ्राय मदं तदीयम् ।
विलङ्घिताधोरणतीव्रयत्नाः सेनागजेन्द्रा विमुखा बभूवुः ॥ ४८ ॥

सप्तच्छदेति। सप्तच्छदस्य वृक्षविशेषस्य क्षीरवत्कटुः सुरभिः प्रवाहः प्रसारो यस्य तम्। 'कटुतिक्तकषायास्तु सौरभ्येऽपि प्रकीर्तिताः' इति यादवः। असह्यं तदीयं मदमाघ्राय सेनागजेन्द्राः। विलङ्घितस्तिरस्कृत आधोरणानां हस्तिपकानां तीव्रो महान्यत्नो यैस्ते तथोक्ताः सन्तः। 'आधोरणा हस्तिपका हस्त्यारोहा निषादिनः' इत्यमरः। विमुखाः पराङ्मुखाः। बभूवुः॥ ४८॥

सप्तपर्ण नामक वृक्ष के दुग्ध की भांति जिसकी सुगन्धि फैल रही थी, इसी से असह्य उस जङ्गली हाथी के मद को सूंघ कर सेना के सभी गजेन्द्र अपने २ महावतों के किये हुए अत्यन्त अङ्कुश से मारने आदि उपायों को विफल करते हुए मुँह फेर कर भागने लगे॥

अथ स वन्यो गजेन्द्रः सैन्यनिवेशं प्रविश्य तत्रस्थान् सर्वानेव समुद्विग्नमनसः कृतवानित्याह—

स च्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन।
रामापरित्राणविहस्तयोधं सेनानिवेशं तुमुलं चकार॥ ४९॥

स इति। स गजः। छिन्ना बन्धा यैस्ते छिन्नबन्धा द्रुताः पलायिताः, युगं वहन्तीति युग्या वाहा यस्मिन्सः, स चासौ शून्यश्च तम्। भग्ना अक्षा रथावयवदारुविशेषाः। 'अक्षो रथस्यावयवे पाशकेऽप्यक्षमिन्द्रियम्' इति शाश्वतः। येषान्ते भग्नाक्षा अत एव पर्यस्ताः पतिता रथा यस्मिंस्तम्। रामाणां परित्राणे संरक्षणे विहस्ता व्याकुलाः। 'विहस्तव्याकुलौ समौ' इत्यमरः। योधा यस्मिंस्तं सेनानिवेशं शिविरं क्षणेन तुमुलं सङ्कुलं चकार॥ ४९॥

उस जङ्गली हाथी ने अपने २ बन्धनों को तोड़कर भागे हुए वाहनों (हाथी घोड़े वगैरह) से जो शून्य हो रहा है, धुरा के टूट जाने से गिरे हुए रथ जिसमें पड़े हुए हैं, स्त्रियों की रक्षा करने में योधा लोग जिस में व्याकुल हो रहे हैं, ऐसे सेना के निवास स्थान को क्षण मात्र में व्याकुल कर दिया॥ ४९॥

अथ वन्यगजकृतां सेनाशिविरव्याकुलतां श्रुत्वा तं गजं निवर्तयितुकामो युवराजोऽजो धनुरीषदाकृष्य कुम्भस्थले बाणेन जघानेत्याह—

तमापतन्तं नृपतेरवध्यो वन्यः करीति श्रुतवान्कुमारः।
निवर्तयिष्यन्विशिखेन कुम्भे जघान नात्यायतकृष्टशार्ङ्गः॥ ५०॥

तमिति। नृपते राज्ञो वन्य करी अवध्य इति श्रुतवाञ्शास्त्राज्ज्ञातवान्कुमार आपतन्तमभिधावन्तं तं गजं निवर्तयिष्यन्नतु प्रहरिष्यन्। अत एव नात्यायतमनतिदीर्घं यथा स्यात् (नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः)। कृष्टशार्ङ्ग ईषदाकृष्टचापः सन्विशिखेन बाणेन कुम्भे जघान। अत्र चाक्षुषः—(लक्ष्मीकामो युद्धादन्यत्र करिवधं न कुर्यात्। इयं हि श्रीर्यै कारिणः) इति। अत एव (युद्धादन्यत्र) इति द्योतनार्थमेव वन्यग्रहणं कृतम्॥ ५०॥

'राजा के लिये जङ्गली हाथी का मारना उचित नहीं है' इस बात को जानने वाले युवराज अज ने सामने दौड़कर आते हुए उस हाथी के भगाने की इच्छा से न कि मार डालने की इच्छासे, थोड़ा सा धनुष को खींचकर छोड़े हुए बाण से कुम्भ स्थल में मारा ॥

अथ बाणेन विद्धमात्र एव स गजरूपं विहाय सद्यः खेचरं वपुः प्रापेत्याह—

स विद्धमात्रः किलः नागरूपमुत्सृज्य तद्विस्मितसैन्यदृष्टः ।
स्फुरत्प्रभामण्डलमध्यवर्ति कान्तं वपुर्व्योमचरं प्रपेदे ॥ ५१ ॥

स इति । स गजो विद्धमात्रस्ताडितमात्रः किल न तु प्रहृतस्तथाऽपि नागरूपं गजशरीरमुत्सृज्य । तेन वृत्तान्तेन विस्मितैस्तद्विस्मितैः सैन्यैर्दृष्टः सन् । स्फुरतः प्रभामण्डलस्य मध्यवर्ति कान्तं मनोहरं व्योमचरं वपुः प्रपेदे प्राप ॥ ५१ ॥

उस जङ्गली हाथी ने बाण से विध जाते ही अपने हाथी के रूप को छोड़ कर (इस घटना के होने से) आश्चर्य के साथ सैनिकों से देखा जाता हुआ, चमकते हुए प्रभा मण्डल के मध्य में स्थित, सुन्दर, आकाश में चलनेवाला गन्धर्व का शरीर धारण कर लिया ॥५१॥

अथ स कल्पवृक्षकुसुमान्यजस्योपरि विकीर्य तमुवाचेत्याह—

अथ प्रभावोपनतैः कुमारं कल्पद्रुमोत्थैरवकीर्य पुष्पैः ।
उवाच वाग्मी दशनप्रभाभिः संवर्धितोरःस्थलतारहारः ॥ ५२ ॥

अथेति । अथ प्रभावेणोपनतैः प्राप्तैः कल्पद्रुमोत्पन्नैः पुष्पैः कुमारमजमवकीर्याऽभिवृष्य दशनप्रभाभिर्दन्तकान्तिभिः संवर्धिता उरःस्थले ये तारहाराः स्थूला मुक्ताहारास्ते येन स तथोक्तः । वाचोऽस्य सन्तीति वाग्मी वक्ता । 'वाचो ग्मिनिः' इति ग्मिनिप्रत्ययः । स पुरुष उवाच ॥ ५२ ॥

उस के (दिव्यशरीर प्राप्त होने के) बाद अपने प्रभाव से प्राप्त कल्पवृक्ष के पुष्पों की युवराज अज के ऊपर वर्षा करके दांतों की कान्ति से छाती पर लटकती हुई शुद्ध बड़े २ मोतियों की मालाओं की कान्ति को बढ़ाता हुआ अच्छे वचनों को बोलने वाला वह दिव्य पुरुष बोला ॥ ५२ ॥

अथ स्वकीयपूर्णपरिचयं दत्वा करिशरीरप्राप्तिकारणं मतङ्गशापमेव निर्दिशन्नाह—

मतङ्गशापादवलेपमूलादवाप्तवानस्मि मतङ्गजत्वम् ।
अवेहि गन्धर्वपतेस्तनूजं प्रियंवदं मां प्रियदर्शनस्य ॥ ५३ ॥

मतङ्गशापादिति । अवलेपमूलाद्गर्वहेतुकात् । 'अवलेपस्तु गर्वे स्याल्लेपने दूषणेऽपि च' इति विश्वः । मतङ्गस्य मुनेः शापान्मतङ्गजत्वमवाप्तवानस्मि । मां प्रियदर्शनस्य प्रियदर्शनाख्यस्य गन्धर्वपतेर्गन्धर्वराजस्य तनूजं पुत्रम् । 'स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः । 'तन्वादेर्वा' इत्यूङिति केचित् । प्रियंवदं प्रियंवदाख्यमवेहि जानीहि । प्रियं वदतीति प्रियंवदः । 'प्रियवशे वदः खच्' इति खच्प्रत्ययः ॥ ५३ ॥

मेरा गर्व करना ही जिसका कारण था, ऐसे मतङ्ग ऋषि के शाप से हाथी के शरीर को

जो मैंने प्राप्त किया था, उसी मुझको प्रियदर्शन नामक गन्धर्वराज का पुत्र प्रियंवद नामक गंधर्व राजकुमार आप जानें ॥ ५३ ॥

अथ शापप्रदानानन्तरं मत्कृतप्रणतिपूर्वकस्तवेन शान्तिं लभमानस्य महर्षेर्मयि पुनः कृपाऽभूदित्याह—

स चानुनीतः प्रणतेन पश्चान्मया महर्षिर्मृदुतामगच्छत् ।
उष्णत्वमग्न्यातपसंप्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य ॥ ५४ ॥

स इति । महर्षिश्च प्रणतेन मयाऽनुनीतः सन्पश्चान्मृदुतां शान्तिमगच्छत् । तथा हि । जलस्योष्णत्वमग्नेरातपस्य वा संप्रयोगात्संपर्कात् न तु प्रकृत्योष्णत्वम् । यच्छैत्यं सा प्रकृतिः स्वभावः । विधेयप्राधान्यात्सेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । महर्षीणां शान्तिरेव स्वभावो न क्रोध इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

और उन महर्षि मतङ्ग के पैरों पर गिरे हुए मैंने उन से क्रोध शान्त करने की प्रार्थना की, बाद में उन्होंने क्रोध को शान्त किया, क्योंकि-जलका गरम होना जो है वह अग्नि और सूर्य के किरणों के सम्बन्ध से है और जो शीतलता है वह उसकी प्रकृति है, अर्थात् जैसे जल स्वाभाविक शीतल ही है, कारणवश गरम हो जाता है, उसी भाँति महात्मा लोग स्वाभाविक शान्त होते हैं, कारणवश क्रुद्ध हो जाते हैं ॥ ५४ ॥

अथ पश्चात् प्रसन्नेन महर्षिणा निर्दिष्टं शापान्तसमयं कथयन्नाह—

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो यदा ते भेत्स्यत्यजः कुम्भमयोमुखेन ।
संयोक्ष्यसे स्वेन वपुर्महिम्ना तदेत्यवोचत्स तपोनिधिर्माम् ॥ ५५ ॥

इक्ष्वाकुवंशेति । इक्ष्वाकुवंशः प्रभवो यस्य सोऽजो यदा ते कुम्भमयोमुखेन लोहाग्रेण शरेण भेत्स्यति विदारयिष्यति तदा स्वेन वपुषो महिम्ना पुनः संयोक्ष्यसे संगंस्यस इति स तपोनिधिर्मामवोचत् ॥ ५५ ॥

इक्ष्वाकु-वंश में उत्पन्न, अज नामक राजकुमार जब तुम्हारे कुम्भ-स्थल को लोह का बना हुआ है अग्र भाग जिसका ऐसे बाण से वेधेंगे, तब अपने शरीर सम्बन्धी गौरव से फिर तुम युक्त हो जाओगे ऐसा उन तपोनिधि महर्षि, मतङ्ग ने मुझसे कहा था ॥ ५५ ॥

सम्प्रति त्वयाऽहं शापान्मोचितोऽस्मीत्यतस्तेऽपि प्रत्युपकारं चिकीर्षुरस्मीत्याह—

संमोचितः सत्त्ववता त्वयाऽहं शापाच्चिरप्रार्थितदर्शनेन ।
प्रतिप्रियं चेद्भवतो न कुर्यां वृथा हि मे स्यात्स्वपदोपलब्धिः ॥ ५६ ॥

संमोचित इति । चिरं प्रार्थितं दर्शनं यस्य तेन सत्त्ववता बलवता त्वयाऽहं शापात्संमोचितो मोक्षं प्रापितः । भवतः प्रतिप्रियं प्रत्युपकारं न कुर्यां चेन्मे स्वपदलब्धिः स्वस्थानप्राप्तिः । 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । वृथा स्याद्धि । तदुक्तम्-(प्रतिकर्तुमशक्तस्य जीवितान्मरणं वरम्) इति ॥ ५६ ॥

बहुत दिनों से जिस का दर्शन अभीष्ट हो रहा था ऐसे बलवान् आपने मुझे शाप से

छुड़ाया, अर्थात् गजयोनि छुड़ा कर गन्धर्व शरीर प्राप्त कराया, अतः आप का प्रत्युपकार यदि मैं न करूँ तो मेरा स्थान (गन्धर्व लोक) को प्राप्त करना ही वृथा होगा इस में कोई सन्देह नहीं है ॥ ५६ ॥

अथ प्रत्युपचिकीर्षया प्रियंवदोऽजाय स्वकीयं संमोहनं नामकमस्त्रं दातुं स्वेच्छां प्रकटीकुर्वन्नाह—

संमोहनं नाम सखे ! ममास्त्रं प्रयोगसंहारविभक्तमन्त्रम् ।
गान्धर्वमादत्स्व यतः प्रयोक्तुर्न चारिहिंसा विजयश्च हस्ते ॥ ५७ ॥

संमोहनमिति । हे सखे ! सखिशब्देन समप्राणतोक्ता । यथोक्तम्—(अत्याग-सहनो बन्धुः सदैवानुमतः सुहृत् । एकक्रियं भवन्मित्रं समप्राणः सखा मतः ॥) इति । प्रयोगसंहारयोर्विभक्तमन्त्रं गान्धर्वं गन्धर्वदेवताकम् । संमोह्यतेऽनेनेति संमोहनं नाम ममास्त्रमादत्स्व गृहाण । यतोऽस्मात्प्रयोक्तुरस्त्रप्रयोगिणोऽरिहिंसा न च विजयश्च हस्ते । हस्तगतो विजयो भवतीत्यर्थः ॥ ५७ ॥

हे प्राण के समान प्रिय अज ! आप, चलाने और लौटा लेने में जिसके पृथक् २ मन्त्र हैं, तथा गन्धर्व जिसके देवता हैं, और जो सबको मोहित करने वाला होने से सम्मोहन नाम से प्रसिद्ध है ऐसे मेरे इस अस्त्र को स्वीकार करें, जिस अस्त्र से कि–चलाने वाले के शत्रुओं का वध भी नहीं हो पाता और विजय हस्तगत हो जाता है ॥ ५७ ॥

वधलज्जितः कथमस्त्रग्रहणपरः स्यामिति चेत्तत्राह—

अलं ह्रिया मां प्रति यन्मुहूर्त्तं दयापरोऽभूः प्रहरन्नपि त्वम् ।
तस्मादुपच्छन्दयति प्रयोज्यं मयि त्वया न प्रतिषेधरौक्ष्यम् ॥ ५८ ॥

अलमिति । किं च । मां प्रति ह्रिया प्रहारनिमित्तयाऽलम् । कुतः । यद्यतो-हेतोस्त्वं मां प्रहरन्नपि मुहूर्त्तं दयापरः कृपालुरभूः । तस्मादुपच्छन्दयति प्रार्थयमाने मयि त्वया प्रतिषेधः परिहारः स एव रौक्ष्यं पारुष्यम् । तन्न प्रयोज्यं न कर्तव्यम् ।

मेरे प्रति बाण प्रहार करने के कारण आप लज्जा मत करें, क्योंकि–आप मुझपर प्रहार करते हुये भी थोड़ी देर के लिये दया से युक्त ही हुए थे, अर्थात् आप का बाण मारना मेरे लिये दया करना ही हुआ था, इस कारण से अस्त्र ग्रहण करने के लिये मेरे प्रार्थना करने पर आप 'हम नहीं लेंगे' ऐसी रुखाई मत करें ॥ ५८ ॥

अथ प्रियंवदात्तदीयं सम्मोहनास्त्रमजो गृहीतवानित्याह—

तथेत्युपस्पृश्य पयः पवित्रं सोमोद्भवायाः सरितो नृसोमः ।
उदङ्मुखः सोऽस्त्रविदस्त्रमन्त्रं जग्राह तस्मान्निगृहीतशापात् ॥ ५९ ॥

तथेतीति । ना सोमश्चन्द्र इव नृसोमः । उपमितसमासः । 'सोम ओषधिचन्द्रयोः' इति शाश्वतः । पुरुषश्रेष्ठ इत्यर्थः । अस्त्रविदस्त्रज्ञः सोऽजस्तथेति सोम उद्भवो यस्याः सा तस्याः सोमोद्भवायाः सरितो नर्मदायाः । 'रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा

मेकलकन्यका' इत्यमरः। पवित्रं पय उपस्पृश्य पीत्वा। आचम्येत्यर्थः। उदङ्मुखः सन्निगृहीतशापान्निवर्तितशापात्। उपकृतादित्यर्थः। तस्मात्प्रियंवदादस्त्रमन्त्रं जग्राह ॥

पुरुष श्रेष्ठ, अस्त्रों को जानने वाले उन युवराज अज ने 'जैसा आप कहते हैं वैसा ही होगा' अर्थात् मैं ग्रहण करूँगा, यह कहकर नर्मदा का पवित्र जलसे आचमन करके उत्तर की ओर मुख किये हुए, जिसका शाप छूट गया था ऐसे उस प्रियंवद नामक गन्धर्व राजकुमार से संमोहन नामक अस्त्र को चलाने और लौटा लेने के मन्त्रों के सहित ग्रहण किया ॥ ५९ ॥

एवं मित्रत्वं प्राप्तवतोस्तयोः प्रियंवदश्चैत्ररथमजश्च विदर्भदेशान् यथावित्याह—

एवं तयोरध्वनि दैवयोगादासेदुषोः सख्यमचिन्त्यहेतु ।
एको ययौ चैत्ररथप्रदेशान्सौराज्यरम्यानपरो विदर्भान् ॥ ६० ॥

एवमिति। एवमध्वनि मार्गे दैवयोगाद् दैववशादचिन्त्यहेत्वनिर्धार्यहेतुकं सख्यं सखित्वम्। 'सख्युर्य' इति यप्रत्ययः। आसेदुषोः प्राप्तवतोस्तयोर्मध्ये एको गन्धर्वश्चैत्ररथस्य कुबेरोद्यानस्य प्रदेशान्। 'अस्योद्यानं चैत्ररथम्' इत्यमरः। अपरोऽजः, सौराज्येन राजन्वत्तया रम्यान्विदर्भदेशान्ययौ ॥ ६० ॥

इस प्रकार से मार्ग में दैवयोग से, जिसका कारण नहीं समझा जा सकता ऐसे परस्पर मित्र भाव को प्राप्त किये हुए उन दोनों के मध्य में से एक अर्थात्-प्रियंवद चैत्ररथ नामक कुबेर के बगीचा की तरफ गये और दूसरे युवराज अज भली भांति शासन करने वाले राजा के होने से सुन्दर विदर्भ देश की तरफ गये ॥ ६० ॥

अथ नगरसमीपेऽजस्यागमनं श्रुत्वा विदर्भाधिपतिस्तत्स्वागतार्थं स्वसदनान्निर्गत्य तं प्रत्युज्जगामेत्याह—

तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे तदागमारूढगुरुप्रहर्षः ।
प्रत्युज्जगाम क्रथकैशिकेन्द्रश्चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली ॥ ६१ ॥

तमिति। नगरस्योपकण्ठे समीपे तस्थिवांसं स्थितं तमजं तस्याजस्यागमेनागमनेनारूढ उत्पन्नो गुरुः प्रहर्षो यस्य स क्रथकैशिकेन्द्रो विदर्भराजः। प्रवृद्धोर्मिरूर्मिमाली समुद्रश्चन्द्रमिव प्रत्युज्जगाम ॥ ६१ ॥

नगर के समीप में स्थित उन युवराज अज के आगमन से उत्पन्न हुए अत्यन्त हर्ष से युक्त विदर्भ देश के महाराज भोज जैसे-बढ़ी हुई लहरों वाला समुद्र चन्द्रमा के उदय होने से अत्यन्त आनन्दित हो उससे मिलने के लिये जाता है, वैसे ही मिलने के लिये गये ॥६१॥

अथ विदर्भेश्वरोऽग्रयायी भूत्वा मार्गं प्रदर्शयन्नजं सादरं स्वपुरं प्रवेश्य नम्रः सन्नुपाचरदित्याह—

प्रवेश्य चैनं पुरमग्रयायी नीचैस्तथोपाचरदर्पितश्रीः ।
मेने यथा तत्र जनः समेतो वैदर्भमागन्तुमजं गृहेशम् ॥ ६२ ॥

प्रवेश्येति । एनमजमग्रयायी । सेवाधर्मेण पुरो गच्छन्नित्यर्थः । नीचैर्नम्रः पुरं प्रवेश्य प्रवेशं कारयित्वा प्रीत्याऽर्पितश्रीस्तथा तेन प्रकारेणोपाचरदुपचरितवान् । यथा येन प्रकारेण तत्र पुरे समेतो मिलितो जनो वैदर्भं भोजमागन्तुं प्राघूर्णिकं मेने । अजं गृहेशं गृहपतिं मेने ॥ ६२ ॥

उन अज के आगे २ जाते हुए नम्र भोज महाराज उन्हें नगर में प्रवेश कराकर प्रेम से सारी सम्पत्ति अर्पण किये हुए, उस तरह उनकी सेवा करने लगे जिस तरह वहां पर इकट्ठे हुए लोगों ने विदर्भदेशाधिपति को आगन्तुक (मेहमान) और अज को घर का मालिक समझा ॥ ६२ ॥

तस्याधिकारपुरुषैः प्रणतैः प्रदिष्टां प्राग्द्वारवेदिविनिवेशितपूर्णकुम्भाम् ।
रम्यां रघुप्रतिनिधिः स नवोपकार्यांम्बाल्यात्परामिव दशां मदनोऽध्युवास ॥

तस्येति । रघुप्रतिनिधी रघुकल्पः । रघुतुल्य इत्यर्थः । उक्तं च दण्डिना सादृश्यवाचकप्रस्तावे 'कल्पदेशीयदेश्यादि प्रख्यप्रतिनिधी अपि' इति । सोऽजः प्रणतैर्नमस्कृतवद्भिः । कर्तरि क्तः । तस्य भोजस्याधिकारो नियोगस्तस्य पुरुषैः । अधिकृतैरित्यर्थः । प्रदिष्टां निर्दिष्टां प्राग्द्वारस्य वेद्यां विनिवेशितः पूर्णकुम्भो यस्यास्ताम् । स्थापितमङ्गलकलशामित्यर्थः । रम्यां रमणीयां नवोपकार्यां नूतनं राजभवनम् । 'उपकार्या राजसद्मन्युपचारचितेऽन्यवत्' इति विश्वः । मदनो बाल्यात्परां शैशवादनन्तरां दशामिव । यौवनमिवेत्यर्थः अध्युवासाधिष्ठितवान् । तत्रोषितवानित्यर्थः । 'उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वम् ॥ ६३ ॥

रघु के तुल्य उन युवराज अज ने, नमस्कार करते हुए, उन विदर्भाधिपति भोज के नियुक्त किए हुए पुरुषों से बतलाये हुए, जिसके प्रधान द्वार के आगे वेदी पर जल से भरे मङ्गल कलश रक्खे हुए हैं, ऐसे सुन्दर, नवीन कपड़े के बने हुए, राजाओं के रहने के योग्य मण्डप में, जैसे कामदेव बाल्यावस्था के बाद युवावस्था में निवास करता है उसी भांति निवास किया ॥ ६३ ॥

अथ रात्रौ कन्यारत्नमिन्दुमतीं लिप्सुरजश्चिरेण निद्रावशो बभूवेत्याह—

तत्र स्वयंवरसमाहृतराजलोकं कन्याललाम कमनीयमजस्य लिप्सोः ।
भावावबोधकलुषा दयितेव रात्रौ निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव ॥६४॥

तत्रेति । तत्रोपकार्यायां स्वयंवरनिमित्तं समाहृतः सम्मेलितो राजलोको येन तत्कमनीयं स्पृहणीयं कन्याललाम कन्यासु श्रेष्ठम् । 'ललामोऽस्त्री ललामापि प्रभावे पुरुषे ध्वजे । श्रेष्ठभूषाशुण्डशृङ्गपुच्छचिह्नाश्वलिङ्गिषु' इति यादवः । लिप्सोर्लब्धुमिच्छोः । लभेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । अजस्य भावावबोधे पुरुषस्याभिप्रायपरिज्ञाने कलुषाऽसमर्था दयितेव रात्रौ निद्रा चिरेण नयनाभिमुखी बभूव । 'कामिनं राजानं चौरं प्रविशन्ति प्रजागराः' इति भावः । अभिमुखीशब्दो ङीषन्तश्च्व्यन्तो वा ॥ ६४ ॥

उस पटनिर्मित राजमण्डप में, स्वयंवर में जिस के लिये राजा लोग एकत्र किये गये हैं ऐसे सबों के चाहने योग्य कन्याओं में श्रेष्ठ उस इन्दुमती के पाने की इच्छा रखने वाले "अज के अभिप्राय के जानने में असमर्थ मुग्ध नवोढा नायिका की भांति निद्रा रात में बहुत देर के बाद आंखों के सम्मुख अर्थात् आंखों में आई ॥ ६४ ॥

बहुमुहूर्त्तानन्तरं प्रसुप्तमजं बन्दिपुत्राः स्तुतिपाठैरुषसि प्रबोधयामासुरित्याह—

तं कर्णभूषणनिपीडितपीवरांसं शय्योत्तरच्छदविमर्दकृशाङ्गरागम् ।
सूतात्मजाः सवयसः प्रथितप्रबोधं प्राबोधयन्नुषसि वाग्भिरुदारवाचः॥६५॥

तमिति । कर्णभूषणाभ्यां निपीडितौ पीनावंसौ यस्य तम् । शय्याया उत्तरच्छदस्योपर्यास्तरणवस्त्रस्य विमर्देन घर्षणेन कृशो विरलोऽङ्गरागो यस्य तम् । न त्वङ्गनासङ्गादिति भावः । प्रथितप्रबोधं प्रकृष्टज्ञानं तमेनमजं सवयसः समानवयस्का उदारवाचः प्रगल्भगिरः सूतात्मजा बन्दिपुत्राः । "वैतालिकाः" इति वा पाठः । 'वैतालिका बोधकराः' इत्यमरः । वाग्भिः स्तुतिपाठैरुषसि प्राबोधयन्प्रबोधयामासुः ॥

दोनों कर्णों के भूषणों से जिसके मोटे २ दोनों कन्धे दब गये, हैं, और शय्या के उपर बिछाने की चद्दर की रगड़ से जिसके अङ्गमें लगे हुए कस्तूरी आदि अङ्ग राग झड़ गये हैं, तथा जो उत्तम ज्ञान सम्पन्न हैं ऐसे उन युवराज अज को समान अवस्था वाले प्रगल्भता के साथ बात करने वाले बन्दियों के पुत्र स्तुति–वचनों को कह कर जगाने लगे ॥

स्तुतिवचनानि ब्रुवन्तो बन्दिपुत्रा अजनिद्रात्यागे हेतुं प्रदर्शयन्तीत्याह—

रात्रिर्गता मतिमतां वर ! मुञ्च शय्यां धात्रा द्विधैव ननु धूर्जगतो विभक्ता !
तामेकतस्तव बिभर्ति गुरुर्विनिद्रस्तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी ॥ ६६ ॥

रात्रिरिति । हे मतिमतां वर ! निर्धारणे षष्ठी । रात्रिर्गता । शय्यां मुञ्च । विनिद्रो भवेत्यर्थः । विनिद्रत्वे फलमाह–धात्रेति । धात्रा ब्रह्मणा जगतो धूर्भारः । 'धूः स्याद्यानमुखे भारे' इति यादवः । द्विधैव द्वयोरेवेत्यर्थः । एवकारस्तृतीयनिषेधार्थः । विभक्ता ननु विभज्य स्थापिता खलु । तत्किमत आह–तां धुरमेकत एककोटौ तव गुरुः पिता विनिद्रः सन्बिभर्ति तस्या धुरो भवान् । धुरं वहतीति धुर्यो भारवाही । तस्य पदं वहनस्थानम् । अपरं यद् धुर्यपदं तदवलम्बी । ततो विनिद्रो भवेत्यर्थः । नह्युभयवाह्यमेको वहतीति भावः ॥ ६६ ॥

हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ अज ! रात बीत गई, अतः शय्या को आप छोड़ें, अर्थात् निद्रा-त्याग करके उठें, क्योंकि–ब्रह्माजी ने जगत् के पालन का भार दो ही हिस्सों में बांट कर रक्खा है, उसमें से एक हिस्से के कार्यभार को आप के पिता रघु महाराज निद्रा त्याग कर वहन कर रहे हैं, और आप भी उस जगत्पालन रूप कार्यभार के दूसरे हिस्से के भारवहन करने वाले के स्थान का अवलम्बन करें, अर्थात् आप भी उठकर अपने हिस्से के भार को वहन करते हुये पृथ्वी पालन करें । क्योंकि–दो का भार एक नहीं उठा सकता है॥

अजनिद्रात्यागे हेतुभूतं निशाऽवसानमेव चन्द्रस्यास्तमितत्वेन सूचयन्नाह—

निद्रावशेन भवताऽप्यनपेक्ष्यमाणा पर्युत्सुकत्वमबला निशि खण्डितेव ।
लक्ष्मीर्विनोदयति येन दिगन्तलम्बी सोऽपि त्वदाननरुचिं विजहाति चन्द्रः ॥

चन्द्रारविन्दराजवदनादयो लक्ष्मीनिवासस्थानानीति प्रसिद्धिमाश्रित्योच्यते । निद्रावशेन निद्राऽधीनेन । स्त्र्यन्तरासङ्गोऽत्र व्यज्यते । भवता पर्युत्सुकत्वमपि । त्वय्यनुरक्तत्वमपीत्यर्थः । "प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च" इति सप्तम्यर्थे तृतीया । अपिशब्दस्तद्विषयानुरागस्यानपेक्षत्वद्योतनार्थः । निशि खण्डिता भर्त्तुरन्यासङ्गज्ञानकलुषिताऽबलेव नायिकेव । 'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता' इति दशरूपके । अनपेक्ष्यमाणाऽविचार्यमाणा सती । उपेक्ष्यमाणेत्यर्थः । 'ह्यनवेक्ष्यमाणा' इति पाठे निद्रावशेन भवताऽनवेक्ष्यमाणाऽनिरीक्ष्यमाणा । कर्मणि शानच् । लक्ष्मीः प्रयोजककर्त्री येन प्रयोज्येन चन्द्रेण पर्युत्सुकत्वं त्वद्विरहवेदनाम् । 'कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं । मनस्तापज्वरादिकृद्' इत्यलङ्कारे । विनोदयति निरासयतीतियोजना' शेषं पूर्ववत् । (नाथस्त्वयों पपत्तिमपश्यन्निमं पक्षमुपैक्षिष्ट)। लक्ष्मीर्येन चन्द्रेण सह । त्वदाननसदृशत्वादिति भावः । विनोदयति विनोदं करोति । विनोदशब्दात् । "तत्करोति तदाचष्टे" इति णिच्प्रत्ययः। सादृश्यदर्शनादयो हि विरहिणां विनोदस्थानानीति भावः । स चन्द्रोऽपि दिगन्तलम्बी पश्चिमाशां गतः सन् । अस्तं गच्छन्नित्यर्थः । अत एव त्वदाननरुचिं विजहाति । त्वन्मुखसादृश्यं त्यजतीत्यर्थः । अतो निद्रां विहाय तां लक्ष्मीमनन्यशरणां परिगृहाणेति भावः ॥ ६७ ॥

निद्रारूपी रमणी के अधीन हुये आप के विषय में अपनी अनुरक्ति की तरफ रात्रि में खण्डिता नायिका की भांति कुछ ध्यान नहीं देती हुई अतः—खिन्नचित्त होती हुई लक्ष्मी जिस चन्द्रमा के साथ अपने मन को बहलाती थी वह चन्द्रमा भी इस समय पश्चिम दिशा के अन्त में जाता हुआ अर्थात् अस्त होता हुआ तुम्हारे मुख की कान्ति की भांति जो अपनी कान्ति है, उसको छोड़ रहा है, अर्थात् कान्ति हीन हो रहा है। अतः निद्रा को छोड़ कर आप जिसका कोई आश्रय नहीं है ऐसी उस लक्ष्मी को ग्रहण करें अर्थात् उठें ॥

निशावसानसूचककमलविकाससादृश्याय नेत्रोन्मीलनौचित्यं सूचयन्नाह—

तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत् सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे ।
प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम् ॥ ६८ ॥

तद्वल्गुनेति । तत्तस्माल्लक्ष्मीपरिग्रहणाद्वल्गुना मनोज्ञेन । 'वल्गु स्थाने मनोज्ञे च वल्गु भाषितमन्यवत्' इति विश्वः । युगपत्तावदुन्मिषितेन युगपदेवोन्मिलितेन सद्यो द्वे अपि परस्परतुलामन्योन्यसादृश्यमधिरोहतां प्राप्नुताम् । प्रार्थनायाम् लोट् । के द्वे । अन्तः प्रस्पन्दमाना चलन्ती परुषेतरा स्निग्धा तारा कनीनिका यस्य तत्तथोक्तम् । 'तारकाऽक्ष्णः कनीनिका' इत्यमरः । तव चक्षुः । अन्तः प्रचलितभ्रमरं

चलद्भृङ्गं पद्मं च। युगपदुन्मेषे सति सम्पूर्णसादृश्यलाभ इति भावः ॥ ६८ ॥

इस (लक्ष्मी के स्वीकार करने के) कारण से सुन्दर जो साथ ही साथ एकही क्षण में आँख का खुलना और कमल का खिलना ये दोनों व्यापार हैं उनसे शीघ्र उसी क्षण में दोनों ही परस्पर एक दूसरे की बराबरी को प्राप्त करें, वे दोनों कौन-एक तो भीतर कुछ २ चलती हुई चिकनी काली पुतलियों वाली तुम्हारी आँखें और दूसरे भीतर कुछ २ चलते हुए भौरों से युक्त कमल, अर्थात्-साथ ही साथ खुलने और खिलने से आखों की और कमलों की पूर्ण रूप से समानता हो जायगी, अर्थात् आप आखें खोलें कमल खिल रहे हैं ॥

अथ निशाऽवसानसूचकं प्रातः कालीनं मन्दसुगन्धिपवनं वर्णयन्नाह—

वृन्ताच्छ्लथं हरति पुष्पमनोकहानां संसृज्यते सरसिजैररुणांशुभिन्नैः।
स्वाभाविकं परगुणेन विभातवायुःसौरभ्यमीप्सुरिव ते मुखमारुतस्य ॥६९॥

वृन्तादिति। विभातवायुः प्रभातवायुः स्वाभाविकं ते तव मुखमारुतस्य निःश्वासपवनस्य सौरभ्यम्। तादृक्सौगन्ध्यमित्यर्थः। परगुणेन। सांक्रामिकगन्धेनेत्यर्थः। ईप्सुराप्तुमिच्छुरिव। "आप्ज्ञप्यृधामीत्" इतीकारादेशः। अनोकहानां वृक्षाणां श्लथं शिथिलंपुष्पं वृन्तात्पुष्पबन्धनात्। 'वृन्तं प्रसवबन्धनम्' इत्यमरः। हरत्यादत्ते। अरुणांशुभिन्नैस्तरणिकिरणोद्बोधितैः सरसिजातैः सरसिजैः कमलैः सह। "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अलुक्। संसृज्यते संगच्छते। सृजेर्दैवादिकात्कर्त्तरि लट् ॥ ६९ ॥

प्रातः काल की वायु स्वाभाविक तुम्हारे मुखके निःश्वास-वायु की सुगन्धि के समान सुगन्धिको को दूसरे के गुण से अर्थात् दूसरे से प्राप्त किये हुये गन्ध के द्वारा प्राप्त करने की इच्छा से, मानो वृक्षों के शिथिल हुये पुष्पों की वृन्त अर्थात्-फूलों के बन्धन-स्थानों से अलग कर रहा है, और सूर्य के किरणों से विकसित कमलों के साथ सङ्गत हो रहता है, अर्थात्-फूलों के और कमलों के गन्ध को ग्रहण करता हुआ बह रहा है, अतः सूर्योदय का समय हो रहा है आप उठें ॥ ६९ ॥

अथ तरुपल्लवस्थितहिमाम्भोवर्णनपुरःसरं निशाऽवसानं सूचयन्नाह—

ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु निर्धौतहारगुलिकाविशदं हिमाम्भः।
आभाति लब्धपरभागतयाऽधरोष्ठे लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम् ॥

ताम्रोदरेष्विति। ताम्रोदरेष्वरुणाभ्यन्तरेषु पतितं निर्धौता या हारगुलिका मुक्तामणयस्तद्वद्विशदं हिमाम्भो लब्धपरभागतया लब्धोत्कर्षतया। 'परभागो गुणोत्कर्ष' इति यादवः। अधरोष्ठे त्वदीयं सदशनार्चिर्दन्तकान्तिसहितं लीलास्मितमिवाभाति शोभते ॥ ७० ॥

ताम्र के समान लाल वर्ण से युक्त जिनका मध्य भाग है, ऐसे वृक्षों के नवीन पल्लवों में गिरी हुई स्वच्छ मोतियों की हार के गुच्छे की भांति विमल ओस की बूंदें उत्कर्ष

को प्राप्त किये हुये होने से जैसे नीचे के ओष्ठ में तुम्हारी दातों की कान्ति के सहित लीला पूर्वक मन्द हास्य सुशोभित होता है, उसी भांति सुशोभित हो रहा है। अर्थात् सूर्योदय होना चाहता है: अतः आप उठें ॥ ७० ॥

यावत्प्रतापनिधिराक्रमते न भानुरह्नाय तावदरुणेन तमो निरस्तम् ।
आयोधनाग्रसरतां त्वयि वीर ! याते किं वा रिपूंस्तव गुरुः स्वयमुच्छिनत्ति ॥

यावदिति। प्रतापनिधिस्तेजोनिधिर्भानुर्यावन्नाक्रमते नोद्गच्छति। "आङ उद्गमने" इत्यात्मनेपदम्। तावत् भानावनुदित एवेत्यर्थः। अह्नाय झटिति। 'द्राग्झटित्यञ्जसाऽह्नाय' इत्यमरः। अरुणेनानूरुणा। 'सूर्यसूतोऽरुणोऽनूरुः' इत्यमरः। तमो निरस्तम्। तथाहि। हे वीर !। त्वय्यायोधनेषु युद्धेषु। 'युद्धमायोधनं जन्यम्' इत्यमरः। अग्रसरतां याते सति तव गुरुः पिता रिपूंस्स्वयमुच्छिनत्ति किं वा। नोच्छिनत्त्येवेत्यर्थः। न खलु योग्यपुत्रन्यस्तभाराणां स्वामिनां स्वयं व्यापारखेद इति भावः॥

तेज के निधि खजाना सूर्य भगवान् जब तक उदय नहीं हो पाते तब तक उन के पहिले ही जल्दी से सूर्य के सारथि "अरुण" ही अन्धकार को दूर कर देते हैं, अतः हे, वीर ! युवराज अज ! आप के सब से आगे युद्ध में रहने वाले होते हुये आप के पिता रघु महाराज शत्रुओं को क्या स्वयम् उच्छिन्न करते हैं, नहीं वल्कि आप करते हैं, अतः आप अब सो कर के उठें ॥ ७१ ॥

सम्प्रति ते सेनागजेन्द्रा अपि विनिद्रा जाता अतस्त्वमपि विनिद्रो भवेत्याह—

शय्यां जहत्युभयपक्षविनीतनिद्राः स्तम्बेरमा मुखरशृङ्खलकर्षिणस्ते ।
येषां विभान्ति तरुणारुणरागयोगाद्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव दन्तकोशाः ॥

शय्यामिति। उभाभ्यां पक्षाभ्यां विनीता अपगता निद्रा येषां त उभयपक्षविनीतनिद्राः। अत्र समासविषय उभशब्दस्थान उभयशब्दप्रयोग एव साधुरित्यनुसन्धेयम्। यथाऽऽह कैयटः–उभादुदात्तो नित्यमि'ति नित्यग्रहणस्येदं प्रयोजनं वृत्तिविषय उभशब्दस्य प्रयोगो माभूत्। उभयशब्दस्यैव यथा स्यात्, उभयपुत्र इत्यादि भवति, इति। मुखराण्युत्थानचलनाच्छब्दायमानानि शृङ्खलानि निगडानि कर्षन्तीति तथोक्तास्त एव तव स्तम्बे रमन्त इति स्तम्बेरमा हस्तिनः। "स्तम्बकर्णयो रमिजपोः" इत्यच्प्रत्ययः। 'हस्तिसूचकयोः' इति वक्तव्यात्। 'इभः स्तम्बेरमः पद्मी' इत्यमरः। "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अलुक्। शय्यां जहति त्यजन्ति। येषां स्तम्बेरमाणां। दन्ताः कोशा इव दन्तकोशा दन्तकुड्मलास्तरुणारुणरागयोगाद् बालार्कारुणसंपर्काद्धेतोर्भिन्नाद्रिगैरिकतटा इव विभान्ति। धातुरक्ता इव भान्तीत्यर्थः॥ ७२ ॥

दोनों पार्श्वों से करवट बदलने से जिनकी नींद पूरी हो चुकी है, अत एव उठने के समय अङ्गों के हिलने से झन् झन् शब्द करते हुए लोह के बने हुये सीकड़ों को खींच

रहे हैं, ऐसे आपकी सेना के सभी गजेन्द्र शय्या का त्याग कर रहे हैं, अर्थात् अपने २ शयन करने के स्थानों से उठ रहे हैं, और जिनके खिलने के नजदीक आई हुई कलियों के समान दांत हाल में उदय होते हुये सूर्य की लाल २ किरणों के सम्पर्क होने से कटे हुये पर्वत के गेरू के टुकड़े की भांति मालूम पड़ते हुये सुशोभित हो रहे हैं। अर्थात् हाथी भी सोकर के उठ गये, अब आप को भी उठना चाहिये ॥ ७२ ॥

अथ सेनाऽश्वा अपि विगतनिद्रा जाता इति ब्रुवन्तो बन्दिपुत्रा आहुरित्याह—

दीर्घेष्वमी नियमिताः पटमण्डपेषु निद्रां विहाय वनजाक्ष ! वनायुदेश्याः ।
वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति पुरोगतानि लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहाः ॥

दीर्घेष्विति । हे वनजाक्ष ! नीरजाक्ष ! । 'वनं नीरं वनं सत्त्वम्' इति शाश्वतः । दीर्घेषु पटमण्डपेषु नियमिता बद्धा वनायुदेश्या वनायुदेशे भवाः । 'पारसीका वनायुजाः' इति हलायुधः । अमी वाहा अश्वा निद्रां विहाय पुरोगतानि लेह्यान्यास्वाद्यानि सैन्धवशिलाशकलानि । "सैन्धवोऽस्त्री शीतशिवं मणिमन्थं च सिन्धुजे' इत्यमरः । वक्त्रोष्मणा मलिनयन्ति मलिनानि कुर्वन्ति । उक्तं च सिद्धयोगसंग्रहे— पूर्वाह्णकाले चाश्वानां प्रायशो लवणं हितम् । शूलमोहविबन्धघ्नं लवणं सैन्धवं वरम् ॥ इत्यादि ॥ ७३ ॥

हे कमलनयन ! अज ! कपड़ों के बने हुये बडे २ मण्डपों में बंधे हुये पारस देश में उत्पन्न हुये (पारसी) ये आप की सेना के घोड़े निद्रा त्याग कर उठे हुये, आगे रक्खे हुये चाटने लायक सेन्धा निमक के चट्टानों के टुकड़ों को अपने मुख के वायु की गर्मी से अर्थात् भाफ से मलिन कर रहे हैं ॥ ७३ ॥

भवति विरलभक्तिर्म्लानपुष्पोपहारः स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः प्रदीपाः ।
अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्तामनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक्पञ्जरस्थः ॥

भवतीति । म्लानः पुष्पोपहारः पुष्पपूजा म्लानत्वादेव विरलभक्तिर्विरलरचनो भवति । प्रदीपाश्च स्वकिरणानां परिवेषस्य मण्डलस्योद्भेदेन स्फुरणेन शून्या भवन्ति । निस्तेजस्का भवन्तीत्यर्थः । अपि चायं मञ्जुवाङ् मधुरवचनः पञ्जरस्थस्ते तव शुकस्त्वत्प्रबोधनिमित्तेन प्रयुक्तामुच्चारितां नोऽस्माकं गिरं वाणीमनुवदति । अनुकृत्य वदतीत्यर्थः । इत्थं प्रभातलिङ्गानि वर्तन्ते, अतः प्रबोद्धव्यमिति भावः ।

उपहार में आये हुये पुष्पों के मुरझा जाने से उनकी रचना (गुथाई) ढीली हो गई है, और दीपक अपने २ प्रभामण्डल के चमक से रहित हो रहे हैं, अर्थात्–दीपकों की प्रभा फीकी हो गई है, अतः इन सब पूर्वोक्त लक्षणों से पूरा सवेरा हो गया है, और यह सुन्दर बोलने वाला पिंजरे में रक्खा हुआ आपका सुआ भी आप को जगाने के लिये कहे गये हम लोगों के पूर्वोक्त वचनों का अनुकरण करके बोल रहा है, अतः अब आप निद्रा का त्याग करके उठें ॥ ७४ ॥

इति विरचितवाग्भिर्बन्दिपुत्रैः कुमारः सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झाञ्चकार ।
मदपटु निनदद्भिर्बोधितो राजहंसैः सुरगज इव गाङ्गं सैकतं सुप्रतीकः ॥७५॥

इतीति । इतीत्थं विरचितवाग्भिर्बन्दिपुत्रैर्वैतालिकैः । पुत्रग्रहणं समानवयस्कत्वद्योतनार्थम् । सपदि विगतनिद्रः कुमारः । तल्पं शय्याम् । 'तल्पं शय्याऽट्टदारेषु' इत्यमरः । उज्झाञ्चकार विससर्ज । "इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः" इत्याम्प्रत्ययः । कथमिव । मदेन पटु मधुरं निनदद्भी राजहंसैर्बोधितः सुप्रतीकाख्यः । सुरगज ईशानदिग्गजः । गङ्गाया इदं गाङ्गं सैकतं पुलिनमिव । 'तोयोत्थितं तत्पुलिनं सैकतं सिकतामयम्' इत्यमरः । "सिकताशर्कराभ्यां च" इत्यण्प्रत्ययः । सुप्रतीकग्रहणं प्रायशः कैलासवासिनस्तस्य नित्यं गङ्गातटविहारसम्भवादित्यनुसन्धेयम् ॥ ७५ ॥

इस प्रकार से स्तुति-वचनों की रचना जिन्होंने की है, ऐसे बन्दि-पुत्रों से शीघ्र ही जिनकी निद्रा दूर हो गई थी, ऐसे युवराज अज ने शय्या को उस तरह से परित्याग किया कि—जिस तरह से हर्ष से मधुर शब्द करते हुये राजहंसों से जगाया गया, "सुप्रतीक" नामक ईशान दिशा का दिग्गज गङ्गा के रेतीले तट का परित्याग करता है ॥ ७५ ॥

अथ विधिमवसाय्य शास्त्रदृष्टं दिवसमुखोचितमञ्चिताक्षिपक्ष्मा ।
कुशलविरचितानुकूलवेषः क्षितिपसमाजमगात्स्वयंवरस्थम् ॥ ७६ ॥

अथेति । अथोत्थानानन्तरमञ्चितानि चारूण्यक्षिपक्ष्माणि यस्य सोऽजः शास्त्रे दृष्टमवगतं दिवसमुखोचितं प्रातः कालोचितं विधिमनुष्ठानमवसाय्य समाप्य । स्यतेर्ण्यन्ताल्ल्यप् । कुशलः प्रसाधनदक्षैर्विरचितोऽनुकूलः स्वयंवरोचितो वेषो नेपथ्यं यस्य स तथोक्तः सन्स्वयंवरस्थं क्षितिपसमाजं राजसमूहमगादगमत् । "इणो गा लुङि" इति गादेशः । पुष्पिताग्रावृत्तमेतत् । तल्लक्षणम्-'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति ॥ ७६ ॥

इति पञ्चमसर्गे म० म० कोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितसञ्जीविनी टीका समाप्ता ।

शय्या त्याग कर उठने के बाद जिनके नेत्रों के लोम सुन्दर हैं ऐसे युवराज अज शास्त्रोक्त प्रातः काल के योग्य सन्ध्या-वन्दनादिक अनुष्ठान समाप्त कर के अलङ्कृत करने वालों में चतुर पुरुषों के द्वारा अपना स्वयंवर में जाने के योग्य उत्तम वेष बनाकर स्वयंवर में बैठे हुये राज समाज में गये ॥ ७६ ॥

इति साहित्यशास्त्रि श्री ब्रह्मशङ्करमिश्रकृता प्रथमादिपञ्चमसर्गान्ता हिन्दी टीका समाप्ता ।

रघुवंशमहाकाव्यम्

'घण्टापथ' 'मणिप्रभा' टीकाद्वयोपैतम् ।

षष्ठः सर्गः ।

जाह्नवी मूर्ध्नि पादे वा कालः कण्ठे वपुष्यथ ।
कामारिं कामतातं वा कञ्चिद्देवं भजामहे ॥

स तत्र मञ्चेषु मनोज्ञवेषान्सिंहासनस्थानुपचारवत्सु ।
वैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलान्नरलोकपालान् ॥ १ ॥

स इति । सोऽजस्तत्र स्थाने उपचारवत्सु राजोपचारवत्सु मञ्चेषु पर्यङ्केषु सिंहासनस्थान्मनोज्ञवेषान्मनोहरनेपथ्यान्वैमानिकानां विमानैश्चरताम् । 'चरति' इति ठक्प्रत्ययः । मरुताममराणम् । 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः । आकृष्टलीलान्गृहीतसौभाग्यान्, आकृष्टमरुल्लीलानित्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । नरलोकं पालयन्तीति नरलोकपालाः । कर्मण्यण्प्रत्ययः । तान्भूपालानपश्यत् । सर्गेऽस्मिन्नुपजातिश्छन्दः ॥ १ ॥

सुरनदी शिर या चरणमें श्यामता गल कण्ठमें ।
कामके रिपु वा पिता उस देवको हम नित भजें ॥

उस अजने राजकीय साधनोंसे सजाये गये मञ्चोंपर सुन्दर वेषवाले तथा विमानरथ देवताओंके अनुकरण करनेवाले राजाओंको उस स्वयंवरमें देखा ॥ १ ॥

रतेर्गृहीतानुनयेन कामं प्रत्यर्पितस्वाङ्गमिवेश्वरेण ।
काकुत्स्थमालोकयतां नृपाणां मनो बभूवेन्दुमतीनिराशम् ॥ २ ॥

रतेरिति । 'रतिः स्मरप्रियायां च रागे च सुरते स्मृता' इति विश्वः । रतेः कामप्रियाया गृहीतानुनयेन स्वीकृतप्रार्थनेन, गृहीतरत्यनुनयेनेत्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । ईश्वरेण हरेण प्रत्यर्पितस्वाङ्गं काममिव स्थितं काकुत्स्थमजमालोकयतां नृपाणां मन इन्दुमतीनिराशं वैदर्भीनिःस्पृहं बभूव । इन्दुमती सत्पतिमेनं विहाय नास्मान्वरिष्यतीति निश्चिक्युरित्यर्थः । सर्वातिशयसौन्दर्यमस्येति भावः ॥२॥

रति (कामपत्नी) की प्रार्थनाको स्वीकारकर शिवजीसे फिर अपने शरीरको प्राप्त किये

हुए कामके समान अजको देखते हुए राजाओंका मन इन्दुमती (को पाने) से निराश हो गया ॥ २ ॥

वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मञ्चम् ।
शिलाविभङ्गैर्मृगराजशावस्तुङ्गं नगोत्सङ्गमिवारुरोह ॥ ३ ॥

वैदर्भेति । असौ कुमारो वैदर्भेण भोजेन निर्दिष्टं प्रदर्शितं मञ्चं पर्यङ्कं क्लृप्तेन सुविहितेन सोपानपथेन । मृगराजशावः सिंहपोतः । 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः । शिलानां विभङ्गैर्भङ्गीभिस्तुङ्गमुन्नतं नगोत्सङ्गं शैलाग्रमिव अरुरोह ॥ ३ ॥

वे कुमार (अज) विदर्भनरेश (भोज) से बतलाये गये मञ्चपर बनाये गये सीढ़ीके रास्तेसे, चट्टानोंके रास्तेसे पहाड़पर सिंहके बच्चेके समान चढ़ गये ॥ ३ ॥

परार्ध्यवर्णास्तरणोपपन्नमासेदिवान्रत्नवदासनं सः ।
भूयिष्ठमासीदुपमेयकान्तिर्मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन ॥ ४ ॥

परार्ध्येति । परार्ध्याः श्रेष्ठा वर्णा नीलपीतादयो यस्य तेनास्तरणेन कम्बलादिनोपपन्नं सङ्गतं रत्नवद्रत्नखचितमासनं सिंहासनमासेदिवानधिष्ठितवान्सोऽजः मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन सेनान्या सह । 'सेननीरग्निभूर्गुहः' इत्यमरः । भूयिष्ठमत्यर्थमुपमेयकान्तिरासीत् । मयूरस्य विचित्ररूपवत्त्वात्तत्साम्यं रत्नासनस्य । तद्द्वारा च तदारूढयोरपीति भावः ॥ ४ ॥

बहुमूल्य रंगीन चादरसे बिछाये गये रत्नजटित आसनपर बैठे हुए वे अज मोरकी पीठपर बैठे हुए कार्तिकेयके समान अधिक शोभमान हुए ॥ ४ ॥

तासु श्रिया राजपरम्परासु प्रभाविशेषोदयदुर्निरीक्ष्यः ।
सहस्रधात्मा व्यरुचद्विभक्तः पयोमुचां पङ्क्तिषु विद्युतेव ॥ ५ ॥

तास्विति । तासु राजपरम्परासु श्रिया लक्ष्म्या कर्त्र्या पयोमुचां मेघानां पङ्क्तिषु विद्युतेव सहस्रधा विभक्तः तरङ्गेषु तरणिरिव स्वयमेक एक प्रत्येकं सङ्क्रामित इत्यर्थः । प्रभाविशेषस्योदयेनाविर्भावेन दुर्निरीक्ष्यो दुर्दर्शन आत्मा श्रियः स्वरूपं व्यरुचद्व्यद्योतिष्ट । 'द्युद्भ्यो लुङि' इति परस्मैपदम् । द्युतादित्वादङ्प्रत्ययः । तस्मिन् समये प्रत्येकं सङ्क्रान्तलक्ष्मीकतया तेषां किमपि दुरासदं तेजः प्रादुरासीदित्यर्थः ॥ ५ ॥

उन राजपङ्क्तियोंमें लक्ष्मी (शोभा) से हजारों भागोंमें (तरङ्गोंमें सूर्यके समान) आत्माको फैलाये हुए वे अज, मेघपङ्क्तियोंमें बिजलीसे हजारों भागोंमें विभक्त (सब तरफ फैलाये गये) आत्मा अर्थात् प्रकाशके समान शोभित हुए ॥ ५ ॥

तेषां महार्हासनसंस्थितानामुदारनेपथ्यभृतां स मध्ये ।
रराज धाम्ना रघुसूनुरेव कल्पद्रुमाणामिव पारिजातः ॥ ६ ॥

तेषामिति । महार्हासनसंस्थितानां श्रेष्ठसिंहासनस्थानाम् । उदारनेपथ्यभृतामुज्ज्वलवेषधारिणां तेषां राज्ञां मध्ये । कल्पद्रुमाणां मध्ये परिजात इव सुरद्रुमविशेष इव । 'पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः । संतानः कल्पवृक्षस्य पुंसि वा हरिचन्दनम्' इत्यमरः । स रघुसूनुरेव धाम्ना तेजसा । 'भूम्ना' इति पाठेऽतिशयेनेत्यर्थः । रराज । अत्र कल्पद्रुमशब्दः पञ्चान्यतमविशेषवचनः; उपकल्पयन्ति मनोरथानिति व्युत्पत्त्या सुरद्रुममात्रोपलक्षकतया प्रयुक्त इत्यनुसन्धेयम् । कल्पा इति द्रुमाः कल्पद्रुमा इति विग्रहः ॥ ६ ॥

बहुमूल्य आसनोंपर बैठे हुए तथा श्रेष्ठ भूषणोंको पहने हुए उन राजाओंके बीचमें रघुकुमार अज ही, कल्पद्रुमोंके बीचमें पारिजातके समान अपने तेजसे शोभायमान हुए ॥ ६ ॥

नेत्रव्रजाः पौरजनस्य तस्मिन्विहाय सर्वान्नृपतीन्निपेतुः ।
मदोत्कटे रेचितपुष्पवृक्षा गन्धद्विपे वन्य इव द्विरेफाः ॥ ७ ॥

नेत्रेति । पौरजनस्य नेत्रव्रजाः सर्वान्नृपतीन्विहाय तस्मिन्नजे निपेतुः । स एव सर्वोत्कर्षेण ददृश इत्यर्थः । कथमिव—मदोत्कटे मदेनोद्भिन्नगण्डे निर्भरमदे वा वन्ये गन्धप्रधाने द्विपे गजे । रेचिता रिक्तीकृताः पुष्पाणां वृक्षा यैस्ते, त्यक्तपुष्पवृक्षा इत्यर्थः । द्विरेफा भृङ्गा इव । द्विपस्य वन्यविशेषणं द्विरेफाणां पुष्पवृक्षत्यागसम्भवार्थं कृतम् ॥ ७ ॥

नागरिकोंकी दृष्टि सब राजाओंको छोड़कर उस अजपर ही उस प्रकार गयी, जिस प्रकार भौंरे फूले हुए वृक्षोंको छोड़कर तीव्र गन्धवाले हाथी (के गण्डस्थल) पर जाते हैं ॥ ७ ॥

त्रिभिर्विशेषमाह—

अथ स्तुते बन्दिभिरन्वयज्ञैः सोमार्कवंश्ये नरदेवलोके ।
सञ्चारिते चागुरुसारयोनौ धूपे समुत्सर्पति वैजयन्तीः ॥ ८ ॥

अथेति । अथान्वयज्ञै राजवंशाभिज्ञैर्बन्दिभिः स्तुतिपाठकैः । 'बन्दिनः स्तुतिपाठकाः' इत्यमरः । सोमार्कवंश्ये सोमसूर्यवंशभवे नरदेवलोके राजसमूहे स्तुते सति । विवेशेत्युत्तरेण सम्बन्धः । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । सञ्चारितो समन्तात्प्रचारिते । अगुरुसारो योनिः कारणं यस्य तस्मिन्धूपे च वैजयन्तीः पताकाः समुत्सर्पति सति अतिक्रम्य गच्छति सति ॥ ८ ॥

इसके बाद वंश (की परम्परा) को जाननेवाले बन्दियोंसे सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी राजाओंके प्रशंसित होनेपर अर्थात् प्रशंसात्मक वचनोंसे परिचय दिये जानेपर, जलाये गये अगरकी धूपवत्तियों (के धूएं) को पताकाओंसे ऊपर तक फैलते रहनेपर—॥ ८ ॥

पुरोपकण्ठोपवनाश्रयाणां कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ ।
प्रध्मातशङ्खे परितो दिगन्तांस्तूर्यस्वने मूर्च्छति मङ्गलार्थे ॥ ९ ॥

पुर इति । किं च । पुरस्योपकण्ठे समीप उपवनान्याश्रयो येषां तेषां कलापिनां बर्हिणामुद्धतनृत्यहेतौ मेघध्वनिसादृश्यात्ताण्डवकारणे । प्रध्माताः पूरिताः शङ्खा यत्र तस्मिन् मङ्गलार्थे मङ्गलप्रयोजनके । तूर्यस्वने वाद्यघोषे परितः सर्वतो दिगन्तान्मूर्च्छति व्याप्नुवति सति ॥ ९ ॥

नगरके पार्श्ववर्ती उपवनोंमें रहनेवाले मयूरोंके अधिक नाचनेका कारण बने हुए तथा शङ्ख बजाये जानेवाले, मङ्गलके लिये तुरही (आदि बाजाओं) की ध्वनिको दिगन्त तक फैलते रहनेपर—॥ ९ ॥

मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि ।
विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा ॥ १० ॥

मनुष्यवाह्यमिति । पतिं वृणोतीति पतिंवरा स्वयंवरा । 'अथ स्वयंवरा । पतिंवरा च वर्याऽथ' इत्यमरः । 'संज्ञायां भृतॄवृजिधारिसहितपिदमः' इत्यनेन खच्प्रत्ययः । क्लृप्तविवाहवेषा कन्येन्दुमती मनुष्यैर्वाह्यं परिवारेण परिजनेन शोभि चतुरस्रयानं चतुरस्रवाहनं शिबिकामध्यास्यारुह्य मञ्चान्तरे मञ्चमध्ये यो राजमार्गस्तं विवेश ॥ १० ॥

पतिको स्वयं वरण करनेवाली, विवाहके भूषणोंको पहनी हुई कुमारी इन्दुमती परिवारोंसे शोभमान तथा मनुष्योंसे ढोये जानेवाले पालकी या तामदानपर सवार होकर मञ्चोंके मध्यमें (बनी हुई) सड़कपर पहुँची ॥ १० ॥

तस्मिन्विधानातिशये विधातुः कन्यामये नेत्रशतैकलक्ष्ये ।
निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्रा देहैः स्थिताः केवलमासनेषु ॥ ११ ॥

तस्मिन्निति । नेत्रशतानामेकलक्ष्ये एकदृश्ये कन्यामये कन्यारूपे तस्मिन्विधातुर्विधानातिशये सृष्टिविशेषे नरेन्द्रा अन्तःकरणैर्निपेतुः । आसनेषु देहैः केवलं देहैरेव स्थिताः । देहानपि विस्मृत्य तत्रैव दत्तचित्ता बभूवुरित्यर्थः । अन्तःकरणकर्तृके निपतने नरेन्द्राणां कर्तृत्वव्यपदेश आदरातिशयार्थः ॥ ११ ॥

सैकड़ों नेत्रोंका एक लक्ष्य कन्या (इन्दुमती) रूप, ब्रह्माकी श्रेष्ठ रचनामें राजालोग अन्तकरणसे मग्न हो गये और आसनपर (तो वे केवल) शरीरसे बैठे रहे । (इन्दुमतीमें सब राजाओंका अन्तःकरण आकृष्ट हो गया) ॥ ११ ॥

तां प्रत्यभिव्यक्तमनोरथानां महीपतीनां प्रणयाग्रदूत्यः ।
प्रवालशोभा इव पादपानां शृङ्गारचेष्टा विविधा बभूवुः ॥ १२ ॥

तामिति । तामिन्दुमतीं प्रति । अभिव्यक्तमनोरथानां प्ररूढाभिलाषाणां महीपतीनां राज्ञां प्रणयाग्रदूत्यः प्रणयः प्रार्थना प्रेम वा । 'प्रणयास्त्वमी । विस्रम्भयाच्ञाप्रेमाणः' इत्यमरः । प्रणयेष्वग्रदूत्यः प्रथमदूतिकाः । प्रणयप्रकाशकत्वसाम्याद्दूतीत्वव्यपदेशः । विविधाः शृङ्गारचेष्टाः शृङ्गारविकाराः पादपानां प्रवालशोभाः पल्लवसम्पद इव बभूवुरुत्पन्नाः । अत्र शृङ्गारलक्षणं रससुधाकरे–'विभावैरनुभावैश्च स्वोचितैर्व्यभिचारिभिः । नीता सदस्यरस्यत्वं रतिः शृङ्गार उच्यते' ॥ रतिरिच्छाविशेषः । तच्चोक्तं तत्रैव–'यूनोरन्योन्यविशेषस्थायिनीच्छा रतिः स्मृता' इति । चेष्टाशब्देन तदनुभावविशेषा उच्यन्ते । तेऽपि तत्रैवोक्ताः–'भावं मनोगतं साक्षात्स्वहेतुं व्यञ्जयन्ति ये । तेऽनुभावा इति ख्याता भ्रूविक्षेपस्मितादयः ॥ ते चतुर्धा चित्तगात्रवाग्बुद्ध्यारम्भसम्भवाः' इति । तत्र गात्रारम्भसम्भवांश्चेष्टाशब्दोक्तानुभावान् 'कश्चित्'—इत्यादिभिः श्लोकैर्वक्ष्यति । शृङ्गाराभासश्चायम् । एकत्रैव प्रतिपादनात् । तदुक्तम्–'एकत्रैवानुरागश्चेत्तिर्यक्शब्दगतोऽपि वा । योषितां बहुसक्तिश्चेद्रसाभासस्त्रिधा मतः' इति ॥ १२ ॥

उस इन्दुमतीके प्रति स्पष्ट अभिलाषावाले राजाओंकी प्रेमसम्बन्धिनी प्रथम दूती, वृक्षोंकी नवपल्लवोंकी शोभाके समान, अनेक चेष्टायें (श्लो० १३–१९ में वर्णित) हुईं ॥ १२ ॥

'शृङ्गारचेष्टा बभूवुः' इत्युक्तम् । ता एव दर्शयति—

> कश्चित्कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम् ।
> रजोभिरन्तःपरिवेषबन्धि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार ॥ १३ ॥

कश्चिदिति । कश्चिद्राजा कराभ्यां पाणिभ्यामुपगूढनालं गृहीतनालम् । आलोलैश्चञ्चलैः पत्रैरभिहतास्ताडिता द्विरेफा भ्रमरा येन तत्तथोक्तम् । रजोभिः परागैरन्तः परिवेषं मण्डलं बध्नातीत्यन्तःपरिवेषबन्धि । लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार । करस्थलीलारविन्दवत्त्वयाहं भ्रमयितव्य इति नृपाभिप्रायः । हस्तघूर्णकोऽयमपलक्षणक इतीन्दुमत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

कोई राजा दोनों हाथसे पकड़े गये नालदण्डवाले, हिलते हुए पत्तोंसे भ्रमरोंको दूर करनेवाले और भीतरमें परागोंके मण्डल बांधते हुए लीलाकमलको घुमा रहा था । ('मेरे हाथमें स्थित इस लीला–कमलके समान तुम्हारे साथ में भ्रमण करूंगा या तुम मेरे साथ भ्रमण करना' यह राजाका अभिप्राय था और 'हाथको घुमानेवाला यह राजा कुलक्षण है' यह इन्दुमतीका अभिप्राय था) ॥ १३ ॥

> विस्रस्तमंसादपरो विलासी रत्नानुविद्धाङ्गदकोटिलग्नम् ।
> प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाशं निनाय साचीकृतचारुवक्त्रः ॥ १४ ॥

विस्रस्तमिति । विलसनशीलो विलासी । 'वौ कषलसकत्थस्रम्भः' इति घिनुण्प्रत्ययः । अपरो राजांसाद्विस्रस्तं रत्नानुविद्धं रत्नखचितं यदङ्गदं केयूरं तस्य कोटि-

लग्नं प्रालम्बमृजुलम्बिनीं स्रजम् । 'प्रालम्बमृजुलम्बि स्यात्कण्ठात्' इत्यमरः । 'प्रावारम्' इति पाठे तूत्तरीयं वस्त्रम् । उत्कृष्योद्धृत्य साचीकृतं तिर्यक्कृतं चारु वक्त्रं यस्य स तथोक्तः सन् यथावकाशं स्वस्थानं निनाय । प्रावारोत्क्षेपणच्छलेनाहं त्वामेवं परिरप्स्य इति नृपाभिप्रायः । गोपनीयं किञ्चिदङ्गेऽस्ति ततोऽयं प्रावृणुत इतीन्दुमत्यभिप्रायः ॥ १४ ॥

दूसरा विलासी राजा कन्धेसे नीचे सरकी हुई तथा रत्नजटित विजायठके किनारेमें अँटकी हुई मालाको (पाठान्तरसे—दुपट्टेको) मुखको थोड़ा तिर्छा करता हुआ यथास्थान रखा । ('दुपट्टेको हटानेके बहानेसे मैं तुमको इसी प्रकार आलिङ्गन करूंगा' यह राजाका अभिप्राय था और 'यह राजा अपने दूषित अङ्गको छिपा रहा है' यह इन्दुमतीका अभिप्राय था ॥ १४ ॥

आकुञ्चिताग्राङ्गुलिना ततोऽन्यः किञ्चित्समावर्जितनेत्रशोभः ।
तिर्यग्विसंसर्पिनखप्रभेण पादेन हैमं विलिलेख पीठम् ॥ १५ ॥

आकुञ्चितेति । ततः पूर्वोक्तादन्योऽपरो राजा किञ्चित्समावर्जितनेत्रशोभ ईषदर्वाक्पातितनेत्रशोभः सन् । आकुञ्चिता आभुग्ना अग्राङ्गुलयो यस्य तेन तिर्यग्विसंसर्पिण्यो नखप्रभा यस्य तेन च पादेन हैमं हिरण्मयं पीठं पादपीठं विलिलेख लिखितवान् । पादाङ्गुलीनामाकुञ्चनेन त्वं मत्समीपमागच्छेति नृपाभिप्रायः । भूमिविलेखकोऽयमपलक्षणक इतीन्दुमत्याशयः । भूमिविलेखनं तु लक्ष्मीविनाशहेतुः ॥ १५ ॥

उसके अतिरिक्त दूसरा राजा नेत्रको थोड़ा नीचे करके शोभायुक्त होता हुआ अर्थात् कटाक्षविक्षेप करता हुआ अङ्गुलिको थोड़ा सिकोड़कर तिर्यक् फैलती हुई नखकान्तिवाले पैरसे सुवर्णरचित पादपीठ (सिंहासनके नीचे रखे हुए पावदान) को खुरचने लगा । ('हे प्रिये ! इन्दुमति ! तुम मेरे समीप आवो' यह राजाका अभिप्राय था, और 'भूमिको खुरचनेवाले राजामें लक्ष्मीके विनाशका सूचक अशुभ लक्षण है' ऐसा इन्दुमतीका अभिप्राय था) ॥ १५ ॥

निवेश्य वामं भुजमासनार्धे तत्सन्निवेशादधिकोन्नतांसः ।
कश्चिद्विवृत्तत्रिकभिन्नहारः सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत् ॥ १६ ॥

निवेश्येति । कश्चिद्राजा वामं भुजमासनार्धे सिंहासनैकदेशे निवेश्य संस्थाप्य तत्सन्निवेशात्तस्य वामभुजस्य सन्निवेशात्संस्थापनादधिकोन्नतोऽंसो वामांस एव यस्य स तथोक्तः सन् । विवृत्ते परावृत्ते त्रिके त्रिकप्रदेशे भिन्नहारो लुण्ठितहारः सन् । 'पृष्ठवंशाधरे त्रिकम्' इत्यमरः । सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत् । वामपार्श्ववर्तिनैव मित्रेण सम्भाषितुं प्रवृत्त इत्यर्थः । अत एव विवृत्तत्रिकत्वं घटते । त्वया वामाङ्गे निवेशितया सहैवं वार्तां करिष्य इति नृपाभिप्रायः । परं दृष्ट्वा पराङ्मुखोऽयं न कार्यकर्तेतीन्दुमत्यभिप्रायः ॥ १६ ॥

सिंहासनके आधे भागमें बायें हाथको रखकर उस हाथको आसनपर रखनेसे ऊंचे (उठे हुए दहिने) कन्धेवाला तथा पीठपर पहुँचे (लटकते) हुए हारवाला कोई राजा मित्रके साथ बात करने लगा। ('तुमको बायें अङ्कमें बैठाकर इसी प्रकार मैं तुमसे वार्तालाप करूंगा' यह राजाका अभिप्राय था और 'दूसरेके सामने मुख फेर कर कर्तव्यविमुख होनेवाला यह राजा है' यह इन्दुमतीका अभिप्राय था) ॥ १६ ॥

विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रमापाण्डुरं केतकबर्हमन्यः ।
प्रियानितम्बोचितसन्निवेशैर्विपाटयामास युवा नखाग्रैः ॥ १७ ॥

विलासिनीति । अन्यो युवा विलासिन्याः प्रियाया विभ्रमार्थं दन्तपत्रं दन्तपत्रभूतमापाण्डुरं केतकबर्हं केतकदलम् । 'दलेऽपि बर्हम्' इत्यमरः । प्रियानितम्ब उचितसन्निवेशैरभ्यस्तनिक्षेपणैर्नखाग्रैर्विपाटयामास विदारयामास । अहं तव नितम्ब एवं नखव्रणादीन्दास्यामीति नृपाशयः । तृणच्छेदकवत्पत्रपाटकोऽयमपलक्षणक इतीन्दुमत्याशयः ॥ १७ ॥

दूसरा युवक राजा विलासिनियोंके विलासार्थ निर्मित दन्तपत्रवाले एवं श्वेतवर्ण केतकी-पुष्पके पत्तेको प्रियाके नितम्बपर रखने योग्य अर्थात् प्रियाके नितम्बको विलिखित करनेवाले नखाग्रोंसे खुरचता था। ('मैं तुम्हारे नितम्बपर सम्भोगकालमें इसी प्रकार नखाग्रोंसे विलेखन करूंगा' यह राजाका अभिप्राय था और 'तृणच्छेदन करनेकी अशुभ प्रकृतिवाला यह केतकी-पुष्पके पत्रको विदीर्ण कर रहा है' यह इन्दुमती का अभिप्राय था) ॥ १७ ॥

कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित्करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन ।
रत्नाङ्गुलीयप्रभयानुविद्धानुदीरयामास सलीलमक्षान् ॥ १८ ॥

कुशेशयेति । कश्चिद्राजा कुशेशयं शतपत्रमिवाताम्रं तलं यस्य तेन । 'शतपत्रं कुशेशयम्' इत्यमरः । रेखारूपो ध्वजो लाञ्छनं यस्य तेन करेण । अङ्गुलीषु भवान्यङ्गुलीयान्यूर्मिकाः । 'अङ्गुलीयकमूर्मिका' इत्यमरः । 'जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः' इति छप्रत्ययः । रत्नानामङ्गुलीयानि तेषां प्रभयानुविद्धान्व्याप्तानक्षान्पाशान् । 'अक्षास्तु देवनाः पाशकाश्च ते' इत्यमरः । सलीलमुदारयामासोत्क्षिपेप । अहं त्वया सहैवं रंस्य इति नृपाभिप्रायः । अक्षचातुर्येण कापुरुषोऽयमितीन्दुमत्यभिप्रायः । 'अक्षैर्मा दीव्येत्' इति श्रुतिनिषेधात् ॥ १८ ॥

कोई राजा कमलके समान लाल तलहत्थीवाले तथा ध्वजाके चिह्नसे युक्त रेखावाले हाथसे, रत्न जड़ी हुई अंगूठीकी कान्तिसे युक्त पाशेको उछाल रहा था। ('मैं तुम्हारे साथ इसी प्रकार रमण करूंगा' यह राजाका अभिप्राय था और 'यह जुआरी है' यह इन्दुमतीका अभिप्राय था) ॥ १८ ॥

कश्चिद्यथाभागमवस्थितेऽपि स्वसन्निवेशाद्व्यतिलङ्घिनीव ।
वज्रांशुगर्भाङ्गुलिरन्ध्रमेकं व्यापारयामास करं किरीटे ॥ १९ ॥

कश्चिदिति । कश्चिद्यथाभागं यथास्थानमवस्थितेऽपि स्वसन्निवेशाद्व्यतिलङ्घिनीव स्वस्थानाच्चलित इव किरीटे वज्राणां किरीटगतानामंशवो गर्भे येषां तान्यङ्गुलिरन्ध्राणि यस्य तमेकं करं व्यापारयामास । किरीटवन्मम शिरसि स्थितामपि त्वां भारं न मन्य इति नृपाभिप्रायः । शिरसि न्यस्तहस्तोऽयमपलक्षण इतीन्दुमत्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

कोई राजा उचित स्थानपर स्थित होनेपर भी इधर-उधर सरके हुएके समान मुकुटपर हीरेकी किरणोंसे युक्त अङ्गुलिच्छिद्रोंवाले हाथको मुकुटपर रखा । ('मस्तकपर रहनेपर भी तुमको मुकुटके समान भार नहीं समझूंगा' यह राजाका अभिप्राय था और 'मस्तकपर हाथ रखनेवाला यह कुलक्षण राजा है' यह इन्दुमतीका अभिप्राय था) ॥ १९ ॥

ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी ।
प्राक्सन्निकर्षं मगधेश्वरस्य नीत्वा कुमारीमवदत्सुनन्दा ॥ २० ॥

तत इति । ततोऽनन्तरं नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा श्रुतनृपवृत्तवंशेत्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । प्रगल्भा वाग्मिनी सुनन्दा सुनन्दाख्या प्रतिहारं रक्षतीति प्रतिहाररक्षी द्वारपालिका । कर्मण्यण्प्रत्ययः । 'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः' इत्यनेन ङीप् । प्राक्प्रथमं कुमारीमिन्दुमतीम् । मगधेश्वरस्य सन्निकर्षं समीपं नीत्वा पुंवत्पुंसा तुल्यम् । 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतिप्रत्ययः । अवदत् ॥ २० ॥

इसके बाद राजाओंके आचरण एवं वंश-परम्पराको जाननेवाली तथा ढीठ (अथवा पुरुषके समान ढीठ) द्वारपालिका 'सुनन्दा' पहले कुमारी इन्दुमतीको मगधनरेशके समीप लेजाकर पुरुषके समान बोली ॥ २० ॥

असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्त्वो मगधप्रतिष्ठः ।
राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परन्तपो नाम यथार्थनामा ॥ २१ ॥

असाविति । असौ राजा । असाविति पुरोवर्तिनो निर्देशः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । शरणोन्मुखानां शरणार्थिनां शरण्यः शरणे रक्षणे साधुः, 'तत्र साधुः' इति यत्प्रत्ययः । शरणं भवितुमर्हः शरण्य इति नाथनिरुक्तिर्निर्मूलैव । अगाधसत्त्वो गम्भीरस्वभावः । 'सत्त्वं गुणे पिशाचादौ बले द्रव्यस्वभावयोः' इति विश्वः । मगधा जनपदाः तेषु प्रतिष्ठास्पदं यस्य स मगधप्रतिष्ठः, 'प्रतिष्ठा कृत्यमास्पदम्' इत्यमरः । प्रजारञ्जने लब्धवर्णो विचक्षणः । यद्वा प्रजारञ्जनेन लब्धोत्कर्षः । परान्छत्रूंस्तापतीति परन्तपः परन्तपाख्यः । 'द्विषत्परयोस्तापे' इति खच्प्रत्ययः । 'खचि ह्रस्वः' इति ह्रस्वः ।

'अर्हुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमागमः । नामेति प्रसिद्धौ, यथार्थनामा, शत्रुसन्तापनादिति भावः ॥ २१ ॥

यह शरणार्थियोंके लिये शरण्य (शरणागतोंके साथ सद्व्यवहार करनेवाला), अपरिमित बलवाला, मगध देशकी प्रतिष्ठा अर्थात् मगध देशमें रहनेवाला, प्रजाओंके अनुरञ्जन करनेमें निद्वान् और शत्रुओंको सन्तप्त करनेसे यथार्थ नामवाला 'परन्तप' नामक राजा है ॥ २१ ॥

कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् ।
नक्षत्रताराग्रहसङ्कुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥ २२ ॥

काममिति । अन्ये नृपाः कामं सहस्रशः सन्तु । भूमिमनेन राजन्वतीं शोभनराजवतीमाहुः, नैतादृक्कश्चिदस्तीत्यर्थः । 'सुराज्ञि देशे राजन्वान्स्यात्ततोऽन्यत्र राजवान्' इत्यमरः । 'राजन्वान्सौराज्ये' इति निपातनात्साधुः । तथा हि—नक्षत्रैरश्विन्यादिभिस्ताराभिः साधारणैर्ज्योतिर्भिर्ग्रहैर्भौमादिभिश्च सङ्कुलापि रात्रिश्चन्द्रमसैव ज्योतिरस्या अस्तीति ज्योतिष्मती, नान्येन ज्योतिषेत्यर्थः ॥ २२ ॥

दूसरे हजारों राजा भले ही हों, (किन्तु लोग) इसी राजासे पृथ्वीको श्रेष्ठ राजावाली कहते हैं; क्योंकि अश्विनी आदि नक्षत्र, अन्य ताराएं तथा मङ्गल आदि ग्रहोंसे परिपूर्ण भी रात्रि चन्द्रमासे ही 'चाँदनीवाली' होती है ॥ २२ ॥

क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः ।
शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान्मन्दारशून्यानलकांश्चकार ॥ २३ ॥

क्रियेति । अयं परन्तपोऽध्वराणां क्रतूनां क्रियाप्रबन्धादनुष्ठानसातत्यात्, अविच्छिन्नादनुष्ठानादित्यर्थः । अजस्रं नित्यमाहूतसहस्रनेत्रः संश्चिरं शच्या अलकान्पाण्डुकपोलयोर्लम्बान्स्रस्तान् । पचाद्यच् । मन्दारैः कल्पद्रुमकुसुमैः शून्यांश्चकार । प्रोषितभर्तृका हि केशसंस्कारं न कुर्वन्ति । 'प्रोषिते मलिना कृशा' इति । 'क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम् । हास्यं परगृहे यानं त्यजेत्प्रोषितभर्तृका ॥' इति च स्मरणात् ॥ २३ ॥

सर्वदा यज्ञ करनेसे इन्द्रको बार २ बुलानेवाला यह राजा इन्द्राणीके (पतिविरहसे) पाण्डुर कपोलोंपर लटकते हुए बालोंको मन्दार-पुष्पसे रहित कर दिया है । (जब २ इन्द्र राजा के यहां यज्ञभाग लेनेके लिये जाते हैं तब २ प्रोषित (परदेशमें गये हुए) पतिवाली इन्द्राणीका कपोलमण्डल पतिविरहसे श्वेतवर्ण हो जाता है और वह केशोंमें मन्दार-पुष्पोंको गूंथकर शृङ्गार करना छोड़ देती है)॥ २३ ॥

अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं पाणिं वरेण्येन कुरु प्रवेशे ।
प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम् ॥ २४ ॥

अनेनेति । वरेण्येन वरणीयेन । वृणोतेरौणादिक एण्यप्रत्ययः । अनेन राज्ञा गृह्यमाणं पाणिमिच्छसि चेत्, पाणिग्रहणमिच्छसि चेदित्यर्थः । प्रवेशे प्रवेशकाले प्रासादवातायनसंश्रितानां राजभवनगवाक्षस्थितानां पुष्पपुराङ्गनानां पाटलिपुराङ्गनानां नेत्रोत्सवं कुरु । सर्वोत्तमानां तासामपि दर्शनीया भविष्यतीति भावः ॥ २४ ॥

तुम श्रेष्ठ इस राजाके साथ विवाह करना चाहती हो तो (इस राजाकी राजधानीमें अपने) प्रवेशकालमें महलोंकी खिड़कियोंपर बैठी हुई 'पुष्पपुर' ('पटना'—इस राजाकी राजधानी) की महिलाओंके नेत्रोंको उत्सवयुक्त अर्थात् अपना दर्शन देकर सुप्रसन्न करो ॥

एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किञ्चिद्विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला ।
ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा ॥ २५ ॥

एवमिति । एवं तया सुनन्दयोक्ते सति तं परन्तपमवेक्ष्य किञ्चिद्विस्रंसिनी दूर्वाङ्का दूर्वाचिह्ना मधूकमाला गुडपुष्पमाला यस्याः सा 'मधूके तु गुडपुष्पमधुद्रुमौ' इत्यमरः । वरणे शिथिलप्रयत्नेति भावः । तन्वीन्दुमत्येनं नृपमभाषमाणर्वा भावशून्यया प्रणामक्रिययैव प्रत्यादिदेश परिजहार ॥ २५ ॥

उस सुनन्दाके ऐसा कहनेपर दूर्वायुक्त महुएकी मालाको कुछ नीचे सरकाती हुई कृशाङ्गी इन्दुमतीने विना बोले सरल (श्रद्धा-भक्तिसे रहित) अर्थात् सामान्यः प्रणाम करनेसे ही उसका त्याग कर दिया ॥ २५ ॥

तां सैव वेत्रग्रहणे नियुक्ता राजान्तरं राजसुतां निनाय ।
समीरणोत्थेव तरङ्गलेखा पद्मान्तरं मानसराजहंसीम् ॥ २६ ॥

तामिति । सैव नान्या, चित्तज्ञत्वादिति भावः । वेत्रग्रहणे नियुक्ता दौवारिकी सुनन्दा तां राजसुतां राजान्तरमन्यराजानं निनाय । नयतिर्द्विकर्मकः । कथमिव ? समीरणोत्था वातोत्पन्ना तरङ्गलेखोर्मिपङ्क्तिर्मानसे सरसि या राजहंसी तां पद्मान्तरमिव ॥ २६ ॥

वेत्रयष्टिको ग्रहण करनेमें नियुक्त अर्थात् द्वारपालिका वही सुनन्दा, वायुसे समुत्पन्न तरङ्गपंक्ति मानसरोवरकी राजहंसीको जिस प्रकार एक कमलसे दूसरे कमलके पास ले जाती है, वैसे (राजकुमारी इन्दुमतीको उस मगधनरेशके पाससे) दूसरे राजाके पास ले गयी ॥

जगाद चैनामयमङ्गनाथः सुराङ्गनाप्रार्थितयौवनश्रीः ।
विनीतनागः किल सूत्रकारैरैन्द्रं पदं भूमिगतोऽपि भुङ्क्ते ॥ २७ ॥

जगादेति । एनामिन्दुमतीं जगाद । किमिति, अयमङ्गनाथोऽङ्गदेशाधीश्वरः सुराङ्गनाभिः प्रार्थिता कामिता यौवनश्रीर्यस्य स तथोक्तः, पुरा किलैनमिन्द्रसाहाय्यार्थमिन्द्रपुरगामिनमकामयन्ताप्सरस इति प्रसिद्धिः । किञ्च । सूत्रकारैर्गजशास्त्रकृद्भिः

पालकादिभिर्महर्षिभिर्विनीतनागः शिक्षितगजः । किलेत्यैतिह्ये । अत एव भूमिगतोऽप्यैन्द्रं पदमैश्वर्यं भुङ्क्ते, भूलोक एव स्वर्गसुखमनुभवतीत्यर्थः । गजाप्सरोदेवर्षिसेव्यत्वमैन्द्रपदशब्दार्थः। पुरा किल कुतश्चिच्छापकारणाद् भुवमवतीर्णं दिग्गजवर्गमालोक्य स्वयमशक्तेरिन्द्राभ्यनुज्ञयाऽऽनीतैर्देवर्षिभिः प्रणीतेन शास्त्रेण गजान्वशीकृत्य भुवि सम्प्रदायं प्रावर्तयदिति कथा गीयते ॥ २७ ॥

और बोली—'देवाङ्गनाओं (अप्सराओं) से अभीप्सित यौवनश्रीवाला गजशास्त्रके पण्डितों (पालकादि ऋषियों) से हाथियोंको शिक्षित करानेवाला यह अङ्गदेशका राजा पृथ्वीपर स्वर्गके पदको भोग करता है अर्थात् पृथ्वीपर ही स्वर्गतुल्य सुख भोग रहा है ।।२७।।

पौराणिक कथा—१. एक समय यह राजा असुरपीडित इन्द्रकी सहायताके लिये स्वर्गमें गया था तो अप्सराएँ इसकी यौवनावस्थाकी शोभापर मुग्ध होकर इसे चाहने लगी थीं ।

२. पहले किसीके शापके कारण भूलोकमें आये हुए दिग्गजोंको देखकर इन्द्रके स्वयं असमर्थ होनेके कारण उनकी अनुमतिसे पालकादि देवर्षियोंको बुलाकर उनके बनाये गज-शास्त्रमें वर्णित विधिके अनुसार उन दिग्गजोंको वशमें करके इस राजाने 'गज-शिक्षा' का सम्प्रदाय भूलोक में चलाया ।

अनेन पर्यासयताश्रुबिन्दून्मुक्ताफलस्थूलतमान्स्तनेषु ।
प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्य सूत्रेण विनैव हाराः ॥ २८ ॥

अनेनेति । शत्रुविलासिनीनां स्तनेषु मुक्ताफलस्थूलतमानश्रुबिन्दून् । 'अस्त्रमश्रुणि शोणिते' इति विश्वः । पर्यासयता प्रस्तारयता । भर्तृवधादिति भावः । अनेनाङ्गनाथेनोन्मुच्याक्षिप्य सूत्रेण विना हारा एव प्रत्यर्पिताः । अविच्छिन्नाश्रुबिन्दुप्रवर्तनाद्दुस्सूत्रहारार्पणमेव कृतमिवेत्युत्प्रेक्षा गम्यते ॥ २८ ॥

शत्रुओंकी स्त्रियोंके स्तनोंपर मोतीके समान बड़ी २ आंसुओंके बूंदोंको फैलाता हुआ यह राजा, उनके मोतियोंके हारोंको हटाकर बिना सूतके ही हारोंको पहना दिया । (इस राजाके द्वारा पतिके मारे जानेसे शत्रुस्त्रियां हारोंको फेंक करके रोती हुई मोतीके समान बड़ी २ आंसुओंकी जो बूंदे स्तनोंपर गिरा रही हैं, वे मुक्ताहारके समान मालूम पड़ रहे हैं)।।

निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च ।
कान्त्या गिरा सूनृतया च योग्या त्वमेव कल्याणि तयोस्तृतीया।।२९।।

निसर्गेति । निसर्गतः स्वभावतो भिन्नास्पदं भिन्नाश्रयम् , सहावस्थानविरोधीत्यर्थः । श्रीश्च सरस्वती चेति द्वयमस्मिन्नङ्गनाथ एकत्र संस्था स्थितिर्यस्य तदेकसंस्थम् , उभयमिह सङ्गतमित्यर्थः । हे कल्याणि ! 'बह्वादिभ्यश्च' इति ङीष् । कान्त्या सूनृतया सत्यप्रियया गिरा च योग्या संसर्गार्हा त्वमेव तयोः श्रीसरस्वत्योस्तृतीया ।

समानगुणयोर्युवयोर्दाम्पत्यं युज्यत एवेति भावः । दक्षिणनायकत्वं चास्य व्यज्यते । तदुक्तम्—'तुल्योऽनेकत्र दक्षिणः' इति ॥ २९ ॥

स्वभावसे ही भिन्न २ स्थानोंमें रहनेवाली लक्ष्मी और सरस्वती—इस राजामें एक साथ रहती हैं (यह राजा विद्वान् तथा ऐश्वर्यवान्-दोनों ही है) 'हे कल्याणि ! शोभा तथा मधुर भाषणसे योग्य (साथमें निवास करने योग्य) उन दोनों (लक्ष्मी और सरस्वती) में तुम्हीं तीसरी होओ' (अथवा—शोभा तथा मधुर भाषणसे उन दोनोंके योग्य तीसरी तुम्हीं हो—अन्य कोई नहीं, अत एव तुम इस राजाको वरण करो) ॥ २९ ॥

अथाङ्गराजादवतार्य चक्षुर्याहीति कन्यामवदत्कुमारी ।
नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः ॥३०॥

अथेति । अथ कुमार्यङ्गराजाच्चक्षुरवतार्य, अपनीयेत्यर्थः । जन्यां मातृसखीम् । 'जन्यां मातृसखीमुदोः' इति विश्वः । सुनन्दां याहि गच्छेत्यवदत् । 'यातेति जन्याम-वदत्' इति पाठे जनीं वधूं वहन्तीति जन्या वधूबन्धवः । तान् यात गच्छतेत्यवदत् । 'जन्यो वरवधूज्ञातिप्रियतुल्यहितेऽपि च' इति विश्वः । अथवा जन्या वधूभृत्याः । 'भृत्यश्चापि नवोढायाः' इति केशवः । 'संज्ञायां जन्या-' इति यत्प्रत्ययान्तो निपातः । यदत्राह वृत्तिकारः-'जनीं वधूं वहन्तीति जन्या जामातुर्वयस्याः' इति । यच्चामरः 'जन्याः स्निग्धा वरस्य ये' इति तत्सर्वमुपलक्षणार्थमित्यविरोधः । न चाय-मङ्गराजनिषेधो दृश्यदोषान्नापि द्रष्टृदोषादित्याह—नेत्यादिना । असावङ्गराजः काम्यः कमनीयो नेति न, किन्तु काम्य एवेत्यर्थः । सा कुमारी च सम्यग्द्रष्टुं विवेक्तुं न वेदेति न, वेदैवेत्यर्थः । किन्तु लोको जनो भिन्नरुचिर्हि रुचिरमपि किञ्चित्कस्मैचिन्न रोचते । किं कुर्मो न हीच्छा नियन्तुं शक्यत इति भावः ॥ ३० ॥

इसके बाद कुमारी इन्दुमतीने अङ्गराजसे दृष्टिको हटाकर मातृसखी सुनन्दासे (पाठा०—सवारी ढोनेवालोंसे) 'चलो' ऐसा कहा । 'यह राजा सुन्दर नहीं था' यह बात नहीं थी और 'वह इन्दुमती देखना (देखकर ग्राह्य तथा त्याज्यका विचार करना) नहीं जानती थी' यह बात भी नहीं थी; किन्तु लोग भिन्न २ रुचिवाले होते हैं (अतः जिसको जो रुचता है, वही उसके लिये सुन्दर एवं ग्राह्य होता है) ॥ ३० ॥

ततः परं दुष्प्रसहं द्विषद्भिर्नृपं नियुक्ता प्रतिहारभूमौ ।
निदर्शयामास विशेषदृश्यमिन्दुं नवोत्थानमिवेन्दुमत्यै ॥ ३१ ॥

तत इति । ततोऽनन्तरं प्रतिहारभूमौ द्वारदेशे नियुक्ता दौवारिकी । 'स्त्री द्वार्द्वारं प्रतीहारः' इत्यमरः । द्विषद्भिः शत्रुभिर्दुष्प्रसहं दुःसहम् , शूरमित्यर्थः । विशेषेण दृश्यं दर्शनीयं, रूपवन्तमित्यर्थः । परमन्यं नृपम् । नवोत्थानं नवोदयमिन्दुमिव । इन्दु-मत्यै निदर्शयामास ॥ ३१ ॥

इसके बाद द्वारपालिका सुनन्दाने शत्रुओंसे असह्य, विशेष सुन्दर तथा नयी अवस्था या उन्नतिवाले (अत एव) विशेष सुन्दर तथा नया उदय लेते हुए चन्द्रमाके समान राजाको इन्दुमतीके लिये दिखलाया ॥ ३१ ॥

अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः ।
आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति ॥ ३२ ॥

अवन्तीति । उदग्रबाहुर्दीर्घबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः कृशवर्तुलमध्योऽयं राजाऽवन्तिनाथोऽवन्तिदेशाधीश्वरः । त्वष्ट्रा विश्वकर्मणा । भर्तुस्तेजोवेगमसहमानया दुहित्रा संज्ञादेव्या प्रार्थितेनेति शेषः । चक्रभ्रमं चक्रकारं शस्त्रोत्तेजनयन्त्रम् । 'भ्रमोऽम्बुनिर्गमे भ्रान्तौ कुण्डाख्ये शिल्पियन्त्रके' इति विश्वः । आरोप्य यत्नेनोल्लिखित उष्णतेजाः सूर्य इव विभाति । अत्र मार्कण्डेयः—'विश्वकर्मा त्वनुज्ञातः शाकद्वीपे विवस्वता । भ्रममारोप्य तत्तेजःशातनायोपचक्रमे ॥' इति ॥ ३२ ॥

लम्बी (घुटने तक) बाहुवाला, चौड़ी छातीवाला तथा कृश एवं गोलाकार कटिवाला यह अवन्ती देशका राजा, (कन्याकी प्रार्थना करनेसे) विश्वकर्मा द्वारा सानपर चढ़ाकर यत्नपूर्वक उल्लिखित अर्थात् घिसे गये सूर्यके समान है ॥ ३२ ॥

पौराणिक कथा—विश्वकर्माने अपनी पुत्री संज्ञाका विवाह सूर्यके साथ कर दिया तो पति सूर्यके तेजको सहन नहीं कर सकनेवाली उस संज्ञाके प्रार्थना करनेपर विश्वकर्माने शाकद्वीपमें सूर्यको सानपर चढ़ाकर बड़े यत्नपूर्वक उन्हें छोटा किया ।

अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि ।
कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि ॥ ३३ ॥

अस्येति । समग्रशक्तेः शक्तित्रयसम्पन्नस्यास्यावन्तिनाथस्य प्रयाणेषु जैत्रयात्रास्वग्रेसरैर्वाजिभिरश्वैरुत्थितानि रजांसि सामन्तानां समन्ताद्भवानां राज्ञां ये शिखामणयश्चूडामणयस्तेषां प्रभाप्ररोहास्तमयं तेजोङ्कुरनाशं कुर्वन्ति । नासीरैरेवास्य शत्रवः पराजीयन्त इति भावः ॥ ३३ ॥

समस्त शक्ति (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति तथा उत्साहशक्ति—ये तीन शक्तियाँ हैं) से युक्त इस राजाकी दिग्विजयकी यात्रामें आगे चलनेवाले घोड़ों (के खुरों) से उड़ी हुई धूलियां सामन्त राजाओंके मुकुटमणियोंकी प्रभाओंके अङ्कुरोंको छिपा (नष्ट कर) देती हैं ॥ ३३ ॥

असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः ।
तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान् ॥३४॥

असाविति । असाववन्तिनाथः । महाकालं नाम स्थानविशेषः । तदेव निकेतनं मकुटस्थानं यस्य तस्य चन्द्रमौलेरीश्वरस्यादूरे समीपे वसन् । अत एव हेतोस्तमिस्र-

पक्षे कृष्णपक्षेऽपि प्रियाभिः सह ज्योत्स्नावतः प्रदोषान् रात्रीर्निर्विशत्यनुभवति किल । नित्यज्योत्स्नाविहारत्वमेतस्यैव नान्यस्येति भावः ॥ ३४ ॥

महाकाल (नामक उज्जयिनीस्थ स्थान) निवासी शिवजीके समीपमें रहनेवाला यह (अवन्तिनरेश) कृष्ण पक्ष (की रात्रियों) में भी प्रियाओंके साथ चाँदनी रातों (का आनन्द) अनुभव करता है ॥ ३४ ॥

अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते ।
सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ॥ ३५ ॥

अनेनेति । रम्भे कदलीस्तम्भाविवोरू यस्याः सा रम्भोरूस्तस्याः सम्बोधनम् । हे रम्भोरु ! 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' इत्यूङ्प्रत्ययः । नदीत्वाद्ध्रस्वः । यूनानेन पार्थिवेन सह । सिप्रा नाम तत्रत्या नदी, तस्यास्तरङ्गाणामनिलेन कम्पितासूद्यानानां परम्परासु पङ्क्तिषु विहर्तुं ते तव मनसो रुचिः कच्चित् । स्पृहास्ति किमित्यर्थः । 'अभिष्वङ्गे स्पृहायां च गभस्तौ च रुचिः स्त्रियाम्' इत्यमरः ॥ ३५ ॥

'हे केलेके स्तम्भके समान ऊरुवाली इन्दुमति ! इस युवक राजाके साथ सिप्रानदीके तरङ्गोंकी हवासे कम्पित उद्यानोंके समूहमें विहार करनेके लिये तुम्हारी चाहना है क्या ?' ॥ ३५ ॥

तस्मिन्नभिद्योतितबन्धुपद्मे प्रतापसंशोषितशत्रुपङ्के ।
बबन्ध सा नोत्तमसौकुमार्या कुमुद्वती भानुमतीव भावम् ॥ ३६ ॥

तस्मिन्निति । उत्तमसौकुमार्योत्कृष्टाङ्गमार्दवा सेन्दुमती । अभिद्योतितान्युल्लसितानि बन्धव एव पद्मानि येन तस्मिन् । प्रतापेन तेजसा संशोषिताः शत्रव एव पङ्काः कर्दमा येन तस्मिन् । तस्मिन्नवन्तिनाथे कुमुद्वती । 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' इति ड्मतुप्प्रत्ययः । भानुमत्यंशुमतीव भावं चित्तं न बबन्ध, न तत्रानुरागमकरोदित्यर्थः । बन्धूनां पद्मत्वेन शत्रूणां पङ्कत्वेन च निरूपणं राज्ञः सूर्यसाम्यार्थम् ॥ ३६ ॥

अत्यन्त सुकुमारी वह इन्दुमती बन्धुरूप कमलोंको विकसित करनेवाले तथा क्षात्र अर्थात् क्षत्रिय सम्बन्धी प्रतापसे शत्रुरूप पङ्कोंको सुखानेवाले उस अवन्तिनरेशमें (बन्धुओंके समान कोमलोंको विकसित करनेवाले तथा धूपसे शत्रुओंके समान पङ्कको सुखानेवाले सूर्यके अत्यन्त कोमल) कुमुदिनीके समान भाव नहीं किया अर्थात् उसकी चाहना नहीं की ॥ ३६ ॥

तामग्रतस्तामरसान्तराभामनूपराजस्य गुणैरनूनाम् ।
विधाय सृष्टिं ललितां विधातुर्जगाद भूयः सुदतीं सुनन्दा ॥ ३७ ॥

तामिति । सुनन्दा तामरसान्तराभां पद्मोदरतुल्यकान्तिं, कनकगौरीमित्यर्थः । गुणैरनूनाम्, अधिकामित्यर्थः । शोभना दन्ता यस्याः सा सुदती, 'वयसि दन्तस्य

दतृ' इति दत्रादेशः 'उगितश्च' इति ङीप्। तां प्रकृतां प्रसिद्धां वा विधातुर्ललितां सृष्टिं, मधुरनिर्माणां स्त्रियमित्यर्थः। अनुगता आपो येषु तेऽनूपा नाम देशाः। 'ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे' इत्यप्प्रत्ययः समासान्तः 'ऊदनोर्देशे' इत्यूदादेशः। तेषां राज्ञोऽनूपराजस्याग्रतो विधाय व्यवस्थाप्य भूयः पुनर्जगाद ॥ ३७ ॥

सुनन्दाने कमलोदर (कमलपत्रका भीतरी भाग) के समान आभावाली, गुणोंसे परिपूर्ण, ब्रह्माकी मनोहर रचनारूप और सुन्दर दांतोंवाली उस इन्दुमतीको अनूप-नरेशके सामने लेजाकर फिर कहा—॥ ३७ ॥

सङ्ग्रामनिर्विष्टसहस्रबाहुरष्टादशद्वीपनिखातयूपः ।
अनन्यसाधारणराजशब्दो बभूव योगी किल कार्तवीर्यः ॥ ३८ ॥

सङ्ग्रामेति। सङ्ग्रामेषु युद्धेषु निर्विष्टा अनुभूताः सहस्रं बाहवो यस्य स तथोक्तः। युद्धादन्यत्र द्विभुज एव दृश्यत इत्यर्थः। अष्टादशसु द्वीपेषु निखाताः स्थापिता यूपा येन स तथोक्तः। सर्वक्रतुयाजी सार्वभौमश्चेति भावः। जरायुजादिसर्वभूतरक्षणादनन्यसाधारणो राजशब्दो यस्य स तथोक्तः। योगी ब्रह्मविद्विद्वानित्यर्थः। स किल भागवतो दत्तात्रेयाल्लब्धयोग इति प्रसिद्धः। कृतवीर्यस्यापत्यं पुमान्कार्तवीर्यो नाम राजा बभूव किलेति। अयं चास्य महिमा सर्वोऽपि दत्तात्रेयवरप्रसादलब्ध इति भारते दृश्यते ॥ ३८ ॥

युद्धमें हजारों बाहुओंको प्राप्त करनेवाला, अठारहों द्वीपोंमें यज्ञस्तम्भोंको गाड़नेवाला और अनन्य साधारण (दूसरोंमें अप्रयुक्त) 'राजा' इस शब्दवाला और योगी कार्तवीर्य (सहस्रार्जुन) हुआ था ॥ ३८ ॥

अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवंश्चापधरः पुरस्तात् ।
अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता ॥ ३९ ॥

अकार्येति। विनेता शिक्षको यः कार्तवीर्यः। अकार्यस्यासत्कार्यस्य चिन्तया, अहं चौर्यादिकं करिष्यामीति बुद्ध्या। समकालमेककालमेव यथा तथा पुरस्तादग्रे चापधरः प्रादुर्भवन्सन्, प्रजानां जनानाम्, 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने' इत्यमरः। अन्तःशरीरेष्वन्तःकरणेषु शरीरशब्देनेन्द्रियं लक्ष्यते। अविनयमपि प्रत्यादिदेश मानसापराधमपि निवारयामासेत्यर्थः। अन्ये तु वाक्कायापराधमात्रप्रतिकर्तार इति भावः ॥ ३९ ॥

शासक जो (कार्तवीर्य), नहीं करने योग्य कार्यके विचार करनेके समयमें ही सामने धनुष धारण किया हुआ उपस्थित होकर प्रजाओंके मनमें या इन्द्रियोंमें भी अविनय दूर करता था। (प्रजाओंमें-से कोई व्यक्ति नहीं करने योग्य कार्यको करनेके लिये जब विचार करता था, तब उसके मनमें उक्त विचार आते ही उसे ऐसा मालूम पड़ता था कि धनुष धारण

किया हुआ राजा कार्तवीर्य हमें दण्ड देनेके लिये आ गये, अत एव उसकी प्रजा नहीं करने योग्य किसी भी कार्यको करनेका विचार तक भी नहीं करती थी) ॥ ३९ ॥

ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण ।
कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेणोषितमाप्रसादात् ॥ ४० ॥

ज्याबन्धेति । ज्याया मौर्व्या बन्धेन बन्धनेन निष्पन्दा निश्चेष्टा भुजा यस्य तेन, विनिःश्वसन्ती ज्याबन्धोपरोधाद्दीर्घं निःश्वसन्ती वक्त्रपरम्परा दशमुखी यस्य तेन निर्जितवासवेनेन्द्रविजयिना । अत्रेन्द्रादयोऽप्यनेन जितप्राया एवेति भावः। लङ्केश्वरेण दशास्येन यस्य कार्तवीर्यस्य कारागृहे बन्धनागारे, 'कारा स्याद्बन्धनालये' इत्यमरः । आप्रसादादनुग्रहपर्यन्तमुषितं स्थितम् । 'नपुंसके भावे क्तः' । एतत्प्रसाद एव तस्य मोक्षोपायो न तु क्षात्रमिति भावः ॥ ४० ॥

प्रत्यञ्चाके बन्धनसे स्तब्ध (निश्चेष्ट) बाहुवाला, लम्बी २ श्वास लेते हुए मुखसमूहवाला और इन्द्रको पराजित करनेवाला लङ्काधिपति रावण जेलमें जिस (कार्तवीर्य) के प्रसन्न होने तक पड़ा रहा । (जब तक कार्तवीर्यने कृपाकर रावणको नहीं छोड़ा, तब तक वह उसके जेलमें ही विवश होकर पड़ा रहा) ॥ ४० ॥

पौराणिक कथा—एक समय कार्तवीर्य अपने बाहुओंसे नर्मदाकी धाराको रोककर रमणियोंके साथमें जलक्रीडा कर रहा था, उसी समयमें दिग्विजयके लिये निकला हुआ इन्द्रविजयी रावण वहां पहुँचकर उससे युद्ध करने लगा, तब कार्तवीर्यने रावणको जीतकर और धनुषकी डोरीसे बांधकर कैदी बना लिया और जब तक वह प्रसन्न नहीं हुआ तब तक रावण वहीं जेलमें पड़ा रहा ।

तस्यान्वये भूपतिरेष जातः प्रतीप इत्यागमवृद्धसेवी ।
येन श्रियः संश्रयदोषरूढं स्वभावलोलेत्ययशः प्रमृष्टम् ॥ ४१ ॥

तस्येति । आगमवृद्धसेवी प्रतीप इति । ख्यात इति शेषः । एष भूपतिस्तस्य कार्तवीर्यस्यान्वये वंशे जातः । येन प्रतीपेन संश्रयस्याश्रयस्य पुंसो दोषैर्व्यसनादिभी रूढमुत्पन्नं श्रियः सम्बन्धि स्वभावलोला प्रकृतिचञ्चलेत्येवंरूपमयशो दुष्कीर्तिः प्रमृष्टं निरस्तम् । दुष्टाश्रयत्यागशीलायाः श्रियः प्रकृतिचापलप्रवादो मूढजनपरिकल्पित इत्यर्थः । अयं तु दोषराहित्यान्न कदाचिदपि श्रिया त्यज्यत इति भावः ॥ ४१ ॥

शास्त्रों तथा वृद्धजनों का सेवक 'प्रतीप' नामक यह राजा उस कार्तवीर्यके वंशमें उत्पन्न हुआ है, जिसने आश्रयके दोषसे लक्ष्मीके 'लक्ष्मी' स्वभावसे ही चञ्चला होती है' इस अयशको दूर कर दिया है । ('वास्तविकमें लक्ष्मीपात्रोंके दुर्गुणोंके कारण ही लक्ष्मी उन पुरुषोंका त्याग करती है; योग्य एवं गुणवान् व्यक्तिको लक्ष्मी कदापि नहीं छोड़ती' इस बातको

सद्गुणवान् इस 'प्रतीप' राजाने प्रमाणित करके लक्ष्मीके 'स्वभावचञ्चला' होनेकी लोक-निन्दाको दूर कर दिया है अर्थात् इसके पास लक्ष्मी सर्वदा निवास करती है) ४१ ॥

आयोधने कृष्णगतिं सहायमवाप्य यः क्षत्रियकालरात्रिम् ।
धारां शितां रामपरश्वधस्य सम्भावयत्युत्पलपत्रसाराम् ॥ ४२ ॥

आयोधन इति । यः प्रतीप आयोधने युद्धे कृष्णगतिं कृष्णवर्त्मानमग्निं सहाय-मवाप्य क्षत्रियाणां कालरात्रिं, संहाररात्रिमित्यर्थः । रामपरश्वधस्य जामदग्न्यपरशोः । 'द्वयोः कुठारः स्वधितिः परशुश्च परश्वधः' इत्यमरः । शितां तीक्ष्णां धारां मुखम् । 'खड्गादीनां च निशितमुखे धारा प्रकीर्तिता' इति विश्वः । उत्पलपत्रस्य सार इव सारो यस्यास्तां तथाभूतां सम्भावयति मन्यते । एतन्नगरजिगीषयागतान्रिपून्स्वय-मेव धक्ष्यामीति भगवता वैश्वानरेण दत्तवरोऽयं राजा । 'दह्यन्ते च तथागताः शत्रवः' इति भारते कथानुसन्धेया ॥ ४२ ॥

जो 'प्रतीप' राजा युद्धमें अग्निको सहायक पाकर क्षत्रियोंके लिये कालरात्रि परशुरामजीके फरसेकी तेज धारको कमलपत्रके समान शक्तिवाला अर्थात् निःसार समझता है ॥ ४२ ॥

पौराणिक कथा—पहले अग्निने इस प्रतीप राजाको वरदान दिया था कि 'इसके नगरको जीतनेके लिये आये हुए शत्रुओंको मैं स्वयं जला दिया करूंगी' अतः क्षत्रियोंके २१ वार संहार करनेवाले परशुरामजी इस प्रतीप राजाको कभी नहीं जीत सके ।

अस्याङ्कलक्ष्मीर्भव दीर्घबाहोर्माहिष्मतीवप्रनितम्बकाञ्चीम् ।
प्रासादजालैर्जलवेणिरम्यां रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः ॥ ४३ ॥

अस्येति । दीर्घबाहोरस्य प्रतीपस्याङ्कलक्ष्मीर्भव, एनं वृणीष्वेत्यर्थः । अनेनायं विष्णुतुल्य इति ध्वन्यते । माहिष्मती नामास्य नगरी । तस्या वप्रः प्राकार एव नित-म्बः तस्य काञ्चीं रशनाभूताम् । जलानां वेण्या प्रवाहेण रम्याम् । 'ओघः प्रवाहो वेणी च' इति हलायुधः । रेवां नर्मदां प्रासादजालैर्गवाक्षैः । 'जालं समूह आनायो गवाक्षजारकावपि' इत्यमरः । प्रेक्षितुं काम इच्छाऽस्ति यदि ॥ ४३ ॥

माहिष्मती (नामक इस राजाकी राजधानी) के परकोटा (चहारदिवारी) रूप नितम्बकी करधनी तथा जलरूप वेणी (केशकी चोटी) से रमणीय रेवा नदीको महलोंके झरोखोंसे देखनेकी इच्छा है तो इस राजाके अङ्ककी शोभा बनो अर्थात् इस राजाको वरण करो ॥ ४३ ॥

तस्याः प्रकामं प्रियदर्शनोऽपि न स क्षितीशो रुचये बभूव ।
शरत्प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधः शशीव पर्याप्तकलो नलिन्याः ॥ ४४ ॥

तस्या इति । प्रकामं प्रियं प्रीतिकरं दर्शनं यस्य सोऽपि, दर्शनीयोऽपीत्यर्थः ।

स क्षितीशः। शरदा प्रमृष्टाम्बुधरोपरोधो निरस्तमेघावरणः पर्याप्तकलः पूर्णकल शशी नलिन्या इव। तस्या इन्दुमत्या रुचये न बभूव, रुचिं नाजीजनदित्यर्थः। लोको भिन्नरुचिरिति भावः ॥ ४४ ॥

देखनेमें अत्यन्त सुन्दर भी वह राजा कमलिनीको शरद् ऋतुसे दूर किये गये मेघके आवरणवाले अर्थात् मेघरहित तथा पूर्ण कलावाले चन्द्रमाके समान, उस इन्दुमतीको रुचिके लिये नहीं हुआ (इन्दुमतीने उसे नहीं चाहा) ॥ ४४ ॥

सा शूरसेनाधिपतिं सुषेणमुद्दिश्य लोकान्तरगीतकीर्तिम् ।
आचारशुद्धोभयवंशदीपं शुद्धान्तरक्ष्या जगदे कुमारी ॥ ४५ ॥

सेति। लोकान्तरे स्वर्गादावपि गीतकीर्तिमाचारेण शुद्धयोरुभयोर्वंशयोर्माता- पितृकुलयोर्दीपं प्रकाशकम्। उभयवंशेत्यत्रोभयपदस्य वृत्तिविषयत्वात् । शूरसेनानां देशानाम- धिपतिं सुषेणं नाम नृपतिमुद्दिश्याभिसन्धाय शुद्धान्तरक्षयान्तःपुरपालिकया। 'कर्म- ण्यण्'। 'टिड्ढाणञ्–'इति ङीप्। सा कुमारी जगदे ॥ ४५ ॥

रनिवासकी रक्षामें नियुक्त सुनन्दाने अन्य लोक (स्वर्गादि) में गाये गये यशवाले तथा आचरणसे शुद्ध दोनों वंश (मातृकुल तथा पितृकुल) वाले शूरसेन देशके राजा 'सुषेग' को दिखाकर इन्दुमती से कहा—॥ ४५ ॥

नीपान्वयः पार्थिव एष यज्वा गुणैर्यमाश्रित्य परस्परेण ।
सिद्धाश्रमं शान्तमिवैत्य सत्त्वैर्नैसर्गिकोऽप्युत्ससृजे विरोधः ॥ ४६ ॥

नीपान्वय इति। यज्वा विधिवदिष्टवान्। 'सुयजोर्ङ्वनिप्' इति ङ्वनिप्प्रत्ययः। एष पार्थिवो नीपो नामान्वयोऽस्येति नीपान्वयो नीपवंशजः। यं सुषेणमाश्रित्य गुणैर्ज्ञानमौनादिभिः शान्तं प्रसन्नं सिद्धाश्रममृष्याश्रममेत्य प्राप्य सत्त्वैर्गजसिंहादिभिः प्राणिभिरिव। नैसर्गिकः स्वाभाविकोऽपि परस्परेण विरोध उत्ससृजे त्यक्तः ॥ ४६ ॥

विधिपूर्वक यज्ञको किया हुआ यह राजा 'नीप'के वंशके हैं, जिसे आश्रयकर (क्षमा, वीरता, दया, ज्ञान आदि) गुणोंने शान्त सिद्धाश्रमको प्राप्तकर (परस्पर विरोधी सिंह–मृग, गो–व्याघ्र, नकुल–सर्प आदि) जीवोंके समान स्वभाविक विरोधको छोड़ दिया है ॥ ४६ ॥

यस्यात्मगेहे नयनाभिरामा कान्तिर्हिमांशोरिव सन्निविष्टा ।
हर्म्याग्रसंरूढतृणाङ्कुरेषु तेजोऽविषह्यं रिपुमन्दिरेषु ॥ ४७ ॥

यस्येति। हिमांशोः कान्तिश्चन्द्रकिरणा इव नयनयोरभिरामा यस्य सुषेणस्य कान्तिः शोभात्मगेहे स्वभवने सन्निविष्टा सङ्क्रान्ता। अविषह्यं विसोढुमशक्यं तेजः प्रतापस्तु। हर्म्याग्रेषु धनिकमन्दिरप्रान्तेषु। 'हर्म्यादि धनिनां वासः' इत्यमरः। संरूढा-

तृणाङ्कुरा येषां तेषु, शून्येष्वित्यर्थः। रिपुमन्दिरेषु शत्रुनगरेषु। 'मन्दिरं नगरे गृहे' इति विश्वः। सन्निविष्टम्। स्वजनाह्लादको द्विषन्तपश्चेति भावः॥ ४७॥

चन्द्रमाके समान नयनोंको आह्लादित करनेवाली जिसकी कान्ति अपने घरोंमें स्थित है तथा असह्य तेज शत्रुओंके महलोंके छज्जोंपर जमे हुए घासके अङ्कुरोंवाले, उनके महलोंमें स्थित है। (शत्रुओंके मारे जानेसे या इसके भयसे घर छोड़कर भाग जानेसे उनके महलोंके ऊपर घासोंके जमनेसे वह इसके असह्य प्रताप तुल्य दिखलाई पड़ता है) ॥ ४७॥

यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले।
कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति॥ ४८॥

यस्यावरोध इति। यस्य सुषेणस्य वारिविहारकाले जलक्रीडासमयेऽवरोधानामन्तःपुराङ्गनानां स्तनेषु चन्दनानां मलयजानां प्रक्षालनाद्धेतोः। कलिन्दो नाम शैलस्तत्कन्या यमुना। 'कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा' इत्यमरः। मथुरा नामास्य राज्ञो नगरी। तां गतापि, गङ्गाया विप्रकृष्टापीत्यर्थः। मथुरायां गङ्गाऽभावं सूचयत्यपिशब्दः। कालिन्दीतीरे मथुरा लवणासुरवधकाले शत्रुघ्नेन निर्मास्यते इति भविष्यति। तत्कथमधुना मथुरासम्भव इति चिन्त्यम्। मथुरा मथुरापुरीति शब्दभेदः। यद्वा सान्येति। गङ्गाया भागीरथ्या ऊर्मिभिः संसक्तजलेव भाति। धवलचन्दनसंसर्गात्प्रयागादन्यत्राप्यत्र गङ्गासंगतेव भातीत्यर्थः। 'सितासिते हि गङ्गायमुने' इति घण्टापथः॥ ४८॥

जिस राजाकी जलक्रीडाके समयमें रानियोंके स्तनोंके श्वेत चन्दनके धुल जानेसे मथुरामें भी यमुना गङ्गाके तरङ्गोंसे मिली हुईके समान शोभमान होती है। (जिस प्रकार प्रयागमें गङ्गाकी धाराके मिलनेपर यमुनाका जल श्वेत-नीलवर्ण दिखलाई पड़ता है, वैसे ही मथुरामें भी इस राजाकी जलक्रीडाके समयमें रानियोंके स्तनोंके श्वेत चन्दनके धुलनेसे यमुनाका जल श्वेत मिश्रित नीलवर्ण दिखलाई पड़ता है)॥ ४८॥

त्रस्तेन तार्क्ष्यात्किल कालियेन मणिं विसृष्टं यमुनौकसा यः।
वक्षःस्थलव्यापि रुचं दधानः सकौस्तुभं ह्रेपयतीव कृष्णम्॥ ४९॥

त्रस्तेनेति। तार्क्ष्याद्गरुडात्त्रस्तेन। यमुना ओकः स्थानं यस्य तेन। कालियेन नाम नागेन विसृष्टं किलाभयदाननिष्क्रयत्वेन दत्तम्। किलेत्यैतिह्ये। वक्षःस्थलव्यापिरुचं मणिं दधानो यः सुषेणः सकौस्तुभं कृष्णं विष्णुं ह्रेपयतीव। 'अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ' इत्यनेन पुगागमः। कौस्तुभमणेरप्युत्कृष्टोऽस्य मणिरिति भावः॥ ४९॥

गरुडसे डरे हुए यमुनामें रहनेवाले कालिय नागके द्वारा (अभयदान देनेसे उपहारमें) दिये गये तथा छातीपर फैलती हुई कान्तिवाले रत्नको धारण किया हुआ यह 'सुषेण' राजा

कौस्तुभ मणिको धारण किये हुए विष्णु भगवान्को मानो लज्जित कर रहा है ॥ ४९ ॥

सम्भाव्य भर्तारममुं युवानं मृदुप्रवालोत्तरपुष्पशय्ये ।
वृन्दावने चैत्ररथादनूने निर्विश्यतां सुन्दरि यौवनश्रीः ॥ ५० ॥

सम्भाव्येति । युवानममुं सुषेणं भर्तारं सम्भाव्य मत्वा, पतित्वेनाङ्गीकृत्येत्यर्थः मृदुप्रवालोत्तरोपरिप्रस्तारितकोमलपल्लवा पुष्पशय्या यस्मिंस्तत्तस्मिंश्चैत्ररथात्कुबेरोद्यानादनूने वृन्दवने वृन्दावननामक उद्याने हे सुन्दरि ! यौवनश्रीर्यौवनफल निर्विश्यतां भुज्यताम् ॥ ५० ॥

हे सुन्दरि ! इस युवक राजाको पति मानकर ऊपरमें कोमल पत्ते बिछी हुई पुष्पशय्या वाले चैत्ररथ (नामक कुबेरोद्यान) के समान वृन्दावनमें जवानीकी शोभाको चरितार्थ करो

अध्यास्य चाम्भःपृषतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि ।
कलापिनां प्रावृषि पश्य नृत्यं कान्तासु गोवर्धनकन्दरासु ॥ ५१ ॥

अध्यास्येति । किं च, प्रावृषि वर्षासु कान्तासु गोवर्धनस्याद्रेः कन्दरासु दरीषु 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री' इत्यमरः । अम्भसः पृषतैर्बिन्दुभिरुक्षितानि सिक्तानि शिलायां भवं शैलेयम् । 'शिलाजतु च शैलेयम्' इति यादवः । यद्वा शिलापुष्पाख्य ओषधिविशेषः । 'कालानुसार्यवृद्धाश्मपुष्पशीतशिवानि तु । शैलेयम्' इत्यमरः 'शिलाया ढः' इत्यत्र शिलाया इति योगविभागादिवार्थे ढप्रत्ययः । तद्गन्धवन्ति शैलेयगन्धीनि शिलातलान्यध्यास्याधिष्ठाय कलापिनां बर्हिणां नृत्यं पश्य ॥ ५१ ॥

और सुन्दर गोवर्धन पर्वतकी गुफाओंमें जलकी बूंदोंसे छिड़काव किये गये एवं शिलाजीतके गन्धसे युक्त चट्टानोंपर बैठकर बरसातमें मोरोंके नृत्यको देखो ॥ ५१ ॥

नृपं तमावर्तमनोज्ञनाभिः सा व्यत्यगादन्यवधूर्भवित्री ।
महीधरं मार्गवशादुपेतं स्रोतोवहा सागरगामिनीव ॥ ५२ ॥

नृपमिति । 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः । आवर्तमनोज्ञा नाभिर्यस्याः सा । इदं च नदीसाम्यार्थमुक्तम् । अन्यवधूरन्यपत्नी भवित्री भाविनी सा कुमारी तं नृपम् । सागरगामिनी सागरं गन्त्री स्रोतोवहा नदी मार्गवशादुपेतं प्राप्तं महीधरं पर्वतमिव व्यत्यगादतीत्य गता ॥ ५२ ॥

पानीके भौंरके समान सुन्दर नाभिवाली तथा भविष्यमें दूसरे अर्थात् 'अज' की भार्या होनेवाली उस इन्दुमतीने, रास्तेमें आनेसे प्राप्त पर्वतको समुद्रगामिनी एवं प्रवाहसे बहने वाली नदीके समान (भावी-पति 'अज'के यहां जाते समय मार्गमें प्राप्त) उस राजाको छोड़ दिया अर्थात् उस राजाको छोड़कर आगे बढ़ी ॥ ५२ ॥

अथाङ्गदाश्लिष्टभुजं भुजिष्या हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथम् ।
आसेदुषीं सादितशत्रुपक्षं बालामबालेन्दुमुखीं बभाषे ॥ ५३ ॥

अथेति । अथ भुजिष्या किङ्करी सुनन्दा । 'भुजिष्या किङ्करी मता' इति हलायुधः । अङ्गदाश्लिष्टभुजं केयूरबद्धबाहुं सादितशत्रुपक्षं विनाशितशत्रुवर्गं हेमाङ्गदं नाम कलिङ्गनाथमासेदुषीमासन्नामबालेन्दुमुखीं पूर्णेन्दुमुखीं बालामिन्दुमतीं बभाषे ॥५३॥

इसके बाद दासी सुनन्दाने बाहुमें बिजायठ पहने हुए तथा शत्रुपक्षको नष्टकरनेवाले अङ्गदेशके राजा 'हेमाङ्गद'को (बतलाकर) समीपमें स्थित तथा पूर्णचन्द्रतुल्य इन्दुमतीसे कहा ॥ ५३ ॥

असौ महेन्द्राद्रिसमानसारः पतिर्महेन्द्रस्य महोदधेश्च ।
यस्य क्षरत्सैन्यगजच्छलेन यात्रासु यातीव पुरो महेन्द्रः ॥ ५४ ॥

असाविति । महेन्द्राद्रेः समानसारस्तुल्यसत्त्वोऽसौ हेमाङ्गदो महेन्द्रस्य नाम कुलपर्वतस्य महोदधेश्च पतिः स्वामी । 'महेन्द्रमहोदधी एवास्य गिरिजलदुर्गे' इति भावः । यस्य यात्रासु क्षरतां मदस्राविणां सैन्यगजानां छलेन महेन्द्रो महेन्द्राद्रिः पुरोऽग्रे यातीव । आद्रिकल्पा अस्य गजा इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

महेन्द्र पर्वतके समान सार (शक्ति तथा सम्पत्ति) वाला यह 'हेमाङ्गद' राजा महेन्द्र पर्वतका तथा महासमुद्रका स्वामी है, जिसकी (दिग्विजयकी) यात्रामें मदजलको बहानेवाले हाथियोंके बहानेसे महेन्द्रपर्वत मानों आगे चलता है ॥ ५४ ॥

ज्याघातरेखे सुभुजो भुजाभ्यां बिभर्ति यश्चापभृतां पुरोगः ।
रिपुश्रियां साञ्जनबाष्पसेके बन्दीकृतानामिव पद्धती द्वे ॥ ५५ ॥

ज्याघातेति । सुभुजश्चापभृतां पुरोगो धनुर्धराग्रेसरो यः बन्दीकृतानां प्रगृहीतानाम् । 'प्रग्रहोपग्रहौ बन्द्याम्' इत्यमरः । रिपुश्रियां साञ्जनो बाष्पसेको ययोस्ते, कज्जलमिश्राश्रुसिक्ते इत्यर्थः । पद्धती इव । द्वे ज्याघातानां मौर्वीकिणानां रेखे राजी भुजाभ्यां बिभर्ति । द्विवचनात्सव्यसाचित्वं गम्यते । रिपुश्रियां भुजाभ्यामेवाहरणात्तद्गतरेखयोस्तत्पद्धतित्वेनोत्प्रेक्षा । तयोः श्यामत्वात्साञ्जनाश्रुसेकोक्तिः ॥ ५५ ॥

सुन्दर भुजाओंवाला तथा धनुर्धारियोंमें प्रधान जो 'हेमाङ्गद' राजा दोनों भुजाओंमें, बन्दिनी बनायी गयीं शत्रुओंकी राजलक्ष्मियोंके अञ्जनयुक्त आँसूसे सिक्त दो रेखाओंके समान प्रत्यञ्चाके आघातसे उत्पन्न दो चिह्नों (घट्ठों) को धारण करता है । (सर्वदा धनुष चलानेसे इसकी भुजाओंमें जो प्रत्यञ्चाके आघातसे उत्पन्न कृष्णवर्ण दो घट्ठे हैं, वे वशमें की गयी शत्रुओंकी राजलक्ष्मीके अञ्जनयुक्त श्यामवर्णकी दो रेखाओंके समान मालूम पड़ते हैं) ॥ ५५ ॥

यमात्मनः सद्मनि सन्निकृष्टो मन्द्रध्वनित्याजितयामतूर्यः ।
प्रासादवातायनदृश्यवीचिः प्रबोधयत्यर्णव एव सुप्तम् ॥ ५६ ॥

यमिति । आत्मनः सद्मनि सुप्तं यं हेमाङ्गदं सन्निकृष्टः समीपस्थोऽत एव प्रासादवातायनैर्दृश्यवीचिभिर्मन्द्रेण गम्भीरेण । 'मन्द्रस्तु गम्भीरे' इत्यमरः । ध्वनिना त्याजितं विवर्जितं यामस्य तूर्यं प्रहरावसानसूचकं वाद्यं येन स तथोक्तः । 'द्वौ यामप्रहरौ समौ' इत्यमरः । अर्णव एव प्रबोधयति । अर्णवस्यैव तूर्यकार्यकारित्वात्तूर्यवैयर्थ्यमित्यर्थः । समुद्रस्यापि सेव्यः किमन्येषामिति भावः ॥ ५६ ॥

अपने महलमें सोये हुए जिस 'हेमाङ्गद' राजाको समीपस्थ, महलके झरोखोंसे दिखाई पड़ते हुए तरङ्गोंवाला और गम्भीर शब्दसे प्रहर-सूचक वाद्यको व्यर्थ करनेवाला समुद्र ही जगाता है ॥ ५६ ॥

अनेन सार्द्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु ।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः ॥ ५७ ॥

अनेनेति । अनेन राज्ञा सार्धं तालीवनैर्मर्मरेषु मर्मरेति ध्वनत्सु । 'अथ मर्मरः । स्वनिते वस्त्रपर्णानाम्' इत्यमरवचनाद्गुणपरस्यापि मर्मरशब्दस्य गुणिपरत्वं प्रयोगादवसेयम् । अम्बुराशेः समुद्रस्य तीरेषु द्वीपान्तरेभ्य आनीतानि लवङ्गपुष्पाणि देवकुसुमानि यैस्तैः । 'लवङ्गं देवकुसुमम्' इत्यमरः । मरुद्भिर्वातैरपाकृताः प्रशमिताः स्वेदस्य लवा बिन्दवो यस्याः सा तथा भूता सती त्वं विहर क्रीड ॥ ५७ ॥

तालीवनोंसे 'मर्मर' ध्वनि करनेवाले, समुद्रके तटोंपर अन्य द्वीपोंसे लवङ्गपुष्पोंको लानेवाली हवासे पसीनेको सुखानेवाली तुम इस राजाके साथ विहार करो ॥ ५७ ॥

प्रलोभिताप्याकृतिलोभनीया विदर्भराजावरजा तथैवम् ।
तस्मादपावर्तत दूरकृष्टा नीत्येव लक्ष्मीः प्रतिकूलदैवात् ॥ ५८ ॥

प्रलोभितापीति । आकृत्या रूपेण लोभनीयाऽऽकर्षणीया, न तु वर्णमात्रेणेत्यर्थः । विदर्भराजावरजा भोजानुजेन्दुमती तया सुनन्दयैवं प्रलोभितापि प्रचोदितापि । नीत्या पुरुषकारेण दूरकृष्टा दूरमानीता लक्ष्मीः प्रतिकूलं दैवं यस्य तस्मात्पुंस इव । तस्माद्धेमाङ्गदादपावर्तत प्रतिनिवृत्ता ॥ ५८ ॥

रूपसे लोभनीय वह भोजकी छोटीबहन इन्दुमती उस सुनन्दाके बहुत लुभानेपर भी नीति अर्थात् पुरुषार्थके द्वारा दूर खींची गई लक्ष्मीके समान प्रतिकूलभाग्यवाले उस राजासे दूर हट गई ॥ ५८ ॥

अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथं दौवारिकी देवसरूपमेत्य ।
इतश्चकोराक्षि विलोकयेति पूर्वानुशिष्टां निजगाद भोज्याम् ॥ ५९ ॥

अथेति । अथ द्वारे नियुक्ता दौवारिकी सुनन्दा । 'तत्र नियुक्तः' इति ठक्प्रत्ययः । 'द्वारादीनां च' इत्यौ आगमः । अकारेण देवसरूपं देवतुल्यम् । उरगाख्यस्य पुरस्य पाण्ड्यदेशे कान्यकुब्जतीरवर्तिनागपुरस्य नाथमेत्य प्राप्य । हे चकोराक्षि ! इतो विलोकयेति पूर्वानुशिष्टां पूर्वमुक्तां भोजस्य राज्ञो गोत्रापत्यं स्त्रियं भोज्यामिन्दुमतीम् । 'क्रौड्यादिभ्यश्च' इत्यत्र भोजात्क्षत्रियादित्युपसंख्यानात्ष्यङ्प्रत्ययः । 'यङश्चाप्' इति चाप् । निजगाद । इतो विलोकयेति पूर्वमुक्त्वा पश्चाद्वक्तव्यं निजगादेत्यर्थः ॥ ५९ ॥

इसके बाद द्वारपालिका सुनन्दा देवतुल्य कान्तिवाले 'उरग' (पाण्ड्यदेशमें कान्यकुब्जके तटवर्ती नागपुर) के राजाको प्राप्तकर पूर्वोक्त भोजवंशोत्पन्न इन्दुमतीसे 'हे चकोरनेत्रे ! इधर देखो' इसप्रकार बोली—॥ ५९ ॥

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥ ६० ॥

पाण्ड्य इति । अंसयोरर्पिताः लम्बन्त इति लम्बाः हारा यस्य सः । हरिचन्दनेन गोशीर्षाख्येन चन्दनेन । 'तैलपर्णिकगोशीर्षे हरिचन्दनमस्त्रियाम्' इत्यमरः । क्लृप्ताङ्गरागः सिद्धानुलेपनोऽयं पाण्डूनां जनपदानां राजा पाण्ड्यः । 'पाण्डोर्जनपदशब्दात्क्षत्रियाड्ड्यण्वक्तव्यः' इति ड्यण्प्रत्ययः । 'यस्य राजन्यपत्यवत्' इति वचनात् । बालातपेन रक्ता अरुणाः सानवो यस्य स सनिर्झरोद्गारः प्रवाहस्यन्दनसहितः । 'वारिप्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः । अद्रिराज इवाभाति ॥ ६० ॥

कन्धोंसे लटकते हुए हारको पहना हुआ तथा हरिचन्दनका अङ्गराग (अङ्गोंमें लेप) लगाया हुआ यह पाण्ड्य देशका राजा प्रातःकालके धूपसे रक्तवर्णयुक्त शिखरवाले झरनोंसे जल बहाते हुए हिमालयके समान शोभमान हो रहा है ॥ ६० ॥

विन्ध्यस्य संस्तम्भयिता महाद्रेर्निःशेषपीतोज्झितसिन्धुराजः ।
प्रीत्याश्वमेधावभृथार्द्रमूर्तेः सौस्नातिको यस्य भवत्यगस्त्यः ॥ ६१ ॥

विन्ध्यस्येति । विन्ध्यस्य नाम्नो महाद्रेः । तपनमार्गनिरोधाय वर्धमानस्येति शेषः । संस्तम्भयिता निवारयिता निःशेषं पीत उज्झितः पुनस्त्यक्तः सिन्धुराजः समुद्रो येन सोऽगस्त्योऽश्वमेधस्यावभृथे दीक्षान्ते कर्मणि । 'दीक्षान्तोऽवभृथो यज्ञे' इत्यमरः । आर्द्रमूर्तेः स्नातस्येत्यर्थः । यस्य पाण्ड्यस्य प्रीत्या स्नेहेन, न तु दाक्षिण्येन । सुस्नातं पृच्छतीति सौस्नातिको भवति । 'पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः' इत्युपसंख्यानाट्ठक् ॥ ६१ ॥

विन्ध्य महापर्वतको स्तब्ध करनेवाले तथा सम्पूर्ण समुद्रको पी जानेवाले अगस्त्य ऋषि

अवभृथ (यज्ञान्तमें कर्तव्य स्नान-विशेष) से भींगे हुए शरीरवाले अर्थात् स्नान किये हुए जिस राजाके प्रसन्नतासे सुखपूर्वक स्नान करनेका कुशल पूछते हैं ॥ ६१ ॥

पौराणिक कथा—१. पूर्वकालमें सूर्यके साथ स्पर्धाकर उनके मार्गको रोकनेके लिए बड़े वेगसे बढ़ते हुए विन्ध्यपर्वतको देखकर देवताओंके सहित इन्द्रने अगस्त्य मुनिसे उसे मना करनेके लिये प्रार्थना की, तब उनकी प्रार्थना सुनकर अगस्त्यजी दक्षिण दिशाको जाने लगे तब शिष्य विन्ध्यपर्वतके गुरु अगस्त्यजीको दण्डवत् भूमिमें लेटकर प्रणाम करनेपर ऋषिने कहा कि 'जब तक मैं वापस नहीं लौटता तब तक तुम यों ही पड़े रहना, उठना नहीं' तदनुसार विन्ध्यपर्वत आजतक अगस्त्य ऋषिके दक्षिण दिशासे नहीं लौटनेसे वैसे ही भूमिपर दण्डवत् पड़ा हुआ है ।

२. एक समय ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवाले वातापि तथा इल्वल नामक दो असुर हुए । उनमें इल्वल ब्राह्मणका रूप धारणकर संस्कृतमें बोलता हुआ श्राद्धके नामसे ब्राह्मणोंको भोजनके लिये निमन्त्रण देता था और भेड़ेका रूप धारण किये हुए वातापिको मारकर उसके मांसको विधिपूर्वक श्राद्धमें उन ब्राह्मणोंको भोजन कराता था । उनके भोजन कर लेनेपर उच्च स्वरसे 'हे वातापि ! बाहर निकलो' पुकारता था, भाईका पुकारना सुनकर उन ब्राह्मणोंके पेटको फाड़कर वातापि बाहर आ जाता था और वे ब्राह्मण मर जाते थे । इस प्रकार वे राक्षस हजारों ब्राह्मणोंका बधकर उनके मांसका भक्षण करते थे । यह देख देवताओंकी प्रार्थना करनेपर महर्षि अगस्त्यजी वहां गये और इल्वलने उसी प्रकार उन्हें निमन्त्रितकर भेषरूपधारी वातापिके मांसको, विधिवत् श्राद्धकर भोजन करानेके उपरान्त 'हे वातापि ! बाहर निकलो' इस प्रकार उच्च स्वरसे पुकारने लगा । यह देख महर्षि अगस्त्यजीने हंसते हुए कहा—'भेड़का रूप धारण करनेवाला तुम्हारा भाई मेरे पेटमें पच गया है, अब बाहर निकलनेकी शक्ति उसमें नहीं है ।' यह सुनकर क्रुद्ध वह इल्वल मुनिको मारनेके लिये दौड़ा तो मुनिने क्षणमात्रमें क्रोधाग्निसे उसको भी भस्म कर दिया । (वाल्मीकि रामा० आरण्यकाण्ड ११।५६-६७) । उक्त आतापि-वातापिको मारनेके लिये अगस्त्यजी द्वारा समुद्रपानकी कथा भी कहीं २ मिलती है ।

अस्त्रं हरादाप्तवता दुरापं येनेन्द्रलोकावजयाय दृप्तः ।
पुरा जनस्थानविमर्दशङ्की सन्धाय लङ्काधिपतिः प्रतस्थे ॥ ६२ ॥

अस्त्रमिति । पुरा पूर्वं जनस्थानस्य खरालयस्य विमर्दशङ्की दृप्त उद्धतो लङ्काधिपती रावणो दुरापं दुर्लभमस्त्रं ब्रह्मशिरोनामकं हरादाप्तवता येन पाण्ड्येन सन्धाय । इन्द्रलोकावजयायेन्द्रलोकं जेतुं प्रतस्थे । इन्द्रविजयिनो रावणस्यापि विजेतेत्यर्थः ॥६२॥

पहले जनस्थानके नाशकी आशङ्का करनेवाले उद्धत लङ्केश्वर रावणने, दुर्लभ (ब्रह्मशिर नामक) अस्त्रको शिवजीसे पाये हुये जिस पाण्ड्यनरेशके साथ सन्धि करके इन्द्रलोक (स्वर्ग) की विजयके लिये यात्रा की ॥ ६२ ॥

अनेन पाणौ विधिवद्गृहीते महाकुलीनेन महीव गुर्वी ।
रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः ॥ ६३ ॥

अनेनेति । महाकुलीनेन महाकुले जातेन । 'महाकुलादञ्खञौ' इति खञ्प्रत्ययः । अनेन पाण्ड्येन पाणौ त्वदीये विधिवद्यथाशास्त्रं गृहीते सति गुर्वी गुरुः । 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीष् । महीव रत्नैरनुविद्धो व्याप्तोऽर्णव एव मेखला यस्यास्तस्याः । इदं विशेषणं मह्यामिन्दुमत्यां च योज्यम् । दक्षिणस्या दिशः सपत्नी भव । अनेन सपत्न्यन्तराभावो ध्वन्यते ॥ ६३ ॥

श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न इस पाण्ड्य राजाके साथ विवाह करनेपर तुम पृथ्वीके समान रत्नयुक्त समुद्ररूप मेखला (करधनी) वाली दक्षिण दिशाकी सपत्नी (सौत) बनो ॥ ६३ ॥

ताम्बूलवल्लीपरिणद्धपूगास्वेलालतालिङ्गितचन्दनासु ।
तमालपत्रास्तरणासु रन्तुं प्रसीद शश्वन्मलयस्थलीषु ॥ ६४ ॥

ताम्बूलेति । ताम्बूलवल्लीभिर्नागवल्लीभिः परिणद्धाः परिरब्धाः पूगाः क्रमुका यासु तासु । 'ताम्बूलवल्ली ताम्बूली नागवल्ल्यपि' इति, 'घोण्टा तु पूगः क्रमुकः' इति चामरः । एलालताभिरालिङ्गिताश्चन्दना मलयजा यासु तासु । 'गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । तमालस्य तापिच्छस्य पत्राण्येवास्तरणानि यासु तासु । 'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि' इत्यमरः । मलयस्थलीषु शश्वन्मुहुः सदा वा रन्तुं प्रसीदानुकूला भव ॥ ६४ ॥

जलीय लताओंसे वेष्टित सुपारीके वृक्षोंवाली, छोटी इलायचीकी लताओंसे वेष्टित चन्दन वृक्षोंवाली और तमालपत्रोंकी ऊपरी चादरवाली (तमालके पत्तोंसे ढकी हुई) मलयाचलकी भूमिमें निरन्तर रमण करनेके लिये प्रसन्न होओ ॥ ६४ ॥

इन्दीवरश्यामतनुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः ।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥ ६५ ॥

इन्दीवरेति । असौ नृप इन्दीवरश्यामतनुः । त्वं रोचना गोरोचनेव गौरी शरीरयष्टिर्यस्याः सा ततस्तडित्तोयदयोर्विद्युन्मेघयोरिव वां युवयोर्योगः समागमोऽन्योन्यशोभायाः परिवृद्धयेऽस्तु ॥ ६५ ॥

यह राजा नीलकमलके समान श्यामवर्ण देहवाला है तथा तुम गोरोचनके समान गौर शरीरयष्टिवाली हो, (अत एव) तुम दोनोंका सम्बन्ध बिजली तथा मेघके समान परस्परकी शोभा बढ़ानेवाला होए' ॥ ६५ ॥

स्वसुर्विदर्भाधिपतेस्तदीयो लेभेऽन्तरं चेतसि नोपदेशः ।
दिवाकरादर्शनबद्धकोशे नक्षत्रनाथांशुरिवारविन्दे ॥ ६६ ॥

स्वसुरिति । विदर्भाधिपतेर्भोजस्य स्वसुरिन्दुमत्याश्चेतसि तदीयः सुनन्दासम्बन्ध्युपदेशो वाक्यम् । दिवाकरस्यादर्शनेन बद्धकोशे मुकुलितेऽरविन्दे नक्षत्रनाथांशुश्चन्द्रकिरण इव । अन्तरमवकाशं न लेभे ॥ ६६ ॥

सूर्यके नहीं देखनेसे बन्द कोशवाले (मुकुलित) कमलमें चन्द्रमाके समान, विदर्भनरेशकी बहन इन्दुमतीके हृदयमें उसके (सुनन्दाके) उपदेशने स्थान नहीं पाया ॥ ६६ ॥

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः ॥ ६७ ॥

सञ्चारिणीति । पतिंवरा सेन्दुमती रात्रौ सञ्चारिणी दीपशिखेव यं यं भूमिपालं व्यतीयायातीत्य गता स स भूमिपालः, स सर्व इत्यर्थः । 'नित्यवीप्सयोः' इति वीप्सायां द्विर्वचनम् । नरेन्द्रमार्गे राजपथेऽट्टाख्यो गृहभेद इव । 'स्यादट्टः क्षौममस्त्रियाम्' इत्यमरः । विवर्णभावं विच्छायत्वम् । अट्टस्तु तमोवृतत्वम् । प्रपेदे ॥ ६७ ॥

पतिको स्वय वरण करनेवाली वह इन्दुमती रात्रिमें चलती हुई दीपकके लौके समान जिस २ राजाको छोड़कर आगे बढ़ गयी, वह २ राजा सड़ककी अट्टलिकाके समान उदासीन भाव (पक्षमें-अँधेरा) को प्राप्त किया अर्थात इन्दुमतीके छोड़कर आगे बढ़ जानेसे वे राजा उदासीन हो गये ॥ ६७ ॥

तस्यां रघोः सूनुरुपस्थितायां वृणीत मां नेति समाकुलोऽभूत् ।
वामेतरः संशयमस्य बाहुः केयूरबन्धोच्छ्वसितैर्नुनोद ॥ ६८ ॥

तस्यामिति । तस्यामिन्दुमत्यामुपस्थितायामासन्नायां सत्यां रघोः सूनुरजो मां वृणीत न वेति समाकुलः संशयितोऽभूत् । अथास्याजस्य वामेतरो वामादितरो दक्षिणो बाहुः । केयूरं बध्यतेऽत्रेति केयूरबन्धोऽङ्गदस्थानं तस्योच्छ्वसितैः स्फुरणैः संशयं नुनोद ॥ ६८ ॥

उस (इन्दुमती) के पास पहुंचनेपर रघुपुत्र अज 'यह 'इन्दुमती' मुझे वरण करेगी या नही ?' इसप्रकार सन्देह करने लगे, (फिर) इनकी दहनी भुजाने बिजायठ बाँधनेके स्थानके स्फुरित होने (फड़कने) से इनके सन्देहको दूर कर दिया। (सामुद्रिक शास्त्रानुसार दहनी भुजाके स्फुरणसे स्त्रीलाभ होता है, अतः दहनी भुजाके स्फुरित होनेसे अजको इन्दुमतीके लाभमें सन्देह नहीं रहा) ॥ ६८ ॥

तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यावर्ततान्योपगमात्कुमारी ।
न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदालिः ॥ ६९ ॥

तमिति । कुमारी सर्वेष्ववयवेष्वनवद्यमदोषं तमजं प्राप्य अन्योपगमाद्राजान्तरोपगमाद्व्यावर्तत निवृत्ता । तथा हि । षट्पदालिः भृङ्गावलिः । प्रफुल्लतीति प्रफुल्लं

विकसितम्, पुष्पितमित्यर्थः। प्रपूर्वात्फुल्लतेः पचाद्यच्। फलतेस्तु प्रफुल्तमिति पठितव्यम्। अनुपसर्गात् फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः' इति निषेधात्। इत्युभयथापि न कदाचिदनुपपत्तिरित्युक्तं प्राक्। सहकारं चूतविशेषमेत्य। 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभः' इत्यमरः। वृक्षान्तरं न काङ्क्षति। न हि सर्वोत्कृष्टवस्तुलाभेऽपि वस्त्वन्तरस्याभिलाषः स्यादित्यर्थः ॥ ६९ ॥

कुमारी इन्दुमती सम्पूर्ण अङ्गोंमें अनिन्दनीय उस अजको पाकर अन्यत्र जानेसे रुक गयी अर्थात् दूसरे राजाके पास जानेका विचार छोड़ दिया, क्योंकि भ्रमरोंकी पङ्क्ति खिले (मौंजरों-बौरोंसे लदे) हुए आमको छोड़कर दूसरे वृक्षको चाहना नहीं करती है ॥ ६९ ॥

तस्मिन् समावेशितचित्तवृत्तिमिन्दुप्रभामिन्दुमतीमवेक्ष्य ।
प्रचक्रमे वक्तुमनुक्रमज्ञा सविस्तरं वाक्यमिदं सुनन्दा ॥ ७० ॥

तस्मिन्निति। तस्मिन्नजे समावेशिता सङ्क्रामिता चित्तवृत्तिर्यया ताम्। इन्दोः प्रभेव प्रभा यस्यास्ताम्। आह्लादकत्वादिन्दुसाम्यम्। इन्दुमतीमवेक्ष्यानुक्रमज्ञा वाक्यपौर्वापर्याभिज्ञा सुनन्देदं वक्ष्यमाणं सविस्तारं सप्रपञ्चम्। 'प्रथने वावशब्दे' इति घञो निषेधात्। 'ऋदोरप्' इत्यप्प्रत्ययः। 'विस्तारो विग्रहो व्यासः स च शब्दस्य विस्तरः' इत्यमरः। वाक्यं वक्तुं प्रचक्रमे ॥ ७० ॥

पूर्वापर क्रम अर्थात् अवसरको जाननेवाली सुनन्दा उस अजमें मनको लगायी हुई, चन्द्रतुल्य कान्तिवाली इन्दुमतीको देखकर विस्तारपूर्वक यह (श्लोक० ७१-७९) वचन कहने लगी ॥ ७० ॥

इक्ष्वाकुवंश्यः ककुदं नृपाणां ककुत्स्थ इत्याहितलक्षणोऽभूत् ।
काकुत्स्थशब्दं यत उन्नतेच्छाः श्लाघ्यं दधत्युत्तरकोसलेन्द्राः ॥ ७१ ॥

इक्ष्वाकुवंश्य इति। इक्ष्वाकोर्मनुपुत्रस्य वंश्यो वंशे भवः। नृपाणां ककुदं श्रेष्ठः। 'ककुच्च ककुदं श्रेष्ठे वृषांसे राजलक्ष्मणि' इति विश्वः। आहितलक्षणः प्रख्यातगुणः। 'गुणैः प्रतीते तु कृतलक्षणाहतलक्षणौ' इत्यमरः। ककुदि वृषांसे तिष्ठतीति ककुत्स्थ इति प्रसिद्धः कश्चिद्राजाऽभूत्। यतः ककुत्स्थादारभ्योन्नतेच्छा महाशयाः। 'महेच्छस्तु महाशयः' इत्यमरः। उत्तरकोसलेन्द्रा राजानो दिलीपादयः श्लाघ्यं प्रशस्तम्। ककुत्स्थस्यापत्यं पुमान्काकुत्स्थ इति शब्दं संज्ञां दधति बिभ्रति। तन्नामसंस्पर्शोऽपि वंशस्य कीर्तिकर इति भावः। पुरा किल पुरञ्जयो नाम साक्षाद्भगवतो 'विष्णोरंशावतारः कश्चिदैक्ष्वाको राजा देवैः सह समयबन्धेन देवासुरयुद्धे महोक्षरूपधारिणो महेन्द्रस्य ककुदि स्थित्वा पिनाकिलीलया निखिलमसुरकुलं निहत्य ककुत्स्थसंज्ञां लेभे इति पौराणिकी कथानुसन्धेया। वक्ष्यते चायमेवार्थ उत्तरश्लोके ॥ ७१ ॥

इक्ष्वाकु (ऊखको भेदनकर उत्पन्न होनेसे मनुपुत्रका नाम 'इक्ष्वाकु' पड़ा) के वंशमें

उत्पन्न, राजाओंमें श्रेष्ठ प्रख्यात गुणोंवाले 'ककुत्स्थ' राजा हुए, जिससे आरम्भकर उच्च आशय-वाले उत्तर कोसलके स्वामी (दिलीप आदि) श्रेष्ठ, 'काकुत्स्थ' शब्दको धारण करते हैं। (तबसे ही उत्तर कोसलके राजा 'काकुत्स्थ' कहलाते हैं) ॥ ७१ ॥

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः ।
चकार बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥ ७२ ॥

महेन्द्रमिति । यः ककुत्स्थः संयति युद्धे महानुक्षा महोक्षः । 'अचतुर—' इत्यादिना निपातः । तस्य रूपमिव रूपं यस्य तं महेन्द्रमास्थायारुह्य । अत एव प्राप्ता पिनाकिन ईश्वरस्य लीला येन स तथोक्तः सन् बाणैरसुराङ्गनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखा निवृत्तपत्ररचनाश्चकार । तद्भर्तॄनसुरानवधीदित्यर्थः । न हि विधवाः प्रसाध्यन्त इति भावः ॥ ७२ ॥

जिस 'ककुत्स्थ' राजाने युद्धमें वृषभरूपधारी इन्द्रपर सवार होकर शङ्करजीकी लीलाको प्राप्तकर बाणोंसे असुरपत्नियोंके कपोलमण्डलको पत्ररचनासे शून्य कर दिया अर्थात् असुरोंको मार डाला ॥ ७२ ॥

पौराणिक कथा—पहले साक्षात् विष्णु भगवान्‌के अवतार इक्ष्वाकुवंशोत्पन्न 'पुरञ्जय' राजा हुए। असुरोंसे देवताओंके पीडित होनेपर इन्द्रने सहायताके लिये उनसे प्रार्थन की। तब 'यदि बैलका रूप आप धारण करें तो मैं वृषभरूपधारी आपको वाहन बनाकर असुरोंका संहार करूंगा' ऐसा इन्द्रसे पुरञ्जयके कहनेपर इन्द्रने वृषभका रूप धारण किया और पुरञ्जयने उनपर सवार होकर युद्धमें असुरोंका संहार किया। अत एव उनकानाम ककुत्स्थ (ककुद बैलकी डील अर्थात् गर्दनपर स्थित उच्च माण्डपिण्डविशेषपर बैठनेवाला) पड़ा और उनके वंशज 'काकुत्स्थ' कहलाये।

ऐरावतास्फालनविश्लथं यः सङ्घट्टयन्नङ्गदमङ्गदेन ।
उपेयुषः स्वामपि मूर्तिमग्र्यामर्धासनं गोत्रभिदोऽधितष्ठौ ॥ ७३ ॥

ऐरावतेति। यःककुत्स्थ ऐरावतस्य स्वर्गजस्यास्फालनेन ताडनेन विश्लथं शिथिलमङ्गदमैन्द्रमङ्गदेन स्वकीयेन संघट्टयन्संघर्षयन्स्वामग्र्यां श्रेष्ठां मूर्तिमुपेयुषोऽपि प्राप्तस्यापि गोत्रभिद इन्द्रस्यार्धमासनस्यार्धासनम् । 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासः। अधितष्ठावधिष्ठितवान् । 'स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य' इत्यभ्यासेन व्यवायेऽपि षत्वम् । न केवलं महोक्षरूपधारिण एव तस्य ककुदमारुक्षत् । किन्तु निजरूपधारिणोऽपीन्द्रस्यार्धासनमित्यपिशब्दार्थः । अथवा अर्धासनमपीत्यपेरन्वयः ॥ ७३ ॥

जो 'ककुत्स्थ' राजा, ऐरावतके हांकनेसे ढीले पड़े हुए (इन्द्रकी) बिजायठको अपनी बिजायठसे रगड़ता हुआ, अपने ही उत्तम मूर्त्तिको प्राप्त किये हुए इन्द्रके आधे आसन पर बैठे॥ ७३ ॥

जातः कुले तस्य किलोरुकीर्तिः कुलप्रदीपो नृपतिर्दिलीपः।
अतिष्ठदेकोनशतक्रतुत्वे शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये यः॥ ७४॥

जात इति। उरुकीर्तिर्महायशाः कुलप्रदीपो वंशप्रदीपको दिलीपो नृपतिस्तस्य ककुत्स्थस्य कुले जातः किल। यो दिलीपः शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये न स्वशक्त्येति भावः। एकेनोनाः शतं क्रतवो यस्य स एकोनशतक्रतुः। तस्य भावे तत्वेऽतिष्ठत्। इन्द्रप्रीतये शततमं क्रतुमवशेषितवानित्यर्थः॥ ७४॥

उस 'ककुत्स्थ' राजाके वंशमें महायशस्वी, कुलदीपक (वंशको दीपकके समान प्रकाशित करनेवाले) 'दिलीप' राजा उत्पन्न हुए, जो इन्द्रकी असूया (गुणमें भी दोष बताना) को दूर करनेके लिये निन्यानबे (अश्वमेध) यज्ञ करके ठहर गये (केवल इन्द्रको ही सौ अश्वमेध यज्ञ करनेका अधिकार होनेसे ९९ यज्ञोंको करके रुक गये (देखें सर्ग ३ श्लो० ३८)॥७४॥

यस्मिन्महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्॥ ७५॥

यस्मिन्निति। यस्मिन्दिलीपे महीं शासति सति। विहरन्त्यत्रेति विहारः क्रीडास्थानम्। तस्यार्धपथे निद्रां गतानां वाणिनीनां मत्ताङ्गनानाम्। 'वाणिनो नर्तकीमत्ताविदग्धवनितासु च' इति विश्वः। 'वाणिन्यौ नर्तकीदूत्यौ' इत्यमरश्च। अंशुकानि वस्त्राणि वातोऽपि नास्रंसयन्नाकम्पयत्। आहरणायापहर्तुं को हस्तं लम्बयेत्। तस्याज्ञासिद्धत्वादकुतोभयसञ्चाराः प्रजा इत्यर्थः। अर्धश्चासौ पन्थाश्चेति विग्रहः। समप्रविभागे प्रमाणाभावान्नैकदेशिसमासः॥ ७५॥

जिस 'दिलीप' राजाके शासन करते रहनेपर क्रीडास्थानके आधे मार्गमें सोई हुई मतवाली स्त्रियोंके वस्त्रोंको वायु भी नहीं हटाया (तो फिर दूसरा) कौन पुरुष उन्हें हटानेके लिये हाथ बढ़ावे॥ ७५॥

पुत्रो रघुस्तस्य पदं प्रशास्ति महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता।
चतुर्दिगावर्जितसम्भृतां यो मृत्पात्रशेषामकरोद्विभूतिम्॥ ७६॥

पुत्र इति। विश्वजितो नाम महाक्रतोः प्रयोक्ताऽनुष्ठाता तस्य दिलीपस्य पुत्रो रघुः पदं पैत्र्यमेव प्रशास्ति पालयति। यो रघुश्चतसृभ्यो दिग्भ्य आवर्जिताऽऽहृता सम्भृता सम्यग्वर्धिता च या चतुर्दिगावर्जितसम्भृता तां विभूतिं सम्पदं मृत्पात्रमेव शेषो यस्यास्तामकरोत्। विश्वजिद्यागस्य सर्वस्वदक्षिणाकत्वादित्यर्थः॥ ७६॥

'विश्वजित्' यज्ञको करनेवाला, उस 'दिलीप'का पुत्र रघु उसके पद अर्थात् राज्यका शासन करते हैं, जिसने चारों दिशाओंसे लाकर सञ्चित की हुई सम्पत्तिको (दानकर) मृण्मयपात्रमात्र अवशिष्ट कर दिया (समस्त सम्पत्तिको इस प्रकार दान कर दिया कि उनके यहां केवल मिट्टीके बर्तन रह गये। देखें सर्ग ४ श्लो० ८६)॥ ७६॥

आरूढमद्रीनुदधीन्वितीर्णं भुजङ्गमानां वसतिं प्रविष्टम् ।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यशः परिच्छेत्तुमियत्तयालम् ॥ ७७ ॥

आरूढमिति । किं च । अद्रीनारूढम् । उदधीन्वितीर्णमवगाढम्, सकलभूगोलव्यापकमित्यर्थः । भुजङ्गमानां वसतिं पातालं प्रविष्टम् । ऊर्ध्वं स्वर्गादिकं गतं व्याप्तम्, इत्थं सर्वदिग्व्यापीत्यर्थः । अनुबध्नातीत्यनुबन्धि चाविच्छेदि । कालत्रयव्यापकं चेत्यर्थः । अत एवैवंभूतं यस्य यश इयत्तया देशतः कालतो वा केनचिज्ज्ञानेन परिच्छेत्तुं परिमातुं नालं न शक्यम् ॥ ७७ ॥

पर्वतोंपर चढ़ा हुआ, समुद्रोंके पार गया हुआ, नागलोक (पाताल) में घुसा हुआ, ऊपर फैला हुआ और निरन्तर (त्रिकालमें) अविच्छिन्न जिसका यश 'यहां तक गया है या इतना है' ऐसा प्रमाण करनेमें अशक्य है अर्थात् दिलीपके यशकी सीमा तथा प्रमाण नहीं हो सकता ॥ ७७ ॥

असौ कुमारस्तमजोऽनुजातस्त्रिविष्टपस्येव पतिं जयन्तः ।
गुर्वीं धुरं यो भुवनस्य पित्रा धुर्येण दम्यः सदृशं बिभर्ति ॥ ७८ ॥

असाविति । असावजाख्यः कुमारः । त्रिविष्टपस्य पतिमिन्द्रं जयन्त इव । 'जयन्तः पाकशासनिः' इत्यमरः । तं रघुमनुजातः, तस्माज्जात इत्यर्थः । तज्जातोऽपि तदनुजातो भवति जन्यजनकयोरानन्तर्यात् । 'गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च' इति क्तः । सोपसृष्टत्वात्सकर्मकत्वम् । आह चात्रैव सूत्रे वृत्तिकारः— 'श्लिषादयः सोपसृष्टाः सकर्मका भवन्ति' इति । दम्यः शिक्षणीयावस्थः योऽजो गुर्वीं भुवनस्य धुरं धुर्येण धुरन्धरेण चिरनिरूढेन पित्रा सदृशं तुल्यं यथा तथा बिभर्ति । यथा कश्चिद्वत्सतरोऽपि धुर्येण महोक्षेण समं वहतीत्युपमालङ्कारो ध्वन्यते । 'दम्यवत्सतरौ समौ' इत्यमरः ॥ ७८ ॥

यह कुमार 'अज' स्वर्गपति इन्द्रसे जयन्तके समान उस रघुसे उत्पन्न हुआ है, शिक्षणीय (अवस्थावाला) जो अज संसारके (बड़े भारी प्रजापालनरूप) भारको भारवाहक पिताके समान धारण करता है ॥ ७८ ॥

कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः ।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ॥ ७९ ॥

कुलेनेति । कुलेन कान्त्या लावण्येन नवेन वयसा यौवनेन विनयः प्रधानं येषां तैस्तैर्गुणैः श्रुतशीलादिभिश्चात्मनस्तुल्यं स्वानुरूपममुमजं त्वं वृणीष्व । किं बहुना । रत्नं काञ्चनेन समागच्छतु सङ्गच्छताम् । प्रार्थनायां लोट् । रत्नकाञ्चनयोरिवात्यन्तानुरूपत्वाद्युवयोः समागमः प्रार्थ्यत इत्यर्थः ॥ ७९ ॥

कुलसे, सौन्दर्यसे, नई अवस्था (युवावस्था) से और विनयादि प्रधान उन २ (शास्त्र-ज्ञान, शील, दया, दाक्षिण्य, आदि) गुणोंसे अपने समान इस कुमार अजको तुम वरण करो, (इस प्रकार) रत्न सुवर्णके साथ संयुक्त हो (तुम दोनोंका सम्बन्ध सुवर्णमें जड़े रत्नके समान उचित एवं सर्वप्रिय होगा) ॥ ७९ ॥

ततः सुनन्दावचनावसाने लज्जां तनूकृत्य नरेन्द्रकन्या ।
दृष्ट्या प्रसादामलया कुमारं प्रत्यग्रहीत्संवरणस्रजेव ॥ ८० ॥

तत इति । ततः सुनन्दावचनस्यावसानेऽन्ते नरेन्द्रकन्येन्दुमती लज्जां तनूकृत्य सङ्कोच्य प्रसादेन मनःप्रसादेनामलया प्रसन्नया दृष्ट्या संवरणस्य स्रजा स्वयंवरणार्थं स्रजेव कुमारमजं प्रत्यग्रहीत्स्वीचकार । सम्यक्सानुरागमपश्यदित्यर्थः ॥ ८० ॥

तब सुनन्दाके वचनके अन्तमें राजकुमारी इन्दुमतीने लज्जाको कम करके संवरणकी मालाके समान प्रसन्नतायुक्त निर्मल दृष्टिसे कुमार 'अज' को स्वीकार किया । (अनुरागयुक्त होकर इन्दुमतीने अजको अच्छी तरह देखा) ॥ ८० ॥

सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुम् ।
रोमाञ्चलक्ष्येण स गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामदरालकेश्याः ॥ ८१ ॥

सेति । सा कुमारी यूनि तस्मिन्नजेऽभिलाषबन्धमनुरागग्रन्थिं शालीनतयाऽधृष्टतया । 'स्यादधृष्टस्तु शालीनः' इत्यमरः । 'शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः' इति निपातः । वक्तुं न शशाक । तथाप्यरालकेश्याः सोऽभिलाषबन्धो रोमाञ्चलक्ष्येण पुलकव्याजेन । 'व्याजोऽपदेशो लक्ष्यं च' इत्यमरः । गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामत् सात्त्विकाविर्भावलिङ्गेन प्रकाशित इत्यर्थः ॥ ८१ ॥

वह इन्दुमती युवक उस अजविषयक अनुरागको सरलताके कारण कह नहीं सकी (तथापि) वह अनुराग कुटिल केशों (अंगुठिया बालों) वाली उस इन्दुमतीके शरीरको भेदनकर रोमाञ्चके बहाने बाहर निकल आया । (इन्दुमतीके रोमाञ्चसे उसके विना कहे ही 'अज'में उसका अनुराग स्पष्ट मालूम पड़ने लगा) ॥ ८१ ॥

तथागतायां परिहासपूर्वं सख्यां सखी वेत्रभृदाबभाषे ।
आर्ये ! व्रजामोऽन्यत इत्यथैनां वधूरसूयाकुटिलं ददर्श ॥ ८२ ॥

तथेति । सख्यामिन्दुमत्यां तथागतायां तथाभूतायां, दृष्टानुरागायां सत्यामित्यर्थः । सखी सहचरी । 'सख्यशिश्वीति भाषायाम्' इति निपातनान्ङीष् । वेत्रभृत् सुनन्दा । हे आर्ये पूज्ये ! अन्यतोऽन्यं प्रति व्रजाम इति परिहासपूर्वमाबभाषे । अथ वधूरिन्दुमत्येनां सुनन्दामसूयया रोषेण कुटिलं ददर्श, अन्यागमनस्यासह्यत्वादित्यर्थः ॥ ८२ ॥

अजमें उस इन्दुमतीके वैसा अनुराग करनेपर द्वारपालिका सखी सुनन्दाने परिहास-पूर्वक कहा कि—'हे आर्ये ! दूसरी जगह चलें' इसके बाद वधू इन्दुमतीने उसे असूयापूर्वक वक्र दृष्टि (टेढ़ी नज़र) से देखा ॥ ८२ ॥

सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरूः ।
आसञ्जयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम् ॥ ८३ ॥

सेति । करभः करप्रदेशविशेषः । 'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' इत्यमरः । करभ उपमा ययोस्तावूरू यस्याः सा करभोपमोरूः । 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' इत्यूङ्प्रत्ययः । । सा कुमारी चूर्णेन मङ्गलचूर्णेन गौरं लोहितं गुणं स्रजम् । मूर्तं मूर्तिमन्तमनुरागमिव । धात्र्या उपमातुः सुनन्दायाः कराभ्यां रघुनन्दनस्याजस्य कण्ठे यथाप्रदेशं यथास्थानमासञ्जयामासासक्तं कारयामास न तु स्वयमाससञ्ज अनौचित्यात् ॥ ८३ ॥

करभ (हाथकी कलाईसे कनिष्ठा अङ्गुलिके मूल तकका स्थान) के समान ऊरुवाली उस इन्दुमतीने मङ्गलचूर्णसे गौरवर्ण मालाको मूर्तिमान् अनुरागके समान, धाई 'सुनन्दा'के हाथोंसे (अजके) कण्ठमें यथास्थान पहनवाया ॥ ८३ ॥

तया स्रजा मङ्गलपुष्पमय्या विशालवक्षःस्थललम्बया सः ।
अमंस्त कण्ठार्पितबाहुपाशां विदर्भराजावरजां वरेण्यः ॥ ८४ ॥

तयेति । वरेण्यो वरणीय उत्कृष्टः । वृञ एण्यः । सोऽजो मङ्गलपुष्पमय्या मधूकादिकुसुममय्या विशालवक्षःस्थले लम्बया लम्बमानया तया प्रकृतया स्रजा विदर्भराजावरजामिन्दुमतीं कण्ठार्पितौ बाहू एव पाशौ यया साममंस्त । मन्यतेर्लुङ् । बाहुपाशकल्पसुखमन्वभूदित्यर्थः ॥ ८४ ॥

श्रेष्ठ उस अजने मङ्गलमय पुष्पोंसे बनी हुई तथा चौड़ी छातीपर लटकती हुई उस माला-से विदर्भनरेशकी छोटी बहन इन्दुमतीको कण्ठमें बाहुपाश अर्पण की हुई (गलेमें बांहको डाली हुई) समझा ॥ ८४ ॥

शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघयुक्तं
जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा ।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौराः
श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः ॥ ८५ ॥

शशिनमिति । तत्र स्वयंवरे समगुणयोस्तुल्यगुणयोरिन्दुमतीरघुनन्दनयोर्योगेन प्रीतिर्येषां ते समगुणयोगप्रीतयः पौराः पुरे भवा जनाः । इयमजसंगतेन्दुमती मेघैर्मुक्तं शशिनं शरच्चन्द्रमुपगता कौमुदी । अनुरूपं सदृशं जलनिधिमवतीर्णा प्रविष्टा जह्नुकन्या

भागीरथी, तत्सदृशीत्यर्थः । इत्येवं नृपाणां श्रवणयोः कटु परुषमेकविसंवादि वाक्यमेकवाक्यं विवव्रुः । मालिनीवृत्तम् ॥ ८५ ॥

उस स्वयंवरमें समान गुणोंके सम्बन्ध होनेसे प्रसन्न नागरिक लोग 'यह इन्दुमती' मेघसे मुक्त (होनेसे निर्मल) चन्द्रमाको प्राप्त चांदनी तथा योग्य समुद्रको प्राप्त गङ्गा (के सदृश) हुई' इस प्रकार राजाओंके सुननेमें कटु वचन एक स्वरसे कहने लगे । (अजको वरण करनेसे प्रसन्न नागरिकोंकी बातें राजाओंको कटु मालूम पड़ती थीं ।) ॥ ८५ ॥

प्रमुदितवरपक्षमेकतस्तत्क्षितिपतिमण्डलमन्यतो वितानम् ।
उषसि सर इव प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनप्रतिपन्ननिद्रमासीत् ॥ ८६ ॥

प्रमुदितेति । एकत एकत्र प्रमुदितो हृष्टो वरस्य जामातुः पक्षो वर्गो यस्य तत्तथोक्तम् । अन्यतोऽन्यत्र वितानं शून्यम्, भग्नाशत्वादप्रहृष्टमित्यर्थः । तत्क्षितिपतिमण्डलम् । उषसि प्रभाते प्रफुल्लपद्मं कुमुदवनेन प्रतिपन्ननिद्रं प्राप्तनिमीलनं सर इव सरस्तुल्यम् । आसीत् । पुष्पिताग्रावृत्तमेतत् ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीवनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये स्वयंवरवर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

एक ओर प्रसन्न वर-पक्षवाला तथा दूसरी ओर उदासीन वह राज-समूह प्रातःकालमें खिले हुए कमलोंवाले तथा मुकुलित (बन्द) कुमुदोंवाले तड़ागके समान था । (अजपक्षवाले व्यक्ति सुप्रसन्न थे तथा उनसे भिन्न राजालोग इन्दुमतीको पानेकी आशाके भग्न होनेसे उदासीन थे ।) ॥ ८६ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'स्वयंवरवर्णन' नामक षष्ठ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः ।

भजेमहि निपीयैकं मुहुरन्यं पयोधरम् ।
मार्गन्तं बालमालोक्याश्वासयन्तौ हि दम्पती ॥

अथोपयन्त्रा सदृशेन युक्तां स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम् ।
स्वसारमादाय विदर्भनाथः पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव ॥ १ ॥

अथेति । अथ विदर्भनाथो भोजः सदृशेनोपयन्त्रा वरेण युक्ताम् । अत एव साक्षात्प्रत्यक्षम् । 'साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः' इत्यमरः । स्कन्देन युक्तां देवसेनामिव । देवसेना नाम देवपुत्री स्कन्दपत्नी, 'पूर्वं हि ब्रह्मणा निर्मिते देवसेनादैत्यसेने इन्द्रकन्येऽभूतां तयोः पूर्वस्याः पतित्वे स्कन्दोऽभिषिक्त' इत्यागमः । तामिव स्थितां स्वसारं भगिनीमिन्दुमतीमादाय गृहीत्वा पुरप्रवेशाभिमुखो बभूव । उपजातिवृत्तं सर्गेऽस्मिन् ॥ १ ॥

पीकर पयोधर एक फिर जो दूसरा ढूंढ़ने लगे ।
उस बालके आश्वस्तकर दम्पतिको हम भजने लगे ॥

इसके बाद विदर्भनरेश भोज, योग्य वर (अज) से युक्त (अत एव) साक्षात् स्कन्दसे युक्त देवसेना (स्कन्द-पत्नी) के समान, बहन (इन्दुमती) को लेकर नगरमें प्रवेश करनेके लिये चले ॥ १ ॥

सेनानिवेशान्पृथिवीक्षितोऽपि जग्मुर्विभातग्रहमन्दभासः ।
भोज्यां प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्रूपेषु वेषेषु च साभ्यसूयाः ॥ २ ॥

सेनेति । भोजस्य राज्ञो गोत्रापत्यं स्त्री भोज्या तामिन्दुमतीं प्रति व्यर्थमनोरथत्वाद्रूपेष्वाकृतिषु वेषेषु नेपथ्येषु च साभ्यसूया वृथेति निन्दन्तः । किञ्च विभाते प्रातःकाले ये ग्रहाश्चन्द्रादयस्त इव मन्दभासः क्षीणकान्तयः पृथिवीक्षितो नृपा अपि सेनानिवेशाञ्शिबिराणि जग्मुः ॥ २ ॥

इन्दुमतिके प्रति असफल मनोरथ होनेसे प्रातःकालकी ताराओंके समान फीके पड़े हुए तथा अपने रूप और वेषसे ईर्ष्या करते हुए राजालोग भी शिविरोंको गये ॥ २ ॥

ननु क्रुद्धाः क्षुभ्यन्तां तत्राह—

साम्निध्ययोगात्किल तत्र शच्याः स्वयंवरक्षोभकृतामभावः ।
काकुत्स्थमुद्दिश्य समत्सरोऽपि शशाम तेन क्षितिपाललोकः ॥ ३ ॥

सान्निध्येति । तत्र स्वयंवरक्षेत्रे शच्या इन्द्राण्याः । सन्निधिरेव सान्निध्यम् । तस्य योगात्सद्भावाद्धेतोः स्वयंवरस्य क्षोभकृतां विघ्नकारिणामभावः किल । किलेति

स्वयंवरविघातकाः शच्या विनाश्यन्त इत्यागमसूचनार्थम् । तेन हेतुना काकुत्स्थमजमुद्दिश्य समत्सरोऽपि सवैरोऽपि क्षितिपाललोकः शशाम नाक्षुभ्यत् ॥ ३ ॥

वहां (स्वयंवरस्थलमें) इन्द्राणीके सामीप्य रहनेसे स्वयंवरमें विघ्न करनेवालोंका अभाव रहा अर्थात् स्वयंवरमें कोई गड़बड़ी नहीं कर सका, इस कारण अजको लक्ष्यकर ईर्ष्यालु भी राजालोग शान्त रहे ॥ ३ ॥

तावत्प्रकीर्णाभिनवोपचारमिन्द्रायुधद्योतिततोरणाङ्कम् ।
वरः स वध्वा सह राजमार्गं प्राप ध्वजच्छायनिवारितोष्णम् ॥ ४ ॥

तावदिति । 'यावत्तावच्च साकल्ये' इत्यमरः । तावत्प्रकीर्णाः साकल्येन प्रसारिता अभिनवा नूतना उपचाराः पुष्पप्रकरादयो यस्य तं तथोक्तम् । इन्द्रायुधानीव द्योतितानि प्रकाशितानि तोरणान्यङ्काश्चिह्नानि यस्य तम् । ध्वजानां छाया ध्वजच्छायम् । 'छाया बाहुल्ये' इति नपुंसकत्वम् । तेन निवारित उष्ण आतपो यत्र तं तथा राजमार्गं स वरो वोढा वध्वा सह प्राप विवेश ॥ ४ ॥

वे 'अज' वधू इन्दुमतीके साथ, सर्वत्र नये २ साधनोंवाले, इन्द्रधनुषके समान शोभमान तोरणोंसे युक्त और पताकाओंसे धूपरहित मुख्य सड़कपर पहुंचे ॥ ४ ॥

ततस्तदालोकनतत्पराणां सौधेषु चामीकरजालवत्सु ।
बभूवुरित्थं पुरसुन्दरीणां त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥ ५ ॥

तत इति । ततस्तदनन्तरं चामीकरजालवत्सु सौवर्णगवाक्षयुक्तेषु सौधेषु तस्याजस्यालोकने तत्पराणामासक्तानां पुरसुन्दरीणामित्थं वक्ष्यमाणप्रकाराणि त्यक्तान्यकार्याणि केशबन्धनादीनि येषु तानि विचेष्टितानि व्यापाराः । नपुंसके भावे क्तः । बभूवुः ॥ ५ ॥

इसके बाद सुनहले झरोंखोंवाले महलोंमें उन्हें (इन्दुमती तथा अजको) देखनेके लिये तैयार नागरिक सुन्दरियोंका अन्यान्य कार्योंको छोड़कर इस प्रकार की (श्लो० ६–१०) चेष्टाएं हुईं ॥ ५ ॥

तान्येवाह पञ्चभिः श्लोकैः—

आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः ।
बद्धुं न सम्भावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥ ६ ॥

आलोकेति । सहसालोकमार्गं गवाक्षपथं व्रजन्त्या कयाचित्कामिन्योद्वेष्टनवान्तमाल्यः । उद्वेष्टनो द्रुतगतिवशादुन्मुक्तबन्धनः । अत एव वान्तमाल्यो बन्धविश्लेषेणोद्गीर्णमाल्यः करेण रुद्धो गृहीतोऽपि च केशपाशः केशकलापः । 'पाशः पक्षश्च

हस्तश्च कलापार्थाः कचात्परे' इत्यमरः । तावदालोकमार्गप्राप्तिपर्यन्तं बद्धुं बन्धनार्थं न सम्भावितो न चिन्तित एव ॥ ६ ॥

खिड़कीके रास्तेपर शीघ्रतासे जाती हुई किसी स्त्री ने ढीला होनेसे गिरी हुई पुष्प-मालावाले (अत एव) हाथ पकड़े हुए केश-समूह अर्थात् चोटीको नहीं ही बांधा ॥ ६ ॥

प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद् द्रवरागमेव ।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ॥ ७ ॥

प्रसाधिकेति । काचित् । प्रसाधिकयालङ्कर्त्र्यालम्बितं रञ्जनार्थं धृतं द्रवरागमेवाद्रलक्तकमेव । अग्रश्चासौ पादश्चेत्यग्रपाद इति कर्मधारयसमासः । 'हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोर्भेदाभेदाभ्याम्' इति वामनः । तमाक्षिप्याकृष्य । उत्सृष्टलीलागतिस्त्यक्तमन्दगमना सती । आगवाक्षाद्गवाक्षपर्यन्तं पदवीं पन्थानमलक्तकाङ्कां लाक्षारागचिह्नां ततान विस्तारयामास ॥ ७ ॥

किसी स्त्री ने महावर लगाती हुई दासी आदिसे आलम्बित पैरके अग्रभागको गीला ही खैंचकर लीला-पूर्वक गमनको छोड़कर अर्थात् जल्दी २ जाती हुई, खिड़की तक (गीला होनेसे) महावरसे युक्त पैरोंके चिह्नको बना दिया ॥ ७ ॥

विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन सम्भाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा ।
तथैव वातायनसन्निकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥ ८ ॥

विलोचनमिति । अपरा स्त्री दक्षिणं विलोचनमञ्जनेन सम्भाव्यालङ्कृत्य । सम्भ्रमादिति भावः। तद्वञ्चितं तेनाञ्जनेन वञ्चितं वामनेत्रं यस्याः सा सती तथैव शलाकामञ्जनतूलिकां वहन्ती सती वातायनसन्निकर्षं गवाक्षसमीपं ययौ। दक्षिणग्रहणं सम्भ्रमाद् व्युत्क्रमकरणद्योतनार्थम् । 'सव्यं हि पूर्वं मनुष्या अञ्जते' इति श्रुतेः ॥ ८ ॥

दूसरी स्त्री दहनी आंखमें अञ्जन लगाकर बायीं आंखमें विना अञ्जन लगाये ही सलाई लिए हुए झरोखेके पास पहुँच गई ॥ ८ ॥

जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम् ।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ॥ ९ ॥

जालान्तरेति । अन्या स्त्री जालान्तरप्रेषितदृष्टिर्गवाक्षमध्यप्रेरितदृष्टिः सती प्रस्थानेन गमनेन भिन्नां त्रुटितां नीवीं वसनग्रन्थिम् । 'नीवी परिपणे ग्रन्थौ स्त्रीणां जघनवाससि' इति विश्वः । न बबन्ध । किन्तु नाभिप्रविष्टा आभरणानां कङ्कणादीनां प्रभा यस्य तेन । प्रभैव नाभेराभरणमभूदिति भावः । हस्तेन वासोऽवलम्ब्य गृहीत्वा तस्थौ ॥ ९ ॥

झरोखेके मध्यसे देखती हुई दूसरी स्त्रीने (शीघ्र) चलनेसे खुली हुई नीवी (फुफुती, फुफुनी) को नहीं बांधा, (किन्तु) वह नाभिमें प्रविष्ट होती हुई कङ्कणकी कान्तिवाले हाथसे कपड़ेको पकड़कर (इन्दुमती तथा अजको देखती हुई) खड़ी रही ॥ ९ ॥

अर्धाञ्चिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती ।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा ॥ १० ॥

अर्धाञ्चितेति । सत्वरमुत्थितायाः कस्याश्चिदर्धाञ्चिता मणिभिरर्धगुम्फिता दुर्निमिते सम्भ्रमादुत्क्षिप्ते । 'डुमिञ्प्रक्षेपणे' इति धातोः कर्मणि क्तः । पदे पदे प्रतिपदम् । वीप्सायां द्विर्भावः । गलन्ती गलद्रत्ना सती रशना मेखला तदानीं गमनसमयेऽङ्गुष्ठमूलेऽर्पितं सूत्रमेव शेषो यस्याः साऽऽसीत् ॥ १० ॥

शीघ्रतासे उठी हुई किसी स्त्रीकी आधी गुथी हुई तथा शीघ्र चलनेसे पग २ पर गिरती हुई करधनीका (झरोखेके पास पहुंचनेपर) अंगूठेमें बांधा हुआ केवल धागा ही बच गया। (शीघ्रतासे चलनेके कारण उसे सम्हालनेका ध्यान नहीं रहनेसे रास्तेमें ही सब मणि गिर पड़े) ॥ १० ॥

तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम् ।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥ ११ ॥

तासामिति । तदानीं सान्द्रकुतूहलानां तासां स्त्रीणामासवगन्धो गर्भे येषां तैः । विलोलानि नेत्राण्येव भ्रमरा येषां तैः । मुखैर्व्याप्तान्तराश्छन्नावकाशा गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इव कमलालङ्कृता इव । 'सहस्रपत्रं कमलम्' इत्यमरः । आसन् ॥ ११ ॥

(वधू-वरको देखनेके लिये) अत्यन्त कौतूहलवाली उन स्त्रियोंके मदिरापानसे गन्धयुक्त तथा चञ्चल नेत्ररूप भ्रमरवाले मुखोंसे व्याप्त अवकाशवाले अर्थात् ठसाठस भरे हुए झरोखे कमलोंसे अलंकृतके समान हो गये । (कमलमें गन्ध तथा भौंरे रहते हैं यहां उनके मुखमें मदिराका गन्ध तथा नेत्ररूपी भ्रमर थे ।) ॥ ११ ॥

ता राघवं दृष्टिभिरापिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि ।
तथा हि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा ॥ १२ ॥

ता इति । ता नार्यो रघोरपत्यं राघवमजम्। 'तस्यापत्यम्' इत्यण्प्रत्ययः । दृष्टिभिरापिबन्त्योऽतितृष्णया पश्यन्त्यो विषयान्तराण्यन्यान्विषयान्न जग्मुः, न विदुरित्यर्थः । तथा हि । आसां नारीणां शेषेन्द्रियवृत्तिश्चक्षुर्व्यतिरिक्तश्रोत्रादीन्द्रियव्यापारः सर्वात्मना स्वरूपकार्त्स्न्येन चक्षुः प्रविष्टेव । श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि स्वातन्त्र्येण ग्रहणाशक्तेश्चक्षुरेव प्रविश्य कौतुकात्स्वयमप्येनमुपलभन्ते किमु । अन्यथा स्वस्वविषयाधिगमः किं न स्यादिति भावः ॥ १२ ॥

उस रघुपुत्र अजको अच्छी तरह देखती हुई स्त्रियोंने दूसरे विषयोंको नहीं जाना (अन्यत्र कहां क्या हो रहा है ? इस विषयको कुछ भी नहीं जाना), क्योंकि इन स्त्रियोंकी दूसरी इन्द्रियोंका व्यापार मानों नेत्रोंमें प्रविष्ट हो गया था ॥ १२ ॥

'शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः' इति वक्ष्यति । ताः कथयति 'स्थाने' इत्यादिभिस्त्रिभिः—

स्थाने वृता भूपतिभिः परोक्षैः स्वयंवरं साधुममंस्त भोज्या ।
पद्मेव नारायणमन्यथाऽसौ लभेत कान्तं कथमात्मतुल्यम् ॥ १३ ॥

स्थान इति । भोज्येन्दुमती परोक्षैरदृष्टैर्भूपतिभिर्वृता ममैवेयमिति प्रार्थितापि स्वयंवरमेव साधुं हितममंस्त मेने । न तु परोक्षमेव कञ्चित्प्रार्थकं वव्रे । स्थाने युक्तमेतत् । 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः । कुतः । अन्यथा स्वयंवराभावेऽसाविन्दुमती पद्ममस्या अस्तीति पद्मा लक्ष्मीः । 'अर्शआदिभ्योऽच्' इत्यच्प्रत्ययः । नारायणमिव आत्मतुल्यं स्वानुरूपं कान्तं पतिं कथं लभेत । न लभेतैव सदसद्विवेकासौकर्यादिति भावः ॥ १३ ॥

'परोक्षमें स्थित (अन्यान्य) राजाओंसे वरण की गयी ('इन्दुमती मेरी ही पत्नी है' ऐसा समझी गयी) इन्दुमतीने स्वयंवरको ही अच्छा समझा' यह ठीक हुआ, नहीं तो यह इन्दुमती विष्णु भगवान्को लक्ष्मीके समान अपने अनुरूप पतिको कैसे पाती ? ॥ १३ ॥

परस्परेण स्पृहणीयशोभं न चेदिदं द्वन्द्वमयोजयिष्यत् ।
अस्मिन्द्वये रूपविधानयत्नः पत्युः प्रजानां वितथोऽभविष्यत् ॥ १४ ॥

परस्परेणेति । स्पृहणीयशोभं सर्वाशास्यसौन्दर्यमिदं द्वन्द्वं मिथुनम् । 'द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु' इत्यनेन निपातः । परस्परेण नायोजयिष्यच्चेन्न योजयेद्यदि तर्हि प्रजानां पत्युर्विधातुरस्मिन्द्वये द्वन्द्वे रूपविधानयत्नः सौन्दर्यनिर्माणप्रयासो वितथो विफलोऽभविष्यत् । एतादृशानुरूपस्त्रीपुंसान्तराभावादिति भावः । 'लिङ्निमित्ते लृङ्क्रियातिपत्तौ' इति लृङ् । 'कुतश्चित्कारणवैगुण्यात्क्रियाया अनभिनिष्पत्तिः क्रियातिपत्तिः' इति वृत्तिकारः ॥ १४ ॥

स्पृहा करनेयोग्य शोभावाली यह जोड़ी (इन्दुमती तथा अज) यदि परस्परमें नहीं मिलते, तब ब्रह्माका इन दोनोंमें सौन्दर्य बनानेका परिश्रम निष्फल हो जाता ॥ १४ ॥

रतिस्मरौ नूनमिमावभूतां राज्ञां सहस्रेषु तथा हि बाला ।
गतेयमात्मप्रतिरूपमेव मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम् ॥ १५ ॥

रतीति । रतिस्मरौ यौ नित्यसहचरावित्यभिप्रायः । नूनं तावेवेयं चायं चेमौ दम्पती अभूताम् एतद्रूपेणोत्पन्नौ । कुतः । तथा हि इयं बाला राज्ञां सहस्रेषु राज-

सहस्रमध्ये । सत्यपि व्यत्यासकारण इति भावः । आत्मप्रतिरूपं स्वतुल्यमेव । 'तुल्य-सङ्काशनीकाशप्रकाशप्रतिरूपकाः' इति दण्डी । गता प्राप्ता । तदपि कथं ज्ञातमत आह—हि यस्मान्मनो जन्मान्तरसङ्गतिज्ञं भवति । तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञाभावेऽपि वासनाविशेषवशादनुभूतार्थेषु मनःप्रवृत्तिरस्तीत्युक्तम् । जन्मान्तरसाहचर्यमेवात्र प्रवर्तकमिति भावः ॥ १५ ॥

निश्चय ही ये दोनों (पूर्वजन्ममें) रति तथा कामदेव थे (और इस जन्ममें) इन्दुमती तथा अजरूपमें उत्पन्न हुए हैं, क्योंकि कुमारी इस इन्दुमतीने हजारों राजाओंके बीचमें इनको प्राप्त कर लिया । मन दूसरे जन्मकी सङ्गतिका ज्ञाता (जानकार) होता है ॥ १५ ॥

इत्युद्गताः पौरवधूमुखेभ्यः शृण्वन्कथाः श्रोत्रसुखाः कुमारः ।
उद्भासितं मङ्गलसंविधाभिः सम्बन्धिनः सद्म समाससाद ॥ १६ ॥

इतीति । इति 'स्थाने वृता' इत्याद्युक्तप्रकारेण पौरवधूमुखेभ्य उद्गता उत्पन्नाः श्रोतयोः सुखा मधुराः । सुखशब्दो विशेष्यनिघ्नः । 'पापं पुण्यं सुखादि च' इत्यमरः । कथा गिरः शृण्वन्कुमारोऽजो मङ्गलसंविधाभिर्मङ्गलरचनाभिरुद्भासितं शोभितं सम्बन्धिनः कन्यादायिनः सद्म गृहं समाससाद प्राप ॥ १६ ॥

इस प्रकार (श्लो० १३–१५) नगरकी स्त्रियोंके मुखसे निकली हुई एवं कर्णप्रिय बातों-को सुनते हुए कुमार 'अज'ने मङ्गलमय सामग्रियोंसे शोभित, सम्बन्धी अर्थात् नातेदार (भोज) के घरको प्राप्त किया ॥ १६ ॥

ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः ।
वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः ॥ १७ ॥

तत इति । ततोऽनन्तरं करेणुकाया हस्तिन्याः सकाशादाशु शीघ्रमवतीर्य । कामरूपेश्वरे दत्तो हस्तो येन सोऽजः अथोऽनन्तरं वैदर्भेण निर्दिष्टं प्रदर्शितमन्तश्चतुष्कं चत्वरम् । नारीणां मनांसीव विवेश ॥ १७ ॥

तदनन्तर वे अज कामरूप (कामाक्षा) देशके राजापर हाथ रखकर अर्थात् हाथका सहारा देकर हथिनीसे शीघ्र उतर गये । बाद विदर्भ-नरेश भोजके बतलाये हुए चौक (अन्तःपुरके मध्यवर्ती आँगन) में स्त्रियोंके मनके समान प्रवेश किये ॥ १७ ॥

महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम् ।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ॥ १८ ॥

महार्हेति । महार्हसिंहासने संस्थितोऽसावजः भोजेनोपनीतम् । रत्नैः सहितं सरत्नम् । मधुपर्कमिश्रमर्घ्यं पूजासाधनद्रव्यं दुकूलयोः क्षौमयोर्युग्मं च । वनिताकटाक्षैरन्यस्त्रीणामपाङ्गदर्शनैः सार्धम् । जग्राह गृहीतवान् ॥ १८ ॥

बहुमूल्य सिंहासनपर बैठे हुए उस कुमार अजने भोजसे लाये हुए रत्नोंके सहित, मधुपर्क-युक्त अर्घ्य तथा दो वस्त्रों (धोती-दुपट्टा) को स्त्रियोंके कटाक्षोंके साथ ग्रहण किया ॥ १८ ॥

दुकूलवासाः स वधूसमीपं निन्ये विनीतैरवरोधरक्षैः ।
वेलासकाशं स्फुटफेनराजिर्नवैरुदन्वानिव चन्द्रपादैः ॥ १९ ॥

दुकूलेति । दुकूलवासाः सोऽजः । विनीतैर्नम्रैरवरोधरक्षैरन्तःपुराधिकृतैर्वधूसमीपं निन्ये । तत्र दृष्टान्तः—स्फुटफेनराजिरुदन्वान्समुद्रो नवैर्नूतनैश्चन्द्रपादैश्चन्द्रकिरणैर्वेलायाः सकाशं समीपमिव । पूर्णदृष्टान्तोऽयम् ॥ १९ ॥

रेशमी वस्त्र पहने हुए उस अजको अन्तःपुरके रक्षक वधू (इन्दुमती) के पास इस प्रकार ले गये, जिस प्रकार चन्द्रकिरण स्पष्ट फेन-समूहवाले समुद्रको तीरके पास ले जाती है ॥१९॥

तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः ।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ सङ्गमयाञ्चकार ॥ २० ॥

तत्रेति । तत्र सद्मन्यर्चितः पूजितोऽग्निकल्पोऽग्नितुल्यो भोजपतेर्भोजदेशाधीश्वरस्य पुरोधाः पुरोहितः । 'पुरोधास्तु पुरोहितः' इत्यमरः । आज्यादिभिर्द्रव्यैरग्निं हुत्वा तमेव चाग्निं विवाहसाक्ष्ये आधाय, साक्षिणं च कृत्वेत्यर्थः । वधूवरौ सङ्गमयाञ्चकार योजयामास ॥ २० ॥

वहांपर सत्कृत तथा अग्निके समान (तेजस्वी) भोज राजाके पुरोहितने घी आदिसे अग्नि में हवनकर उसी (अग्नि) को विवाहमें साक्षी बनाकर वधू-वर (इन्दुमती-अज) को संयुक्त (विवाह-सम्बद्ध) कर दिया ॥ २० ॥

हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः स राजसूनुः सुतरां चकासे ।
अनन्तराशोकलताप्रवालं प्राप्येव चूतः प्रतिपल्लवेन ॥ २१ ॥

हस्तेनेति । स राजसूनुर्हस्तेन स्वकीयेन वध्वा हस्तं परिगृह्य । अनन्तरायाः सन्निहिताया अशोकलतायाः प्रवालं पल्लवं प्रतिपल्लवेन स्वकीयेन प्राप्य चूत आम्र इव सुतरां चकासे ॥ २१ ॥

वे राजकुमार अज (अपने) हाथसे वधू इन्दुमतीका हाथ पकड़कर समीपस्थ अशोक-लताके नवपल्लवको अपने पल्लवसे प्राप्त कर आम्रवृक्षके समान अत्यन्त शोभित हुए ॥ २१ ॥

आसीद्वरः कण्टकितप्रकोष्ठः स्विन्नाङ्गुलिः संववृते कुमारी ।
तस्मिन्द्वये तत्क्षणमात्मवृत्तिः समं विभक्तेव मनोभवेन ॥ २२ ॥

आसीदिति । वरः कण्टकितः पुलकितः प्रकोष्ठो यस्य स आसीत् । 'सूच्यग्रे क्षुद्रशत्रौ च रोमहर्षे च कण्टकः' इत्यमरः । कुमारी स्विन्नाङ्गुलिः संववृते बभूव । अत्रो-

त्प्रेक्षते—तस्मिन्द्वये मिथुने तत्क्षणमात्मवृत्तिः सात्त्विकोदयरूपा वृत्तिर्मनोभवेन कामेन समं विभक्तेव पृथक्कृतेव। प्राक्सिद्धस्याप्यनुरागसाम्यस्य सम्प्रति तत्कार्यदर्शनात्पाणिस्पर्शकृतत्वमुत्प्रेक्षते । अत्र वात्स्यायनः—'कन्या तु प्रथमसमागमे स्विन्नाङ्गुलिः स्विन्नमुखी च भवति । पुरुषस्तु रोमाञ्चितो भवति । एभिरनयोर्भावं परीक्षेत' इति । स्त्रीपुरुषयोः स्वेदरोमाञ्चाभिधानं सात्त्विकमात्रोपलक्षणम् । न तु प्रतिनियमो विवक्षितः, एभिरिति बहुवचनसामर्थ्यात् । एवं सति कुमारसम्भवे-'रोमोद्गमः प्रादुरभूदुमायाः स्विन्नाङ्गुलिः पुङ्गवकेतुरासीत्' । इति व्युत्क्रमवचनं न दोषायेति । 'वृत्तिस्तयोः पाणिसमागमेन समं विभक्तेव मनोभवस्य' इत्यपरार्धस्य पाठान्तरे व्याख्यानान्तरम्—पाणिसमागमेन पाण्योः संस्पर्शेन कर्त्रा । तयोर्वधूवरयोर्मनोभवस्य वृत्तिः स्थितिः समं विभक्तेव । समीकृतेवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

वर अजका प्रकोष्ठ (हाथकी कोहुनी तथा कलाइका मध्यभाग) रोमाञ्चित हो गया तथा कुमारी इन्दुमतीकी अङ्गुलियां पसीज गयीं (स्वेदयुक्त हो गयीं)। हाथोंके उस स्पर्शने उन दोनों (वधू-वर) के कामवृत्तिको मानों बराबर २ बांट दिया ॥ २२ ॥

तयोरपाङ्गप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि ।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥ २३ ॥

तयोरिति । अपाङ्गेषु नेत्रप्रान्तेषु प्रतिसारितानि प्रवर्तितानि क्रिययोर्निरीक्षणलक्षणयोः समापत्त्या यदृच्छासङ्गत्या निवर्तितानि प्रत्याकृष्टान्यन्योन्यस्मिँल्लोलानि सतृष्णानि । 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इत्यमरः । तयोर्दम्पत्योः, विलोचनानि दृष्टयो मनोज्ञां रम्यां ह्रिया निमित्तेन यन्त्रणां सङ्कोचमानशिरे प्रापुः ॥ २३ ॥

नेत्रप्रान्त तक खुली हुई, दर्शनरूप कार्यके स्वेच्छासे हो जानेपर हटाई हुई उन दोनोंकी आंखें मनोहर लज्जापरवशताको प्राप्त हुईं। (विना चाहनाके भी उन्होंने आंखोंको फाड़कर एक दूसरेको अच्छी तरह एकाएक देख लिया, किन्तु पुनः शीघ्र ही लज्जासे आंखोंको जो सङ्कुचित कर लिया वह बहुत सुन्दर मालूम पड़ा ।) ॥ २३ ॥

प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे ।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥ २४ ॥

प्रदक्षिणेति । तन्मिथुनमुदर्चिष उन्नतज्वालस्य कृशानोर्वह्नेः प्रदक्षिणप्रक्रमणात्प्रदक्षिणीकरणात् मेरोरुपान्तेषु समीपेषु वर्तमानमावर्तमानम् , मेरुं प्रदक्षिणीकुर्वदित्यर्थः । अन्योन्यसंसक्तं परस्परसङ्गतम् । मिथुनस्याप्येतद्विशेषणम् । अहश्च त्रियामा चाहस्त्रियामं रात्रिदिवमिव । समाहारे द्वन्द्वैकवद्भावः । चकासे दिदीपे ॥ २४ ॥

जलती हुई अग्निकी प्रदक्षिणा करनेसे परस्परमें मिली हुई (वधू-वरकी) वह जोड़ी

सुमेरु पर्वतके समीपमें अर्थात् चारो ओर चक्कर लगाती हुई परस्पर मिलित दिन-रातके समान शोभित हुई ॥ २४ ॥

नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन ।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ॥ २५ ॥

नितम्बेति । नितम्बेन गुर्व्यलघ्वी । 'दुर्धरालघुनोर्गुर्वी' इति शाश्वतः । विधातृप्रतिमेन ब्रह्मतुल्येन तेन गुरुणा याजकेन प्रयुक्ता जुहुधीति नियुक्ता मत्तचकोरस्येव नेत्रे यस्याः सा लज्जावती सा वधूरग्नौ लाजविसर्गं चकार ॥ २५ ॥

बड़े २ नितम्बोंवाली, चकोरके समान नेत्रवाली तथा सलज्ज वह इन्दुमती ब्रह्माके तुल्य गुरु अर्थात् पुरोहितके कहनेपर अग्निमें लावा (धानकी खीलोंको) छोड़ा (अग्निमें लाजाहुति की) ॥ २५ ॥

हविःशमीपल्लवलाजगन्धी पुण्यः कृशानोरुदियाय धूमः ।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे ॥ २६ ॥

हविरिति । हविष आज्यादेः शमीपल्लवानां लाजानां च गन्धोऽस्यास्तीति हविःशमीपल्लवलाजगन्धी । 'शमीपल्लवमिश्राँल्लाजानञ्जलिना वपति' इति कात्यायनः । पुण्यो धूमः कृशानोः पावकादुदियायोद्भूतः । कपोलयोः संसर्पिणी प्रसरणशीला शिखा यस्य स तथोक्तः स धूमस्तस्या वध्वा मुहूर्तं कर्णोत्पलतां कर्णाभरणतां प्रपेदे ॥ २६ ॥

हविष्य, शमी-पल्लव तथा खीलों (धानके लावे) के गन्धवाला पवित्र (जो) धूँआ अग्निसे निकला, कपोल तक पहुंचे हुए अग्रभागवाला वह धूँआ थोड़े समयके लिये उस इन्दुमतीका कर्णभूषण बन गया ॥ २६ ॥

तदञ्जनक्लेदसमाकुलाक्षं प्रम्लानबीजाङ्कुरकर्णपूरम् ।
वधूमुखं पाटलगण्डलेखमाचारधूमग्रहणाद्बभूव ॥ २७ ॥

तदिति । तद्वधूमुखमाचारेण प्राप्तादूधूमग्रहणात् । अञ्जनस्य क्लेदोऽञ्जनक्लेदः, अञ्जनमिश्रवाष्पोदकमित्यर्थः । तेन समाकुलाक्षम् । प्रम्लानो बीजाङ्कुरो यवाङ्कुर एव कर्णपुरोऽवतंसो यस्य तत्पाटलगण्डलेखमरुणगण्डस्थलं च बभूव ॥ २७ ॥

आचारप्राप्त धूम-ग्रहण करनेसे वधू इन्दुमतीका मुख अञ्जनके भींग जानेसे व्याकुल नेत्रोंवाला तथा लाल कपोलमण्डलसे युक्त हो गया ॥ २७ ॥

तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरन्ध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम् ।
कन्याकुमारौ कनकासनस्थावार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ॥ २८ ॥

ताविति । कनकासनस्थौ तौ कन्याकुमारौ स्नातकैर्गृहस्थविशेषैः, कृतसमावर्तनै रित्यर्थः । 'स्नातकस्त्वाप्लुतो व्रती' इत्यमरः । बन्धुमता, बन्धुपुरःसरेणेत्यर्थः । राज्ञा च पुरन्ध्रिभिः पतिपुत्रवतीभिर्नारीभिश्च क्रमशः प्रयुक्तं स्नातकादीनां पूर्वपूर्ववैशिष्ट्यात्क्रमेण कृतमार्द्राक्षतानामारोपणमन्वभूतामनुभूतवन्तौ ॥ २८ ॥

सुवर्णके आसनपर बैठे हुए वधू इन्दुमती तथा कुमार अजने क्रमसे स्नातकों, परिवार-सहित राजा भोज और सौभाग्यवती स्त्रियोंके द्वारा किये गये आर्द्र अक्षतोंके आरोपणको प्राप्त किया ॥ २८ ॥

इति स्वसुर्भोजकुलप्रदीपः सम्पाद्य पाणिग्रहणं स राजा ।
महीपतीनां पृथगर्हणार्थं समादिदेशाधिकृतानधिश्रीः ॥ २९ ॥

इतीति । अधिश्रीः अधिगता प्राप्ता श्रीः सम्पत्तिः येन सः अधिश्रीरधिकसंपन्नो भोजकुलप्रदीपः स राजा । इति स्वसुरिन्दुमत्याः पाणिग्रहणं विवाहं सम्पाद्य कारयित्वा । महीपतीनां राज्ञां पृथगेकैकशोऽर्हणार्थं पूजार्थमधिकृतानधिकारिणः समादिदेशाज्ञापयामास ॥ २९ ॥

सम्पत्तिशाली तथा भोजकुलदीपक राजाने इस प्रकार (श्लोक० १८–२८) बहन इन्दुमतीके विवाहको पूर्णकर राजाओंकी अलग २ पूजा (आदर-सत्कार) करनेके लिये अधिकारियोंको आदेश दिया ॥ २९ ॥

लिङ्गैर्मुदः संवृतविक्रियास्ते ह्रदाः प्रसन्ना इव गूढनक्राः ।
वैदर्भमामन्त्र्य ययुस्तदीयां प्रत्यर्प्य पूजामुपदाछलेन ॥ ३० ॥

लिङ्गैरिति । मुदः संतोषस्य लिङ्गैश्चिह्नैः कपटहासादिभिः संवृतविक्रिया निगूहितमत्सराः अत एव प्रसन्ना बहिर्निर्मला गूढनक्रा अन्तर्लीनग्राहा ह्रदा इव स्थितास्ते नृपा वैदर्भं भोजमामन्त्र्यापृच्छ्य तदीयां वैदर्भीयां पूजामुपदाछलेनोपायनमिषेण प्रत्यर्प्य ययुर्गतवन्तः ॥ ३० ॥

(बाहरी) हर्षके चिह्नोंसे छिपाये हुए विकार (भीतरी द्वेष) वाले अत एव (जलमें डूबकर) छिपे हुए मगरसे युक्त निर्मल तडागके समान वे राजालोग विदर्भनरेश भोजके यहांसे पूजा (में आयी हुई मणि आदि सामग्रियों) को भेंटके बहाने उन्हें लौटाकर और उनसे पूछकर (वहांसे) चले गये ॥ ३० ॥

स राजलोकः कृतपूर्वसंविदारम्भसिद्धौ समयोपलभ्यम् ।
आदास्यमानः प्रमदामिषं तदावृत्य पन्थानमजस्य तस्थौ ॥ ३१ ॥

स इति । आरम्भसिद्धौ कार्यसिद्धौ विषये । पूर्वं कृता कृतपूर्वा, सुप्सुपेति समासः । कृतपूर्वा संवित्संकेतो मार्गावरोधरूप उपायो येन स तथोक्तः । 'संविद्युद्धे प्रति-

ज्ञायां सङ्केताचारनामसु' इति केशवः । स राजलोकः समयोपलभ्यमजप्रस्थानकाले लभ्यं, तदा तस्यैकाकित्वादिति भावः । 'समरोपलभ्यम्' इति पाठे युद्धसाध्यमित्यर्थः। तत्प्रमदैवामिषं भोग्यवस्तु। 'आमिषं त्वस्त्रियां मांसे तथा स्याद्भोग्यवस्तुनि' इति केशवः । आदास्यमानो ग्रहीष्यमाणः सन्नजस्य पन्थानमावृत्यावरुध्य तस्थौ ॥ ३१ ॥

आरम्भ किये गये कार्यकी सिद्धिमें पहलेसे ही सङ्केत किये हुए (अमुक स्थानपर हम लोग मिलकर रास्तेमें ही अजसे लड़कर इन्दुमतीको छीन लेंगे ऐसा गुप्त सलाहकर) समय पर (पाठान्तरसे-समरमें) मिलनेवाले इन्दुमतीरूप मांस अर्थात् भोग्य पदार्थको भविष्यमें लेनेवाले वे राजालोग अजके मार्गको रोककर ठहर गये ॥ ३१ ॥

भर्तापि तावत्क्रथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजाविवाहः ।
सत्त्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः प्रास्थापयद्राघवमन्वगाच्च ॥ ३२ ॥

भर्ताऽपीति । अनुष्ठितः सम्पादितोऽनन्तरजाया अनुजाया विवाहो येन स तथोक्तः क्रथकैशिकानां देशानां भर्ता स्वामी भोजोऽपि तावत्तदा सत्त्वानुरूपमुत्साहानुरूपं यथा तथा आ समन्तात्, अनेनानियतवस्तुदानमित्यर्थः। हरणं कन्यायै देयं धनम् । तदेवाह कात्यायनः-'ऊढया कन्यया वापि पत्युः पितृगृहेऽपि वा । भ्रातुः सकाशात्पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम्' ॥ 'यौतकादि तु यद्देयं सुदायो हरणं च तत्' इत्यमरः। आहरणीकृता श्रीर्येन तथोक्तः सन् राघवमजं प्रास्थापयत्प्रस्थापितवान्स्वयमन्वगादनुजगाम च ॥ ३२ ॥

छोटी बहन इन्दुमतीके विवाहको किये हुए क्रथकैशिक (विदर्भ) के राजा भोज भी शक्तिके अनुसार दहेज देकर अजको विदा किये तथा स्वयं भी उनके पीछे चले ॥ ३२ ॥

तिस्रस्त्रिलोकप्रथितेन सार्धमजेन मार्गे वसतीरुषित्वा ।
तस्मादपावर्तत कुण्डिनेशः पर्वात्यये सोम इवोष्णरश्मेः ॥ ३३ ॥

तिस्र इति । कुण्डिनं विदर्भनगरं तस्येशो भोजस्त्रिषु लोकेषु प्रथितेनाजेन सार्धं मार्गे पथि तिस्रो वसती रात्रीरुषित्वा स्थित्वा । 'वसती रात्रिवेश्मनोः' इत्यमरः । 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया। पर्वात्यये दर्शान्त उष्णरश्मेः सूर्यात्सोमश्चन्द्र इव । तस्मादजादपावर्तत, तं विसृज्य निवृत्त इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

कुण्डिन-(विदर्भ) नरेश भोज त्रिकोकमें विख्यात अजके साथ रास्तेमें तीन पड़ावोंपर निवासकर पर्व (अमावस्या) के बीतनेपर सूर्यसे चन्द्रमाके समान उस (अज) से वापस लौटे । (अमावस्याको चन्द्रमा तथा सूर्य एक साथ रहते हैं तथा बादमें चन्द्रमा सूर्यसे अलग होते हैं । यह ज्यौतिषशास्त्रका सिद्धान्त है) ॥ ३३ ॥

प्रमन्यवः प्रागपि कोसलेन्द्रे प्रत्येकमात्तस्वतया बभूवुः ।
अतो नृपाश्चक्षमिरे समेताः स्त्रीरत्नलाभं न तदात्मजस्य ॥ ३४ ॥

प्रमन्यव इति । नृपा राजानः प्रागपि प्रत्येकमात्तस्वतया दिग्विजये गृहीतधनत्वेन कोसलेन्द्रे रघौ प्रमन्यवो रूढवैरा बभूवुः । अतो हेतोः स्वयंवरार्थं समेताः सङ्गताः सन्तस्तदात्मजस्य रघुसूनोः स्त्रीरत्नलाभं न चक्षमिरे न सेहिरे ॥ ३४ ॥

राजालोग पहले (रघुके दिग्विजय-समयमें) भी हरएककी सम्पत्तिको ग्रहण कर लेनेसे कोसलाधीश रघुपर रुष्ट थे, इस कारण सम्मिलित हुए वे उन (रघु) के पुत्र अजकी स्त्री-रत्नप्राप्तिको नहीं सहन किये ॥ ३४ ॥

तमुद्वहन्तं पथि भोजकन्यां रुरोध राजन्यगणः स दृप्तः ।
बलिप्रदिष्टां श्रियमाददानं त्रैविक्रमं पादमिवेन्द्रशत्रुः ॥ ३५ ॥

तमिति । दृप्त उद्धतः । स राजन्यगणो राजसङ्घातः भोजकन्यामुद्वहन्तं नयन्तं तमजं बलिना वैरोचनिना प्रदिष्टां दत्तां श्रियमाददानं स्वीकुर्वाणम् । त्रिविक्रमस्येमं त्रैविक्रमं पादमिन्द्रशत्रुः प्रह्लाद इव, पथि रुरोध । तथा च ब्रह्माण्डपुराणे-'विरोचनविरोधेऽपि प्रह्लादः प्राक्तनं स्मरन् । विष्णोस्तु क्रममाणस्य पादाम्भोजं रुरोध ह' इति॥

उद्धत उस क्षत्रिय-राज-समूहने इन्दुमतीको ले जाते हुए उस अजको, बलि राजासे दी हुई लक्ष्मीको लेते हुए वामनके चरणको इन्द्रशत्रु प्रह्लादके समान रास्तेमें रोक लिया ॥ ३५ ॥

पौराणिक कथा—दैत्यराज बलिके यज्ञमें जाकर वामनरूपधारी विष्णु भगवान्ने साढ़े तीन पग पृथ्वीको दानमें उनसे प्राप्त किया, तदनन्तर विराट्रूप धारणकर पृथ्वीको स्वाधीन करनेके लिए विष्णुभगवान् नापने लगे तब विरोचनके विरोध करनेपर भी पूर्व बातको स्मरण करते हुए प्रह्लादने विष्णु भगवान्के चरणकमलोंको रोक लिया था ।

तस्याः स रक्षार्थमनल्पयोधमादिश्य पित्र्यं सचिवं कुमारः ।
प्रत्यग्रहीत्पार्थिववाहिनीं तां भागीरथीं शोण इवोत्तरङ्गः ॥ ३६ ॥

तस्या इति । स कुमारोऽजस्तस्या इन्दुमत्या रक्षार्थमनल्पयोधं बहुभटम्, पितुरागतं पित्र्यम्, आप्तमित्यर्थः । सचिवमादिश्याज्ञाप्य तां पार्थिववाहिनीं राजसेनाम् । 'ध्वजिनी वाहिनी सेना' इत्यमरः । भागीरथीमुत्तरङ्गः शोणः शोणाख्यो नद इव । प्रत्यग्रहीदभियुक्तवान् ॥ ३६ ॥

उस कुमार अजने उस इन्दुमतीकी रक्षाके लिये बहुत योद्धाओंसे युक्त, पिताके क्रमसे रहनेवाले अर्थात् विश्वासपात्र मन्त्रीको नियुक्तकर, भागीरथीको उन्नत तरङ्गोंवाले 'शोणभद्र' नामक महाह्रदके समान राजाओंके उस सेनाको रोका ॥ २६ ॥

पत्तिः पदातिं रथिनं रथेशस्तुरङ्गसादी तुरगाधिरूढम् ।
यन्ता गजस्याभ्यपतद्गजस्थं तुल्यप्रतिद्वन्द्वि बभूव युद्धम् ॥ ३७ ॥

पत्तिरिति । पत्तिः पादचारो योद्धा पदातिं पादचारमभ्यपतत् । पदा पादाभ्यामततीति पदातिः । 'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु' इत्यनेन पदादेशः । 'पदातिपत्तिपदगपादातिकपदाजयः' इत्यमरः । रथेशो रथिको रथिनं रथारोहमभ्यपतत् । तुरङ्गसाद्यश्वारोहस्तुरङ्गाधिरूढमश्वारोहमभ्यपतत् । 'रथिनः स्यन्दनारोहा अश्वारोहास्तु सादिनः' इत्यमरः । गजस्य यन्ता हस्त्यारोहो गजस्थं पुरुषमभ्यपतत् । इत्थमनेन प्रकारेण तुल्यप्रतिद्वन्द्वयेकजातीयप्रतिभटं युद्धं बभूव । अन्योन्यं द्वन्द्वं कलहोऽस्त्येषामिति प्रतिद्वन्द्विनो योधाः 'द्वन्द्वं कलहयुग्मयोः' इत्यमरः ॥ ३७ ॥

पैदल पैदलके साथ, रथसवार रथसवारके साथ, घुड़सवार घुड़सवारके साथ और हाथीपर सवार योद्धा हाथीपर सवार हुए योद्धाके साथमें भिड़ गये, वह युद्ध समान प्रतिभटोंवाला हुआ ॥ ३७ ॥

नदत्सु तूर्येष्वविभाव्यवाचो नोदीरयन्ति स्म कुलोपदेशान् ।
बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृतः शशंसुः ॥ ३८ ॥

नदत्स्विति । तूर्येषु नदत्सु सत्स्वविभाव्यवाचोऽनवधार्यगिरश्चापभृतो धानुष्काः । कुलमुपदिश्यते प्रख्याप्यते यैस्ते कुलोपदेशास्तान्कुलनामानि नोदीरयन्ति स्म नोच्चारयामासुः । श्रोतुमशक्यत्वाद्वाचो नाब्रुवन्नित्यर्थः । किन्तु बाणाक्षरैर्बाणेषु लिखिताक्षरैरेव परस्परस्यान्योन्यस्योर्जितं प्रख्यातं नाम शशंसुरूचुः ॥ ३८ ॥

तुरहियों (वाद्य-विशेषों) के बजते रहनेपर (परस्परमें कथित) वचनको नहीं समझने वाले धनुर्धारी योद्धालोग अपने वंशकी प्रसिद्धिको नहीं कहते थे, किन्तु बाणोंपर लिखे गये अक्षरोंसे ही (अपने २) प्रसिद्ध नामको (या नाम तथा पराक्रमको) बतलाते थे ॥ ३८ ॥

उत्थापितः संयति रेणुरश्वैः सान्द्रीकृतः स्यन्दनवंशचक्रैः ।
विस्तारितः कुञ्जरकर्णतालैर्नेत्रक्रमेणोपरुरोध सूर्यम् ॥ ३९ ॥

उत्थापित इति । संयति सङ्ग्रामेऽश्वैस्तुरगैरुत्थापितः स्यन्दनवंशानां रथसमूहानां चक्रै रथाङ्गैः 'चक्रसैन्ये जलावर्ते रथावयवराष्ट्रयोः । संसारे मण्डले वृन्ते धर्मभेदास्त्रभेदयोः ॥' इति वैजयन्ती । सान्द्रीकृतो घनीकृतः । 'वंशः पृष्ठास्थिन गेहोर्ध्वकाष्ठे वेणौ गणे कुले' इति केशवः । कुञ्जरकर्णानां तालैस्ताडनैर्विस्तारितः प्रसारितो रेणुर्नेत्रक्रमेणांशुकपरिपाट्या, अंशुकमिवेत्यर्थः 'स्याज्जटांशुकयोर्नेत्रम्' इति 'क्रमोऽङ्घ्रौ परिपाट्यां च' इति केशवः । सूर्यमुपरुरोधाच्छादयामास ॥ ३९ ॥

युद्धमें घोड़ों (के खुरों) से उत्पन्न की गयी, रथ-समूहकी पहियोंसे सघन की गयी तथा

हाथियोंके कानोंके फटकारनेसे फैलाई गयी धूलि नेत्रके क्रमसे वस्त्रके समान सूर्यको रोक (छिपा) लिया अर्थात् उक्त धूलिसे पहले किसीको कुछ वस्तु दिखलाई नहीं पड़ती थी, पीछे उससे सूर्य भी छिप गया ॥ ३९ ॥

मत्स्यध्वजा वायुवशाद्विदीर्णैर्मुखैः प्रवृद्धध्वजिनीरजांसि ।
बभुः पिबन्तः परमार्थमत्स्याः पर्याविलानीव नवोदकानि ॥ ४० ॥

मत्स्येति । वायुवशाद्विदीर्णैर्विवृतैर्मुखैः प्रवृद्धानि ध्वजिनीरजांसि सैन्यरेणून्पिबन्तो गृह्णन्तो मत्स्यध्वजा मत्स्याकारा ध्वजाः । पर्याविलानि परितः कलुषाणि नवोदकानि पिबन्तः परमार्थमत्स्याः सत्यमत्स्या इव । बभुर्भान्ति स्म ॥ ४० ॥

वायुके कारण बाये (फैलाये) हुए मुखोंसे सेनाकी बढ़ी हुई धूलिको पीती हुई, मछलियोंके आकारवाली पताकायें बरसाती मलिन पानी पीती हुई वास्तविक मछलियोंके समान शोभित हुई ॥ ४० ॥

रथो रथाङ्गध्वनिना विजज्ञे विलोलघण्टाक्वणितेन नागः ।
स्वभर्तृनामग्रहणाद्बभूव सान्द्रे रजस्यात्मपरावबोधः ॥ ४१ ॥

रथ इति । सान्द्रे प्रवृद्धे रजसि रथो रथाङ्गध्वनिना चक्रस्वनेन विजज्ञे ज्ञातः । नागो हस्ती विलोलानां घण्टानां क्वणितेन नादेन विजज्ञे । आत्मपरावबोधः स्वपरविवेकः । योधानामिति शेषः । स्वभर्तृणां स्वस्वामिनां नामग्रहणान्नामोच्चारणाद्बभूव । रजोन्धतया सर्वे स्वं परं च शब्दादेवानुमाय प्रजघ्नुरित्यर्थः ॥ ४१ ॥

धूलिके सघन होनेपर पहियोंके शब्दसे रथ तथा हिलती हुई घंटाओंकी ध्वनियोंसे हाथी मालूम पड़ते थे और अपने स्वामीका नाम लेनेसे अपने-परायेका ज्ञान होता था ॥ ४१ ॥

आवृण्वतो लोचनमार्गमाजौ रजोऽन्धकारस्य विजृम्भितस्य ।
शस्त्रक्षताश्वद्विपवीरजन्मा बालारुणोऽभूद्रुधिरप्रवाहः ॥ ४२ ॥

आवृण्वत इति । लोचनमार्गमावृण्वतो दृष्टिपथमुपरुन्धतः आजौ युद्धे विजृम्भितस्य व्याप्तस्य । रज एवान्धकारं तस्य । शस्त्रक्षतेभ्यो जन्म यस्य स तथोक्तो रुधिरप्रवाहो बालारुणो बालार्कोऽभूत् 'अरुणो भास्करोऽपि स्यात्' इत्यमरः । बालविशेषणं रुधिरसावर्ण्यार्थम् ॥ ४२ ॥

दृष्टिपथको रोकते हुए तथा बढ़े हुए धूलिरूप अन्धकारका, शस्त्रोंसे घायल घोड़ों, हाथियों तथा शूरवीरों (के शरीर) से उत्पन्न रक्तका प्रवाह बाल सूर्य हुआ । (जैसे रात्रिमें अन्धकारसे कुछ नहीं दिखाई पड़ता, दृष्टिमार्गको रोकनेवाले उस अन्धकारके बाद लाल रंगवाले प्रातःकालीन सूर्यका उदय होता है और कुछ समयके बाद ही वह अन्धकार भी नष्ट हो जाता है, वैसे ही युद्धमें आहत अश्व, हाथी तथा वीरोंसे उत्पन्न रक्तप्रवाह दृष्टिरोधक धूलिका

लाल सूर्य मालूम पड़ता था। इससे इस धूलिका शीघ्र ही विनाश भी सूचित किया गया है, जैसा कि अग्रिम श्लोकमें वर्णित है।)॥ ४२॥

स च्छिन्नमूलः क्षतजेन रेणुस्तस्योपरिष्टात्पवनावधूतः।
अङ्गारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितो धूम इवाबभासे॥ ४३॥

स इति। क्षतजेन रुधिरेण च्छिन्नमूलः त्याजितभूतलसम्बन्ध इत्यर्थः। तस्य क्षतजस्योपरिष्टात्पवनावधूतो वाताहतः। स रेणुः अङ्गारशेषस्य हुताशनस्याग्नेः पूर्वोत्थितो धूम इव आबभासे दिदीपे॥ ४३॥

(नीचे भूतलमें) रक्तसे नष्टकी गयी तथा उसके ऊपरमें हवासे कम्पित (इधर-उधर उड़ायी जाती हुई) वह धूलि अङ्गारमात्र बची हुई अग्निके, पहले ऊपर उठे हुए धूएके समान शोभमान होती थी॥ ४३॥

प्रहारमूर्च्छापगमे रथस्था यन्तॄनुपालभ्य निवर्तिताश्वान्।
यैः सादिता लक्षितपूर्वकेतूंस्तानेव सामर्षतया निजघ्नुः॥ ४४॥

प्रहारेति। रथस्था रथिनः प्रहारेण या मूर्च्छा तस्या अपगमे सति मूर्च्छितानामन्यत्र नीत्वा संरक्षणं सारथिधर्म इति कृत्वा निवर्तिताश्वान्यन्तॄन्सारथीनुपालभ्यासाधुकृतमित्यधिक्षिप्य। पूर्वं यैः स्वयं सादिता हताः, लक्षितपूर्वकेतून् पूर्वदृष्टैः केतुभिः प्रत्यभिज्ञातानित्यर्थः। तानेव सामर्षतया सकोपत्वेन हेतुना निजघ्नुः प्रजह्रुः॥ ४४॥

रथपर चढ़े हुए वीर प्रहारकी मूर्च्छाके दूर होनेपर (मूर्च्छितावस्थामें) घोड़ोंको (युद्धभूमिसे) वापस लानेवाले सारथियोंको उपालम्भ देकर (तुम युद्ध भूमिसे हमारे रथको वापस लाये यह अच्छा नहीं किया, फिर वहीं रथको ले चलो इत्यादि उलहना देकर) जिनसे पहले घायल हुए थे, पहले लक्ष्य की गयी पताकाओंवाले उन योद्धाओंपर ही क्रोधित भावसे प्रहार किया॥ ४४॥

अप्यर्धमार्गे परबाणलूना धनुर्भृतां हस्तवतां पृषत्काः।
सम्प्रापुरेवात्मजवानुवृत्त्या पूर्वार्धभागैः फलिभिः शरव्यम्॥ ४५॥

अपीति। अर्धश्चासौ मार्गश्च अर्धमार्गस्तस्मिन्नर्धमार्गे परेषां बलैर्लूनाश्छिन्ना अपि हस्तवतां कृतहस्तानां धनुर्भृतां पृषत्काः शरा आत्मजवानुवृत्त्या स्ववेगानुबन्धेन हेतुना फलभिर्लोहाग्रवद्भिः। 'सस्यबाणाग्रयोः फलम्' इति विश्वः। पूर्वार्धभागैः। शृणातीति शरुः। तस्मै हितं शरव्यं लक्ष्यम्। 'उगवादिभ्यो यत्' इति यत्प्रत्ययः। 'लक्षं लक्ष्यं शरव्यं च' इत्यमरः। सम्प्रापुरेव, न तु मध्ये पतिता इत्यर्थः॥ ४५॥

फुर्तीले हाथवाले धनुर्धारियोंके, दूसरोंके बाणोंसे आधे मार्गमें (लक्ष्य तक पहुँचनेके पहले ही) कटे हुए भी बाण अपने वेगके अनुरूप फल (बाणका अग्रभाग) से युक्त पूर्वार्द्ध

मार्गोंसे निशानाओंको प्राप्त ही कर लिये (आधे मार्गमें दो टुकड़ा होकर भी निपुण धनुर्धारियोंके बाणोंने अपने लक्ष्यका वेध कर ही दिया) ॥ ४५ ॥

आधोरणानां गजसन्निपाते शिरांसि चक्रैर्निशितैः क्षुराग्रैः ।
हृतान्यपि श्येननखाग्रकोटिव्यासक्तकेशानि चिरेण पेतुः ॥ ४६ ॥

आधोरणेति । गजसन्निपाते गजयुद्धे निशितैरत एव क्षुराग्रैः क्षुरस्याग्रमिवाग्रं येषां तैश्चक्रैरायुधविशेषैर्हृतानि छिन्नान्यपि । श्येनानां पक्षिविशेषाणाम् । 'पक्षी श्येनः' इत्यमरः । नखाग्रकोटिषु व्यासक्ताः केशा येषां तानि । आधोरणानां हस्त्यारोहाणाम् । 'आधोरणा हस्तिपका हस्त्यारोहा निषादिनः' इत्यमरः । शिरांसि चिरेण पेतुः पतितानि । शिरःपातात्प्रागेवारुह्य पश्चादुत्पततां पक्षिणां नखेषु केशसङ्गश्चिरपातहेतुरिति भावः ॥ ४६ ॥

हाथियोंकी लड़ाईमें तेज एवं छुरके समान फलवाले चक्रोंसे कटे हुए भी, बाज पक्षियोंके चङ्गुलोंके नखाग्रमें फँसे हुए हाथीवानोंके मस्तक देरसे (भूमिपर) गिरे । (मस्तक कटनेके पहले ही उनपर बाज मंडराते थे, इतनेमें ही वे कट गये और उनको लेकर वे उड़े, किन्तु भारी होनेसे चङ्गुलके नखोंमें बालोंमें फंसनेसे विलम्बसे नीचे गिर पड़े । यहां मस्तकोंके छिन्न होनेके पहले बाजोंके उनके मस्तकोंपर मंडरानेसे कविने उनके अशुभ शकुनको सूचित किया है) ४६

पूर्वं प्रहर्ता न जघान भूयः प्रतिप्रहाराक्षममश्वसादी ।
तुरङ्गमस्कन्धनिषण्णदेहं प्रत्याश्वसन्तं रिपुमाचकाङ्क्ष ॥ ४७ ॥

पूर्वमिति । पूर्वं प्रथमं प्रहर्ताश्वसादी तौरङ्गिकः प्रतिप्रहारेऽक्षममशक्तं तुरङ्गमस्कन्धे निषण्णदेहम् , मूर्च्छितमित्यर्थः । रिपुं भूयो न जघान पुनर्न प्रजहार । किन्तु प्रत्याश्वसन्तं पुनरुज्जीवन्तमाचकाङ्क्ष । "नायुधव्यसनं प्राप्तं नार्तं नातिपरिक्षतम्" इति निषेधादिति भावः ॥ ४७ ॥

पहले प्रहार करनेवाला घुड़सवार घोड़ेके कन्धेपर पड़े हुए शरीरवाले अर्थात् मूर्च्छित तथा प्रतिप्रहार (जवाबी हमला) करनेमें असमर्थ उस शत्रुपर फिर प्रहार नहीं किया, किन्तु उसको होशमें आनेकी प्रतीक्षा करने लगा । (इस वर्णनसे वह युद्ध धर्माधर्मको विचारकर हो रहा था, यह संकेत किया गया है) ॥ ४७ ॥

तनुत्यजां वर्मभृतां विकोशैर्बृहत्सु दन्तेष्वसिभिः पतद्भिः ।
उद्यन्तमग्निं शमयांबभूवुर्गजा विविग्नाः करशीकरेण ॥ ४८ ॥

तनुत्यजामिति । तनुत्यजां, तनुषु निःस्पृहाणामित्यर्थः । वर्मभृतां कवचिनां सम्बन्धिभिर्बृहत्सु दन्तेषु पतद्भिरत एव विकोशैः । पिधानादुद्धृतैः । 'कोशोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधाने' इत्यमरः । असिभिः खड्गैरुद्यन्तमुत्थितमग्निं विविग्ना भीता गजाः करशीकरेण शुण्डादण्डजलकणेन शमयाम्बभूवुः शान्तं चक्रुः ॥ ४८ ॥

१) ...

(निःस्पृह होकर) शरीर-त्याग करनेको तैयार वर्म पहने हुए योद्धाओंकी म्यानसे निकली हुई तथा बड़े २ दांतोंपर पड़ती हुई तलवारोंसे निकलती हुई अग्निको व्याकुल हाथियोंने सूंढके शीकरों (फुत्कार करनेसे निकले हुए जल-कणों) से बुझाया ॥ ४८ ॥

शिलीमुखोत्कृत्तशिरःफलाढ्या च्युतैः शिरस्त्रैश्चषकोत्तरेव ।
रणक्षितिः शोणितमद्यकुल्या रराज मृत्योरिव पानभूमिः ॥ ४९ ॥

शिलीमुखेति । शिलीमुखैर्बाणैरुत्कृत्तानि शिरांस्येव फलानि तैराढ्या सम्पन्ना । च्युतैर्भ्रष्टैः । शिरांसि त्रायन्त इति शिरस्त्राणि शीर्षण्यानि । 'शीर्षण्यं च शिरस्त्रेऽथ' इत्यमरः । तैश्चषकोत्तरा, चषकः पानपात्रमुत्तरं यस्यां सेव । 'चषकोऽस्त्री पानपात्रम्' इत्यमरः । शोणितान्येव मद्यं तस्य कुल्याः प्रवाहा यस्यां सा । 'कुल्याल्पा कृत्रिमा सरित्' इत्यमरः । रणक्षितिर्युद्धभूमिर्मृत्योः पानभूमिरिव रराज ॥ ४९ ॥

बाणोंसे कटे हुए मस्तकरूप फलोंसे परिपूर्ण, गिरे हुए शिरस्त्राण अर्थात् टोपरूप प्यालियोंवाली तथा रक्तरूपी मद्यके प्रवाहोंवाली वह युद्धभूमि मृत्युकी (मद्य) पान-भूमिके समान शोभित हुई ॥ ४९ ॥

उपान्तयोर्निष्कुषितं विहङ्गैराक्षिप्य तेभ्यः पिशितप्रियापि ।
केयूरकोटिक्षततालुदेशा शिवा भुजच्छेदमपाचकार ॥ ५० ॥

उपान्तयोरिति । उपान्तयोः प्रान्तयोर्विहङ्गैः पक्षिभिर्निष्कुषितं खण्डितम् । "इणिनिष्ठायाम्" इतीडागमः । भुजच्छेदं भुजखण्डं तेभ्यो विहङ्गेभ्य आक्षिप्याच्छिद्य पिशितप्रिया मांसप्रियापि शिवा क्रोष्टी । 'शिवः कीलः शिवा क्रोष्टी' इति विश्वः । केयूरकोट्याऽङ्गदाग्रेण क्षतस्तालुदेशो यस्याः सा सती । अपाचकारापसारयामास । किरतेः करोतेर्वा लिट् ॥ ५० ॥

पक्षियोंसे दोनों ओर नोचे गये बाहुके टुकड़ेको उन (पक्षियों) से छीनकर मांसप्रिय (मांसको चाहनेवाली) स्यारिनने (बाहुमें लगी हुई) बिजायठके किनारेसे तालुके कटनेपर (उस बाहुका) त्यागकर दिया ॥ ५० ॥

कश्चिद्द्विषत्खड्गहृतोत्तमाङ्गः सद्यो विमानप्रभुतामुपेत्य ।
वामाङ्गसंसक्तसुराङ्गनः स्वं नृत्यत्कबन्धं समरे ददर्श ॥ ५१ ॥

कश्चिदिति । द्विषतः खड्गेन हृतोत्तमाङ्गश्छिन्नशिराः । 'उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षम्' इत्यमरः । कश्चिद्वीरः सद्यो विमानप्रभुतां विमानाधिपत्यम् , देवत्वमित्यर्थः । उपेत्य प्राप्य वामाङ्गसंसक्ता सव्योत्सङ्गसङ्गिनी सुराङ्गना यस्य स तथोक्तः सन् । अग्निपुराणे— "वराप्सरःसहस्राणि भूपमायोधने हतम् । त्वरितान्युपधावन्ति मम भर्ताभवेति च ॥" इति ॥ समरे नृत्यत् स्वं निजं कबन्धं विशिरस्कं कलेवरं ददर्श । 'कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरम्' इत्यमरः ॥ ५१ ॥

शत्रुकी तलवारसे छिन्नमस्तक कोई योद्धा विमानका मालिक अर्थात् देव बनकर बांये भागमे स्थित देवाङ्गनासे युक्त होता हुआ युद्धमें नाचते (छटपटाते) हुए अपने धड़को देखा॥५१॥

अन्योन्यसूतोन्मथनादभूतां तावेव सूतौ रथिनौ च कौचित् ।
व्यश्वौ गदाऽऽयायतसम्प्रहारौ भग्नायुधौ बाहुविमर्दनिष्ठौ ॥ ५२ ॥

अन्योन्येति । कौचिद्वीरावन्योन्यस्य सूतयोः सारथ्योरुन्मथनान्निधनात्तावेव सूतौ रथिनौ योद्धारौ चाभूताम् । तावेव व्यश्वौ नष्टाश्वौ सन्तौ गदाभ्यां आयतो दीर्घः सम्प्रहारो युद्धं ययोस्तावभूताम् । ततो भग्नायुधौ भग्नगदौ सन्तौ बाहुविमर्दे निष्ठा नाशो ययोस्तौ बाहुयुद्धसक्तावभूताम् । 'निष्ठा निष्पत्तिनाशान्ताः' इत्यमरः ॥ ५२ ॥

कोई दो योद्धा आपसके सारथियोंके मरनेसे वे ही सारथि तथा रथी हो गये अर्थात् स्वयं रथको हांकते हुए युद्ध करने लगे, (फिर) घोड़ोंके मर जानेपर गदायुद्ध करने लगे, (और फिर) शस्त्र अर्थात् गदाके टूट जानेपर मल्लयुद्ध करने लगे ॥ ५२ ॥

परस्परेण क्षतयोः प्रहर्त्रोरुत्क्रान्तवाय्वोः समकालमेव ।
अमर्त्यभावेऽपि कयोश्चिदासीदेकाप्सरःप्रार्थितयोर्विवादः ॥ ५३ ॥

परस्परेणेति । परस्परेणान्योन्यं क्षतयोः क्षततन्वोः समकालमेककालं यथा तयोरुत्क्रान्तवाय्वोर्युगपदुद्गतप्राणयोः । एकैवाप्सराः प्रार्थिता याभ्यां तयोरेकाप्सरःप्रार्थितयोः, प्रार्थितैकाप्सरसोरित्यर्थः । "वाहिताग्न्यादिषु" इति परनिपातः । अथवा एकस्यामप्सरसि प्रार्थितं प्रार्थना ययोरिति विग्रहः । 'स्त्रियां बहुष्वप्सरसः' इति बहुत्वाभिधानं प्रायिकम् । कयोश्चित्प्रहर्त्रोर्योधयोरमर्त्यभावेऽपि देवत्वेऽपि विवादः कलह आसीत् । एकामिषाभिलाषो हि महद्वैरबीजमिति भावः ॥ ५३ ॥

आपसमें (एक दूसरेके प्रहारसे) मारे गये, एक साथ ही निकली हुई प्राणवायुवाले किसी एक ही अप्सराको चाहनेवाले दो योद्धाओंके देवत्व प्राप्त करनेपर भी विवाद ही बना रहा ॥ ५३ ॥

व्यूहावुभौ तावितरेतरस्माद्भङ्गं जयं चापतुरव्यवस्थम् ।
पश्चात्पुरोमारुतयोः प्रवृद्धौ पर्यायवृत्त्येव महार्णवोर्मी ॥ ५४ ॥

व्यूहाविति । तावुभौ व्यूहौ सेनासङ्घातौ । 'व्यूहस्तु बलविन्यासः' इत्यमरः । पश्चात्पुरश्च यौ मारुतौ "द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते", तयोः पर्यायवृत्त्या क्रमवृत्त्या प्रवृद्धौ महार्णवोर्मी इव । इतरेतरस्मादन्योन्यस्मादव्यवस्थं व्यवस्थारहितमनियतं जयं भङ्गं पराजयं चापतुः प्राप्तवन्तौ ॥ ५४ ॥

वे दोनों व्यूह (अजपक्षीय तथा राजपक्षीय सेनासमूह) आगे तथा पीछे (या पूर्व और पश्चिम) वायुके पर्यायक्रमसे बढ़े हुए महासमुद्रके दो तरङ्गोंके समान आपसमें एक दूसरेसे

अव्यवस्थित जय तथा पराजयको प्राप्त करते थे । (कभी अजपक्षके सेना–समूहकी जीत होती थी तथा कभी अन्यराजवृन्द पक्षके सेना–समूहकी जीत होती थी) ५४ ॥

परेण भग्नेऽपि बले महौजा ययावजः प्रत्यरिसैन्यमेव ।
धूमो निवर्त्येत समीरणेन यतस्तु कक्षस्तत एव वह्निः ॥ ५५ ॥

परेणेति । बले स्वसैन्ये परेण परबलेन भग्नेऽपि महौजा महाबलोऽजोऽरिसैन्यं प्रत्येव ययौ । तथा हि—समीरणेन वायुना धूमो निवर्त्येत कक्षादपसार्येत । वर्ततेर्ण्यन्तात्कर्मणि सम्भावनायां लिङ् । वह्निस्तु यतो यत्र कक्षस्तृणम् 'कक्षौ तु तृणवीरुधौ' इत्यमरः । तत एव तत्रैव । प्रवर्तत इति शेषः । सार्वविभक्तिकस्तसिः ॥ ५५ ॥

अपनी सेनाके शत्रुओंसे मारे जानेपर भी महाबली अज शत्रुओंकी सेनाओंकी ओर ही जाते ही ये, हवासे धूम (भले ही) निवृत्त हो जावे; किन्तु जहाँ घास रहती है, वहीं अग्नि बढ़ती है ॥ ५५ ॥

रथी निषङ्गी कवची धनुष्मान्दृप्तः स राजन्यकमेकवीरः ।
निवारयामास महावराहः कल्पक्षयोद्वृत्तमिवार्णवाम्भः ॥ ५६ ॥

रथीति । रथी रथारूढो निषङ्गी तूणीरवान् । 'तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः' इत्यमरः । कवची वर्मधरो धनुष्मान्धनुर्धरो दृप्तो रणदृप्त एकवीरोऽसहायशूरः सोऽजो राजसमूहम् । "गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाद्वुञ्" इत्यनेन वुञ्प्रत्ययः । महावराहो वराहावतारो विष्णुः कल्पक्षये कल्पान्तकाले उद्वृत्तमुद्वेलमर्णवाम्भ इव, निवारयामास ॥ ५६ ॥

रथसवार, तूणीर (तरकस) युक्त, कवच पहने हुए और धनुर्धारी, अकेला (असहाय) उद्धत वीर उस अजने क्षत्रिय राजाओंके समूहको, प्रलयकालमें मर्यादाको उल्लङ्घन करनेवाले समुद्र–जलको महावराह (रूपधारी विष्णु भगवान्) के समान रोक दिया ॥ ५६ ॥

स दक्षिणं तूणमुखेन वामं व्यापारयन् हस्तमलक्ष्यताजौ ।
आकर्णकृष्टा सकृदस्य योद्धुर्मौर्वीव बाणान्सुषुवे रिपुघ्नान् ॥ ५७ ॥

स इति । सोऽजः आजौ सङ्ग्रामे दक्षिणं हस्तं तूणमुखेन निषङ्गविवरेण वाममतिसुन्दरम् । 'वामं सव्ये प्रतीपे च द्रविणे चातिसुन्दरे' इति विश्वः । व्यापारयन्नलक्ष्यत । शरसन्धानादयस्तु दुर्लक्ष्या इत्यर्थः । सकृदाकर्णकृष्टा योद्धुरस्याजस्य मौर्वी ज्या रिपून्घ्नन्तीति रिपुघ्नाः तान् । "अमनुष्यकर्तृके च" इति टक्प्रत्ययः । बाणान् सुषुव इव सुषुवे किमु इत्युत्प्रेक्षा ॥ ५७ ॥

वह अज युद्धमें दहने हाथको तरकसपर रखते हुए बड़े सुन्दर मालूम पड़ते थे । एक

चार कानतक खींची गयी योद्धा इस अजकी प्रत्यञ्चा (धनुषकी डोरी) मानो शत्रुनाशक बाणोंको पैदा कर रही थी ॥ ५७ ॥

स रोषदष्टाधिकलोहितोष्ठैर्व्यक्तोर्ध्वरेखा भ्रुकुटीर्वहद्भिः ।
तस्तार गां भल्लनिकृत्तकण्ठैर्हुङ्कारगर्भैर्द्विषतां शिरोभिः ॥ ५८ ॥

स इति । सोऽजः रोषेण दष्टा अत एवाधिकलोहिता ओष्ठा येषां तानि तैः । व्यक्त ऊर्ध्वा रेखा यासां ता भ्रुकुटीर्भ्रूभङ्गान्वहद्भिः । भल्लनिकृत्ता बाणविशेषच्छिन्नाः कण्ठा येषां तैः । हुङ्कारगर्भैः सहुङ्कारैः, हुङ्कुर्वद्भिरित्यर्थः । द्विषतां शिरोभिर्गां भूमिं तस्तार छादयामास ॥ ५८ ॥

उस अजने क्रोधसे काटे गये अत एव लाल ओठोंवाले, चढ़ी हुई टेढ़ी भृकुटियोंसे युक्त, भालेसे कटी हुई गर्दनवाले, (अत एव) भीतरमें ही हुङ्कार करनेवाले, शत्रुओंके मस्तकोंसे पृथ्वीको ढँक दिया ॥ ५८ ॥

सर्वैर्बलाङ्गैर्द्विरदप्रधानैः सर्वायुधैः कङ्कटभेदिभिश्च ।
सर्वप्रयत्नेन च भूमिपालास्तस्मिन्प्रजह्रुर्युधि सर्व एव ॥ ५९ ॥

सर्वैरिति । द्विरदप्रधानैर्गजमुख्यैः सर्वैर्बलाङ्गैः सेनाङ्गैः । 'हस्त्यश्वरथपादातं सेनाङ्गं स्याच्चतुष्टयम्' इत्यमरः । कङ्कटभेदिभिः कवचभेदिभिः । 'उरश्छदः कङ्कटको जगरः कवचोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । सर्वायुधैश्च । बाह्यबलमुक्त्वान्तरमाह—सर्वप्रयत्नेन च सर्व एव भूमिपाला युधि तस्मिन्नजे प्रजह्रुः, तं प्रजह्रुरित्यर्थः । सर्वत्र सर्वकारकशक्तिसम्भवात्कर्मणोऽप्यधिकरणविवक्षायां सप्तमी । तदुक्तम्—"अनेकशक्तियुक्तस्य विश्वस्यानेककर्मणः । सर्वदा सर्वथाभावात्क्वचित्किञ्चिद्विवक्ष्यते" ॥ इति ॥ ५९ ॥

हाथी हैं मुख्य जिसमें ऐसे सम्पूर्ण सेनाङ्गोंसे (गजदल, रथदल, अश्वदल तथा पैदलरूप चतुरङ्गिणी सेनाओंसे), कवचको विदीर्ण करनेवाले सम्पूर्ण शस्त्रोंसे और सब उपायोंसे सब राजालोग युद्धमें अजपर ही प्रहार करने लगे ॥ ५९ ॥

सोऽस्त्रव्रजैश्छन्नरथः परेषां ध्वजाग्रमात्रेण बभूव लक्ष्यः ।
नीहारमग्नो दिनपूर्वभागः किञ्चित्प्रकाशेन विवस्वतेव ॥ ६० ॥

स इति । परेषां द्विषामस्त्रव्रजैः शस्त्रसमुदायैश्छन्नरथः सोऽजः । नीहारैर्हिमैर्मग्नो दिनपूर्वभागः प्रातःकालः किञ्चित्प्रकाशेनेषल्लक्ष्येण विवस्वतेव आच्छादितरथः ध्वजाग्रमात्रेण लक्ष्यो बभूव । ध्वजाग्रादन्यन्न किञ्चिल्लक्ष्यते स्मेत्यर्थः ॥ ६० ॥

शत्रुओंके शस्त्रसमूहसे ढँके हुए रथवाले वह अज केवल ध्वजाके अगले भागसे उस प्रकार दिखलाई पड़ते थे, जिस प्रकार हिमसे आच्छादित, दिनका प्रथम भाग कुछ २ प्रकाशमान सूर्यसे लक्षित होता है ॥ ६० ॥

प्रियंवदात्प्राप्तमसौ कुमारः प्रायुङ्क्त राजस्वधिराजसूनुः ।
गान्धर्वमस्त्रं कुसुमास्त्रकान्तः प्रस्वापनं स्वप्ननिवृत्तलौल्यः ॥ ६१ ॥

प्रियंवदादिति । अधिराजसूनुर्महाराजपुत्रः कुसुमास्त्रकान्तो मदनसुन्दरः स्वप्ननिवृत्तलौल्यः स्वप्नवितृष्णः, जागरूक इत्यर्थः । असौ कुमारोऽजः । प्रियंवदात्पूर्वोक्ताद्गन्धर्वात्प्राप्तं गान्धर्वं गन्धर्वदेवताकम् । "सास्य देवता" इत्यण् । प्रस्वापयतीति प्रस्वापनं निद्राजनकमस्त्रं राजसु प्रायुङ्क्त प्रयुक्तवान् ॥ ६१ ॥

महाराजकुमार, मदनके समान सुन्दर तथा जागरूक कुमार अजने प्रियंवद (नामक गन्धर्व) से प्राप्त (५।५९), गन्धर्व देवतावाले एवं नींद लानेवाले अस्त्रको राजाओंपर चलाया ॥ ६१ ॥

ततो धनुष्कर्षणमूढहस्तमेकांसपर्यस्तशिरस्त्रजालम् ।
तस्थौ ध्वजस्तम्भनिषण्णदेहं निद्राविधेयं नरदेवसैन्यम् ॥ ६२ ॥

तत इति । ततो धनुष्कर्षणे चापकर्षणे मूढहस्तमव्यापृतहस्तम् । एकस्मिन्नंसे पर्यस्तं स्रस्तं शिरस्त्राणां शीर्षण्यानां जालं समूहो यस्य तत् । ध्वजस्तम्भेषु निषण्णा अवष्टब्धा देहा यस्य तत् नरदेवानां राज्ञां सेनैव सैन्यम् । चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः । निद्राविधेयं निद्रापरतन्त्रं तस्थौ ॥ ६२ ॥

तदनन्तर धनुषके खींचनेमें चेष्टारहित हाथवाला, एक कन्धेपर पड़े हुए शिरस्त्राण–समूह (टोपों) वाला, और ध्वजाओंके सहारे स्थित शरीरोंवाला वह राज–सैन्य निद्राके आधीन हो गया अर्थात् सो गया ॥ ६२ ॥

ततः प्रियोपात्तरसेऽधरोष्ठे निवेश्य दध्मौ जलजं कुमारः ।
तेन स्वहस्तार्जितमेकवीरः पिबन्यशो मूर्तमिवाबभासे ॥ ६३ ॥

तत इति । ततः कुमारोऽजः प्रिययेन्दुमत्योपात्तरसे आस्वादितमाधुर्ये । अतिश्लाघ्य इति भावः । अधरोष्ठे जलजं शङ्खं निवेश्य । 'जलजं शङ्खपद्मयोः' इति विश्वः । दध्मौ मुखमारुतेन पूरयामास । तेनौष्ठनिविष्टेन शङ्खेनैकवीरः स स्वहस्तार्जितं मूर्तं मूर्तिमद्यशः पिबन्निवाबभासे । यशसः शुभ्रत्वादिति भावः ॥ ६३ ॥

इसके बाद कुमार अजने प्रिया इन्दुमतीसे पीये गये रसवाले निचले ओष्ठपर शङ्खको रखकर बजाया, उससे मुख्य वीर (या बिना सहायकके वीर) वह अज अपने बाहुबलसे उपार्जित मूर्तिधारी यशको पान करते हुएके समान शोभमान हुए ॥ ६३ ॥

शङ्खस्वनाभिज्ञतया निवृत्तास्तं सन्नशत्रुं ददृशुः स्वयोधाः ।
निमीलितानामिव पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमाशशाङ्कम् ॥ ६४ ॥

शङ्खस्वनेति । शङ्खस्वनस्याजशङ्खध्वनेरभिज्ञतया प्रत्यभिज्ञातत्वान्निवृत्ताः प्राक्प-

काव्य सम्प्रति प्रत्यागताः स्वयोधा सन्नशत्रुं निद्राणशत्रुं तमजम् । निमीलितानां मुकुलितानां पङ्कजानां मध्ये स्फुरन्तं प्रतिमा चासौ शशाङ्कश्च तं प्रतिमाशशाङ्कं प्रतिबिम्बचन्द्रमिव, ददृशुः ॥ ६४ ॥

(अजकी) शङ्खध्वनिको पहचाननेसे वापस लौटे हुए अपने (अजपक्षवाले) योद्धाओंने शत्रुओंको पराजित किये हुए अजको, मुकुलित (बन्दमुखवाले, अत एव शोभाहीन) कमलोंके बीचमें प्रकाशित होते हुए प्रतिबिम्बित चन्द्रमाके समान देखा ॥ ६४ ॥

सशोणितैस्तेन शिलीमुखाग्रैर्निक्षेपिताः केतुषु पार्थिवानाम् ।
यशो हृतं सम्प्रति राघवेण न जीवितं वः कृपयेति वर्णाः ॥ ६५ ॥

सशोणितैरिति । सम्प्रति राघवेण रघुपुत्रेण । पूर्वं रघुणेति भावः । हे राजानः ! वो युष्माकं यशो हृतम् , जीवितं तु कृपया न हृतम् । न त्वशक्त्येति भावः । इत्येवंरूपा वर्णाः, एतदर्थप्रतिपादकं वाक्यमित्यर्थः । सशोणितैः शोणितदिग्धैः शिलीमुखाग्रैर्बाणाग्रैः साधनैस्तेनाजेन प्रयोजककर्त्रा पार्थिवानां राज्ञां केतुषु ध्वजस्तम्भेषु निक्षेपिताः प्रयोज्यैरन्यैर्निवेशिताः, लेखिता इत्यर्थः । क्षिपतेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः ॥ ६५ ॥

'इस समय रघुपुत्र अजने तुमलोगोंके यशको ले लिया तथा कृपाकर प्राणोंको नहीं लिया' इन अक्षरोंको अजने राजाओंकी पताकाओंपर बाणोंके रक्तलिप्त अग्रभागों (नोकों) से लिखवा दिया ॥ ६५ ॥

स चापकोटीनिहितैकबाहुः शिरस्त्रनिष्कर्षणभिन्नमौलिः ।
ललाटबद्धश्रमवारिबिन्दुर्भीतां प्रियामेत्य वचो बभाषे ॥ ६६ ॥

स इति । चापकोट्यां निहित एकबाहुर्येन सः । शिरस्त्रस्य निष्कर्षणेनापनयनेन भिन्नमौलिः श्लथकेशबन्धः । 'चूडाकिरीटं केशाश्च संयता मौलयस्त्रयः' इत्यमरः । ललाटे बद्धाः श्रमवारिबिन्दवो यस्य सः । सोऽजो भीतां प्रियामिन्दुमतीमेत्यासाद्य वचो बभाषे ॥ ६६ ॥

धनुके किनारेपर एक हाथको रखे हुए, शीर्षण्य (युद्धकालमें शिरकी रक्षाके लिये पहने जानेवाला टोप) के नहीं रहनेसे शिथिल (बिखरे) केशवाले और ललाटपर पसीनेकी बूंदोंसे युक्त वह अज भयभीत प्रिया (इन्दुमती) के पास जाकर बोले—॥ ६६ ॥

किमित्याह—

इतः परानर्भकहार्यशस्त्रान्वैदर्भि ! पश्यानुमता मयासि ।
एवंविधेनाहवचेष्टितेन त्वं प्रार्थ्यसे हस्तगता ममैभिः ॥ ६७ ॥

इत इति । हे वैदर्भि इन्दुमति ! इत इदानीमर्भकहार्यशस्त्रान्बालकापहार्यायुधान्परान्शत्रून्पश्य । मयानुमतासि द्रष्टुमिति शेषः । एभिर्नृपैरेवंविधेन निद्राकृपेणा-

इवचेष्टितेन रणकर्मणा मम हस्तगता, हस्तगतवद्ग्रहीतुमिच्छन्तीत्यर्थः । त्वं प्रार्थ्यसे, अपजिहीर्ष्यस इत्यर्थः । एवंविधेनेत्यत्र स्वहस्तनिर्देशेन सोपहासमुवाचेति द्रष्टव्यम् ॥ ६७ ॥

"हे विदर्भराजकुमारि ! बच्चेसे छीनने योग्य अस्त्रोंवाले शत्रुओंको देखो, मैं इन्हें देखनेके लिये तुमको अनुमति देता हूं। इस प्रकारकी ही युद्धकी ये चेष्टासे, मेरे हाथमें आयी हुई तुमको ये लोग (हरण करना) चाहते हैं" ॥ ६७ ॥

तस्याः प्रतिद्वन्द्विभवाद्विषादात्सद्यो विमुक्तं मुखमाबभासे ।
निःश्वासबाष्पापगमात्प्रपन्नः प्रसादमात्मीयमिवात्मदर्शः ॥ ६८ ॥

तस्या इति । प्रतिद्वन्द्विभवाद्रिपूत्थाद्विषादाद्दैन्यात्सद्यो विमुक्तं तस्या मुखं निःश्वासस्य यो बाष्प ऊष्मा । 'बाष्पो नेत्रजलोष्मणोः' इति विश्वः । तस्यापगमाद्धेतोरात्मीयं प्रसादं नैर्मल्यं प्रपन्नः प्राप्तः । आत्मा स्वरूपं दृश्यतेऽनेनेत्यात्मदर्शः दर्पण इव आबभासे ॥ ६८ ॥

वैरियोंसे उत्पन्न विषादसे तत्काल छूटा हुआ उस इन्दुमतीका मुख, श्वासवायुके दूर होनेसे अपनी (स्वाभाविक) निर्मलताको प्राप्त दर्पणके समान अत्यन्त शोभने लगा ॥ ६८ ॥

हृष्टापि सा ह्रीविजिता न साक्षाद्वाग्भिः सखीनां प्रियमभ्यनन्दत् ।
स्थली नवाम्भःपृषताभिवृष्टा मयूरकेकाभिरिवाभ्रवृन्दम् ॥ ६९ ॥

हृष्टापीति । सेन्दुमती हृष्टापि पत्युः पौरुषेण प्रमुदितापि ह्रिया विजिता यतोऽतः प्रियमजं साक्षात्स्वयं नाभ्यनन्दन्न प्रशशंस, किन्तु नवैरम्भःपृषतैः पयोबिन्दुभिरभिवृष्टाऽभिषिक्ता स्थल्यकृत्रिमा भूमिः । "जानपदकुण्डगोणस्थल—"इत्यादिनाऽकृत्रिमार्थे ङीष् । अभ्रवृन्दं मेघसङ्घं मयूरकेकाभिरिव । सखीनां वाग्भिरभ्यनन्दत् ॥ ६९ ॥

(पतिके पराक्रमसे) प्रसन्न भी लज्जासे पराभूत उस इन्दुमतीने जिस प्रकार नये जलके बूंदोंसे सींची गयी स्थली (बिना जुती हुई भूमि) मेघ–समूहका अभिनन्दन स्वयं नहीं करती है, किन्तु मयूरोंकी केका (मयूरोंकी बोलीका नाम) से करती है, उसी प्रकार साक्षात् (स्वयं ही) अपने वचनों से पतिका अभिनन्दन नहीं किया, किन्तु सखियोंके वचनोंसे अभिनन्दन किया ॥ ६९ ॥

इति शिरसि स वामं पादमाधाय राज्ञामुदवहदनवद्यां तामवद्यादपेतः ।
रथतुरगरजोभिस्तस्य रूक्षालकाग्रा समरविजयलक्ष्मीः सैव मूर्ता बभूव ॥७०॥

इतीति । नोद्यते नोच्यत इत्यवद्यं गर्ह्यम् । "अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु" इत्यनेन निपातः । 'कुपूयकुत्सितावद्यखेटगर्ह्याणकाः समाः' इत्यमरः । तस्मादपेतो रहितः, निर्दोष इत्यर्थः । सोऽज इति राज्ञां शिरसि वामं पादमाधायानवद्या-

महोर्वां तामिन्दुमतीमुद्वहदुपानयत्, आत्मसात्कारेत्यर्थः। अयमर्थः 'तमुद्वहन्तं पथि भोजकन्याम्' इत्यत्र न श्लिष्टः। तस्याजस्य रथतुरगाणां रजोभी रूक्षाणि परुषाण्यलकाग्राणि यस्याः सा, सेन्दुमत्येव मूर्ता मूर्तिमती समरविजयलक्ष्मीर्बभूव। एतल्लाभादन्यः को विजयलक्ष्मीलाभ इत्यर्थः ॥ ७० ॥

अनिन्दित वह अज इस प्रकार (शत्रुभूत) राजाओंके मस्तकपर बांये पैरको रखकर अनिन्दनीय उस इन्दुमतीको लेकर चले। रथों तथा घोड़ोंकी धूलिसे रूखे केशाग्रवाली वह इन्दुमती ही मूर्तिमती विजयलक्ष्मी हुई ॥ ७० ॥

प्रथमपरिगतार्थस्तं रघुः सन्निवृत्तं विजयिनमभिनन्द्य श्लाघ्यजायासमेतम् ।
तदुपहितकुटुम्बः शान्तिमार्गोत्सुकोऽभून्नहि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय॥

प्रथमेति। प्रथममजागमनात्प्रागेव परिगतो ज्ञातोऽर्थो विवाहविजयरूपो येन सः प्रथमपरिगतार्थो रघुर्विजयिनं विजययुक्तं श्लाघ्यजायासमेतं सन्निवृत्तं प्रत्यागतं तमजमभिनन्द्य तस्मिन्नजे उपहितकुटुम्बः सन्। "सुतविन्यस्तपत्नीकः" इति याज्ञवल्क्यस्मरणादिति भावः। शान्तिमार्गे मोक्षमार्गे उत्सुकोऽभूत्। तथा हि—कुलधुर्ये कुलधुरन्धरे सति सूर्यवंश्याः गृहाय गृहस्थाश्रमाय नहि भवन्ति ॥ ७१ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये अजपाणिग्रहणो नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

(अजके पहुंचनेके) पहले ही समाचारको मालूम किये हुए रघु लौटे हुए, विजयी तथा प्रशंसनीय स्त्रीसे युक्त उस अजका अभिनन्दनकर उनपर कुटुम्ब (अपनी स्त्री) का भार समर्पितकर शान्ति-मार्ग अर्थात् मुक्तिके लिये उत्सुक हुए; क्योंकि—सूर्यवंशी राजा अपनी सन्तानके राज्यभार सम्हालनेके योग्य होनेपर गृहस्थाश्रममें नहीं रहते ॥ ७१ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'अजपाणिग्रहण' नामक सप्तम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः ।

हेरम्बमवलम्बेऽहं यस्मिन् पातालकेलिषु ।
दन्तेनोदस्यति क्षोणीं विश्राम्यन्ति फणीश्वराः ॥

अथ तस्य विवाहकौतुकं ललितं बिभ्रत एव पार्थिवः ।
वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोदिन्दुमतीमिवापराम् ॥ १ ॥

अथेति । अथ पार्थिवो रघुर्ललितं सुभगं विवाहकौतुकं विवाहमङ्गलं विवाहहस्तसूत्रं वा बिभ्रत एव । 'कौतुकं मङ्गले हर्षे हस्तसूत्रे कुतूहले' इति शाश्वतः । तस्याजस्य । अपरामिन्दुमतीमिव वसुधामपि हस्तगामिनीमकरोत्, राज्ये तमभ्यषिञ्चदित्यर्थः । अस्मिन् सर्गे वैतालीयं छन्दः ॥ १ ॥

नागलोक-खेलामें जो भूको दंष्ट्रापर ले लेता ।
सुस्ताते शेषराज तब, मैं उस एकदन्त को नित सेता ॥

इसके बाद राजा रघुने मनोहर विवाह-मङ्गलको धारण करते ही उस अजके हाथोंमें दूसरी इन्दुमतीके समान पृथ्वीको भी सौंप दिया ॥ १ ॥

दुरितैरपि कर्तुमात्मसात्प्रयतन्ते नृपसूनवो हि यत् ।
तदुपस्थितमग्रहीदजः पितुराज्ञेति न भोगतृष्णया ॥ २ ॥

दुरितैरिति । नृपसूनवो राजपुत्रा यद्राज्यं दुरितैरपि विषप्रयोगादिनिषिद्धोपायैरप्यात्मसात्स्वाधीनम् । "तदधीनवचने" इति सातिप्रत्ययः । कर्तुं प्रयतन्ते हि, प्रवर्तन्त एवेत्यर्थः । तथा हि—"राजपुत्रा मदोद्वृत्ता गजा इव निरङ्कुशाः । भ्रातरं पितरं वापि निघ्नन्त्येवाभिमानिनः" ॥ हिशब्दोऽवधारणे । 'हि हेताववधारणे' इत्यमरः । उपस्थितं स्वतः प्राप्तं तद्राज्यमजः । पितुराज्ञेति हेतोरग्रहीत्स्वीचकार भोगतृष्णया तु नाग्रहीत् ॥ २ ॥

राजकुमारलोग जिस राज्यको (विष देने आदि) पाप कर्मोंके द्वारा भी स्वाधीन करनेके लिये प्रयत्न करते हैं, प्राप्त हुए भी उस राज्यको अजने 'पिताकी आज्ञा है' इस कारणसे स्वीकार किया, भोगकी तृष्णासे नहीं (स्वीकार किया) ॥ २ ॥

अनुभूय वसिष्ठसम्भृतैः सलिलैस्तेन सहाभिषेचनम् ।
विशदोच्छ्वसितेन मेदिनी कथयामास कृतार्थतामिव ॥ ३ ॥

अनुभूयेति । मेदिनी भूमिः । महिषी च ध्वन्यते । वसिष्ठेन सम्भृतैः सलिलैस्तेनाजेन सहाभिषेचनमनुभूय विशदोच्छ्वसितेन स्फुटमुद्बृंहणेन आनन्दनिर्मलोच्छ्वसितेन चेति ध्वन्यते । कृतार्थतां गुणवद्भर्तृलाभकृतं साफल्यं कथयामासेव । न चैता-

वता पूर्वेषामपकर्षः । प्रशंसापरत्वात् 'सर्वत्र जयमन्विच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्' इत्यङ्गीकृतत्वाच्च ॥ ३ ॥

पृथ्वीने वसिष्ठ ऋषिके द्वारा(मन्त्रपूर्वक) छोड़े गये जलोंसे उस अजके साथ अभिषिक्त होकर निर्मल उच्छ्वास (या आनन्दोच्छ्वास) से (गुणवान् पतिको प्राप्त करनेसे) कृतार्थताको प्रकट किया ॥ ३ ॥

स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाऽथर्वविदा कृतक्रियः ।
पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ॥ ४ ॥

स इति । अथर्वविदाऽथर्ववेदाभिज्ञेन गुरुणा वसिष्ठेन कृतक्रियः, अथर्वोक्तविधिना कृताभिषेकसंस्कार इत्यर्थः । सोऽजः परैः शत्रुभिर्दुरासदो दुर्धर्षो बभूव । तथा हि । अस्त्रतेजसा क्षत्रतेजसा सहितं युक्तं यद् ब्रह्म ब्रह्मतेजोऽयं पवनाग्निसमागमो हि, तत्कल्प इत्यर्थः । पवनाग्नीत्यत्र पूर्वनिपातशास्त्रस्यानित्यत्वात् "द्वन्द्वे घि" इति नाग्निशब्दस्य पूर्वनिपातः । तथा च काशिकायाम्-'अयमेकस्तु लक्षणहेत्वोरिति निर्देशः पूर्वनिपातव्यभिचारचिह्नम्' इति । क्षात्त्रेणैवायं दुर्धर्षः किमयं पुनर्वसिष्ठमन्त्रप्रभावे सतीत्यर्थः । अत्र मनुः—"नाक्षत्रं ब्रह्म भवति क्षत्रं नाब्रह्म वर्धते । ब्रह्मक्षत्रे तु संयुक्ते इहामुत्र च वर्धते" ॥ इति ॥ ४ ॥

अथर्ववेदके ज्ञाता गुरु (वसिष्ठजी) से अभिषिक्त वह अज शत्रुओंके दुर्धर्ष (अजेय) हुए, क्यों कि क्षत्रियतेजसे युक्त जो ब्रह्मतेज है, वह वायु तथा अग्निका समागम है अर्थात् जिस प्रकार वायुका संयोग होनेपर अग्नि असह्य हो जाती है, उसी प्रकार वसिष्ठ ऋषिके ब्रह्मतेजसे युक्त अजका क्षत्रियतेज शत्रुओंको असह्य हो गया ॥ ४ ॥

रघुमेव निवृत्तयौवनं तममन्यन्त नवेश्वरं प्रजाः ।
स हि तस्य न केवलां श्रियं प्रतिपेदे सकलान्गुणानपि ॥ ५ ॥

रघुमिति । प्रजा नवेश्वरं तमजं निवृत्तयौवनं प्रत्यावृत्तयौवनं रघुमेवामन्यन्त । न किञ्चिद्भेदकमस्तीत्यर्थः । कुतः । हि यस्मात्सोऽजस्तस्य रघोः केवलामेकां श्रियं न प्रतिपेदे, किन्तु सकलान्गुणाञ्छौर्यदाक्षिण्यादीनपि प्रतिपेदे, अतस्तद्गुणयोगात्तद्बुद्धिर्युक्तेत्यर्थः ॥ ५ ॥

प्रजाओंने उस नये राजाको लौटी हुई जवानीवाला रघु ही माना, क्योंकि उस (अज) ने उस (रघु) के केवल राजलक्ष्मीको ही नहीं प्राप्त किया, (किन्तु रघुके) सब गुणोंको भी प्राप्त किया ॥ ५ ॥

अधिकं शुशुभे शुभंयुना द्वितयेन द्वयमेव सङ्गतम् ।
पदमृद्धमजेन पैतृकं विनयेनास्य नवं च यौवनम् ॥ ६ ॥

अधिकमिति । इयमेव शुभंयुना शुभवता । 'शुभंयुस्तु शुभान्वितः' इत्यमरः । "अहंशुभमोर्युस्" इति युस्प्रत्ययः । द्वितयेन सङ्गतं युतं सदधिकं शुशुभे । किं केनेत्याह—पदमिति । पैतृकं पितुरागतम् । "ऋतष्ठञ्" इति ठञ्प्रत्ययः । ऋद्धं समृद्धं पदं राज्यमजेन । अस्याजस्य नवं यौवनं विनयेनेन्द्रियजयेन च । "विजयो हीन्द्रियजयस्तद्युक्तः शास्त्रमर्हति" इति कामन्दकः । राज्यस्थोऽपि प्राकृतवन्न दृप्तोऽभूदित्यर्थः ॥ ६ ॥

शुभयुक्त दोनों (अज तथा विनय) से सङ्गत दोनों (पैतृक राज्य तथा अजकी युवावस्था) ही अधिक शोभित हुए—अजसे समृद्धिशाली पितृक्रमागत राज्य और विनयसे इस अजकी नयी युवावस्था ॥ ६ ॥

सदयं बुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति ।
अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव ॥ ७ ॥

सदयमिति । महाभुजः सोऽजोऽचिरोपनतां नवोपगतां मेदिनीं भुवं नवं पाणिग्रहणं विवाहो यस्यास्तां नवोढां वधूमिव । उक्तं च रतिरहस्ये—"सौम्यैरालिङ्गनैर्वाक्यैश्चुम्बनैश्चापि सांत्वयेत्" । सहसा बलात्कारेण चेत् । 'सहो बलं सहा मार्गः' इत्यमरः । इयं मेदिनी वधूर्वोद्वेगं भयं व्रजेदिति हेतोः । सदयं सकृपं बुभुजे भुक्तवान् । "भुजोऽनवने" इत्यात्मनेपदम् ॥ ७ ॥

महाबाहु अजने थोड़े दिनोंसे प्राप्त पृथ्वीको नवविवाहित वधूके समान "बलात् (कठोर शासन या दबावसे भोग करनेपर) यह (पृथ्वी तथा नववधू) उद्विग्न हो जायेगी" इस कारण दयापूर्वक (धीरे २) भोग किया ॥ ७ ॥

अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत् ।
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित् ॥ ८ ॥

अहमिति । प्रकृतिषु प्रजासु मध्ये सर्वोऽपि जनः । अथवा प्रकृतिष्विवस्यस्याहमित्यनेनान्वयः । व्यवधानं तु सह्यम् । सर्वोऽपि जनः प्रकृतिष्वहमेव महीपतेर्मतो महीपतिना मन्यमानः । "मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च" इति वर्तमाने क्तः । "क्तस्य च वर्तमाने" इति षष्ठी । इत्यचिन्तयदमन्यत । उदधेर्निम्नगाशतेष्विवास्य नृपस्य कर्तुः । "कर्तृकर्मणोः कृति" इति कर्तरि षष्ठी । क्वचिदपि जनविषये विमाननाऽवगणना तिरस्कारो नाभवत् । यतो न कञ्चिदवमन्यतेऽतः सर्वोऽप्यहमेवास्य मत इत्यमन्यतेत्यर्थः ॥

प्रकृतियों (प्रजाओं या मन्त्री आदि अधीनस्थ कर्मचारियों) में "मुझे ही राजा अधिक मानते हैं" ऐसा सबने समझा । सैकड़ों नदियोंमें समुद्रके समान इस (अज) के द्वारा किसीका भी तिरस्कार नहीं हुआ ॥ ८ ॥

न खरो न च भूयसा मृदुः पवमानः पृथिवीरुहानिव।
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन्॥ ९॥

नेति। स नृपो भूयसा बाहुल्येन खरस्तीक्ष्णो न। भूयसा मृदुरतिमृदुरपि न। किन्तु पुरस्कृतमध्यमक्रमः सन्, मध्यमपरिपाटीमवलम्ब्येत्यर्थः। पवमानो वायुः पृथिवीरुहांस्तरूनिव। नृपाननुद्धरन्ननुत्पाटयन्नेव नमयामास। अत्र कामन्दकः—"मृदुश्चेदवमन्येत तीक्ष्णादुद्विजते जनः। तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव प्रजानां स च सम्मतः"॥ इति॥ ९॥

न बहुत तेज तथा न बहुत मन्द—किन्तु मध्यम गतिसे बहती हुई वायु जिस प्रकार वृक्षोंको नहीं उखाड़ती हुई उन्हें झुका देती है; उसी प्रकार न बहुत कठोर तथा न बहुत सरल—किन्तु मध्यम शासनको करनेवाले अजने राजाओंको नष्ट (राज्यभ्रष्ट) नहीं करते हुए उन्हें झुका दिया अर्थात् अपने वशमें कर लिया॥ ९॥

अथ वीक्ष्य रघुः प्रतिष्ठितं प्रकृतिष्वात्मजमात्मवत्तया।
विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत्॥ १०॥

अथेति। अथ रघुरात्मजं पुत्रमात्मवत्तया, निर्विकारमनस्कतयेत्यर्थः। 'उदया- दिष्वविकृतिर्मनसः सत्त्वमुच्यते। आत्मवान् सत्त्ववानुक्तः" इत्युत्पलमालायाम्। प्रकृतिष्वमात्यादिषु प्रतिष्ठितं रूढमूलं वीक्ष्य ज्ञात्वा विनाशो धर्मो येषां तेषु विनाश- धर्मसु, अनित्येष्वित्यर्थः। "धर्मादनिच्केवलात्" इत्यनिच्प्रत्ययः समासान्तः। त्रिदि- वस्थेषु स्वर्गस्थेष्वपि विषयेषु शब्दादिषु निःस्पृहो निर्गतेच्छोऽभवत्॥ १०॥

इसके बाद रघुपुत्र (अज) को विकारहीन भावसे मन्त्री आदि प्रकृतियोंमें स्थिर (जमे हुए प्रभाववाला) देखकर विनश्वर स्वर्गीय विषयोंमें भी निःस्पृह हो गये॥ १०॥

कुलधर्मश्चायमेवेत्याह—

गुणवत्सुतरोपितश्रियः परिणामे हि दिलीपवंशजाः।
पदवीं तरुवल्कवाससां प्रयताः संयमिनां प्रपेदिरे॥ ११॥

गुणवदिति। दिलीपवंशजाः परिणामे वार्धके गुणवत्सुतेषु रोपितश्रियः स्थापित- लक्ष्मीकाः प्रयताश्च सन्तः। तरुवल्कान्येव वासांसि येषां तेषां संयमिनां यतीनां पदवीं प्रपेदिरे यस्मात्तस्मादस्यापीदमुचितमित्यर्थः॥ ११॥

क्योंकि दिलीप-वंशोत्पन्न राजालोग वृद्धावस्थामें 'गुणवान् पुत्रोंको राज्यभार सौंपकर वृक्षोंके वल्कल (छाल) पहननेवाले मुनियोंके मार्गको ग्रहण किया है (अतः रघुका विषय- निःस्पृह होना उचित ही था)॥ ११॥

तमरण्यसमाश्रयोन्मुखं शिरसा वेष्टनशोभिना सुतः ।
पितरं प्रणिपत्य पादयोरपरित्यागमयाचतात्मनः ॥ १२ ॥

तमिति । अरण्यसमाश्रयोन्मुखं वनवासोत्सुकम् । अत्र मनुः—"गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः । सापत्यो निरपत्यो वा तदारण्यं समाश्रयेत्" ॥ पितरं तं रघुं सुतोऽजः । वेष्टनशोभिनोष्णीषमनोहरेण शिरसा पादयोः प्रणिपत्य । आत्मनोऽपरित्यागमयाचत । मां परित्यज्य न गन्तव्यमिति प्रार्थितवानित्यर्थः ॥ १२ ॥

वनको जानेके लिये तैयार पिता रघुको पुत्र अजने पगड़ी (या राजमुकुट) से शोभित मस्तकसे दोनों चरणोंमें प्रणामकर "मुझे छोड़कर मत जाइये" ऐसी प्रार्थना की ॥ १२ ॥

रघुरश्रुमुखस्य तस्य तत्कृतवानीप्सितमात्मजप्रियः ।
न तु सर्प इव त्वचं पुनः प्रतिपेदे व्यपवर्जितां श्रियम् ॥ १३ ॥

रघुरिति । आत्मजप्रियः पुत्रवत्सलो रघुः । अश्रूणि मुखे यस्य तस्याश्रुमुखस्याजस्य तदपरित्यागरूपमीप्सितमभिलषितं कृतवान् । किन्तु सर्पस्त्वचमिव व्यपवर्जितां त्यक्तां श्रियं पुनर्न प्रतिपेदे न प्राप ॥ १३ ॥

पुत्रवत्सल रघुने डबडबाई हुई आँखोंवाले उस अजके अभिलाषको (पूर्ण) किया अर्थात् वनको जानेका विचार छोड़ दिया, किन्तु छोड़ी गयी काँचली (केंचुल) को सर्पके समान, छोड़ी हुई राजलक्ष्मीको पुनः स्वीकार नहीं किया ॥ १३ ॥

स किलाश्रममन्त्यमाश्रितो निवसन्नावसथे पुराद् बहिः ।
समुपास्यत पुत्रभोग्यया स्नुषयेवाविकृतेन्द्रियः श्रिया ॥ १४ ॥

स इति । स रघुः किलान्त्यमाश्रमं प्रव्रज्यामाश्रितः पुरान्नगराद् बहिरावसथे स्थाने निवसन्नविकृतेन्द्रियः, जितेन्द्रियः सन्नित्यर्थः । अत एव स्नुषयेव वध्वेव पुत्रभोग्यया । न स्वभोग्यया । श्रिया समुपास्यत शुश्रूषितः । जितेन्द्रियस्य तस्य स्नुषयेव श्रियापि पुष्पफलोदकाहरणादिशुश्रूषाव्यतिरेकेण न किञ्चिदपेक्षितमासीदित्यर्थः । अत्र यद्यपि "ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति" इति श्रुतेः, "आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्" इति मनुस्मरणात् । "मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम् । बाहुजातोरुजातानामयं धर्मो न विद्यते ॥" इति निषेधाच्च ब्राह्मणस्यैव प्रव्रज्या न क्षत्रियादेरित्याहुः, तथापि "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्" इत्यादिश्रुतेस्त्रैवर्णिकसाधारण्यात् , "त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः" इति सूत्रकारवचनात् , "ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा प्रव्रजेद् गृहात्" इति स्मरणात् , "मुखजानामयं धर्मो वैष्णवं लिङ्गधारणम् । बाहुजातोरुजातानां त्रिदण्डं न विधीयते ॥" इति निषेधस्य त्रिदण्डविषयत्वदर्शनाच्च क्वचिद् ब्राह्मणपदस्योपलक्षणमाचक्षाणाः केचित् त्रैव-

र्गिकाधिकारं प्रतिपेदिरे। तथा सति "स किलाश्रममन्त्यमाश्रितः" इत्यत्रापि कविनाप्ययमेव पक्षो विवक्षित इति प्रतीमः। अन्यथा वानप्रस्थाश्रमतया व्याख्याते "विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित्" इति वक्ष्यमाणेनानग्निसंस्कारेण विरोधः स्यात्। अग्निसंस्काररहितस्य वानप्रस्थस्यैवाभावात् इत्यलं प्रासङ्गिकेन ॥ १४ ॥

वह (रघु) अन्तिम आश्रम (संन्यासाश्रम) को स्वीकारकर नगरके बाहरी स्थानमें रहते हुए जितेन्द्रिय होकर पुत्रके भोग करने योग्य पतोहू (पुत्रवधू) के समान राजलक्ष्मीसे सेवित हुए ॥ १४ ॥

प्रशमस्थितपूर्वपार्थिवं कुलमभ्युद्यतनूतनेश्वरम् ।
नभसा निभृतेन्दुना तुलामुदितार्केण समारुरोह तत् ॥ १५ ॥

प्रशमेति। प्रशमे स्थितः पूर्वपार्थिवो रघुर्यस्य तत्। अभ्युद्यतोऽभ्युदितो नूतनेश्वरोऽजो यस्य तत्। प्रसिद्धं कुलं निभृतेन्दुनाऽस्तमयासन्नचन्द्रेणोदितार्केण प्रकटितसूर्येण च नभसा तुलां सादृश्यं समारुरोह प्राप। न च नभसा तुलामित्यत्र "तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्" इत्यनेन प्रतिषेधस्तृतीयायाः। तस्य सदृशवाचितुलाशब्दाविषयत्वात्। "कृष्णस्य तुला नास्ति" इति प्रयोगात्। अस्य च सादृश्यवाचित्वात् ॥ १५ ॥

शान्तिमें स्थित पुराने राजा (रघु)वाला तथा उन्नत होते हुए नये राजा (अज)वाला वह (इक्ष्वाकु-) वंश अस्त होते हुए चन्द्रवाले तथा उदय हुए सूर्यवाले आकाशके सदृश हुआ ॥

यतिपार्थिवलिङ्गधारिणौ ददृशाते रघुराघवौ जनैः ।
अपवर्गमहोदयार्थयोर्भुवमंशाविव धर्मयोर्गतौ ॥ १६ ॥

यतीति। यतिर्भिक्षुः। पार्थिवो राजा। तयोर्लिङ्गधारिणौ रघुराघवौ रघुतत्सुतौ। अपवर्गमहोदयार्थयोर्मोक्षाभ्युदयफलयोर्धर्मयोः। निवर्तकप्रवर्तकरूपयोरित्यर्थः। भुवं गतौ भूलोकमवतीर्णावंशाविव। जनैर्ददृशाते दृष्टौ ॥ १६ ॥

भिक्षु (संन्यासी) तथा राजाके चिह्नों (क्रमशः गैरिक वस्त्र आदि तथा राजमुकुट श्वेतच्छत्र एवं चामर आदि) को धारण करते हुए रघु तथा अजको लोग मुक्ति तथा महोन्नति रूप फलवाले (निवृत्ति तथा प्रवृत्तिको करनेवाले) दो धर्मोंके भूलोकमें अवतीर्ण अंशके समान देखते थे ॥ १६ ॥

अजिताधिगमाय मन्त्रिभिर्युयुजे नीतिविशारदैरजः ।
अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः ॥ १७ ॥

अजितेति। अजोऽजिताधिगमायाजितपदलाभाय नीतिविशारदैर्नीतिज्ञैर्मन्त्रिभिर्युं-

युजे सङ्गतः । रघुरप्यनपायिपदस्योपलब्धये मोक्षस्य प्राप्तये यथार्थदर्शिनो यथार्थवादिनश्चाप्ताः तैर्योगिभिः समियाय सङ्गतः । उभयत्राप्युपायचिन्तार्थमिति शेषः ॥ १७ ॥

अज अजित पदको प्राप्त करनेके लिये नीतिनिपुण मन्त्रियोंसे मिले (उनके साथ मन्त्रणा करने लगे) और रघु अविनश्वर पद अर्थात् मुक्तिको प्राप्त करनेके लिये यथार्थ तत्त्वदर्शी योगियोंसे मिले ॥ १७ ॥

नृपतिः प्रकृतीरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे युवा ।
परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् ॥ १८ ॥

नृपतिरिति । युवा नृपतिरजः प्रकृतीः प्रजाः कार्यार्थिनीरवेक्षितुम्, दुष्टादुष्टपरिज्ञानार्थमित्यर्थः । व्यवहारासनं धर्मासनमाददे स्वीचकार । "व्यवहारान्नृपः पश्येत्" इति याज्ञवल्क्यस्मरणात् । प्रवयाः स्थविरो नृपती रघुस्तु । 'प्रवयाः स्थविरो वृद्धः' इत्यमरः । धारणां चित्तस्यैकाग्रतां परिचेतुमभ्यसितुमुपांशु विजने । 'उपांशु विजने प्रोक्तम्' इति हलायुधः । कुशैः पूतं विष्टरमासनमाददे । "यमादिगुणसंयुक्ते मनसः स्थितिरात्मनि । धारणा प्रोच्यते सद्भिर्योगशास्त्रविशारदैः" इति वसिष्ठः ॥ १८ ॥

युवक राजा (अज) प्रजाओंके (व्यवहार—विवाद) को देखनेके लिये धर्मासनको तथा वृद्ध राजा (रघु) चित्तकी एकाग्रताके अभ्यासके लिये एकान्तमें पवित्र कुशासनको ग्रहण किये ॥ १८ ॥

अनयत्प्रभुशक्तिसम्पदा वशमेको नृपतीननन्तरान् ।
अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पञ्च शरीरगोचरान् ॥ १९ ॥

अनयदिति । एकोऽन्यतरः, अज इत्यर्थः । अनन्तरान् स्वभूम्यनन्तरान्नृपतीन्न्यातन्यपार्ष्णिग्राहादीन्प्रभुशक्तिसम्पदा कोशदण्डमहिम्ना । वशं स्वायत्ततामनयत् । "कोशो दण्डो बलं चैव प्रभुशक्तिः प्रकीर्तिता" इति मिताक्षरायाम् । अपरो रघुः प्रणिधानयोग्यया समाध्यभ्यासेन । 'योग्याभ्यासार्कयोषितोः' इति विश्वः । शरीरगोचरान् देहाश्रयान्पञ्च मरुतः प्राणादीन्वशमनयत् । 'प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः । शरीरस्थाः' इत्यमरः ॥ १९ ॥

एक राजा (अज) ने प्रभुशक्ति अर्थात् कोष एवं दण्डकी सम्पत्तिसे अनन्तर राजाओंको तथा दूसरे राजा (रघु) ने समाधिके अभ्याससे शरीरस्थ पांच वायुओं (प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान) को वशमें किया ॥ १९ ॥

अकरोदचिरेश्वरः क्षितौ द्विषदारम्भफलानि भस्मसात् ।
इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना ॥ २० ॥

अकरोदिति । अचिरेश्वरोऽजः क्षितौ द्विषतामारम्भाः कर्माणि तेषां फलानि भस्म-

सादकरोत्कार्त्स्न्येन भस्मीकृतवान् । "विभाषा साति कार्त्स्न्ये" इति सातिप्रत्ययः । इतरो रघुर्ज्ञानमयेन तत्त्वज्ञानप्रचुरेण वह्निना पावकेन करणेन स्वकर्मणां भवबीजभूतानां दहने भस्मीकरणे वबृते । स्वकर्माणि दग्धुं प्रवृत्त इत्यर्थः । "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन" इति गीतावचनात् ॥ २० ॥

नये राजा (अज) ने पृथ्वीपर शत्रुओंके आरम्भ किये गये कार्योंके फलोंको भस्म (नष्ट) कर दिया तथा दूसरे (प्राचीन राजा—रघु) ने ज्ञानमय अग्निसे अपने (संसारके कारणभूत) कर्मोंको जलाने (नष्ट करने) में लग गये अर्थात् ज्ञानप्राप्तिसे अपने कर्मोंको नष्ट करने लगे ॥ २० ॥

पणबन्धमुखान्गुणानजः षडुपायुङ्क्त समीक्ष्य तत्फलम् ।
रघुरप्यजयद् गुणत्रयं प्रकृतिस्थं समलोष्टकाञ्चनः ॥ २१ ॥

पणबन्धेति । 'पणबन्धः सन्धिः' इति कौटिल्यः । अजः पणबन्धमुखान्सन्ध्यादीन्षड्गुणान् । 'सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः । षड्गुणाः' इत्यमरः । तत्फलं तेषां गुणानां फलं समीक्ष्यालोच्योपायुङ्क्त । फलिष्यन्तमेव गुणं प्रायुङ्क्तेत्यर्थः । "प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु" इत्यात्मनेपदम् । समस्तुल्यतया भावितो लोष्टो मृत्पिण्डः काञ्चनं सुवर्णं च यस्य स समलोष्टकाञ्चनः, निःस्पृह इत्यर्थः । 'लोष्टानि लेष्टवः पुंसि' इत्यमरः । रघुरपि गुणत्रयं सत्त्वादिकम् । 'गुणाः सत्त्वं रजस्तमः' इत्यमरः । प्रकृतौ साम्यावस्थायामेव तिष्ठतीति प्रकृतिस्थं पुनर्विकारशून्यं यथा तथाऽजयत् ॥ २१ ॥

अज सन्धि आदि षड्गुणोंका, उनका फल देखकर (देश–कालके अनुसार) प्रयोग करने लगे तथा मिट्टीके ढेले और सुवर्णको समान समझते हुए अर्थात् सम्पत्तिसे निःस्पृह होते हुए रघु भी प्रकृतिस्थ तीनो गुणों (सत्त्व, रज और तम) को जीत लिये ॥ २१ ॥

न नवः प्रभुराफलोदयात्स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः ।
न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरापरमात्मदर्शनात् ॥ २२ ॥

नेति । स्थिरकर्मा फलोदयकर्मकारी नवः प्रभुरजः आफलोदयात्फलसिद्धिपर्यन्तं कर्मण आरम्भान्न विरराम न निवृत्तः । "जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्" इत्यपादानात्पञ्चमी । "व्याङ्परिभ्यो रमः" इति परस्मैपदम् । स्थिरधीर्निश्चलचित्तः । तदुक्तं गीतायाम्–"दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः । वीतरागभयक्रोधः स्थिरधीर्मुनिरुच्यते" ॥ नवेतरो रघुश्चापरमात्मदर्शनात्परमात्मसाक्षात्कारपर्यन्तं योगविधेरैक्यानुसंधानान्न विरराम ॥ २२ ॥

स्थिरकर्मा (फलप्राप्तिवक कामोंमें लगे रहनेवाले) नये राजा (अज) ने फलके दृष्टिगोचर होनेतक कार्यको नहीं छोड़ा तथा स्थिर बुद्धिवाले प्राचीन राजा (रघु) ने परमात्माके दर्शन होनेतक योगविधिको नहीं छोड़ा ॥ २२ ॥

इति शत्रुषु चेन्द्रियेषु च प्रतिषिद्धप्रसरेषु जाग्रतौ ।
प्रसितावुदयापवर्गयोरुभयीं सिद्धिमुभाववापतुः ॥ २३ ॥

इतीति । इत्येवं प्रतिषिद्धः प्रसरः स्वार्थप्रवृत्तिर्येषां तेषु शत्रुषु चेन्द्रियेषु च जाग्रतावप्रमत्तावुदयापवर्गयोरभ्युदयमोक्षयोः प्रसितावासक्तौ । 'तत्परे प्रसितासक्तौ' इत्यमरः । उभावजरघू उभयीं द्विविधामभ्युदयमोक्षरूपाम् । "उभादुदात्तो नित्यम्" इति तयप्प्रत्ययस्यायजादेशः । "टिड्ढाणञ्-" इति ङीप् । सिद्धिं फलमवापतुः । उभावुभे सिद्धी यथासंख्यमवापतुरित्यर्थः ॥ २३ ॥

इस प्रकार (श्लो० १७–२२) रोके गये स्वार्थ प्रवृत्तिवाली इन्द्रियों तथा शत्रुओंके विषयमें जागरूक (तथा क्रमशः) उन्नति एवं मोक्षमें लगे हुए उन दोनों (अज तथा रघु) ने द्विविध सिद्धियोंको प्राप्त कर लिया ॥ २३ ॥

अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः ।
तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः ॥ २४ ॥

अथेति । अथ रघुः समदर्शनः सर्वभूतेषु समदृष्टिः सन्नजव्यपेक्षयाऽजाकाङ्क्षानुरोधेन काश्चित्समाः कतिचिद्वर्षाणि । 'समा वर्षे समं तुल्यम्' इति विश्वः । गमयित्वा नीत्वा । योगसमाधिनैक्यानुसन्धानेन । "संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः" इति वसिष्ठः । अव्ययमविनाशिनं तमसः परमविद्यायाः परम् , मायातीतमित्यर्थः । "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मबुद्धिरविद्या" इति योगशास्त्रे । पुरुषं परमात्मानमापत्प्राप, सायुज्यं प्राप्त इत्यर्थः ॥ २४ ॥

इसके बाद सब वस्तुओंको समान देखनेवाले रघुने अजकी इच्छासे कुछ वर्षोंतक बिताकर योगसमाधिसे विनाशरहित तथा मायातीत परमपुरुष (सायुज्य) को प्राप्त किया अर्थात् शरीरत्याग कर दिया ॥ २४ ॥

श्रुतदेहविसर्जनः पितुश्चिरमश्रूणि विमुच्य राघवः ।
विदधे विधिमस्य नैष्ठिकं यतिभिः सार्धमनग्निमग्निचित् ॥ २५ ॥

श्रुतेति । अग्निचिदग्निं चितवानाहितवान् । "अग्नौ चेः" इति क्विप्प्रत्ययः । राघवोऽजः पितुः श्रुतदेहविसर्जन आकर्णितपितृतनुत्यागः संश्चिरमश्रूणि बाष्पाणि विमुच्य विसृज्यास्य पितुरनग्निम् , अग्निसंस्काररहितमित्यर्थः । नैष्ठिकं निष्ठायामन्ते भवं विधिमाचारमन्त्येष्टिं यतिभिः संन्यासिभिः सार्धं सह विदधे चक्रे । अनग्निं विधिमित्यत्र शौनकः—"सर्वसङ्गनिवृत्तस्य ध्यानयोगरतस्य च । न तस्य दहनं कार्यं नैव पिण्डोदकक्रिया ॥ निदध्यात्प्रणवेनैव बिले भिक्षोः कलेवरम् । प्रोक्षणं खननं चैव सर्वं तेनैव कारयेत्" ॥ इति ॥ २५ ॥

अग्निहोत्र करनेवाले रघु-पुत्र (अज) ने पिताके शरीर-त्यागको सुनकर बहुत देरतक रोकर इन (रघु) के अग्निसंस्काररहित अन्तिम संस्कारको यतियोंके साथ किया ॥ २५ ॥

अकरोत्स तदौर्ध्वदैहिकं पितृभक्त्या पितृकार्यकल्पवित् ।
न हि तेन पथा तनुत्यजस्तनयावर्जितपिण्डकाङ्क्षिणः ॥ २६ ॥

अकरोदिति । पितृकार्यस्य तातश्राद्धस्य कल्पविद्विधानज्ञः सोऽजः पितृभक्त्या पितरि प्रेम्णा करणेन न पितुः परलोकसुखापेक्षया । मुक्तत्वादिति भावः । तस्य रघोरौर्ध्वदैहिकम् । देहादूर्ध्वं भवतीति तत्तिलोदकपिण्डदानादिकमकरोत् । "ऊर्ध्वं देहाच्च" इति वक्तव्याट्ठक्प्रत्ययः । अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः । ननु कथं भक्तिरेव श्राद्धादिफलप्रेप्सापि कस्मान्नाभूदित्याशङ्क्याह—नहीति । तेन पथा योगरूपेण मार्गेण तनुत्यजः शरीरत्यागिनः पुरुषास्तनयेनावर्जितं दत्तं पिण्डं काङ्क्षन्तीति तथोक्ता न हि भवन्ति ॥ २६ ॥

पितृ-कार्यविधिको जाननेवाले उस (अज) ने पिताकी भक्तिसे उनके पारलौकिक कार्य (श्राद्धादि) को किया, क्योंकि उस मार्ग अर्थात् योगसे शरीरत्याग करनेवाले (महायोगी लोग) पुत्रके दिये हुए पिण्डकी चाहना नहीं करते हैं ॥ २६ ॥

स परार्ध्यगतेरशोच्यतां पितुरुद्दिश्य सदर्थवेदिभिः ।
शमिताधिरधिज्यकार्मुकः कृतवानप्रतिशासनं जगत् ॥ २७ ॥

स इति । परार्ध्यगतेः प्रशस्तगतेः प्राप्तमोक्षस्य पितुरशोच्यतामशोचनीयत्वमुद्दिश्याभिसन्धाय । शोको न कर्तव्य इत्युपदिश्येत्यर्थः । "परिव्राजि विपन्ने तु पतिते चात्मवेश्मनि । कार्यो न शोको ज्ञातीनामन्यथा दोषभागिनः ॥" इति सुमन्तुस्मरणात् । सदर्थवेदिभिः परमार्थज्ञैर्विद्वद्भिः शमिताधिर्निवारितमनोव्यथः । 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः । सोऽजोऽधिज्यकार्मुकः अधिज्यमारोपितमौर्वीकं कार्मुकं यस्य स तथोक्तः सन् जगत्कर्मभूतमप्रतिशासनं द्वितीयाज्ञारहितम्, आत्माज्ञाविधेयमित्यर्थः । कृतवांश्चकार ॥ २७ ॥

उत्तम गति (मोक्ष) को पाये हुए पिताकी अशोच्यताको उद्देश्यकर परमार्थज्ञाताओंके द्वारा समझाये गये ("आपके पिताने मुक्तिको प्राप्त किया है, अतः उनके विषयमें शोक नहीं करना चाहिये" इस प्रकार ज्ञानियोंके समझानेपर पितृशोकको त्याग किये हुए) अजने धनुषको चढ़ाकर संसारको एक शासनवाला कर दिया (संसारमें सब राजाओंको अपने वशमें कर लिया) ॥ २७ ॥

क्षितिरिन्दुमती च भामिनी पतिमासाद्य तमग्र्यपौरुषम् ।
प्रथमा बहुरत्नसूरभूदपरा वीरमजीजनत्सुतम् ॥ २८ ॥

क्षितिरिति । क्षितिर्मही भामिनी कामिनीन्दुमती च । 'भामिनी कामिनी च' इति हलायुधः । अग्रयपौरुषं महापराक्रममुत्कृष्टभोगशक्तिं च तमजं पतिमासाद्य प्राप्य । तत्र प्रथमा क्षितिः बहूनि रत्नानि श्रेष्ठवस्तूनि सूत इति बहुरत्नसूरभूत् । 'रत्नं स्वजातिश्रेष्ठेऽपि' इत्यमरः । अपरेन्दुमती वीरं विशेषेण शत्रून् ईरयति कम्पयतीति वीरस्तं सुतमजीजनजनयतिस्म । जायतेर्णौ लुङि रूपम् । सहोक्त्या साहश्य-मुच्यते ॥ २८ ॥

पृथ्वी तथा धर्मपत्नी इन्दुमती महापुरुषार्थी उस (अज) को पति (रूपमें) प्राप्तकर पहली अर्थात् पृथ्वीने बहुत रत्नोंको पैदा करनेवाली हुई तथा दूसरी अर्थात् इन्दुमतीने वीर पुत्रको पैदा किया ॥ २८ ॥

किन्नामकोऽसावत आह—

दशरश्मिशतोपमद्युतिं यशसा दिक्षु दशस्वपि श्रुतम् ।
दशपूर्वरथं यमाख्यया दशकण्ठारिगुरुं विदुर्बुधाः ॥ २९ ॥

दशेति । दश रश्मिशतानि यस्य स दशरश्मिशतः सूर्यः । स उपमा यस्याः सा दशरश्मिशतोपमा द्युतिर्यस्य तम् । यशसा करणेन दशस्वपि दिक्ष्वाशासु श्रुतं प्रसिद्धम् । दशकण्ठारे रावणारे रामस्य गुरुं पितरं यं सुतम् । आख्यया नाम्ना दशपूर्वो दशशब्दपूर्वो रथो रथशब्दस्तम्, दशरथमित्यर्थः । बुधा विद्वांसो विदुर्वदन्ति । "विदो लटो वा" इति झेर्जुसादेशः ॥ २९ ॥

विद्वान् लोग दश सौ किरणोंवाले (सूर्य) के समान कान्तिवाले और यशसे दशों दिशाओंमें प्रसिद्ध, दशमुख (रावण)—शत्रु (राम) के पिता जिसका नाम दशपूर्वक रथ अर्थात् दशरथ जानते हैं ('ऐसे पुत्रको इन्दुमतीने पैदा किया' यह पूर्व श्लोकसे सम्बन्ध है) ॥

ऋषिदेवगणस्वधाभुजां श्रुतयागप्रसवैः स पार्थिवः ।
अनृणत्वमुपेयिवान्बभौ परिधेर्मुक्त इवोष्णदीधितिः ॥ ३० ॥

ऋषीति । श्रुतयागप्रसवैरध्ययनयज्ञसन्तानैः करणैः यथासंख्यमृषीणां देवगणानामिन्द्रादीनां स्वधाभुजां पितॄणामनृणत्वमृणविमुक्तत्वमुपेयिवान्प्राप्तवान् । "ऋणं देवस्य यज्ञेन पितॄणां दानकर्मणा । सन्तत्या पितृलोकानां शोधयित्वा परिव्रजेत्" ॥ "एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारी वा" इति श्रुतेः । स पार्थिवोऽजः परिधेः परिवेषात् । "परिवेषस्तु परिधिः" इत्यमरः । मुक्तो निर्गतः कर्मकर्ता । उष्णदीधितिः सूर्य इव । बभौ दिदीपे । इत्युपमा ॥ ३० ॥

वेदादि शास्त्रोंके अध्ययन, यज्ञ तथा पुत्रोत्पादनसे (क्रमशः) ऋषि, देवता तथा पितरोंके (वेदादि पढ़नेके द्वारा ऋषियोंके, यज्ञोंके द्वारा देवताओंके और पुत्र उत्पन्न करनेके

द्वारा पितरोंके) ऋणसे छुटकारा पाये हुए वह राजा (अज) परिवेष (सूर्यके चारो ओर कभी २ दिखजाई पड़नेवाले गोल घेरे) से मुक्त सूर्यके समान शोभमान हुए ॥ ३० ॥

बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां सत्कृतये बहुश्रुतम्।
वसु तस्य विभोर्न केवलं गुणवत्तापि परप्रयोजना ॥ ३१ ॥

बलमिति। तस्य विभोरजस्य केवलं वसु धनमेव परप्रयोजनं परोपकारकं नाभूत्। किन्तु गुणवत्तापि गुणित्वमपि परप्रयोजना परेषामन्येषां प्रयोजनं यस्यां सा। विधेयांशत्वेन प्राधान्याद् गुणवत्ताया विशेषणं वस्त्वित्यत्र तूहनीयम्। तथा हि। बलं पौरुषमार्तानामापन्नानां भयस्योपशान्तये निषेधाय न तु स्वार्थं परपीडनाय वा। बहु भूरि श्रुतं विद्या विदुषां सत्कृतये सत्काराय। न तूत्सेकाय बभूव। तस्य धनं परोपयोगीति किं वक्तव्यम्। बलश्रुतादयोऽपि गुणाः परोपयोगिन इत्यर्थः ॥३१॥

(उस अजका) बल दुखियोंके भय दूर करनेके लिये तथा शास्त्राध्ययन विद्वानोंके सत्कारके लिये हुआ, (इस प्रकार) समर्थ उस अजका केवल धन ही परोपकारके लिये नहीं हुआ, किन्तु गुणवान् होना भी परोपकारके लिये हुआ ॥ ३१ ॥

स कदाचिदवेक्षितप्रजः सह देव्या विजहार सुप्रजाः।
नगरोपवने शचीसखो मरुतां पालयितेव नन्दने ॥ ३२ ॥

स इति। अवेक्षितप्रजोऽकुतोभयत्वेनानुसंहितप्रजः। "नित्यमसिच्प्रजामेधयोः" इत्यसिच्प्रत्ययः। न केवलं स्रैण इति भावः। शोभना प्रजा यस्यासौ सुप्रजाः सुपुत्रवान्। पुत्रन्यस्तभार इति भावः। सोऽजः कदाचिद्देव्या महिष्येन्दुमत्या सह नगरोपवने नन्दने नन्दनाख्येऽमरावत्युपकण्ठवने शचीसखः, शच्या सहेत्यर्थः। मरुतां देवानां पालयितेन्द्र इव। विजहार चिक्रीड ॥ ३२ ॥

प्रजाओंकी देख भाल करनेवाले तथा उत्तम सन्तानवाले वह (अज) किसी समय नगरके उपवनमें पटरानी (इन्दुमती) के साथ, 'नन्दन' वनमें इन्द्राणीके साथ देवरक्षक इन्द्रके समान विहार करने लगे ॥ ३२ ॥

अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम्।
उपवीणयितुं ययौ रवेरुदयावृत्तिपथेन नारदः ॥ ३३ ॥

अथेति। अथ दक्षिणस्योदधेः समुद्रस्य रोधसि तीरे श्रितगोकर्णनिकेतमधिष्ठितगोकर्णाख्यस्थानमीश्वरं शिवमुपवीणयितुं वीणयोपसमीपे गातुम्। "सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्" इत्यनेन वीणाशब्दादुपमानार्थे णिच्प्रत्ययः। ततस्तुमुन्। नारदः नराणां समूहः नारं तद् द्यति खण्डयति

कलहदानात् इति नारदः देवर्षो रवेः सूर्यस्य सम्बन्धिनोदयावृत्तिपथेनाकाशमार्गेण ययौ जगाम । सूर्योपमानेनास्यातितेजस्त्वमुच्यते ॥ ३३ ॥

इसके बाद दक्षिण समुद्रके तटपर 'गोकर्ण'नामक स्थानमें शिवजीके पास वीणा बजाकर स्तुति करनेके लिये नारदजी आकाश–मार्गसे चले ॥ ३३ ॥

कुसुमैर्ग्रथितामपार्थिवैः स्रजमातोद्यशिरोनिवेशिताम् ।
अहरत्किल तस्य वेगवानधिवासस्पृहयेव मारुतः ॥ ३४ ॥

कुसुमैरिति । अपार्थिवैरभौमैः, दिव्यैरित्यर्थः । कुसुमैर्ग्रथितां रचिताम् । तस्य नारदस्यातोद्यस्य वाद्यस्य वीणायाः शिरस्यग्रे निवेशिताम् । 'चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकम्' इत्यमरः । स्रजं मालां वेगवान्मारुतः । अधिवासे वासनायां स्पृहयेव, स्रजा स्वाङ्गं संस्कर्तुमित्यर्थः । 'संस्कारो गन्धमाल्याद्यैर्यः स्यात्तदधिवासनम्' इत्यमरः । अहरत्किल किलेत्यैतिह्ये ॥ ३४ ॥

दिव्य (स्वर्गीय) पुष्पोंसे गुथी हुई तथा वीणाके ऊपरी भागमें लपेटी या लटकाई हुई मालाको तीव्र वायुने मानो अपनेको (उन फूलोंसे) सुगन्धित करनेकी इच्छासे हरण कर लिया । (कल्पवृक्षादिके स्वर्गीय फूलोंकी बनी एवं वीणाके ऊपरी भागमें लटकती हुई माला तेज हवासे उड़ गयी) ॥ ३४ ॥

भ्रमरैः कुसुमानुसारिभिः परिकीर्णा परिवादिनी मुनेः ।
ददृशे पवनावलेपजं सृजती बाष्पमिवाञ्जनाविलम् ॥ ३५ ॥

भ्रमरैरिति । कुसुमानुसारिभिः पुष्पानुयायिभिर्भ्रमरैरलिभिः परिकीर्णा व्याप्ता मुनेर्नारदस्य परिवादिनी वीणा । 'वीणा तु वल्लकी । विपञ्ची सा तु तन्त्रीभिः सप्तभिः परिवादिनी' ॥ इत्यमरः । पवनस्य वायोरवलेपोऽधिक्षेपस्तज्जमञ्जनेन कज्जलेनाविलं कलुषं बाष्पमश्रु सृजती मुञ्चतीव ददृशे दृष्टा । भ्रमराणां साञ्जनबाष्पबिन्दुसादृश्यं विवक्षितम् । "वा नपुंसकस्य" इति वर्तमाने "आच्छीनद्योर्नुम्" इति नुम्विकल्पः ॥३५॥

फूलोंके पीछे चलनेवाले भ्रमरोंसे व्याप्त नारदजीकी वीणा वायुकृत अपमानसे उत्पन्न, अञ्जनसे मलिन आंसूको छोड़ती हुईके समान देखी गयी ॥ ३५ ॥

अभिभूय विभूतिमार्तवीं मधुगन्धातिशयेन वीरुधाम् ।
नृपतेरमरस्रगाप सा दयितोरुस्तनकोटिसुस्थितिम् ॥ ३६ ॥

अभिभूयेति । साऽमरस्रग्दिव्यमाला मधुगन्धयोर्मकरन्दसौरभयोरतिशयेनाधिक्येन । वीरुधां लतानाम् । 'लता प्रतानिनी वीरुत्' इत्यमरः । ऋतोः प्राप्तामार्तवीमृतुसम्बन्धिनीं विभूतिं समृद्धिमभिभूय तिरस्कृत्य नृपतेरजस्य दयिताया इन्दुमत्या ऊर्वोर्विशालयोः स्तनयोर्ये कोटी चूचुकौ तयोः सुस्थितिं गोप्यस्थाने पतितत्वात्प्रशस्तां स्थितिं स्थानमाप प्राप्ता ॥ ३६ ॥

वह दिव्य माला पराग तथा सुगन्धिकी अधिकतासे लताओंके ऋतूत्पन्न ऐश्वर्यों (सुगन्धियों) को दबाकर राजा अजकी प्रियाके विशाल स्तनोंके चूचुकों (अग्रभागों) पर गिरी ३६

क्षणमात्रसखीं सुजातयोः स्तनयोस्तामवलोक्य विह्वला।
निमिमील नरोत्तमप्रिया हृतचन्द्रा तमसेव कौमुदी ॥ ३७ ॥

क्षणमात्रेति। सुजातयोः सुजन्मनोः, सुन्दरयोरित्यर्थः। स्तनयोः क्षणमात्रं सखीं सखीमिव स्थिताम्, सुजातत्वसाधर्म्यात्स्रजः स्तनसखीत्वमिति भावः। तां स्रजमवलोक्येषद्दृष्ट्वा विह्वला परवशा नरोत्तमप्रियेन्दुमती तमसा राहुणा। 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः' इत्यमरः। हृतचन्द्रा कौमुदी चन्द्रिकेव निमिमील मुमोह, ममारेत्यर्थः। 'निमीलो दीर्घनिद्रा च' इति हलायुधः। कौमुद्या निमीलनं प्रतिसंहारः॥ ३७ ॥

सुन्दर स्तनोंकी क्षणमात्रके लिये सखी उस मालाको देखकर अजकी प्रिया (इन्दुमती) राहुसे अपहृत चन्द्रमावाली चाँदनीके समान मोहित हो गयी (मर गयी) ॥ ३७ ॥

वपुषा करणोज्झितेन सा निपतन्ती पतिमप्यपातयत्।
ननु तैलनिषेकबिन्दुना सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीम् ॥ ३८ ॥

वपुषेति। करणैरिन्द्रियैरुज्झितेन मुक्तेन। 'करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि' इत्यमरः। वपुषा निपतन्ती सेन्दुमती पतिमजमप्यपातयत्पातयति स्म। तथा हि। निषिच्यते इति निषेकः तैलस्य निषेकस्तैलनिषेकः, क्षरत्तैलमित्यर्थः। तस्य बिन्दुना सह दीपार्चिर्दीपज्वाला मेदिनीं भुवमुपैति ननूपैत्येव। नन्वत्रावधारणे। 'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमरः। इन्दुमत्या दीपार्चिरुपमानम्। अजस्य तैलबिन्दुः। तत एव तस्या जीवितसमाप्तिस्तस्य जीवितशेषश्च सूच्यते ॥ ३८ ॥

इन्द्रिय-शून्य शरीरसे गिरती हुई उस इन्दुमतीने पति (अज) को भी गिरा दिया (इन्दुमतीके संज्ञाशून्य शरीरके गिरते ही उसे मरी हुई जानकर अज भी (मूर्च्छित हो) पछाड़ खाकर गिर पड़े)। तैल-बिन्दुके टपकने (चूने—गिरने) के साथ ही दीपककी लौ भी निश्चय ही पृथ्वीको प्राप्त करती पृथ्वीपर गिरती) है ॥ ३८ ॥

उभयोरपि पार्श्ववर्तिनां तुमुलेनार्तरवेण वेजिताः।
विहगाः कमलाकरालयाः समदुःखा इव तत्र चुक्रुशुः ॥ ३९ ॥

उभयोरिति। उभयोर्दम्पत्योः पार्श्ववर्तिनां परिजनानां तुमुलेन सङ्कुलेनार्तरवेण करुणस्वनेन वेजिता भीताः कमलाकरालयाः सरःस्थिता विहगा हंसादयोऽपि तत्रोपवने समदुःखा इव तत्पार्श्ववर्तिनां समानशोका इव चुक्रुशुः क्रोशन्ति स्म ॥ ३९ ॥

दोनों (इन्दुमती-अज) के पासमें स्थित लोगोंकी फैली हुई आर्तध्वनिसे तडागमें रहनेवाले पक्षी भी मानो (उनके) समान दुखी होकर वहांपर चिल्लाने लगे (राजानुचरोंके

रोनेकी ध्वनिके अत्यन्त बढ़नेपर तडागवासी पक्षी भी घबड़ाकर कोलाहल करने लगे)॥ ३९॥

नृपतेर्व्यजनादिभिस्तमो नुनुदे सा तु तथैव संस्थिता ।
प्रतिकारविधानमायुषः सति शेषे हि फलाय कल्पते ॥ ४० ॥

नृपतेरिति । नृपतेरजस्य तमोऽज्ञानं व्यजनादिभिः साधनैर्नुनुदेऽपसारितम् । आदिशब्देन जलसेककर्पूरक्षोदादयो गृह्यन्ते । सा त्विन्दुमती तथैव संस्थिता मृता । तथा हि । प्रतिकारविधानं चिकित्साकरणं आयुषो जीवितकालस्य शेषे सति विद्यमाने । 'आयुर्जीवितकालो ना' इत्यमरः । फलाय सिद्धये कल्पते आरोग्याय भवति । "क्लृपि सम्पद्यमाने च" इति चतुर्थी । नान्यथा नृपतेरायुःशेषसद्भावात्प्रतीकारस्य साफल्यम् । तस्यास्तु तदभावाद्वैफल्यमित्यर्थः ॥ ४० ॥

राजा (अज) की मूर्च्छा पंखा आदि (चन्दनमिश्रित जलसेक आदि ठंडे उपचारों) से दूर हुई, किन्तु वह (इन्दुमती) वैसे ही पड़ी रही, क्योंकि आयुके शेष रहनेपर उपाय सफल होता है ॥ ४० ॥

प्रतियोजयितव्यवल्लकीसमवस्थामथ सत्त्वविप्लवात् ।
स निनाय नितान्तवत्सलः परिगृह्योचितमङ्कमङ्गनाम् ॥ ४१ ॥

प्रतीति । अथ सत्त्वस्य चैतन्यस्य विप्लवाद्विनाशाद्धेतोः । 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वम्' इत्यमरः । प्रतियोजयितव्या तन्त्रिभिर्योजनीया, न तु योजिततन्त्रीत्यर्थः । या वल्लकी वीणा तस्याः समावस्था दशा यस्यास्तामङ्गनां वनितां नितान्तवत्सलोऽतिप्रेमवान्सोऽजः परिगृह्य हस्ताभ्यां गृहीत्वोचितं परिचितमङ्कमुत्सङ्गं निनाय नीतवान् । वल्लकीपक्षे तु सत्त्वं तन्त्रीणामवष्टम्भकः शलाकाविशेषः ॥ ४१ ॥

इसके बाद (प्रियाके) अत्यन्त प्रेमी उस अजने चेतनाशून्य होने (मर जाने) से तार चढ़ाने योग्य वीणाके समान स्थित प्रियाको (हाथसे) उठाकर गोदमें ले लिया ॥ ४१ ॥

पतिरङ्कनिषण्णया तया करणापायविभिन्नवर्णया ।
समलक्ष्यत बिभ्रदाविलां मृगलेखामुषसीव चन्द्रमाः ॥ ४२ ॥

पतिरिति । पतिरजोऽङ्कनिषण्णयोत्सङ्गस्थितया करणानामिन्द्रियाणां तदुपलक्षितस्य चैतन्यस्य वा अपायेनापगमेन हेतुना विभिन्नवर्णया विच्छायया तया । 'इत्थंभूतलक्षणे" इत्यनेन तृतीया । उषसि प्रातःकाले आविलां मलिनां मृगलेखां काञ्छनं मृगरेखारूपं बिभ्रद्धारयंश्चन्द्रमा इव । समलक्ष्यतादृश्यत इत्युपमा ॥ ४२ ॥

पति (अज), गोदमें स्थित तथा प्राणोंके निकल जानेसे शोभाहीन उस (इन्दुमती) से प्रातःकालमें मलिन मृग-चिह्नको धारण करते हुए चन्द्रमाके समान मालूम पड़ते थे ॥ ४२॥

विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु ॥ ४३ ॥

विललापेति । सोऽजः सहजां स्वाभाविकीमपि धीरतां धैर्यमपहाय विप्रकीर्य बाष्पेण कण्ठगतेन गद्गदं विशीर्णाक्षरं यथा तथा ध्वनिमात्रानुकारिगद्गदशब्दं विललाप परिदेवितवान् । 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः । धीरस्य कुतः शोक इति चेदत आह—अभितप्तमग्निना सन्तप्तमयो लोहमचेतनमपि मार्दवं मृदुत्वमवैरस्वं च भजते प्राप्नोति । शरीरिषु देहिषु । अभिसन्तप्तेष्विति शेषः । विषये कैव कथा वार्ता, अनुक्तसिद्धमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

वह (अज) स्वाभाविक भी धैर्यको छोड़कर आँसूसे गद्गद होकर विलाप करने लगे, तपा हुआ (जड) लोहा भी कोमल हो जाता है (तब चैतन्य) शरीरधारियोंके विषयमें क्या कहना है ? अर्थात् दुःखसन्तप्त प्राणियोंके तरल होनेमें कोई आश्चर्य नहीं है ॥ ४३ ॥

कुसुमान्यपि गात्रसङ्गमात्प्रभवन्त्यायुरपोहितुं यदि ।
न भविष्यति हन्त साधनं किमिवान्यत्प्रहरिष्यतो विधेः ॥ ४४ ॥

कुसुमानीति । कुसुमानि पुष्पाण्यपि । अपिशब्दो नितान्तमार्दवद्योतनार्थः । गात्रसङ्गमाद्देहसंसर्गादायुरपोहितुमपहर्तुं प्रभवन्ति यदि । हन्त विषादे । 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' इत्यमरः। प्रहरिष्यतो हन्तुमिच्छतो विधेर्दैवस्यान्यत्कुसुमातिरिक्तं किमिव वस्तु । इवशब्दो वाक्यालङ्कारे, कीदृशमित्यर्थः । साधनं प्रहरणं न भविष्यति न भवेत्, सर्वमपि साधनं भविष्यत्येवेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

"यदि फूल भी शरीरपर गिरनेसे मारनेके लिये समर्थ होते हैं, तब खेद है कि भविष्यमें मारनेवाले दैवका दूसरी कौन वस्तु (मारनेके लिये) साधन नहीं होगी ॥ ४४ ॥

अथवा मृदु वस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः ।
हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता ॥ ४५ ॥

अथवेति । अथवा पक्षान्तरे । प्रजान्तकः कालो मृदु कोमलं वस्तु मृदुनैव वस्तुना हिंसितुं हन्तुमारभत उपक्रमते । अत्रार्थे हिमसेकेन तुषारनिष्यन्देन विपत्तिर्मृत्युर्यस्याः सा तथा नलिनी पद्मिनी मे पूर्वं प्रथमं निदर्शनमुदाहरणं मता । द्वितीयं निदर्शनं पुष्पमृत्युरिन्दुमतीति भावः ॥ ४५ ॥

अथवा काल कोमल पदार्थको कोमल पदार्थसे ही नष्ट करता है, इस विषयमें पाला (तुषार) पड़नेसे नष्ट होनेवाली कमलिनी मुझे पहले उदाहरण रूपमें प्राप्त हो चुकी है॥ ४५॥

स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥ ४६ ॥

स्रगिति । इयं स्रग्जीवितमपहन्तीति जीवितापहा यदि, हृदये वक्षसि, 'हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः । निहिता सती मां किं न हन्ति । ईश्वरेच्छया क्वचित्प्रदेशे विषमप्यमृतं भवेत्क्वचिदमृतं वा विषं भवेत्, दैवमेवात्र कारणमित्यर्थः ॥ ४६ ॥

यदि यह माला मारनेवाली है तो हृदयपर रखी हुई मुझको क्यों नहीं मारती ?, अथवा ईश्वरकी इच्छासे विष भी कहींपर अमृत हो जाता है और अमृत भी विष हो जाता है ॥ ४६ ॥

अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एष वेधसा ।
यदनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता ॥ ४७ ॥

अथवेति । अथवा मम भाग्यस्य विप्लवाद्विपर्ययादेषः, स्रगित्यर्थः । विधेयप्राधान्यात्पुंल्लिङ्गनिर्देशः । वेधसा विधात्राऽशनिर्वैद्युतोऽग्निः कल्पितः । 'दम्भोलिरशनिर्द्वयोः' इत्यमरः । यद्यस्मादनेनाप्यशनिना प्रसिद्धाशनिनेव तरुस्तरुस्थानीयः स्वयमेव न पातितः । किन्तु तस्य तरोर्विटपाश्रिता लता वल्ली क्षपिता नाशिता ॥ ४७ ॥

अथवा मेरे भाग्यकी प्रतिकूलतासे विधाताने इसे (इस पुष्पमालाको) वज्र बनाया है, जो इस (वज्र) ने वृक्ष (वृक्षतुल्य मुझ) को नहीं गिराया, किन्तु उसको आश्रित लता (मुझे आश्रित इन्दुमती) को नष्ट कर दिया ॥ ४७ ॥

कृतवत्यसि नावधीरणामपराद्धेऽपि यदा चिरं मयि ।
कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे ॥ ४८ ॥

कृतवतीति । मयि चिरं भूरिशोऽपराद्धेऽप्यपराधं कृतवत्यपि । राधेः कर्तरि क्तः । यदा यस्माद्धेतोः । यदेति हेत्वर्थः । "स्वरादौ पठ्यते यदेति हेतौ" इति गणव्याख्यानात् । अवधीरणामवज्ञां न कृतवत्यसि नाकार्षीः । तत्कथमेकपदे तत्क्षणे । 'स्यात्तत्क्षण एकपदम्' इति विश्वः । निरागसं नितरामनपराधमिमं जनम् । इममिति स्वात्मनिर्देशः, मामित्यर्थः । आभाष्यं सम्भाष्यं न मन्यसे न चिन्तयसि ॥ ४८ ॥

(अब इन्दुमतीके प्रति भाषण करते हुए अज विलाप करते हैं) जब मेरे बहुत वार अपराध करनेपर भी तुमने मेरा अपमान (असंभाषणादि) नहीं किया है, तब एकाएक निरपराधी इस जन (मुझ) को बातचित करने योग्य क्यों नहीं मानती हो अर्थात् मुझसे क्यों नहीं बोलती हो ? ॥ ४८ ॥

ध्रुवमस्मि शठः शुचिस्मिते ! विदितः कैतववत्सलस्तव ।
परलोकमसन्निवृत्तये यदनापृच्छ्य गतासि मामितः ॥ ४९ ॥

ध्रुवमिति । हे शुचिस्मिते धवलहसिते ! शठो गूढविप्रियकारी कैतवेन कपटेन वत्सलः कैतवस्निग्ध इति ध्रुवं सत्यं तव विदितस्त्वया विज्ञातोऽस्मि, "मति-

बुद्धिपूजार्थेभ्यश्च" इत्यनेन कर्तरि क्तः । "क्तस्य च वर्तमाने" इति कर्तरि षष्ठी । कुतः, यद्यस्मान्मामनापृच्छ्यानामन्त्र्येतोऽस्माल्लोकात्परलोकमसन्निवृत्तयेऽपुनरावृत्तये गतासि ॥ ४९ ॥

हे सुन्दर हासवाली प्रिये ! निश्चय ही तुम मुझे शठ (गुप्त रूपसे बुराई करनेवाला) कपटी प्रेमी जानती हो, क्योंकि मुझसे विना कहे ही फिर नहीं लौटनेके लिये यहांसे स्वर्गमें चली गयी हो ॥ ४९ ॥

दयितां यदि तावदन्वगाद्विनिवृत्तं किमिदं तया विना ।
सहतां हतजीवितं मम प्रबलामात्मकृतेन वेदनाम् ॥ ५० ॥

दयितामिति । इदं मम हतजीवितं कुत्सितं जीवितं तावदादौ दयितामिन्दुमतीमन्वगादन्वगच्छद्यदि अन्वगादेव । यद्यत्रावधारणे । पूर्वं मूर्च्छितत्वादिति भावः । तर्हि तया दयितया विना किं किमर्थं विनिवृत्तं प्रत्यागतम्, प्रत्यागमनं न युक्तमित्यर्थः । अत एवात्मकृतेन स्वदुश्चेष्टितेन निवृत्तिरूपेण प्रबलामधिकां वेदनां दुःखं सहतां क्षमताम् । स्वयंकृतापराधेषु सहिष्णुतैव शरणमिति भावः ॥ ५० ॥

यह मेरा निन्दित जीवन यदि पहले प्रियाके पीछे गया (देखें, श्लो० ३८) तो फिर उसके विना लौट क्यों आया (देखें, श्लो० ४०)? इसलिये अपनी करनीके महान् दुःखको यह सहन करे ॥ ५० ॥

सुरतश्रमसम्भृतो मुखे ध्रियते स्वेदलवोद्गमोऽपि ते ।
अथ चास्तमिता त्वमात्मना धिगिमां देहभृतामसारताम् ॥ ५१ ॥

सुरतश्रमेति । सुरतश्रमेण सम्भृतो जनितः स्वेदलवोद्गमोऽपि ते तव मुखे ध्रियते वर्तते । अथ च त्वमात्मना स्वरूपेणास्तं नाशमिता प्राप्ता । अतः कारणाद्देहभृतां प्राणिनामिमां प्रत्यक्षामसारतामस्थिरतां धिक् ॥ ५१ ॥

सुरतके परिश्रमसे उत्पन्न पसीनेका कुछ २ लेश भी तुम्हारे मुखपर है और तुम स्वरूपसे नष्ट हो (मर) गयी, (अतएव) देहधारियोंकी इस निःसारताको धिक्कार है ॥ ५१ ॥

मनसापि न विप्रियं मया कृतपूर्वं तव किं जहासि माम् ।
ननु शब्दपतिः क्षितेरहं त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः ॥ ५२ ॥

मनसेति । मया मनसापि तव विप्रियं न कृतपूर्वम्, पूर्वं न कृतमित्यर्थः । सुप्सुपेति समासः । किं केन निमित्तेन मां जहासि त्यजसि । नन्वहं क्षितेः शब्दपतिः शब्दत एव पतिः न त्वर्थत इत्यर्थः । भावनिबन्धनाभिप्रायनिबन्धना स्वभावहेतुका मे रतिः प्रेम तु त्वय्येव । अस्तीति शेषः ॥ ५२ ॥

मैंने मनसे भी तुम्हारा अप्रिय पहले कभी नहीं किया तो मुझे क्यों छोड़ रही हो? मैं निश्चय ही नाममात्रसे अर्थात् कहनेके लिये पृथ्वीका पति हूं, किन्तु तुममें स्वाभाविक प्रेम है (अतः 'ये मेरी सपत्नीरूप पृथ्वीके पति हैं, ऐसा मानकर तुम्हें मेरा त्याग करना उचित नहीं है) ॥ ५२ ॥

कुसुमोत्खचितान्वलीभृतश्चलयन्भृङ्गरुचस्तवालकान् ।
करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशङ्कि मे मनः ॥ ५३ ॥

कुसुमेति । कुसुमैरुत्खचितानुत्कर्षेण रचितान्वलीभृतो भङ्गीयुक्तान्, कुटिलानित्यर्थः । भृङ्गरुचो नीलांस्तवालकांश्चलयन्कम्पयन्मारुतः । हे करभोरु करभसदृशोरु ! 'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' इत्यमरः । मे मनस्त्वदुपावर्तनशङ्कि तव पुनरागमने शङ्कावत्करोति । त्वदुज्जीवने शङ्कां कारयतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

हे करभोरु ! फूल गूथे हुए तथा टेढ़े २, तुम्हारे बालोंको हिलाती हुई वायु मेरे मनमें तुम्हारे लौटने (जीने) का सन्देह उत्पन्न करती है ॥ ५३ ॥

तदपोहितुमर्हसि प्रिये ! प्रतिबोधेन विषादमाशु मे ।
ज्वलितेन गुहागतं तमस्तुहिनाद्रेरिव नक्तमोषधिः ॥ ५४ ॥

तदिति । हे प्रिये ! तत्तस्मात्कारणादाशु मे विषादं दुःखम् । नक्तं रात्रावोषधिस्तृणज्योतिराख्या लता ज्वलितेन प्रकाशेन तुहिनाद्रेर्हिमालयस्य गुहागतं तमोऽन्धकारमिव प्रतिबोधेन ज्ञानेनापोहितुं निरसितुमर्हसि ॥ ५४ ॥

हे प्रिये ! इस कारणसे मेरे विषादको, रातमें हिमालय पर्वतकी गुफाओंके अन्धकारको प्रकाशसे ओषधिके समान, (तुम्हें) ज्ञान (चैतन्य) से दूर करना चाहिये ॥ ५४ ॥

इदमुच्छ्वसितालकं मुखं तव विश्रान्तकथं दुनोति माम् ।
निशि सुप्तमिवैकपङ्कजं विरताभ्यन्तरषट्पदस्वनम् ॥ ५५ ॥

इदमिति । इदमुच्छ्वसितालकं चलितचूर्णकुन्तलं विश्रान्तकथं निवृत्तसंलापं तव मुखम् । निशि रात्रौ सुप्तं निमीलितं विरतोऽभ्यन्तराणामन्तर्वर्तिनां षट्पदानां स्वनो यत्र तत्, निःशब्दभृङ्गमित्यर्थः । एकपङ्कजमद्वितीयं पद्ममिव । मां दुनोति परितापयति ॥ ५५ ॥

हिलते हुए केशोंवाला भाषणशून्य (चुप) तुम्हारा मुख, रात्रिमें भीतरमें भ्रमरके गुञ्जारसे रहित बन्द हुए एक कमलके समान मुझे पीडित कर रहा है ॥ ५५ ॥

शशिनं पुनरेति शर्वरी दयिता द्वन्द्वचरं पतत्त्रिणम् ।
इति तौ विरहान्तरक्षमौ कथमत्यन्तगता न मां दहेः ॥ ५६ ॥

शशिनमिति । शर्वरी रात्रिः शशिनं चन्द्रं पुनरेति प्राप्नोति । द्वन्द्वीभूय चरतीति द्वन्द्वचरः तं पतत्रिणं चक्रवाकं दयिता चक्रवाकी पुनरेति । इति हेतोस्तौ चन्द्रचक्रवाकौ विरहान्तरक्षमौ विरहावधिसहौ । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदता-दर्थ्ये' इत्यमरः । अत्यन्तगता पुनरावृत्तिरहिता त्वं तु कथं न मां दहेर्न सन्तापयेः । अपि तु दहेरेवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

'रात्रि चन्द्रमाको तथा प्रिया (चकई) मिथुनचारीपक्षी (चकवे) को फिर प्राप्त करती है' अत एव वे दोनों (चन्द्रमा तथा चकवा पक्षी अपनी २ प्रियाओंके) विरहके मध्यभागको सहन करनेमें समर्थ होते हैं, (किन्तु) सर्वथा गयी हुई (फिर नहीं लौटनेवाली) अर्थात् मरी हुई तुम मुझे क्यों नहीं जलावोगी (सन्तप्त करोगी) अर्थात् अवश्य सन्तप्त करोगी ॥

नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम् ।
तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु ! चिताधिरोहणम् ॥ ५७ ॥

नवेति । नवपल्लवसंस्तरे नूतनप्रवालास्तरणेऽप्यर्पितं स्थापितं मृदु ते तव यदङ्गं शरीरं दूयेत परितप्तं भवेत् । वामौ सुन्दरौ ऊरू यस्याः सा हे वामोरु ! 'वामं स्यात्सुन्दरे सव्ये' इति केशवः । "संहितशफलक्षणवामादेश्च" इत्यादिनोङ्प्रत्ययः । तदिदमङ्गं चितायाः काष्ठसञ्चयस्याधिरोहिणं कथं विषहिष्यते ? वद ॥ ५७ ॥

नये पल्लवोंकी शय्यापर भी स्थित जो तुम्हारा यह शरीर सन्तप्त होता था, हे वामोरु (सुन्दर जघनोंवाली प्रिये) ! तब यह (शरीर) चितापर रखनेको कैसे सहन करेगा ? ५७

इयमप्रतिबोधशायिनी रशना त्वां प्रथमा रहःसखी ।
गतिविभ्रमसादनीरवा न शुचा नानुमृतेव लक्ष्यते ॥ ५८ ॥

इयमिति । इयं प्रथमाऽऽद्या रहःसखी । सुरतसमयेऽप्यनुयानादिति भावः । गतिविभ्रमसादेन विलासोपरमेण नीरवा निःशब्दा रशना मेखला अप्रतिबोधमपुनरुद्बोधं यथा तथा शायिनीम्, मृतामित्यर्थः । त्वामनु त्वया सह । "तृतीयार्थे" इत्यनुशब्दस्य कर्मप्रवचनीयत्वात् । "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" इत्यनेन द्वितीया । शुचा शोकेन मृतेव न लक्ष्यत इति न, लक्ष्यत एवेत्यर्थः । सम्भाव्यनिषेधनिवर्तनाय द्वौ प्रतिषेधौ ॥ ५८ ॥

यह मुख्य तथा एकान्तकी सहेली गमन–विलासके अभावसे शब्दरहित करधनी फिर नहीं जगनेके लिये सोई हुई अर्थात् मरी हुई तुम्हारे पीछे शोकसे मरी हुई नहीं लक्षित होती है, यह बात नहीं है अर्थात् यह तुम्हारी करधनी भी नहीं बजनेके कारण तुम्हारे पीछे शोकसे मरी हुई–सी मालूम पड़ती है ॥ ५८ ॥

कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम् ।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ॥ ५९ ॥

त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया ।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः ॥ ६० ॥

कलमिति, त्रिदिवेति । युग्मम्, उभयोरेकान्वयः । अन्यभृतासु कोकिलासु कलं मधुरं भाषितं भाषणम् । कलहंसीषु विशिष्टहंसीषु मदालसं मन्थरं गतं गमनम् । पृषतीषु हरिणीषु विलोलमीक्षितं चञ्चला दृष्टिः । पवनेन वायुनाऽऽधूतलतास्वीषत्कम्पितलतासु विभ्रमा विलासाः । इत्यमी पूर्वोक्ताः कलभाषणादयो गुणाः । एषु कोकिलादिस्थानेष्विति शेषः । त्रिदिवोत्सुकयापीह जीवन्त्येव स्वर्गं प्रति प्रस्थितयापि त्वया मामवेक्ष्य विरहासहं विचार्य सत्यं निहिताः, मत्प्राणधारणोपायतया स्थापिता इत्यर्थः । तव विरहे गुरुव्यथमतिदुःखं मे हृदयं मनोऽवलम्बितुं स्थापयितुं न क्षमा न शक्ताः । ते तु त्वत्संगम एव सुखकारिणः नान्यथा, प्रत्युत प्राणानपहरन्तीति भावः ॥

कोयलोंमें मधुर भाषण, कलहंसियोंमें मदसे आलससहित गमन, मृगियोंमें चञ्चल देखना और पवनसे थोड़ा २ हिलती हुई लताओंमें विलास; इन गुणोंको स्वर्ग जानेके लिये उत्कण्ठित तुमने मुझको देखकर (मेरे स्वर्ग जानेपर इन मेरे गुणोंको देखकर ही ये मन बहलावेंगे, ऐसा विचारकर) वस्तुतः में स्थापित किये हैं; तथापि वे तुम्हारे विरहमें अत्यधिक पीडित मेरे हृदयको धारण करनेके लिये समर्थ नहीं होते हैं। (मधुर भाषण आदि तुम्हारे गुणोंको कोयल आदिमें देखकर तुम्हारे विना मेरे हृदयको सुख नहीं मिलता है) ॥

मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ ।
अविधाय विवाहसत्क्रियामनयोर्गम्यत इत्यसाम्प्रतम् ॥ ६१ ॥

मिथुनमिति । ननु हे प्रिये ! सहकारश्चूतविशेषः फलिनी प्रियङ्गुलता चेमौ त्वया मिथुनं परिकल्पितं मिथुनत्वेनाभ्यमानि । अनयोः फलिनीसहकारयोर्विवाहसत्क्रियां विवाहमङ्गलमविधायाकृत्वा गम्यत इत्यसांप्रतमयुक्तम् । मातृहीनानां न किञ्चित्सुखमस्तीति भावः ॥ ६१ ॥

तुमने इस आमके वृक्ष तथा प्रियङ्गु लताको जोड़ी (दम्पतिरूप) माना था, (अतः) इन दोनोंके विवाह मङ्गलको विना किये जा रही हो, यह अनुचित है ॥ ६१ ॥

कुसुमं कृतदोहदस्त्वया यदशोकोऽयमुदीरयिष्यति ।
अलकाभरणं कथं नु तत्तव नेष्यामि निवापमाल्यताम् ॥ ६२ ॥

कुसुममिति । वृक्षादिपोषकं दोहदम् । त्वया कृतं दोहदं पादताडनरूपं यस्य सोऽयमशोको यत्कुसुममुदीरयिष्यति प्रसविष्यते । तवालकानामाभरणमाभरणभूतं तत्कुसुमं कथं नु केन प्रकारेण निवापमाल्यतां दाहाञ्जलेरर्ध्यतां नेष्यामि ? 'पितृदानं निवापः स्यात्' इत्यमरः ॥ ६२ ॥

तुमसे प्राप्त (पादप्रहाररूप) दोहदवाला यह अशोक जिस पुष्पको उत्पन्न करेगा, तुम्हारे केशके भूषणयोग्य उस पुष्पको मैं किस प्रकार दाह संस्कारके बाद तिलाञ्जलिमें प्रदान करूंगा ? ॥ ६२ ॥

स्मरतेव सशब्दनूपुरं चरणानुग्रहमन्यदुर्लभम् ।
अमुना कुसुमाश्रुवर्षिणा त्वमशोकेन सुगात्रि ! शोच्यसे ॥ ६३ ॥

स्मरतेति । अन्यदुर्लभम्, किन्तु स्मर्तव्यमेवेत्यर्थः । सशब्दं ध्वनियुक्तं नूपुरं मञ्जीरं यस्य तं चरणेनानुग्रहं पादेन ताडनरूपं स्मरतेव चिन्तयतेव कुसुमान्येवाश्रूणि तद्वर्षिणाऽमुना पुरोवर्तिनाऽशोकेन । हे सुगात्रि ! "अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्" इति ङीप् । त्व शोच्यसे ॥ ६३ ॥

हे सुन्दर शरीरवाली प्रिये ! दूसरेको दुर्लभ, झङ्कार करते हुए नूपुरोंवाले चरण (ताडनरूप) कृपाको स्मरण करते हुएके समान पुष्परूप आँसूको बरसाता हुआ यह अशोक तुम्हारे लिये मानो पश्चात्ताप कर रहा है ॥ ६३ ॥

तव निःश्वसितानुकारिभिर्बकुलैरर्धचितां समं मया ।
असमाप्य विलासमेखलां किमिदं किन्नरकण्ठि ! सुप्यते ॥ ६४ ॥

तवेति । तव निःश्वसितानुकारिभिर्बकुलैर्बकुलकुसुमैर्मया समं सार्धमर्धचितामर्धं यथा तथा रचितां विलासमेखलामसमाप्यापूरयित्वा । किन्नरस्य देवयोनिविशेषस्य कण्ठ इव कण्ठो यस्यास्तत्संबुद्धिर्हे किन्नरकण्ठि ! "अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम्" इति ङीप् । किमिदं सुप्यते निद्रा क्रियते । "वचिस्वपियजादीनां किति" इत्यनेन सम्प्रसारणम् । अनुचितमिदं स्वपनमित्यर्थः ॥ ६४ ॥

हे किन्नरके समान (मधुर ध्वनियुक्त) कण्ठवाली प्रिये ! (सुगन्धिमें) तुम्हारे श्वासका अनुकरण करनेवाले इन मौलेसरीके फूलोंसे मेरे साथ आधी गुथी हुई विलास-मेखला (विलासार्थ करधनी) को विना पूरा किये क्यों सो रही हो ? ॥ ६४ ॥

समदुःखसुखः सखीजनः प्रतिपच्चन्द्रनिभोऽयमात्मजः ।
अहमेकरसस्तथापि ते व्यवसायः प्रतिपत्तिनिष्ठुरः ॥ ६५ ॥

समेति । सखीजनः समदुःखसुखः, त्वद्दुःखेन दुःखी त्वत्सुखेन सुखीत्यर्थः । अयमात्मजो बालः प्रतिपच्चन्द्रनिभः दर्शनीयो वर्धिष्णुश्चेत्यर्थः । प्रतिपच्छब्देन द्वितीया लक्ष्यते । प्रतिपदि चन्द्रस्यादर्शनात् । अहमेकरसोऽभिन्नरागः । 'शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः' इत्यमरः । तथापि जीवितसामग्रीसत्त्वेऽपीत्यर्थः । ते तव व्यवसायोऽस्मत्परित्यागरूपो व्यापारः प्रतिपत्त्या निश्चयेन निष्ठुरः क्रूरः । 'प्रतिपत्तिः पदप्राप्तौ प्रकृतौ गौरवेऽपि च । प्रागल्भ्ये च प्रबोधे च' इति विश्वः । स्मर्तुं न शक्यः किमुताधिकर्तुमिति भावः ॥ ६५ ॥

(यद्यपि) ये सहेलियां सुख-दुखमें समान रहनेवाली हैं, यह बालक प्रतिपद्के चन्द्रमाके समान (बहुत ही अबोध एवं छोटा होनेसे मातृपालनकी अपेक्षा करने योग्य) है और मैं एकरस पहले ही के समान प्रेम करनेवाला हूं; तथापि तुम्हारा वर्ताव (हमलोगोंको छोड़कर स्वर्ग सिधारना) अवश्य ही निष्ठुर मालूम पड़ता है ॥ ६५ ॥

धृतिरस्तमिता रतिश्च्युता विरतं गेयमृतुर्निरुत्सवः ।
गतमाभरणप्रयोजनं परिशून्यं शयनीयमद्य मे ॥ ६६ ॥

धृतिरिति । अद्य मे धृतिर्धैर्यं प्रतीतिर्वास्तं नाशमिता । रतिः क्रीडा च्युता गता । गेयं गानं विरतम् । ऋतुर्वसन्तादिर्निरुत्सवः । आभरणानां प्रयोजनं गतमपगतम् । शेतेऽस्मिन्निति शयनीयं तल्पम्, "कृत्यल्युटो बहुलम्" इत्यधिकरणार्थेऽनीयर् प्रत्ययः । परिशून्यम् । त्वां विना सर्वमपि निष्फलमिति भावः ॥ ६६ ॥

आज मेरा धैर्य टूट गया, प्रेम नष्ट हो गया, गाना बन्द हो गया, ऋतु उत्सवशून्य हो गयी, भूषण पहननेका प्रयोजन समाप्त हो गया और शय्या शून्य हो गयी ॥ ६६ ॥

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥ ६७ ॥

गृहिणीति । त्वमेव गृहिणी दाराः । अनेन सर्वं कुटुम्बं त्वदाश्रयमिति भावः । सचिवो बुद्धिसहायो मन्त्री सर्वो हितोपदेशस्त्वदायत्त इत्यनेनोच्यते । मिथो रहसि सखी नर्मसचिवः । सर्वोपभोगस्त्वदाश्रय इत्यमुना प्रकटितम् । ललिते मनोहरे कलाविधौ वादित्रादिचतुःषष्टिकलाप्रयोगे प्रियशिष्या । प्रियत्वं प्राज्ञत्वादित्यभिसन्धिः । सर्वानन्दोऽनेन त्वन्निबन्धन इत्युद्घाटितम् । अतस्त्वां समष्टिरूपां हरता अत एव करुणाविमुखेन कृपाशून्येन मृत्युना मे मत्संबन्धि किं वस्तु न हृतं वद । सर्वमपि हृतमित्यर्थः ॥ ६७ ॥

(तुम) गृहणी, मन्त्री, एकान्तकी सखी और मनोहर कलाओंके प्रयोगमें प्रिय शिष्या थी । तुमको हरण करते हुए निर्दय मृत्युने मेरा क्या नहीं हरण कर लिया ? कहो, अर्थात् मृत्युने मेरा सब कुछ हरण कर लिया ॥ ६७ ॥

मदिराक्षि ! मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे ।
अनुपास्यसि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम् ॥ ६८ ॥

मदिराक्षीति । माद्यत्यनयेति मदिरा लोकप्रसिद्धा । तथापि 'नार्यो मदिरलोचनाः' इत्यादिप्रयोगदर्शनान्माद्यत्याभ्यामिति मदिरे अक्षिणी यस्यास्तत्संबुद्धिर्हे मदिराक्षि मत्तलोचने ! मदाननेनार्पितं रसवत्स्वादुतरं मधु मद्यं पीत्वा बाष्पदूषितमश्रुतप्तं परलोकोपनतं परलोकप्राप्तं मे जलाञ्जलिं तिलोदकाञ्जलिं कथं नु अन्वनन्तरं पास्यसि,

तदनन्तरमित्यर्थः। यथाह भट्टमल्लः—"अनुपानं हिमजलं यवगोधूमनिर्मिते । दध्नि मद्ये विषे द्राक्षे पिष्टे पिष्टमयेऽपि च ॥" इति । तच्चैहैव युज्यते । इदं तूष्णं लोकान्तरोपयोगि चेत्यायुर्वेदविरोधात्कथमनुपास्यसीति भावः ॥ ६८ ॥

हे मतवाली आँखोंवाली प्रिये ! (पहले सर्वदा) मेरे पीये हुए सरस मदिराको पीकर बादमें (अब मर जानेपर) मेरी आँसूसे दूषित तथा परलोकमें प्राप्त (तिलयुक्त) जलाञ्जलिको कैसे पीओगी ? ॥ ६८ ॥

विभवेऽपि सति त्वया विना सुखमेतावदजस्य गण्यताम् ।
अहृतस्य विलोभनान्तरैर्मम सर्वे विषयास्त्वदाश्रयाः ॥ ६९ ॥

विभव इति । विभव ऐश्वर्ये सत्यपि त्वया विनाऽजस्यैतावदेव सुखं गण्यताम् यावत्त्वया सह भुक्तं ततोऽन्यन्न किञ्चिन्नविष्यतीत्यर्थः । कुतः । विलोभनान्तरैर्विषयान्तरैरहृतस्यानाकृष्टस्य मम सर्वे विषया भोगादयस्त्वदधीनाः । त्वां विना मे न किञ्चिद्रोचत इत्यर्थः ॥ ६९ ॥

(राज्यादि) ऐश्वर्यके रहनेपर भी तुम्हारे विना अजका इतना ही सुख था ऐसा समझो, (क्योंकि) दूसरे लुभावने पदार्थोंसे नहीं आकृष्ट होनेवाले मेरे भोग–साधन तुम्हारे ही आश्रित थे, (अतः तुम्हारे विना सब भोग–साधन निष्फल मालूम पड़ते हैं)" ॥ ६९ ॥

विलपन्निति कोसलाधिपः करुणार्थग्रथितं प्रियां प्रति ।
अकरोत्पृथिवीरुहानपि स्रुतशाखारसबाष्पदूषितान् ॥ ७० ॥

विलपन्निति । कोसलाधिपोऽज इति करुणः शोकरसः स एवार्थस्तेन ग्रथितं संबद्धं यथा तथा प्रियां प्रतीन्दुमतीमुद्दिश्य विलपन् पृथिवीरुहान्वृक्षानपि स्रुताः शाखारसा मकरन्दा एव बाष्पास्तैर्दूषितानकरोत्, अचेतनानप्यरोदयदित्यर्थः ॥ ७० ॥

इस प्रकार प्रियाके लिये सकरुण विलाप करते हुए कोसलेश्वर अजने (जड) वृक्षोंको भी गिरे हुए मकरन्द (या निर्यास–आर्द्र गोंद) रूपी आँसूसे दूषित कर दिया अर्थात् जड़ वृक्षोंतकको भी रुला दिया ॥ ७० ॥

अथ तस्य कथंचिदङ्कतः स्वजनस्तामपनीय सुन्दरीम् ।
विससर्ज तदन्त्यमण्डनामनलायागुरुचन्दनैधसे ॥ ७१ ॥

अथेति । अथ स्वजनो बन्धुवर्गस्तस्याऽजस्याङ्कत उत्सङ्गात्कथंचिदपनीय । तद्दिव्यकुसुममेवान्त्यं मण्डनमलंकारो यस्यास्तां तां सुन्दरीमगुरूणि चन्दनान्येधांसीन्धनानि यस्य तस्मै अनलायाग्नये विससर्ज विसृष्टवान् । क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम् इति क्रियामात्रप्रयोगे सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी ॥ ७१ ॥

इसके बाद आत्मीय जनोंने किसी प्रकार अजकी गोदसे अलगकर उस दिव्य पुष्पमालारूप

अन्तिम शृङ्गारवाली उस सुन्दरीको अगर तथा चन्दनके इन्धनोंवाली अग्निके लिये समर्पित कर दिया अर्थात् अगर तथा चन्दनकी जलती हुई चितापर जला दिया ॥ ७१ ॥

प्रमदामनु संस्थितः शुचा नृपतिः सन्निति वाच्यदर्शनात् ।
न चकार शरीरमग्निसात्सह देव्या न तु जीविताशया ॥ ७२ ॥

प्रमदामिति । नृपतिरजः सन्नपि विद्वानपि शुचा शोकेन प्रमदामनु प्रमदया सह संस्थितो मृत इति वाच्यदर्शनान्निन्दादर्शनाद्देव्येन्दुमत्या सह शरीरमग्निसादग्न्यधीनं न चकार । "तदधीनवचने" इति सातिप्रत्ययः । जीविताशया प्राणेच्छया तु नेति ॥७२॥

राजा (अज) 'विद्वान् होते हुए भी शोकसे प्रियाके पीछे मर गये' इस लोकनिन्दाके भयसे ही पटरानी (इन्दुमती)के साथमें शरीरको नहीं जलाया, जीनेकी आशासे नहीं ॥७२॥

अथ तेन दशाहतः परे गुणशेषामुपदिश्य भामिनीम् ।
विदुषा विधयो महर्द्धयः पुर एवोपवने समापिताः ॥ ७३ ॥

अथेति । अथ विदुषा शास्त्रज्ञेन तेनाजेन । गुणा एव शेषा रूपादयो यस्यास्तां गुणशेषां भामिनीं इन्दुमतीमुपदिश्योद्दिश्य दशानामह्नां समाहारो दशाहः । "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इत्यनेन समासः । समाहारस्यैकत्वादेकवचनम् । "राजाहःसखिभ्यष्टच्" इति टच् । "रात्राह्नाहाः पुंसि" इति पुंवत् । ततस्तसिल् । तस्माद्दशाहतः परं ऊर्ध्वं कर्तव्या महर्द्धयो महासमृद्धयो विधयः क्रियाः पुरः पुर्या उपवन उद्यान एव समापिताः सम्पूर्णमनुष्ठिताः । 'दशाहतः' इत्यत्र "विप्रः शुध्येद्दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः" इति मनुवचनविरोधो नाशङ्कनीयः । तस्य निर्गुणक्षत्रियविषयत्वात् । गुणवत्क्षत्रियस्य तु दशाहेन शुद्धिमाह पराशरः—"क्षत्रियस्तु दशाहेन स्वधर्मनिरतः शुचिः" इति । सूच्यतेऽस्यापि गुणवत्त्वं विदुषेत्यनेन ॥ ७३ ॥

इसके बाद विद्वान् उस अजने गुणमात्रावशेष अर्थात् मरी हुई सुन्दरी (इन्दुमती) के उद्देश्यसे दश दिनोंके बादकी सब श्राद्ध क्रियाको विस्तारके साथ नगरके उपवनमें ही पूरा किया ॥ ७३ ॥

स विवेश पुरीं तया विना क्षणदापायशशाङ्कदर्शनः ।
परिवाहमिवावलोकयन्स्वशुचः पौरवधूमुखाश्रुषु ॥ ७४ ॥

स इति । तयेन्दुमत्या विना । क्षणदाया रात्रेरपायेऽपगमे यः शशाङ्कश्चन्द्रः स इव दृश्यत इति क्षणदापायशशाङ्कदर्शनः प्रातःकालिकचन्द्र इव दृश्यमान इत्यर्थः । दृश्यत इति कर्मार्थे ल्युट् । सोऽजः पौरवधूमुखाश्रुषु स्वशुचः स्वशोकस्य परिवाहं जलोच्छ्वासमिवावलोकयन् । 'जलोच्छ्वासाः परीवाहाः' इत्यमरः । स्वदुःखपूरातिशय-

मिव पश्यन्पुरीं विवेश । वधूग्रहणात्तस्यामिन्दुमत्यां सख्याभिमानादजसमानदुःखसु-चकपरिवाहोक्तिर्निर्वहति ॥ ७४ ॥

उस (इन्दुमती) के विना रात्रिके बाद चन्द्रमाके समान प्रभाहीन वह (अज) नगरकी स्त्रियोंके मुखपर आँसुओंमें अपने शोकके प्रवाहको देखते हुए राजधानीमें प्रवेश किये अर्थात् राजा प्रियाके विना निष्प्रभ हो रहे थे तथा नगरकी रमणियां उनके दुःखसे रो रही थीं ॥७४॥

अथ तं सवनाय दीक्षितः प्रणिधानाद्गुरुराश्रमस्थितः ।
अभिषङ्गजडं विजज्ञिवानिति शिष्येण किलान्वबोधयत् ॥ ७५ ॥

अथेति । अथ सवनाय यागाय दीक्षितो गुरुर्वसिष्ठ आश्रमे स्वकीयाश्रमे स्थितः सन् तमजमभिषङ्गजडं दुःखमोहितं प्रणिधानाच्चित्तैकाग्र्याद्विजज्ञिवाञ्ज्ञातवान् । "क्वसुश्च" इति क्वसुप्रत्ययः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेण शिष्येणान्वबोधयत्किल बुधेर्ण्यन्ता-ण्णिचि लङ् ॥ ७५ ॥

इसके बाद यज्ञके लिये दीक्षाको ग्रहण किये हुए (अत एव अजके यहां स्वयं आनेमें असमर्थ) गुरु वसिष्ठजीने आश्रमपर रहते हुए ही, दुःखसे मोहित उस अजको इस प्रकार मालूमकर शिष्यके द्वारा (श्लो० ७६–९०, प्रथम तीन श्लोकों (७६–७८) को शिष्यने अपनी ओरसे कहा है, शेष वसिष्ठजीका कथन है) समझाया ॥ ७५ ॥

वसिष्ठशिष्य आह—

असमाप्तविधिर्यतो मुनिस्तव विद्वानपि तापकारणम् ।
न भवन्तमुपस्थितः स्वयं प्रकृतौ स्थापयितुं पथश्च्युतम् ॥ ७६ ॥

असमाप्तेति । यतो हेतोर्मुनिरसमाप्तविधिरसमाप्तक्रतुस्ततस्तव तापकारणं दुःख-हेतुं कलत्रनाशरूपं विद्वाञ्जानन्नपि । "विदेः शतुर्वसुः" इति वस्वादेशः । "न लोका-व्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इत्यनेन षष्ठीप्रतिषेधः । पथश्च्युतं स्वभावाद्भ्रष्टं भवन्तं प्रकृतौ स्वभावे स्थापयितुं समाश्वासयितुमित्यर्थः । स्वयं नोपस्थितो नागतः ॥ ७६ ॥

"मुनि (वसिष्ठजी) का यज्ञ समाप्त नहीं हुआ है अत एव आपके सन्तापके कारणको जानते हुए भी वे मार्ग (धैर्य) से भ्रष्ट आपको प्रकृतिस्थ करनेके लिये (समझाकर पुनः अपने स्वभावपर लानेके लिये) स्वयं नहीं आये हैं, (किन्तु मेरे द्वारा आपको यह सन्देश भेजा है) ॥ ७६ ॥

मयि तस्य सुवृत्त ! वर्तते लघुसन्देशपदा सरस्वती ।
शृणु विश्रुतसत्त्वसार ! तां हृदि चैनामुपधातुमर्हसि ॥ ७७ ॥

मयीति । हे सुवृत्त सदाचार ! सन्दिश्यत इति संदेशः संदेष्टव्यार्थः । तस्य पदानि वाचकानि लघूनि संक्षिप्तानि सन्देशपदानि यस्यां सा लघुसंदेशपदा तस्य मुनेः सर-

स्वती वाक् मयि वर्तते । हे विश्रुतसत्त्वसार ! प्रख्यातधैर्यातिशय ! तां सरस्वतीं शृणु एनां वाचं हृद्युपधातुं धर्तुं चार्हसि ॥ ७७ ॥

हे सदाचारसम्पन्न ! थोड़े सन्देशवाली उनकी वाणी मुझमें स्थित है अर्थात् उन्होंने थोड़े शब्दोंमें मेरेद्वारा सन्देश भेजा है, हे प्रसिद्ध पराक्रमवाले अज ! उसे आप सुनें और हृदयमें रखें ॥ ७७ ॥

वक्ष्यमाणार्थानुगुणं मुनेः सर्वज्ञत्वं तावदाह—

पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतं च भवच्च भावि च ।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति ॥ ७८ ॥

पुरुषस्येति । अजन्मनः पुरुषस्य पुराणपुरुषस्य भगवतस्त्रिविक्रमस्य पदेषु विक्रमेषु त्रिभुवनेष्वपीत्यर्थः । समतीतं भूतं च भवद्वर्तमानं च भावि भविष्यच्चेति त्रितयं स मुनिर्निष्प्रतिघेनाप्रतिबन्धेन ज्ञानमयेन चक्षुषा ज्ञानदृष्ट्या पश्यति हि । अतस्त-दुक्तिषु न संशयितव्यमित्यर्थः । लोकत्रये कालत्रयस्य वार्ता गुरुर्वसिष्ठो जानातीति भावः ॥ ७८ ॥

अजन्मा पुराणपुरुष (वामन भगवान्)के पगोंमें अर्थात् त्रैलोक्यमें स्थित भूत, वर्तमान तथा भविष्य इन तीनोंको वे (वसिष्ठजी) प्रतिबन्धरहित ज्ञानमय नेत्रसे देखते हैं, (अत एव उनके भेजे हुए सदेशमें आपको सन्देह दूरकर पूर्ण विश्वास करना चाहिये)" ॥ ७८ ॥

चरतः किल दुश्चरं तपस्तृणबिन्दोः परिशङ्कितः पुरा ।
प्रजिघाय समाधिभेदिनीं हरिरस्मै हरिणीं सुराङ्गनाम् ॥ ७९ ॥

चरत इति । पुरा किल दुश्चरं तीव्रं तपश्चरतस्तृणबिन्दोस्तृणबिन्दुनामकात्कस्मा-च्चिदृषेः परिशङ्कितो भीतः कर्तरि क्तः । "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इत्यपादानात्पञ्चमी । हरिरिन्द्रः समाधिभेदिनीं तपोविघातिनीं हरिणीं नाम सुराङ्गनामस्मै तृणबिन्दवे प्रजि-घाय प्रेरितवान् ॥ ७९ ॥

(शिष्य अब यहांसे मुनि वसिष्ठजीका संदेश कहता है—) "पहले अतिकठिन तपस्या करते हुए तृणबिन्दु मुनिसे डरे हुए इन्द्रने समाधिको भङ्ग करनेवाली हरिणी (नामकी) देवाङ्गनाको भेजा ॥ ७९ ॥

स तपःप्रतिबन्धमन्युना प्रमुखाविष्कृतचारुविभ्रमाम् ।
अशपद्भव मानुषीति तां शमवेलं प्रलयोर्मिणा भुवा ॥ ८० ॥

स इति । स मुनिः शमः शान्तिरेव वेला मर्यादा तस्याः प्रलयोर्मिणा प्रलयकाल-तरङ्गेण शमविघातकेनेत्यर्थः । 'अब्ध्यम्बुविकृतौ वेला कालमर्यादयोरपि' इत्यमरः । तपसः प्रतिबन्धेन विघ्नेन यो मन्युः क्रोधस्तेन हेतुना प्रमुखेऽग्रे आविष्कृतचारुविभ्रमां

प्रकाशितमनोहरविलासां तां हरिणीं भुवि भूलोके मानुषी मनुष्यस्त्री भवेत्यशपच्छशाप ॥ ८० ॥

उस मुनिने शान्तिरूपी किनारा (पक्षा०-मर्यादा) के प्रलयकालिक तरङ्गके समान तपस्याके बाधक होने के कारण क्रोधसे, सामने सुन्दर विलास (शृङ्गारमय हाव-भाव) दिखानेवाली उस (हरिणी) को "मानुषी हो जावो" ऐसा शाप दिया ॥ ८० ॥

भगवन्परवानयं जनः प्रतिकूलाचरितं क्षमस्व मे ।
इति चोपनतां क्षितिस्पृशं कृतवानासुरपुष्पदर्शनात् ॥ ८१ ॥

भगवन्निति । हे भगवन्महर्षे ! अयं जनः परोऽस्यास्तीति स्वामित्वेन परवान्पराधीनः । इन्द्राधीन इत्यर्थः । अयमित्यात्मनिर्देशः । अहं पराधीनेत्यर्थः । मे मम प्रतिकूलाचरितमपराधं क्षमस्वेत्यनेन प्रकारेणोपनतां शरणागतां च हरिणीमासुरपुष्पदर्शनात्सुरपुष्पदर्शनपर्यन्तम् । क्षितिं स्पृशतीति क्षितिस्पृक् तां क्षितिस्पृशं मानुषीं कृतवानकरोत् । दिव्यपुष्पदर्शनं शापावधिरित्यनुगृहीतवानित्यर्थः ॥ ८१ ॥

हे भगवन् ! यह जन अर्थात् मैं (इन्द्रके) पराधीन है, अतः (मेरे) विपरीत व्यवहार को क्षमा कीजिये" इस प्रकार (कहती हुई) शरणागत उसको देव-पुष्पके दर्शनतक पृथ्वी-पर रहनेवाली अर्थात् मानुषी बना दिया अर्थात् "देव-पुष्प देखनेके बाद तुम मानुषी-शरीरका त्यागकर फिर स्वर्गमें आ जावोगी" ऐसी शापकी अवधि मुनिने कर दी ॥ ८१ ॥

क्रथकैशिकवंशसम्भवा तव भूत्वा महिषी चिराय सा ।
उपलब्धवती दिवश्च्युतं विवशा शापनिवृत्तिकारणम् ॥ ८२ ॥

क्रथेति । क्रथकैशिकानां राज्ञां वंशे सम्भवो यस्याः सा हरिणी तव महिष्यभिषिक्ता स्त्री 'कृताभिषेका महिषी' इत्यमरः । भूत्वा चिराय दिवः स्वर्गाच्च्युतं शापनिवृत्तिकारणं सुरपुष्परूपमुपलब्धवती । विवशा अभूदिति शेषः । मृतेत्यर्थः ॥ ८२ ॥

क्रथकैशिक वंशकी कन्या वह (हरिणी नामकी तृणविन्दु मुनिसे शाप पायी हुई देवाङ्गना) बहुत दिनोंतक तुम्हारी पटरानी होकर स्वर्गसे गिरे हुए, शापकी निवृत्तिके कारण (·पुष्पमाला) को प्राप्त करनेपर विवश हुई अर्थात् मर गयी ॥ ८२ ॥

तदलं तदपायचिन्तया विपदुत्पत्तिमतामुपस्थिता ।
वसुधेयमवेक्ष्यतां त्वया वसुमत्या हि नृपाः कलत्रिणः ॥ ८३ ॥

तदलमिति । तत्तस्मात्तस्या अपायचिन्तयालं, तस्या मरणं न चिन्त्यमित्यर्थः । निषेधक्रियां प्रति करणत्वाच्चिन्तयेति तृतीया । कुतो न चिन्त्यमत आह—उत्पत्तिमतां जन्मवतां विपद्विपत्तिरुपस्थिता सिद्धा । "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च" इत्यर्थः । तथापि कलत्ररहितस्य किं जीवितेन । तत्राह—त्वयेयं वसुधा भूमिरवेक्ष्यतां

पाल्यताम् । हि यस्मान्नृपा वसुमत्या पृथिव्या कलत्रिणः कलत्रवन्तः, अतो न शोचितव्यमित्यर्थः ॥ ८३ ॥

इस कारण उसके मरणकी चिन्ता करना व्यर्थ है, प्राणियोंकी विपत्ति निश्चित है, तुम इस पृथ्वीको देखो अर्थात् राज्यका कार्य सम्हालो, क्योंकि राजालोग पृथ्वीसे पत्नी· वाले होते हैं ॥ ८३ ॥

उदये मदवाच्यमुज्झता श्रुतमाविष्कृतमात्मवत्त्वया ।
मनसस्तदुपस्थिते ज्वरे पुनरक्लीबतया प्रकाश्यताम् ॥ ८४ ॥

उदय इति । उदयेऽभ्युदये सति मदेन यद्वाच्यं निन्दादुःखं तदुज्झता परिहरता सत्यपि मदहेतावमाद्यता त्वया यदात्मवदध्यात्मप्रचुरं श्रुतं शास्त्रम्, तज्जनितं ज्ञान· मिति यावत् । आविष्कृतं प्रकाशितं तच्छ्रुतं मनसो ज्वरे सन्ताप उपस्थिते प्राप्तेऽक्ली· बतया धैर्येण लिङ्गेन पुनः प्रकाश्यताम् । विदुषा सर्वास्ववस्थास्वपि धीरेण भवित· व्यमित्यर्थः ॥ ८४ ॥

अभ्युदयमें मदजन्य निन्दाका त्याग करते हुए तुमने जो शास्त्र (शास्त्रजन्य ज्ञान) को प्रकाशित (प्राप्त) किया है, उसे मानसिक सन्ताप होनेपर पुरुषार्थभावसे (या धैर्यसे) प्रकाशित करो । (ऐश्वर्यवान् होते हुए भी अभिमानको त्यागकर प्राप्त किये हुए ज्ञानको आपत्तिकालमें भी धैर्यपूर्वक प्रकाशितकर उससे काम लो अर्थात् शोकका त्याग करो) ॥८४॥

इतोऽपि न रोदितव्यमित्याह—

रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतापि लभ्यते ।
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम् ॥ ८५ ॥

रुदतेति । रुदता भवता सा कुत एव लभ्यते । न लभ्यत एव । अनुम्रियत इत्य- नुमृत् । क्विप् । तेनानुमृताऽनुमृतवतापि भवता पुनर्न लभ्यते । कथं न लभ्यत इत्याह—परलोकजुषां लोकान्तरभाजां देहिनाम् । गम्यन्त इति गतयो गम्यस्थानानि स्वकर्मभिः पूर्वाचरितपुण्यपापैर्भिन्नपथाः पृथक्कृतमार्गा हि । परत्रापि स्वस्वधर्मानु- रूपफलभोगाय भिन्नदेहगमनान्न मृतेनापि लभ्यत इत्यर्थः ॥ ८५ ॥

रोते हुए तुम उसे कहांसे पावोगे ?, उसके पीछे मरकर भी उसे नहीं पा सकोगे, क्योंकि मरे हुए जीवोंकी गति अपने कर्मोंके अनुसार भिन्न २ होती है ॥ ८५ ॥

अपशोकमनाः कुटुम्बिनीमनुगृह्णीष्व निवापदत्तिभिः ।
स्वजनाश्रु किलातिसन्ततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते ॥ ८६ ॥

अपशोकमना इति । किंत्वपशोकमना निर्दुःखचित्तः सन् कुटुम्बिनीं पत्नीं निवा· पदत्तिभिः पिण्डोदकादिदानैरनुगृह्णीष्व, तर्पयेत्यर्थः । अन्यथा दोषमाह—अतिसन्तत·

मविच्छिन्नं स्वजनानां बन्धूनां 'बन्धुस्वस्वजनाः समाः' इत्यमरः । अश्रु कर्तृ । प्रेतं मृतं दहतीति प्रचक्षते मन्वादयः किल । अत्र याज्ञवल्क्यः—"श्लेष्माश्रु बन्धुभिर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः । अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः" ॥ इति ॥ ८६ ॥

मनको शोकरहितकर पत्नी (इन्दुमती) को पिण्डदान आदिसे तृप्त करो, क्योंकि 'निरन्तर बहनेवाला स्वजनोंकी आँसू प्रेत (मृतात्मा) को जलाती है' ऐसा (मनु आदि महर्षि) कहते हैं ॥ ८६ ॥

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः ।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ ॥ ८७ ॥

मरणमिति । शरीरिणां मरणं प्रकृतिः स्वभावः, ध्रुवमित्यर्थः । जीवितं विकृतिर्यादृच्छिकं बुधैरुच्यते । एवं स्थिते जन्तुः प्राणी क्षणमपि । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । श्वसञ्जीवन्नवतिष्ठते यद्यसौ क्षणजीवी लाभवान्ननु । जीवने यथालाभं सन्तोष्टव्यम् । अलभ्यलाभात् । मरणे तु न शोचितव्यम् । अस्य स्वाभाव्यादिति भावः । अत्र मरणशब्देन स्थूलशरीरत्यागोऽवगन्तव्यः ॥ ८७ ॥

शरीरधारियोंका मरना स्वभाव और जीना विकार कहा जाता है, (अतः) यदि जीव क्षणमात्र भी श्वास लेता हुआ ठहरता अर्थात् जीता है तो वह लाभवान् है ॥ ८७ ॥

अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम् ।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम् ॥ ८८ ॥

अवेति । मूढचेतनो भ्रान्तबुद्धिः प्रियनाशमिष्टनाशं हृद्यर्पितं निखातं शल्यं शङ्कुमवगच्छति मन्यते । स्थिरधीर्विद्वांस्तु तदेव शल्यं समुद्धृतमुत्खातं मन्यते । प्रियनाशे सतीति शेषः । कुतः । कुशलद्वारतया प्रियनाशस्य मोक्षोपायतयेत्यर्थः । विषयलाभविनाशयोर्यथाक्रमं हिताहितसाधनत्वाभिमानः पामराणां विपरीतं तु विपश्चितामिति भावः ॥ ८८ ॥

मूढबुद्धि व्यक्ति इष्टके नाशको हृदयमें चुभा हुआ काँटा समझता है और धैर्यवान् व्यक्ति तो (मोक्षोपाय साधक) श्रेष्ठ मार्गद्वारा उस काँटेको निकाला हुआ समझता है । (मूर्खलोग विषयलाभको उत्तम लाभ तथा मरणको हानि और विद्वान्लोग इसके विपरीत समझते हैं) ॥ ८८ ॥

स्वशरीरशरीरिणावपि श्रुतसंयोगविपर्ययौ यदा ।
विरहः किमिवानुतापयेद्वद बाह्यैर्विषयैर्विपश्चितम् ॥ ८९ ॥

स्वशरीरेति । स्वस्य शरीरशरीरिणौ देहात्मानावपि यदा यतः श्रुतौ अत्यवगतौ संयोगविपर्ययौ संयोगवियोगौ ययोस्तौ तथोक्तौ, तदा बाह्यैर्विषयैः पुत्रमित्रकलत्रा-

द्भिर्विरहो विपश्चितं विद्वांसं किमिवानुतापयेत्वं वद, न किञ्चिदित्यर्थः । अथवा स्वशब्दस्य शरीरेणैव सम्बन्धः ॥ ८९ ॥

जब अपने शरीर और आत्माका भी संयोग और वियोग सुना (एवं देखा) गया है, तब बाहरी विषयोंसे वियोग होना विद्वान्को क्यों सन्तप्त करे ?, कहो। बाहरी विषयोंके वियोगसे विद्वान्को कदापि शोक नहीं करना चाहिये ॥ ८९ ॥

न पृथग्जनवच्छुचो वशं वशिनामुत्तम ! गन्तुमर्हसि ।
द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः ॥ ९० ॥

नेति । हे वशिनामुत्तम जितेन्द्रियवर्य ! पृथग्जनवत्पामरजनवच्छुचः शोकस्य वशं गन्तुं नार्हसि । तथा हि द्रुमसानुमतां तरुशिखरिणां किमन्तरं को विशेषः । वायौ सति द्वितयेऽपि द्विप्रकारा अपि । "प्रथमचरम-" इत्यादिना जसि विभाषया सर्वनामसंज्ञा । ते द्रुमसानुमन्तश्चलाश्चञ्चला यदि । सानुमतामपि चलने द्रुमवत्तेषामप्यचलसंज्ञा न स्यादित्यर्थः ॥ ९० ॥

हे जितेन्द्रियोंमें श्रेष्ठ अज ! (तुम्हें) साधारण जनके समान शोकके वशमें होना (इन्दुमतीके लिये शोक करना) उचित नहीं है, क्योंकि हवाके बहनेपर पेड़ तथा पर्वत दोनो चञ्चल हों तो उन दोनोंमें अन्तर ही क्या रह जायेगा ? अर्थात् कुछ नहीं। अत एव तुम्हें शोककारण उपस्थित होनेपर भी वायुके बहनेपर पर्वतके समान स्थिर रहना चाहिये)" ॥ ९० ॥

स तथेति विनेतुरुदारमतेः प्रतिगृह्य वचो विससर्ज मुनिम् ।
तदलब्धपदं हृदि शोकघने प्रतियातमिवान्तिकमस्य गुरोः ॥ ९१ ॥

स इति । सोऽज उदारमतेर्विनेतुर्गुरोर्वसिष्ठस्य वचस्तच्छिष्यमुखेरितं तथेति प्रतिगृह्याङ्गीकृत्य मुनिं वसिष्ठशिष्यं विससर्ज प्रेषयामास । किन्तु तद्वचः शोकघने दुःखसान्द्रेऽस्याजस्य हृद्यलब्धपदमप्राप्तावकाशं सद्गुरोर्वसिष्ठस्यान्तिकं प्रतियातमिव प्रतिनिवृत्तं किमु । इत्युत्प्रेक्षा । तोटकवृत्तमेतत्-"इह तोटकमम्बुधिसैः प्रथितम्" इति तल्लक्षणम् ॥ ९१ ॥

वह अज श्रेष्ठ बुद्धिवाले उपदेशक (वसिष्ठजी) के वचनको 'वैसा ही करूंगा' इस प्रकार ग्रहणकर मुनि (वसिष्ठजीके शिष्य) को विदा किये, किन्तु अत्यन्त शोकयुक्त इस (अज) के हृदयमें स्थानको नहीं पानेवाला वह वचन इन (अज) के गुरु (वसिष्ठजी) के पास लौट गया क्या ? ॥ ९१ ॥

तेनाष्टौ परिगमिताः समा कथञ्चिद्बालत्वादवितथसूनृतेन सूनोः ।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च ॥९२॥

तेनेति। अवितथं यथार्थं सूनृतं प्रियवचनं यस्य तेनाजेन। सूनोः पुत्रस्य बालत्वात्, राज्याक्षमत्वादित्यर्थः। प्रियाया इन्दुमत्याः सादृश्यं वस्वन्तरगतमाकारसाम्यम्। प्रतिकृतिश्चित्रम्। तयोर्दर्शनैः स्वप्नेषु क्षणिकाः क्षणभङ्गुरा ये समागमोत्सवास्तैश्च कथञ्चित्कृच्छ्रेण। अष्टौ समा वत्सराः। 'संवत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्री शरत्समाः' इत्यमरः। परिगमिता अतिवाहिताः। उक्तं च-"वियोगावस्थासु प्रियजनसदृक्षानुभवनं ततश्चित्रं कर्म स्वपनसमये दर्शनमपि। तदङ्गस्पृष्टानामुपगतवतां स्पर्शनमपि प्रतीकारः कामव्यथितमनसां कोऽपि कथितः" ॥ इति। प्रकृते सादृश्यादिचित्रतयाभिधानं तदङ्गस्पृष्टपदार्थस्पृष्टेरप्युपलक्षणम्। प्रहर्षिणीवृत्तमेतत् ॥ ९२ ॥

सत्यवक्ता उस (अज) ने पुत्रके बालक (अबोध) होनेके कारण प्रिया (इन्दुमती) के समान चित्र आदि देखने तथा स्वप्नोंमें क्षणिक समागमके आनन्दोंसे किसी प्रकार आठ वर्ष बिताया ॥ ९२ ॥

तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशङ्कुः प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद।
प्राणान्तहेतुमपि तं भिषजामसाध्यं लाभं प्रियानुगमने त्वरया स मेने ॥

तस्येति। शोक एव शङ्कुः कीलः। 'शङ्कुः कीले शिवेऽस्त्रे च' इति विश्वः। तस्याजस्य हृदयम्। प्लक्षप्ररोहः सौधतलमिव। प्रसह्य बलात्किल बिभेद। सोऽजः प्राणान्तहेतुं मरणकारणमपि भिषजामसाध्यमप्रतिसमाधेयं तं शोकशङ्कुं रोगपर्यवसितं प्रियाया अनुगमने त्वरयोत्कण्ठया लाभं मेने। तद्विरहस्यातिदुःसहत्वात्तत्प्राप्तिकारणं मरणमेव वरमित्यमन्यतेत्यर्थः ॥ ९३ ॥

शोकरूप काँटेने उस अजके हृदयको, मकानके छतको पीपलके अङ्कुरके समान बलात् विदीर्ण कर दिया, वह (अज) प्राणान्त करनेवाले तथा वैद्योंके असाध्य उस (शोकरूप शङ्कु) को शीघ्रतासे या उत्सुकतासे प्रियाके अनुगमनको लाभकारक माना ॥ ९३ ॥

सम्यग्विनीतमथ वर्महरं कुमारमादिश्य रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम्।
रोगोपसृष्टतनुदुर्वसतिं मुमुक्षुः प्रायोपवेशनमतिर्नृपतिर्बभूव ॥ ९४ ॥

सम्यगिति। अथ नृपतिरजः सम्यग्विनीतं निसर्गसंस्काराभ्यां विनयवन्तम्। वर्म हरतीति वर्महरः कवचधारणार्हवयस्कः। "वयसि च" इत्यच्प्रत्ययः। तं कुमारं दशरथं प्रजानां रक्षणविधौ राज्ये विधिवद्विध्यर्हं, यथाशास्त्रमित्यर्थः। "तदर्हम्" इति वतिप्रत्ययः। आदिश्य नियुज्य रोगेणोपसृष्टाया व्याप्तायास्तनोः शरीरस्य दुर्वसतिं दुःखावस्थितिं मुमुक्षुर्जिहासुः सन्। प्रायोपवेशनेऽनशनावस्थाने मतिर्यस्य स बभूव। 'प्रायश्चानशने मृत्यौ तुल्यबाहुल्ययोरपि' इति विश्वः। अत्र पुराण-

वचनम्—"समासक्तो भवेद्यस्तु पातकैर्महदादिभिः । दुश्चिकित्स्यैर्महारोगैः पीडितो वा भवेत्तु यः ॥ स्वयं देहविनाशस्य काले प्राप्ते महामतिः । आब्रह्माणं वा स्वर्गादि महाफलजिगीषया ॥ प्रविशेज्ज्वलनं दीप्तं कुर्यादनशनं तथा । एतेषामधिकारोऽस्ति नान्येषां सर्वजन्तुषु ॥ नराणामथ नारीणां सर्ववर्णेषु सर्वदा" इति । अनयोर्वसन्ततिलकाछन्दः । तल्लक्षणम्—"उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः" इति ॥

इसके बाद राजा (अज) अच्छी तरह शिक्षित कवचधारी कुमार (पुत्र दशरथ) को प्रजाओंकी रक्षाके कार्यमें विधिपूर्वक आदेश देकर रोगग्रस्त शरीरकी कष्टप्रद स्थितिको छुड़ानेका इच्छुक हो प्रायोपवेश (अन्न-जलका त्याग) कर दिये ॥ ९४ ॥

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः ।
पूर्वाकाराधिकतररुचा सङ्गतः कान्तयाऽसौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥ ९५ ॥

तीर्थ इति । असावजो जह्नुकन्यासरय्वोस्तोयानां जलानां व्यतिकरेण सम्भेदेन भवे तीर्थे गङ्गासरयूसङ्गमे देहत्यागात्सद्य एवामरगणनायां लेख्यं लेखनम् । "तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः" इति भावार्थे ण्यत्प्रत्ययः । आसाद्य प्राप्य । पूर्वस्मादाकारादधिकतरा रुग्यस्यास्तया कान्तया रमण्या सङ्गतः सन् । नन्दनस्येन्द्रोद्यानस्याभ्यन्तरेष्वन्तर्वर्तिषु लीलागारेषु क्रीडाभवनेषु पुनररमत । "यथाकथंचित्तीर्थेऽस्मिन्देहत्यागं करोति यः । तस्यात्मघातदोषो न प्राप्नुयादीप्सितान्यपि" ॥ इति स्कान्दे । मन्दाक्रान्ताछन्दः । तल्लक्षणम्—"मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरू चेत्" इति ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये अजविलापो नामाष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

(वे अज) गङ्गा तथा सरयू नदियोंके जलके मिश्रणसे बने हुए तीर्थमें अर्थात् गङ्गा सरयूके संगममें देहत्याग करनेसे तत्काल देवत्वको प्राप्त किये और पहलेकी आकृतिसे अधिक सुन्दरी प्रिया (देवाङ्गना) के साथ नन्दन वनके भीतर लीलामन्दिरोंमें रमण करने लगे ॥९५॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'अजविलाप' नामक अष्टम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः ।

एकलोचनमेकार्धे सार्धलोचनमन्यतः ।
नीलार्धं नीलकण्ठार्धं महः किमपि मन्महे ॥

पितुरनन्तरमुत्तरकोसलान्समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः ।
दशरथः प्रशशास महारथो यमवतामवतां च धुरि स्थितः ॥ १ ॥

पितुरिति । समाधिना संयमेन जितेन्द्रियः । 'समाधिर्नियमे ध्याने' इति कोशः । यमवतां संयमिनामवताम् । "ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्कता । अहिंसास्तेयमाधुर्यंदमश्चेति यमाः स्मृताः" इति याज्ञवल्क्यः । रक्षतां राज्ञां च धुर्यग्रे स्थितो महारथः । "एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् । शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च स महारथ उच्यते" ॥ इति । दशरथः पितुरनन्तरमुत्तरकोसलाञ्जनपदान्समधिगम्य प्रशशास । अत्र मनुः–"क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानां परिपालनम् ।" इति । द्रुतविलम्बितमेतद्वृत्तम् । तल्लक्षणम्–"द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ" इति॥१॥

वामार्द्धमें है एक नेत्र परार्द्धमें वह सार्द्ध है ।
नीलार्द्ध नील गलार्द्ध उस निर्वाच्य महको हम भजें ॥

संयमसे इन्द्रियोंको विजय किये हुए तथा संयमियों और रक्षकोंमें मुख्य महारथी 'दशरथ' पिताके बाद उत्तरकोसल देशकी प्रजाओंका शासन करने लगे ॥ १ ॥

अधिगतं विधिवद्यदपालयत्प्रकृतिमण्डलमात्मकुलोचितम् ।
अभवदस्य ततो गुणवत्तरं सनगरं नगरन्ध्रकरौजसः ॥ २ ॥

अधिगतमिति । अधिगतं प्राप्तमात्मकुलोचितं स्वकुलागतं सनगरं नगरजनसहितं प्रकृतिमण्डलं जानपदमण्डलम् । अत्र प्रकृतिशब्देन प्रजामात्रवाचिना नगरशब्दयोगाद्ब्राह्मणवसिष्ठन्यायेन जानपदमात्रमुच्यते । यद्यस्माद्विधिवद्यथाशास्त्रमपालयत् । ततो हेतोः । रन्ध्रं करोतीति रन्ध्रकरः रन्ध्रहेतुरित्यर्थः । "कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु" इति टप्रत्ययः । नगस्य रन्ध्रकरो नगरन्ध्रकरः कुमारः । 'कुमारः क्रौञ्चदारणः' इत्यमरः । तदोजसस्तत्तुल्यबलस्यास्य दशरथस्य गुणवत्तरमभवत् । तत्पौरजनपदमण्डलं तस्मिन्नतीवासक्तमभूदित्यर्थः ॥ २ ॥

प्राप्त हुए, अपने कुलके योग्य नगरसहित देशकी प्रजाको (दशरथने) जो ठीक पालन किया, इससे (क्रौञ्चनामक) पर्वतमें छिद्र करनेवाले अर्थात् स्वामी कार्तिकेयके समान पराक्रमी इस (दशरथ) का प्रजामण्डल अतिशय गुणी (दशरथमें स्नेह करनेवाला) हुआ ॥ २ ॥

उभयमेव वदन्ति मनीषिणः समयवर्षितया कृतकर्मणाम् ।
बलनिषूदनमर्थपतिं च तं श्रमनुदं मनुदण्डधरान्वयम् ॥ ३ ॥

उभयमिति। मनस ईषिणो मनीषिणो विद्वांसः । पृषोदरादित्वात्साधुः । बलनिषूदनमिन्द्रम् । दण्डस्य धरो राजा मनुरिति यो दण्डधरः स एवान्वयः कूटस्थो यस्य तमर्थपतिं दशरथं चेत्युभयमेव । समयेऽवसरे जलं धनं च वर्षतीति समयवर्षी तस्य भावः समयवर्षिता तया हेतुना कृतकर्मणां स्वकर्मकारिणाम् । नुदतीति नुदम् । "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति कप्रत्ययः । श्रमस्य नुदं श्रमनुदम् । क्विबन्तत्वे नपुंसकलिङ्गे वोभयशब्देन सामानाधिकरण्यं न स्यात् इति वदन्ति ॥ ३ ॥

विद्वान् लोग, इन्द्र तथा राजा मनुके वंशज दशरथ—इन दोनोंको ही समयमें (क्रमशः जल तथा धनको वृष्टि करनेसे कर्म करनेवाले) लोगोंके परिश्रमको दूर करनेवाले कहते हैं । ('इन्द्र यथासमय जलवृष्टिकर कर्मपरायण गृहस्थोंके तथा राजा दशरथ यथासमय धनदानकर कर्मपरायण प्रजाके श्रमको दूर करते हैं, ऐसा विद्वान्लोग कहते हैं) ॥ ३ ॥

जनपदे न गदः पदमादधावभिभवः कुत एव सपत्नजः ।
क्षितिरभूत्फलवत्यजनन्दने शमरतेऽमरतेजसि पार्थिवे ॥ ४ ॥

जनपद इति । शमरते शान्तिपरेऽमरतेजस्यजनन्दने दशरथे पार्थिवे पृथिव्या ईश्वरे सति । "तस्येश्वरः" इत्यण् प्रत्ययः । जनपदे देशे गदो व्याधिः । 'उपतापरोगव्याधिगदामयाः' इत्यमरः। पदं नादधौ, नाक्रामेत्यर्थः । सपत्नजः शत्रुजन्योऽभिभवः कुत एव, असम्भावित एवेत्यर्थः । क्षितिः फलवत्यभूच्च इति दैवानुकूल्यमभूदित्यर्थः॥

शान्तिप्रधान तथा देवतुल्य तेजस्वी अज-कुमार (दशरथ) के राजा होनेपर देशमें रोगने पैर नहीं रखा अर्थात् देश रोगपीडित नहीं हुआ, फिर शत्रुजन्य पराजय कहांसे हो सकता है ? (और उस समय) पृथ्वी फल देनेवाली (अधिक पैदावार) हुई ॥ ४ ॥

दशदिगन्तजिता रघुणा यथा श्रियमपुष्यदजेन ततः परम् ।
तमधिगम्य तथैव पुनर्बभौ न न महीनमहीनपराक्रमम् ॥ ५ ॥

दशेति । मही दशदिगन्ताञ्जितवानिति दशदिगन्तजित् । "चतस्रः कीर्तयेद्वाष्टौ दश वा ककुभः क्वचित्" इति वाग्भटः । तेन रघुणा यथा श्रियं कान्तिमपुष्यत् । ततः परं रघोरनन्तरमजेन च यथा श्रियमपुष्यत् तथैवाहीनपराक्रमं न हीनः पराक्रमो यस्य तमन्यूनपराक्रमं तं दशरथमिनं स्वामिनमधिगम्य पुनर्न बभाविति न, बभावेवेत्यर्थः । द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः ॥ ५ ॥

पृथ्वी दश दिशाओंके अन्ततक जितनेवाले रघुसे जिस प्रकार शोभित हुई या सम्पत्तिको बढ़ायी तथा उसके बाद अजसे जिस प्रकार शोभित हुई, पूर्ण पराक्रमी उस महीपति

(दशरथ) को पाकर उसी प्रकार शोभित नहीं हुई, ऐसा नहीं अर्थात् उसी प्रकार (रघु तथा अज के शासनकालके समान ही) शोभित हुई ॥ ५ ॥

समतया वसुवृष्टिविसर्जनैर्नियमनादसतां च नराधिपः ।
अनुययौ यमपुण्यजनेश्वरौ सवरुणावरुणाग्रसरं रुचा ॥ ६ ॥

समतयेति । नराधिपो दशरथः समतया समवर्तित्वेन, मध्यस्थत्वेनेत्यर्थः । वसुवृष्टेर्धनवृष्टेर्विसर्जनैः असतां दुष्टानां नियमनान्निग्रहाच्च । सवरुणौ वरुणसहितौ यमपुण्यजनेश्वरौ यमकुबेरौ यमकुबेरवरुणान्यथासंख्यमनुययावनुचकार । रुचा तेजसाऽरुणाग्रसरमरुणसारथिं सूर्यमनुययौ ॥ ६ ॥

राजा (दशरथ) समान भावसे धन तथा वृष्टि के त्यागसे तथा दुष्टोंका शासन करनेसे वरुणसहित यम तथा कुबेरके और तेजसे सूर्यके समान हुए । (कुबेर, वरुण तथा यम क्रमशः धनत्याग, वर्षा, दुष्टशासन करते तथा सूर्य तेजस्वी होते हैं, दशरथ उक्त चारों गुण युक्त होनेसे उन सबके तुल्य हुए) ॥ ६ ॥

तस्य व्यसनासक्तिर्नासीदित्याह—

न मृगयाभिरतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु ।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत् ॥ ७ ॥

नेति । उदयाय यतमानमभ्युदयार्थं व्याप्रियमाणं तं दशरथं मृगयाभिरतिराखेटव्यसनं नापाहरन्नाचकर्ष । 'आच्छोदनं मृगव्यं स्यादाखेटो मृगया स्त्रियाम्' इत्यमरः । दुष्टमासमन्तादुदरमस्येति दुरोदरं द्यूतं च नापाहरत् । 'दुरोदरो द्यूतकारे पणे द्यूते दुरोदरम्' इत्यमरः । शशिनः प्रतिमा प्रतिबिम्बमाभरणं यस्य तन्मधु नापाहरत् । न वेति पदच्छेदः । वाशब्दः समुच्चये । नवयौवना नवं नूतनं यौवनं तारुण्यं यस्यास्तादृशी प्रियतमा वा स्त्री नापाहरत् । जातावेकवचनम् । अत्र मनुः— "पानमक्षाः स्त्रियश्चेति मृगया च यथाक्रमम् । एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे" ॥ इति ॥ ७ ॥

उन्नतिके लिये प्रयत्नशील उस (दशरथ) को शिकारका व्यसन, जुआ, चन्द्रप्रतिबिम्बसे सुशोभित मद्य अर्थात् चाँदनी रातमें मद्यपान अथवा नवयौवनवाली प्रियतमाने वशीभूत नहीं किया अर्थात् राजा दशरथ इनमेंसे किसीमें आसक्त नहीं होकर उन्नतिके लिये उद्योग करते रहे ॥ ७ ॥

न कृपणा प्रभवत्यपि वासवे न वितथा परिहासकथास्वपि ।
न च सपत्नजनेष्वपि तेन वागपरुषा परुषाक्षरमीरिता ॥ ८ ॥

नेति । तेन राज्ञा प्रभवति प्रभौ सति वासवेऽपि कृपणा दीना वाक् नेरिता

नोक्ता । परिहासकथास्वपि वितथाऽनृता वाङ् नेरिता । किञ्चापरुषा रोषशून्येन तेन सपत्नजनेष्वपि शत्रुजनेष्वपि परुषाक्षरं निष्ठुराक्षरं तथा वाङ् नेरिता । किमुतान्यत्रेति सर्वत्रापिशब्दार्थः । किंत्वदीना सत्या मधुरैव वागुक्तेति फलितोऽर्थः ॥ ८ ॥

उस (दशरथ) ने शासन करते रहनेपर अर्थात् अपने राज्यकालमें इन्द्रमें भी (अथवा—उसने शासन करनेवाले भी इन्द्रमें) दीन वचन, हँसी-मजाकमें भी असत्य वचन और शत्रुजनोंमें भी कटु वचन नहीं कहा । (फिर अन्य किसीके विषयमें कहना ही क्या है ? अर्थात् वे सर्वदा अदीन, सत्य और मधुर वचन बोलते थे) ॥ ८ ॥

उदयमस्तमयं च रघूद्वहादुभयमानशिरे वसुधाधिपाः ।
स हि निदेशमलङ्घयतामभूत्सुहृदयोहृदयः प्रतिगर्जताम् ॥ ९ ॥

उदयमिति । वसुधाधिपा राजानः उद्वहतीत्युद्वहो नायकः । पचाद्यच् । रघूणामुद्वहो रघुनायकः । तस्माद्रघुनायकादुदयं वृद्धिम्, अस्तमयं नाशं च इत्युभयमानशिरे लेभिरे । कुतः । हि यस्मात्स दशरथो निदेशमाज्ञामलङ्घयताम् । शोभनं हृदयमस्येति सुहृन्मित्रमभूत् । "सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः" इति निपातः । प्रतिगर्जतां प्रतिस्पर्धिनाम् । अय इव हृदयं यस्येत्ययोहृदयः कठिनचित्तोऽभूत् । आज्ञाकारिणो रक्षति, अन्यान्मारयतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

राजाओंने रघुकुलश्रेष्ठ उस (दशरथ) से समृद्धि और नाश—दोनोंको प्राप्त किया, क्योंकि वे (दशरथ) आज्ञोल्लङ्घन नहीं करनेवाले (राजाओं) के मित्र थे (अतः आज्ञापालक राजाओंने दशरथसे समृद्धिको प्राप्त किया) तथा प्रतिस्पर्द्धा करनेवाले राजाओंके लिये लौहतुल्य हृदयवाले थे (अतः प्रतिस्पर्द्धी राजाओंने उनसे नाशको प्राप्त किया) ॥ ९ ॥

अजयदेकरथेन स मेदिनीमुदधिनेमिमधिज्यशरासनः ।
जयमघोषयदस्य तु केवलं गजवती जवतीव्रहया चमूः ॥ १० ॥

अजयदिति । अधिज्यशरासनः ज्यामधिरूढम् अधिज्यं शरासनं यस्य स दशरथ उदधिनेमिं समुद्रवेष्टनां मेदिनीमेकरथेनाजयत्, स्वयमेकरथेनाजैषीदित्यर्थः । गजवती गजयुक्ता जवेन तीव्रा जवाधिका हया यस्यां सा चमूस्तस्य नृपस्य केवलं जयमघोषयत्प्रथयत् । स्वयमेकवीरस्य चमूरुपकरणमात्रमिति भावः ॥ १० ॥

धनुषको चढ़ाये हुए उस (दशरथ) ने एक रथसे समुद्रतक पृथ्वीको जीत लिया, हाथियों तथा तेज घोड़ोंवाली इनकी सेनाने तो केवल इनकी विजय-घोषणा की । (युद्धमें दशरथने अपनी सेनाको सहायताकी अपेक्षा न करके केवल अपने पराक्रमसे ही शत्रुओंको पराजित कर दिया) ॥ १० ॥

**अवनिमेकरथेन वरूथिना जितवतः किल तस्य धनुर्भृतः ।
विजयदुन्दुभितां ययुरर्णवा घनरवा नरवाहनसम्पदः ॥ ११ ॥**

अवनिमिति । वरूथिना गुप्तिमता । 'वरूथो रथगुप्तिर्या तिरोधत्ते रथस्थितिम्' इति सज्जनः । एकरथेनाद्वितीयरथेनावनिं जितवतो धनुर्भृतो नरवाहनसम्पदः कुबेरतुल्यश्रीकस्य तस्य दशरथस्य घनरवा मेघसमघोषा अर्णवा विजयदुन्दुभितां किल ययुः, अर्णवान्तविजयीत्यर्थः ॥ ११ ॥

बख्तरबन्द (रक्षार्थ बाहरमें लौहपत्र लगे हुए) एक रथसे ही पृथ्वीको विजय करते हुए धनुर्धारी तथा कुबेरतुल्य सम्पत्तिवाले उस (दशरथ) के, मेघतुल्य गर्जनेवाले समुद्रोंने विजय-दुन्दुभित्वको प्राप्त किया अर्थात् शब्दायमान समुद्रोंने विजयी दशरथके विजय-दुन्दुभिको बजाया ॥ ११ ॥

**शमितपक्षबलः शतकोटिना शिखरिणां कुलिशेन पुरन्दरः ।
स शरवृष्टिमुचा धनुषा द्विषां स्वनवता नवतामरसाननः ॥ १२ ॥**

शमितेति । पुरन्दर इन्द्रः शतकोटिना शताश्रिणा कुलिशेन वज्रेण शिखरिणां पर्वतानां शमितपक्षबलो विनाशितपक्षसारः । नवतामरसाननो नवपङ्कजाननः । 'पङ्केरुहं तामरसम्' इत्यमरः । स दशरथः शरवृष्टिमुचा स्वनवता धनुषा द्विषां शमितो नाशितः पक्षः सहायो बलं च येन स तथोक्तः । 'पक्षः सहायेऽपि' इत्यमरः ॥ १२ ॥

इन्द्रने सैकड़ों नोकवाले वज्रसे पर्वतोंके पंखकी शक्तिको नष्ट किया तथा नवीन कमलके समान मुखवाले उस (दशरथ) ने बाणवर्षा करनेवाले ध्वनियुक्त (टङ्कार करनेवाले) धनुषसे शत्रुओंके पक्ष (में रहनेवालों) के बलको नष्ट किया ॥ १२ ॥

**चरणयोर्नखरागसमृद्धिभिर्मुकुटरत्नमरीचिभिरस्पृशन् ।
नृपतयः शतशो मरुतो यथा शतमखं तमखण्डितपौरुषम् ॥ १३ ॥**

चरणयोरिति । शतशो नृपतयोऽखण्डितपौरुषं तं दशरथम् । मरुतो देवाः शतमखं यथा शतक्रतुमिव । नखरागेण चरणनखकान्त्या समृद्धिभिः सम्पादितर्द्धिभिर्मुकुटरत्नमरीचिभिश्चरणयोरस्पृशन्, तं प्रणेमुरित्यर्थः ॥ १३ ॥

सैकड़ों राजालोग अखण्डित पुरुषार्थवाले उस (दशरथ) को, इन्द्रको देवताओंके समान, नखोंकी लालिमासे अधिक शोभनेवाली मुकुटोंमें जड़े हुए रत्नोंकी कान्तियोंसे चरणोंमें स्पर्श (प्रणाम) किया ॥ १३ ॥

**निववृते स महार्णवरोधसः सचिवकारितबालसुताञ्जलीन् ।
समनुकम्प्य सपत्नपरिग्रहाननलकानलकानवमां पुरीम् ॥ १४ ॥**

निववृत इति। स दशरथः सचिवैः सम्प्रयोजितैः कारिता बालसुतानामञ्जलयो यैस्तान्, स्वयमसंमुखागतानित्यर्थः। अनलकान्हतभर्तृकतयाऽलकसंस्कारशून्यान्स-पत्नपरिग्रहाञ्छत्रुपत्नीः। 'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः। समनुकम्प्यानुगृह्यालकानवमामलकानगरादन्यूनां अलति भूषयति स्वस्थानमित्यलकां पुरीमयोध्यां प्रति महार्णवानां रोधसः पर्यन्तान्निववृते। शरणागतवत्सल इति भावः॥ १४॥

वे दशरथ मन्त्रियोंके द्वारा बद्धाञ्जलि कराये गये बालकोंवाले तथा (पतिके मरनेसे) संस्कारशून्य शत्रु–स्त्रियोंके केशोंपर कृपाकर अलका (कुबेरकी राजधानी) के समान अयोध्या पुरीको महासमुद्रके किनारेसे वापस लौट आये॥ १४॥

उपगतोऽपि च मण्डलनाभितामनुदितान्यसितातपवारणः।
श्रियमवेक्ष्य स रन्ध्रचलामभूदनलसोऽनलसोमसमद्युतिः॥ १५॥

उपगत इति। अनुदितमनुच्छ्रितमन्यस्त्वच्छत्रातिरिक्तं सितातपवारणं श्वेतच्छत्रं यस्य सः। अनलसोमयोरग्निचन्द्रयोः समे द्युती तेजःकान्ती यस्य स तथोक्तः। श्रियं लक्ष्मीं रन्ध्रेऽन्यायालस्यादिरूपे छले चलां चञ्चलामवेक्ष्यावलोक्य। श्रीर्हि केनचिन्मिषेण पुमांसं परिहरति। स दशरथो मण्डलस्य नाभितां द्वादशराजमण्डलस्य प्रधानमहीपतित्वमुपगतोऽपि, चक्रवर्ती सन्नपीत्यर्थः। 'अथ नाभिस्तु जन्त्वङ्गे यस्य संज्ञा प्रतारिका। रथचक्रस्य मध्यस्थपिण्डिकायां च ना पुनः॥ आद्यः क्षत्रियभेदे तु मतो मुख्यमहीपतौ'। इति केशवः। अनलसोऽप्रमत्तोऽभूत्। 'अजितमस्ति नृपास्पदम्' इति पाठान्तरेऽजितं नृपास्पदमस्तीति बुद्ध्यानलसोऽप्रमत्तोऽभूत्। विजित-निखिलजेतव्योऽपि पुनर्जेतव्यान्तरवानिव जागरूक एवावतिष्ठतेत्यर्थः। द्वादशराज-मण्डलं तु कामन्दकेनोक्तम्–"अरिर्मित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रमतः परम्। तथारिमित्रमित्रं च विजिगीषोः पुरःसराः। पार्ष्णिग्राहस्ततः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम्। आसारावनयोश्चैव विजिगीषोस्तु पृष्ठतः। अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः। अनुग्रहे संहतयोः समर्थो व्यस्तयोर्वधे। मण्डलाद्बहिरेतेषामुदासीनो बलाधिकः। अनुग्रहे संहतानां व्यस्तानां च वधे प्रभुः"॥ इति। "अरिमित्रादयः पञ्च विजिगीषोः पुरःसराः॥ पार्ष्णिग्राहाक्रन्दपार्ष्णिग्राहासाराक्रन्दासाराः"। इति पृष्ठतश्चत्वारः। मध्यमोदासीनौ द्वौ विजिगीषुरेक इत्येवं द्वादशराजमण्डलम्। तत्रोदासीनमध्यमोत्तरश्चक्रवर्ती, दशरथ-श्चैतादृगिति तात्पर्यार्थः॥ १५॥

दूसरे श्वेतच्छत्रके नहीं उठनेपर (अन्य राजाके नहीं रहनेपर) और अग्नि तथा चन्द्रके समान द्युतिवाले (शत्रु राजाओंमें अग्निके समान तीव्र प्रतापवाले तथा मित्र राजाओं में चन्द्रके समान आह्लादक तेजवाले) वे (दशरथ) बारह राज-मण्डलोंमें नाभिरूप बन

कर पहियेके अरों (लम्बे २ तीखे काष्ठों) के आधारभूत नाभि (मध्यके काष्ठ) के समान बारह राज-मण्डलोंके आधारभूत होकर) भी थोड़ा भी छिद्र (दोष) होनेपर चञ्चल लक्ष्मीको ('अजितमस्ति नृपास्पदम्' इस पाठभेदमें—"राजपद अजेय है" ऐसा) विचारकर निरालस अर्थात् सर्वदा उद्योगशील रहते थे ॥ १५ ॥

तमपहाय ककुत्स्थकुलोद्भवं पुरुषमात्मभवं च पतिव्रता ।
नृपतिमन्यमसेवत देवता सकमला कमलाघवमर्थिषु ॥ १६ ॥

तमिति । पत्यौ व्रतं नियमो यस्याः सा पतिव्रता सकमला कमलहस्ता देवता लक्ष्मीरर्थिषु विषयेऽलाघवं लघुत्वरहितम्, अपराङ्मुखमित्यर्थः । ककुत्स्थकुलोद्भवं तं दशरथमात्मभवं पुरुषं पुरि शरीरे उषतीति पुरुषः तं विष्णुं चापहाय त्यक्त्वा । अन्यं कं नृपतिमसेवत, कमपि नासेवतेत्यर्थः । विष्णाविव विष्णुतुल्ये तस्मिन्नपि श्रीः स्थिराभूदित्यर्थः ॥ १६ ॥

पतिव्रता कमलासना या कमलहस्ता लक्ष्मी ने अतिथियोंमें अपराङ्मुख ककुत्स्थवंशोत्पन्न उस राजा (दशरथ) को तथा विष्णु भगवान्‌को छोड़कर दूसरे किस राजा या देवताकी सेवा की ? अर्थात् किसी की नहीं ॥ १६ ॥

तमलभन्त पतिं पतिदेवताः शिखरिणामिव सागरमापगाः ।
मगधकोसलकेकयशासिनां दुहितरोऽहितरोपितमार्गणम् ॥ १७ ॥

तमिति । पतिरेव देवता यासां ताः पतिदेवताः पतिव्रताः मगधाश्च कोसलाश्च केकयाश्च ताञ्जनपदाञ्छासतीति तच्छासिनः । तेषां राज्ञां दुहितरः पुत्र्यः । सुमित्रा कौसल्याकैकेय्य इत्यर्थः । अत्र क्रमो न विवक्षितः । अहितरोपितमार्गणं शत्रुनिखाततशरम् । 'कदम्बमार्गणशराः' इत्यमरः । तं दशरथं शिखरिणां क्ष्माभृतां दुहितरः आ समन्तात्पगच्छन्तीति । अथवा "आपेनाप्सम्बन्धिना वेगेन गच्छन्तीत्यापगाः" इति क्षीरस्वामी । नद्यः सागरमिव । पतिं भर्तारमलभन्त प्रापुः ॥ १७ ॥

मगध, कोसल तथा केकय देशके राजाओंकी पतिव्रता कन्याओं (क्रमशः—सुमित्रा, कौसल्या तथा कैकयी) ने शत्रुओंपर बाणको आरोपित करनेवाले (बाणसे शत्रुओंको मारने वाले) उस (दशरथ) को, समुद्रको पर्वतकन्याओं अर्थात् नदियोंके समान, पति रूपमें प्राप्त किया ॥ १७ ॥

प्रियतमाभिरसौ तिसृभिर्बभौ तिसृभिरेव भुवं सह शक्तिभिः ।
उपगतो विनिनीषुरिव प्रजा हरिहयोऽरिहयोगविचक्षणः ॥ १८ ॥

प्रियतमाभिरिति । अरीन्घ्नतीत्यरिहणो रिपुघ्नाः । हन्तेः क्विप् । "ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप" इति नियमस्य प्रायिकत्वात् । यथाह न्यासकारः—"प्रायिकश्चायं नियमः क्वचि-

न्यस्मिन्नप्युपपदे दृश्यते मधुहा प्रायिकत्वं च वक्ष्यमाणस्य बहुलग्रहणस्य पुरस्तादपकर्षाल्लभ्यते" इति । तेषु योगेषूपायेषु विचक्षणो दक्षः । 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः । इन्द्रेऽपि योज्यमेतत् । असौ दशरथस्तिसृभिः प्रियतमाभिः सह । प्रजा विनिनीषुर्विनेतुमिच्छुरितसृभिः शक्तिभिः प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तिभिरेव सह भुवमुपगतो हरिहय इन्द्र इव बभौ ॥ १८ ॥

शत्रुनाशक उपायोंमें चतुर यह (दशरथ) तीन प्रियतमाओं (कौसल्या, कैकयी और सुमित्रा) के साथ, प्रजाओंको विनीत करनेकी इच्छा करते हुए, तीन शक्तियों (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति) के साथ पृथ्वीपर आये हुए शत्रुनाशक उपायोंसे चतुर इन्द्रके समान शोभित हुए ॥ १८ ॥

स किल संयुगमूर्ध्नि सहायतां मघवतः प्रतिपद्य महारथः ।
स्वभुजवीर्यमगापयदुच्छ्रितं सुरवधूरवधूतभयाः शरैः ॥ १९ ॥

स इति । महारथः स दशरथः संयुगमूर्ध्नि रणाङ्गणे मघवत इन्द्रस्य सहायतां प्रतिपद्य प्राप्य शरैरवधूतभया निवर्तितत्रासाः सुरवधूरुच्छ्रितं स्वभुजवीर्यमगापयत्किल खलु । गायतेः शब्दकर्मत्वात् "गतिबुद्धि" इत्यादिना सुरवधूनामपि कर्मत्वम् ॥

महारथ उस (दशरथ) ने युद्धके आगे इन्द्रकी सहायता करके निर्भय देवाङ्गनाओंके द्वारा, अपने बढ़े हुए बाहुबल (के यश) को गवाया । (युद्धके आगे होकर इन्द्रकी सहायता करनेसे निर्भय देवाङ्गनाओंने दशरथके बाहुबलजन्य यशको गाया) ॥ १९ ॥

क्रतुषु तेन विसर्जितमौलिना भुजसमाहृतदिग्वसुना कृताः ।
कनकयूपसमुच्छ्रयशोभिनो वितमसा तमसासरयूतटाः ॥ २० ॥

क्रतुष्विति । क्रतुष्वश्वमेधेषु विसर्जितमौलिनाऽवरोपितकिरीटेन दीक्षितेन मुण्डितेन भाव्यं त्यक्तमुकुटेन वा । भूपा हि यज्ञेषु वपनस्थाने मौलिं विसर्जयन्ति । "यावद्यज्ञमध्वर्युरेव राजा भवति" इति राजचिह्नत्यागविधानादित्यभिप्रायः । 'मौलिः किरीटे धम्मिल्ले' इति विश्वः । भुजसमाहृतदिग्वसुना भुजार्जितदिगन्तसम्पदा । अनेन क्षत्रियस्य विजितत्वमुक्तम् । नियमार्जितधनत्वं सद्विनियोगकारित्वं च सूच्यते । वितमसा तमोगुणरहितेन तेन दशरथेन । तमसा च सरयूश्च नद्यौ तयोस्तटाः कनकयूपानां समुच्छ्रयेण समुन्नमनेन शोभिनः कृताः । कनकमयत्वं च यूपानां शोभार्थं विध्यभावात् । 'हेमयूपस्तु शोभिकः' इति यादवः ॥ २० ॥

यज्ञोंमें मुकुट को उतारे हुए, बाहु (-बल) से दिशाओंकी सम्पत्तिको प्राप्त किये हुए तथा तमोगुणसे रहित उस (दशरथ) ने तमसा और सरयू नदियोंके तटोंको सुवर्णके यज्ञस्तम्भोंकी उंचाईसे शोभित कर दिया—॥ २० ॥

अजिनदण्डभृतं कुशमेखलां यतगिरं मृगशृङ्गपरिग्रहाम् ।
अधिवसंस्तनुमध्वरदीक्षितामसमभासमभासयदीश्वरः ॥ २१ ॥

अजिनेति । ईश्वरो भगवानष्टमूर्तिरजिनं कृष्णाजिनं दण्डमौदुम्बरं बिभर्तीति तमजिनदण्डभृतम् । "कृष्णाजिनं दीक्षयति, 'औदुम्बरं दीक्षितदण्डं यजमानाय प्रयच्छति" इति वचनात् । कुशमयी मेखला यस्यास्तां कुशमेखलाम् । "शरमयी मौञ्जी वा मेखला, तया यजमानं दीक्षयती"ति विधानात् । प्रकृते कुशग्रहणं क्वचित्प्रतिनिधिदर्शनात्कृतम् । यतगिरं वाचंयमाम् । "वाचं यच्छति" इति श्रुतेः । मृगशृङ्गं परिग्रहः कण्डूयनवाधनं यस्यास्ताम् । "कृष्णविषाणेन कण्डूयते" इति श्रुतेः । अध्वरदीक्षितां संस्कारविशेषयुक्तां तनुं दाशरथीमधिवसन्नधितिष्ठन् सन् । असमा भासो दीप्तयो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा अभासयद्भासयति स्म ॥ २१ ॥

—और शिवजीने मृगचर्म तथा दण्ड धारण किये हुए, कुशाओंकी मेखलावाले, मौनी, मृगके सींगमात्र परिग्रह (साधन) वाले (यज्ञमें दीक्षित होनेपर यदि शरीर कहीं खुजलाता है तो हाथकी अंगुलियों या नखोंसे खुजलानेका निषेध होनेसे पूर्व गृहीत मृगकी सींगसे ही खुजलाते हैं), यज्ञमें दीक्षा ग्रहण किये हुए, दशरथके शरीरमें निवास करते हुए अनुपम कान्तिमान् उस (दशरथ) को सुशोभित किया ॥ २१ ॥

अवभृथप्रयतो नियतेन्द्रियः सुरसमाजसमाक्रमणोचितः ।
नमयति स्म स केवलमुन्नतं वनमुचे नमुचेररये शिरः ॥ २२ ॥

अवभृथेति । अवभृथेन प्रयतो नियतेन्द्रियः सुरसमाजसमाक्रमणोचितो देवसमाजाधिष्ठानार्हः स दशरथ उन्नतं शिरो वनमुचे जलवर्षिणे 'जलं नीरं वनं सत्वम्' इति शाश्वतः । नमुचेररये केवलमिन्द्रायैव नमयति स्म । लोकरक्षार्थं वृष्टेरपेक्षितत्वादिन्द्रमेवानमच्छूरः न कस्मैचिदन्यस्मै मानुषायेत्यर्थः ॥ २२ ॥

अवभृथ (यज्ञान्तमें किया जानेवाला स्नानविशेष) से शुद्ध, जितेन्द्रिय और देवसभामें बैठने योग्य वह दशरथ उन्नत मस्तकको केवल जल-वृष्टि करनेवाले इन्द्रके लिये नवाते थे। (अन्य राजाओंको पराजित करनेसे वे केवल इन्द्रको ही प्रणाम करनेमें मस्तक झुकाते थे) ॥ २२ ॥

असकृदेकरथेन तरस्विना हरिहयाग्रसरेण धनुर्भृता ।
दिनकराभिमुखा रणरेणवो रुरुधिरे रुधिरेण सुरद्विषाम् ॥ २३ ॥

असकृदिति । एकरथेनाद्वितीयरथेन तरस्विना बलवता हरिहयस्येन्द्रस्याग्रसरेण धनुर्भृता दशरथेनासकृद् बहुशो दिनकरस्याभिमुखाः, अभिमुखस्थिता इत्यर्थः । रणरेणवः सुरद्विषां दैत्यानां रुधिरेण रुरुधिरे निवारिताः ॥ २३ ॥

अद्वितीय (प्रधान) रथी, बलवान्, इन्द्रके आगे चलनेवाले धनुर्धारी (दशरथ) ने सूर्यके सम्मुख स्थित अर्थात् ऊपर उड़ी हुई युद्धकी धूलियोंको राक्षसोंके रक्तसे अनेक बार शान्त किया। (युद्धमें इन्द्रके आगे २ बढ़कर राक्षसोंका अनेक बार संहार किया) ॥२३॥

अथ समावव़ृते कुसुमैर्नवैस्तमिव सेवितुमेकनराधिपम् ।
यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणां समधुरं मधुरञ्चितविक्रमम् ॥ २४ ॥

अथेति । अथ यमकुबेरजलेश्वरवज्रिणां धर्मराजधनदवरुणामरेन्द्राणां समा धूर्भारो यस्य स समधुरः । माध्यस्थ्यवितरणसंयमनैश्वर्यैस्तुल्यकक्ष इत्यर्थः । "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इत्यनेन समासान्तोऽच्प्रत्ययः । तं समधुरम् । अञ्चितविक्रमं पूजितपराक्रममेकनराधिपं तं दशरथं सेवितुमिव । मधुर्वसन्तः । 'मद्ये पुष्परसे मधुः । दैत्ये चैत्रे वसन्ते च जीवाशोके मधुद्रुमे' इति विश्वः । नवैः कुसुमैरुपलक्षितः सन् समाववृते समागतः । "रिक्तहस्तेन नोपेयाद्राजानं दैवतं गुरुम्" इति वचनात्पुष्पसमेतो राजानं सेवितुमागत इत्यर्थः ॥ २४ ॥

इसके बाद यम, कुबेर, वरुण और इन्द्रके समान भारवाले (क्रमशः यमादि पूर्वोक्त चारों दिक्पालोंके समान समदर्शिता, दानशीलता, नियमन (शासन) और ऐश्वर्यवाले), श्रेष्ठ पराक्रमी और प्रधान राजा उस (दशरथ) को मानो सेवा करनेके लिये वसन्त (ऋतु) नये २ फूलोंसे युक्त होकर उपस्थित हुआ । (जिस प्रकार अन्य राजालोग रत्नादिका उपहार लाकर दशरथकी सेवामें उपस्थित होते थे, उसी प्रकार ऋतुराज (वसन्त) भी नये फूलोंका उपहार लेकर उनकी सेवाके लिये उपस्थित हुआ अर्थात् वसन्त ऋतु आनेपर नये २ फूल खिलने लगे) ॥ २४ ॥

जिगमिषुर्धनदाध्युषितां दिशं रथयुजा परिवर्तितवाहनः ।
दिनमुखानि रविर्हिमनिग्रहैर्विमलयन्मलयं नगमत्यजत् ॥ २५ ॥

जिगमिषुरिति । धनदाध्युषितां कुबेराधिष्ठितां दिशं जिगमिषुर्गन्तुमिच्छुः । रथयुजा सारथिनाऽरुणेन परिवर्तितवाहनो निवर्तिताश्वो रविः हिमस्य निग्रहैर्निराकरणैर्दिनमुखानि प्रभातानि विमलयन्विशदयन् । मलयं नगं मलयाचलमत्यजत् । दक्षिणां दिशमत्याक्षीदित्यर्थः ॥ २५ ॥

कुबेरपालित (उत्तर) दिशाको जानेके इच्छुक (उत्तरायण होनेवाले), सारथि (अरुण) के द्वारा घुमाये गये घोड़ोंवाले सूर्यने हिम (पाला या ठंडक) को रोकनेसे प्रातः-कालको निर्मल करते हुए मलय पर्वतको छोड़ा (सूर्य दक्षिणायनसे उत्तरायण हुए) ॥ २५ ॥

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवास्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम् ।
इति यथाक्रममाविरभून्मधुर्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम् ॥ २६ ॥

कुसुमेति । आदौ कुसुमजन्म ततो नवपल्लवाः । तदनु । "अनुर्लक्षणे" इति कर्मप्रवचनीयत्वाद्द्वितीया । यथासंख्यं तदुभयानन्तरं षट्पदानां कोकिलानां च कूजितम् । इत्येवम्प्रकारेण यथाक्रमं क्रममनतिक्रम्य पुष्पप्रियो भृङ्गः पल्लवप्रियः कोकिलः इति क्रमोक्तेरयमाशयः । द्रुमवतीं द्रुमभूयिष्ठां वनस्थलीमवतीर्य मधुर्वसन्त आविरभूत् । केषाञ्चिद्द्रुमाणां पल्लवप्राथम्यात्केषाञ्चित्कुसुमप्राथम्याच्चोक्तक्रमस्य दृष्टविरोधः ॥ २६ ॥

(पहले) फूलोंकी उत्पत्ति, फिर नये २ पल्लव, उसके बाद (क्रमशः) भ्रमरोंका गुञ्जार और कोयलोंका कुहुकना, इस प्रकार वसन्त क्रमानुसार पेड़ोंवाली वन-भूमिमें उतरकर प्रकट हुआ । (पहले पेड़ोंमें फूल लग गये और उनपर भ्रमर गुञ्जार करने लगे, तथा तदनन्तर नये २ कोमल पल्लव निकलने लगे, जिनके आस्वादनसे कषाय कण्ठ कोकिल कूजने लगी, इस प्रकार वसन्त वनराजियोंमें दिखाई पड़ने लगा) ॥ २६ ॥

नयगुणोपचितामिव भूपतेः सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः ।
अभिययुः सरसो मधुसम्भृतां कमलिनीमलिनीरपतत्त्रिणः ॥ २७ ॥

नयगुणेति । नयो नीतिरेव गुणः तेन, अथवा नयेन गुणैः शौर्यादिभिश्चोपचिताम् । सतामुपकारः फलं यस्यास्तां सदुपकारफलां भूपतेर्दशरथस्य श्रियमर्थिन इव मधुना वसन्तेन सम्भृतां सम्यक्पुष्टां सरसः सम्बन्धिनीं कमलिनीं पद्मिनीमलिनीरपतत्त्रिणः अलयो भृङ्गाः नीरपतत्त्रिणो जलपतत्त्रिणो हंसादयश्च अभिययुः ॥ २७ ॥

नीतिरूपी गुणसे (या नीति तथा पराक्रमादि गुणोंसे) बढ़ी हुई और सज्जनोंका उपकारमात्र फलवाली राजा (दशरथ) की सम्पत्तिको याचकोंके समान, वसन्तसे वृद्धिको प्राप्त, तडागकी कमलिनीको भ्रमर तथा जलचरपक्षियों (हंस आदि) ने प्राप्त किया ॥ २७ ॥

कुसुममेव न केवलमार्तवं नवमशोकतरोः स्मरदीपनम् ।
किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिताश्रवणार्पितः ॥ २८ ॥

कुसुममिति । ऋतुरस्य प्राप्त आर्तवम् । "ऋतोरण्" इत्यण् । नवं प्रत्यग्रमशोकतरोः केवलं कुसुममेव स्मरदीपनमुद्दीपनं न, किन्तु विलासिनां मदयिता मदजनको दयिताश्रवणार्पितः किसलयप्रसवोऽपि पल्लवसन्तानोऽपि स्मरदीपनोऽभवत् ॥ २८ ॥

ऋतुमें उत्पन्न अशोक वृक्षका केवल फूल ही कामोद्दीपक नहीं हुआ, किन्तु विलासियोंको उन्मादित करनेवाला, प्रियाओंका कर्णभूषण बना हुआ नवपल्लव भी कामोद्दीपक हुआ ॥२८॥

विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः ।
मधुलिहां मधुदानविशारदाः कुरबका रवकारणतां ययुः ॥ २९ ॥

विरचितेति । मधुना वसन्तेन विरचिता उपवनश्रियामभिनवाः पत्रविशेषकाः

पत्ररचना इव स्थिता मधूना मकरन्दानां दाने विशारदाश्चतुराः कुरबकास्तरवो मधुलिहां मधुपानां रवकारणतां ययुः । भृङ्गाः कुरबकाणां मधूनि पीत्वा जगुरित्यर्थः । दानशौण्डानर्थिजनाः स्तुवन्तीति भावः ॥ २९ ॥

वसन्तके द्वारा उपवन-लक्ष्मीकी बनायी गयी नयी २ पत्ररचना (स्त्री-कपोलस्थ चन्दनादिकी पत्राकार रचना) के समान स्थित, बहुत मधु-दान करनेवाले लाल फूलवाली कटसरैयाके वृक्ष भ्रमरोंके गुञ्जारके कारण बन गये । (भ्रमर कटसरैया वृक्षोंके लाल पुष्पोंके रसको पीकर वैसे गुञ्जार करने लगे, जैसे दातासे दान प्राप्तकर याचक उसकी गुणगान करते हैं) ॥ २९ ॥

सुवदनावदनासवसम्भृतस्तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः ।
मधुकरैरकरोन्मधुलोलुपैर्बकुलमाकुलमायतपङ्क्तिभिः ॥ ३० ॥

सुवदनेति । सुवदनावदनासवेन कान्तामुखमद्येन सम्भृतो जनितः । तत्तस्य दोहदमिति प्रसिद्धिः । तस्यासवस्यानुवादी सदृशो गुणो यस्य तदनुवादिगुणः कुसुमोद्गमः कर्ता । मधुलोलुपैरायतपङ्क्तिभिर्दीर्घपङ्क्तिभिर्मधुपैः करणैः बकुलो ह्यङ्गनानां मद्यगण्डूषेण पुष्प्यतीति प्रसिद्धिः । बकुलं बकुलवृक्षमाकुलमकरोत् ॥ ३० ॥

सुमुखीके मुख-मदिरासे उत्पन्न (तरुणियां मुखमें मदिरा लेकर बकुल वृक्षपर कुल्ला फेंकती हैं तो वह शीघ्र विकसित होता है—ऐसी कविसमय-प्रसिद्धि है) और उस (मदिरा) के अनुरूप गुण (सुगन्धि) वाली पुष्पोत्पत्तिने मधुके लोभी, लम्बी २ कतारोंको बांधकर आते हुए भ्रमरोंसे मौलेसरीके वृक्षको व्याकुल (सब ओर व्याप्त) कर दिया ॥३०॥

उपहितं शिशिरापगमश्रिया मुकुलजालमशोभत किंशुके ।
प्रणयिनीव नखक्षतमण्डनं प्रमदया मदयापितलज्जया ॥ ३१ ॥

उपहितमिति । शिशिरापगमश्रिया वसन्तलक्ष्म्या किंशुके पलाशवृक्षे 'पलाशे किंशुकः पर्णः' इत्यमरः । उपहितं दत्तं मुकुलजालं कुड्मलसंहतिः । मदेन यापितलज्जयाऽपसारितत्रपया प्रमदया प्रणयिनि प्रियतम उपहितं नखक्षतमेव मण्डनं तदिव । अशोभत ॥ ३१ ॥

(नायिकारूप) वसन्तश्रीके द्वारा (नायकरूप) पलाश वृक्षमें उत्पन्न किया गया कलिका-समूह, मदसे लज्जाहीन प्रमदाके द्वारा प्रियतम (के अगों) पर किये गये नखक्षतरूप भूषणके समान शोभता था ॥ ३१ ॥

व्रणगुरुप्रमदाधरदुःसहं जघननिर्विषयीकृतमेखलम् ।
न खलु तावदशेषमपोहितुं रविरलं विरलं कृतवान्हिमम् ॥ ३२ ॥

व्रणेति । व्रणैर्दन्तक्षतैर्गुरुभिर्दुर्भरैः प्रमदानामधरैरधरोष्ठैर्दुःसहं हिमस्य व्यथाकर-

त्वादृसह्यम् । जघनेषु निर्विषयीकृता निरवकाशीकृता मेखला येन तत् । शैत्यात्त्याजितमेखलमित्यर्थः । एवंभूतं हिमं रविस्तावद्वावसन्तादशेषं निःशेषं यथा तथापोहितुं निरसितुं नालं खलु न शक्तो हि, किन्तु विरलं कृतवांस्तनूचकार ॥ ३२ ॥

अधिक दन्तक्षतोंवाले प्रमदाओंके अधरोष्ठोंसे असह्य और (ठण्डा लगनेसे) जघनोंको करधनीसे रहित करनेवाले शीत (ठण्डक) को सूर्यने पूर्णतया नहीं दूर किया, किन्तु उसे कम कर दिया । (पहले शिशिर ऋतुमें अत्यधिक ठण्डकसे दन्तक्षत असह्य होरहे थे तथा करधनीको पहनना भी स्त्रियोंने छोड़ दिया था, उस ठंडकको सूर्यतापने कुछ कम कर दिया था, विशेष कम नहीं किया था) ॥ ३२ ॥

अभिनयान्परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकम्पितपल्लवा ।
अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि ॥ ३३ ॥

अभिनयानिति । अत्र चूतलतायां नर्तकीसमाधिरभिधीयते । अभिनयानर्थव्यञ्जकान्व्यापारान् । 'व्यञ्जकाभिनयौ समौ' इत्यमरः । परिचेतुमभ्यसितुमुद्यतेव स्थिता । कुतः मलयमारुतेन कम्पितपल्लवा पल्लवशब्देन हस्तो गम्यते । सकलिका सकोरका, 'कलिका कोरकः पुमान्' इत्यमरः । सहकारलता । कलिः कलहो द्वेष उच्यते । 'कलिः स्यात्कलहे शूरे कलिरन्त्ययुगे युधि' इति विश्वः । कामो रागः तज्जितामपि । जितरागद्वेषाणामपीत्यर्थः । मनोऽमदयत् ॥ ३३ ॥

अभिनयों (हाव-भाव-व्यञ्जक व्यापारों) को अभ्यास करनेके लिये तैयारके (नर्तकी)के समान स्थित, मलयाचलकी वायुसे कम्पित पल्लवोंवाली कोरकयुक्त आम्रलता द्वेष तथा कामके विजेताओं (ऋषि–मुनियों) के भी मनको उन्मत्त कर दिया ॥ ३३ ॥

प्रथममन्यभृताभिरुदीरिताः प्रविरला इव मुग्धवधूकथाः ।
सुरभिगन्धिषु शुश्रुविरे गिरः कुसुमितासुमिता वनराजिषु ॥ ३४ ॥

प्रथममिति । सुरभिर्गन्धो यासां तासु सुरभिगन्धिषु "गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः" इत्यनेनेकारः । कुसुमान्यासां सञ्जातानि कुसुमिताः । तासु वनराजिषु वनपङ्क्तिषु । अन्यभृताभिः कोकिलाभिः प्रथमं प्रारम्भेषूदीरिता उक्ता अत एव मिताः परिमिताः गिर आलापाः । प्रविरला मौग्ध्यात्स्तोकोक्ता मुग्धवधूनां कथा वाच इव शुश्रुविरे श्रुताः ॥ ३४ ॥

सुगन्धियुक्त गन्धोंवाली (खुशबूदार) पुष्पयुक्त वनराजियोंमें पहले कोयलोंसे कही गयी परिमित वचन (कुहकना) मुग्ध वधुओंकी कथाओंके समान सुना गया । (जिस प्रकार रतिकालमें नववधुएं लज्जासे थोड़ा २ बोलती हैं, उसी प्रकार सुगन्धियुक्त पुष्पित उपवनमें कहीं २ कोयलोंका कुहकना सुनाई पड़ने लगा) ॥ ३४ ॥

श्रुतिसुखभ्रमरस्वनगीतयः कुसुमकोमलदन्तरुचो बभुः ।
उपवनान्तलताः पवनाहतैः किसलयैः सलयैरिव पाणिभिः ॥ ३५ ॥

श्रुतीति । श्रुतिसुखाः कर्णमधुरा भ्रमरस्वना एव गीतयो यासां ताः । कुसुमान्येव कोमला दन्तरुचो दन्तकान्तयो यासां ताः । अनेन सस्मितत्वं विवक्षितम् । उपवनान्तलताः आराममध्यवल्ल्यः पवनेनाहतैः कम्पितैः किसलयैः । सलयैः साभिनयैः । लयशब्देन लयानुगतोऽभिनयो लक्ष्यते । उपवनान्ते पवनाहतैरिति सक्रियत्वाभिधानात् । पाणिभिरिव बभुः । अनेन लतानां नर्तकीसाम्यं गम्यते ॥ ३५ ॥

कानोंको सुखकर, भ्रमर-गुञ्जनरूपी गीतवाली, तथा पुष्परूपी कोमल दाँतोंकी शोभावाली उपवनके पासकी लतायें वायुसे हिलते हुए नवीन पल्लवोंसे लय (हाव—भाव—प्रदर्शक अभिनयविशेष) सहित हाथोंके समान शोभित हुईं ॥ ३५ ॥

ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं सुरभिगन्धपराजितकेसरम् ।
पतिषु निर्विविशुर्मधुमङ्गनाः स्मरसखं रसखण्डनवर्जितम् ॥ ३६ ॥

ललितेति । अङ्गना ललितविभ्रमबन्धविचक्षणं मधुरविलासघटनापटुतरम् । सुरभिणा मनोहरेण गन्धेन पराजितकेसरं निर्जितबकुलपुष्पम्, 'अथ केसरे बकुलः' इत्यमरः । स्मरस्य सखायं स्मरसखं स्मरोद्दीपकमित्यर्थः । मधु मद्यम् । 'मधु मद्ये पुष्परसे' इत्यमरः । "अर्धर्चाः पुंसि च" इति पुल्लिङ्गता । उक्तं च—"मकरन्दस्य मद्यस्य माक्षिकस्यापि वाचकः । अर्धर्चादिगणे पाठात्पुन्नपुंसकयोर्मधु ॥" इति । पतिषु विषये रसखण्डनवर्जितमनुरागभङ्गरहितं यथा तथा निर्विविशुः । परस्परानुरागपूर्वकं पतिभिः सह पपुरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

स्त्रियोंने सुन्दर विलासघटनासे अधिक चातुर्ययुक्त, सुगन्धिसे मौलेसरीको पराजित करनेवाले और काम वर्द्धक मद्यको पतियोंके विषयमें अखण्डित प्रेमके साथ पान किया । (परस्पर प्रेमयुक्त होकर स्त्रियोंने पतियोंके साथ मद्यपान किया) ॥ ३६ ॥

शुशुभिरे स्मितचारुतराननाः स्त्रिय इव श्लथशिञ्जितमेखलाः ।
विकचतामरसा गृहदीर्घिका मदकलोदकलोलविहङ्गमाः ॥ ३७ ॥

शुशुभिर इति । विकचतामरसा विकसितकमलाः मदेन कला अव्यक्तमधुरं ध्वनन्त उदकलोलविहङ्गमा जलप्रियपक्षिणो हंसादयो यासु ता मदकलोदकलोलविहंगमा गृहेषु दीर्घिका वाप्यः स्मितेन चारुतराण्याननानि यासां ताः "ईषद्विकसितैर्गण्डैः कटाक्षैः सौष्ठवोचितैः । अलक्षितं द्विजद्वारे सूत्तमानां स्मितं भवेत्" ॥ इति नाट्यालोचने । श्लथाः शिञ्जिता मुखरा मेखला यासां ताः । शिञ्जितेति कर्तरि क्तः । स्त्रिय इव शुशुभिरे ॥ ३७ ॥

खिले हुए कमलोंवाली, मदसे अस्पष्ट एवं मधुर चहचहाती हुई जलचर पक्षियों (हंसादि) वाली गृहकी बावड़ियाँ, मुस्कानसे अधिक सुन्दर मुखोंवाली और ढीली लटकती एवं बजती हुई करधनियोंवाली स्त्रियोंके समान शोभित हुईं ॥ ३७ ॥

उपययौ तनुतां मधुखण्डिता हिमकरोदयपाण्डुमुखच्छविः ।
सदृशमिष्टसमागमनिर्वृतिं वनितयाऽनितया रजनीवधूः ॥ ३८ ॥

उपययाविति । मधुना मधुसमयेन खण्डिता ह्रासं गमिता । द्योत्यन्ते खलूत्तरायणे रात्रयः, खण्डिताख्या च नायिका ध्वन्यते । हिमकरोदयेन चन्द्रोदयेन पाण्डुर्मुखस्य प्रदोषस्य वक्त्रस्य च छविर्यस्याः सा रजन्येव वधूः । इष्टसमागमनिर्वृतिं प्रियसङ्गमसुखमनितयाऽप्राप्तया । "इण् गतौ" इति धातोः कर्तरि क्तः । वनितया सदृशं तुल्यं तनुतां न्यूनतां कार्श्यं चोपययौ ॥ ३८ ॥

वसन्त–समय (के आने) से उदयसे पाण्डुवर्ण सायङ्काल (पक्षान्तरमें—मुख) वाली रात्रिरूपिणी, स्त्री इष्ट (प्रिय)–समागमके सुखको नहीं पायी हुई नायिकाके समान कृशता (दुर्बलता, रात्रिपक्षमें—छोटी होना) को ग्रहण किया । (स्त्री दुर्बल हो गयी तथा रात्रि छोटी होने लगी) ॥ ३८ ॥

अपतुषारतया विशदप्रभैः सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः ।
कुसुमचापमतेजयदंशुभिर्हिमकरो मकरोर्जितकेतनम् ॥ ३९ ॥

अपेति । हिमकरश्चन्द्रः अपतुषारतयाऽपगतनीहारतया विशदप्रभैर्निर्मलकान्तिभिः सुरतसङ्गपरिश्रमनोदिभिः सुरतसङ्गखेदहारिभिरंशुभिः किरणैः । "चन्दनं मृणालानि हरन्ति सुरतश्रमम्" इति रतिरहस्यम् । मकरोर्जितकेतनं मकरेणोर्जितं केतनं ध्वजो यस्य तम् । लब्धावकाशत्वादुच्छ्रितध्वजमित्यर्थः । कुसुमचापं काममतेजयद् शातयत्, "तिज निशाने" इति धातोर्ण्यन्ताल्लङ् । सहकारिलाभात्कामोऽपि तीक्ष्णोऽभूदित्यर्थः ॥ ३९ ॥

चन्द्र हिमनाश होनेसे निर्मल प्रकाशवाले तथा सुरत (रतिक्रीडा) के सङ्गमसे उत्पन्न परिश्रमको दूर करनेवाले किरणोंके द्वारा मकरसे उन्नत पताकावाले कामदेवको तीक्ष्ण करने (बढ़ाने) लगा ॥ ३९ ॥

हुतहुताशनदीप्ति वनश्रियः प्रतिनिधिः कनकाभरणस्य यत् ।
युवतयः कुसुमं दधुराहितं तदलके दलकेसरपेशलम् ॥ ४० ॥

हुतेति । हुतहुताशनदीप्त्याज्यादिप्रज्वलिताग्निप्रभं यत्कुसुमं, कर्णिकारमित्यर्थः । वनश्रियः उपवनलक्ष्म्याः कनकाभरणस्य प्रतिनिधिः, अभूदिति शेषः । दलेषु केसरेषु च पेशलं, सुकुमारपत्रकिञ्जल्कमित्यर्थः । आहितं प्रियैरिति शेषः । तत्कुसुमं युवतयोऽलके कुन्तले दधुः ॥ ४० ॥

प्रज्वलित अग्निके समान कान्तिवाला जो (कनेरका) फूल वनलक्ष्मीके कर्णभूषणका प्रतिनिधि हुआ, पंखुड़ियों तथा परागोंमें सुकोमल अर्थात् सुन्दर उस फूलको युवतियोंने बालोंमें लगाया (गूँथा) ॥ ४० ॥

अलिभिरञ्जनबिन्दुमनोहरैः कुसुमपङ्क्तिनिपातिभिरङ्कितः ।
न खलु शोभयति स्म वनस्थलीं न तिलकस्तिलकः प्रमदामिव ॥ ४१ ॥

अलिभिरिति । अञ्जनबिन्दुमनोहरैः कज्जलकणसुन्दरैः कुसुमपङ्क्तिषु निपतन्ति ये तैः अलिभिरङ्कितश्चिह्नितस्तिलकः श्रीमान्नाम वृक्षः । 'तिलकः क्षुरकः श्रीमान्' इत्यमरः । वनस्थलीम् । तिलको विशेषकः । 'तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम् । द्वितीयं च तुरीयं च न स्त्रियाम्' इत्यमरः । प्रमदामिव न शोभयति स्मेति न खलु, अपि त्वशोभयदेवेत्यर्थः । "लट् स्मे" इति स्मशब्दयोगाद्भूतार्थे लट् । तिलकेष्वञ्जन-बिन्दवः शोभार्थं क्रियन्ते ॥ ४१ ॥

कज्जलबिन्दुके समान सुन्दर, पुष्पसमूहोंपर बैठते हुए भ्रमरोंसे चिह्नित तिलक वृक्ष वनस्थलीको, स्त्रीको तिलक (ललाटस्थ टीका) के समान नहीं सुशोभित करता था ऐसा नहीं, किन्तु सुशोभित करता ही था ॥ ४१ ॥

अमदयन्मधुगन्धसनाथया किसलयाधरसङ्गतया मनः ।
कुसुमसम्भृतया नवमल्लिका स्मितरुचा तरुचारुविलासिनी ॥ ४२ ॥

अमदयदिति । तरुचारुविलासिनी तरोः पुंसश्च चारुविलासिनी नवमल्लिका सप्तलाख्या लता, 'सप्तला नवमल्लिका' इत्यमरः । मधुनो मकरन्दस्य मद्यस्य च गन्धेन सनाथया, गन्धप्रधानयेत्यर्थः । किसलयमेवाधरस्तत्र सङ्गतया, प्रसृतरागयेत्यर्थः । कुसुमैः सम्भृतया सम्पादितया कुसुमरूपयेत्यर्थः । स्मितरुचा हासकान्त्या मनः, पश्यतामिति शेषः । अमदयत् ॥ ४२ ॥

वृक्ष (पक्षान्तरमें—पुरुष) की सुन्दर विलासिनी नवमल्लिका लता (नेवाड़ी या मोंगरा) पराग तथा सुगन्धिसे युक्त (नायिकापक्षमें,—मद्य तथा इत्र आदि सुगन्धियोंसे युक्त), नव-पल्लवरूप अधरवाली (नायिकापक्षमें—नव पल्लवके तुल्य अधरवाली) और पुष्पोंसे सम्पादित मुस्कानकी कान्तिसे (नायिकापक्षमें–मुस्कान तथा लतापक्षमें–पुष्परूप मुस्कानसे) मनको मदयुक्त (मस्त) कर दिया ॥ ४२ ॥

अरुणरागनिषेधिभिरंशुकैः श्रवणलब्धपदैश्च यवाङ्कुरैः ।
परभृताविरुतैश्च विलासिनः स्मरबलैरबलैकरसाः कृताः ॥ ४३ ॥

अरुणेति । विलासिनो विलसनशीलाः पुरुषाः "वौ कषलसकत्थस्रम्भः" इत्यनेन घिनुण्प्रत्ययः । अरुणस्यानूरो रागमारुण्यं निषेधन्ति तिरस्कुर्वन्तीत्यरुणरागनिषेधिनः

तैः कुसुम्भादिरञ्जनात्तसदृशैरित्यर्थः। "तमन्वेत्यनुबध्नाति तच्छीलं तन्निषेधति। तस्येवानुकरोतीति शब्दाः सादृश्यवाचकाः॥" इति दण्डी। अंशुकैरम्बरः श्रवणेषु कर्णेषु लब्धपदैः, निवेशितैरित्यर्थः। यवाङ्कुरैश्च परभृताविरुतैः कोकिलाकूजितैश्च। इत्येतैः स्मरबलैः कामसैन्यैः। अबलास्वेक एव रसो रागो येषां तेऽबलैकरसाः स्त्रीपरतन्त्राः कृताः॥ ४३॥

विलासीलोगोंको अरुण (प्रातःकालकी लालिमा) को तिरस्कृत करनेवाले (लाल) वस्त्र, कर्णभूषण बनाये गये यवके अङ्कुर और कोयलोंका कुहुकना—इन कामसेना रूप इन सबोंने एकमात्र स्त्रियोंके पराधीन (केवल स्त्रियोंमें आसक्त) बना दिया॥ ४३॥

उपचितावयवा शुचिभिः कणैरलिकदम्बकयोगमुपेयुषी।
सदृशकान्तिरलक्ष्यत मञ्जरी तिलकजाऽलकजालकमौक्तिकैः॥ ४४॥

उपचितेति। शुचिभिः शुभ्रैः कणै रजोभिरुपचितावयवा पुष्टावयवा। अलिकदम्बकयोगमुपेयुषी प्राप्ता। तिलकजा तिलकवृक्षोत्था मञ्जरी अलकेषु यज्जालकमाभरणविशेषस्तस्मिन् मौक्तिकैः सदृशकान्तिः अलक्ष्यत। भृङ्गसङ्गिनी शुभ्रा तिलकमञ्जरी नीलालकसक्तमुक्ताजालमिवालक्ष्यतेति वाक्यार्थः॥ ४४॥

श्वेत परागोंसे व्याप्त अवयवोंवाली तथा भ्रमरसमूहसे अधिष्ठित तिलकवृक्षकी मञ्जरी (नायिकाओंके) केशोंको बांधनेवाली जालियोंमें गुथे हुए मोतियोंके समान दिखलाई पड़ती थी॥ ४४॥

ध्वजपटं मदनस्य धनुर्भृतश्छविकरं मुखचूर्णमृतुश्रियः।
कुसुमकेसररेणुमलिव्रजाः सपवनोपवनोत्थितमन्वयुः॥ ४५॥

ध्वजपटमिति। अलिव्रजाः षट्पदनिवहा धनुर्भृतो धानुष्कस्य मदनस्य कामस्य ध्वजपटं पताकाभूतम्। ऋतुश्रियो वसन्तलक्ष्म्याश्छविकरं शोभाकरं मुखचूर्णं मुखालङ्कारचूर्णभूतम्, 'चूर्णानि वासयोगाः स्युः' इत्यमरः। सपवनोपवनोत्थितं सपवनं पवनेन सहितं यदुपवनं तस्मिन्नुत्थितं कुसुमानां केसरेषु किञ्जल्केषु यो रेणुस्तम्। अन्वयुरन्वगच्छन्। यातेर्लङ्॥ ४५॥

भौरोंके समूह धनुर्धारी कामदेवकी पताकाके वस्त्ररूप, वसन्त ऋतुकी श्रीको शोभित करनेवाले मुखमें लगाने योग्य चूर्णरूप वायुसहित उपवनमें उड़े हुए पुष्पपरागके पीछे चले॥ ४५॥

अनुभवन्नवदोलमृतूत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया।
अनयदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतां जलतामबलाजनः॥ ४६॥

अनुभवन्निति। नवा दोला प्रेङ्खा यस्मिंस्तं नवदोलमृतूत्सवं वसन्तोत्सव-

मनुभवन्नबलाजनः पटुरपि निपुणोऽपि प्रियकण्ठस्य जिघृक्षया ग्रहीतुमालिङ्गितुमिच्छयाऽऽसनरज्जुपरिग्रहे पीठरज्जुग्रहणे भुजलतां बाहुलतां अलतां शैथिल्यं। डलयोरभेदः। "यमकश्लेषचित्रेषु बवयोर्डलयोर्न भित्" इति। अनयत्। दोलाक्रीडासु पतनभयनाटितकेन प्रियकण्ठमाश्लिष्यदित्यर्थः ॥ ४६ ॥

नये झूलेपर चढ़कर वसन्तोत्सव मनाती हुई स्त्री सावधान रहती हुई भी (साथमें झूलते हुए) पतिके गलेसे आलिङ्गन करनेकी इच्छासे बैठे जानेवाले काठको रस्सीको पकड़नेमें ढिलाई कर दी। (झूलेसे वस्तुतः में नहीं गिरती हुई भी नायिकाने मानों गिरती हुई-सी होकर झूलेकी रस्सीके पकड़नेको ढोलाकर पतिके गलेका आलिङ्गन कर लिया) ॥ ४६ ॥

त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥ ४७ ॥

त्यजतेति। बतेत्यामन्त्रणे। "खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे बत" इत्यमरः। बत अङ्गनाः, मानं कोपं त्यजत। तदुक्तम्—"स्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये"। इति। विग्रहैर्विरोधैरलं, विग्रहो न कार्य इत्यर्थः। गतमतीतं चतुरमुपभोगक्षमं वयो यौवनं पुनर्नैति नागच्छति इत्येवंरूपे स्मरमते स्मराभिप्राये। नपुंसके भावे क्तः। परभृताभिः कोकिलाभिर्निवेदिते सतीव वधूजनो रमते स्म रेमे, कोकिलाकूजितोद्दीपितस्मरः स्त्रीजनः कामशासनभयादिवोच्छृङ्खलमखेलदित्यर्थः ॥४७॥

"हाय ! तुम मानको छोड़ दो, विरोधोंको करना व्यर्थ है, बीती हुई नौजवानी फिर नहीं लौटती" इस प्रकार कोयलोंके कामोद्दीपक वचन कहनेपर स्त्री (पतिके साथ) रमण करने लगी। (मानिनी स्त्री कोयलोंका कामोद्दीपक कुहकना सुनकर मान छोड़कर पतियोंके साथ रमण करने लगी) ॥ ४७ ॥

अथ यथासुखमार्तवमुत्सवं समनुभूय विलासवतीसखः ।
नरपतिश्चकमे मृगयारतिं स मधुमन्मधुमन्मथसन्निभः ॥ ४८ ॥

अथेति। अथानन्तरम्। मधुं मथ्नातीति मधुमद्विष्णुः। सम्पदादित्वात्क्विप्। मधुर्वसन्तः। मथ्नातीति मथः। पचाद्यच्। मनसो मथो मन्मथः कामः तेषां सन्निभः सदृशो मधुमन्मधुमन्मथसन्निभः स नरपतिर्दशरथो विलासवतीसखः स्त्रीसहचरः सन्। ऋतुः प्राप्तोऽस्यार्तवः। तमुत्सवं वसन्तोत्सवं यथासुख समनुभूय मृगयारतिं मृगयाविहारं चकमे आचकाङ्क्ष ॥ ४८ ॥

फिर विष्णु, वसन्त तथा कामदेवके समान राजा (दशरथ) ने विलासिनियों (प्रियाओं) के साथ वसन्त ऋतुके उत्सवको सुखपूर्वक भोगकर शिकार खेलना चाहा ॥ ४८ ॥

व्यसनासङ्गदोषं परिहरन्नाह—

परिचयं चललक्ष्यनिपातने भयरुषोश्च तदिङ्गितबोधनम् ।
श्रमजयात्प्रगुणां च करोत्यसौ तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्ययौ ॥ ४९ ॥*

परिचयमिति । असौ मृगया चललक्ष्याणि मृगगवयादीनि तेषां निपातने परिचयमभ्यासं करोति । भयरुषोर्भयक्रोधयोस्तदिङ्गितबोधनं तेषां चललक्ष्याणामिङ्गितस्य चेष्टितस्य भयादिलिङ्गभूतस्य बोधनं ज्ञानं च करोति । तनुं शरीरं श्रमस्य जयान्निरासात्प्रगुणां प्रकृष्टलाघवादिगुणवतीं च करोति । अतो हेतोः सचिवैरनुमतोऽनुमोदितः सन् ययौ । सर्वं चैतद् युद्धोपयोगीत्यतस्तदपेक्षया मृगयाप्रवृत्तिः । न तु व्यसनितयेति भावः ॥ ४९ ॥

यह (शिकार) चञ्चल लक्ष्य (पक्षी या मृग व्याघ्रादि पशु) के गिरानेमें अभ्यासको, (उन लक्ष्यभूत पशुओं) के भय तथा क्रोधकी चेष्टाओंकी जानकारीको तथा श्रमके जीतनेसे शरीरमें फुर्ती (हलकापन) को करता है, (अतः मन्त्रियोंसे अनुमति पाकर (राजा शिकारके लिये) चले ॥ ४९ ॥

मृगवनोपगमक्षमवेषभृद्विपुलकण्ठनिषक्तशरासनः ।
गगनमश्वखुरोद्धतरेणुभिर्नृसविता स वितानमिवाकरोत् ॥ ५० ॥

मृगवनेति । मृगाणां वनं तस्योपगमः प्राप्तिः तस्य क्षममर्हं वेषं बिभर्तीति स तथोक्तः, मृगयाविहारानुगुणवेषधारीत्यर्थः । विपुलकण्ठे निषक्तशरासनो लग्नधन्वा । ना सवितेव नृसविता पुरुषश्रेष्ठः । उपमितसमासः । स राजाऽश्वखुरोद्धतरेणुभिर्गगनं वितानं तुच्छमसदिवाकरोत्, गगनं नालक्ष्यतेत्यर्थः । 'वितानं तुच्छमन्दयोः' इति विश्वः । अथवा सवितानमित्येकं पदम्, सवितानमुल्लोचसहितमिवाकरोत् । 'अस्त्री वितानमुल्लोचः' इत्यमरः ॥ ५० ॥

मृगोंसे पूर्ण वनके योग्य भेषवाले, विशाल कण्ठमें धनुषको रक्खे हुए और राजाओंमें सूर्यवत् (तेजस्वी) वे (दशरथ) घोड़ोंके खुरोंसे उड़ी हुई धूलियोंसे आकाशको मानो छोटा (सङ्कुचित), (या 'सवितानमिव' पाठ मानकर मानो चँदोवेसे युक्त) कर दिया ॥ ५० ॥

---

* एतदाशयक एव श्लोकोऽभिज्ञानशाकुन्तले प्रथमेऽङ्के दुष्यन्तं प्रति सेनापतिनोक्तो दृश्यते, तद्यथा—

"मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्साहयोग्यं वपुः
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स हि धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले ।
मिथ्या हि व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ॥" इति ।

ग्रथितमौलिरसौ वनमालया तरुपलाशसवर्णतनुच्छदः ।
तुरगवल्गनचञ्चलकुण्डलो विरुरुचे रुरुचेष्टितभूमिषु ॥ ५१ ॥

ग्रथितेति । वनमालया वनपुष्पस्रजा ग्रथितमौलिर्बद्धधम्मिल्लः । "पत्रपुष्पमयी माला वनमाला प्रकीर्तिता" इति । तरूणां पलाशैः पत्रैः सवर्णः समानस्तनुच्छदो वर्म यस्य स तथोक्तः । इदं च वर्मणः पलाशसावर्ण्याभिधानं मृगादीनां विश्वासार्थम् । तुरगस्य वल्गनेन गतिविशेषेण चञ्चलकुण्डलोऽसौ दशरथो रुरुभिर्मृगविशेषैश्चेष्टिताश्चरिता या भूमयस्तासु विरुरुचे विदिद्युते ॥ ५१ ॥

वनमाला (पत्र–पुष्परचितमाला) से केश बांधे तथा पेड़ोंको पत्तियोंके समान अर्थात् हरे रंगके कवचको पहने हुए और घोड़ेके उछलती हुई चालसे हिलते हुए कुण्डलोंवाले (दशरथ) रुरु मृगोंसे युक्त (वन–) स्थलियोंमें शोभित हुए ॥ ५१ ॥

तनुलताविनिवेशितविग्रहा भ्रमरसंक्रमितेक्षणवृत्तयः ।
ददृशुरध्वनि तं वनदेवताः सुनयनं नयनन्दितकोसलम् ॥ ५२ ॥

तनुलतेति । तनुषु लतासु विनिवेशितविग्रहाः संक्रमितदेहाः भ्रमरेषु संक्रमिता ईक्षणवृत्तयो दृग्व्यापारा यासां ता वनदेवताः सुनयनं सुलोचनं नयेन नीत्या नन्दितास्तोषिताः कोसला येन तं दशरथमध्वनि ददृशुः । प्रसन्नपावनतया तं देवता अपि गूढवृत्त्या ददृशुरित्यर्थः ॥ ५२ ॥

सूक्ष्म लताओंमें शरीरको तथा भ्रमरोंमें नेत्रव्यापारको संक्रमित की हुई वनदेवियोंने सुन्दर नेत्रवाले तथा नीतिसे कोसल (देशकी प्रजाओं) को आनन्दित करनेवाले उन्हें (दशरथको) मार्गमें देखा ॥ ५२ ॥

श्वगणिवागुरिकैः प्रथमास्थितं व्यपगतानलदस्यु विवेश सः ।
स्थिरतुरङ्गमभूमि निपानवन्मृगवयोगवयोपचितं वनम् ॥ ५३ ॥

श्वगणीति । स दशरथः । शुनां गणः स एषामस्तीति श्वगणिनः श्वग्राहिणः तैः । वागुरा मृगबन्धनरज्जुः । 'वागुरा मृगबन्धनी' इत्यमरः । तया चरन्तीति वागुरिका जालिकाः । "चरति" इति ठक्प्रत्ययः । 'द्वौ वागुरिकजालिकौ' इत्यमरः । तैश्च प्रथममास्थितमधिष्ठितम् । व्यपगता अनला दावाग्नयो दस्यवस्तस्कराश्च यस्मात्तथोक्तम् । 'दस्युतस्करमोषकाः' इत्यमरः । "कारयेद्वनशोधनमादौ मातुरन्तिकमपि प्रविविक्षुः । आप्तशस्त्र्यनुगतः प्रविशेद्वा सङ्कटे च गहने च न तिष्ठेत् ॥" इति कामन्दकः । स्थिरा दृढा पङ्काद्विरहिता तुरङ्गमयोग्या भूमिर्यस्य तत् । निपानवदाहावयुक्तम् । 'आहावस्तु निपानं स्यादुपकूपजलाशये' इत्यमरः । मृगैर्हरिणादिभिर्वयोभिः पक्षिभिर्गवयैर्गोसदृशैररण्यपशुविशेषैश्चोपचितं समृद्धं वनं विवेश प्रविष्टवान् ॥ ५३ ॥

वे (दशरथ) शिकारी कुत्तोंके समूह तथा जालवाले लोगोंसे पहलेसे ही युक्त, दावाग्नि और चोरोंसे रहित, घोड़ोंके चलने योग्य सूखी हुई (दलदलरहित) भूमिवाले, कूओंके पास पशुओंके पानी पीने योग्य हौजोंसे युक्त और हरिण, पक्षी तथा गवय (शाबर, नीलगायों) से परिपूर्ण हुए वनमें प्रवेश किये ॥ ५३ ॥

अथ नभस्य इव त्रिदशायुधं कनकपिङ्गतडिद्गुणसंयुतम् ।
धनुरधिज्यमनाधिरुपाददे नरवरो रवरोषितकेसरी ॥ ५४ ॥

अथेति । अथानाधिर्मनोव्यथारहितो नरवरो नरश्रेष्ठः । रवेण धनुष्टङ्कारेण रोषिताः केसरिणः सिंहा येन स राजा । कनकमिव पिङ्गः पिशङ्गो यस्तडिदेव गुणो मौर्वी तेन संयुतं त्रिदशायुधमिन्द्रचापं नभस्यो भाद्रपदमास इव । "स्युर्नभस्यः प्रौष्ठपदभाद्रभाद्रपदाः समाः" इत्यमरः । अधिज्यमधिगतमौर्वीकं धनुरुपाददे जग्राह ॥

इसके बाद कष्टरहित, (धनुष) के टङ्कारसे सिंहको क्रोधित किये हुए नरश्रेष्ठ (दशरथ) प्रत्यञ्चा चढ़े हुए धनुषको, सुवर्णके समान बिजलीरूपी प्रत्यञ्चासे युक्त इन्द्रधनुषको भाद्रपद मासके समान ग्रहण किया ॥ ५४ ॥

तस्य स्तनप्रणयिभिर्मुहुरेणशावैर्व्याहन्यमानहरिणीगमनं पुरस्तात् ।
आविर्बभूव कुशगर्भमुखं मृगाणां यूथं तदग्रसरगर्वितकृष्णसारम् ॥ ५५ ॥

तस्येति । स्तनप्रणयिभिः स्तनपायिभिरेणशावैर्हरिणशिशुभिः 'पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः । व्याहन्यमानं तद्वत्सलतया तद्गमनानुसारेण मुहुर्मुहुः प्रतिषिध्यमानं हरिणीनां गमनं गतिर्यस्य तत् । कुशा गर्भे येषां तानि मुखानि यस्य तत्कुशगर्भमुखम् । यस्य यूथस्याग्रेसरः पुरःसरो गर्वितो दृप्तश्च कृष्णसारो यस्य तत् । मृगाणां यूथं कुलम् । 'सजातीयैः कुलं यूथं तिरश्चां पुंनपुंसकम्' इत्यमरः । तस्य दशरथस्य पुरस्तादग्रे आविर्बभूव । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ५५ ॥

स्तनका पीनेके लिये बच्चोंसे बार २ रोके गये हरिणियोंके गमनवाला, मुखमें कुश लिया हुआ आगे २ चलते हुए मस्त कृष्णसार मृगवाला, मृगोंका झुण्ड उस (दशरथ) के सामने आया ॥ ५५ ॥

तत्प्रार्थितं जवनवाजिगतेन राज्ञा तूणीमुखोद्धृतशरेण विशीर्णपङ्क्ति ।
श्यामीचकार वनमाकुलदृष्टिपातैर्वातेरितोत्पलदलप्रकरैरिवार्द्रैः ॥ ५६ ॥

तदिति । जवनो जवशीलः । "जुचङ्क्रम्यदन्द्रम्यसृगृधिज्वलशुचलषपतपदः" इत्यनेन युच्प्रत्ययः । 'तरस्वी त्वरितो वेगी प्रजवी जवनो जवः' इत्यमरः । तं वाजिनमश्वं गतेनारूढेन । तूणीपुधिः । "षिद्गौरादिभ्यश्च" इति स्त्रियां ङीष् । तस्यामुखाद्विवरादुद्धृतशरेण राज्ञा प्रार्थितमभियातम् । 'याच्ञायामभियाने च प्रार्थना कथ्यते

सुधैः' इति केशवः । अत एव विशीर्णा पङ्क्तिः सङ्घीभावो यस्य तत् मृगयूथं कर्तृ । आर्द्रैर्भयादश्रुसिक्तैराकुला भयचकिता ये दृष्टिपातास्तैः । वातेरितोत्पलदलप्रकरैः पवनकम्पितेन्दीवरदलवृन्दैरिव । वनं श्यामीचकार ॥ ५६ ॥

तेज घोड़ेपर चढ़े हुए, तरकसके सिरेसे बाणको निकाले हुए राजासे पीछा किया गया, (अतएव) बिखरी (छिन्न–भिन्न) पंक्तिवाले उस मृगोंके झुंडने, अश्रुयुक्त एवं भयचकित नेत्रोंसे, वायुके द्वारा कम्पित हुए नीलकमलपत्रोंके समान, वनको श्यामवर्ण कर दिया ॥५६॥

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसञ्जहार ॥५७॥

लक्ष्यीकृतस्येति । हरिरिन्द्रो विष्णुर्वा । तस्येव प्रभावः सामर्थ्यं यस्य सः तथोक्तः । धन्वी धनुष्मान्स नृपः । लक्ष्यीकृतस्य वेद्धुमिष्टस्य हरिणस्य स्वप्रेयसो देहं व्यवधायानुरागादन्तर्धाय स्थिताम् । सह चरतीति सहचरी । पचादिषु चरतेष्टित्करणान्ङीप् । यथाह वामनः—"अनुचरीति चरेष्टित्वात्" इति । तां सहचरीं हरिणीं प्रेक्ष्य कामितया स्वयं कामुकत्वात्, कृपामृदुमनाः करुणार्द्रचित्तः सन् । आकर्णकृष्टमपि दुष्प्रतिसंहरमपीत्यर्थः । बाणं प्रतिसंजहार, नैपुण्यादित्यर्थः । नैपुण्यं तु धन्वीत्यनेन गम्यते ॥ ५७ ॥

विष्णु (या इन्द्र) के समान समर्थ धनुर्धारी उस (दशरथ) ने निशाना बनाये गये हरिणके शरीरको व्यवहित (मेरे पतिको पहले बाण न लगकर मुझे ही लगे इस भावना से राजा दशरथ तथा प्रिय मृगके मध्यमें) करके खड़ी हुई हरिणीको देखकर कानतक खींचे हुए धनुषको भी स्वयं कामी होनेके कारण कृपासे दयार्द्रचित्त होते हुए उतार लिया (प्रत्यञ्चा ढीलीकर दी अर्थात् बाण नहीं छोड़ा) ॥ ५७ ॥

तस्यापरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोः
कर्णान्तमेत्य बिभिदे निबिडोऽपि मुष्टिः ।
त्रासातिमात्रचटुलैः स्मरतः सुनेत्रैः
प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि ॥ ५८ ॥

तस्येति । त्रासाद्भयादतिमात्रचटुलैरत्यन्तचञ्चलैः सुनेत्रैः प्रौढप्रियानयनविभ्रमचेष्टितानि प्रगल्भकान्ताविलोचनविलासव्यापारान्सादृश्यात्स्मरतः । अपरेष्वपि मृगेषु शरान्मुमुक्षोर्मोक्तुमिच्छोस्तस्य नृपस्य निबिडो दृढोऽपि मुष्टिः कर्णान्तमेत्य प्राप्य बिभिदे । स्वयमेव भिद्यते स्म । भिदेः कर्मकर्तरि लिट् । कामिनस्तस्य प्रियाविभ्रमस्मृतिजनितकृपातिरेकान्मुष्टिभेदः । न त्वनैपुण्यादिति तात्पर्यार्थः ॥ ५८ ॥

भयसे अत्यन्त चञ्चल नेत्रोंके द्वारा अपनी प्रौढ प्रियाओंके नेत्रोंके विलासपूर्ण चेष्टाओंको

स्मरण करते हुए दूसरे मृगोंपर भी बाणोंको छोड़नेके इच्छुक उस (दशरथ) की दृढ मुट्ठी भी कानतक पहुँच कर ढीली पड़ गयी। (अत एव दूसरे मृगोंपर भी राजा दशरथ बाण नहीं छोड़ सके)॥ ५८॥

उत्तस्थुषः सपदि पल्वलपङ्कमध्यान्मुस्ताप्ररोहकवलावयवानुकीर्णम्।
जग्राह स द्रुतवराहकुलस्य मार्गं सुव्यक्तमार्द्रपदपङ्क्तिभिरायताभिः॥५९॥

उत्तस्थुष इति। स नृपः। मुस्ताप्ररोहाणां मुस्ताङ्कुराणां कवला ग्रासाः। तेषामवयवैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः शकलैरनुकीर्णं व्याप्तम्। आयताभिर्दीर्घाभिरार्द्रपदपङ्क्तिभिः सुव्यक्तम्। सपदि पल्वलपङ्कमध्यादुत्तस्थुष उत्थितस्य द्रुतवराहकुलस्य पलायितवराहयूथस्य मार्गं जग्राहानुससार। जिघांसया तदीयपदवीमनुययावित्यर्थः॥

उस (दशरथ)ने मोथेकी जड़ोंके ग्रासोंके (मुखपतित)अवयवोंसे व्याप्त, सुदूर तक गीले पैरोंके चिह्नोंकी कतारोंसे स्पष्ट, तत्काल (कुछ समय पहले) ही (गढोंसे) निकलकर भागे हुए सूअरोंके झुंडोंके रास्तेका अनुसरण किया। (उस रास्तेसे बढ़ते हुए उनका पीछा किया)॥

तं वाहनादवनतोत्तरकायमीषद्विध्यन्तमुद्धृतसटाः प्रतिहन्तुमीषुः।
नात्मानमस्य विविदुः सहसा वराहा वृक्षेषु विद्धमिषुभिर्जघनाश्रयेषु॥६०॥

तमिति। वराहाः वाहनादश्वादीषदवनतोत्तरकायं किञ्चिदानतपूर्वकायं विध्यन्तं प्रहरन्तं तं नृपम्। उद्धृतसटा ऊर्ध्वकेसराः सन्तः। 'सटा जटाकेसरयोः' इति केशवः। प्रतिहन्तुमीषुः प्रतिहर्तुमैच्छन्। अस्य नृपस्येषुभिः सहसा जघनानामाश्रयेष्ववष्टम्भेषु वृक्षेषु विद्धमात्मानं न विविदुः। एतेन वराहाणां मनस्वित्वं नृपस्य हस्तलाघवं चोक्तम्॥ ६०॥

सूअरोंने घोड़ेपर शरीरको थोड़ा झुकाकर प्रहार करते हुए उन (राजा दशरथ) को गर्दनोंके बालोंको खड़ाकर (ऐसा सूअरोंका स्वभाव होता है कि किसीको मारनेके पूर्व वे गर्दनको उठाकर बालोंको कड़ा कर लेते हैं) मारना चाहा, किन्तु इस (दशरथ) के बाणोंसे एकाएक जङ्घोंके आश्रयभूत पेड़ोंमें अपनेको विधा हुआ नहीं जाना। (जबतक सूअरोंने राजाको मारना चाहा, इतनेमें ही उन्होंने झट उन सूअरोंकी जङ्घाओंमें बाण मारकर उन्हें विवश कर दिया)॥ ६०॥

तेनाभिघातरभसस्य विकृष्य पत्री वन्यस्य नेत्रविवरे महिषस्य मुक्तः।
निर्भिद्य विग्रहमशोणितलिप्तपुङ्खस्तं पातयां प्रथममास पपात पश्चात्॥६१॥

तेनेति। अभिघाते रभस औत्सुक्यं यस्य तस्य, अभिहन्तुमुद्यतस्येत्यर्थः। वन्यस्य वने भवस्य महिषस्य नेत्रविवरे नेत्रमध्ये तेन नृपेण विकृष्याकृष्य मुक्तः पत्री शरो विग्रहं महिषदेहं निर्भिद्य विदार्य। शोणितलिप्तो न भवतीत्यशोणितलिप्तः पुङ्खो

यस्य स तथोक्तः सन् । तं महिषं प्रथमं पातयामास । स्वयं पश्चात्पपात । "कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि" इत्यत्रानुशब्दस्य व्यवहितविपर्यस्तप्रयोगनिवृत्त्यर्थत्वात् 'पातयां प्रथममास' इत्यपप्रयोग इति पाणिनीयाः । यथाह वार्तिककारः—'विपर्यासनिवृत्त्यर्थं व्यवहितनिवृत्त्यर्थं च' इति ॥ ६१ ॥

वेगसे प्रहार करनेवाले जङ्गली भैंसेकी आंखमें उस (दशरथ) से खैंचकर छोड़ा गया बाण पंखमें विना रक्तरञ्जित होता हुआ (भैंसके) शरीरको विदीर्णकर उसको तो पहले गिराया तथा रक्त स्वयं पीछे गिरा ॥ ६१ ॥

प्रायो विषाणपरिमोक्षलघूत्तमाङ्गान्खड्गांश्चकार नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः ।
शृङ्गं स दृप्तविनयाधिकृतः परेषामत्युच्छ्रितं न ममृषे न तु दीर्घमायुः ६२

प्राय इति । नृपतिर्निशितैः क्षुरप्रैः शरविशेषैः, चन्द्रार्धबाणैरित्यर्थः । खड्गान् खड्गाख्यान्मृगान् 'गण्डके खड्गखड्गिनौ' इत्यमरः । प्रायो बाहुल्येन विषाणपरिमोक्षेण शृङ्गभङ्गेन लघून्यगुरूण्युत्तमाङ्गानि शिरांसि येषां तांश्चकार, न त्ववधीदित्यर्थः । कुतः, दृप्तविनयाधिकृतो दुष्टनिग्रहनियुक्तः स राजा परेषां प्रतिकूलानामत्युच्छ्रितमुन्नतं शृङ्गं विषाणं प्राधान्यं च । 'शृङ्गं प्राधान्यसान्वोश्च' इत्यमरः । न ममृषे न सेहे । दीर्घमायुर्जीवितकालम् । 'आयुर्जीवितकालो ना' इत्यमरः । न ममृष इति न, किन्तु ममृष एवेत्यर्थः ॥ ६२ ॥

राजा (दशरथ) ने तेज बाणोंसे गैंड़ोंको अधिकतर सींगको तोड़कर हलके मस्तकवाला कर दिया । अभिमानियोंके शासक (राजा दशरथ) शत्रुओंके अत्युन्नत सींग को (शत्रुपक्षमें—उनकी प्रधानताको) नहीं सहन किये (और उनकी) दीर्घायुको नहीं सहन किये ऐसी बात नहीं थी । (राजाने दयाकर उनके प्राण नहीं लिये, किन्तु मानको नष्ट कर दिया) ॥ ६२ ॥

व्याघ्रानभीरभिमुखोत्पतितान्गुहाभ्यः
फुल्लासनाग्रविटपानिव वायुरुग्णान् ।
शिक्षाविशेषलघुहस्ततया निमेषा-
त्तूणीचकार शरपूरितवक्त्ररन्ध्रान् ॥ ६३ ॥

व्याघ्रानिति । अभीर्निर्भीकः स धन्वी गुहाभ्योऽभिमुखमुत्पतितान् । वायुना रुग्णान्भग्नान् फुल्ला विकसिताः । "अनुपसर्गात्फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः" इति निष्ठातकारस्य लत्वनिपातः । येऽसनस्य सर्जवृक्षस्य । 'सर्जकासनबन्धूकपुष्पप्रियकजीवकाः' इत्यमरः । अग्रविटपास्तानिव स्थितान्, इषुभिभूतानित्यर्थः । व्याघ्राणां चित्ररूपत्वादुपमाने फुल्लविशेषणम् । शरैः पूरितानि वक्त्ररन्ध्राणि येषां तान्व्याघ्रान्

शिक्षाविशेषेणाभ्यासातिशयेन लघुहस्ततया क्षिप्रहस्ततया निमेषात्तूणीचकार, तूर्णं शरैः पूरितवानित्यर्थः ॥ ६३ ॥

निर्भय दशरथने गुहासे निकलकर सामने आये हुए, वायुसे बिखरे हुए विकसित पुष्पोंवाले सर्ज वृक्षोंके समान स्थित बाघोंका मुख उत्तम शिक्षा पानेके कारण फुर्तीले हाथोंसे पलकभरमें बाणोंसे भर दिया। (गुफासे उछलकर सामने आते ही क्षणमात्रमें बाणोंसे उनके मुखोंको पूर्ण कर दिया) ॥ ६३ ॥

निर्घातोग्रैः कुञ्जलीनाञ्जिघांसुर्ज्यानिर्घोषैः क्षोभयामास सिंहान् ।
नूनं तेषामभ्यसूयापरोऽभूद्वीर्योदग्रे राजशब्दे मृगेषु ॥ ६४ ॥

निर्घातेति। कुञ्जेषु लीनान्। 'निकुञ्जकुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः। सिंहाञ्जिघांसुर्हन्तुमिच्छुः। निर्घातो व्योमोत्थित औत्पातिकः शब्दविशेषः। तदुक्तं नारदीयसंहितायाम्—"वायुनाऽभिहतो वायुर्गगनात्पतितः क्षितौ। यदाऽदीप्तः खगरुतः स निर्घातोऽतिदोषकृत् ॥" इति। तद्वदुग्रै रौद्रैर्ज्यानिर्घोषैर्मौर्वीशब्दैः क्षोभयामास। अत्रोत्प्रेक्षते—तेषां सिंहानां सम्बन्धिनि वीर्येणोदग्रे उन्नते मृगेषु विषये यो राजशब्दस्तस्मिन्नभ्यसूयापरोऽभून्नूनम्। अन्यथा कथमेतानन्विष्य, हन्यादित्यर्थः। 'मृगाणाम्' इति पाठे समासे गुणभूतत्वाद्राजशब्देन सम्बन्धो दुर्घटः। शालिनीवृत्तम् "शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः" इति लक्षणात् ॥ ६४ ॥

कुञ्जोंमें छिपे हुए सिंहोंको मारनेके इच्छुक (राजा दशरथ)ने बिजली कड़कनेके समान तीव्र धनुषके टङ्कारोंसे उन्हें व्याकुल कर दिया। मालूम पड़ता है कि निश्चय ही (राजा दशरथ) मृगोंमें पराक्रमसे उन्नत राजशब्द अर्थात् 'मृगराज' शब्दोंमें ईर्ष्या करते थे। (वे स्वयं एकच्छत्र राजा रहते हुए इन सिंहोंका 'मृगराज' कहलाना नहीं सहन करते थे, अत एव उन्हें मारनेकी इच्छासे कुञ्जोंमें छिपे हुए सिंहोंको धनुष्टङ्कारसे व्याकुल कर दिया) ॥ ६४ ॥

तान्हत्वा गजकुलबद्धतीव्रवैरान्काकुत्स्थः कुटिलनखाग्रलग्नमुक्तान् ।
आत्मानं रणकृतकर्मणां गजानामानृण्यं गतमिव मार्गणैरमंस्त ॥६५॥

तानिति। काकुत्स्थो दशरथः। गजकुलेषु बद्धं तीव्रं वैरं यैस्तान्। कुटिलेषु नखाग्रेषु लग्ना मुक्ता गजकुम्भमौक्तिकानि येषां तान्सिंहान्हत्वा। आत्मानं रणेषु कृतकर्मणां कृतोपकाराणां गजानामानृण्यमनृणत्वं मार्गणैः शरैः। 'मार्गणो याचके शरे' इति विश्वः। गतं प्राप्तवन्तमिवामंस्त मेने ॥ ६५ ॥

दशरथने गज समूहोंसे घोर विरोध करनेवाले और टेढे नखोंके अग्रभागमें स्थित गजमुक्तावाले उन सिंहोंको मारकर युद्ध कार्यमें उपकार करनेवाले हाथियोंके ऋणसे अपनेको मुक्त हुआ माना ॥ ६५ ॥

चमरान्परितः प्रवर्तिताश्वः कचिदाकर्णविकृष्टभल्लवर्षी ।
नृपतीनिव तान्वियोज्य सद्यः सितवालव्यजनैर्जगाम शान्तिम् ॥ ६६ ॥

चमरानिति । कचिच्चमरान्परितः । "अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि" इत्यनेन द्वितीया । प्रवर्तिताश्वः प्रधावितावश्वः । आकर्णविकृष्टभल्लानिषुविशेषान्वर्षतीति तथोक्तः स नृपः । नृपतीनिव तांश्चमरान्सितवालव्यजनैः शुभ्रचामरैर्वियोज्य विरहय्य सद्यः शान्तिं जगाम । शूराणां परकीयमैश्वर्यमेवासह्यम् । न तु जीवितमिति भावः । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ ६६ ॥

चमर मृगोंके चारो ओर घोड़ेको दौड़ाये हुए तथा कानतक खींच २ कर भाला मारनेवाले वे (दशरथ) राजाओंके समान उनको श्वेत चामरों (पक्षा०—पूंछों)से छीनकर शीघ्र शान्त हो गये । राजाओंको पराजितकर उन्हें राजचिह्नरूप श्वेत चामरोंसे रहितकर शान्त होनेके समान चमर मृगोंके भी पूंछोंको काटकर छोड़ दिया, उन्हें मारा नहीं) ॥ ६६ ॥

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्तं मयूरं न स रुचिरकलापं बाणलक्ष्यीचकार ।
सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे रतिविगलितबन्धे केशपाशे प्रियायाः ॥

अपीति । स नृपस्तुरगसमीपादुत्पतन्तमपि, सुप्रहारमपीत्यर्थः । रुचिरकलापं भासुरबर्हम् । मद्यामतिशयेन रौतीति मयूरो बर्ही । पृषोदरादित्वात्साधुः । तं चित्रेण माल्येनानुकीर्णे रतौ विगलितबन्धे प्रियायाः केशपाशे सपदि गतमनस्कः प्रवृत्तचित्तः । "उरःप्रभृतिभ्यः कप्" इति कप्प्रत्ययः । न बाणलक्ष्यीचकार, न प्रजहारेत्यर्थः ॥ ६७ ॥

वे (राजा दशरथ) घोड़ेके पाससे उड़ते हुए भी मनोहर पूछोंवाले मोरको, चित्र-विचित्र मालाओंसे व्याप्त (गुथे हुए) तथा रतिमें बन्धन खुले हुए प्रियाके केश-समूह (चोटी) को स्मरणकर बाणका निशाना नहीं बनाये, (उन पर बाण नहीं चलाये) ॥६७॥

तस्य कर्कशविहारसम्भवं स्वेदमाननविलग्नजालकम् ।
आचचाम सतुषारशीकरो भिन्नपल्लवपुटो वनानिलः ॥ ६८ ॥

तस्येति । कर्कशविहारादतिव्यायामात्सम्भवो यस्य तम् । आनने विलग्नजालकं बद्धकदम्बकं तस्य नृपस्य स्वेदम् । सतुषारशीकरः शिशिराम्बुकणसहितः । भिन्ना निर्दलिताः पल्लवानां पुटाः कोशा येन सः वनानिल आचचाम, जहारेत्यर्थः । रथोद्धता वृत्तमेतत् ॥ ६८ ॥

कठोर (मृगया) विहार करनेसे उत्पन्न मुखपर बूंदोंके समूहोंसे युक्त उनके पसीनेको, ठण्डे जलकणोंसे युक्त, तथा पल्लवोंके बन्द कोषोंको स्फुटित करनेवाली वनकी हवाने दूर किया ॥ ६८ ॥

इति विस्मृतान्यकरणीयमात्मनः सचिवावलम्बितधुरं धराधिपम् ।
परिवृद्धरागमनुबन्धसेवया मृगया जहार चतुरेव कामिनी ॥ ६९ ॥

इतीति । इति पूर्वोक्तप्रकारेणात्मनो विस्मृतमन्यत्करणीयं कार्यं येन तम्, विस्मृतात्मकार्यान्तरमित्यर्थः । सचिवैरवलम्बिता धृता धूर्यस्य तम् । "ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे" इति समासान्तोऽप्रत्ययः । अनुबन्धसेवया सन्ततसेवया परिवृद्धो रागो यस्य तं धराधिपम् । मृग्यन्ते यस्यां मृगा इति मृगया 'परिचर्यापरिसर्यामृगयाटाट्यादीनामुपसंख्यानम्" इति शप्रत्ययान्तो निपातः । चतुरा विदग्धा कामिनीव जहाराकर्षं । "न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥" इति भावः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार अपने दूसरे कर्तव्योंको भूले हुए तथा राज्यभारको मन्त्रियोंके अधीन किये हुए और निरन्तर सेवन करने (लगे रहने) से अधिक प्रेम (आसक्ति) युक्त राजाको आखेटने चतुर कामिनीके समान आकर्षित कर लिया ॥ ६९ ॥

स ललितकुसुमप्रवालशय्यां ज्वलितमहौषधिदीपिकासनाथाम् ।
नरपतिरतिवाहयाम्बभूव क्वचिदसमेतपरिच्छदस्त्रियामाम् ॥ ७० ॥

स इति । स नरपतिः । ललितानि कुसुमानि प्रवालानि पल्लवानि शय्या यस्यां ताम् । ज्वलिताभिर्महौषधीभिरेव दीपिकाभिः सनाथाम्, तत्प्रधानामित्यर्थः । त्रियामां त्रयो यामा यस्याः सा ताम् रात्रिं क्वचिदसमेतपरिच्छदः, परिहृतपरिजनः सन्नित्यर्थः । अतिवाहयाम्बभूव गमयामास । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ७० ॥

उस राजा (दशरथ) ने सुन्दर पुष्पों तथा नवपल्लवोंकी शय्यावाली, जलती हुई महौषधिरूप दीपकोंवाली रात्रिको कहींपर परिजनोंसे रहित होते हुए अर्थात् अकेला बिताया । (राजा दशरथने अपने अनुचरोंका साथ छूट जानेपर रातको किसी स्थानमें फूलों तथा पत्तोंपर सोकर बिताया और वहाँ दीपकके स्थानमें औषधियां प्रकाशित हो रही थीं)॥७०॥

उषसि स गजयूथकर्णतालैः पटुपटहध्वनिभिर्विनीतनिद्रः ।
अरमत मधुराणि तत्र शृण्वन्विहगविकूजितबन्दिमङ्गलानि ॥ ७१ ॥

उषसीति । उषसि प्रातः पटूनां पटहानामिव ध्वनिर्येषां तैर्गजयूथानां हस्तिसमूहानां कर्णैरेव तालैर्वाद्यप्रभेदैर्विनीतनिद्रः स नृपस्तत्र वने मधुराणि विहगानां विहङ्गानां विकूजितान्येव बन्दिनां मङ्गलानि मङ्गलगीतानि शृण्वन्नरमत ॥ ७१ ॥

प्रातःकाल बड़े नगाड़ेके समान ध्वनिवाली हाथियोंके कानोंकी ध्वनिसे जगे हुए वे (राजा दशरथ) वहांपर पक्षियोंका मधुर मधुर वचन (चहचहाना) रूप बन्दियोंके मङ्गल स्तुतियोंको सुनते हुए प्रसन्न हुए ॥ ७१ ॥

अथ जातु रुरोर्गृहीतवर्त्मा विपिने पार्श्वचरैरलक्ष्यमाणः ।
श्रमफेनमुचा तपस्विगाढां तमसां प्राप नदीं तुरङ्गमेण ॥ ७२ ॥

अथेति । अथ जातु कदाचिद्रुरोर्मृगस्य गृहीतवर्त्मा स्वीकृतरुरुमार्गो विपिने वने पार्श्वचरैरनुचरैरलक्ष्यमाणः, तुरगवेगादित्यर्थः । श्रमेण फेनमुचा सफेनं स्विद्यतेत्यर्थः । तुरङ्गमेण तपस्विभिर्गाढां सेवितां तमसां नाम नदीं सरितं प्राप ॥ ७२ ॥

इसके बाद किसी समय रुरु मृगके मार्गको ग्रहण किये (रुरुका पीछा करते) हुए, वनमें अनुचरोंसे नहीं देखे जाते हुए वे (दशरथ राजा) थकावटसे फेनको गिराते हुए, घोड़ेपर चढ़े हुए, तपस्वियोंने जिसमें स्नान किया है ऐसी तमसा नदीको प्राप्त किया अर्थात् रुरु मृगका पीछा करते हुए दशरथ साथियोंका साथ छूट जानेपर थके हुए घोड़ेपर चढ़े हुए तमसा नदीपर पहुंचे ॥ ७२ ॥

कुम्भपूरणभवः पटुरुच्चैरुच्चचार निनदोऽम्भसि तस्याः ।
तत्र स द्विरदबृंहितशङ्की शब्दपातिनमिषुं विससर्ज ॥ ७३ ॥

कुम्भेति । तस्यास्तमसाया अम्भसि कुम्भपूरेण भव उत्पन्नः । पचाद्यच् । पटुर्मधुरः । उच्चैर्गम्भीरो निनदो ध्वनिरुच्चचारोदियाय । तत्र निनदे स नृपः । द्विरदबृंहितं शङ्कते इति द्विरदबृंहितशङ्की सन् । शब्देन शब्दानुसारेण पततीति शब्दपातिनमिषुं विससर्ज । स्वागता वृत्तम् ॥ ७३ ॥

उस (तमसा नदी) के पानीमें घड़ा भरनेसे मधुर एवं तीव्र ध्वनि हुई, उस ध्वनिमें हाथीके गर्जनेका सन्देहकर उस (दशरथ) ने शब्दवेधी बाण छोड़ा ॥ ७३ ॥

नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत्कृतवान्पङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत् ।
अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः ॥ ७४ ॥

नृपतेरिति । तत्कर्म नृपतेः क्षत्रियस्य प्रतिषिद्धमेव यदेतत्कर्म गजवधरूपं पङ्क्तिरथो दशरथो विलङ्घ्य । "लक्ष्मीकामो युद्धादन्यत्र करिवधं न कुर्यात्" इति शास्त्रमुल्लङ्घ्य कृतवान् । ननु विदुषस्तस्य कथमीदृग्विचेष्टितमत आह–अपथ इति । श्रुतवन्तोऽपि विद्वांसोऽपि रजोनिमीलिता रजोगुणावृताः सन्तः । न पन्था इत्यपथम् । "पथो विभाषा" इति वा समासान्तः । "अपथं नपुंसकम्" इति नपुंसकम् । 'अपन्थास्त्वपथं तुल्ये' इत्यमरः । तस्मिन्नपथेऽमार्गे पदमर्पयन्ति हि निक्षिपन्ति हि, प्रवर्तन्त इत्यर्थः । वैतालीयं वृत्तम् ॥ ७४ ॥

वह (गजवधरूप) कर्म राजाके प्रतिकूल ही हुआ, जिस (गजवधरूप) कर्मको दशरथ ने ("युद्धभूमिके सिवा हाथीका वध नहीं करना चाहिये" इस शास्त्रीय वचन का) उल्लङ्घन

कर किया। विद्वान् भी राजसिक गुणसे आक्रान्त होते हुए अयोग्य स्थानमें पैर रखते हैं, अर्थात् नहीं करने योग्य काम कर देते हैं ॥ ७४ ॥

हा तातेति क्रन्दितमाकर्ण्य विषण्णस्तस्यान्विष्यन्वेतसगूढं प्रभवं सः।
शल्यप्रोतं प्रेक्ष्य सकुम्भं मुनिपुत्रं तापादन्तःशल्य इवासीत्क्षितिपोऽपि॥७५॥

हेति। हेत्यार्तौ। तातो जनकः। 'हा विषादशुगर्तिषु' इति। 'तातस्तु जनकः पिता' इति चामरः। हा तातेति क्रन्दितं क्रोशनमाकर्ण्य। विषण्णो भग्नोत्साहः सन्। तस्य क्रन्दितस्य वेतसैर्गूढं छन्नम्। प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम्। तमन्विष्य-ञ्छल्येन शरेण प्रोतं स्यूतम्। 'शल्यं शङ्कौ शरे वंशे' इति विश्वः। सकुम्भं मुनि-पुत्रं प्रेक्ष्य स क्षितिपोऽपि तापाद् दुःखादन्तः शल्यं यस्य सोऽन्तःशल्य इवासीत्। मत्तमयूरं वृत्तम् ॥ ७५ ॥

"हा पिताजी !" ऐसा रोदन सुनकर हतोत्साह होते हुए, बेतों (के कुञ्ज) में छिपे हुए उस (रोदनध्वनि) के उत्पत्तिस्थानको ढूंढ़ते हुए, बाणसे आहत तथा घड़ा लिये मुनि-कुमारको देखकर राजा भी दुःखके कारण हृदयमें बाणविद्ध के समान (दुखित) हो गये ॥७५॥

तेनावतीर्य तुरगात्प्रथितान्वयेन पृष्टान्वयः स जलकुम्भनिषण्णदेहः।
तस्मै द्विजेतरतपस्विसुतं स्खलद्भिरात्मानमक्षरपदैः कथयाम्बभूव ॥ ७६ ॥

तेनेति। प्रथितान्वयेन प्रख्यातवंशेन। एतेन पापभीरुत्वं सूचितम्। तेन राज्ञा तुरगादवतीर्य पृष्टान्वयो ब्रह्महत्याशङ्कया पृष्टकुलः। जलकुम्भनिषण्णदेहः स मुनि-पुत्रस्तस्मै राज्ञे स्खलद्भिः, अशक्तिवशादर्धोच्चारितैरित्यर्थः। अक्षरप्रायैः पदैरक्षरपदै-रात्मानं द्विजेतरश्चासौ तपस्विसुतश्च तं द्विजेतरतपस्विसुतं कथयाम्बभूव न तावत्त्रै-वर्णिक एवाहमस्मि किन्तु करणः। "वैश्यात्तु करणः शूद्रायाम्" इति याज्ञवल्क्यः। कुतो ब्रह्महत्येत्यर्थः। तथा च रामायणे—"ब्रह्महत्याकृतं पापं हृदयादपनीय-ताम्। न द्विजातिरहं राजन्माभूत्ते मनसो व्यथा। शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो जनपदाधिप" ॥ इति ॥ ७६ ॥

विख्यात कुलवाले उस (दशरथ) ने घोड़ेसे उतरकर वंश पूछा तो पानीके घड़ेपर शरीरको रखकर (सहारा देकर) वह मुनिकुमार उन (दशरथ) से स्खलित होते हुए अर्थात् अस्पष्ट अक्षरोंवाले शब्दोंसे अपनेको द्विजसे भिन्न (वैश्यपितासे शूद्र मातामें उत्पन्न 'करण' संज्ञक) मुनि-कुमार बतलाया। (इसी कारण राजा दशरथ ब्रह्महत्याके पापसे बच गये)॥

तच्चोदितश्च तमनुद्धृतशल्यमेव पित्रोः सकाशमवसन्नदृशोर्निनाय।
ताभ्यां तथागतमुपेत्य तमेकपुत्रमज्ञानतः स्वचरितं नृपतिः शशंस ॥ ७७ ॥

तदिति। तच्चोदितस्तेन पुत्रेण चोदितः प्रेरितः पितृसमीपं प्रापयेत्युक्तः स नृप-

तिरनुद्धृतशल्यमानुत्पाटितशरमेव तं मुनिपुत्रम् । अवसन्नदृशोर्नष्टचक्षुषोः, अन्धयोरित्यर्थः । पित्रोर्मातापित्रोः । "पिता मात्रा" इत्येकशेषः । सकाशं समीपं निनाय । इदं च रामायणविरुद्धम् । तत्र—"अथाहमेकस्तं देशं नीत्वा तौ भृशदुःखितौ । अस्पर्शयमहं पुत्रं तं मुनिं सह भार्यया" इति नदीतीर एव मृतं पुत्रं प्रति पित्रोरानयनाभिधानात् । तथागतं वेतसगूढम् । एकश्चासौ पुत्रश्चैकपुत्रस्तम् । एकग्रहणं पित्रोरनन्यगतिकत्वसूचनार्थम् । तं मुनिपुत्रमुपेत्य सन्निकृष्टं गत्वाज्ञानतः करिभ्रान्त्या स्वचरितं स्वकृतं ताभ्यां मातापितृभ्यां क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी । शशंस कथितवान् ॥७७॥

राजा (दशरथ) उसके ऐसा कहनेपर विना बाण निकाले ही उस (कुमार) को अन्धे माता-पिताके पास ले गये और इकलौते पुत्रवाले उनलोगोंसे उस प्रकार (बेंतोंमें छिपे रहने से) अज्ञानसे किये गये अपने कार्य (हाथीके भ्रमसे मारने) को बतला दिया ॥

तौ दम्पती बहु विलप्य शिशोः प्रहर्त्रा शल्यं निखातमुदहारयतामुरस्तः ।
सोऽभूत्परासुरथ भूमिपतिं शशाप हस्तार्पितैर्नयनवारिभिरेव वृद्धः ॥७८॥

ताविति । तौ जाया च पतिश्च दम्पती । राजदन्तादिषु जायाशब्दस्य दम्भावो जम्भावश्च विकल्पेन निपातितः । 'दम्पती जम्पती जायापती भार्यापती च तौ' इत्यमरः । बहु विलप्य भूरि परिदेव्य । 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः । शिशोरुरस्तो वक्षसः । "पञ्चम्यास्तसिल्" निखातं शल्यं शरं प्रहर्त्रा राज्ञोदहारयतामुद्धारयामासतुः । स शिशुः परासुर्गतप्राणोऽभूत् । अथ वृद्धो हस्तार्पितैर्नयनवारिभिरेव शापदानस्य जलपूर्वकत्वात्तैरेव भूमिपतिं शशाप ॥ ७८ ॥

उस दम्पति मुनिने बहुत विलापकर बालकको मारनेवाले (दशरथ) से गड़े हुए बाणको (बालकको) छातीसे निकलवाया और वह मर गया, इसके बाद बूढ़े (मुनि) ने चुल्लूमें आँसूका जल लेकर राजाको ऐसा शाप दिया—॥ ७८ ॥

दिष्टान्तमाप्स्यति भवानपि पुत्रशोका-
दन्त्ये वयस्यहमिवेति तमुक्तवन्तम् ।
आक्रान्तपूर्वमिव मुक्तविषं भुजङ्गं
प्रोवाच कोसलपतिः प्रथमापराद्धः ॥ ७९ ॥

दिष्टान्तमिति । हे राजन् ! भवानप्यन्त्ये वयस्यहमिव पुत्रशोकाद्दिष्टान्तं कालावसानं, मरणमित्यर्थः । 'दिष्टः काले च दैवे स्याद्दिष्टम्' इति विश्वः । आप्स्यति प्राप्स्यति । इत्युक्तवन्तम् । आक्रान्तः पादाहतः पूर्वमाक्रान्तपूर्वः । सुप्सुपेति समासः । "राजदन्तादिषु परम्" इत्यनेन परनिपातः । तं प्रथममपकृतमित्यर्थः । मुक्तविषमपकारात्पश्चादुत्सृष्टविषं भुजङ्गमिव स्थितं तं वृद्धं प्रति प्रथमापराद्धः प्रथमापराधी ।

कर्तरि क्तः । इदं च सहने कारणमुक्तम् । कोसलपतिर्दशरथः शापप्रदानात्पश्चाद्प्येनं मुनिं प्रोवाच ॥ ७९ ॥

"आप भी वृद्धावस्थामें मेरे समान पुत्रके शोकसे मरेंगे" ऐसा कहनेवाले, पहले आक्रान्त (पैर आदिसे दबे हुए) विषको उगलनेवाले सर्पके समान उस (मुनि) से, पहले (अपने) को अपराधी कहनेवाले कोसलाधीश (दशरथ) बोले—॥ ७९ ॥

शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे
सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम् ।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति ॥ ८० ॥

शाप इति । अदृष्टा तनयाननपद्मशोभा पुत्रमुखकमलश्रीर्येन तस्मिन्नपुत्रके मयि भगवता पातितः । वज्रप्रायत्वात्पातित इत्युक्तम् । अयं पुत्रशोकान्म्रियस्वेत्येवंरूपः शापोऽपि सानुग्रहः । वृद्धकुमारीवरन्यायेनेष्टावाप्तेरान्तरीयकत्वात्सोपकार एव । निग्राहकस्याप्यनुग्राहकत्वमर्थान्तरन्यासेनाह—कृष्यामिति । इन्धनैः काष्ठैरिद्धः प्रज्वलितो ज्वलनोऽग्निः कृष्यां कर्षणार्हाम् । "ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः" इति क्यप् । क्षितिं दहन्नपि बीजप्ररोहाणां बीजाङ्कुराणां जननीमुत्पादनक्षमां करोति ॥ ८० ॥

"पुत्रके मुखकमलकी शोभाको नहीं देखे हुए मुझपर आपने यह अनुग्रहरूप शापको गिराया है । इन्धनसे बढ़ी हुई जोतने योग्य भूमिको जलाती हुई भी अग्नि उसे बीजाङ्कुरोत्पादिका बनाती है । (मुझे अब तक कोई पुत्र नहीं हुआ है अत एव आपका वचन तो सत्य होगा तथा मुझे पुत्रका मुखकमल देखनेका सत्सौभाग्य प्राप्त होगा, इस प्रकार आपने शाप देकर भी मुझपर उस प्रकार अनुग्रह किया है, जिस प्रकार घास-फूस आदि इधनोंसे जोतने योग्य भूमिको जलानेवाली भी आग उसे पैदावार ही बना देती है) ॥ ८० ॥

इत्थं गते गतघृणः किमयं विधत्तां वध्यस्तवेत्यभिहितो वसुधाधिपेन ।
एधान्हुताशनवतः स मुनिर्ययाचे पुत्रं परासुमनुगन्तुमनाः सदारः ॥८१॥

इत्थमिति । इत्थं गते प्रवृत्ते सति । वसुधाधिपेन राज्ञा । गतघृणो निष्करुणः, हन्तृत्वान्निष्कृप इत्यर्थः । अत एव तव वध्यो वधार्होऽयं जनः । अयमिति राज्ञो निर्वेदादनादरेण स्वात्मनिर्देशः । किं विधत्तामित्यभिहित उक्तः, मया किं विधेयमिति विज्ञापित इत्यर्थः । स मुनिः सदारः सभार्यः परासुं गतासुं पुत्रमनुगन्तुं मनो यस्य सोऽनुगन्तुमनाः सन् । "तुं काममनसोरपि" इति मकारलोपः । हुताशनवतः साग्नीनेधान्काष्ठानि ययाचे । न चात्रात्मघातदोषः । "अनुष्ठानासमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीर्यतः । भृग्वग्निजलसम्पातैर्मरणं प्रविधीयते" इत्युक्तेः ॥ ८१ ॥

ऐसा होनेपर "निर्दय होनेसे तुम्हारा वध्य यह व्यक्ति क्या करे ? (मैं क्या करूं)" इस प्रकार राजाके पूछनेपर मरे हुए पुत्रके पीछे स्त्रीसहित मरनेकी इच्छा करनेवाले मुनिने अग्नियुक्त लकड़ियोंको मांगा। (राजासे मुनिने चिता बनाकर जलानेके लिये कहा) ॥ ८१ ॥

प्राप्तानुगः सपदि शासनमस्य राजा
सम्पाद्य पातकविलुप्तधृतिर्निवृत्तः ।
अन्तर्निविष्टपदमात्मविनाशहेतुं
शापं दधज्ज्वलनमौर्वमिवाम्बुराशिः ॥ ८२ ॥

प्राप्तेति । प्राप्तानुगः प्राप्तानुचरो राजा सपद्यस्य मुनेः शासनं काष्ठसम्भारणरूपं प्रागेकोऽपि सम्प्रति प्राप्तानुचरस्त्वात्सम्पाद्य पातकेन मुनिवधरूपेण विलुप्तधृतिर्नष्टोत्साहः सन् । अन्तर्निविष्टपदमन्तर्लब्धस्थानमात्मविनाशहेतुं शापम् । अम्बुराशिरौर्वं ज्वलनं वडवानलमिव । 'और्वस्तु वाडवो वडवानलः' इत्यमरः । दधद्धृतवान्सन् । निवृत्तः वनादिति शेषः ॥ ८२ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया संजीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये मृगयावर्णनो नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

परिजनोंको प्राप्तकर राजा (दशरथ) ने तत्काल इस (मुनि) की आज्ञाका पालनकर पापसे अधीर होते हुए तथा अन्तःकरणमें स्थित अपने विनाशके कारणभूत शापको, भीतरमें स्थित बडवाग्निको समुद्रके समान, धारण करते हुए (राजधानीको) लौटे ॥ ८२ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्य का 'मृगयावर्णन' नामक नवम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः ।

आशंसे नित्यमानन्दं रामनामकथामृतम् ।
सद्भिः स्वश्रवणैर्नित्यं पेयं पापं प्रणोदितुम् ॥

पृथिवीं शासतस्तस्य पाकशासनतेजसः ।
किंचिदूनमनूनर्द्धेः शरदामयुतं ययौ ॥ १ ॥

पृथिवीमिति । पृथिवीं शासतः पालयतः पाकशासनतेजस इन्द्रवर्चसः । अनूनर्द्धेर्महासमृद्धेस्तस्य दशरथस्य किञ्चिदूनमीषन्न्यूनं शरदां वत्सराणाम् । 'स्याद्दतौ वत्सरे शरत्' इत्यमरः । अयुतं दशसहस्रं ययौ । "एकदशशतसहस्राण्ययुतं लक्षं तथा प्रयुतम् । कोट्यर्बुदं च पद्मं स्थानात्स्थानं दशगुणं स्यात्" ॥ इत्यार्यभट्टः । इदं च मुनिशापात्परं वेदितव्यं न तु जननात् । "षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक । दुःखेनोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि" ॥ इति रामायणविरोधात् । नाप्यभिषेकात्परं तस्यापि 'सम्यग्विनीतमथ वर्महरं कुमारमादिश्य रक्षणविधौ विधिवत्प्रजानाम्' (८।९४) इति कौमारानुष्ठितत्वाभिधानात्स एव विरोध इति ॥ १ ॥

आनन्ददात्री रामनामकथासुधा चाहूं सदा ।
पीकर जिसे सज्जन हटाते नित्य ही पापापदा ॥

इन्द्रके समान तेजस्वी, पृथ्वीको शासन करते हुए पूर्ण समृद्धिशाली उस दशरथको कुछ कम दश सहस्र वर्ष बीत गये ॥ १ ॥

न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम् ।
सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोपहम् ॥ २ ॥

नेति । स दशरथः पूर्वेषां पितॄणामृणनिर्मोक्षसाधनम् "एष वा अनृणो यः पुत्री" इति श्रुतेः । पितॄणामृणविमुक्तिकारणम् । सद्यः शोक एव तमस्तदपहन्तीति शोकतमोपहम् । अत्राभयकर इतिवदुपपदेऽपि तदन्तविधिमाश्रित्य "अपे क्लेशतमसोः" इति डप्रत्ययः । सुताभिधानं सुताख्यं ज्योतिर्नोपलेभे न प्राप च ॥ २ ॥

(किन्तु) उन्होंने पूर्वजोंके ऋणसे मुक्त करनेका साधन, शोकरूपी अन्धकारका नाशक पुत्ररूप प्रकाशको नहीं प्राप्त किया ॥ २ ॥

अतिष्ठत्प्रत्ययापेक्षसन्ततिः स चिरं नृपः ।
प्राङ्मन्थादनभिव्यक्तरत्नोत्पत्तिरिवार्णवः ॥ ३ ॥

अतिष्ठदिति । प्रत्ययं हेतुमपेक्षत इति प्रत्ययापेक्षा सन्ततिर्यस्य स तथोक्तः ।

'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः। स नृपः मन्थात्प्राक् मन्थनात्पूर्वमनभिव्यक्ताऽदृष्टा रत्नोत्पत्तिर्यस्य सोऽर्णव इव। चिरमतिष्ठत्। सामग्र्यभावाद्विलम्बो न तु वन्ध्यत्वादिति भावः ॥ ३ ॥

कारणकी अपेक्षा करनेवाली सन्तानवाले वे राजा (दशरथ) मन्थनके पहले अदृष्ट रत्नोत्पत्तिवाले समुद्रके समान बहुत कालतक रहे। (भीतरमें रत्नोंके रहनेपर भी मन्थनके पहले जिस प्रकार समुद्रके रत्न नहीं दिखलायी पड़ते, उसी प्रकार कारण (पुत्रेष्टि यज्ञ) की अपेक्षा करनेवाली सन्तान भी राजाको नहीं प्राप्त हुई) ॥ ३ ॥

ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः।
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः ॥ ४ ॥

ऋष्येति। ऋष्यशृङ्गादयः। ऋष्यशृङ्गो नाम कश्चिदृषिः तदादयः ऋतुमृतौ वा यजन्तीत्यृत्विजो याज्ञिकाः। "ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च" इत्यनेन क्विन्नन्तो निपातः। जितात्मानो जितान्तःकरणाः सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः पुत्रार्थिनस्तस्य दशरथस्य पुत्रीयां पुत्रनिमित्ताम्। "पुत्राच्छ च" इति छप्रत्ययः। इष्टिं यागमारेभिरे प्रचक्रमिरे ॥ ४ ॥

उन (दशरथ) की सन्तानको चाहनेवाले, महात्मा एवं जितेन्द्रिय ऋष्यशृङ्ग आदि ऋत्विजोंने पुत्रेष्टि यज्ञ करना आरम्भ किया (अथवा—ऋष्य शृङ्ग आदि सज्जन ऋत्विजोंने सन्तानेच्छुक एवं जितेन्द्रिय उस राजाके पुत्रेष्टि यज्ञको करना आरम्भ किया) ॥ ४ ॥

तस्मिन्नवसरे देवाः पौलस्त्योपप्लुता हरिम्।
अभिजग्मुर्निदाघार्ताश्छायावृक्षमिवाध्वगाः ॥ ५ ॥

तस्मिन्निति। तस्मिन्नवसरे पुत्रकामेष्टिप्रवृत्तिसमये देवाः पुलस्त्यस्य गोत्रापत्यं पुमान्पौलस्त्यो रावणः तेनोपप्लुताः पीडिताः सन्तः। निदाघार्ता घर्मातुराः। अध्वानं गच्छन्तीत्यध्वगाः पान्थाः। "अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः" इति डप्रत्ययः। छायाप्रधानं वृक्षं छायावृक्षमिव। शाकपार्थिवादित्वात्समासः। हरिं विष्णुमभिजग्मुः ॥

उसी समय रावणसे पीडित देवतालोग विष्णु भगवान्के पास, छायावाले वृक्षके पास घामसे सन्तप्त पथिकोंके समान गये ॥ ५ ॥

ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः।
अव्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम् ॥ ६ ॥

ते इति। ते देवाश्चोदन्वन्तं समुद्रम् "उदन्वानुदधौ च" इति निपातः। प्रापुः। आदिपुरुषो विष्णुश्च बुबुधे। योगनिद्रां जहावित्यर्थः। गमनप्रतिबोधयोरविलम्बार्थौ चकारौ। तथाहि। अव्याक्षेपो गम्यस्याव्यासङ्गः। अविलम्ब इति यावत्।

भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्लक्षणं लिङ्गं हि । उक्तं च—"अनन्यपरता चास्य कार्यसिद्धेस्तु लक्षणम्" ॥ इति ॥ ६ ॥

वे लोग समुद्रको गये और आदि पुरुष भगवान् विष्णु जगे (योग निद्रा छोड़े), क्योंकि विलम्ब नहीं होना पूर्ण होनेवाले कार्य की सिद्धिका शुभ लक्षण होता है ॥ ६ ॥

भोगिभोगासनासीनं ददृशुस्तं दिवौकसः ।
तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहम् ॥ ७ ॥

भोगीति । द्यौरोको येषां ते दिवौकसो देवाः । पृषोदरादित्वात्साधुः । यद्वा दिवशब्दोऽदन्तोऽप्यस्ति । तथा च बुद्धचरिते—"न शोभते तेन हि नो विना पुरं मरुत्वता वृत्रवधे यथा दिवम्" इति । तत्र "दिवु क्रीडादौ" इति धातोः "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति कः । दिवमोक एषामिति विग्रहः । भोगिनः शेषस्य भोगः शरीरम् । 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः । स एवासनं सिंहासनम् । तत्रासीनमुपविष्टम् । आसेः शानच् । "ईदासः" इतीकारादेशः । तस्य भोगिनः फणामण्डले य उदर्चिष उद्गरश्मयो मणयस्तैर्द्योतितविग्रहं तं विष्णुं ददृशुः ॥ ७ ॥

देवताओंने सर्प (शेषनाग) के शरीरपर बैठे हुए तथा उसके फणा-समूहकी चमकती हुई मणियोंसे प्रकाशमान शरीरवाले उन (विष्णु भगवान्) को देखा ॥ ७ ॥

श्रियः पद्मनिषण्णायाः क्षौमान्तरितमेखले ।
अङ्के निक्षिप्तचरणमास्तीर्णकरपल्लवे ॥ ८ ॥

श्रिय इति । कीदृशं विष्णुम्, पद्मे निषण्णाया उपविष्टायाः श्रियः क्षौमान्तरिता दुकूलव्यवहिता मेखला यस्य तस्मिन् । आस्तीर्णौ करपल्लवौ पाणिपल्लवौ यस्मिन् । विशेषणद्वयेनापि चरणयोः सौकुमार्यात्कटिमेखलास्पर्शासहत्वं सूच्यते । तस्मिन्नङ्के निक्षिप्तौ चरणौ येन तम् ॥ ८ ॥

कमलपर बैठी हुई लक्ष्मीके रेशमी वस्त्रसे ढकी हुई करधनीवाले अङ्कमें फैलाये हुए पल्लवोपम हाथमें पैरको रक्खे हुए (विष्णु भगवान्को देखा) ॥ ८ ॥

प्रबुद्धपुण्डरीकाक्षं बालातपनिभांशुकम् ।
दिवसं शारदमिव प्रारम्भसुखदर्शनम् ॥ ९ ॥

प्रबुद्धेति । पुनः कीदृशम् । प्रबुद्धे विकसिते पुण्डरीके सिताम्भोजे इवाक्षिणी यस्य तम् । दिवसे तु पुण्डरीकमेवाक्षि यस्येति विग्रहः । बालातपनिभमंशुकं यस्य तं, पीताम्बरधरमित्यर्थः । अन्यत्र बालातपव्याजांशुकमित्यर्थः । 'निभो व्याजसदृशयोः' इति विश्वः । प्रकृष्ट आरम्भो योगो येषां ते प्रारम्भाः योगिनः । तेषां

सुखदर्शनम् । अन्यत्र प्रारम्भ आदौ सुखदर्शनं शारदं शरत्सम्बन्धिनं दिवसमिव स्थितम् ॥ ९ ॥

खिले हुए श्वेत कमलके समान नेत्रवाले, प्रातःकालके धूपके समान वस्त्र (पीताम्बर) वाले और योगियोंके सुखकारक दर्शनवाले (दिन पक्षमें—पहले सुखद अर्थात् देखनेमें सुन्दर शरद् ऋतुके दिनके समान (विष्णु भगवान्‌को देखा) ॥ ९ ॥

प्रभानुलिप्तश्रीवत्सं लक्ष्मीविभ्रमदर्पणम् ।
कौस्तुभाख्यमपां सारं बिभ्राणं बृहतोरसा ॥ १० ॥

प्रभेति । पुनः किंविधम् । प्रभयाऽनुलिप्तमनुरञ्जितं श्रीवत्सं नाम लाञ्छनं येन तम् । लक्ष्म्या विभ्रमदर्पणः कौस्तुभ इत्याख्या यस्य तम् । अपां समुद्राणां सारं स्थिरांशम् । अम्मयमणिमित्यर्थः । बृहतोरसा विशालवक्षःस्थलेन बिभ्राणम् ॥ १० ॥

प्रभासे श्रीवत्स (हृदयस्थ चिह्न–विशेष) को रञ्जित करनेवाले, लक्ष्मीके विलासका दर्पणरूप, (समुद्र)–जलके सार कौस्तुभ (मणि) को विशाल छातीमें धारण करते हुए (विष्णु भगवान्‌को देखा) ॥ १० ॥

बाहुभिर्विटपाकारैर्दिव्याभरणभूषितैः ।
आविर्भूतमपां मध्ये पारिजातमिवापरम् ॥ ११ ॥

बाहुभिरिति । विटपाकारैः दीर्घपीवरैरित्यर्थः । दिव्याभरणभूषितैर्बाहुभिरुपलक्षितम् । अत एवापां सैन्धवानां मध्ये आविर्भूतमपरं द्वितीयं पारिजातमिव स्थितम् ॥ ११ ॥

शाखाओंके तुल्य (बड़े २) और दिव्य आभरणोंसे अलङ्कृत बाहुओंसे जलके बीचमें उत्पन्न दूसरे पारिजात (वृक्ष) के समान (स्थित, विष्णु भगवान्‌को देखा) ॥ ११ ॥

दैत्यस्त्रीगण्डलेखानां मदरागविलोपिभिः ।
हेतिभिश्चेतनावद्भिरुदीरितजयस्वनम् ॥ १२ ॥

दैत्येति । दैत्यस्त्रीगण्डलेखानामसुराङ्गनागण्डस्थलीनां यो मदरागस्तं विलुम्पन्ति हरन्तीति मदरागविलोपिनः तैश्चेतनावद्भिः सजीवैर्हेतिभिः सुदर्शनादिभिः शस्त्रैः । 'रवेरर्चिश्च शस्त्रं च वह्निज्वाला च हेतयः' इत्यमरः । उदीरितजयस्वनं जयशब्दमुद्घोषयन्तीभिर्मूर्तिमतीभिरस्त्रदेवताभिरुपास्यमानमित्यर्थः ॥ १२ ॥

दैत्योंकी स्त्रियोंके कपोल–मण्डलके मदराग (चन्दनादिरचित मकरिका–पत्रादि) को नष्ट करनेवाले सजीव शस्त्रों ('नन्दक' तलवार, 'सुदर्शन' चक्र तथा 'कौमोदकी' गदा और 'शार्ङ्ग' धनुष आदि मूर्तिमान् अस्त्राधिष्ठात्री देवताओं) से जय–जयकार मनाये जाते हुए (विष्णु भगवान्‌को देखा) ॥ १२ ॥

मुक्तशेषविरोधेन कुलिशव्रणलक्ष्मणा ।
उपस्थितं प्राञ्जलिना विनीतेन गरुत्मता ॥ १३ ॥

मुक्तेति। मुक्तो भगवत्सन्निधानात्त्यक्तः शेषेणाहीश्वरेण सह विरोधः सहजमपि वैरं येन तेन। कुलिशव्रणा वज्रव्रणा अमृताहरणकाल इन्द्रयुद्धे ये वज्रप्रहारास्त एव लक्ष्माणि यस्य स तेन। प्रबद्धोऽञ्जलिर्येन तेन प्राञ्जलिना, प्रबद्धाञ्जलिनेत्यर्थः। विनीतेनानुद्धतेन गरुत्मतोपस्थितमुपासितम्। पुरा किल मातलिप्रार्थितेन भगवता तद्दुहितुर्गुणकेश्याः पत्युः कस्यचित्सर्पस्य गरुडाद्भयदाने कृते स्वविपक्षरक्षणक्षुभितं पक्षिराजं स्वद्धोढाहं त्वत्तो बलाढ्य इति गर्वितं स्ववामतर्जनीभारेणैव भङ्क्त्वा भगवान्विनिनायेति महाभारतीयां कथां सूचयति विनीतेनेत्यनेन ॥ १३ ॥

शेष (सर्पराज) के साथ वैरको छोड़े हुए, वज्रके घावोंके चिह्नोंसे युक्त, हाथ जोड़े हुए तथा शिक्षित अर्थात् शासित गरुडसे सेवित (विष्णु भगवान्को देखा) ॥ १३ ॥

पौराणिकी कथा— (१) एक समय गरुडकी माता 'विनता'को नागोंकी माता 'कद्रू'से होड़ लगनेपर हारकर उसकी दासी बनना पड़ा। फिर उसे (अपनी माता 'विनता'को) 'कद्रू'की दासीत्वसे छुड़ानेके लिये गरुड स्वर्गसे अमृत लाने लगे तो इन्द्रने वज्रसे उनपर प्रहार किये, उसीके चिह्न गरुडके शरीरपर अब तक बने थे।

(२) इन्द्र-सारथि मातलिके प्रार्थना करनेपर विष्णु भगवान्ने मातलिकी गुणकेशी नामकी पुत्रीके पति किसी नागको गरुडके भयसे मुक्तकर दिया। अपने शत्रुके प्रति इस प्रकार पक्षपात करते हुए भगवान् विष्णुको जानकर गरुड उनका ढोने (उनके भारको सहन करने) से अपनेको विष्णु भगवान्से भी बली मानकर अभिमान करने लगे, उनके इस अभिमानको अन्तर्यामी भगवान् विष्णुने अपने वाम हाथकी तर्जनीके भारसे नष्टकर उन्हें विनीत कर दिया।

योगनिद्रान्तविशदैः पावनैरवलोकनैः ।
भृग्वादीननुगृह्णन्तं सौखशायनिकानृषीन् ॥ १४ ॥

योगेति। योगो मनसो विषयान्तरव्यावृत्तिः, तद्रूपा या निद्रा तस्या अन्तेऽवसाने विशदैः प्रसन्नैः पावनैः शोधनैरवलोकनैः सुखशयनं पृच्छन्तीति सौखशायनिकास्तान्। "पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः" इत्युपसंख्यानाट्ठक्प्रत्ययः। भृग्वादीनृषीननुगृह्णन्तम् ॥ १४ ॥

योगनिद्राके बादमें (जगने से) निर्मल और पवित्र दृष्टि से, सुखपूर्वक सोनेका कुशल पूछनेके लिये आये हुए भृगु आदि ऋषियोंको अनुगृहीत करते हुए (विष्णु भगवान्को देखा) ॥ १४ ॥

प्रणिपत्य सुरास्तस्मै शमयित्रे सुरद्विषाम्।
अथैनं तुष्टुवुः स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥ १५ ॥

प्रणिपत्येति। अथ दर्शनानन्तरं सुराः सुरद्विषामसुराणां शमयित्रे विनाशकाय तस्मै विष्णवे प्रणिपत्य स्तुत्यं स्तोत्रार्हम्। "एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्" इति क्यप्-प्रत्ययः। वाक्च मनश्च वाङ्मनसे। "अचतुर—" इत्यच्प्रत्ययान्तो निपातः। तयोर्गोचरो विषयो न भवतीत्यवाङ्मनसगोचरः। यदाह—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इति श्रुतेः। तमेनं विष्णुं तुष्टुवुरस्तुवन् ॥ १५ ॥

इसके बाद देवतालोग राक्षसोंको मारनेवाले उन (विष्णु भगवान्) के लिये नमस्कार-कर स्तुतिके योग्य तथा वचन और मनके अगोचर इन (विष्णु भगवान्) की स्तुति करने लगे—॥ १५ ॥

नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने ॥ १६ ॥

नम इति। पूर्वमादौ विश्वसृजे विश्वस्रष्ट्रे "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इति श्रुतेः। तदनु सर्गानन्तरं विश्वं बिभ्रते पुष्णते। अथ विश्वस्य संहर्त्रे। एवं त्रेधा सृष्टिस्थितिसंहारकर्तृत्वेन स्थित आत्मा स्वरूपं यस्य तस्मै। ब्रह्मविष्णुहरात्मने तुभ्यं नमः ॥ १६ ॥

पहले संसारकी सृष्टि करनेवाले, उसके बाद संसारका पालन करते हुए, फिर संसारका संहार करनेवाले—इस प्रकार तीन प्रकार (ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूपमें) अपनेको विभक्त करनेवाले तुमको नमस्कार है ॥ १६ ॥

ननु कूटस्थस्य कथं त्रैरूप्यमित्याशङ्क्यौपाधिकमित्याह—

रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते।
देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः ॥ १७ ॥

रसान्तराणीति। एकरसं मधुरैकरसं दिवि भवं दिव्यं पयो वर्षोदकं देशे देशे ऊषरादिदेशेऽन्यान्रसान्रसान्तराणि लवणादीनि यथाश्नुते प्राप्नोति। एवमविक्रियो निर्विकारः, एकरूप इत्यर्थः। त्वं गुणेषु सत्त्वादिष्ववस्थाः स्रष्टृत्वादिरूपा अश्नुषे ॥१७॥

एक रस (सर्वदा मधुर रसवाला) वर्षाका जल प्रत्येक स्थानोंमें अन्य (लवणादि) रसोंको जिस प्रकार प्राप्त करता है, उसी प्रकार विकाररहित तुम भी (सत्त्वादि) गुणोंमें (सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता और नाशकर्ता रूप) विविध अवस्थाओंको प्राप्त करते हो ॥ १७ ॥

अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः।
अजितो जिष्णुरत्यन्तमव्यक्तो व्यक्तकारणम् ॥ १८ ॥

अमेय इति। हे देव! त्वममेयो लोकैरियत्तया न परिच्छेद्यः। मितलोकः परिच्छिन्नलोकः। अनर्थी निःस्पृहः। आवहतीत्यावहः। पचाद्यच्। प्रार्थनानामावहः कामदः। अजितोऽन्यैर्न जितः। जिष्णुर्जयशीलः। अत्यन्तमव्यक्तोऽतिसूक्ष्मरूपः। व्यक्तस्य स्थूलरूपस्य कारणम्॥ १८॥

(हे भगवन्!) तुम अमेय (इतना प्रमाण है यह निश्चित न करने योग्य), संसारके प्रमाणको करनेवाले, निःस्पृह, दूसरोंकी याचनाको पूर्ण करनेवाले, दूसरेसे नहीं जीते गये, (स्वयं) विजयी, अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूपवाले और स्थूलरूप संसारके कारण हो॥ १८॥

हृदयस्थमनासन्नमकामं त्वां तपस्विनम्।
दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः॥ १९॥

हृदयस्थमिति। हे देव! त्वां हृदयस्थं सर्वान्तर्यामितया नित्यसन्निहितं तथाप्यनासन्नमगम्यरूपत्वाद्विप्रकृष्टं च विदुः। सन्निकृष्टस्यापि विप्रकृष्टत्वमिति विरोधः। तथाऽकामं न कामोऽभिलाषोऽस्य तं परिपूर्णत्वान्निःस्पृहत्वाच्च निष्कामम्। तथापि तपस्विनं प्रशस्ततपोयुक्तं विदुः। यो निष्कामः स कथं तपः कुरुत इति विरोधः। परिहारस्तु ऋषिरूपेण दुस्तरं तपस्तप्यते। दयालुं परदुःखप्रहरणपरं तथाप्यनघस्पृष्टं नित्यानन्दस्वरूपत्वाददुःखिनं विदुः। 'अघं दुरितदुःखयोः' इति विश्वः। दयालुरदुःखी चेति विरोध। "ईर्ष्यी घृणी त्वसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः। परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः"॥ इति महाभारते। पुराणमनादिमजरं निर्विकारत्वादक्षरं विदुः। चिरन्तनं न जीर्यत इति विरोधालङ्कारः। उक्तं च—"आभासत्वे विरोधस्य विरोधालङ्कृतिर्मता" इति। विरोधेन चालौकिकमहिमत्वं व्यज्यते॥ १९॥

(हे भगवन्! ऋषिलोग) तुमको अत्यन्त निकटमें रहनेवाले (होनेपर भी) दूरमें रहनेवाला, (परिपूर्ण एवं निस्स्पृह होनेसे) निष्काम (होनेपर भी) तपस्या करनेवाला, दयालु (दूसरोंके दुःखसे दुःखित होकर दया करनेवाला—होकर भी) दुःखसे अछूता (वर्जित) प्राचीन अर्थात् अनादि (होनेपर भी) जरारहित जानते हैं॥ १९॥

सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः।
सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक्॥ २०॥

सर्वज्ञ इति। त्वं सर्वं जानासीति सर्वज्ञः। "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति कप्रत्ययः। अविज्ञातः, न केनापि विज्ञात इत्यर्थः। त्वं सर्वस्य योनिः कारणं त्वमात्मन एव भवतीत्यात्मभूः स्वयम्भूः, न ते किञ्चित्कारणमस्तीत्यर्थः। त्वं सर्वस्य प्रभुः त्वमनीशः त्वमेकः सर्वरूपभाक्। त्वमेक एव सर्वात्मना वर्तस इत्यर्थः॥ २०॥

(हे भगवन्!) तुम सर्वज्ञ हो, तुमको कोई (पूर्णरूपसे) नहीं जानता, तुम सबके कारण (उत्पन्न करनेवाले) हो, स्वयं उत्पन्न होनेवाले हो (तुम्हें किसीने उत्पन्न नहीं

किया है), तुम सबके स्वामी हो, तुम्हारा कोई स्वामी नहीं है और तुम एक (अद्वितीय) हो, (तथापि) सबमें रहनेवाले हो ॥ २० ॥

सप्तसामोपगीतं त्वां सप्तार्णवजलेशयम् ।
सप्तार्चिर्मुखमाचख्युः सप्तलोकैकसंश्रयम् ॥ २१ ॥

सप्तेति । हे देव ! त्वां सप्तभिः सामभी रथन्तरबृहद्रथन्तरवामदेव्यवैरूप्यपावमान्यवैराजचान्द्रमसैरुपगीतम् "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इत्युत्तरपदसमासः । सप्ता[1]नामर्णवानां जलं सप्तार्णवजलम् । पूर्ववत्समासः । तत्र शेते यः स सप्तार्णवजलेशयः तम् । "शयवासवासिष्वकालात्" इत्यलुक् । सप्तार्चिर्मुखं[2] यस्य तम् "अग्निमुखा वै देवाः" इति श्रुतेः । सप्तानां[3] लोकानां भूर्भुवःस्वरादीनामेकसंश्रयम् एवं भूतमाचख्युः ॥ २१ ॥

(हे भगवन् ! विद्वान् लोग) तुमको सात (सातों रथन्तर आदि मंत्रों) से स्तुत, सातों समुद्रोंके जलमें सोनेवाला, सात ज्वालावाली (अग्नि) है मुख जिसका ऐसा, सात लोक (भूर्, भुवः, स्वर्ग, मह , जन, तप और सत्य लोक) का मुख्य आश्रय कहते हैं ॥ २१ ॥

चतुर्वर्गफलं ज्ञानं कालावस्थाश्चतुर्युगाः ।
चतुर्वर्णमयो लोकस्त्वत्तः सर्वं चतुर्मुखात् ॥ २२ ॥

चतुर्वर्गफलमिति । चतुर्णां धर्मार्थकाममोक्षाणां वर्गश्चतुर्वर्गः । 'त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः' इत्यमरः । तत्फलकं यज्ज्ञानम् । चत्वारि युगानि कृतत्रेतादीनि यासु ताश्चतुर्युगाः कालावस्थाः कालपरिमाणम् । चत्वारो वर्णाः प्रकृता उच्यन्ते यस्मिन्निति चतुर्वर्णमयः, चातुर्वर्ण्यप्रचुर इत्यर्थः । तत्प्रकृतवचने मयट् । "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इत्यनेन तद्धितार्थे विषये तत्पुरुषः । स लोकः इत्येवंरूपं सर्वं चतुर्मुखाच्चतुर्मुखरूपिणस्त्वत्तः, जातमिति शेषः । "इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च" इति श्रुतेः ॥ २२ ॥

(हे भगवन् !) चतुर्वर्ग (अर्थ, धर्म, काम और मोक्षरूप चार पुरुषार्थों) का फल ज्ञान, चार युग (सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि)—समयका परिमाणस्वरूप, चार वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) वाला संसार चतुर्मुख तुमसे ही हुआ है अर्थात् सबके कारण तुम्ही हो ॥ २२ ॥

---

१. "लवणक्षीरदध्याज्यसुरेक्षुस्वादुवारयः ।" इति (अभिधानचिन्तामणिः ४।१४१) ।

२. "कराली धूमिनी श्वेता लोहिता नीललोहिता ।
सुवर्णा पद्मरागा च सप्त जिह्वा विभावसोः ॥ " इति (वाचस्पत्याभिधानम्) ।

३. "भूर्भुवःस्वर्जनमहस्तपःसत्यम्' इति सप्त लोकाः ।

अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम् ।
ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये ॥ २३ ॥

अभ्यासेति । अभ्यासेन निगृहीतं विषयान्तरेभ्यो निवर्तितम् । तेन मनसा योगिनो हृदयाश्रयं हृत्पद्मस्थं ज्योतिर्मयं त्वां विमुक्तये मोक्षार्थं विचिन्वन्त्यन्विष्यन्ति ध्यायन्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥

योगीलोग अभ्याससे वशमें किये गये मनसे हृदयमें रहनेवाले प्रकाशस्वरूप तुमको मुक्तिके लिये ढूंढ़ते (ध्यान करते) हैं ॥ २३ ॥

अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः ।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥ २४ ॥

अजस्येति । न जायत इत्यजः । "अन्येष्वपि दृश्यते" इति डप्रत्ययः । तस्याजस्य जन्मशून्यस्यापि जन्म गृह्णतः । मत्स्यादिरूपेण जायमानस्य । निरीहस्य चेष्टारहितस्यापि हतद्विषः शत्रुघातिनो जागरूकस्य सर्वसाक्षितया नित्यप्रबुद्धस्यापि स्वपतो योगनिद्रामनुभवतः । इत्थं विरुद्धचेष्टस्य तव याथार्थ्यं को वेद वेत्ति । "विदो लटो वा" इति णलादेशः ॥ २४ ॥

अज (उत्पन्न नहीं होनेवाले) होनेपर भी जन्मको ग्रहण करते हुए, निश्चेष्ट होकर भी शत्रुओंको मारनेवाले, जागरूक (सर्वद्रष्टा होनेसे नित्य जागते हुए भी) सोते (योगनिद्राको प्राप्त किये) हुए तुम्हारी वास्तविकताको कौन जानता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ २४ ॥

शब्दादीन्विषयान्भोक्तुं चरितुं दुश्चरं तपः ।
पर्याप्तोऽसि प्रजाः पातुमौदासीन्येन वर्तितुम् ॥ २५ ॥

शब्दादीनिति । किञ्च, कृष्णादिरूपेण शब्दादीन्विषयान्भोक्तुम् । नरनारायणादिरूपेण दुश्चरं तपश्चरितुम् । तथा दैत्यमर्दनेन प्रजाः पातुम् । औदासीन्येन ताटस्थ्येन वर्तितुं च पर्याप्तः समर्थोऽसि । तथा भोगतपसोः पालनौदासीन्ययोश्च परस्परविरुद्धयोराचरणे त्वदन्यः कः समर्थ इत्यर्थः ॥ २५ ॥

(हे भगवन् ! तुम कृष्ण–राम आदि अवतारोंको धारण कर) शब्द आदि (रूप, रस, गन्ध आदि) विषयोंको भोगनेके लिये, (नर तथा नारायणका रूप धारणकर) कठिन तप करनेके लिये, (असुरोंका संहार करनेसे) प्रजाओंकी रक्षा करनेके लिये तथा (संलग्न रहते हुए भी) उदासीन (सृष्टिके पालन और संहारसे निरपेक्ष) रहनेके लिये समर्थ हो ॥ २५ ॥

बहुधाऽप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥ २६ ॥

बहुधेति । आगमैस्त्रयीसांख्यादिभिर्दर्शनैर्बहुधा भिन्ना अपि सिद्धिहेतवः पुरुषार्थ-साधकाः पन्थान उपाया जाह्नव्या इमे जाह्नवीया गाङ्गाः । "वृद्धाच्छः" इति छप्रत्ययः । ओघाः प्रवाहाः तेऽप्यागमैरागतिभिर्बहुधा भिन्नाः सिद्धिहेतवश्च, अर्णव इव त्वय्येव निपतन्ति प्रविशन्ति । येन केनापि रूपेण त्वामेवोपयान्तीत्यर्थः । यथाहुराचार्याः-"किं बहुना कारवोऽपि विश्वकर्मेत्युपासते" इति ॥ २६ ॥

(सांख्य, मीमांसा, द्वैत वेदान्तादि) शास्त्रोंसे अनेक प्रकारसे भिन्न भी सिद्धिके कारणभूत सब मार्ग (उपाय) समुद्रमें गङ्गाके प्रवाहोंके समान तुममें ही प्रवेश करते हैं ॥ २६ ॥

त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम् ।
गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयः संनिवृत्तये ॥ २७ ॥

त्वयीति । त्वय्यावेशितं निवेशितं चित्तं यैस्तेषां तुभ्यं समर्पितानि कर्माणि यैस्तेषां "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु । मामेवैष्यसि कौन्तेय प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥" इति भगवद्वचनात् । वीतरागाणां विरक्तानामभूयःसंनिवृत्तयेऽपुनरावृत्तये मोक्षायेत्यर्थः । त्वमेव गतिः साधनम् । "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति । नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इति श्रुतेरित्यर्थः ॥ २७ ॥

तुममें चित्त लगाये हुए, तुममें सब कर्मोंका समर्पण करनेवाले विरक्त (योगियों) की मुक्तिके लिये तुम्हीं गति हो ॥ २७ ॥

प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव ।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा ॥ २८ ॥

प्रत्यक्ष इति । प्रत्यक्षः प्रत्यक्षप्रमाणगम्योऽपि तव मह्यादिः पृथिव्यादिर्महिमा ऐश्वर्यमपरिच्छेद्यः इयत्तया नावधार्यः । आप्तवाग्वेदः । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिश्रुतेः । अनुमानं-क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद्घटवदित्यादिकं ताभ्यां साध्यं गम्यं त्वां प्रति का कथा प्रत्यक्षमपि त्वत्कृतं जगदपरिच्छेद्यम् । तत्कारणमप्रत्यक्षस्त्वमपरिच्छेद्य इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ॥ २८ ॥

प्रत्यक्ष भी तुम्हारे पृथ्वी आदि ऐश्वर्यका प्रमाण नहीं किया जा सकता (इतने प्रमाण वाले हैं, यह नहीं कहा जा सकता) आप्त (वेद या यथार्थवादी योगी आदि) के वचन तथा अनुमानसे प्राप्त होने योग्य तुम्हारे प्रति क्या कहना है ? । (जब प्रत्यक्ष में देखे जाते हुए भी तुम्हारे उत्पादित पृथ्वी आदि रूप महिमाका प्रमाण नहीं किया जा सकता, तब उनके कारणभूत तुम्हारा प्रमाण करनेकी क्या बात है ? अर्थात् उसका प्रमाण करना तो सर्वथा अशक्य ही है) ॥ २८ ॥

केवलं स्मरणेनैव पुनासि पुरुषं यतः ।
अनेन वृत्तयः शेषा निवेदितफलास्त्वयि ॥ २९ ॥

केवलमिति । स्मरणेन केवलं कृत्स्नम् । 'केवलः कृत्स्नमेकश्च' इति शाश्वतः । पुरुषं स्मर्तारं जनं पुनासि यतः, यदित्यर्थः । अनेन स्मृतिकार्येणैव त्वयि त्वद्विषये याः शेषाः अवशिष्टा वृत्तयो दर्शनस्पर्शनादयो व्यापारास्ता निवेदितफला विज्ञापितकार्याः । तव स्मरणस्यैवैतत्फलं दर्शनादीनां तु कियदिति नावधारयाम इति भावः ॥ २९ ॥

(तुम) स्मरणमात्रसे ही पुरुषको जो पवित्र करते हो, इस स्मरण कार्यसे तुम्हारे विषयमें शेष (दर्शन, पूजन आदि) व्यापार विज्ञापित कार्यवाले हैं । (जब तुम्हारे दर्शनमात्रका इतना बड़ा फल है, तब दर्शनपूजन आदि करनेवाले व्यक्तिके फलका निश्चय कौन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं) ॥ २९ ॥

उदधेरिव रत्नानि तेजांसीव विवस्वतः ।
स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानि ते ॥ ३० ॥

उदधेरिति । उदधेरुदकं धीयते इति उदधिस्तस्य रत्नानीव । विवस्वतस्तेजांसीव । दूराण्यवाङ्मनसगोचराणि ते चरितानि स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते । निःशेषं स्तोतुं न शक्यन्त इत्यर्थः ॥ ३० ॥

समुद्रके रत्नों तथा सूर्यके तेजोंके समान आपके चरित स्तुतियोंसे अत्यधिक हैं अर्थात् जिस प्रकार समुद्रके रत्नों तथा सूर्यके किरणोंका कोई अन्त नहीं पा सकता, उसी प्रकार आपके चरितोंकी स्तुतिका अन्ततक वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ३० ॥

अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किञ्चन विद्यते ।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः ॥ ३१ ॥

अनवाप्तमिति । अनवाप्तमप्राप्तम् अवाप्तव्यं प्राप्तव्यं ते तव किञ्चन किञ्चिदपि न विद्यते, नित्यपरिपूर्णत्वादिति भावः । तर्हि किंनिबन्धने जन्मकर्मणी तत्राह—लोकेति । एको लोकानुग्रह एव ते तव जन्मकर्मणोर्हेतुः । परमकारुणिकस्य ते परार्थैव प्रवृत्तिः न स्वार्थेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

तुम्हें कोई वस्तु अप्राप्त या अप्राप्तव्य (नहीं पा सकने योग्य) नहीं है, किन्तु लोकपर एकमात्र कृपा ही तुम्हारे जन्म तथा कर्मका कारण है । (सब कुछ तुम लोकोपकारके लिये ही करते हो, अपने लिये तुम्हें किसीकी आवश्यकता नहीं है) ॥ ३१ ॥

महिमानं यदुत्कीर्त्य तव संह्रियते वचः ।
श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया ॥ ३२ ॥

महिमानमिति । तव महिमानमुत्कीर्त्य वचः संह्रियत इति यत् । तद्वचःसंहरणं श्रमेण वाग्व्यापारश्रान्त्या । अशक्तया कार्त्स्न्येन वक्तुमशक्यत्वाद्वा । गुणानामियत्तया इदं परिमाणमस्य इयान् तस्य भावः इयत्ता तया एतावन्मात्रतया न, तेषामानन्त्यादिति भावः ॥ ३२ ॥

तुम्हारे महिमाका वर्णनकर जो (हमलोग) अपनी बात समाप्त करते हैं, वह श्रमसे अथवा अधिक कहनेमें असामर्थ्य होनेसे करते हैं। तुम्हारे गुणोंके इतने ही होनेसे अपनी बात समाप्त नहीं कर रहे हैं ॥ ३२ ॥

इति प्रसादयामासुस्ते सुरास्तमधोक्षजम् ।
भूतार्थव्याहृतिः सा हि न स्तुतिः परमेष्ठिनः ॥ ३३ ॥

इतीति । इति ते सुरास्तमधोभूतमक्षजमिन्द्रियजं ज्ञानं यस्मिंस्तमधोक्षजम् । विष्णुं प्रसादयामासुः प्रसन्नं चक्रुः । हि यस्मात्परमेष्ठिनः सर्वोत्तमस्य तस्य देवस्य सा देवैः कृता भूतार्थव्याहृतिर्भूतस्य सत्यस्यार्थस्य व्याहृतिरुक्तिः । 'युक्ते क्ष्मादावृते भूतम्' इत्यमरः । न स्तुतिर्न प्रशंसामात्रम् । महान्तो हि यथाकथञ्चिन्न सुलभा इति भावः । परमे स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी । "परमे कित्" इत्युणादिसूत्रेण तिष्ठतेरिनिः । "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अलुक् । "स्थास्थिन्स्थूणाम्–" इति वक्तव्यात्षत्वम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार (श्लो० १६—३२) उन देवताओंने उन विष्णुको प्रसन्न कर लिया, क्योंकि देवताओंकी वह उक्ति विष्णु भगवान्‌के (गुणोंका) वास्तविक कथन है, प्रशंसा नहीं ॥ ३३ ॥

तस्मै कुशलसम्प्रश्नव्यञ्जितप्रीतये सुराः ।
भयमप्रलयोद्वेलादाचख्युर्नैर्ऋतोदधेः ॥ ३४ ॥

तस्मा इति । सुरा देवाः कुशलस्य सम्प्रश्नेन व्यञ्जिता प्रकटीकृता प्रीतिर्यस्य तस्मै कथितप्रसादायेत्यर्थः । अन्यथा अनवसरविज्ञप्तिर्मुखराणामिव निष्फला स्यादिति भावः । तस्मै विष्णवेऽप्रलये प्रलयाभावेऽप्युद्वेलादुन्मर्यादात् । नैर्ऋतो राक्षसः स एवोदधिः । तस्माद्भयमाचख्युः कथितवन्तः ॥ ३४ ॥

देवताओंने कुशल–प्रश्नसे प्रसन्नताको प्रकट किये हुए उस विष्णु भगवान्‌से विना प्रलय कालके तटसे ऊपर आनेवाले (मर्यादा–भङ्ग करनेवाले) राक्षस (रावण) रूप समुद्रसे भयको बतलाया । ('रावणसे हमलोग पीडित हैं' ऐसा देवताओंने विष्णु भगवान्‌से कहा) ३४

अथ वेलासमासन्नशैलरन्ध्रानुनादिना ।
स्वरेणोवाच भगवान्परिभूतार्णवध्वनिः ॥ ३५ ॥

अथेति । अथ वेलायामब्धिकूले समासन्नानां सन्निकृष्टानां शैलानां रन्ध्रेषु

गह्वरेष्वनुनादिना प्रतिध्वनिमता स्वरेण परिभूतार्णवध्वनिस्तिरस्कृतसमुद्रघोषो भगवानुवाच ॥ ३५ ॥

इसके बाद विष्णु भगवान् (समुद्र-) तटके निकटवर्ती पर्वतोंकी कन्दराओंमें प्रतिध्वनित स्वरसे समुद्रके शब्दको तिरस्कृत करते हुए बोले ॥ ३५ ॥

पुराणस्य कवेस्तस्य वर्णस्थानसमीरिता ।
बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थैव भारती ॥ ३६ ॥

पुराणस्येति । पुराणस्य चिरन्तनस्य कवेस्तस्य भगवतो वर्णस्थानेषूरःकण्ठादिषु समीरिता सम्यगुच्चारिता । अत एव कृतः सम्पादितः संस्कारः साधुत्वस्पष्टतादिप्रयत्नो यस्याः सा भारती वाणी चरितार्था कृतार्था बभूवैव । एवकारस्त्वसम्भावनाविपरीतभावनाव्युदासार्थः ॥ ३६ ॥

प्राचीन कवि उस (विष्णु भगवान्) के अक्षरोंके स्थानों (कण्ठ तालु दन्त आदि) से यथावत् कही गयी (अत एव) संस्कार (साधुत्व, प्रयत्नकी स्पष्टता आदि) से युक्त वाणी चरितार्थ अर्थात् कृतार्थ ही हुई ॥ ३६ ॥

बभौ सदशनज्योत्स्ना सा विभोर्वदनोद्गता ।
निर्यातशेषा चरणाद्गङ्गेवोर्ध्वप्रवर्तिनी ॥ ३७ ॥

बभाविति । विभोर्विष्णोर्वदनादुद्गता निःसृता । सदशनज्योत्स्ना दन्तकान्तिसहिता । इदं च विशेषणं धावल्यातिशयार्थम् । अत एव सा भारती । चरणादङ्घ्रेर्निर्याता चासौ शेषा च निर्यातशेषा, निःसृतावशिष्टेत्यर्थः । "स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु" इत्यनुवर्त्य "पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु" इति पुंवद्भावः । निर्यातशब्दस्य या निर्याता सावशेषा सा गङ्गेवेति सामानाधिकरण्यनिर्वाहः । निर्यातायाः शेषेति विग्रहे पुंवद्भावो दुर्घट एव । उर्ध्वप्रवर्तिन्यूर्ध्ववाहिनी गङ्गेव बभौ इत्युत्प्रेक्षा ॥ ३७ ॥

सर्वसमर्थ (विष्णु भगवान्) के मुखसे निकली हुई तथा दाँतोंकी उज्ज्वलतासे युक्त वह वाणी चरणसे ऊपरकी प्रवाहित शेष निकली हुई गङ्गाके समान शोभित हुई ॥ ३७ ॥

यदाह भगवांस्तदाह—

जाने वो रक्षसाऽऽक्रान्तावनुभावपराक्रमौ ।
अङ्गिनां तमसेवोभौ गुणौ प्रथममध्यमौ ॥ ३८ ॥

जान इति । हे देवाः ! वो युष्माकमनुभावपराक्रमौ महिमपुरुषकारौ रक्षसा रावणेन । अङ्गिनां शरीरिणां प्रथममध्यमावुभौ गुणौ सत्त्वरजसी तमसेव तमोगुणेनेव । 'राहौ ध्वान्ते गुणे तमः' इत्यमरः । आक्रान्तौ जाने । वाक्यार्थः कर्म ॥ ३८ ॥

तुमलोगोंकी महिमा तथा पुरुषार्थ राक्षस (रावण) से, तमोगुणसे सत्त्वगुण तथा रजोगुणके समान (आक्रान्त है, यह) मैं जानता हूं ॥ ३८ ॥

विदितं तप्यमानं च तेन मे भुवनत्रयम् ।
अकामोपनतेनेव साधोर्हृदयमेनसा ॥ ३९ ॥

विदितमिव । किञ्च अकामेनानिच्छयोपनतेन प्रमादादागतेनैनसा पापेन साधोः सज्जनस्य हृदयमिव । तेन रक्षसा तप्यमानं सन्तप्यमानम् । तपेर्भावादिकात्कर्मणि शानच् । भुवनत्रयं च मे विदितम् । मया ज्ञायत इत्यर्थः । "मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च" इत्यनेन वर्तमाने क्तः । "क्तस्य च वर्तमाने" इति षष्ठी ॥ ३९ ॥

तथा विना इच्छाके उपस्थित पापसे सज्जनके हृदयके समान उस (रावण) से संतप्त होते हुए तीनों लोकोंको मैं जानता हूं ॥ ३९ ॥

कार्येषु चैककार्यत्वादभ्यर्थ्योऽस्मि न वज्रिणा ।
स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते ॥ ४० ॥

कार्येष्विति । किञ्च एककार्यत्वात् एकं कार्यं ययोस्तौ तयोर्भावः एककार्यत्वं तस्मादावयोरेककार्यकत्वाद्धेतोः । कार्येषु कर्तव्यार्थेषु विषयेषु वज्रिणेन्द्रेणाभ्यर्थ्यं इदं कुर्विति प्रार्थनीयो नास्मि । तथा हि । वातः स्वयमेवाग्नेः सारथ्यं साहाय्यं प्रतिपद्यते प्राप्नोति । न तु वह्निप्रार्थनया इत्येवकारार्थः । प्रेक्षावतां हि स्वार्थेषु स्वत एव प्रवृत्तिः, न तु परप्रार्थनया । स्वार्थश्चायं ममापीत्यर्थः ॥ ४० ॥

और एक काम (असुरसंहाररूप) होनेसे इन्द्रसे मैं प्रार्थनीय नहीं हूं अर्थात् मेरा तथा इन्द्रका कार्य एकमात्र असुरसंहार तथा शिष्टरक्षा आदि है, अतः इन्द्रको इस कार्यके लिये मुझसे प्रार्थना करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वायु स्वयमेव अग्निका सहायक बन जाती है (वैसे ही मैं स्वयं ही असुरसंहार-शिष्टरक्षणादि कार्यमें इन्द्रका सहायक बनूंगा)॥

पुरा किल त्रिपुरारिप्रीणनाय स्वशिरांसि छिन्दता दशकन्धरेण यद्दशमं शिरोऽवशेषितं तन्मच्चक्रार्थमित्याह—

स्वासिधारापरिहृतः कामं चक्रस्य तेन मे ।
स्थापितो दशमो मूर्धा लभ्यांश इव रक्षसा ॥ ४१ ॥

स्वेति । स्वासिधारया स्वस्य खड्गधारया परिहृतः, अच्छिन्न इत्यर्थः । दशमो मूर्धा मे मम चक्रस्य कामं पर्याप्तो लभ्यांशः प्राप्तव्यभाग इव तेन रक्षसा स्थापितः । तस्मात्सर्वथा तमहं हनिष्यामीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

अपनी तलवारकी धारसे नहीं काटे हुए दसवें मस्तकको मानो मेरे सुदर्शन चक्रके प्राप्त होने योग्य भागके समान उस राक्षस (रावण) ने रख छोड़ा है । (आशय यह है कि—

पहले रावण शिवके आराधनार्थ तलवारसे अपने नव मस्तकोंको काट २ कर हवन कर दिया और दसवें मस्तकको नहीं काटा, अतः उस दसवें मस्तकको मेरे सुदर्शन चक्रके भागरूपमें (हिस्सा) छोड़ दिया है अर्थात् मैं उस रावणके मस्तकको सुदर्शन चक्रसे अवश्य काटूंगा)४१

तर्हि किं प्रागुपेक्षितमत आह—

स्रष्टुर्वरातिसर्गात्तु मया तस्य दुरात्मनः ।
अत्यारूढं रिपोः सोढं चन्दनेनेव भोगिनः ॥ ४२ ॥

स्रष्टुरिति । किन्तु स्रष्टुर्ब्रह्मणो वरातिसर्गाद्वरदानाद्धेतोः । मया तस्य दुरात्मनो रिपो रावणस्यात्यारूढमत्यारोहणम्, अतिवृद्धिरित्यर्थः । नपुंसके भावे क्तः । भोगिनः सर्पस्यात्यारूढं चन्दनेनेव सोढम् । चन्दनद्रुमस्यापि तथा सहनं स्रष्टुर्नियतेरिति द्रष्टव्यम् ॥ ४२ ॥

मैने ब्रह्माके वर देनेके कारण उस दुष्ट शत्रु (रावण) की अतिसमृद्धिको, भाग्यके कारण सर्पकी समृद्धिको चन्दनके समान, सहन किया है ॥ ४२ ॥

सम्प्रति वरस्वरूपमाह—

धातारं तपसा प्रीतिं ययाचे स हि राक्षसः ।
दैवात्सर्गादवध्यत्वं मर्त्येष्वास्थापराङ्मुखः ॥ ४३ ॥

धातारमिति । स राक्षसस्तपसा प्रीतं सन्तुष्टं धातारं ब्रह्माणम् । मर्त्येषु विषये आस्थापराङ्मुख आदरविमुखः सन्, मर्त्याननादृत्येत्यर्थः । दैवादष्टविधात्सर्गाद्दैवसृष्टेरवध्यत्वं ययाचे हि ॥ ४३ ॥

क्योंकि मनुष्योंमें अनादर करते हुए उस राक्षस (रावण) ने तपस्यासे सन्तुष्ट ब्रह्मासे अष्टविध[1] देवताओंसे अपनी अवध्य होनेका वर मागा है ॥ ४३ ॥

तर्हि का गतिरित्याशङ्क्य मनुष्यावतारेण हनिष्यामीत्याह—

सोऽहं दाशरथिर्भूत्वा रणभूमेर्बलिक्षमम् ।
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैस्तच्छिरःकमलोच्चयम् ॥ ४४ ॥

स इति । सोऽहं । दशरथस्यापत्यं पुमान्दाशरथिः । "अत इञ्" इति इञ्प्रत्ययः ।

---

१. देवसर्गोऽष्टविधः श्रीमद्भागवतस्य दशमस्कन्धे उक्तस्तद्यथा—
"दैवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः ।
गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः ॥
भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः ।" इति ।

रामो भूत्वा तीक्ष्णैः शरैस्तस्य रावणस्य शिरांस्येव कमलानि तेषामुच्चयं राशिं रणभूमेर्बलिक्षमं पूजार्हं करिष्यामि । पुष्पविशदा हि पूजेति भावः ॥ ४४ ॥

वह मैं दशरथका पुत्र होकर उस (रावण) के मस्तकरूप कमलसमूहको तीक्ष्ण बाणोंसे युद्धभूमिके बलियोग्य करूंगा अर्थात् युद्धमें उसको मारूंगा ॥ ४४ ॥

अचिराद्यज्वभिर्भागं कल्पितं विधिवत्पुनः ।
मायाविभिरनालीढमादास्यध्वे निशाचरैः ॥ ४५ ॥

अचिरादिति । हे देवाः ! यज्वभिर्याज्ञिकैर्विधिवत्कल्पितमुपहृतं भागं हविर्भागं मायाविभिर्मायावद्भिः । "अस्मायामेधास्रजो विनिः" इति विनिप्रत्ययः । निशाचरै रक्षोभिरनालीढमनास्वादितं यथा तथाऽचिरात्पुनरादास्यध्वे ग्रहीष्यध्वे ॥ ४५ ॥

यज्ञ कर्ताओंसे विधिपूर्वक दिये गये भाग (अपने २ हिस्से) को, राक्षसोंसे बिना आस्वादन किये ही (तुमलोग) शीघ्र ही प्राप्त करोगे ॥ ४५ ॥

वैमानिकाः पुण्यकृतस्त्यजन्तु मरुतां पथि ।
पुष्पकालोकसंक्षोभं मेघावरणतत्पराः ॥ ४६ ॥

वैमानिका इति । मरुतां देवानां यद्वा वायूनां पथि व्योम्नि वैमानिका विमानैश्चरन्तः । "चरति" इति ठक्प्रत्ययः । मेघावरणतत्परा रावणभयान्मेघेष्वन्तर्धानतत्पराः पुण्यकृतः सुकृतिनः पुष्पकालोकेन यदृच्छया रावणविमानदर्शनेन यः संक्षोभो भयचकितं तं त्यजन्तु । 'संक्षोभो भयचकितम्' इति शब्दार्णवः ॥ ४६ ॥

आकाशमें विमानसे चलनेवाले (किन्तु रावणके भयसे अपनेको) मेघमें छिपानेवाले पुण्यात्मा देवतालोग पुष्पक (कुबेरसे छिनकर लिया हुआ रावणका विमान) के देखनेसे अर्थात् सहसा रावणके आ जानेके भयसे चकित होना (घबड़ाना) छोड़ दें । (रावणके शीघ्र ही मारे जानेसे देवतालोग निर्भय होकर स्वेच्छापूर्वक आकाशमार्गसे विमानयात्रा करें) ॥४६॥

मोक्ष्यध्वे स्वर्गबन्दीनां वेणीबन्धानदूषितान् ।
शापयन्त्रितपौलस्त्यबलात्कारकचग्रहैः ॥ ४७ ॥

मोक्ष्यध्व इति । हे देवाः ! यूयं शापेन नलकूबरशापेन यन्त्रिताः प्रतिबद्धाः पौलस्त्यस्य रावणस्य बलात्कारेण ये कचग्रहाः केशाकर्षास्तैरदूषिताननुपहतान्स्वर्गबन्दीनां हृतस्वर्गाङ्गनानां वेणीबन्धान्मोक्ष्यध्वे । पुरा किल नलकूबरेणात्मानमभिसरन्त्या रम्भाया बलात्कारेण सम्भोगात्क्रुद्धेन दुरात्मा रावणः शप्तः—"स्त्रीणां बलाद्ग्रहणे मूर्धा ते शतधा भविष्यती"ति भारतीया कथानुसन्धेया ॥ ४७ ॥

(हे देवताओं ! तुमलोग) बँधे हुए तथा नलकूबरके शापसे रावणके द्वारा बलात्कारसे

बाल पकड़कर नहीं छूय गये बन्दिनी बनायी (कैद की) गयीं स्वर्गकी अप्सराओंकी चोटियोंके बन्धनों को खोलो ॥ ४७ ॥

पौराणिक कथा—अपने पास अभिसार करती हुई रम्भाके साथ बलात्कारपूर्वक सम्भोग करनेसे नलकूबरने रावणको शाप दे दिया कि 'यदि तुम बलात्कारसे किसी स्त्रीके साथ संभोग करोगे तो तुम्हारे शिरके हजार टुकड़े हो जायेंगे।' इसी कारण रावणने यद्यपि स्वर्गाङ्गनाओंको बन्दिनी बना लिया है, किन्तु किसीके साथ बलात्कारपूर्वक संभोग नहीं किया है, उन्हें तुम शीघ्र छुड़ावोगे ।

रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः ।
अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥ ४८ ॥

रावणेति । स कृष्णो विष्णुः स एव मेघो नीलमेघश्च । 'विश्रवसोऽपत्यं पुमानिति विग्रहे रावणः। विश्रवःशब्दाच्छिवादित्वादणि विश्रवसः । "विश्रवणरवणौ" इत्यन्तर्गणसूत्रेण विश्रवःशब्दस्य वृत्तिविषये रवणादेशे रावण इति सिद्धम् । स एवावग्रहो वर्षप्रतिबन्धः, तेन क्लान्तं म्लानं मरुतो देवा एव सस्यं तत् । इत्येवंरूपेण वागमृतेन वाक्सलिलेन । 'अमृतं यज्ञशेषे स्यात्पीयूषे सलिलेऽमृतम्' इति विश्वः । अभिवृष्याभिषिच्य तिरोदधेऽन्तर्दधे ॥ ४८ ॥

वह कृष्ण (विष्णु) रूपी मेघ (पक्षान्तरमें—कालामेघ), रावणरूपी सूखे (वर्षाके अभाव) से खिन्न देवरूपी धान्यको वचनामृत (वचनरूपी जलसे) सन्तुष्ट (पक्षान्तरमें—सींच)कर अन्तर्धान हो गया। (देवोंको ऐसा आश्वासन देकर विष्णु भगवान् अन्तर्हित हो गये) ॥

पुरुहूतप्रभृतयः सुरकार्योद्यतं सुराः ।
अंशैरनुययुर्विष्णुं पुष्पैर्वायुमिव द्रुमाः ॥ ४९ ॥

पुरुहूतेति । पुरुहूतप्रभृतय इन्द्राद्याः सुराः सुरकार्ये रावणवधरूप उद्यतं विष्णुमंशैर्मात्राभिः । द्रुमाः पुष्पैः स्वांशैर्वायुमिव अनुययुः सुग्रीवादिरूपेण वानरयोनिषु जाता इत्यभिप्रायः ॥ ४९ ॥

इन्द्र आदि देवोंने (रावणवधरूप) देवकार्य के लिये तत्पर विष्णुका अपने २ अंशोंसे (सुग्रीव, अङ्गद आदि रूपसे भूलोकमें आकर) उस प्रकार अनुगमन किया, जिस प्रकार वृक्ष (अपने अंश) पुष्पोंसे वायुका अनुगमन करते हैं ॥ ४९ ॥

अथ तस्य विशाम्पत्युरन्ते काम्यस्य कर्मणः ।
पुरुषः प्रबभूवाग्नेर्विस्मयेन सहर्त्विजाम् ॥ ५० ॥

अथेति । अथ तस्य विशाम्पत्युर्दशरथस्य सम्बन्धिनः काम्यस्य कामयितुमर्हस्यार्थात्पुत्रार्थं वाञ्छितस्य कर्मणः पुत्रकामेष्टेरन्तेऽवसानेऽग्नेः पावकात्पुरुषः

कश्चिद्दिव्यः पुमानृत्विजां विस्मयेन सह प्रबभूव प्रादुर्बभूव । तदाविर्भावात्तेषामपि विस्मयोऽभूदित्यर्थः ॥ ५० ॥

इसके बाद उस राजा (दशरथ) के काम्यकर्म (पुत्रेष्टि यज्ञ) समाप्त होनेपर ऋत्विजोंके आश्चर्यके साथ अग्निसे एक पुरुष प्रकट हुआ । (यज्ञाग्निसे निकले पुरुषको देखकर ऋत्विजोंको भी आश्चर्य हुआ) ॥ ५० ॥

तमेव पुरुषं विशिनष्टि—

हेमपात्रगतं दोर्भ्यामादधानः पयश्चरुम् ।
अनुप्रवेशादाद्यस्य पुंसस्तेनापि दुर्वहम् ॥ ५१ ॥

हेमेति । आद्यस्य पुंसो विष्णोरनुप्रवेशादधिष्ठानाद्धेतोस्तेन दिव्यपुरुषेणापि दुर्वहम् । चतुर्दशभुवनोदरस्य भगवतो हरेरतिगरीयस्त्वाद्वोढुमशक्यम् । हेमपात्रगतं पयसि पक्वं चरुं पयश्चरुं पायसान्नं दोर्भ्यामादधानो वहन् । "अनवस्रावितोन्तरूष्मपक्व ओदनश्चरुः" इति याज्ञिकाः ॥ ५१ ॥

आदि पुरुष (विष्णु भगवान्) के अधिष्ठान (निवास) होनेसे उस (अग्निसे उत्पन्न पुरुष) के द्वारा भी कष्टसे ढोये जाने योग्य, स्वर्णपात्रमें स्थित पायस (दूधके बने) चरुको दोनों हाथोंसे लिया हुआ पुरुष अग्निसे उत्पन्न हुआ ॥ ५१ ॥

प्राजापत्योपनीतं तदन्नं प्रत्यग्रहीन्नृपः ।
वृषेव पयसां सारमाविष्कृतमुदन्वता ॥ ५२ ॥

प्राजापत्येति । नृपो दशरथः प्राजापत्येन प्रजापतिसम्बन्धिना पुरुषेणोपनीतं न तु वसिष्ठेन । "प्राजापत्यं नरं विद्धि मामिहाभ्यागतं नृप" इति रामायणात् । तदन्नं पायसान्नम् । अद्यते इत्यन्नम् , उदन्वतोदधिनाविष्कृतं प्रकाशितं पयसां सारममृतं वृषा वासव इव । 'वासवो वृत्रहा वृषा' इत्यमरः । प्रत्यग्रहीत्स्वीचकार ॥ ५२ ॥

राजा (दशरथ) ने प्रजापति–सम्बन्धी उस पुरुषके द्वारा दिये गये उस अन्न (चरु) को, समुद्रसे प्रकट किये गये जलके सार अर्थात् अमृतको इन्द्रके समान, ग्रहण किया ॥ ५२ ॥

अनेन कथिता राज्ञो गुणास्तस्यान्यदुर्लभाः ।
प्रसूतिं चकमे तस्मिंस्त्रैलोक्यप्रभवोऽपि यत् ॥ ५३ ॥

अनेनेति । तस्य राज्ञो दशरथस्यान्यदुर्लभा असाधारणा गुणा अनेन कथिता व्याख्याताः । यद्यस्मात्त्रयो लोकास्त्रैलोक्यम् । चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ् । तस्य प्रभवः कारणं विष्णुरपि तस्मिन् राज्ञि प्रसूतिमुत्पत्तिं चकमे कामितवान् । त्रिभुवनकारणस्यापि कारणमिति परमावधिर्गुणसमाश्रय इत्यर्थः ॥ ५३ ॥

इस कारणसे उस राजा (दशरथ) के दूसरोंसे दुर्लभ अर्थात् असाधारण गुण वर्णित हैं, जो तीन लोकोंके कारण (विष्णु भगवान्) ने भी उस (राजा दशरथके पुत्ररूप) में उत्पन्न होनेकी इच्छा की ॥ ५३ ॥

स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम् ।
द्यावापृथिव्योः प्रत्यग्रमहर्पतिरिवातपम् ॥ ५४ ॥

स इति । स नृपः चरुसंज्ञास्य संजाता चरुसंज्ञितं । वैष्णवं तेजः । पत्न्योः कौसल्याकैकेय्योः । द्यौश्च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ । "दिवसश्च पृथिव्याम्" इति चकारादिवुशब्दस्य द्यावादेशः । तयोर्द्यावापृथिव्योः । अह्नः पतिरहर्पतिः सूर्यः । "अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः" इत्युपसंख्यानाद्वैकल्पिको रेफस्य रेफादेशो विसर्गापवादः । प्रत्यग्रं नूतनमातप बालातपमिव । विभेजे । विभज्य ददावित्यर्थः ॥ ५४ ॥

उस (राजा दशरथ) ने चरुनामक उस विष्णु-सम्बन्धी तेजको दोनों स्त्रियों (कौसल्या तथा कैकेयी) के लिये उस प्रकार विभक्त कर दिया, जिस प्रकार सूर्य प्रातःकालके धूपको आकाश तथा पृथ्वीके लिये विभक्त कर देता है ॥ ५४ ॥

पत्नीत्रये सति द्वयोरेव विभागे कारणमाह—

अर्चिता तस्य कौसल्या प्रिया केकयवंशजा ।
अतः सम्भाविता ताभ्यां सुमित्रामैच्छदीश्वरः ॥ ५५ ॥

अर्चितेति । तस्य राज्ञः । कौ पृथिव्यां सलति गच्छतीति कोसलः । "सल गतौ" पचाद्यच् । कुशब्दस्य पृषोदरादित्वाद्गुणः । कोसलस्य राज्ञोऽपत्यं स्त्री कौसल्या । "वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्" इति ञ्यङ् । "यङश्चाप्" इति चाप् । अत एव सूत्रे निर्देशात्कोसलशब्दो दन्त्यसकारमध्यमः । अर्चिता ज्येष्ठा मान्या । केकयवंशजा कैकेयी प्रियेष्टा । अतो हेतोरीश्वरो भर्ता नृपः सुमित्रां ताभ्यां कौसल्याकैकेयीभ्यां सम्भावितां भागदानेन मानितामैच्छदिच्छति स्म । एवं च सामान्यं तिसृणां च भागप्रापणमिति राज्ञ्युचितज्ञता कौशलं च लभ्यते ॥ ५५ ॥

उस (राजा दशरथ) की कौसल्या बड़ी पत्नी थी तथा कैकेयी प्रिय पत्नी थी, अतः राजा (दशरथ) ने सुमित्राको उन दोनों (कौसल्या तथा कैकेयी) के द्वारा (चरुका भाग देकर) सम्मानित करना चाहा ॥ ५५ ॥

ते बहुज्ञस्य चित्तज्ञे पत्न्यौ पत्युर्महीक्षितः ।
चरोरर्धार्धभागाभ्यां तामयोजयतामुभे ॥ ५६ ॥

ते इति । बहुज्ञस्य सर्वज्ञस्य । उचितज्ञस्येत्यर्थः । पत्युर्महीक्षितः क्षितीश्वरस्य विशेषणत्रयेण राज्ञोऽनुसरणीयतामाह—चित्तज्ञे अभिप्रायज्ञे ते उभे पत्न्यौ कौसल्या-

कैकेय्यौ । चरोर्यावर्धभागौ समभागौ तयोर्यावर्धौ तौ च तौ भागौ चेत्यर्धभागावेकदेशौ ताभ्यामर्धार्धभागाभ्याम् , 'पुंस्यर्धोऽर्धं समेंऽशके' इत्यमरः । तां सुमित्रामयोजयतां युक्तां चक्रतुः । अयं च विभागो न रामायणसंवादी, तत्र 'चरोरर्धं कौसल्याया अवशिष्टार्धं कैकेय्यै 'शिष्टं पुनः सुमित्रायाः' इत्यभिधानात् । किन्तु पुराणान्तरसंवादो द्रष्टव्यः । उक्तं च नारसिंहे—"ते पिण्डप्राशने काले सुमित्रायै महीपतेः । पिण्डाभ्यामल्पमल्पं तु स्वभगिन्यै प्रयच्छतः" ॥ इति । एवमन्यत्रापि विरोधे पुराणान्तरात्समाधातव्यम् ॥ ५६ ॥

बहुज्ञ (उचितानुचित सब कुछके ज्ञाता) महीपाल पतिके मनोभावको जाननेवाली उन दोनों पत्नियों (कौसल्या तथा कैकेयी) ने चरुके आधे २ भागसे उस (सुमित्रा) को युक्त किया (पतिके भावके अनुसार अपने २ चरुमेंसे आधा २ भाग सुमित्राको दे दिया) ॥ ५६ ॥

न चैवं सत्यपीर्ष्या स्यादित्याह—

सा हि प्रणयवत्यासीत्सपत्न्योरुभयोरपि ।
भ्रमरी वारणस्येव मदनिष्यन्दरेखयोः ॥ ५७ ॥

सेति । सा सुमित्रोभयोरपि । समान एकः पतिर्ययोस्तयोः सपत्न्योः । "नित्यं सपत्न्यादिषु" इति ङीप् नकारादेशश्च । भ्रमरी भृङ्गाङ्गना वारणस्य गजस्य मदनिष्यन्दरेखयोरिव गण्डद्वयगतयोरिति भावः । प्रणयवती प्रेमवत्यासीत् । सपत्न्योरित्यत्र समासान्तर्गतस्य पत्युरुपमानं वारणस्येति ॥ ५७ ॥

वह (सुमित्रा) दोनों सौतों (कौसल्या तथा सुमित्रा) में, (हाथोके कपोलमण्डलस्थित) मदके प्रवाहको दो धाराओंमें भ्रमरीके समान, स्नेहयुक्त थी । (सुमित्रा अपनी दोनों सौतोंमें प्रेम करती थीं, अत एव उनसे चरु मिलनेपर भी उसे ईर्ष्या नहीं हुई) ॥ ५७ ॥

ताभिर्गर्भः प्रजाभूत्यै दध्रे देवांशसम्भवः ।
सौरीभिरिव नाडीभिरमृताख्याभिरम्मयः ॥ ५८ ॥

ताभिरिति । ताभिः कौसल्यादिभिः प्रजानां भूत्यै अभ्युदयाय । देवस्य विष्णोरंशः सम्भवः कारणं यस्य स गर्भः । सूर्यस्येमाः सौर्यः, ताभिः सौरीभिः, "सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः" इत्युपधायकारस्य लोपः । अमृता इत्याख्या यासां ताभिः जलवहनसाम्यान्नाडीभिरिव । नाडीभिर्वृष्टिविसर्जनीभिर्दीधितिभिरपां विकारोऽम्मयो जलमयो गर्भ इव । दध्रे धृतः । जातावेकवचनम्, गर्भा दधिर इत्यर्थः । अत्र यादवः—"तासां शतानि चत्वारि रश्मीनां वृष्टिसर्जने । शतत्रयं हिमोत्सर्गे तावद्गर्भस्य सर्जने ॥ आनन्दाश्च हि मेध्याश्च नूतनाः पूतना इति । चतुःशतं वृष्टिवाहास्ताः सर्वा अमृताः स्त्रियः ॥" इति ॥ ५८ ॥

उन्हों (रानियों) ने सन्तानकी वृद्धिके लिये विष्णु भगवान्‌का अंश है कारण जिसका ऐसे गर्भको, जलमय गर्भको सूर्यकी अमृतसंज्ञक किरणोंके समान धारण किया। (सहस्ररश्मि सूर्यकी चार सौ किरणें वर्षा करती हैं और उनकी 'अमृत' संज्ञा है) ॥ ५८ ॥

समममापन्नसत्त्वास्ता रेजुरापाण्डुरत्विषः ।
अन्तर्गतफलारम्भाः सस्यानामिव सम्पदः ॥ ५९ ॥

सममिति। समं युगपदापन्ना गृहीताः सत्त्वाः प्राणिनो याभिस्ता आपन्नसत्त्वा गर्भिण्यः 'आपन्नसत्त्वा स्याद् गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी' इत्यमरः। अत एवापाण्डुरत्विष ईषत्पाण्डुरवर्णास्ता राजपत्न्यः। अन्तर्गता गुप्ताः फलारम्भाः फलप्रादुर्भावा यासां ताः। सस्यानां सम्पद इव रेजुर्बभुः ॥ ५९ ॥

एक साथ गर्भधारण करती हुई कुछ २ पाण्डुर वर्णकी कान्तिवाली वे (कौसल्यादि तीनों रानियां) शीघ्र ही फलको बाहर प्रकट करनेवाली ईषत्पाण्डुर धान्य–सम्पत्तिके समान शोभित हुईं ॥ ५९ ॥

सम्प्रति तासां स्वप्नदर्शनान्याह—

गुप्तं ददृशुरात्मानं सर्वाः स्वप्नेषु वामनैः ।
जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रलाञ्छितमूर्तिभिः ॥ ६० ॥

गुप्तमिति। सर्वास्ताः स्वप्नेषु जलजः शङ्खः जलजासिगदाशार्ङ्गचक्रैर्लाञ्छिता मूर्तयो येषां तैर्वामनैर्ह्रस्वैः पुरुषैर्गुप्तं रक्षितमात्मानं स्वरूपम्। जातावेकवचनम्। ददृशुः दृष्टवत्यः ॥ ६० ॥

उन सबोंने स्वप्नोंमें देखा कि—('पाञ्चजन्य' नामक) शङ्ख, ('नन्दक' नामक) खड्ग, ('कौमोदकी' नामक) गदा, शार्ङ्गनामक धनुष और 'सुदर्शन 'चक्रसे युक्त मूर्तिवाले लघुरूप पुरुष हमारी रक्षा कर रहे हैं ॥ ६० ॥

हेमपक्षप्रभाजालं गगने च वितन्वता ।
उह्यन्ते स्म सुपर्णेन वेगाकृष्टपयोमुचा ॥ ६१ ॥

हेमेति। किञ्चेति चार्थः। हेम्नः सुवर्णस्य पक्षाणां प्रभाजालं कान्तिपुञ्जं वितन्वता विस्तारयता वेगेनाकृष्टाः पयोमुचो मेघा येन तेन। सुपर्णेन गरुत्मता गरुडेन गगने ता उह्यन्ते स्मोढाः ॥ ६१ ॥

आकाशमें सुनहले पंखोंके प्रभा-समूहको फैलाते हुए तथा वेगसे मेघको आकर्षित करनेवाले गरुड़से वे ढोई जाती हैं अर्थात् उक्त स्वरूपवाले गरुडपर सवार होकर आकाशमें जाती हुई अपनेको स्वप्नमें देखती थीं ॥ ६१ ॥

बिभ्रत्या कौस्तुभन्यासं स्तनान्तरविलम्बिनम् ।
पर्युपास्यन्त लक्ष्म्या च पद्मव्यजनहस्तया ॥ ६२ ॥

बिभ्रत्येति । किञ्च स्तनयोरन्तरे मध्ये विलम्बिनं लम्बमानम् । न्यस्यत इति न्यासः कौस्तुभ एव न्यासस्तम् । पत्या कौतुकान्न्यस्तं, कौस्तुभमित्यर्थः । बिभ्रत्या पद्ममेव व्यजनं हस्ते यस्यास्तया लक्ष्म्या पर्युपास्यन्तोपासिताः ॥ ६२ ॥

स्तनोंके मध्यमें लटकते हुए (पति अर्थात् विष्णुके द्वारा स्थापित) कौस्तुभ मणिको धारण करती हुई तथा हाथमें कमलरूप पंखेको लेकर हवा करती हुई लक्ष्मी सेवा कर रही हैं॥

कृताभिषेकैर्दिव्यायां त्रिस्रोतसि च सप्तभिः ।
ब्रह्मर्षिभिः परं ब्रह्म गृणद्भिरुपतस्थिरे ॥ ६३ ॥

कृतेति । किञ्च । दिवि भवायां दिव्यायां त्रिस्रोतस्याकाशगङ्गायां कृताभिषेकैः कृतावगाहैः परं ब्रह्म वेदरहस्यं गृणद्भिः पठद्भिः सप्तभिर्ब्रह्मर्षिभिः कश्यपप्रभृतिभिरुपतस्थिर उपासाञ्चक्रिरे ॥ ६३ ॥

स्वर्गीय गङ्गामें स्नान किये एवं परब्रह्म (वेदतत्त्व) को पढ़ते हुए (कश्यप आदि) सात ब्रह्मर्षि उपस्थान कर रहे हैं। (ऐसे (श्लो० ६०–६३) स्वप्नोंको उन रानियोंने देखा और राजा दशरथसे कहा) ॥ ६३ ॥

ताभ्यस्तथाविधान् स्वप्नाञ्छ्रुत्वा प्रीतो हि पार्थिवः ।
मेने परार्ध्यमात्मानं गुरुत्वेन जगद्गुरोः ॥ ६४ ॥

ताभ्य इति । पार्थिवो दशरथस्ताभ्यः पत्नीभ्यः "आख्यातोपयोगे" इत्यपादानत्वात्पञ्चमी । तथाविधानुक्तप्रकारान्स्वप्नाञ्छ्रुत्वा प्रीतः सन् आत्मानं जगद्गुरोर्विष्णोरपि गुरुत्वेन पितृत्वेन हेतुना परार्ध्यं सर्वोत्कृष्टं मेने हि ॥ ६४ ॥

राजा (दशरथ) ने उन (कौसल्या आदि पत्नियों) से वैसे (श्लो० ६०–६३) स्वप्नोंको सुनकर प्रसन्न होते हुए, जगद्गुरु (विष्णु भगवान्) के पिता होनेसे अपनेको सर्वश्रेष्ठ माना ॥ ६४ ॥

विभक्तात्मा विभुस्तासामेकः कुक्षिष्वनेकधा ।
उवास प्रतिमाचन्द्रः प्रसन्नानामपामिव ॥ ६५ ॥

विभक्तेति । एक एकरूपो विभुर्विष्णुस्तासां राजपत्नीनां कुक्षिषु गर्भेषु प्रसन्नानां निर्मलानामपां कुक्षिषु प्रतिमाचन्द्रः प्रतिबिम्बचन्द्र इव अनेकधा विभक्तात्मा सन् उवास ॥ ६५ ॥

एकरूप विभु (एकरूप होते हुए भी सर्वशक्तिमान् विष्णु भगवान्) उनके गर्भोंमें,

निर्मल जलके भीतरमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाके समान, अनेक रूपमें विभक्त होकर रहने लगे॥

अथाग्र्यमहिषी राज्ञः प्रसूतिसमये सती ।
पुत्रं तमोपहं लेभे नक्तं ज्योतिरिवौषधिः ॥ ६६ ॥

अथेति । अथ राज्ञो दशरथस्य सती पतिव्रता अग्र्या चासौ महिषी चाग्र्यमहिषी कौसल्या प्रसूतिसमये प्रसूतिकाले ओषधिर्नक्तं रात्रिसमये तमः अपहन्तीति तमोपहम् "अपे क्लेशतमसोः" इति डप्रत्ययः । ज्योतिरिव तमोपहं तमोनाशकरं पुत्रं लेभे प्राप ॥ ६६ ॥

इसके बाद साध्वी राजाकी पटरानी (कौसल्या) ने प्रसवकाल (दशम मास) में, रातमें अन्धकारका नाश करनेवाले तेजको ओषधिके समान, पापनाशक पुत्रको प्राप्त किया ॥ ६६ ॥

राम इत्यभिरामेण वपुषा तस्य चोदितः ।
नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम् ॥ ६७ ॥

राम इति । अभिरमतेऽत्रेत्यभिरामं मनोहरम् । अधिकरणार्थे घञ्प्रत्ययः । तेन वपुषा चोदितः प्रेरितो गुरुः पिता दशरथस्तस्य पुत्रस्य जगतां प्रथमं मङ्गलं सुलक्षणं राम इति नामधेयं चक्रे । अभिरामत्वमेव रामशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः ॥

मनोहर शरीरसे प्रेरित उस पिता (दशरथ) ने उस (बालक) का नाम , संसारका प्रथम मङ्गलस्वरूप 'राम' रखा ॥ ६७ ॥

रघुवंशप्रदीपेन तेनाप्रतिमतेजसा ।
रक्षागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टा इवाभवन् ॥ ६८ ॥

रघुवंशेति । रघुवंशस्य प्रदीपेन प्रकाशकेन अप्रतिमतेजसा तेन रामेण रक्षागृहगताः सूतिकागृहगता दीपाः प्रत्यादिष्टाः प्रतिबद्धा इवाभवन् । महादीपसमीपे नाल्पाः स्फुरन्तीति भावः ॥ ६८ ॥

रघुवंशमें दीपकके समान (प्रकाशमान) अपरिमित तेजवाले उस (राम) से रक्षागृह (प्रसूतिगृह) में रखे हुए दीपक मानो फीके पड़ गये ॥ ६८ ॥

शय्यागतेन रामेण माता शातोदरी बभौ ।
सैकताम्भोजबलिना जाह्नवीव शरत्कृशा ॥ ६९ ॥

शय्यागतेनेति । शातोदरी गर्भमोचनात्कृशोदरी माता शय्यागतेन रामेण सैकते पुलिने योऽम्भोजबलिः पद्मोपहारस्तेन शरदि कृशा जाह्नवी गङ्गेव बभौ ॥ ६९ ॥

(बालकोत्पादन करनेसे अत्यन्त) कृश उदरवाली माता (कौसल्या) शय्यापर स्थित

रामसे, तटपर दी हुई कमलपुष्पकी बलिसे शरत्कालमें कृश अर्थात् थोड़े चौड़े पाटवाली गङ्गाके समान शोभित हुई ॥ ६९ ॥

कैकेय्यास्तनयो जज्ञे भरतो नाम शीलवान् ।
जनयित्रीमलञ्चक्रे यः प्रश्रय इव श्रियम् ॥ ७० ॥

कैकेय्या इति । केकयस्य राज्ञोऽपत्यं स्त्री कैकेयी, "तस्यापत्यम्" इत्यणि कृते "केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः" इतीयादेशः । तस्या भरतो नाम शीलवांस्तनयो जज्ञे जातः । यस्तनयः प्रश्रयो विनयः श्रियमिव । जनयित्रीं मातरमलञ्चक्रे ॥ ७० ॥

कैकेयीको भरतनामक शीलयुक्त पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसने लक्ष्मीको नम्रताके समान माताको सुशोभित किया ॥ ७० ॥

सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रा सुषुवे यमौ ।
सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव ॥ ७१ ॥

सुताविति । सुमित्रा लक्ष्मणशत्रुघ्नौ नाम यमौ युग्मजातौ सुतौ पुत्रौ । सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयौ तत्त्वज्ञानेन्द्रियजयाविव । सुषुवे ॥ ७१ ॥

सुमित्राने लक्ष्मण और शत्रुघ्न नामक यमज पुत्रोंको, ज्ञान तथा विनयको अच्छी तरह सेवित विद्याके समान उत्पन्न किया ॥ ७१ ॥

निर्दोषमभवत्सर्वमाविष्कृतगुणं जगत् ।
अन्वगादिव हि स्वर्गो गां गतं पुरुषोत्तमम् ॥ ७२ ॥

निर्दोषमिति । सर्वं जगद् भूलोको निर्दोषं दुर्भिक्षादिदोषरहितम् आविष्कृतगुणं प्रकटीकृतारोग्यादिगुणं चाभवत् । अत्रोत्प्रेक्ष्यते—गां भुवं गतमवतीर्णं पुरुषोत्तमं विष्णुं स्वर्गोऽप्यन्वगादिव । स्वर्गो हि गुणवान्निर्दोषश्चेत्यागमः । स्वर्गतुल्यमभूदित्यर्थः ॥ ७२ ॥

(उस समय) सम्पूर्ण संसार दुर्भिक्षादि दोषोंसे रहित तथा आरोग्य एवं अन्नादि वृद्धिरूप गुणोंसे सहित हो गया । मानो भूमिपर आये हुए विष्णु भगवान्का स्वर्गने अनुगमन किया अर्थात् राम आदि चारो पुत्रोंके उत्पन्न होनेपर भूलोक स्वर्ग के समान दोषवर्जित एवं समृद्धियुक्त हो गया ॥ ७२ ॥

तस्योदये चतुर्मूर्तेः पौलस्त्यचकितेश्वराः ।
विरजस्कैर्नभस्वद्भिर्दिश उच्छ्वसिता इव ॥ ७३ ॥

तस्येति । चतुर्मूर्ते रामादिरूपेण चतूरूपस्य सतस्तस्य हरेरुदये सति । पौलस्त्याद्रावणाच्चकिता भीता ईश्वरा नाथा इन्द्रादयो यासां ता दिशश्चतस्रो विरजस्कैरप-

धूलिभिर्नभस्वद्भिर्वायुभिः मिषेण उच्छ्वसिता इव इत्युत्प्रेक्षा। श्वसेः कर्तरि क्तः। स्वानाथशरणलाभसन्तुष्टानां दिशामुच्छ्वासवाता इव, वाता ववुरित्यर्थः। चतुर्दिगीश्वरक्षणं मूर्तिचतुष्टयप्रयोजनमिति भावः॥ ७३॥

उन चारों मूर्तियोंके प्रकट होनेपर रावणसे डरे हुए (इन्द्र आदि) पतियोंवाली दिशायें धूलिरहित वायुसे मानो श्वास किया अर्थात् अपने पति इन्द्र आदिके शरण्य राम आदिके प्रकट होनेसे दिशाओंने सुखका श्वास लिया। (रामादिके प्रकट होनेपर सुखद वायु बहने लगी)॥

कृशानुरपधूमत्वात्प्रसन्नत्वात्प्रभाकरः।
रक्षोविप्रकृतावास्तामपविद्धशुचाविव॥ ७४॥

कृशानुरिति। रक्षसा रावणेन विप्रकृतावपकृतौ पीडितावित्यर्थः। कृशानुरग्निः प्रभाकरः सूर्यश्च यथासंख्यमपधूमत्वात्प्रसन्नत्वाच्चापविद्धशुचौ निरस्तदुःखाविवास्तामभवताम्॥ ७४॥

राक्षस (रावण) से पीडित अग्नि धूमरहित होनेसे तथा सूर्य निर्मल होनेसे मानो शोकरहित हो गये॥ ७४॥

दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः।
मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः॥ ७५॥

दशाननेति। तत्क्षणं तस्मिन् क्षणे रामोत्पत्तिसमये राक्षसश्रियोऽश्रुबिन्दवो दशाननकिरीटेभ्यो मणीनां व्याजेन मिषेण पृथिव्यां पर्यस्ताः पतिताः। रामोदये सति तद्वध्यस्य रावणस्य किरीटमणिभ्रंशलक्षणं दुर्निमित्तमभूदित्यर्थः॥ ७५॥

उस (रामादिके उत्पत्तिके) समयमें राक्षसोंकी लक्ष्मीकी आंसूकी बूंदें रावणके मुकुटोंसे मणियोंके बहानेसे गिरीं। (रामादिकी उत्पत्ति होनेपर रावणके मुकुटोंसे मणियोंके गिरनेसे राक्षस-लक्ष्मीके रोनेके समान उसे अपशकुन हुआ)॥ ७५॥

पुत्रजन्मप्रवेश्यानां तूर्याणां तस्य पुत्रिणः।
आरम्भं प्रथमं चक्रुर्देवदुन्दुभयो दिवि॥ ७६॥

पुत्रजन्मेति। पुत्रिणो जातपुत्रस्य तस्य दशरथस्य पुत्रजन्मनि प्रवेश्यानां प्रवेशयितव्यानां, वादनीयानामित्यर्थः। तूर्याणां वाद्यानामारम्भमुपक्रमं प्रथमं दिवि देवदुन्दुभयश्चक्रुः। साक्षात्पितुर्दशरथादपि देवा अधिकं प्रहृष्टा इत्यर्थः॥ ७६॥

पुत्रवान् उस (दशरथ) के पुत्रजन्मसे बजाने योग्य बाजाओंका आरम्भ पहले स्वर्गमें देवताओंकी दुन्दुभियोंने किया अर्थात् पुत्रवान् दशरथकी अपेक्षा अधिक प्रसन्न देवताओंने पहले स्वर्गमें दुन्दुभि बजायी॥ ७६॥

सन्तानकमयी वृष्टिर्भवने चास्य पेतुषी ।
सन्मङ्गलोपचाराणां सैवादिरचनाऽभवत् ॥ ७७ ॥

सन्तानेति । अस्य राज्ञो भवने सन्तानकानां कल्पवृक्षकुसुमानां विकारः सन्तानकमयी वृष्टिश्च पेतुषी पपात । "क्सुश्च" इति क्वसुप्रत्ययः । "उगितश्च" इति ङीप् । सा वृष्टिरेव सन्तः पुत्रजन्मन्यावश्यका ये मङ्गलोपचारास्तेषामादिरचना प्रथमक्रियाऽभवत् ॥ ७७ ॥

इस (दशरथ) के राजभवनमें कल्पवृक्षोंकी पुष्पवृष्टि हुई, वही श्रेष्ठ मङ्गल-रचनाओंकी प्रथम रचना हुई अर्थात् रामजन्मसे हर्षित देवताओंने स्वर्गसे पुष्पवृष्टि की ॥ ७७ ॥

कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः ।
आनन्देनाग्रजेनेव समं ववृधिरे पितुः ॥ ७८ ॥

कुमारा इति । कृताः संस्कारा जातकर्मादयो येषां ते । धात्रीणामुपमातॄणां स्तन्यानि पयांसि पिबन्तीति तथोक्ताः । ते कुमारा अग्रे जातेनाग्रजेन ज्येष्ठेनेव स्थितेन पितुरानन्देन समं ववृधिरे । कुमारवृद्धया पिता महान्तमानन्दमवापेत्यर्थः । कुमारजन्मनः प्रागेव जातत्वादग्रजत्वोक्तिरानन्दस्य ॥ ७८ ॥

(जातकर्मादि) संस्कारसे संस्कृत तथा धात्रीके दूधको पीनेवाले वे बालक जेष्ठ (प्रथमोत्पन्न) के समान पिताके आनन्दके साथ बढ़ने लगे ॥ ७८ ॥

स्वाभाविकं विनीतत्वं तेषां विनयकर्मणा ।
मुमूर्च्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम् ॥ ७९ ॥

स्वाभाविकमिति । तेषां कुमाराणां सम्बन्धि स्वाभाविकं सहजं विनीतत्वं विनयकर्मणा शिक्षया । हविर्भुजामग्नीनां सहजं तेजो हविषाऽऽज्यादिकेनेव मुमूर्च्छ ववृधे । निसर्गसंस्काराभ्यां विनीता इत्यर्थः ॥ ७९ ॥

उन (रामादि) की सहज नम्रता शिक्षासे, हविष्यसे अग्निके सहज तेजके समान बढ़ गयी अर्थात् हविष्य डालनेसे अग्निका स्वाभाविक तेज जिस प्रकार बढ़ जाता है, उसी प्रकार शिक्षासे रामादिका स्वाभाविक विनय भी बढ़ गया ॥ ७९ ॥

परस्पराविरुद्धास्ते तद्रघोरनघं कुलम् ।
अलमुद्योतयामासुर्देवारण्यमिवर्तवः ॥ ८० ॥

परस्परेति । परस्परमविरुद्धा अविद्विष्टाः । सौभ्रात्रगुणवन्त इत्यर्थः । ते कुमारास्तत्प्रसिद्धमनघं निष्पापं रघोः कुलम् । ऋतवो वसन्तादयो देवारण्यं नन्दनमिव ।

सहजविरोधानामप्यृतूनां सहावस्थानसम्भावनार्थं देवविशेषणम् । अलमत्यन्तमुद्योतयामासुः प्रकाशयामासुः । सौभ्रात्रवन्तः कुलभूषणायन्त इति भावः ॥ ८० ॥

परस्परमें विरोधरहित वे (रामादि राजकुमार) रघुके उस निर्दोष वंशको, सुन्दर नन्दन वनको परस्पर विरोधरहित ऋतुओंके समान अत्यन्त प्रकाशित (प्रसिद्ध, पक्षान्तरमें—सुशोभित) कर दिया ॥ ८० ॥

समानेऽपि हि सौभ्रात्रे यथोभौ रामलक्ष्मणौ ।
तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्वन्द्वं बभूवतुः ॥ ८१ ॥

समान इति । शोभनाः स्निग्धा भ्रातरो येषां ते सुभ्रातरः । "नद्यृतश्च" इति कप् न भवति, "वन्दिते भ्रातुः" इति निषेधात् । तेषां भावः सौभ्रात्रं युवादित्वादण् । तस्मिन्समाने चतुर्णां तुल्येऽपि यथोभौ रामलक्ष्मणौ प्रीत्या द्वन्द्वं बभूवतुः तथा भरतशत्रुघ्नौ प्रीत्या द्वन्द्वं द्वौ द्वौ साहचर्येणाभिव्यक्तौ बभूवतुः । "द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु" इत्यभिव्यक्तार्थे निपातः । क्वचित्कस्यचित्स्नेहो नातिरिच्यत इति भावः ॥ ८१ ॥

(चारों भाइयोंमें) उत्तम भ्रातृभावके तुल्य होनेपर भी जिस प्रकार दोनों राम तथा लक्ष्मण परस्पर संयुक्त हुए, उसी प्रकार भरत तथा शत्रुघ्न भी हुए अर्थात् राम तथा लक्ष्मणका और भरत तथा शत्रुघ्नका परस्परमें अधिक प्रेम होनेसे वे एक दूसरेके सहचर हुए ॥ ८१ ॥

तेषां द्वयोर्द्वयोरैक्यं बिभिदे न कदाचन ।
यथा वायुविभावस्वोर्यथा चन्द्रसमुद्रयोः ॥ ८२ ॥

तेषामिति । तेषां चतुर्णां मध्ये द्वयोर्द्वयोः रामलक्ष्मणयोर्भरतशत्रुघ्नयोश्चेत्यर्थः । यथा वायुविभावस्वोर्वातवह्न्योरिव चन्द्रसमुद्रयोरिव च ऐक्यमैकमत्यं कदाचन न बिभिदे एककार्यत्वं समानसुखदुःखत्वं च क्रमादुपमाद्वयाल्लभ्यते । सहजः सहकारी हि वह्नेर्वायुः चन्द्रवृद्धौ हि वर्धते सिन्धुस्तत्क्षये च क्षीयत इति ॥ ८२ ॥

उन (चारों भाइयों) में दो–दोकी एकता अर्थात् साहचर्य (सर्वदा साथ रहना) वायु तथा अग्निके समान और चन्द्र तथा सूर्यके समान कभी भी भिन्न नहीं हुई ॥ ८२ ॥

ते प्रजानां प्रजानाथास्तेजसा प्रश्रयेण च ।
मनो जह्रुर्निदाघान्ते श्यामाभ्रा दिवसा इव ॥ ८३ ॥

त इति । प्रजानाथास्ते कुमारास्तेजसा प्रभावेण प्रश्रयेण विनयेन च निदाघान्ते ग्रीष्मान्ते श्यामान्यभ्राणि मेघा येषां ते श्यामाभ्राः, नातिशीतोष्णा इत्यर्थः । दिवसा इव प्रजानां लोकानां मनश्चित्तं जह्रुः हरन्ति स्म ॥ ८३ ॥

प्रजाओंके स्वामी वे (चारों राजकुमार) प्रभाव तथा विनयसे ग्रीष्मकालके बादमें श्यामवर्ण बादलोंवाले दिवसों (दिनों) के समान प्रजाओंके मनको हरण (वशीभूत) कर लिये ॥ ८३ ॥

स चतुर्धा बभौ व्यस्तः प्रसवः पृथिवीपतेः ।
धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गवान् ॥ ८४ ॥

स इति । स चतुर्धा । "संख्याया विधार्थे धा" इत्यनेन धाप्रत्ययः । व्यस्तो विभक्तः पृथिवीपतेर्दशरथस्य प्रसवः सन्तानम् । चतुर्धाऽङ्गवान्मूर्तिमान्धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इव बभौ ॥ ८४ ॥

चार प्रकारसे विभक्त राजा (दशरथ) की वह सन्तान शरीरधारी धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके अवतारके समान शोभित हुई ॥ ८४ ॥

गुणैराराधयामासुस्ते गुरुं गुरुवत्सलाः ।
तमेव चतुरन्तेशं रत्नैरिव महार्णवाः ॥ ८५ ॥

गुणैरिति । गुरुवत्सलाः पितृभक्तास्ते कुमारा गुणैर्विनयादिभिर्गुरुं पितरं चतुर्णामन्तानां दिगन्तानामीशं चतुरन्तेशम् । "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इत्यनेनोत्तरपदसमासः । तं दशरथमेव महार्णवाश्चत्वार आराधयामासुरानन्दयामासुः ॥ ८५ ॥

पितृभक्त वे (राजकुमार) गुणोंसे चारों दिशाओंके अधिपति उस पिता (दशरथ) को ही, रत्नोंसे (चार) महासमुद्रोंके समान आराधना (आनन्दित) करने लगे ॥ ८५ ॥

सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारैर्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगैरुपायैः ।
हरिरिव युगदीर्घैर्दोर्भिरंशैस्तदीयैः पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशे चतुर्भिः ॥

सुरगज इति । भग्ना दैत्यानामसिधारा यैस्तैश्चतुर्भिर्दन्तैः सुरगज ऐरावत इव । पणबन्धेन फलसिद्ध्या व्यक्तयोगैरनुमितप्रयोगैरुपायैश्चतुर्भिः सामादिभिर्नयो नीतिरिव । युगवद्दीर्घैश्चतुर्भिर्दोर्भिर्भुजैर्हरिर्विष्णुरिव । 'यानाद्यङ्गे युगः पुंसि' इत्यमरः । तदीयैर्हरिसम्बन्धिभिरंशभूतैश्चतुर्भिस्तैः पुत्रैरवनिपतीनां पती राजराजो दशरथ आकाशे विदिद्युते ॥ ८६ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितसञ्जीविनी-
व्याख्यायां रामावतारो नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

दैत्यराजके खड्गकी धारको भग्न करनेवाले दाँतोंसे ऐरावतके समान, फलसिद्धिसे स्पष्ट प्रयोगवाले (साम, दान, भेद और दण्ड नामक चार) उपायोंसे नीतिके समान और जुवाठोंके समान लम्बे बाहुओंसे विष्णुके समान उन (विष्णु) के अंशभूय उन चारों (राम, भरत और शत्रुघ्न, लक्ष्मण) से राजराज (दशरथ) शोभित हो गये ॥ ८६ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्यका श्रीरामावतार' नामक
दशम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः ।

रामचन्द्रचरणारविन्दयोरन्तरङ्गचर भृङ्गलीलया ।
तत्र सन्ति हि रसाश्चतुर्विधास्तान्यथारुचि सदैव निर्विश ॥

कौशिकेन स किल चितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये ।
काकपक्षधरमेत्य याचितस्तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते ॥ १ ॥

कौशिकेनेति । कौशिकेन कुशिकापत्येन विश्वामित्रेणेत्याभ्यागत्य स क्षितीश्वरो दशरथः । अध्वरविघातशान्तये यज्ञविघ्नविध्वंसाय । काकपक्षधरं बालकोचितशिखाधरम् । 'बालानां तु शिखा प्रोक्ता काकपक्षः शिखण्डकः' इति हलायुधः । रामं याचितः किल प्रार्थितः खलु । याचेर्द्विकर्मकादप्रधाने कर्मणि क्तः "अप्रधाने दुहादीनाम्" इति वचनात् । नायं बालाधिकार इत्याशङ्क्याह—तेजसां तेजस्विनां वयो बाल्यादि न समीक्ष्यते हि, अप्रयोजकमित्यर्थः । अत्र सर्गे रथोद्धता वृत्तम् । उक्तं च—"रान्नराविह रथोद्धता लगौ" इति ॥ १ ॥

रामचन्द्रचरणारविन्दमें चित्त ! भृङ्ग-सम तू सदा रमो ।
चार हैं रस वहाँ, निजेच्छया पानकर बहुस्वतन्त्र हो भ्रमो ॥

विश्वामित्र मुनिने उस राजाके पास आकर यज्ञके विघ्नकी शान्तिके लिये काकपक्षधर (बालक) रामको माँगा, क्योंकि तेजस्वियोंकी अवस्था (उम्र) नहीं देखी जाती ॥ १ ॥

कृच्छ्रलब्धमपि लब्धवर्णभाक् तं दिदेश मुनये सलक्ष्मणम् ।
अप्यसुप्रणयिनां रघोः कुले न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता ॥ २ ॥

कृच्छ्रेति । लब्धा वर्णाः प्रसिद्धयो यैस्ते लब्धवर्णा विचक्षणाः । 'लब्धवर्णो विचक्षणः' इत्यमरः । तान्भजत इति लब्धवर्णभाक्, विद्वत्सेवीत्यर्थः । स राजा कृच्छ्रलब्धमपि सलक्ष्मणं तं रामं मुनये दिदेशातिसृष्टवान् । तथा हि । असुप्रणयिनां प्राणार्थिनामप्यर्थिता याच्ञा रघोः कुले कदाचिदपि न व्यहन्यत न विहता, न विफलीकृतेत्यर्थः । यैरर्थिभ्यः प्राणा अपि समर्प्यन्ते तेषां पुत्रादित्यागो न विस्मयावह इति भावः ॥ २ ॥

विद्वानोंकी सेवा करनेवाले (राजा दशरथ) ने कष्टसे प्राप्त हुए भी उस रामको लक्ष्मणके सहित, मुनि (विश्वामित्रजी) के लिये दे दिया । रघुवंशियोंमें प्राणोंकी याचना करनेवालोंकी भी याचना कभी असफल नहीं होती । (अतः राजा दशरथजी विश्वामित्र मुनिको यज्ञरक्षाके लिये प्रिय पुत्र रामजीको कैसे मना करते ?) ॥ २ ॥

यावदादिशति पार्थिवस्तयोर्निर्गमाय पुरमार्गसंस्क्रियाम् ।
तावदाशु विदधे मरुत्सखैः सा सपुष्पजलवर्षिभिर्घनैः ॥ ३ ॥

यावदिति । पार्थिवः पृथिवीश्वरस्तयो रामलक्ष्मणयोर्निर्गमाय निष्क्रमणाय पुरमार्गसंस्क्रियां धूलिसम्मार्जनगन्धोदकसेचनपुष्पोपहाररूपसंस्कारं यावदादिशत्याज्ञापयति तावन्मरुत्सखैर्वायुसखैः । अनेन धूलिसम्मार्जनं गम्यते । सपुष्पजलवर्षिभिः पुष्पसहितजलवर्षिभिर्घनैः सा मार्गसंस्क्रियाशु विदधे विहिता । एतेन देवकार्यप्रवृत्तयोर्दैवानुकूल्यं सूचितम् ॥ ३ ॥

राजाने जब तक उन दोनों (राम तथा लक्ष्मण) के नगरसे बाहर जानेके लिये राजमार्ग (मुख्य सड़कों) की सफाई, छिड़काव एवं फूल-पत्तियोंसे सजावट करनेकी आज्ञा दी, तब तक अर्थात् तत्काल ही वायुने धूल साफ कर दी और मेघने जलका छिड़काव कर दिया एवं देवताओंने आकाशसे पुष्पवृष्टिकर मार्गोंकी सजावट कर दी ॥ ३ ॥

तौ निदेशकरणोद्यतौ पितुर्धन्विनौ चरणयोर्निपेततुः ।
भूपतेरपि तयोः प्रवत्स्यतोर्नम्रयोरुपरि बाष्पबिन्दवः ॥ ४ ॥

ताविति । निदेशकरणोद्यतौ पित्राज्ञाकरणोद्युक्तौ धन्विनौ धनुष्मन्तौ तौ कुमारौ पितुश्चरणयोर्निपेततुः, प्रणतावित्यर्थः । भूपतेरपि बाष्पबिन्दवः प्रवत्स्यतोः प्रवासं करिष्यतोः । अत एव नम्रयोः प्रणतयोः । "नमिकम्पि" इति रप्रत्ययः । तयोरुपरि निपेतुः पतिताः ॥ ४ ॥

पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये तैयार एवं धनुष धारण किये हुए उन दोनों (राम तथा लक्ष्मण) ने पिताके चरणोंपर झुककर प्रणाम किया और बाहर जाते हुए तथा चरणोंमें प्रणत उन दोनोंके ऊपर राजाकी (स्नेहसे) आंसुओंके बूंद गिर पड़े ॥ ४ ॥

तौ पितुर्नयनजेन वारिणा किञ्चिदुक्षितशिखण्डकावुभौ ।
धन्विनौ तमृषिमन्वगच्छतां पौरदृष्टिकृतमार्गतोरणौ ॥ ५ ॥

ताविति । पितुर्नयनजेन वारिणा किञ्चिदुक्षितशिखण्डकावीषत्सिक्तचूडौ । 'शिखा चूडा शिखण्डः स्यात्' इत्यमरः । "शेषाद्विभाषा" इति कप्रत्ययः । धन्विनौ तावुभौ । पौरदृष्टिभिः कृतानि मार्गतोरणानि सम्पादितानि कुवलयानि ययोस्तौ तथोक्तौ, सकुतुकं निरीक्ष्यमाणावित्यर्थः । तमृषिमन्वगच्छताम् ॥ ५ ॥

पिताके नेत्रोत्पन्न जल (आंसू) से कुछ भींगे हुए काकपक्षवाले धनुर्धारी वे दोनों (राम तथा लक्ष्मण) उस मुनि (विश्वामित्रजी) के पीछे २ चले तो मार्गोंपर खड़े होकर नागरिक जो उन्हें देख रहे थे, वह ऐसा मालूम पड़ता था कि मानों नागरिकोंके नेत्ररूपी कमलोंसे तोरण बनाकर मार्ग सजाया गया है ॥ ५ ॥

लक्ष्मणानुचरमेव राघवं नेतुमैच्छदृषिरित्यसौ नृपः ।
आशिषं प्रयुयुजे न वाहिनीं सा हि रक्षणविधौ तयोः क्षमा ॥ ६ ॥

लक्ष्मणेति । ऋषिर्लक्ष्मणानुचरमेव लक्ष्मणमात्रानुचरं तं राघवं नेतुमैच्छदिति हेतोरसौ नृप आशिषं प्रयुयुजे प्रयुक्तवान् । वाहिनीं सेनां न प्रयुयुजे न प्रेषितवान् । हि यस्मात्साऽशीरेव तयोः कुमारयो रक्षणविधौ क्षमा शक्ता ॥ ६ ॥

विश्वामित्र मुनिने केवल लक्ष्मणके ही साथ रामचन्द्रजीको ले जाना चाहा, अतः इस राजाने केवल आशीर्वाद दिया, (उनकी रक्षाके लिए) सेनाको साथमें नहीं भेजी, (क्योंकि) वह आशीर्वाद ही उन दोनोंका रक्षक था ॥ ६ ॥

मातृवर्गचरणस्पृशौ मुनेस्तौ प्रपद्य पदवीं महौजसः ।
रेजतुर्गतिवशात्प्रवर्तिनौ भास्करस्य मधुमाधवाविव ॥ ७ ॥

मातृवर्गेति । मातृवर्गस्य चरणान्स्पृशत इति मातृवर्गचरणस्पृशौ, कृतमातृवर्गनमस्काराविन्यर्थः । "स्पृशोऽनुदके क्विन्" इति क्विन्प्रत्ययः । तौ महौजसौ मुनेः पदवीं प्रपद्य । महौजसो भास्करस्य गतिवशान्मेषादिराशिसंक्रान्त्यनुसारात्प्रवर्तिनौ मधुमाधवाविव चैत्रवैशाखाविव रेजतुः । "फणां च सप्तानाम्" इति वैकल्पिकावेत्वाभ्यासलोपौ । 'स्याच्चैत्रे चैत्रिको मधुः' इति । 'वैशाखे माधवो राधः' इति चामरः ॥ ७ ॥

माताओंको प्रणामकर महातेजस्वी मुनिके मार्गसे चलनेवाले वे दोनों ऐसे शोभायमान होते थे, जैसे महातेजस्वी सूर्यकी (मेष आदि संक्रान्ति) की गतिके कारण प्रवृत्त होनेवाले चैत्र तथा वैशाख मास शोभमान होते हैं ॥ ७ ॥

वीचिलोलभुजयोस्तयोर्गतं शैशवाच्चपलमप्यशोभत ।
तोयदागम इवोद्ध्यभिद्ययोर्नामधेयसदृशं विचेष्टितम् ॥ ८ ॥

वीचीति । वीचिलोलभुजयोस्तरङ्गचञ्चलबाह्वोः । इदं विशेषणं नदोपमानसिद्ध्यर्थं वेदितव्यम् । तयोश्चपलं चञ्चलमपि गतं गतिः शैशवाद्धेतोरशोभत । किमिव, तोयदागमे वर्षासमये उज्झत्युदकमित्युद्ध्यः । भिनत्ति कूलमिति भिद्यः । "भिद्योद्ध्यौ नदे" इति क्यबन्तौ निपातितौ । उद्ध्यभिद्ययोर्नदविशेषयोर्नामधेयसदृशं नामानुरूपं विचेष्टितमिव । उदकोज्झनकूलभेदनरूपव्यापार इव । समयोत्पन्नं चापलमपि शोभत इति भावः ॥ ८ ॥

सुख (-पूर्वक गमन) से हिलते हुए भुजाओंवाले उन दोनोंका शैशवके कारण चञ्चल भी गमन, वर्षाकाल आनेपर तरङ्गरूप चञ्चल बाहुवाले भिद्य और उद्ध्य नामक नदोंको नामानुकूल (क्रमशः तटको तोड़नेवाला और जलको छोड़नेवाला) चेष्टाके समान शोभित होता था ॥ ८ ॥

तौ बलातिबलयोः प्रभावतो विद्ययोः पथि मुनिप्रदिष्टयोः ।
मम्लतुर्न मणिकुट्टिमोचितौ मातृपार्श्वपरिवर्तिनाविव ॥ ९ ॥

ताविति । मणिकुट्टिमोचितौ मणिबद्धभूमिसञ्चारोचितौ तौ मुनिप्रदिष्टयोः कौशिकेनोपदिष्टयोर्बलातिबलयोर्विद्ययोर्बलातिबलाख्ययोर्मन्त्रयोः प्रभावतः सामर्थ्यान्मातृपार्श्वपरिवर्तिनौ मातृसमीपवर्तिनाविव पथि न मम्लतुः, न ग्लानावित्यर्थः । अत्र रामायणश्लोकः—"क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते नरोत्तम । बलामतिबलां चैव पठतः पथि राघव ॥" ॥ ९ ॥

मणिमयी भूमिपर चलनेके योग्य वे दोनों (राम और लक्ष्मण) मुनि विश्वामित्रजीके द्वारा सिखाई हुई 'बला और अतिबला' नामक विद्याओंके प्रभावसे माताके समीप रहते हुएके समान रास्तेमें खिन्न नहीं हुए ॥ ९ ॥

पूर्ववृत्तकथितैः पुराविदः सानुजः पितृसखस्य राघवः ।
उह्यमान इव वाहनोचितः पादचारमपि न व्यभावयत् ॥ १० ॥

पूर्ववृत्तेति । वाहनोचितः सानुजो राघवः । पुराविदः पूर्ववृत्ताभिज्ञस्य पितृसखस्य मुनेः पूर्ववृत्तकथितैः पुरावृत्तकथाभिरुह्यमान इव वाहनेन प्राप्यमाण इव । वहेर्धातोः कर्मणि शानच् । "उह्यमानः" इत्यत्र दीर्घादिरपपाठः । दीर्घप्राप्त्यभावात् । पादचारमपि न व्यभावयन्न ज्ञातवान् ॥ १० ॥

वाहनों (हाथी—घोड़ा आदि सवारियों) के योग्य छोटे भाई (लक्ष्मण) के सहित रामचन्द्रजीने पुराने इतिहासोंके ज्ञाता तथा पिता (दशरथजी) के मित्र मुनिराज विश्वामित्रके द्वारा प्राचीन इतिहास आदिके कथनोंसे ढोये जाते हुएके समान, अपने पैदल चलनेका भी अनुभव नहीं किया। (पूर्व इतिहासोंको सुनते हुए चलनेसे पैदल चलनेपर भी उन्हें कष्ट नहीं हुआ) ॥ १० ॥

तौ सरांसि रसवद्भिरम्बुभिः कूजितैः श्रुतिसुखैः पतत्त्रिणः ।
वायवः सुरभिपुष्परेणुभिश्छायया च जलदाः सिषेविरे ॥ ११ ॥

ताविति । तौ राघवौ कर्मभूतौ सरांसि कर्तॄणि रसवद्भिर्मधुरैरम्बुभिः सिषेविरे । पतत्त्रिणः पक्षिणः । सुखयन्तीति सुखानि । पचाद्यच् । श्रुतीनां सुखानि । तैः कूजितैः । वायवः सुरभिपुष्परेणुभिः सुगन्धिपरागैः । जलदाश्छायया च सिषेविरे इति सर्वत्र सम्बध्यते ॥ ११ ॥

तड़ागोंने मधुर जलसे, पक्षियोंने कानोंके सुखप्रद मधुर कलरवसे, वायुने सुगन्धयुक्त पुष्प—परागोंसे और मेघोंने (धूपनिवारक) छायासे उन दोनोंकी सेवा की ॥ ११ ॥

नाम्भसां कमलशोभिनां तथा शाखिनां च न परिश्रमच्छिदाम् ।
दर्शनेन लघुना यथा तयोः प्रीतिमापुरुभयोस्तपस्विनः ॥ १२ ॥

नाम्भसामिति । तप एषामस्तीति तपस्विनः । "तपः सहस्राभ्यां विनीनी" इति विनिप्रत्ययः । लघुनेष्टेन 'त्रिष्विष्टेऽल्पे लघुः' इत्यमरः । तयोरुभयोः कर्मभूतयोः । दर्शनेन यथा प्रीतिमापुः तथा कमलशोभिनामम्भसां दर्शनेन नापुः । परिश्रमच्छिदां शाखिनां दर्शनेन च नापुः ॥ १२ ॥

तपस्वीलोगोंने अभिलषित (या थोड़े) उन दोनोंके दर्शनसे जैसा सुख पाया, वैसा सुख कमलोंसे शोभायमान जलके दर्शनसे और परिश्रमको (छायासे) दूर करनेवाले वृक्षोंके दर्शनसे नहीं पाया ॥ १२ ॥

स्थाणुदग्धवपुषस्तपोवनं प्राप्य दाशरथिरात्तकार्मुकः ।
विग्रहेण मदनस्य चारुणा सोऽभवत्प्रतिनिधिर्न कर्मणा ॥ १३ ॥

स्थाणुदग्धेति । स आत्तकार्मुकः । दशरथस्यापत्यं पुमान्दाशरथी रामः । "अत इञ्" इतीञ्प्रत्ययः । स्थाणुर्हरः । 'स्थाणुः कीले हरे स्थिरे' इति विश्वः । तेन दग्धवपुषो मदनस्य तपोवनं प्राप्य चारुणा विग्रहेण कायेन । 'विग्रहः समरे काये' इति विश्वः । प्रतिनिधिः प्रतिकृतिः सदृशोऽभवत्कर्मणा न पुनः देहेन मदनसुन्दर इति भावः ॥१३॥

धनुर्धारी दशरथनन्दन वह (रामचन्द्रजी) तपोवनमें पहुंचकर शिवजीसे दग्ध शरीर-वाले कामके प्रतिनिधि (केवल) सुन्दर शरीरसे ही हुए, कार्य (विरहिजन–पीडनरूप कार्य या शिवकी समाधिको भग्न करनेके कार्य) से कामदेवके प्रतिनिधि नहीं हुए ॥ १३ ॥

पौराणिक कथा—ब्रह्माके वर देनेसे निर्भय तारकासुरसे पीडित देवसमूहने ब्रह्माके पास जाकर तारकासुरके मरनेका उपाय पूछा तो उन्होंने कहा कि 'शिवजीकी सन्तानको सेनापति बनाकर आपलोग उसे मारनेका उद्योग करें । तब हिमालयके एकदेशमें समाधि लगाये हुए प्रतिदिन पूजाके लिये फूल आदि समग्री पहुंचानेवाली पार्वतीसे उपास्यमान शङ्करजी-की समाधिको भङ्ग करनेके लिये देवेन्द्रके अनुरोधसे कामदेव वहां जाकर धनुषपर बाण चढ़ाकर शङ्करजीके मनमें विकार पैदा करना चाहा, इतनेमें उन्होंने उस कामदेवके दुष्कार्य्य-को मालूमकर तृतीय नेत्रकी अग्निसे तत्काल ही उसे भस्म कर डाला ।

तौ सुकेतुसुतया खिलीकृते कौशिकाद्विदितशापया पथि ।
निन्यतुः स्थलनिवेशिताटनी लीलयेव धनुषी अधिज्यताम् ॥ १४ ॥

ताविति । अत्र रामायणवचनम्–"अगस्त्यः परमक्रुद्धस्ताडकामभिशप्तवान् । पुरुषादी महायक्षी विकृता विकृतानना । इदं रूपमपाहाय दारुणं रूपमस्तु ते" । इति । तदेतदाह–विदितशापयेति । कौशिकादाख्यातुः । "आख्यातोपयोगे" इत्यपादाना-

त्पञ्चमी। विदितशापया सुकेतुसुतया ताडकया खिलीकृते पथि। 'खिलमप्रहतं स्थानम्' इति हलायुधः। रामलक्ष्मणौ। स्थले निवेशिते अटनी धनुष्कोटी याभ्यां तौ तथोक्तौ। 'कोटिरस्याटनी' इत्यमरः। लीलयेव धनुषी। अधिकृते ज्ये मौर्व्यौ ययोस्ते अधिज्ये। 'ज्या मौर्वीमातृभूमिषु' इति विश्वः। तयोर्भावस्तत्तामधिज्यतां निन्युर्नीतवन्तौ नयतिर्द्विकर्मकः॥ १४॥

विश्वामित्रजीसे विदित हो गया है शाप जिसका ऐसी ताडकासे जनसञ्चार शून्य किये गये मार्गमें भूमिपर धनुष्कोटिको रखकर उन दोनोंने सरलतासे धनुषोंपर डोरी चढ़ा ली॥१४॥

पौराणिक कथा—'सुकेतु' नामक यक्षकी पुत्रका विवाह 'सुन्द' नामक 'धुन्धु' दैत्यके पुत्रसे हुआ। विष्णुके द्वारा 'सुन्द'के मारे जानेपर ब्रह्माके वरसे प्रचण्ड एवं हजारों हाथियोंके तुल्य बलवाली 'सुन्द'की स्त्रीने अगस्त्य ऋषिपर आक्रमण किया तो उन्होंने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि "तुम इस शरीरको छोड़कर भयङ्कर शरीर धारण करो और पुरुषोंको भक्षण करनेवाली विकराल मुखवाली महायक्षी हो जावो" इसी शापको रामचन्द्रजीने विश्वामित्र मुनिसे मालूम किया।

ज्यानिनादमथ गृह्णती तयोः प्रादुरास बहुलक्षपाछविः।
ताडका चलकपालकुण्डला कालिकेव निबिडा बलाकिनी॥ १५॥

ज्यानिनादमिति। अथ तयोर्ज्यानिनादं गृह्णती जानती, शृण्वतीत्यर्थः। बहुलक्षपाछविः कृष्णपक्षरात्रिवर्णा। 'बहुलः' कृष्णपक्षे च' इति विश्वः। चले कपाले एव कुण्डले यस्याः सा तथोक्ता ताडका। निबिडा सान्द्रा बलाकिनी बलाकावती। "व्रीह्यादिभ्यश्च" इतीनिः। कालिकेव घनालीव। 'कालिका योगिनीभेदे कार्ष्ण्ये गौर्यां घनावलौ' इति विश्वः। प्रादुरास प्रादुर्बभूव॥ १५॥

इसके बाद (उन दोनोंके द्वारा किये गये) धनुष्टङ्कारको सुनकर कृष्णपक्षकी रात्रिके समान शोभावाली (अर्थात् अत्यन्त काली) और चञ्चल कपाल-कुण्डलोंवाली ताडका बलाकायुक्त सघन मेघावलीके समान वहां पहुंच गयी॥ १५॥

तीव्रवेगधुतमार्गवृक्षया प्रेतचीवरवसा स्वनोग्रया।
अभ्यभावि भरताग्रजस्तया वात्ययेव पितृकाननोत्थया॥ १६॥

तीव्रवेगेति। तीव्रवेगेन धुताः कम्पिता मार्गवृक्षा यया तथोक्तया। प्रेतचीवराणि वस्त इति प्रेतचीवरवाः। तया प्रेतचीवरवसा। वसतेराच्छादनार्थात्क्विप्। स्वनेन सिंहनादेनोग्रया तया ताडकया। पितृकानने श्मशान उत्थोत्पन्ना। "आतश्चोपसर्गे" इत्युत्पूर्वात्तिष्ठतेः कर्तरि कप्रत्ययः। तया वात्ययेव वातसमूहेनेव। "पाशादिभ्यो यः" इति यः। भरताग्रजो रामोऽभ्यभाव्यभिभूतः। कर्मणि लुङ्। तीव्रवेगेत्यादिविशेषणानि वात्यायामपि योज्यानि॥ १६॥

तीव्र वेगसे मार्गके पेड़ोंको कम्पित करनेवाली, प्रेतोंका चीथड़ा (कफन) पहनी हुई, गर्जनेसे अतिभयङ्कर उस ताडकाने श्मशानसे उठी हुई आँधीके समान, रामचन्द्रजीको अभिभूत कर दिया ॥ १६ ॥

उद्यतैकभुजयष्टिमायतीं श्रोणिलम्बिपुरुषान्त्रमेखलाम् ।
तां विलोक्य वनितावधे घृणां पत्रिणा सह मुमोच राघवः ॥ १७ ॥

उद्यतैकेति । उद्यतोऽन्नमितैको भुज एव यष्टिर्यस्यास्ताम् । आयतीमायान्तीम् । इणो धातोः शतरि "उगितश्च" इति ङीप् । श्रोणिलम्बिनी पुरुषाणामन्त्राण्येव मेखला यस्यास्ताम् । इति विशेषणद्वयेनाप्याततायित्वं सूचितम् । अत एव तां विलोक्य राघवो वनितावधे स्त्रीवधनिमित्ते घृणां जुगुप्सां करुणां वा । 'जुगुप्साकरुणे घृणे' इत्यमरः । पत्रिणेषुणा सह । 'पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः । मुमोच मुक्तवान् । आततायिवधे मनुः—"आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् । जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् । नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन" इति ॥ १७ ॥

ऊपर उठी हुई एक भुजारूप लाठीवाली अर्थात् लाठीके समान एक भुजाको ऊपर उठाई हुई, आती हुई और मनुष्योंकी आँतोंकी करधनी बनाकर कमरमें पहनकर लटकाती हुई उस ताडकाको देखकर रामजीने स्त्रीवध करनेमें घृणा (या दया) के साथ बाणको छोड़ा। ('ऐसी स्त्रीको मारनेमें दया नहीं करनी चाहिये' ऐसा विचारकर उसपर बाण छोड़ा) ॥१७॥

यच्चकार विवरं शिलाघने ताडकोरसि स रामसायकः ।
अप्रविष्टविषयस्य रक्षसां द्वारतामगमदन्तकस्य तत् ॥ १८ ॥

यदिति । स रामसायकः शिलावद्घने सान्द्रे ताडकोरसि यद्विवरं रन्ध्रं चकार तद्विवरं रक्षसामप्रविष्टविषयस्य, अप्रविष्टरक्षोदेशस्येत्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । 'विषयः स्यादिन्द्रियार्थे देशे जनपदेऽपि च' इति विश्वः । अन्तकस्य यमस्य द्वारतामगमत् । इयं प्रथमा रक्षोमृतिरिति भावः ॥ १८ ॥

उस राम-बाणने पत्थरके समान कठोर ताडकाकी छातीमें जो छिद्र किया, वह राक्षसोंके देश (निवासस्थान) में नहीं पहुंचे हुए यमराजके द्वारभावको प्राप्त किया अर्थात् यमराज के लिये मानो द्वार बन गया ॥ १८ ॥

बाणभिन्नहृदया निपेतुषी सा स्वकाननभुवं न केवलाम् ।
विष्टपत्रयपराजयस्थिरां रावणश्रियमपि व्यकम्पयत् ॥ १९ ॥

बाणभिन्नेति । बाणभिन्नहृदया निपेतुषी निपतिता सती । "क्वसुश्च" इति क्वसुप्रत्ययः । "उगितश्च" इति ङीप् । सा केवलामेकाम् । 'निर्णीते केवलमिति त्रिलिङ्गं त्वेककृत्स्नयोः' इत्यमरः । स्वकाननभुवं न व्यकम्पयत् । किन्तु विष्टपत्रयस्य लोक-

त्रयस्य पराजयेन स्थिरां रावणश्रियमपि व्यकम्पयत् । ताडकावधश्रवणेन रावणस्यापि भयमुत्पन्नमिति भावः ॥ १९ ॥

बाणसे भिन्न हृदयवाली तथा गिरी हुई उस ताडकाने केवल अपने वनकी भूमिको ही नहीं कम्पित कर दिया, किन्तु तीनों लोकोंको पराजित करनेसे स्थिर रावणकी लक्ष्मीको भी कम्पित कर दिया ॥ १९ ॥

अत्र ताडकाया अभिसारिकायाः समाधिरभिधीयते—

रामन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥ २० ॥

राममन्मथेति । सा निशासु चरतीति निशाचरी राक्षसी, अभिसारिका च । दुःसहेन सोढुमशक्येन राम एव मन्मथः, अन्यत्राभिरामो मन्मथः । तस्य शरेण हृदय उरसि मनसि च । 'हृदयं मन उरसोः' इति विश्वः । ताडिता विद्धाङ्गी गन्धवद् दुर्गन्धि यद्रुधिरमसृक् तदेव चन्दनं तेनोक्षिता लिप्ता । अपरत्र गन्धवती सुगन्धिनी च रुधिरचन्दने कुङ्कुमचन्दने ताभ्यामुक्षिता, यद्वा गन्धवत् रुधिरमिव चन्दनं हरिच· न्दनमित्यर्थः । 'रुधिरं कुङ्कुमासृजोः' इत्युभयत्रापि विश्वः । जीवितेशस्यान्तकस्य प्राणेश्वरस्य च वसतिं जगाम ॥ २० ॥

जिस प्रकार दुःसह, सुन्दर कामके बाणसे ताडित रात्रिमें गमन करनेवाली अभिसारिका नायिका गन्धयुक्त चन्दनसे चर्चित होकर प्राणनाथ नायकके निवासस्थानको जाती है, उसी प्रकार दुःसह मनको मथन करनेवाले रामके बाणसे (या रामरूपी कामदेवके बाणसे) हृदयमें ताडित हुई राक्षसी ताडका गन्धयुक्त रक्तरूप चन्दनसे चर्चित (लथपथ) होकर यमराजपुरीको चली गयी अर्थात् मर गयी ॥ २० ॥

नैर्ऋतघ्नमथ मन्त्रवन्मुनेः प्रापदस्त्रमवदानतोषितात् ।
ज्योतिरिन्धननिपाति भास्करात्सूर्यकान्त इव ताडकान्तकः ॥ २१ ॥

नैर्ऋतघ्नमिति । अथानन्तरं ताडकान्तको रामः । अवदानं पराक्रमः । 'परा· क्रमोऽवदानं स्यात्' इति भागुरिः । तेन तोषितान्मुनेः नैर्ऋतान् राक्षसान्हन्तीति नैर्ऋतघ्नम् । "अमनुष्यकर्तृके च" इति ठक् । मन्त्रवन्मन्त्रयुक्तमस्त्रम् । सूर्यकान्तो मणिविशेषो भास्करादिन्धनानि निपातयतीतीन्धननिपाति काष्ठदाहकं ज्योतिरिव । प्रापत्प्राप्तवान् ॥ २१ ॥

इसके बाद ताडकाका वध करनेवाले रामने पराक्रमसे संतुष्ट मुनि (विश्वामित्रजी) से मन्त्रयुक्त राक्षस-नाशक अस्त्रको उस प्रकार प्राप्त किया, जिस प्रकार सूर्यकान्तमणि सूर्यसे इन्धनको जलानेवाले तेजको प्राप्त करता है ॥ २१ ॥

वामनाश्रमपदं ततः परं पावनं श्रुतमृषेरुपेयिवान्।
उन्मनाः प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघवः ॥ २२ ॥

वामनेति। ततः परं राघवः। ऋषेः कौशिकादाख्यातुः श्रुतं पावनं शोधनं वामनस्य स्वपूर्वावतारविशेषस्याश्रमपदमुपेयिवानुपगतः सन्। "उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च" इति निपातः। प्रथमजन्मचेष्टतानि रामवामनयोरैक्यात्स्मृतियोग्यान्यपि रामस्याज्ञातावतारत्वेन संस्कारदौर्बल्यादस्मरन्नपि उन्मना उत्सुको बभूव ॥ २२ ॥

तदनन्तर विश्वामित्रसे सुने गये, पवित्र वामनाश्रम स्थानको पहुँचे हुए राम पूर्व जन्म (वामनावतार) की चेष्टाओंको नहीं स्मरण करते हुए भी उत्सुक हुए ॥ २२ ॥

आससाद मुनिरात्मनस्ततः शिष्यवर्गपरिकल्पितार्हणम्।
बद्धपल्लवपुटाञ्जलिद्रुमं दर्शनोन्मुखमृगं तपोवनम् ॥ २३ ॥

आससादेति। ततो मुनिः। शिष्यवर्गेण परिकल्पिता सज्जितार्हणा पूजासामग्री यस्मिंस्तत्तथोक्तम्। 'सपर्यार्चार्हणाः समाः' इत्यमरः। बद्धाः पल्लवपुटा एवाञ्जलयो यैस्ते तथाभूता द्रुमा यस्मिंस्तत्तथोक्तम्। दर्शनेन मुनिदर्शनेनोन्मुखा मृगा यस्मिंस्तत्। आत्मनस्तपोवनमाससाद। एतेन विशेषणत्रयेणातिथिसत्कारताच्छील्यविनयशान्तयः सूचिताः ॥ २३ ॥

तदनन्तर मुनि (विश्वामित्रजी) ने शिष्यसमुदायद्वारा सुसज्जित पूजा-सामग्रीवाले, सम्पुटित पल्लव-पुटरूपी अञ्जलि-युक्त वृक्षोंवाले और दर्शनके लिये या दर्शनसे उन्मुख (मुखको ऊपर उठाये हुए) मृगोंवाले अपने तपोवनको प्राप्त किया ॥ २३ ॥

तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतुर्विघ्नतो दशरथात्मजौ शरैः।
लोकमन्धतमसात्क्रमोदितौ रश्मिभिः शशिदिवाकराविव ॥ २४ ॥

तत्रेति। तत्र तपोवने आश्रमे दशरथात्मजौ दीक्षितं दीक्षासंस्कृतमृषिं शरैर्विघ्नतो विघ्नेभ्यः। क्रमेण पर्यायेण रात्रिदिवसयोरुदितौ शशिदिवाकरौ रश्मिभिः किरणैरन्धतमसाद्गाढध्वान्तात्। 'ध्वान्ते गाढेऽन्धतमसम्' इत्यमरः। "अवसमन्धेभ्यस्तमसः" इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः। लोकमिव ररक्षतुः। रक्षणप्रवृत्तावभूतामित्यर्थः॥

वहाँपर दोनों दशरथनन्दन (राम-लक्ष्मण) यज्ञ करनेके लिए दीक्षाको ग्रहण किये हुए मुनिकी बाणोंके द्वारा विघ्नोंसे उस प्रकार रक्षा करने लगे, जिस प्रकार उदयको प्राप्त हुए सूर्य तथा चन्द्र किरणोंके द्वारा घने अन्धकारसे संसारकी रक्षा करते हैं ॥ २४ ॥

वीक्ष्य वेदिमथ रक्तबिन्दुभिर्बन्धुजीवपृथुभिः प्रदूषिताम्।
सम्भ्रमोऽभवदपोढकर्मणामृत्विजां च्युतविकङ्कतस्रुचाम् ॥ २५ ॥

वीक्ष्येति। अथ बन्धुजीवपृथुभिर्बन्धुजीवकुसुमस्थूलैः। 'रक्तकस्तु बन्धूको बन्धुजीवकः' इत्यमरः। रक्तबिन्दुभिः प्रदूषितामुपहतां वेदिं वीक्ष्य। अपोढकर्मणां त्यक्तव्यापाराणां त्यक्तयज्ञकर्मणाम्। च्युता विकङ्कतस्रुचो यज्ञपात्राणि येभ्यस्तेषामृत्विजां याजकानां सम्भ्रमोऽभवत्। विकङ्कतग्रहणं खदिराद्युपलक्षणम्। स्रुगादीनां खदिरादिप्रकृतिकत्वात्। स्रुवादिपात्रस्यैव विकङ्कतप्रकृतिकत्वात्। 'विकङ्कतः स्रुवावृक्षः' इत्यमरः। यद्वा स्रुङ्मात्रस्य विकङ्कतप्रकृतिकत्वमस्तु। उभयत्रापि शास्त्रसम्भवात्। यथाह भगवानापस्तम्बः-"खादिरस्रुचः पर्णमयीर्जुहूर्वैकङ्कतीः स्रुचो वा" इति ॥२५॥

तदनन्तर 'दुपहरिया' नामक फूलके समान बड़े २ रक्तकी बूंदोंसे दूषित यज्ञवेदीको देखकर यज्ञकर्मको रोक देनेवाले तथा खदिरनिर्मित स्रुवाको गिरा देनेवाले ऋत्विजों (याजकों—यज्ञकर्ताओं) को सम्भ्रम हुआ अर्थात् ऋत्विजोंने रक्तबिन्दु-दूषित यज्ञ-वेदीको देख घबड़ाकर यज्ञ करना रोक दिया और स्रुवाको नीचे रख दिया ॥ २५ ॥

उन्मुखः सपदि लक्ष्मणाग्रजो बाणमाश्रयमुखात्समुद्धरन् ।
रक्षसां बलमपश्यदम्बरे गृध्रपक्षपवनेरितध्वजम् ॥ २६ ॥

उन्मुख इति। सपदि लक्ष्मणाग्रजो रामो बाणमाश्रयमुखात्तूणीरमुखात्समुद्धरन्। उन्मुख ऊर्ध्वमुखोऽम्बरे। गृध्रपक्षपवनैरीरिताः कम्पिता ध्वजा यस्य तत्तथोक्तम्। रक्षसां दुर्निमित्तसूचनमेतत्। तदुक्तं शकुनार्णवे-"आसन्नमृत्योर्निकटे चरन्ति गृध्रादयो मूर्ध्नि गृहोर्ध्वभागे" इति। रक्षसां निशाचराणां बलमपश्यत् ॥ २६ ॥

उसी समयमें तरकससे बाणको निकालते हुए रामने उन्मुख होकर आकाशमें गीधोंके पङ्खोंकी हवासे कम्पित पताकाओंवाली राक्षसोंकी सेनाको देखा। (गीधोंके द्वारा पताकाओंका हिलाया जाना राक्षसोंका अशुभ शकुन था) ॥ २६ ॥

तत्र यावधिपती मखद्विषां तौ शरव्यमकरोत्स नेतरान् ।
किं महोरगविसर्पिविक्रमो राजिलेषु गरुडः प्रवर्तते ॥ २७ ॥

तत्रेति। स रामस्तत्र रक्षसां बले यौ मखद्विषां मखं यज्ञं द्विषन्तीति तेषाम्। अधिपती तौ सुबाहुमारीचौ शरव्यं लक्ष्यमकरोत्। 'वेध्यं लक्ष्यं शरव्यं च' इति हलायुधः। इतरान्नाकरोत्। तथा हि—महोरगविसर्पिविक्रमो गरुडो गरुत्मान् राजिलेषु जलव्यालेषु प्रवर्तते किम्, न प्रवर्तते इत्यर्थः। 'अलगर्दो जलव्यालः समौ राजिलडुण्डुभौ' इत्यमरः ॥ २७ ॥

उस (राम) ने उस सेनामें यज्ञ-विध्वंसक राक्षसोंके जो दो (मारीच तथा सुबाहु) प्रधान थे, उन्हींको निशाना बनाया, दूसरोंको नहीं; क्योंकि बड़े २ सर्पोंपर सफल पराक्रम वाला गरुड क्या डोंड़ (जलमें रहनेवाले निर्विष) सर्पोंपर प्रहार करता है? अर्थात् कदापि नहीं ॥ २७ ॥

सोऽस्त्रमुग्रजवमस्त्रकोविदः सन्दधे धनुषि वायुदैवतम् ।
तेन शैलगुरुमप्यपातयत्पाण्डुपत्रमिव ताडकासुतम् ॥ २८ ॥

स इति । अस्त्रकोविदोऽस्त्रज्ञः स राम उग्रजवमुत्कटजवं वायुदैवतं वायुर्देवता अस्य तद्वायव्यमस्त्रं धनुषि सन्दधे संहितवान् । कर्तरि लिट् । तेनास्त्रेण शैलवद्गुरुमपि ताडकासुतं मारीचं पाण्डुपत्रमिव, परिणतपर्णमिवेत्यर्थः । अपातयत्पातितवान् ॥ २८ ॥

अस्त्र-पण्डित (राम) ने तीव्र वेगवाले जिस वायव्यास्त्रको धनुषपर चढ़ाया था, उसने पर्वतके समान भारी भी ताडकापुत्र (मारीच) को पके हुए पत्तेके समान (सरलतासे दूर) गिरा दिया ॥ २८ ॥

यः सुबाहुरिति राक्षसोऽपरस्तत्र तत्र विससर्प मायया ।
तं क्षुरप्रशकलीकृतं कृती पत्रिणां व्यभजदाश्रमाद्बहिः ॥ २९ ॥

य इति । सुबाहुरिति । योऽपरो राक्षसस्तत्र तत्र मायया शम्बरविद्यया विससर्प सञ्चचार । क्षुरप्रैः शरविशेषैः शकलीकृतं खण्डीकृतं तं सुबाहुं कृती कुशलो रामः । "इष्टादिभ्यश्च" इति इनिः । 'कृती कुशल इत्यपि' इत्यमरः । आश्रमाद्बहिः पत्रिणां पक्षिणाम् । 'पत्रिणौ शरपक्षिणौ' इत्यमरः । व्यभजत्, विभज्य दत्तवानित्यर्थः ॥ २९ ॥

दूसरा 'सुबाहु' नामका जो राक्षस मायासे इधर-उधर घूम रहा था, चतुर रामने क्षुरप्र (एक प्रकारका बाण-विशेष) से खण्डितकर उसको आश्रमके बाहर पक्षियोंके लिये बांट दिया । (उसके शरीरको खण्डशः कर आश्रमके बाहर फेंक दिया तो उसे पक्षी खाने लगे) ॥ २९ ॥

इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयोः सांयुगीनमभिनन्द्य विक्रमम् ।
ऋत्विजः कुलपतेर्यथाक्रमं वाग्यतस्य निरवर्तयन्क्रियाः ॥ ३० ॥

इतीति । इत्यपास्तमखविघ्नयोस्तयो राघवयोः । संयुगे रणे साधुः सांयुगीनस्तम् । "प्रतिजनादिभ्यः खञ्" इति खञ्प्रत्ययः । 'सांयुगीनो रणे साधुः' इत्यमरः । विक्रमं पौरुषमभिनन्द्य सत्कृत्य ऋत्विजो याज्ञिकाः । वाचि यतो वाग्यतो मौनी तस्य कुलपतेर्मुनिकुलेश्वरस्य क्रियाः क्रतुक्रिया यथाक्रमं निरवर्तयन्निष्पादितवन्तः ॥ ३० ॥

इस प्रकार यज्ञ-विघ्नोंको दूर करनेवाले उन दोनोंके युद्ध-निपुण पराक्रमको अभिनन्दितकर ऋत्विजों (यज्ञकर्ताओं) ने मौनी कुलपति (विश्वामित्रजी) की क्रियाओंको क्रमशः पूरा किया ॥ ३० ॥

तौ प्रणामचलकाकपक्षकौ भ्रातराववभृथाप्लुतो मुनिः ।
आशिषामनुपदं समस्पृशद्दर्भपाटिततलेन पाणिना ॥ ३१ ॥

ताविति । अवभृथे दीक्षान्त आप्लुतः स्नातो मुनिः । 'दीक्षान्तोऽवभृथो यज्ञे' इत्यमरः । प्रणामेन चलकाकपक्षकौ चञ्चलचूडौ तौ भ्रातरावाशिषामनुपदमन्वक्दर्भपाटिततलेन कुशक्षतान्तःप्रदेशेन, पवित्रेणेत्यर्थः । पाणिना समस्पृशत्संस्पृष्टवान् , सन्तोषादिति भावः ॥ ३१ ॥

अवभृथ (यज्ञान्तमें किये जानेवाले) स्नानको किये हुए मुनि (विश्वामित्रजी) ने प्रणाम करनेसे हिलते हुए काकपक्षोंवाले उन दोनोंको आशीर्वाद देनेके बाद कुशाओंसे विदीर्ण तलहथीवाले हाथोंसे स्पर्श किया अर्थात् हाथसे पीठ छूते हुए आशीर्वाद दिया ॥३१॥

तं न्यमन्त्रयत सम्भृतक्रतुर्मैथिलः स मिथिलां व्रजन्वशी ।
राघवावपि निनाय बिभ्रतौ तद्धनुः श्रवणजं कुतूहलम् ॥ ३२ ॥

तमिति । सम्भृतक्रतुः संकल्पितसम्भारो मिथिलायां भवो मैथिलो जनकस्तं विश्वामित्रं न्यमन्त्रयताहूतवान् । वशी स मुनिर्मिथिलां जनकनगरीं व्रजंस्तस्य जनकस्य यद्धनुस्तच्छ्रवणजं कुतूहलं बिभ्रतौ राघवावपि निनाय नीतवान् ॥ ३२ ॥

विवाह स्वयंवरका निश्चय किये हुए मिथिलेश्वर (जनक) ने उन्हें (विश्वामित्रजीको) निमन्त्रित किया । मिथिलाको जाते हुए जितेन्द्रिय वे (विश्वामित्र मुनि) उनके धनुषके (उठाने वालेके साथ पुत्री सीताका विवाह करनेकी प्रतिज्ञा) सुननेसे उत्पन्न कौतूहलयुक्त हुए उन दोनों रघुवंशियों (राम तथा लक्ष्मण) को भी ले गये ॥ ३२ ॥

तैः शिवेषु वसतिर्गताध्वभिः सायमाश्रमतरुष्वगृह्यत ।
येषु दीर्घतपसः परिग्रहो वासवक्षणकलत्रतां ययौ ॥ ३३ ॥

तैरिति । गताध्वभिस्तैस्त्रिभिः सायं शिवेषु रम्येष्वाश्रमतरुषु वसतिः स्थानमगृह्यत । येष्वाश्रमतरुषु दीर्घतपसो गौतमस्य परिग्रहः पत्नी । 'पत्नीपरिजनादानमूलशापाः परिग्रहाः' इत्यमरः । अहल्येति यावत् । वासवस्येन्द्रस्य क्षणकलत्रतां ययौ॥

मार्गको अतिक्रम किये हुए उन्होंने सायङ्कालमें रमणीय वन आश्रम वृक्षोंके नीचे ठहरे, जहांपर महातपस्वी (गौतम मुनि) की स्त्री (अहल्या) क्षणमात्र इन्द्रकी पत्नी बन गयी थी ॥ ३३ ॥

प्रत्यपद्यत चिराय यत्पुनश्चारु गौतमवधूः शिलामयी ।
स्वं वपुः स किल किल्बिषच्छिदां रामपादरजसामनुग्रहः ॥ ३४ ॥

प्रत्यपद्यत इति । शिलामयी भर्तृशापाच्छिलात्वं प्राप्ता गौतमवधूरहल्या यद स्वं

वपुश्चिराय पुनः प्रत्यपद्यत प्राप्तवती यत् । स किल्बिषच्छिदां पापहारिणाम् । 'पापं किल्बिषकल्मषम्' इत्यमरः । रामपादरजसामनुग्रहः किल प्रसादः किलेति श्रूयते ॥३४॥

(पतिके शापसे) पत्थर बनी हुई गौतम-पत्नी (अहल्या) ने चिरकालके लिये जो अपना सुन्दर शरीर प्राप्त किया, वह पापनाशिनी रामके चरणरजकी कृपा थी (पति-शापसे पत्थर बनी हुई अहल्याने रामके चरणरजके स्पर्शसे सुन्दर शरीर प्राप्त किया) ॥ ३४ ॥

राघवान्वितमुपस्थितं मुनिं तं निशम्य जनको जनेश्वरः ।
अर्थकामसहितं सपर्यया देहबद्धमिव धर्ममभ्यगात् ॥ ३५ ॥

राघवेति । राघवाभ्यामन्वितं युक्तमुपस्थितमागतं तं मुनिं जनको जनेश्वरो निशम्य आकर्ण्य । अर्थकामाभ्यां सहितं देहबद्धं बद्धदेहं, मूर्तिमन्तमित्यर्थः । आहिताग्न्यादित्वात्साधुः । धर्ममिव । सपर्ययाऽभ्यगात्प्रत्युद्गतवान् ॥ ३५ ॥

अर्थ और कामके सहित शरीरधारी धर्मके समान, राघव (राम-लक्ष्मण) के साथ आये हुए मुनि (विश्वामित्रजी) का नाम सुनकर राजा जनक पूजाके लिये अगवानी किये ॥३५॥

तौ विदेहनगरीनिवासिनां गां गताविव दिवः पुनर्वसू ।
मन्यते स्म पिबतां विलोचनैः पक्ष्मपातमपि वञ्चनां मनः ॥ ३६ ॥

ताविति । दिवः सुरवर्त्मन आकाशात् । 'द्यौः स्वर्गसुरवर्त्मनोः' इति विश्वः । गां भुवं गतौ । 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः' इत्यमरः । पुनर्वसू इव तन्नामकनक्षत्राधिदेवते इव स्थितौ । तौ राघवौ विलोचनैः पिबताम्, अत्यास्थया पश्यतामित्यर्थः । विदेहनगरी मिथिला तन्निवासिनां मनः कर्तृ पक्ष्मपातं निमेषमपि तद्दर्शनप्रतिबन्धकत्वाद्वञ्चनां विडम्बनां मन्यते स्म मेने । "लट् स्मे" इति भूतार्थे लट् ॥ ३६ ॥

स्वर्गसे भूलोकमें आये हुए पुनर्वसु नक्षत्रके अधिष्ठातृ-देवता-द्वयके समान (स्थित) उन दोनोंको देखते हुए मिथिला-निवासियोंका मन पलक गिरनेको भी वञ्चना (विडम्बना-बाधक) मानता था । (यदि हमलोगोंकी आँखोंके पलक नहीं गिरते तो इन दोनोंको हम लोग निरवच्छिन्न देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट होते, ऐसा मिथिलानिवासी लोग मानते थे)॥३६॥

यूपवत्यवसिते क्रियाविधौ कालवित्कुशिकवंशवर्धनः ।
राममिष्वसनदर्शनोत्सुकं मैथिलाय कथयाम्बभूव सः ॥ ३७ ॥

यूपवतीति । यूपवति क्रियाविधौ कर्मानुष्ठाने, क्रतावित्यर्थः । अवसिते समाप्ते सति कालविदवसरज्ञः कुशिकवंशवर्धनः स मुनी रामम् । अस्यतेऽनेनेत्यसनम् । इषूणामसनमिष्वसनं चापम् । तस्य दर्शने उत्सुकं मैथिलाय जनकाय कथयाम्बभूव कथितवान् ॥ ३७ ॥

यज्ञ-स्तम्भ-वाले यज्ञके समाप्त होनेपर अवसरके ज्ञाता कुशिक मुनिकी वंशवृद्धि करनेवाले उस (विश्वामित्रजी) ने धनुष देखनेके लिये उत्कण्ठित रामचन्द्रजीको जनकसे कहा ॥३७॥

तस्य वीक्ष्य ललितं वपुः शिशोः पार्थिवः प्रथितवंशजन्मनः ।
स्वं विचिन्त्य च धनुर्दुरानमं पीडितो दुहितृशुल्कसंस्थया ॥ ३८ ॥

तस्येति । पार्थिवो जनकः प्रथितवंशे जन्म यस्य तथोक्तस्य । एतेन वरसंपत्तिरुक्ता । शिशोस्तस्य रामस्य ललितं कोमलं वपुर्वीक्ष्य । स्वं स्वकीयं दुरानममानमयितुमशक्यम् । नमेर्ण्यन्तात्खल् । धनुर्विचिन्त्य च दुहितृशुल्कं कन्यामूल्यं जामातृदेयम् । 'शुल्कं घट्टादिदेये स्याज्जामातुर्धनकेऽपि च' इति विश्वः । तस्य धनुर्भङ्गरूपस्य संस्थया स्थित्या । 'संस्था स्थितौ शरे नाशे' इति विश्वः । पीडितो बाधितः । शिशुना रामेण दुष्करमिति दुःखित इति भावः ॥ ३८ ॥

राजा (जनक) ने प्रसिद्ध (इक्ष्वाकु) वंशमें उत्पन्न बालक उस रामचन्द्रके सुन्दर शरीरको देखकर और दुःखसे झुकाये जानेवाले अपने धनुषको विचारकर पुत्री (सीताजी) के मूल्यकी स्थितिसे दुःखित हुए । (जनकजीने विचारा कि रामचन्द्रजी श्रेष्ठ इक्ष्वाकु वंशमें उत्पन्न हैं, इनका सुन्दर शरीर है, किन्तु मेरे धनुषको झुकाना अत्यन्त कठिन है; धनुष झुकानेवाले वीरके लिये सीताको देनेकी प्रतिज्ञासे बद्ध होनेके कारण मैं इनसे सीताका विवाह नहीं कर सकता, यह महाकष्ट है) ॥ ३८ ॥

अब्रवीच्च भगवन्मतङ्गजैर्यद्बृहद्भिरपि कर्म दुष्करम् ।
तत्र नाहमनुमन्तुमुत्सहे मोघवृत्ति कलभस्य चेष्टितम् ॥ ३९ ॥

अब्रवीदिति । अब्रवीच्च । मुनिमिति शेषः । किमिति । हे भगवन्मुने ! बृहद्भिर्मतङ्गजैर्महागजैरपि दुष्करं यत्कर्म तत्र कर्मणि कलभस्य बालगजस्य । 'कलभः करिशावकः' इत्यमरः । मोघवृत्ति व्यर्थव्यापारं चेष्टितं साहसमनुमन्तुमहं नोत्सहे ॥३९॥

और बोले—"हे भगवन् ! जो कर्म बड़े २ मतङ्गजोंसे भी दुष्कर है, उस कर्ममें निष्फल-प्रयास कलभ (बालक हस्ती) के प्रयासको अनुमोदन करनेके लिये उत्साह नहीं करता हूं ॥३९॥

ह्रेपिता हि बहवो नरेश्वरास्तेन तात ! धनुषा धनुर्भृतः ।
ज्यानिघातकठिनत्वचो भुजान्स्वान्विधूय धिगिति प्रतस्थिरे ॥ ४० ॥

ह्रेपिता इति । हे तात ! तेन धनुषा बहवो धनुर्भृतो नरेश्वरा ह्रेपिता ह्रियं प्रापिता हि । जिह्रतेर्धातोर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । "अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ" इत्यनेन पुगागमः । ते नरेश्वरा ज्यानिघातैः कठिनत्वचः स्वान्भुजान्धिगिति विधूयावमत्य प्रतस्थिरे प्रस्थिताः ॥ ४० ॥

क्योंकि हे तात ! उस धनुषने बड़े बड़े धनुर्धारी राजाओंको लज्जित कर दिया (और वे)

मौर्वी (धनुषकी डोरी) के निरन्तर आघातसे घट्ठेयुक्त चमड़ेवाले अपनी भुजाओंको "धिक्कारपूर्वक निन्दितकर वापस चले गये" ॥ ४० ॥

प्रत्युवाच तमृषिर्निशम्यतां सारतोऽयमथवा गिरा कृतम् ।
चाप एव भवतो भविष्यति व्यक्तशक्तिरशनिर्गिराविव ॥ ४१ ॥

प्रत्युवाचेति । ऋषिस्तं नृपं प्रत्युवाच । किमिति । अयं रामः सारतो बले-निशम्यतां श्रूयताम् । अथवा गिरा सारवर्णनया कृतमलम् । गीर्न, वक्तव्येत्यर्थः । 'युगपर्याप्तयोः कृतम्' इत्यमरः । अव्ययं चैतत् । 'तं निवारणनिषेधयोः' इति गण-व्याख्याने । गिरेति करणे तृतीया । निषेधक्रियां प्रति करणत्वात् । किन्त्वश-निर्वज्रो गिराविव । चापे धनुष्येव भवतस्तव व्यक्तशक्तिर्दृष्टसारो भविष्यति ॥ ४१ ॥

उनसे ऋषि (विश्वामित्रजी) बोले—"इस रामका पराक्रम सुनिये, अथवा कहना व्यर्थ है, पर्वतमें वज्रके समान धनुषमें ही (इनका) पराक्रम आपको स्पष्ट हो जायेगा ॥ ४१ ॥

एवमाप्तवचनात्स पौरुषं काकपक्षकधरेऽपि राघवे ।
श्रद्दधे त्रिदशगोपमात्रके दाहशक्तिमिव कृष्णवर्त्मनि ॥ ४२ ॥

एवमिति । एवमाप्तस्य यथार्थवक्तुर्मुनेर्वचनात्स जनकः काकपक्षकधरे बाले-ऽपि राघवे पुरुषस्य कर्म पौरुषं पराक्रमम् । "हायनान्तयुवादिभ्योऽण्" इति युवादि-त्वादण् । 'पौरुषं पुरुषस्योक्तं भावे कर्मणि तेजसि' इति विश्वः । त्रिदशगोप इन्द्रगोप-कीटः प्रमाणमस्य त्रिदशगोपमात्रः । "प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः" इत्यनेन मात्रच्प्रत्ययः । ततः स्वार्थे कप्रत्ययः । तस्मिन्कृष्णवर्त्मनि वह्नौ दाहशक्तिमिव श्रद्दधे विश्वस्तवान् ॥ ४२ ॥

इस प्रकार यथार्थ कहनेवाले (विश्वामित्रजी) के वचनसे उस जनकने काकपक्ष धारण करनेवाले अर्थात् बालक भी रामचन्द्रजीमें, वीरबहूटी नामक बरसाती कीड़ेके बराबर अर्थात् अत्यन्त थोड़ी अग्निमें दाहशक्तिके समान, पराक्रम होनेका विश्वास किया ॥ ४२ ॥

व्यादिदेश गणशोऽथ पार्श्वगान्कार्मुकाभिहरणाय मैथिलः ।
तैजसस्य धनुषः प्रवृत्तये तोयदानिव सहस्रलोचनः ॥ ४३ ॥

व्यादिदेशेति । अथ मैथिलः पार्श्वगान्पुरुषान्कार्मुकाभिहरणाय कार्मुकमानेतुम् । "तुमर्थाच्च भाववचनात्" इति चतुर्थी । सहस्रलोचन इन्द्रस्तैजसस्य तेजोमयस्य धनुषः प्रवृत्तये आविर्भावाय तोयदान्मेघानिव गणान्गणशः । "संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्" इति शस्प्रत्ययः । व्यादिदेश प्रजिघाय ॥ ४३ ॥

इसके बाद मिथिलेश्वर (जनकजी) धनुषको लानेके लिये पार्श्ववर्ती झुण्डके झुण्ड पुरुषों-

को उस प्रकार भेजा, जिसप्रकार इन्द्र तेजोमय धनुषको प्रकट (उदित) करनेके लिये झुण्डके झुण्ड मेघोंको भेजते हैं ॥ ४३ ॥

तत्प्रसुप्तभुजगेन्द्रभीषणं वीक्ष्य दाशरथिराददे धनुः ।
विद्रुतक्रतुमृगानुसारिणं येन बाणमसृजद् वृषध्वजः ॥ ४४ ॥

तदिति । दाशरथी रामः प्रसुप्तभुजगेन्द्र इव भीषणं भयङ्करं तद्धनुर्वीक्ष्याददे जग्राह । वृषो ध्वजश्चिह्नं यस्य स शिवो येन धनुषा । क्रतुरेव मृगः । विद्रुतं पलायितं क्रतुमृगमनुसरति । ताच्छील्ये णिनिः । तं विद्रुतक्रतुमृगानुसारिणं बाणमसृजन्मुमोच ॥ ४४ ॥

(धनुषके आनेपर) दशरथ–कुमार (राम) ने सोये हुए सर्पराजके समान भयङ्कर उस धनुषको देखकर उठा लिया, जिस (धनुष) से शिवजीने मृगरूपधारी यज्ञके पीछे २ दौड़नेवाले बाणको छोड़ा था ॥ ४४ ॥

पौराणिक कथा—पिता 'दक्षप्रजापति' के यज्ञमें पति 'शङ्करजी'के लिये यज्ञांश न देनेके कारण पतिके अपमानसे सन्तप्त सतीने योगाग्निमें अपना शरीर भस्म कर डाला तो रुद्रगण शिवजीकी आज्ञासे यज्ञको नष्ट–भ्रष्ट करने लगे और वह मृगका रूप धारणकर यज्ञभूमिसे भाग चला, फिर शङ्करजीने उसी धनुष (जो जनकजीके यहां सीता–स्वयंवरमें रखा गया था) से मृगरूपधारी यज्ञके ऊपर बाण छोड़ा था ।

आततज्यमकरोत्स संसदा विस्मयस्तिमितनेत्रमीक्षितः ।
शैलसारमपि नातियत्नतः पुष्पचापमिव पेशलं स्मरः ॥ ४५ ॥

आततज्यमिति । स रामः संसदा सभया विस्मयेन स्तिमिते नेत्रे यस्मिन्कर्मणि तद्यथा स्यात्तथेक्षितः सन् । शैलस्येव सारो यस्य तच्छैलसारमपि धनुः । स्मरः पेशलं कोमलं पुष्पचापमिव नातियत्नतो नातियत्नात् । नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । आततज्यमधिज्यमकरोत् ॥ ४५ ॥

सभा (में स्थित समस्त राजा आदि) के द्वारा आश्चर्यसे (निर्निमेष एकटक) देखे जाते हुए उस (राम) ने पर्वतके समान भारी भी उस धनुषको, कोमल पुष्प–धनुषको कामदेवके समान, सामान्य प्रयत्नसे ही चढ़ा दिया अर्थात् अनायास ही प्रत्यञ्चायुक्त कर दिया ॥ ४५ ॥

भज्यमानमतिमात्रकर्षणात्तेन वज्रपरुषस्वनं धनुः ।
भार्गवाय दृढमन्यवे पुनः क्षत्रमुद्यतमिव न्यवेदयत् ॥ ४६ ॥

भज्यमानमिति । तेन रामेणातिमात्रकर्षणाद्भज्यमानमत एव वज्रपरुषस्वनम् वज्रमिव परुषः स्वनो यस्य तत् । धनुः कर्तृ । दृढमन्यवे दृढक्रोधाय । 'मन्युः

क्रोधे क्रतौ दैन्ये' इति विश्वः । भार्गवाय क्षत्रं क्षत्रकुलं पुनरुद्यतं न्यवेदयदिव ज्ञापयामासेव ॥ ४६ ॥

उस (राम) के द्वारा अत्यन्त खीचनेसे टूटते हुए तथा वज्रके समान कठोर शब्द करने-वाले उस धनुषने मानो अत्यन्त क्रोधी परशुरामजीसे लिये फिर उद्यत क्षत्रिय वंशको कहा ॥

दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्यशुल्कमभिनन्द्य मैथिलः ।
राघवाय तनयामयोनिजां रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत् ॥ ४७ ॥

दृष्टसारमिति । अथ मैथिलो जनको रुद्रकार्मुके शङ्करधनुषि दृष्टः सारः स्थिरांशो यस्य तद्दृष्टसारं विलोकितविक्रमम् । 'सारो बले स्थिरांशे च' इति विश्वः । वीर्यमेव शुल्कं, धनुर्भङ्गरूपमित्यर्थः । अभिनन्द्य राघवाय रामायायोनिजां देवयजनसम्भवां तनयां सीतां रूपिणीं श्रियमिव साक्षाल्लक्ष्मीमिव न्यवेदयदर्पित-वान् । वाचेति शेषः ॥ ४७ ॥

इसके बाद मिथिलेश (जनक) ने (धनुर्भङ्गरूप) पराक्रमशुल्कका अभिनन्दनकर शिवजीके धनुषपर देखे गये पराक्रमवाले रामचन्द्रजीके लिये देवयज्ञसे उत्पन्न पुत्री (सीताजी) को, साक्षात् लक्ष्मीजीके समान दे दिया अर्थात् वाग्दान कर दिया ॥ ४७ ॥

उक्तमेवार्थं सोपस्कारमाह—

मैथिलः सपदि सत्यसङ्गरो राघवाय तनयामयोनिजाम् ।
सन्निधौ द्युतिमतस्तपोनिधेरग्निसाक्षिक इवातिसृष्टवान् ॥ ४८ ॥

मैथिल इति । सत्यसङ्गरः सत्यप्रतिज्ञः । 'अथ प्रतिज्ञाजिसंविदापत्सु सङ्गरः' इत्यमरः । मैथिलो राघवायायोनिजां तनयां द्युतिमतस्तेजस्विनस्तपोनिधेः कौशिकस्य सन्निधौ । अग्निः साक्षी यस्य सोऽग्निसाक्षिकः । "शेषाद्विभाषा" इति कप्प्रत्ययः । स इव । सपद्यतिसृष्टवान्दत्तवान् ॥ ४८ ॥

सत्यप्रतिज्ञ मिथिलेश (जनक) ने देवयज्ञसे उत्पन्न पुत्री (सीताजी) को तेजस्वी तपोनिधि (विश्वामित्रजी) के समीपमें अग्निको साक्षी करनेके समान तत्काल ही (वचनसे) राम-चन्द्रजीके लिये दे दिया (जिस प्रकार अग्निको साक्षीकर कन्यादान किया जाता है, उसी प्रकार अग्नितुल्य तेजस्वी विश्वामित्रजीके समीपमें जनकजीने दृष्टपराक्रम रामके लिये सीताजी का वाग्दान कर दिया अर्थात् रामके साथ सीताका विवाह करना स्वीकार कर लिया) ॥४८॥

प्राहिणोच्च महितं महाद्युतिः कोसलाधिपतये पुरोधसम् ।
भृत्यभावि दुहितुः परिग्रहाद्दिश्यतां कुलमिदं निमेरिति ॥ ४९ ॥

प्राहिणोदिति । महाद्युतिर्जनको महितं पूजितं पुरोधसं पुरोहितं कोसला-धिपतये दशरथाय प्राहिणोत्प्रहितवांश्च । किमिति । निमिर्नाम जनकानां पूर्वजः

कश्चित् । इदं निमेः कुलं दुहितुः सीतायाः परिग्रहात्स्नुषात्वेन स्वीकाराद्धेतोः । भृत्यस्य भावो भृत्यत्वं सोऽस्यास्तीति भृत्यभावि व्रियतामनुमन्यतामिति । त्वयेति शेषः ॥ ४९ ॥

महातेजस्वी (जनक) ने कोसलाधीश (दशरथजी) के पास पूजित पुरोहितको भेजा कि—"(आप) कन्याके विवाह करनेसे भृत्य बननेवाले इस निमि-वंशको स्वीकार कीजिये अर्थात् निमिवंशोत्पन्न मैं कन्यादानकर आपका दास बनाना चाहता हूं, इसे आप स्वीकार कीजिये ॥ ४९ ॥

अन्वियेष सदृशीं स च स्नुषां प्राप चैनमनुकूलवाग्द्विजः ।
सद्य एव सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मि काङ्क्षितम् ॥ ५० ॥

अन्वियेषेति । स दशरथश्च सदृशीमनुरूपां स्नुषामन्वियेष, रामविवाहमाचकाङ्क्षेत्यर्थः । अनुकूलवाक्स्नुषासिद्धिरूपानुकूलार्थवादी द्विजो जनकपुरोधाः शतानन्दश्चैनं दशरथं प्राप । तथाहि । कल्पवृक्षफलस्य यो धर्मः सद्यः पाकरूपः सोऽस्यास्तीति कल्पवृक्षफलधर्मि । अतः सुकृतां पुण्यकारिणां काङ्क्षितं मनोरथः सद्य एव पच्यते हि । कर्मकर्तरि लट् । स्वयमेव पक्कं भवतीत्यर्थः । "कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः" इति कर्मवद्भावात् "भावकर्मणोः" इत्यात्मनेपदम् ॥ ५० ॥

वह (राजा दशरथ) योग्य स्नुषा (पुत्रवधू-पतोहू) को चाहते थे, (इतनेमें ही) अनुकूल (योग्य स्नुषा-प्राप्तिरूप इच्छानुकूल संदेश) कहनेवाला ब्राह्मण (जनक-पुरोहित) इन (दशरथजी) के पास पहुंच गया; क्योंकि कल्पवृक्षके फलके समान पुण्यात्माओंका अभिलषित तत्काल ही परिपक्क (भोग करने योग्य अर्थात् सफल) होता है ॥ ५० ॥

तस्य कल्पितपुरस्क्रियाविधेः शुश्रुवान्वचनमग्रजन्मनः ।
उच्चचाल बलभित्सखो वशी सैन्यरेणुमुषितार्कदीधितिः ॥ ५१ ॥

तस्येति । बलभित्सख इन्द्रसहचरो वशी स्वाधीनतावान् । 'वश आयत्ततायां च' इति विश्वः । कल्पितपुरस्क्रियाविधेः कृतपूजाविधेस्तस्याग्रजन्मनो द्विजस्य वचनं जनकेन सन्दिष्टं शुश्रुवाञ्छ्रुतवान् । श्रृणोतेः क्वसुः । सैन्यरेणुमुषितार्कदीधितिः सन्नुच्चचाल प्रतस्थे ॥ ५१ ॥

इन्द्रके मित्र जितेन्द्रिय (राजा दशरथ) सत्कृत उस ब्राह्मण (जनक-पुरोहित) से (जनक-सन्दिष्ट वचन) सुनकर सेनाकी धूलिसे सूर्यके प्रकाशको आच्छादित करते हुए (मिथिलाके लिये) प्रस्थान किये ॥ ५१ ॥

आससाद मिथिलां स वेष्टयन्पीडितोपवनपादपां बलैः ।
प्रीतिरोधमसहिष्ट सा पुरी स्त्रीव कान्तपरिभोगमायतम् ॥ ५२ ॥

आससादेति । स दशरथो बलैः सैन्यैः पीडितोपवनपादपां मिथिलां वेष्टयन्परिधीकुर्वन् आससाद । सा पुरी स्त्री युवतिरायतमतिप्रसक्तं कान्तपरिभोगं प्रियसम्भोगमिव । प्रीत्या रोधं प्रीतिरोधमसहिष्ट सोढवती । द्वेषरोधं तु न सहत इति भावः ॥ ५२ ॥

वह दशरथ, सेनासे पीडित हैं उपवनोंके वृक्ष जिसके ऐसी मिथिलाको घेरते हुए प्राप्त किये और उस पुरीने पतिके अतिशयित सम्भोगके समान प्रेमपूर्वक उस प्रतिरोधको सहन किया ॥ ५२ ॥

तौ समेत्य समये स्थितावुभौ भूपती वरुणवासवोपमौ ।
कन्यकातनयकौतुकक्रियां स्वप्रभावसदृशीं वितेनतुः ॥ ५३ ॥

ताविति । समये शिष्टाचारे स्थितावाचारनिष्ठौ । 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । वरुणवासवावुपमोपमानं ययोस्तौ तथोक्तौ । तावुभौ भूपती जनकदशरथौ समेत्य स्वप्रभावसदृशीमात्ममहिमानुरूपां कन्यकानां सीतादीनां तनयानां रामादीनां च कौतुकक्रियां विवाहोत्सवं वितेनतुर्विस्तृतवन्तौ तनोतेर्लिट् ॥ ५३ ॥

मर्यादापर स्थित एवं वरुण तथा इन्द्रके तुल्य वे दोनों राजा (जनक तथा दशरथ) मिलकर कन्या तथा पुत्रके विवाह मङ्गलको अपने प्रभावके अनुसार विस्तृत किया अर्थात् बढ़ाया॥५३॥

पार्थिवीमुदवहद्रघूद्वहो लक्ष्मणस्तदनुजामथोर्मिलाम् ।
यौ तयोरवरजौ वरौजसौ तौ कुशध्वजसुते सुमध्यमे ॥ ५४ ॥

पार्थिवीमिति । उद्वहतीत्युद्वहः पचाद्यच् । रघूणामुद्वहो रघूद्वहो रामः । पृथिव्या अपत्यं स्त्री पार्थिवी । "तस्यापत्यम्" इत्यणि । "टिड्ढाणञ्" इति ङीप् । तां सीतामुदवहत्परिणीतवान् । अथ लक्ष्मणस्तस्याः सीताया अनुजां जनकस्यौरसीमूर्मिलामुदवहत् । यौ वरौजसौ तयो रामलक्ष्मणयोरवरजावनुजातौ भरतशत्रुघ्नौ तौ सुमध्यमे कुशध्वजस्य जनकानुजस्य सुते कन्यके माण्डवीं श्रुतकीर्तिं चोदवहताम् । नात्र व्युत्क्रमविवाहदोषो भिन्नोदरत्वात् । तदुक्तम्—"पितृव्यपुत्रे सापत्न्ये परनारीसुतेषु च । विवाहाधानयज्ञादौ परिवेत्राद्यदूषणम्" ॥ इति ॥ ५४ ॥

इसके बाद राघवश्रेष्ठ (राम) ने पृथ्वीपुत्री (सीता) के साथ, लक्ष्मणने उसकी छोटी बहन उर्मिलाके साथ और उन दोनों (राम तथा लक्ष्मण) के महापराक्रमी जो छोटे भाई (भरत तथा शत्रुघ्न) थे, उन्होंने कृशोदरी कुशध्वजकी पुत्रियों (माण्डवी तथा श्रुतकीर्ति) के साथ विवाह किया ॥ ५४ ॥

विमर्श— यहां "रामके छोटे भाई भरत और लक्ष्मणके छोटे भाई शत्रुघ्न" ऐसा क्रम समझना चाहिये, भरत तथा शत्रुघ्न दोनोंको राम और लक्ष्मणका छोटा भाई नहीं समझना चाहिये; क्योंकि पहले (१०।६६, ७०, ७१) इसी क्रमसे कुमारोंकी उत्पत्ति वर्णित है ।

तथा वाल्मीकि रामायणके बालकाण्ड (१८ । ८–१४) में 'रामचन्द्रजी पुनर्वसु नक्षत्रमें, भरतजी पुष्य, नक्षत्रमें और लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न आश्लेषा नक्षत्रमें उत्पन्न हुए' ऐसा वचन मिलनेसे 'राम, भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न' इसी क्रमसे राजकुमारोंकी उत्पत्ति जाननी चाहिये, अन्यान्य ग्रन्थोंमें भी यही क्रम है ।

ते चतुर्थसहितास्त्रयो बभुः सूनवो नववधूपरिग्रहाः ।
सामदानविधिभेदनिग्रहाः सिद्धिमन्त इव तस्य भूपतेः ॥ ५५ ॥

त इति । ते चतुर्थसहितास्त्रयः, चत्वार इत्यर्थः । वृत्तानुसारादेवमुक्तम् । सूनवो नववधूपरिग्रहाः । सिद्धिमन्तः फलसिद्धियुक्तास्तस्य भूपतेर्दशरथस्य सामदानविधिभेदनिग्रहाश्चत्वार उपाया इव बभुः । विधीयत इति विधिः । दानमेव विधिः । निग्रहो दण्डः सूनूनामुपायैर्वधूनां सिद्धिभिश्चौपम्यमित्यनुसन्धेयम् ॥ ५५ ॥

नव–वधुओंसे विवाहित वे चारों बालक उस राजा (दशरथ) के सिद्धियुक्त साम, दान, भेद और दण्ड रूप चार उपायोंके समान शोभित हुए । (यहां राम आदि चारों बालकोंको सामादि चारों उपाय तथा सीता आदि चारों बन्धुओंको सिद्धिकी उपमा दी गयी है) ॥ ५५ ॥

ता नराधिपसुता नृपात्मजैस्ते च ताभिरगमन्कृतार्थताम् ।
सोऽभवद्वरवधूसमागमः प्रत्ययप्रकृतियोगसन्निभः ॥ ५६ ॥

ता इति । ता नराधिपसुता जनककन्यका नृपात्मजैर्दशरथपुत्रैः कृतार्थतां कुलशीलवयोरूपादिलाभफलमगमन् । ते राघवाश्च ताभिः सीताद्याभिस्तथा । किञ्च, स वराणां वधूनां च समागमः । प्रत्ययानां प्रकृतीनां च योग इव सन्निभातीति सन्निभः अभवत् । पचाद्यच् । प्रत्ययाः सनादयो येभ्यो विधीयन्ते ताः प्रकृतयः । यथा प्रकृतिप्रत्यययोः सहैकार्थसाधनत्वं तद्वदत्रापीति भावः ॥ ५६ ॥

वे राजकुमारियां उन राजकुमारोंसे तथा वे राजकुमार उन राजकुमारियोंसे कृतार्थ (कृतकृत्य अर्थात् सार्थक) हो गये । वधूवरोंका वह समागम प्रकृति ('पच्' आदि धातु) तथा प्रत्यय ('अच' आदि) के समान हुआ। (जिस प्रकार 'पच्' आदि प्रकृति तथा 'अच्' आदि प्रत्यय पृथक् २ रहनेपर किसी वाच्यार्थको कहनेमें अशक्त होनेसे निरर्थक होते हैं, तथा वे ही दोनों मिलकर 'पचः' शब्द बनकर सार्थक ('पकाना' इस अर्थ के वाचक हो जाते हैं, वैसे उन वधूवरोंका समागम भी सार्थक हुआ) ॥ ५६ ॥

एवमात्तरतिरात्मसम्भवांस्तान्निवेश्य चतुरोऽपि तत्र सः ।
अध्वसु त्रिषु विसृष्टमैथिलः स्वां पुरीं दशरथो न्यवर्तत ॥ ५७ ॥

एवमिति । एवमात्तरतिरनुरागवान्स दशरथस्तांश्चतुरोऽप्यात्मसम्भवान्पुत्रांस्तत्र मिथिलायां निवेश्य विवाह्य । 'निवेशः शिबिरोद्वाहविन्यासेषु प्रकीर्तितः' इति विश्वः ।

त्रिष्वध्वसु प्रयाणेषु सत्सु विसृष्टमैथिलः सन्। स्वां पुरीं न्यवर्तत। उद्देशक्रियापेक्षया कर्मत्वं पुर्याः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार प्रीतियुक्त वह (राजा दशरथ) वहां (मिथिलामें) चारों पुत्रोंका विवाहकर तीन मार्गोंमें अर्थात् तीन दिनके पड़ावोंके पड़नेके बाद जनकको बिदाकर अपनी नगरी (अयोध्या) को लौटे ॥ ५७ ॥

तस्य जातु मरुतः प्रतीपगा वर्त्मसु ध्वजतरुप्रमाथिनः।
चिक्लिशुर्भृशतया वरूथिनीमुत्तटा इव नदीरयाः स्थलीम् ॥ ५८ ॥

तस्येति। जातु कदाचिद्वर्त्मसु ध्वजा एव तरवस्तान्प्रमथ्नन्ति ये ते ध्वजतरुप्रमाथिनः प्रतीपगाः प्रतिकूलगामिनो मरुतः। उत्तटा नदीरयाः स्थलीमकृत्रिमभूमिमिव। "जानपदकुण्ड-" इत्यादिना ङीप्। तस्य वरूथिनीं सेनां भृशतया भृशं चिक्लिशुः क्लिश्यन्ति स्म ॥ ५८ ॥

मार्गमें पताकाओं तथा वृक्षोंको छिन्न-भिन्न करनेवाली प्रतिकूल वायुने उनकी सेनाओंको उस प्रकार पीडित कर दिया, जिस प्रकार तटके ऊपर बहनेवाला नदीका वेग (जल-प्रवाह) ऊपरी भूमिको पीडित अर्थात् आप्लावित कर देता है ॥ ५८ ॥

लक्ष्यते स्म तदनन्तरं रविर्बद्धभीमपरिवेषमण्डलः।
वैनतेयशमितस्य भोगिनो भोगवेष्टित इव च्युतो मणिः ॥ ५९ ॥

लक्ष्यत इति। तदनन्तरं प्रतीपपवनानन्तरं बद्धं भीमं बिभेत्यस्मादिति भीमं भयङ्करं परिवेषस्य परिवेर्मण्डलं यस्य सः। 'परिवेषस्तु परिधिरुपसूर्यकमण्डले' इत्यमरः। रविः वैनतेयशमितस्य गरुडहतस्य भोगिनः सर्पस्य भोगेन कायेन। 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः। वेष्टितश्च्युतः शिरोभ्रष्टो मणिरिव। लक्ष्यते स्म ॥ ५९ ॥

इसके बाद भयङ्कर परिवेष-मण्डलसे युक्त सूर्य, गरुडके द्वारा मारे गये सर्पके शरीरसे वेष्टित (चारों ओरसे घिरे हुए उस सर्पकी) मणिके समान दिखलाई पड़ता था ॥ ५९ ॥

श्येनपक्षपरिधूसरालकाः सान्ध्यमेघरुधिरार्द्रवाससः।
अङ्गना इव रजस्वला दिशो नो बभूवुरवलोकनक्षमाः ॥ ६० ॥

श्येनेति। श्येनपक्षा एव परिधूसरा अलका यासां तास्तथोक्ताः। सान्ध्यमेघा एव रुधिरार्द्राणि वासांसि यासां तास्तथोक्ताः। रजो धूलिरासामस्तीति रजस्वलाः। "रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच्" इति वलच्प्रत्ययः। दिशः रजस्वला ऋतुमत्योऽङ्गना इव। 'स्याद्रजः पुष्पमार्तवम्' इत्यमरः। अवलोकनक्षमा दर्शनार्हा नो बभूवुः एकत्रादृष्टदोषादपरत्र शास्त्रदोषादिति विज्ञेयम्। अत्र रजोवृष्टिरुत्पात उक्तः ॥ ६० ॥

श्येन ('बाज' नामक पक्षि-विशेष) के पंखरूपी धूसर केशवाली तथा सायंकालके (लाल) मेघरूप रक्तसे भींगे हुए वस्त्रवाली दिशायें, बाजके पंखोंके समान धूसर (मलिन-श्वेत) वस्त्रवाली तथा सायंकालके मेघके समान रक्तसे भींगे हुए वस्त्रवाली रजस्वला स्त्रियोंके समान देखनेके अशक्य (नहीं देखने योग्य) हो गयी। (रजस्वला स्त्रीको देखनेका शास्त्रोंमें निषेध किया गया है) ॥ ६० ॥

भास्करश्च दिशमध्युवास यां तां श्रिताः प्रतिभयं ववासिरे ।
क्षत्रशोणितपितृक्रियोचितं चोदयन्त्य इव भार्गवं शिवाः ॥ ६१ ॥

भास्कर इति । भास्करो यां दिशमध्युवास च यस्यां विश्युषितः । "उपान्वध्याङ्वसः" इति कर्मत्वम् । तां दिशं श्रिताः शिवा गोमायवः । 'स्त्रियां शिवा भूरिमायुगोमायुमृगधूर्तकाः' इत्यमरः । क्षत्रशोणितेन या पितृक्रिया पितृतर्पणं तत्रोचितं परिचितं भार्गवं चोदयन्त्य इव प्रतिभयं भयङ्करं ववासिरे रुरुवुः । "वासृ शब्दे" इति धातोर्लिट् । 'तिरश्चां वासितं रुतम्' इत्यमरः ॥ ६१ ॥

सूर्य जिस दिशाको गये थे, उस दिशामें स्थित शृगालियां क्षत्रियोंके रक्तसे पितृतर्पण करनेवाले परशुरामजीको सूचित करती हुईके समान रोने लगीं ॥ ६१ ॥

तत्प्रतीपपवनादि वैकृतं प्रेक्ष्य शान्तिमधिकृत्य कृत्यवित् ।
अन्वयुङ्क्त गुरुमीश्वरः क्षितेः स्वन्तमित्यलघयत्स तद्व्यथाम् ॥ ६२ ॥

तदिति । तत्प्रतीपपवनादि वैकृतं दुर्निमित्तं प्रेक्ष्य कृत्यवित्कार्यज्ञः क्षितेरीश्वरः शान्तिमनर्थनिवृत्तिमधिकृत्योद्दिश्य गुरुं वसिष्ठमन्वयुङ्क्तापृच्छत् । 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः । स गुरुः स्वन्तं शुभोदर्कं भावीति तस्य राज्ञो व्यथामलघयल्लघूकृतवान् ॥ ६२ ॥

उस प्रतिकूल वायु आदि विकार (अशकुन) को देखकर कार्यज्ञ राजा (दशरथ) ने शान्तिके लिये गुरु (वसिष्ठजी) से पूछा और उन्होंने "इसका अन्त अच्छा होगा" ऐसा कहकर राजाके कष्टको हलका कर दिया ॥ ६२ ॥

तेजसः सपदि राशिरुत्थितः प्रादुरास किल वाहिनीमुखे ।
यः प्रमृज्य नयनानि सैनिकैर्लक्षणीयपुरुषाकृतिश्चिरात् ॥ ६३ ॥

तेजस इति । सपद्युत्थितस्तेजसो राशिर्वाहिनीमुखे सेनाग्रे प्रादुरास किल खलु । यः सैनिकैर्नयनानि प्रमृज्य चिराल्लक्षणीया भावनीया पुरुषाकृतिर्यस्य स तथोक्तः अभूदिति शेषः ॥ ६३ ॥

तत्काल उत्पन्न वह तेजः-समूह सेनाओंके आगे प्रकट हुआ, जिसे सैनिकोंने आँख पोंछकर बहुत देरके बाद पुरुषाकारमें देखा । (तेजकी अधिकतासे सैनिकोंकी आँखें चकाचौंधयुक्त

हो गयी तो उन्होंने आँखोंको पोंछकर बहुत देरके बाद उसे देखकर "यह पुरुष है" ऐसा समझा) ॥ ६३ ॥

पित्र्यमंशमुपवीतलक्षणं मातृकं च धनुरूर्जितं दधत् ।
यः ससोम इव घर्मदीधितिः सद्विजिह्व इव चन्दनद्रुमः ॥ ६४ ॥

पित्र्यमिति । उपवीतं लक्षणं चिन्हं यस्य तम् । पितुरयं पित्र्यः । "वाय्वृतुपित्रुषसो यत्" "पितुर्यच्च" इति यत्प्रत्ययः । तमंशम् । धनुषोर्जितं धनुरूर्जितम् । मातुरयं मातृकः । "ऋतष्ठञ्" इति ठञ्प्रत्ययः । तमंशं च दधद्यो भार्गवः । ससोमश्चन्द्रयुक्तो घर्मदीधितिः सूर्य इव । सद्विजिह्वः ससर्पश्चन्दनद्रुम इव स्थितः ॥ ६४ ॥

यज्ञोपवीत रूप पित्र्यंश (ब्राह्मण-लक्षण) को तथा धनुषसे उत्पन्न मात्रंश (क्षत्रिय-लक्षण] को धारण करते हुए (परशुराम) चन्द्रमासे युक्त सूर्यके समान तथा सर्प से युक्त चन्दन वृक्षके समान (ज्ञात होते) थे ॥ ६४ ॥

येन रोषपरुषात्मनः पितुः शासने स्थितिभिदोऽपि तस्थुषा ।
वेपमानजननीशिरश्छिदा प्रागजीयत घृणा ततो मही ॥ ६५ ॥

येनेति । रोषपरुषा रोषेण क्रोधेन परुषः निष्ठुरः आत्मा बुद्धिर्यस्य सः । 'आत्मा जीवो धृतिर्बुद्धिः' इत्यमरः । तस्य रोषपरुषात्मनः स्थितिभिदोऽपि मर्यादालङ्घिनोऽपि पितुः शासने । तस्थुषा स्थितेन वेपमानजननीशिरश्छिदा येन प्राग्घृणाऽजीयत । ततोऽनन्तरं मह्यजीयत । मातृहन्तुः क्षत्रवधात्कुतो जुगुप्सेति भावः ॥ ६५ ॥

क्रोधसे कठोर चित्तवाले तथा मर्यादा-भङ्ग करनेवाले भी पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाले और काँपती हुई माताके सिरको काटनेवाले जिस (परशुराम) ने पहले दयाका त्याग किया और इसके बादमें पृथ्वीका त्याग किया ॥ ६५ ॥

पौराणिक कथा—एक बार महर्षि 'जमदग्नि'की पत्नी 'रेणुका' जल लानेके लिये नदी-तटपर गयी तो मैथुन करते हुए गन्धर्वोंकी जोड़ीको देखकर उनके मनमें कुछ विकार हो गया और वे कुछ विलम्बसे आश्रममें लौटीं । समाधिके द्वारा जमदग्नि मुनिने सब मालूमकर उसके शिरको काटनेके लिये बड़े पुत्रको आज्ञा दी, किन्तु जब उसने मातृवधको पापकर्म मानकर मातृवध नहीं किया तो पिता जमदग्निने छोटे पुत्र परशुरामको वही आज्ञा दी, और उन्होंने पिताकी आज्ञाको सर्वोपरि मानकर माता 'रेणुका'का शिर काट डाला । फिर आज्ञा-पालनसे प्रसन्न पिताके वरदान मांगनेको कहनेपर परशुरामने माताको पुनर्जीवित होनेका वरदान माँगकर माताको फिर जीवित करा दिया ।

अक्षबीजवलयेन निर्बभौ दक्षिणश्रवणसंस्थितेन यः ।
क्षत्रियान्तकरणैकविंशतेर्व्याजपूर्वगणनामिवोद्वहन् ॥ ६६ ॥

अक्षबीजेति । यो भार्गवो दक्षिणश्रवणे अपसव्यकर्णे संस्थितेन निक्षिप्तेनाक्षबी-जवलयेनाक्षमालया । क्षत्रियान्तकरणानां क्षत्रियवधानामेकविंशतेरेकविंशतिसंख्याया व्याजोऽक्षमालारूपः पूर्वो यस्यास्तां गणनामुद्वहन्निव निर्बभौ ॥ ६६ ॥

जो (परशुराम) दहने कानपर स्थित अक्षमालासे क्षत्रियोंको इक्कीस बार नष्ट करनेकी गणनाको धारण करते हुएके समान शोभित हुए ॥ ६६ ॥

पौराणिक कथा—पहले जमदग्नि ऋषिने आश्रमपर सेनासहित पहुंचे हुए राजा सहस्रार्जुनका आतिथ्य बड़े ठाटबाटसे किया। ऋषिके आश्रममें रहनेवाली गौकी कृपासे कल्पनातीत आतिथ्यसत्कारको पाकर राजाने गौको मांगा और ऋषिके मना करनेपर वह सहस्रार्जुन जमदग्निको मारकर बछवासहित उस गायको बलात्कारपूर्वक अपने यहां ले गया। बाहरसे आश्रममें लौटे हुए परशुरामने राजाके हाथसे पिताका वध और वत्ससहित गौके अपहरणको मालूमकर उस सहस्रार्जुनको ही मारकर शान्त नहीं हुए, किन्तु इक्कीस बार भूमण्डलके क्षत्रियोंका संहारकर इनके रुधिरसे तालाबोंको भर दिया और उन्हींसे पितरोंका तर्पण किया।

तं पितुर्वधभवेन मन्युना राजवंशनिधनाय दीक्षितम् ।
बालसूनुरवलोक्य भार्गवं स्वां दशां च विषसाद पार्थिवः ॥ ६७ ॥

तमिति । पितुर्जमदग्नेर्वधभवेन क्षत्रियकर्तृकवधोद्भवेन मन्युना कोपेन राजवंशानां क्षत्रियवंशानां निधनाय नाशार्थम् । 'निधनं स्यात्कुले नाशे' इति विश्वः । दीक्षितं, प्रवृत्तमित्यर्थः । तं भार्गवं स्वां दशां चावलोक्य बालाः सूनवो यस्य स पार्थिवो विषसाद । स्वस्यातिदौर्बल्याच्छत्रोश्चातिप्रबलात्कान्दिशीकोभयद्रुतोऽभवदित्यर्थः ॥ ६७ ॥

पिता (जमदग्नि) के वधसे उत्पन्न क्रोधसे क्षत्रियोंके नाशके लिये दीक्षित उस परशुरामको तथा अपनी दशाको देखकर बालक पुत्रोंवाले वे राजा (दशरथ) खिन्न हो गये ॥ ६७ ॥

नाम राम इति तुल्यमात्मजे वर्तमानमहिते च दारुणे ।
हृद्यमस्य भयदायि चाभवद्रत्नजातमिव हारसर्पयोः ॥ ६८ ॥

नामेति । आत्मजे पुत्रे दारुणे घोरेऽहिते शत्रौ च तुल्यमविशेषेण वर्तमानं राम इति नाम । हारसर्पयोर्वर्तमानं रत्नजातमिव । 'जातिर्जातं च सामान्यं व्यक्तिस्तु पृथगात्मता' इत्यमरः । अस्य दशरथस्य हृद्यं हृदयङ्गमं भयदायि भयङ्करं चाभवत् ॥६८॥

पुत्रमें तथा भयङ्कर शत्रुमें समान रूपसे वर्तमान 'राम' यह नाम हार तथा साँपमें समान रूपसे वर्तमान रत्न—समूहके समान इस (दशरथ) को प्रिय तथा भयकारक भी हुआ॥

अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः।
क्षत्रकोपदहनार्चिषं ततः सन्दधे दृशमुदग्रतारकाम् ॥ ६९ ॥

अर्घ्यमिति। स भार्गवः। अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपमनवेक्ष्य। यतो यत्र भरताग्रजस्ततस्तत्र। "इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते" इति सार्वविभक्तिकस्तसिः। क्षत्रे क्षत्रकुले विषये यः कोपदहनो रोषाग्निस्तस्यार्चिषं ज्वालामिव स्थिताम्। 'ज्वाला-भासोर्नपुंस्यर्चिः' इत्यमरः। उदग्रा तारका कनीनिका यस्यास्ताम्। 'तारकाक्ष्णः कनीनिका' इत्यमरः। दृशं सन्दधे ॥ ६९ ॥

परशुरामने 'अर्घ्य, अर्घ्य' (भयके कारण शीघ्रतासे "अर्घ्य ग्रहण कीजिये, अर्घ्य ग्रहण कीजिये) ऐसा कहनेवाले राजा (दशरथ) को नहीं देखकर जिधर रामचन्द्रजी थे, उधर ही क्षत्रियोंके विषयमें क्रोधरूपी अग्निकी ज्वालावाली तथा भयङ्कर तारा (नेत्र की पुतली) वाली दृष्टिको डाला (परशुरामने अर्घ्य ग्रहण करनेके लिये बार २ प्रार्थना करते हुए दशरथजी की उपेक्षाकर क्रोधसे चिनगारीके समान जलती हुई आँखोंसे रामकी ओर देखा] ॥ ६९ ॥

तेन कार्मुकनिषक्तमुष्टिना राघवो विगतभीः पुरोगतः।
अङ्गुलीविवरचारिणं शरं कुर्वता निजगदे युयुत्सुना ॥ ७० ॥

तेनेति। कार्मुकनिषक्तमुष्टिना। शरमङ्गुलीविवरचारिणं कुर्वता युयुत्सुना योद्धु-मिच्छता। तेन भार्गवेण कर्त्रा। विगतभीर्निर्भीकः सन्। पुरोगतोऽग्रतो राघवो निज-गदे उक्तः। कर्मणि लिट् ॥ ७० ॥

मूंठसे धनुषको पकड़ते हुए और अङ्गुलियोंके छिद्रोंमें बाणको करते हुए युद्धा-भिलाषी उस (परशुराम) ने निर्भय एवं आगे स्थित रामचन्द्रजीसे कहा—॥ ७० ॥

क्षत्रजातमपकारवैरि मे तन्निहत्य बहुशः शमं गतः।
सुप्तसर्प इव दण्डघट्टनाद्रोषितोऽस्मि तव विक्रमश्रवात् ॥ ७१ ॥

क्षत्रजातमिति। क्षत्रजातं क्षत्रजातिर्मेऽपकारेण पितृवधरूपेण वैरि द्वेषि। तत्क्षत्रजातं बहुश एकविंशतिवारान्निहत्य शमं गतोऽस्मि। तथापि सुप्तसर्पो दण्डघट्टनात् यष्टिप्रहरणादिव तव विक्रमस्य श्रवादाकर्णनाद्रोषितो रोषं प्रापि-तोऽस्मि ॥ ७१ ॥

"क्षत्रिय जाति अपकार (पितृ-वधरूप अनुपकार) करनेसे मेरा शत्रु है, उसे बहुत (२१) बार मारकर शान्त हुआ मैं दण्डा मारनेसे सोये हुए सांपके समान तुम्हारे पराक्रमके सुनने से क्रोधित हुआ हूं ॥ ७१ ॥

मैथिलस्य धनुरन्यपार्थिवैस्त्वं किलानमितपूर्वमक्षणोः।
तन्निशम्य भवता समर्थये वीर्यशृङ्गमिव भग्नमात्मनः ॥ ७२ ॥

मैथिलस्येति । अन्यैः पार्थिवैः । अनमितपूर्वं पूर्वमनमितम् । सुप्सुपेति समासः । अस्य मैथिलस्य धनुस्त्वमभाङ्क्षीः भग्नवान् । किलेति वार्तायाम् । 'वार्तासम्भाव्ययोः किल' इत्यमरः । तद्धनुर्भङ्गं निशम्याकर्ण्य भवता आत्मनो मम वीर्यमेव शृङ्गं भग्नमिव समर्थये मन्ये ॥ ७२ ॥

दूसरे राजाओंसे नहीं झुकाये गये, मिथिलेश (जनक) के धनुषको तुमने तोड़ा है, उसे सुनकर मेरे वीर्य रूपी सींगको तुमने तोड़ा है, ऐसा मानता हूं ॥ ७२ ॥

अन्यदा जगति राम इत्ययं शब्द उच्चरित एव मामगात् ।
व्रीडमावहति मे स सम्प्रति व्यस्तवृत्तिरुदयोन्मुखे त्वयि ॥ ७३ ॥

अन्यदेति । अन्यदाऽन्यस्मिन्काले । जगति राम इत्ययं शब्द उच्चरितः सन् मामेवागात् अगमत् । सम्प्रति त्वय्युदयोन्मुखे सति व्यस्तवृत्तिर्विपरीतवृत्तिः । अन्यगामीति यावत् । स शब्दो मे व्रीडमावहति लज्जां करोति ॥ ७३ ॥

दूसरे समयमें अर्थात् पहले संसारमें कहा गया 'राम' यह शब्द मुझे प्राप्त होता था, इस समय तुम्हारे उदयोन्मुख (उन्नतिकी ओर अग्रसर) होनेपर विपरीत व्यवहारवाला (मुझे छोड़कर तुम्हें प्राप्त करनेवाला) वह ('राम' शब्द) मुझे लज्जित कर रहा है ॥ ७३ ॥

बिभ्रतोऽस्त्रमचलेऽप्यकुण्ठितं द्वौ रिपू मम मतौ समागसौ ।
धेनुवत्सहरणाच्च हैहयस्त्वं च कीर्तिमपहर्तुमुद्यतः ॥ ७४ ॥

बिभ्रत इति । अचले क्रौञ्चाद्रावप्यकुण्ठितमस्त्रं बिभ्रतो मम द्वौ समागसौ तुल्यापराधौ रिपू मतौ । 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः । धेनोः पितृहोमधेनोर्वत्सस्य हरणाद्धेतोर्हैहयः कार्तवीर्यश्च । कीर्तिमपहर्तुमुद्यत उद्युक्तस्त्वं च । वत्सहरणे भारतश्लोकः—"प्रमत्तश्चाश्रमात्तस्य होमधेन्वास्ततो बलात् । जहार वत्सं क्रोशन्त्या बभञ्ज च महाद्रुमान्" ॥ इति ॥ ७४ ॥

पर्वतमें भी अकुण्ठित (नहीं मुड़नेवाला अर्थात् सफल) अस्त्र (परशु) को धारण करते हुए भी मेरे दो शत्रु समान अपराधवाले है—(हवनकी) गौ तथा बछड़ेको हरण करनेसे कार्तवीर्य अर्थात् सहस्रार्जुन और (मेरी) कीर्ति हरण करनेके लिए तैयार तुम ॥ ७४ ॥

पौराणिक कथा—इस कथाका प्रसङ्ग श्लोक ६६ के पौराणिक कथामे देखें ।

क्षत्रियान्तकरणोऽपि विक्रमस्तेन मामवति नाजिते त्वयि ।
पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः ॥ ७५ ॥

क्षत्रियान्तेति । तेन कारणेन क्रियते येनासौ करणः । क्षत्रियान्तस्य करणोऽपि विक्रमः । त्वय्यजिते । मां नावति न प्रीणाति । तथा हि—पावकस्याग्नेर्महिमा स गण्यते । यः कक्षवत्कक्ष इव । "तत्र तस्येव" इति सप्तम्यर्थे वतिः । सागरेऽपि ज्वलति ॥ ७५ ॥

क्षत्रियोंका (इक्कीस बार) अन्त करनेवाला भी पराक्रम तुमको विना जीते मुझको सन्तुष्ट नहीं करता है, (क्योंकि) अग्निका यही महत्त्व गिना जाता है कि वह समुद्रमें भी तृणमें (स्थित) के समान जले ॥ ७५ ॥

विद्धि चात्तबलमोजसा हरेरैश्वरं धनुरभाजि यत्त्वया ।
खातमूलमनिलो नदीरयैः पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम् ॥ ७६ ॥

विद्धीति । किञ्च ऐश्वरं धनुर्हरेर्विष्णोरोजसा बलेनात्तबलं हृतसारं च विद्धि । यद्धनुस्त्वयाऽभाज्यभञ्जि । "भञ्जेश्च चिणि" इति विभाषया नलोपः । तथा हि नदीरयः खातमूलमवदारितपादं तटद्रुमं मृदुरप्यनिलः पातयति । ततः शिशुरपि रौद्रं धनुरभाङ्क्षमिति मागर्वीरिति भावः ॥ ७६ ॥

शिवजीके उस धनुषको विष्णुके बलसे हरण किये हुए शक्तिवाला (विष्णु-बलसे शक्तिहीन) समझो, जिसे तुमने तोड़ दिया है; क्योंकि नदीके वेगसे जर्जर जड़वाले तीरस्थ वृक्षको साधारण हवा भी गिरा देती है ॥ ७६ ॥

तन्मदीयमिदमायुधं ज्यया सङ्गमय्य सशरं विकृष्यताम् ।
तिष्ठतु प्रधनमेवमप्यहं तुल्यबाहुतरसा जितस्त्वया ॥ ७७ ॥

तदिति । तत्तस्मान्मदीयमिदमायुधं कार्मुकं ज्यया सङ्गमय्य संयोज्य । "ल्यपि लघुपूर्वात्" इति णेरयादेशः । सशरं यथा तथा त्वया विकृष्यताम् । प्रधनं रणस्तिष्ठतु, प्रधनं तावदास्तामित्यर्थः । 'प्रधनं मारणे रणे' इति विश्वः । एवमपि मद्धनुष्कर्षणेऽप्यहं तुल्यबाहुतरसा समबाहुबलेन । 'रंहस्तरसी तु रयः स्यदः' इत्यमरः । त्वया जितः ॥ ७७ ॥

अतः मेरे इस धनुषकी डोरी चढ़ाकर इसे बाण सहित खैंचो तो युद्ध न हो, इस प्रकार (धनुषको चढ़ाकर बाणसहित खैंचनेमात्रसे) समान बाहु-बलवाले तुमसे मैं जीता गया ॥७७॥

कातरोऽसि यदि वोद्गतार्चिषा तर्जितः परशुधारया मम ।
ज्यानिघातकठिनाङ्गुलिर्वृथा बध्यतामभययाचनाञ्जलिः ॥ ७८ ॥

कातर इति । यदि वोद्गतार्चिषोद्गतत्विषा मम परशुधारया तर्जितः कातरोऽसि भीतोऽसि । वृथा ज्यानिघातेन मौर्वीसङ्घट्टनेन कठिना अङ्गुलयो यस्य स तथोक्तोऽभययाचनाञ्जलिरभयप्रार्थनाञ्जलिर्बध्यताम् । 'तौ युतावञ्जलिः पुमान्' इत्यमरः ॥ ७८ ॥

यदि चमकती हुई मेरे फरसेकी धारसे भययुक्त तुम कातर हो तो व्यर्थमें (झूठ-मूठ) प्रत्यञ्चाके बार २ आघातसे कठिन (घट्टेयुक्त) हुई अङ्गुलियोंवाली अभययाचनाकी अञ्जलिको बांधो अर्थात् हाथ जोड़कर तुम मुझसे अभययाचना करो ॥ ७८ ॥

एवमुक्तवति भीमदर्शने भार्गवे स्मितविकम्पिताधरः ।
तद्धनुर्ग्रहणमेव राघवः प्रत्यपद्यत समर्थमुत्तरम् ॥ ७९ ॥

एवमिति । भीमदर्शने भार्गवे एवमुक्तवति सति । राघवः स्मितेन हासेन विकम्पिताधरः सन् । तद्धनुर्ग्रहणमेव समर्थमुचितमुत्तरं प्रत्यपद्यताङ्गीचकार ॥ ७९ ॥

देखनेमें भयङ्कर परशुरामके ऐसा कहनेपर मुस्कुरानेसे ही स्फुरित अधर वाले रामने (विना कुछ कहे) उनके धनुषको ग्रहण करना ही उचित उत्तर (देना) स्वीकार किया ॥ ७९ ॥

पूर्वजन्मधनुषा समागतः सोऽतिमात्रलघुदर्शनोऽभवत् ।
केवलोऽपि सुभगो नवाम्बुदः किं पुनस्त्रिदशचापलाञ्छितः ॥ ८० ॥

पूर्वजन्मेति । पूर्वजन्मनि नारायणावतारे यद्धनुस्तेन समागतः सङ्गतः स रामोऽतिमात्रमत्यन्तं लघुदर्शनः प्रियदर्शनोऽभवत् । तथा हि । नवाम्बुदः केवलो रिक्तोऽपि सुभगः शोभावान् । त्रिदशचापेनेन्द्रधनुषा लाञ्छितश्चिह्नितः किं पुनः । सुभग एवेति भावः ॥ ८० ॥

पूर्व जन्म (नारायणावतार) के धनुषसे युक्त वह (राम) अत्यन्त प्रियदर्शन (देखने में सुन्दर) हो गये क्योंकि नया मेघ अकेला भी सुन्दर होता है, फिर यदि वह इन्द्रधनुषसे युक्त हो जाय तो (उसकी शोभाका) क्या कहना है ? ॥ ८० ॥

तेन भूमिनिहितैककोटि तत्कार्मुकं च बलिनाऽधिरोपितम् ।
निष्प्रभश्च रिपुरास भूभृतां धूमशेष इव धूमकेतनः ॥ ८१ ॥

तेनेति । बलिना तेन रामेण भूमिनिहितैका कोटिर्यस्य तत् । कर्मणे प्रभवतीति कार्मुकं धनुश्च । "कर्मण उकञ्" इत्युकञ्प्रत्ययः । अधिरोपितम् । भूभृतां रिपुर्भार्गवश्च । धूमशेषो धूमकेतनोऽग्निरिव । निष्प्रभो निस्तेजस्क आस बभूव । निर्वापितो वह्निरिव हततेजा अभूदित्यर्थः । आसेति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययं दीप्त्यर्थकस्यास्ते रूपं वा ॥ ८१ ॥

बलवान् उस (राम) ने एक किनारेको भूमिपर (जब) रखकर उस धनुषको चढ़ा दिया (तब) राजाओंके शत्रु वह (परशुराम) धूमशेष अग्निके समान निस्तेज हो गये ॥ ८१ ॥

तावुभावपि परस्परस्थितौ वर्धमानपरिहीनतेजसौ ।
पश्यति स्म जनता दिनात्यये पार्वणौ शशिदिवाकराविव ॥ ८२ ॥

ताविति । परस्परस्थितावन्योन्याभिमुखौ । वर्धमानं च परिहीनं चेति द्वन्द्वः । वर्धमानपरिहीने तेजसी ययोस्तावुभौ राघवभार्गवावपि । दिनात्यये सायङ्काले पर्वणि भवौ पार्वणौ शशिदिवाकराविव । जनता जनसमूहः । "ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्"

इति तत्प्रत्ययः। पश्यति स्मापश्यत्। अत्र राघवस्य शशिना भार्गवस्य भानुनौपम्यं द्रष्टव्यम् ॥ ८२ ॥

जनताने परस्पर स्थित एवं बढ़ते हुए तथा क्षीण तेजवाले उन दोनोंको सायङ्कालमें (बढ़ते हुए तथा क्षीण तेजवाले) चन्द्रमा तथा सूर्यके समान देखा। (यहां बढ़ते हुए तेजवाले रामचन्द्रजीको तथा क्षीण तेजवाले परशुरामजीको समझना चाहिये) ॥ ८२ ॥

तं कृपामृदुरवेक्ष्य भार्गवं राघवः स्खलितवीर्यमात्मनि।
स्वं च संहितममोघमाशुगं व्याजहार हरसूनुसन्निभः ॥ ८३ ॥

तमिति। हरसूनुसन्निभः स्कन्दसमः। कृपामृदू राघवः। आत्मनि विषये स्खलितवीर्यं कुण्ठितशक्तिं तं भार्गवं स्वं स्वकीयं संहितममोघमाशुगं बाणं चावेक्ष्य व्याजहार बभाषे ॥ ८३ ॥

कार्तिकेयके समान पराक्रमवाले तथा कृपासे कोमल अर्थात् दयार्द्र राम, अपने विषयमें वीर्यहीन (हारे हुए) परशुरामसे चढ़ाये हुए अपने अमोघ (कभी व्यर्थ नहीं होनेवाले) बाण को देखकर बोले—॥ ८३ ॥

न प्रहर्तुमलमस्मि निर्दयं विप्र इत्यभिभवत्यपि त्वयि।
शंस किं गतिमनेन पत्रिणा हन्मि लोकमुत ते मखार्जितम् ॥ ८४ ॥

नेति। अभिभवत्यपि त्वयि। विप्र इति हेतोः। निर्दयं प्रहर्तुमलं शक्तो नास्मि किंत्वनेन पत्रिणा शरेण ते गतिं गमनं हन्मि। उत मखार्जितं लोकं स्वर्गं हन्मि शंस ब्रूहि ॥ ८४ ॥

"अभिभव (तिरस्कार) करते हुए भी तुमपर 'तुम ब्राह्मण हो' इस कारणसे प्रहार नहीं कर सकता, अतः इस बाणसे तुम्हारे गतिको नष्ट करूं अथवा तपस्यासे उपार्जित तुम्हारे स्वर्गलोकको नष्ट करूं? कहो" ॥ ८४ ॥

प्रत्युवाच तमृषिर्न तत्त्वतस्त्वां न वेद्मि पुरुषं पुरातनम्।
गां गतस्य तव धाम वैष्णवं कोपितो ह्यसि मया दिदृक्षुणा ॥ ८५ ॥

प्रत्युवाचेति। ऋषिर्भार्गवस्तं रामं प्रत्युवाच। किमिति। तत्त्वतः स्वरूपतस्त्वां पुरातनं पुरुषं न वेद्मीति न, किन्तु वेद्म्येवेत्यर्थः। किन्तु गां गतस्य भुवमवतीर्णस्य तव वैष्णवं धाम तेजो दिदृक्षुणा द्रष्टुमिच्छुना मया कोपितो ह्यसि ॥ ८५ ॥

उस (राम) से मुनि (परशुराम) बोले—'वस्तुतः 'तुमको पुरातन पुरुष अर्थात् विष्णु मैं नहीं जानता हूं' यह बात नहीं है, किन्तु पृथ्वीपर अवतार ग्रहण किये हुए तुम्हारे वैष्णव (विष्णु-सम्बन्धी) तेजको देखने की इच्छासे मैंने तुम्हें) क्रोधयुक्त किया है ॥ ८५ ॥

भस्मसात्कृतवतः पितृद्विषः पात्रसाच्च वसुधां ससागराम् ।
आहितो जयविपर्ययोऽपि मे श्लाघ्य एव परमेष्ठिना त्वया ॥ ८६ ॥

भस्मसादिति । पितृद्विषः पितृवैरिणो भस्मसात्कृतवतः कोपेन भस्मीकुर्वतः । "विभाषा सातिकात्स्न्र्ये" इति सातिप्रत्ययः । ससागरां वसुधां च पात्रसात्पात्राधीनं देयं कृतवतः । "देये त्रा च" इति चकारात्सातिः । कृतकृत्यस्य मे परमेष्ठिना परमे लोके तिष्ठतीति तेन परमपुरुषेण त्वयाऽऽहितः कृतो जयविपर्ययः पराजयोऽपि श्लाघ्य आशास्य एव ॥ ८६ ॥

पिताके शत्रुओं (क्षत्रियों) को भस्म करनेवाले तथा समुद्र तक भूमिको पात्रोंके अधीन (ब्राह्मणोंको दान) करनेवाले मेरा, परमेष्ठी तुम्हारे द्वारा किया गया पराजय भी प्रशंसनीय ही है ॥ ८६ ॥

तद्गतिं मतिमतां वरेप्सितां पुण्यतीर्थगमनाय रक्ष मे ।
पीडयिष्यति न मां खिलीकृता स्वर्गपद्धतिरभोगलोलुपम् ॥ ८७ ॥

तदिति । तत्तस्मात्कारणात् हे मतिमतां वर ! पुण्यतीर्थगमनायानुमिष्टामीप्सितां मे गतिं रक्ष पालय । किन्तु खिलीकृता दुर्गमीकृतापि स्वर्गपद्धतिरभोगलोलुपं भोगनिःस्पृहं मां न पीडयिष्यति । अतस्तामेव जहीत्यर्थः ॥ ८७ ॥

सो हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ ! पुण्यलोकोंको जानेके लिये मेरी अभिलषित गतिकी रक्षा करो, व्यर्थ (नष्ट) की गयी स्वर्ग-परम्परा भोगमें लोभरहित मुझको दुःखित नहीं करेगी (अतः मेरी गतिको बचाकर मेरे स्वर्गलोकको ही इस अपने अमोघ बाणसे नष्ट करो)"॥८७॥

प्रत्यपद्यत तथेति राघवः प्राङ्मुखश्च विससर्ज सायकम् ।
भार्गवस्य सुकृतोऽपि सोऽभवत्स्वर्गमार्गपरिघो दुरत्ययः ॥ ८८ ॥

प्रतीति । राघवस्तथेति प्रत्यपद्यताङ्गीकृतवान् । प्राङ्मुख इन्द्रदिङ्मुखः सायकं विससर्ज च । स सायकः सुकृतोऽपि साधुकारिणोऽपि । करोतेः क्विप् । भार्गवस्य दुरत्ययो दुःखेन अत्ययो नाशो यस्य स दुरत्ययो दुरतिक्रमः स्वर्गमार्गस्य परिघः प्रतिबन्धोऽभवत् ॥ ८८ ॥

रामने "वैसाही हो" ऐसा स्वीकार कर लिया (और) पूर्वकी ओर मुख करके बाणको छोड़ा; वह (बाण) पुण्यकर्ता भी परशुरामके लिये स्वर्ग-मार्गका दुर्लङ्घ्य परिघ (आर्गला—आगल अर्थात् किल्ली) हो गया ॥ ८८ ॥

राघवोऽपि चरणौ तपोनिधेः क्षम्यतामिति वदन्समस्पृशत् ।
निर्जितेषु तरसा तरस्विनां शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये ॥ ८९ ॥

राघव इति । राघवोऽपि क्षम्यतामिति वदंस्तपोनिधेर्भार्गवस्य चरणौ समस्पृशत्प्रणनाम । तथा हि, तरस्विनां बलवतां तरसा बलेन निर्जितेषु शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये । भवतीति शेषः ॥ ८९ ॥

'क्षमा कीजिये' ऐसा कहते हुए रामने भी महातपस्वी (परशुरामजी) के दोनों चरणोंको स्पर्श किया (चरणस्पर्शकर प्रणाम किया), क्योंकि बलवानोंके बलसे शत्रुओंके जीते जानेपर (विजेता बलवानोंका नम्र) होना ही कीर्तिके लिये होता है ॥ ८९ ॥

राजसत्वमवधूय मातृकं पित्र्यमस्मि गमितः शमं यदा ।
नन्वनिन्दितफलो मम त्वया निग्रहोऽप्ययमनुग्रहीकृतः ॥ ९० ॥

राजसत्वेति । मातुरागतं मातृकं राजसत्वं रजोगुणप्रधानत्वमवधूय तिरस्कृत्य पितुरागतं पित्र्यं शमं यदा गमितोऽस्मि तदा त्वया ममापेक्षितत्वादनिन्दितमगर्हितं फलं स्वर्गहानिलक्षणं यस्य सोऽयं निग्रहोऽपकारोऽप्यनुग्रहीकृतो ननूपकारीकृतः खलु ॥ ९० ॥

"जब मैं माताके राजसत्व (राजसिक गुण अर्थात् क्षत्रियोचित बल) को तिरस्कृतकर पिताकी शान्ति (ब्राह्मणोचित शान्ति) को प्राप्त कर लिया हूं, तब तुमसे किया गया अनिन्दित फलवाला (स्वर्ग हानिरूप) मेरा यह निग्रह (शासन) भी अनुग्रह (उपकार) ही किया गया है ॥ ९० ॥

पौराणिक वार्ता—सत्यवतीके साथ पुत्र 'च्यवन' ऋषिके विवाह करनेपर 'भृगु'–पुत्र वधूको देखने आये । नव वधू–वरके द्वारा श्रद्धा–भक्तिसे पूजित भृगुने पुत्रवधू सत्यवतीसे वर मांगनेको कहा तो उसने अपने लिये वेदादिशास्त्रका ज्ञाता तथा माताके लिये अस्त्र-शास्त्रका ज्ञाता योद्धा पुत्र होनेका वर मांगा । प्राणायाम करनेके बाद उत्पन्न हुए दो चरुओंको देते हुए 'भृगु'ने सत्यवतीसे कहा—यह लाल चरु तुम्हारी माता पीपल वृक्षका आलिङ्गन कर ऋतुकालमें खावे तथा इस श्वेत चरुको गूलरका आलिङ्गन कर तुम ऋतुकालमें खाना। यह सुन प्रसन्नचित्ता सत्यवतीने कान्यकुब्जनरेश 'गाधि'की पत्नी अपनी माताको उक्त चरु देकर पुत्रोत्पादक चरुका महत्त्व बतला दिया, तब उसकी माताने "अपनी पुत्र-वधूके लिये महर्षिने उत्तम चरु दिया होगा" ऐसा मनमें विचारकर ऋतु-कालके समय श्वेत चरु स्वयं खाया तथा लाल चरु कन्या (सत्यवती) को खिलाया । योगबलसे इस परिवर्तित चरुको खानेका वृत्तान्त मालूमकर भगवान् भृगुने पुत्रवधू सत्यवतीसे सब बातें कहते हुए कहा कि इस परिवर्तनसे तुम्हारा पुत्र ब्राह्मण होकर भी अस्त्र–शास्त्रका ज्ञाता योद्धा तथा तुम्हारी माताका पुत्र क्षत्रिय होकर भी वेदादि शास्त्रका ज्ञाता होगा । सत्यवतीने बद्धाञ्जलि होकर इस अपराधकी क्षमायाचना की तो भृगुने कहा—"अस्तु, इसमें परिवर्तन सर्वथा तो नहीं हो सकता किन्तु तुम्हारे पुत्रके बदले पौत्र ब्राह्मण होकर भी क्षत्रियकर्म करने-

वाला (अस्त्र-शास्त्रका ज्ञाता योद्धा) होगा" । उसीके परिणाम स्वरूप राजा गाधिको विश्वामित्र हुए, जो क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मणोचित कर्म करनेवाले हुए तथा च्यवनको जमदग्नि एवं जमदग्निके पुत्र परशुराम हुए जो, ब्राह्मण होकर भी क्षत्रियोचित अस्त्र-शास्त्रके ज्ञाता महान् वीर योद्धा हुए ।

साधयाम्यहमविघ्नमस्तु ते देवकार्यमुपपादयिष्यतः ।
ऊचिवानिति वचः सलक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजमृषिस्तिरोदधे ॥ ९१ ॥

साधयामीति । अहं साधयामि गच्छामि । धातूनामनेकार्थत्वाद् इति । देवकार्यमुपपादयिष्यतः सम्पादयिष्यतस्तेऽविघ्नमस्तु विघ्नाभावोऽस्तु । "अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावा-" इत्यादिनाऽर्थाभावेऽव्ययीभावः । सह लक्ष्मणेन सलक्ष्मणस्तम् । "तेन सहेति तुल्ययोगे" इति बहुव्रीहिः । लक्ष्मणाग्रजं राममिति वच ऊचिवानुक्तवान् । ऋषः ऋषुः । ऋषिस्तिरोदधेऽन्तर्दधे ॥ ९१ ॥

"मैं जाता हूं, भविष्यमें देवकार्यको करनेवाले तेरा निर्विघ्न (कल्याण) हो" ऐसा वचन लक्ष्मणके सहित रामसे कहकर मुनि (परशुरामजी) अन्तर्हित हो गये ॥ ९१ ॥

पौराणिक कथा—ब्रह्माके वरदानसे नर-वानरको छोड़कर दूसरेसे अवध्य होनेका वरदान पाकर उद्धत रावण त्रैलोक्यको सताने लगा, तब इन्द्रादि देवोंने वैकुण्ठ धाममें विष्णुके शरणमें जाकर उसके वधके लिये स्तुतिपूर्वक प्रार्थना की । तब विष्णुने "दशरथ राजाके पुत्र रूपमें अवतार लेकर मैं 'देवकार्य'का सम्पादन करूंगा" ऐसा कहकर देवताओंको शान्त्वना दी और स्वयं नररूप रावणको मारनेके लिये धारण किया ।

तस्मिन् गते विजयिनं परिरभ्य रामं
स्नेहादमन्यत पिता पुनरेव जातम् ।
तस्याभवत्क्षणशुचः परितोषलाभः
कक्षाग्निलङ्घिततरोरिव वृष्टिपातः ॥ ९२ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन्भार्गवे गते सति । विजयिनं रामं पिता स्नेहात्परिरभ्यालिङ्ग्य पुनर्जातमेवामन्यत । क्षणं शुग्यस्येति विग्रहः । क्षणशुचस्तस्य दशरथस्य परितोषलाभः सन्तोषप्राप्तिः कक्षाग्निना दावानलेन । 'कक्षः शुष्ककाननवीरुधोः' इति विश्वः । लङ्घितस्याभिहतस्य तरोर्वृष्टिपातः वर्षापात इव अभवत् ॥ ९२ ॥

उस (परशुराम) के चले जानेपर विजयी रामको स्नेहसे आलिङ्गनकर पिता (दशरथ) ने पुनः उत्पन्न हुएके समान माना । क्षणमात्र शोक करनेवाले उस (दशरथ) को सन्तोषका लाभ दावाग्निसे पीडित वृक्षको वृष्टि होनेके समान हुआ ॥ ९२ ॥

अथ पथि गमयित्वा क्लृप्तरम्योपकार्ये
कतिचिदवनिपालः शर्वरीः शर्वकल्पः।
पुरमविशदयोध्यां मैथिलीदर्शनीनां
कुवलयितगवाक्षां लोचनैरङ्गनानाम् ॥ ९३ ॥

अथेति। अथ ईषदसमाप्तः शर्वः शर्वकल्पः। "ईषदसमाप्तौ कल्पप्देश्यदेशीयरः" इति कल्पप्प्रत्ययः। अवनिपालः दशरथः क्लृप्ता रम्या नवा उपकार्या यस्मिन्स तस्मिन्पथि कतिचिच्छर्वरी रात्रीर्गमयित्वा मैथिलीदर्शनीनामङ्गनानां लोचनैः कुवलयानि येषां सञ्जातानि कुवलयिताः। "तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्" इतीतच्प्रत्ययः। कुवलयिता गवाक्षा यस्यास्तां पुरमयोध्यामविशत्प्रविष्टवान् ॥ ९३ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये सीताविवाहवर्णनो नामैकादशः सर्गः ॥११॥

इसके बाद शिवजीके समान पृथ्वीपति (दशरथ) ने सुन्दर तम्बू-खेमेवाले मार्गमें कई रातोंको बिताकर सीताको देखनेवाली स्त्रियोंके नेत्रोंसे नील कमलोंसे युक्त किये गये झरोखोंवाली अयोध्या पुरीमें प्रवेश किया ॥ ९३ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'सीताविवाहवर्णन' नामक एकादश सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः।

वन्दामहे महोद्दण्डदोर्दण्डौ रघुनन्दनौ।
तेजोनिर्जितमार्तण्डमण्डलौ लोकनन्दनौ ॥

निर्विष्टविषयस्नेहः स दशान्तमुपेयिवान्।
आसीदासन्ननिर्वाणः प्रदीपार्चिरिवोषसि ॥ १ ॥

निर्विष्टेति। स्नेहयन्ति प्रीणयन्ति पुरुषमिति स्नेहाः। पचाद्यच्। स्निह्यन्ति पुरुषा येष्विति वा स्नेहाः। अधिकरणार्थे घञ्। विषयाः शब्दादयस्त एव स्नेहा निर्विष्टा भुक्ता विषयस्नेहा येन स तथोक्तः। 'निर्वेशो भृतिभोगयोः' इति विश्वः। दशा जीवनावस्था तस्य अन्तं वार्धकमुपेयिवान् स दशरथः। उषसि प्रदीपार्चिरिव दीपज्वालेव। आसन्नं निर्वाणं मोक्षो यस्य स तथोक्त आसीत्। अर्चिःपक्षे तु-

विषयो देश आश्रयः । भाजनमिति यावत् । 'विषयः स्यादिन्द्रियार्थे देशे जनपदेऽपि च' इति विश्वः । स्नेहस्तैलादिः । 'स्नेहस्तैलादिकरसे द्रवे स्यात्सौहृदेऽपि च' इति विश्वः । दशा वर्तिका । 'दशा वर्तावस्थायाम्' इति विश्वः । निर्वाणं विनाशः । 'निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे विनाशे गजमज्जने' इति यादवः ॥ १ ॥

महोद्दण्ड-भुजदण्ड, राम-लषणको नति करूं ।
तेजोजित-मार्तण्ड, लोकहर्षकारक सदा ॥

रूप-शब्दादि स्वरूप विषयोंको भोगे हुए तथा अन्तिम अवस्था (बुढ़ापा) को प्राप्त वे राजा (दशरथ) पात्रके स्नेह (तैल) का भोग किये (जलाये) हुए तथा बत्ती-की अन्तिमावस्थाको प्राप्त प्रातःकालमें दीपककी लौ (ज्वाला) के समान शीघ्र बुझनेवाले (दशरथ पक्षमें—मरनेवाले) थे ॥ १ ॥

तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति ।
कैकेयीशङ्कयेवाह पलितच्छद्मना जरा ॥ २ ॥

तमिति । जरा कैकेयीशङ्कयेव पलितस्य केशादिशौक्ल्यस्य छद्मना मिषेण । 'पलितं जरसा शौक्ल्यं केशादौ विस्रसा जरा' इत्यमरः । कर्णमूलं कर्णोपकण्ठमागत्य रामे श्री राज्यलक्ष्मीर्न्यस्यतां निधीयतामिति तमाह । दशरथो वृद्धोऽहमिति विचार्य रामस्य यौवराज्याभिषेकं चकाङ्क्षेत्यर्थः ॥ २ ॥

पके हुए बालोंके बहानेसे बुढ़ापेने कैकेयीकी शङ्कासे कानतक आकर 'रामको राज-लक्ष्मी दे दो' ऐसा कहा । (कर्णप्रान्तमें पके हुए बालोंको देख अपना बुढापा जानकर दशरथने रामको राज्यलक्ष्मी देना चाहा) ॥ २ ॥

सा पौरान्पौरकान्तस्य रामस्याभ्युदयश्रुतिः ।
प्रत्येकं ह्लादयाञ्चक्रे कुल्येवोद्यानपादपान् ॥ ३ ॥

सेति । सा पौरकान्तस्य रामस्याभ्युदयश्रुतिरभिषेकवार्ता । कुल्या कृत्रिमा सरित् । 'कुल्याल्पा कृत्रिमा सरित्' इत्यमरः । उद्यानपादपानिव पौरान् प्रत्येकं ह्लादयाञ्चक्रे ॥ ३ ॥

नागरिकोंके प्रिय रामके उन्नति (अभिषेक) की चर्चाने उपवनके वृक्षोंको नहरके समान प्रत्येक नागरिकोंको आह्लादित कर दिया ॥ ३ ॥

तस्याभिषेकसम्भारं कल्पितं क्रूरनिश्चया ।
दूषयामास कैकेयी शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिः ॥ ४ ॥

तस्येति । क्रूरनिश्चया कैकेयी तस्य रामस्य कल्पितं सम्भृतमभिषेकस्य सम्भा-

रमुपकरणं शोकोष्णैः पार्थिवाश्रुभिर्दूषयामास । स्वदुःखमूलेन राजशोकेन प्रतिबन्धेत्यर्थः ॥ ४ ॥

क्रूर निश्चयवाली कैकेयीने तैयार किये गये अभिषेक-साधनको शोकसे उष्ण दशरथकी आँसुओंसे दूषित कर दिया। (क्रूर विचारवाली कैकेयीके कारण रोते हुए राजाने रामके अभिषेकको रोक दिया ॥ ४ ॥

सा किलाश्वासिता चण्डी भर्त्रा तत्संश्रुतौ वरौ ।
उद्ववामेन्द्रसिक्ता भूर्बिलमग्नाविवोरगौ ॥ ५ ॥

सेति । चण्ड्यतिकोपना 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः । सा किल भर्त्राऽऽश्वासिताऽनुनीता सती तेन भर्त्रा संश्रुतौ प्रतिज्ञातौ वरौ । इन्द्रेण मेघेन सिक्ताभिवृष्टा । 'इन्द्रः फणिज्जके सान्द्रे घनकामनयोर्मदौ' इति विश्वः । भूर्बिले वल्मीकादौ मग्नावुरगाविव । उद्ववामोज्जगार ॥ ५ ॥

चण्डी (अतिक्रोधशीला) उस कैकेयीने पतिके आश्वासन देनेपर मेघसे सींची गयी भूमि बिलमें घुसे हुए दो सर्पोंको जिस प्रकार उगल देती है, उसी प्रकार उनके दिये हुए दो वरोंको उगला (मांगा) ॥ ५ ॥

तयोश्चतुर्दशैकेन रामं प्राव्राजयत्समाः ।
द्वितीयेन सुतस्यैच्छद्वैधव्यैकफलां श्रियम् ॥ ६ ॥

तयोरिति । सा तयोर्वरयोर्मध्ये एकेन वरेण रामं चतुर्दश समाः सम्वत्सरान् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । प्राव्राजयत्प्रावासयत् । द्वितीयेन वरेण सुतस्य भरतस्य वैधव्यैकफलां स्ववैधव्यमात्रफलाम् । न तूपभोगफलामिति भावः । श्रियमैच्छदियेष ॥

उन (दोनो वरोंमेंसे एक वरसे रामको चौदह वर्षोंतक प्रवास (वनवास) दिया और दूसरे वरसे एकमात्र अपना विधवा होना ही जिसका फल है, ऐसी पुत्र (भरत) की राजलक्ष्मीको मांगा ॥ ६ ॥

पौराणिक कथा—असुरपीड़ित इन्द्रके बुलानेसे स्वर्गमें जाकर युद्धमें इन्द्रकी सहायता करते हुए दशरथ असुरोंके बाणोंसे बिद्ध होकर मूच्छित हो गये, उस समय कैकेयीने—जो युद्ध स्थलमें भी उनके साथ ही थी—उनकी सेवा शुश्रूषा की, उससे प्रसन्न होकर राजा दशरथने कैकेयीसे वर मांगनेके लिये कहा तो उसने "मैं आपसे दो वर मांगती हूं, किन्तु जब कभी उन्हें लेना चाहूंगी, आप देनेका वचन दें" ऐसा कैकेयीके कहनेपर दशरथने 'एवमस्तु' कहा । उन्हीं वरोंको कैकेयीने इस समय मन्थराकी प्रेरणासे मांगा। कहीं २ पर राजा दशरथके मूच्छित होनेके स्थानमें यह प्रसङ्ग आता है कि असुरोंके साथ युद्ध करते हुए दशरथके रथका धुरा टूट गया, तो उस आपत्तिसे कैकेयीने उनको बचाया, जिससे प्रसन्न दशरथने वर मांगनेके लिये कहा। शेष कथा-प्रसङ्ग पूर्ववत् ही है।

पित्रा दत्तां रुदन् रामः प्राङ्महीं प्रत्यपद्यत ।
पश्चाद्वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत् ॥ ७ ॥

पित्रेति । रामः प्राक् पित्रा दत्तां महीं रुदन् प्रत्यपद्यताङ्गीचकार । स्वत्यागदुःखादिति भावः । पश्चाद्वनाय गच्छेत्येवंरूपां तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत् । पित्राज्ञाकरणलाभादिति भावः ॥ ७ ॥

रामने पहले पिताके द्वारा दी गयी राज–लक्ष्मीको (अपने त्यागके दुःखसे) रोते हुए स्वीकार किये थे, पीछे उनकी 'वनको जावो' इस आज्ञाको (पिताकी आज्ञाका पालन तथा भरतकी राज्यप्राप्तिसे) प्रसन्न होते हुए स्वीकार किया ॥ ७ ॥

दधतो मङ्गलक्षौमे वसानस्य च वल्कले ।
ददृशुर्विस्मितास्तस्य मुखरागं समं जनाः ॥ ८ ॥

दधत इति । मङ्गलक्षौमे-मङ्गले च ते क्षौमे दुकूले च दधतो वल्कले वसानस्याच्छादयतश्च तस्य रामस्य सममेकविधं मुखरागं मुखवर्णं जना विस्मिता ददृशुः । सुखदुःखयोरविकृत इति भावः ॥ ८ ॥

आश्चर्ययुक्त लोगोंने (पहले) सुन्दर २ रेशमी वस्त्र पहनते हुए (तथा बादमें बन जाते समय) बल्कल पहनते हुए रामके मुखके वर्ण (भाव या प्रसन्नता) को समान रूपमें देखा। (पहले राज्याभिषेकके लिये सुन्दर २ वस्त्र पहनते–समय तथा बन जानेके लिये बल्कल पहनते समय रामके मुखमें कोई हर्ष या शोकका चिह्न न देखकर लोग आश्चर्यित हो गये) ॥ ८ ॥

स सीतालक्ष्मणसखः सत्याद् गुरुमलोपयन् ।
विवेश दण्डकारण्यं प्रत्येकं च सतां मनः ॥ ९ ॥

स इति । स रामो गुरुं पितरं सत्याद्वरदानरूपादलोपयन्नभ्रंशयन् । सीतालक्ष्मणयोः सखेति विग्रहः । ताभ्यां सहितः सन् दण्डकारण्यं दण्डकानामभार्गवकन्यया युतं वनं विवेश । सतां मनश्च प्रत्येकं विवेश । पितृभक्त्या सर्वे सन्तः सन्तुष्टा इति भावः ॥ ९ ॥

पिताको सत्यभ्रष्ट नहीं करते हुए वे राम सीता और लक्ष्मणके साथ दण्डकारण्यमें तथा प्रत्येक सज्जनोंके चित्तमें प्रविष्ट हुए । (रामको पितृभक्तिसे सभी सज्जन अत्यन्त प्रसन्न हो गये) ॥ ९ ॥

राजाऽपि तद्वियोगार्तः स्मृत्वा शापं स्वकर्मजम् ।
शरीरत्यागमात्रेण शुद्धिलाभममन्यत ॥ १० ॥

राजेति । तद्वियोगार्तः पुत्रवियोगदुःखितः राजाऽपि स्वकर्मणा मुनिपुत्रवधरूपेण

जातः स्वकर्मजस्तं शापं पुत्रशोकजं मरणात्मकं स्मृत्वा शरीरत्यागमात्रेण देहत्यागेनैव शुद्धिलाभं प्रायश्चित्तममन्यत। मृत इत्यर्थः॥ १०॥

उनके वियोगसे दुःखित राजा (दशरथ) ने भी अपने कर्मसे प्राप्त शापको (देखें ९।७३–७९) स्मरणकर एकमात्र शरीरत्याग (मरने) से ही शुद्धिको प्राप्ति (प्रायश्चित्तके द्वारा शुद्धि) समझा अर्थात् वे मर गये॥ १०॥

विप्रोषितकुमारं तद्राज्यमस्तमितेश्वरम्।
रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषामामिषतां ययौ॥ ११॥

विप्रोषितेति। विप्रोषिता गताः कुमारा यस्मिंस्तत्तथोक्तम्। अस्तमितो मृत ईश्वरो राजा यस्य तत्तथोक्तं तद्राज्यं रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषां शत्रूणामामिषतां भोग्यवस्तुतां ययौ। 'आमिषं भोग्यवस्तुनि' इति केशवः॥ ११॥

जिस राज्यसे राजकुमार परदेश (राम लक्ष्मण वनको तथा भरत–शत्रुघ्न नानाके यहां) चले गये हैं, और राजा मर गये हैं, ऐसा वह राज्य छिद्रान्वेषी शत्रुओंका भोग–साधन बन गया॥ ११॥

अथानाथाः प्रकृतयो मातृबन्धुनिवासिनम्।
मौलैरानाययामासुर्भरतं स्तम्भिताश्रुभिः॥ १२॥

अथेति। अथानाथाः प्रकृतयोऽमात्याः। 'प्रकृतिः सहजे योनावमात्ये परमात्मनि' इति विश्वः। मातृबन्धुषु निवासिनं भरतं स्तम्भिताश्रुभिः। पितृमरणगुप्त्यर्थमिति भावः। मौलैराप्तैः सचिवैरानाययामासुरागमयाञ्चक्रुः॥ १२॥

इसके बाद अनाथ मन्त्रियोंने मामाके यहां रहते हुए भरतको आँसूको रोके हुए विश्वासपात्र मन्त्रियोंसे बुलवाया॥ १२॥

श्रुत्वा तथाविधं मृत्युं कैकेयीतनयः पितुः।
मातुर्न केवलं स्वस्याः श्रियोऽप्यासीत्पराङ्मुखः॥ १३॥

श्रुत्वेति। कैकेयीतनयो भरतः पितुस्तथाविधं, रामवियोगादित्यर्थः। स्वमातृमूलं मृत्युं मरणं श्रुत्वा स्वस्या मातुः केवलं मातुरेव पराङ्मुखो न किन्तु श्रियोऽपि पराङ्मुख आसीत्॥ १३॥

कैकेयीपुत्र (भरत) पिताकी उस प्रकार (राम–विरहके कारणसे) हुई मृत्युको सुनकर केवल अपनी मातासे ही पराङ्मुख नहीं हुए, अपितु राजलक्ष्मीसे भी पराङ्मुख हुए। (भरतने माता तथा राजलक्ष्मी दोनोंका—त्यागकर दिया)॥ १३॥

ससैन्यश्चान्वगाद्रामं दर्शितानाश्रमालयैः ।
तस्य पश्यन्ससौमित्रेरुदश्रुर्वसतिद्रुमान् ॥ १४ ॥

ससैन्यमिति । ससैन्यो भरतो राममन्वगाच्च । किं कुर्वन् । आश्रमालयैर्वनवासिभिर्मुनिभिर्दर्शितानेते रामनिवासा इति कथितान् ससौमित्रेर्लक्ष्मणसहितस्य तस्य रामस्य वसतिद्रुमान्निवासवृक्षान् पश्यन्नुदश्रुरुद्गतबाष्पो रुदन् ॥ १४ ॥

सेनासहित (भरतने) आश्रमवासियों (मुनियों) से बतलाये गये, लक्ष्मण–सहित रामके निवासभूत वृक्षोंको देखते एवं रोते हुए रामका अनुगमन किया ॥ १४ ॥

चित्रकूटवनस्थं च कथितस्वर्गतिर्गुरोः ।
लक्ष्म्या निमन्त्रयाञ्चक्रे तमनुच्छिष्टसम्पदा ॥ १५ ॥

चित्रकूटेति । चित्रकूटवनस्थं तं रामं च गुरोः पितुः कथितस्वर्गतिः, कथितपितृमरणः सन्नित्यर्थः । अनुच्छिष्टाननुभूतशिष्टा सम्पत् गुणोत्कर्षो यस्याः सा । 'सम्पद्भूतौ गुणोत्कर्षे' इति केशवः । तया लक्ष्म्या करणेन निमन्त्रयाञ्चक्रे आहूतवान् , राज्यमनुभवेत्याजुहावेत्यर्थः ॥ १५ ॥

चित्रकूटके वनमें निवास करते हुए रामसे पिताकी मृत्युका हाल कहकर भरतने बिना भोगी हुई राजलक्ष्मीसे रामको निमन्त्रित किया । ('राजलक्ष्मीको मैं स्वीकार नहीं करूंगा, अतः आप लौटकर उसका भोग कीजिये ।' ऐसी रामसे प्रार्थना की) ॥ १५ ॥

स हि प्रथमजे तस्मिन्नकृतश्रीपरिग्रहे ।
परिवेत्तारमात्मानं मेने स्वीकरणाद्भुवः ॥ १६ ॥

स इति । स हि भरतः प्रथमजेऽग्रजे तस्मिन् रामेऽकृतश्रीपरिग्रहे सति स्वयं भुवः स्वीकरणादात्मानं परिवेत्तारं मेने । 'परिवेत्ताऽनुजोनूढे ज्येष्ठे दारपरिग्रहात्' इत्यमरः । भूपरिग्रहोऽपि दारपरिग्रहसम इति भावः ॥ १६ ॥

उन भरतने बड़े भाई रामको राजलक्ष्मीका स्वीकार नहीं करनेपर पहले स्वयं राजलक्ष्मीको स्वीकार करनेवाले अपनेको 'परिवेत्ता' माना । (बड़े भाईके अविवाहित रहते विवाह करनेवाले छोटे भाईको 'परिवेत्ता' कहते हैं, यह विवाह शास्त्र-विरुद्ध है, क्योंकि स्त्री–परिग्रहके समान भूमि (राजलक्ष्मी) का परिग्रह भी माना गया है ॥ १६ ॥

तमशक्यमपाक्रष्टुं निर्देशात्स्वर्गिणः पितुः ।
ययाचे पादुके पश्चात्कर्तुं राज्याधिदेवते ॥ १७ ॥

तमिति । स्वर्गिणः स्वर्गतस्य पितुर्निर्देशाच्छासनादपाक्रष्टुं निवर्तयितुमशक्यं तं रामं पश्चाद्राज्याधिदेवते स्वामिन्यौ कर्तुं पादुके ययाचे ॥ १७ ॥

स्वर्गीय पिताकी आज्ञासे पृथक् करनेके लिये (पिताकी आज्ञा तोड़कर राजलक्ष्मीको स्वीकृत करनेके लिये) असमर्थ रामसे बादमें राज्यकी अधिष्ठात्री देवता बनानेके लिये उनकी खड़ाऊंको मांगा ॥ १७ ॥

स विसृष्टस्तथेत्युक्त्वा भ्रात्रा नैवाविशत्पुरीम् ।
नन्दिग्रामगतस्तस्य राज्यं न्यासमिवाभुनक ॥ १८ ॥

स इति । स भरतो भ्राता रामेण तथेत्युक्त्वा विसृष्टः सन् पुरीमयोध्यां नाविशदेव । किन्तु नन्दिग्रामगतः संस्तस्य रामस्य राज्यं न्यासमिव निक्षेपमिवाभुनगपालयत् , न तूपभुक्तवानित्यर्थः । अन्यथा "भुजोऽनवने" इत्यात्मनेपदप्रसङ्गात् । भुजेर्लङ् ॥ १८ ॥

'अच्छा वैसा ही हो" यह कहकर (राज्याधिष्ठात्री देवता बनानेके लिये अपनी खड़ाऊँ देकर) भाई रामसे लौटाये गये भरत अयोध्या पुरीमें प्रवेश नहीं किये, किन्तु नन्दिग्राममें रहते हुए (वे भरत) धरोहरके समान रामके राज्यका पालन किया ॥ १८ ॥

दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे राज्यतृष्णापराङ्मुखः ।
मातुः पापस्य भरतः प्रायश्चित्तमिवाकरोत् ॥ १९ ॥

दृढेति । ज्येष्ठे दृढभक्ती राज्यतृष्णापराङ्मुखो भरत इति पूर्वोक्तानुष्ठानेन मातुः पापस्य प्रायश्चित्तं तदपनोदकं कर्माकरोदिव इत्युत्प्रेक्षा । दृढभक्तिरित्यत्र दृढशब्दस्य "स्त्रियाः पुंवत्–" इत्यादिना पुंवद्भावो दुर्घटः । 'अप्रियादिषु' इति निषेधात् । भक्तिशब्दस्य प्रियादिषु पाठात् । अतो दृढं भक्तिरस्येति नपुंसकपूर्वपदो बहुव्रीहिरिति गणव्याख्याने दृढभक्तिरित्येवमादिषु पूर्वपदस्य नपुंसकस्य विवक्षितत्वात्सिद्धमिति समाधेयम् । वृत्तिकारश्च—दीर्घनिवृत्तिमात्रपरो दृढभक्तिशब्दो लिङ्गविशेषस्यानुपकारत्वात् स्त्रीत्वमविवक्षितमेव, तस्मादस्त्रीलिङ्गत्वाद्दृढभक्तिशब्दस्यायं प्रयोग इत्यभिप्रायः । न्यासकारोऽप्येवम् । भोजराजस्तु–कर्मसाधनस्यैव भक्तिशब्दस्य प्रियादिपाठाद्भवानीभक्तिरित्यादौ कर्मसाधनत्वात् पुंवद्भावप्रतिषेधः दृढभक्तिरित्यादौ भावसाधनत्वात् पुंवद्भावसिद्धिः पूर्वपदस्येत्याह ॥ १९ ॥

बड़े (भाई राम) में अटल भक्तिवाले तथा राज्यकी तृष्णासे विमुख भरत मानो माताके पापका प्रायश्चित्त करने लगे ॥ १९ ॥

रामोऽपि सह वैदेह्या वने वन्येन वर्तयन् ।
चचार सानुजः शान्तो वृद्धेक्ष्वाकुव्रतं युवा ॥ २० ॥

राम इति । सानुजः सलक्ष्मणः शान्तो रामोऽपि वैदेह्या सह वने वन्येन वन-

भवेन कन्दमूलादिना वर्तयन् वृत्तिं कुर्वञ्जीवन्वृद्धेक्ष्वाकूणां व्रतं वनवासात्मकं युवा यौवनस्थ एव चचार ॥ २० ॥

रामने भी सीताके साथ वन्य (वनमें होनेवाले कन्द, मूल, फल और वल्कल आदि) से जीवन-निर्वाह करते हुए और शान्त रहते हुए युवावस्थामें ही छोटे भाई (लक्ष्मण) के साथ वृद्ध इक्ष्वाकुवंशियोंके व्रतका पालन किया ॥ २० ॥

प्रभावस्तम्भितच्छायमाश्रितः स वनस्पतिम् ।
कदाचिदङ्के सीतायाः शिश्ये किञ्चिदिव श्रमात् ॥ २१ ॥

प्रभाव इति । स रामः कदाचित्प्रभावेण स्वमहिम्ना स्तम्भिता स्थिरीकृता छाया यस्य तं वनस्पतिमाश्रितः सन् । किञ्चिदीषच्छ्रमादिव सीताया अङ्के उत्सङ्गे शिश्ये सुष्वाप ॥ ११ ॥

उस रामने किसी समय (रामके) प्रभावसे स्थिर छायावाले वनस्पति (वृक्ष) का आश्रयकर और किसी समय मानों कुछ थकावटसे सीताकी गोदमें शयन किया ॥ २१ ॥

ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विजः ।
प्रियोपभोगचिन्हेषु पौरोभाग्यमिवाचरन् ॥ २२ ॥

ऐन्द्रिरिति । ऐन्द्रिरिन्द्रस्य पुत्रो द्विजः पक्षी काकः । 'ऐन्द्रिः काकजयन्तयोः' इति विश्वः । तस्याः सीतायाः स्तनौ । प्रियस्य रामस्योपभोगचिह्नेषु, तत्कृतनखक्षतेष्वित्यर्थः । पुरोभागिनो दोषैकदर्शिनः कर्म पौरोभाग्यम् । 'दोषैकदृक्पुरोभागी' इत्यमरः । दुःश्लिष्टदोषवातमाचरन्कुर्वन्निव नखैर्विददार विलिलेख । किलेत्यैतिह्ये ॥

पक्षी (काकरूपको धारण किया हुआ) इन्द्रका पुत्र (जयन्त) उस सीताके स्तनोंको, रामके उपभोगके (नखक्षतरूप) चिह्नोंमें दोष दिखलाते हुएके समान नखोंसे विदीर्ण कर दिया । (कौवेका रूप धारणकर चञ्चुओंसे सीताके स्तनोंपर प्रहार किया) ॥ २२ ॥

तस्मिन्नास्थदिषीकास्त्रं रामो रामावबोधितः ।
आत्मानं मुमुचे तस्मादेकनेत्रव्ययेन सः ॥ २३ ॥

तस्मिन्निति । रामया सीतयाऽवबोधितो रामस्तस्मिन्काक इषीकास्त्रं काशास्त्रम् । 'इषीका काशमुच्यते' इति हलायुधः । आस्थदस्यति स्म । "असु क्षेपणे" इति धातोर्लुङ् । "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्" इत्यङ्प्रत्ययः । "अस्यतेस्थुक" इति थुगागमः । स काक एकनेत्रस्य व्ययेन दानेन तस्मादस्त्रादात्मानं मुमुचे मुक्तवान् । मुचेः कर्तरि लिट् । 'धेनुं मुमोच' इतिवत्प्रयोगः ॥ २३ ॥

प्रिया सीतासे इस बातको मालूमकर रामने उस (काकरूपधारी इन्द्रपुत्र जयन्त) पर 'काश' नामक तृण-विशेषके बाणको चलाया और वह (जयन्त) एक आँखको गंवाकर

(रामबाणके अमोघ होनेसे अपनी एक आंखको उसके द्वारा नष्ट कराकर) उस बाणसे अपनेको छुड़ाया ॥ २३ ॥

रामस्त्वासन्नदेशत्वाद् भरतागमनं पुनः ।
आशङ्क्योत्सुकसारङ्गां चित्रकूटस्थलीं जहौ ॥ २४ ॥

राम इति । रामस्त्वासन्नदेशत्वाद्धेतोः पुनर्भरतागमनमाशङ्क्योत्सुकसारङ्गामुत्कण्ठितहरिणां चित्रकूटस्थलीं जहौ तत्याज । आसन्नश्चासौ देशश्चेति विग्रहः ॥ २४ ॥

रामने समीप होनेसे फिर भरतके आनेकी आशङ्काकर (भावीराम-विरहसे) उत्कण्ठित हिरणोंवाली चित्रकूट भूमिको छोड़ दिया ॥ २४ ॥

प्रययावातिथेयेषु वसन् ऋषिकुलेषु सः ।
दक्षिणां दिशमृक्षेषु वार्षिकेष्विव भास्करः ॥ २५ ॥

प्रययाविति । स रामः अतिथिषु साधून्यातिथेयानि । "पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्" इति ढञ्प्रत्ययः । तेष्वृषिकुलेष्वृष्याश्रमेषु । 'कुलं कुल्ये गणे देहे गेहे जनपदेऽन्वये' इति हैमः । वर्षासु भवानि वार्षिकाणि । "वर्षाभ्यष्ठक्" इति ठक्प्रत्ययः । तेष्वृक्षेषु नक्षत्रेषु राशिषु वा भास्कर इव वसन् दक्षिणां दिशं प्रययौ ॥ २५ ॥

वे राम अतिथियोंमें सद्व्यवहार करनेवाले, ऋषियोंके आश्रमोंमें रहते हुए उस प्रकार दक्षिण दिशाको गये; जिस प्रकार सूर्य वर्षाके नक्षत्रों (आर्द्रा आदि) में दक्षिण दिशाको जाते हैं अर्थात् दक्षिणायन होते हैं ॥ २५ ॥

बभौ तमनुगच्छन्ती विदेहाधिपतेः सुता ।
प्रतिषिद्धापि कैकेय्या लक्ष्मीरिव गुणोन्मुखी ॥ २६ ॥

बभाविति । तं राममनुगच्छन्ती अनुयान्ती विदेहाधिपतेः सुता सीता कैकेय्या प्रतिषिद्धा निवारिताऽपि गुणोन्मुखी गुणोत्सुका लक्ष्मी राजलक्ष्मीरिव बभौ ॥ २६ ॥

उस रामके पीछे चलती हुई जनकनन्दिनी सीता, कैकेयीके मना करनेपर (रामके) गुणोंमें उत्कंठित (अत एव रामके पीछे १ चलती हुई) राज-लक्ष्मीके समान शोभायमान होती थी ॥ २६ ॥

अनुसूयातिसृष्टेन पुण्यगन्धेन काननम् ।
सा चकाराङ्गरागेण पुष्पोच्चलितषट्पदम् ॥ २७ ॥

अनुसूयेति । सा सीताऽनुसूययाऽत्रिभार्ययाऽतिसृष्टेन दत्तेन पुण्यगन्धेनाङ्गरागेण काननं वनं पुष्पेभ्य उच्चलिता निर्गताः षट्पदाः भ्रमरा यस्मिंस्तत्तथाभूतं चकार ॥२७॥

उस सीताने अनुसूया (अत्रि ऋषिकी पत्नी) के दिये हुए पवित्र (श्रेष्ठ) गन्धवाले

अङ्गरागसे उस वनको पुष्पोंसे उड़े हुए भ्रमरोंसे युक्त कर दिया ॥ २७ ॥ (पुष्पोंको छोड़कर भ्रमर अधिक सुगन्धि सीताके अङ्गरागपर आने लगे)

सन्ध्याभ्रकपिशस्तस्य विराधो नाम राक्षसः ।
अतिष्ठन्मार्गमावृत्य रामस्येन्दोरिव ग्रहः ॥ २८ ॥

सन्ध्याभ्रेति । सन्ध्याभ्रकपिशो सन्ध्याभ्रवत्कपिशः पिङ्गो विराधो नाम राक्षसः ग्रहो राहुरिन्दोरिव । तस्य रामस्य मार्गमध्वानमावृत्यावरुध्यातिष्ठत् ॥ २८ ॥

सायङ्कालके बादलके समान पिङ्गल (लाल–पीला) वर्ण वाला विराध नामका राक्षस चन्द्रके मार्गको रोके हुए राहुके समान उस रामके मार्गको रोककर खड़ा हो गया ॥ २८ ॥

स जहार तयोर्मध्ये मैथिलीं लोकशोषणः ।
नभोनभस्ययोर्वृष्टिमवग्रह इवान्तरे ॥ २९ ॥

स इति । लोकस्य शोषणः शोषकः, जनसन्तापकारीत्यर्थः । स राक्षसस्तयो रामलक्ष्मणयोर्मध्ये मैथिलीम् । नभोनभस्ययोः श्रावणभाद्रपदयोरन्तरे मध्ये वृष्टिमवग्रहो वर्षप्रतिबन्ध इव जहार । 'वृष्टिर्वर्षं तद्विघातेऽवग्राहावग्रहौ समौ' इत्यमरः ॥२९॥

संसारको सन्तप्त करनेवाला वह विराध उन दोनोंके बीचसे सीताको उस प्रकार हरण कर लिया, जिस प्रकार श्रावण तथा भादो महीनोंके मध्यगत वर्षाको सूखा (वृष्टिका अभाव) हरण कर लेता है ॥ २९ ॥

तं विनिष्पिष्य काकुत्स्थौ पुरा दूषयति स्थलीम् ।
गन्धेनाशुचिना चेति वसुधायां निचख्नतुः ॥ ३० ॥

तमिति । ककुत्स्थस्य गोत्रापत्ये पुमांसौ काकुत्स्थौ रामलक्ष्मणौ तं विराधं विनिष्पिष्य हत्वा । अशुचिनाऽपवित्रेण गन्धेन स्थलीमाश्रमभुवं पुरा दूषयति दूषयिष्यतीति हेतोः । "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इति भविष्यदर्थे लट् । वसुधायां निचख्नतुर्भूमौ खनित्वा निक्षिप्तवन्तौ च ॥ ३० ॥

राम और लक्ष्मणने उसे मारकर 'यह दुर्गन्धसे पहले भूमिको दूषित कर देगा' ऐसा विचारकर उसे भूमिमें गाड़ दिया ॥ ३० ॥

पञ्चवट्यां ततो रामः शासनात्कुम्भजन्मनः ।
अनपोढस्थितिस्तस्थौ विन्ध्याद्रिः प्रकृताविव ॥ ३१ ॥

पञ्चवट्यामिति । ततो रामः कुम्भजन्मनोऽगस्त्यस्य शासनात् । पञ्चानां वटानां समाहारः पञ्चवटी । "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इति तत्पुरुषः । "संख्यापूर्वो द्विगुः" इति द्विगुसंज्ञायाम् । "द्विगोः" इति ङीप् । "द्विगुरेकवचनम्" इत्येकवचनम् ।

तस्यां पञ्चवट्याम् । विन्ध्याद्रिः प्रकृतौ वृद्धेः पूर्वावस्थायामिव । अनपोढस्थितिरनतिक्रान्तमर्यादस्तस्थौ ॥ ३१ ॥

इसके बाद राम अगस्त्यजीके कहनेसे मर्यादाको नहीं छोड़ते हुए पञ्चवटीमें उस प्रकार रहने लगे, जिस प्रकार विन्ध्य पर्वत अगस्त्यके कहनेसे अपनी प्रकृति (पूर्वावस्था) में रहता है ॥ ३१ ॥

रावणावरजा तत्र राघवं मदनातुरा ।
अभिपेदे निदाघार्ता व्यालीव मलयद्रुमम् ॥ ३२ ॥

रावणेति । तत्र पञ्चवट्यां मदनातुरा रावणावरजा रावणानुजा शूर्पणखा । "पूर्वपदात्संज्ञायामगः" इति णत्वम् । राघवम् , निदाघार्ता घर्मतप्ता व्याकुला व्याली भुजङ्गी मलयद्रुमं चन्दनद्रुममिव । अभिपेदे प्राप ॥ ३२ ॥

वहांपर रावणकी कामपीडित छोटी बहन शूर्पनखा), चन्दन वृक्षको ग्रीष्मसे पीडित सर्पिणीके समान रामचन्द्रको प्राप्त हुई । (रामके पास आयी) ॥ ३२ ॥

सा सीतासन्निधावेव तं वव्रे कथितान्वया ।
अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः ॥ ३३ ॥

सेति । सा शूर्पणखा सीतासन्निधावेव कथितान्वया कथितस्ववंशा सती तं रामं वव्रे वृतवती । तथा हि अत्यारूढोऽतिप्रवृद्धो नारीणां मनोभवः कामः कालज्ञोऽवसरज्ञो न भवतीत्यकालज्ञो अनवसरज्ञो हि ॥ ३३ ॥

उस (शूर्पनखा) ने सीताके सामने ही अपने कुलको बताकर रामको वरण किया । बहुत बढ़ा हुआ स्त्रियोंका काम समयको नहीं पहचानता है ॥ ३३ ॥

कलत्रवानहं बाले ! कनीयांसं भजस्व मे ।
इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥ ३४ ॥

कलत्रेति । वृषः पुमान् । 'वृषः स्याद्वासवे धर्मे सौरभेये च शुक्रले । पुंराशिभेदयोः शृङ्ग्यां मूषकश्रेष्ठयोरपि' ॥ इति विश्वः । वृषं पुरुषमात्मार्थमिच्छतीति वृषस्यन्ती कामुकी । 'वृषस्यन्ती तु कामुकी' इत्यमरः । "सुप आत्मनः क्यच्" इति क्यच्प्रत्ययः । "अश्वक्षीरवृष- लवणानामात्मप्रीतौ क्यचि" इत्यसुगागमः । ततो लटः शत्रादेशः । "उगितश्च" इति ङीप् । श्लोकार्थस्तु—वृषस्कन्धो रामो वृषस्यन्तीं तां राक्षसीम् । हे बाले ! अहं कलत्रवान् , मे कनीयांसं कनिष्ठं भजस्व इति शशासाज्ञापितवान् ॥ ३४ ॥

वृषके समान स्कन्धवाले रामने "हे बाले ! मैं स्त्रीयुक्त हूं, मेरे छोटे भाईके पास जाओ" इस प्रकार उस मैथुनेच्छावाली उस (शूर्पनखा) से कहा ॥ ३४ ॥

ज्येष्ठाभिगमनात्पूर्वं तेनाप्यनभिनन्दिता ।
साऽभूद्रामाश्रया भूयो नदीवोभयकूलभाक् ॥ ३४ ॥

ज्येष्ठेति । पूर्वं ज्येष्ठाभिगमनात्तेन लक्ष्मणेनाप्यनभिनन्दिता नाङ्गीकृता भूयो रामाश्रया रामसमीपं पुनरागच्छन्ती सा राक्षसी । उभे कूले भजतीत्युभयकूलभाक् नदीवाभूत् । सा हि यातायाताभ्यां पर्यायेण कूलद्वयगामिनी नदीसदृश्यभूदित्यर्थः ॥

पहले बड़े भाईके पास जानेके कारण उस (लक्ष्मण) के स्वीकार नहीं करनेपर फिर रामके पास आई हुई वह दो तटोंको आश्रय करनेवाली नदीके समान हुई ॥ ३५ ॥

संरम्भं मैथिलीहासः क्षणसौम्यां निनाय ताम् ।
निवातस्तिमितां वेलां चन्द्रोदय इवोदधेः ॥ ३६ ॥

'रम्भमिति । मैथिलीहासः क्षणं सौम्यां सौम्याकारां तां राक्षसीम् । निवातेन स्तिमितां निश्चलामुदधेर्वेलामम्बुविकृतिम् , अम्बुपूरमित्यर्थः । 'अब्ध्यम्बुविकृतौ वेला' इत्यमरः । चन्द्रोदय इव । संरम्भं संक्षोभं निनाय ॥ ३६ ॥

सीताकी हँसीने क्षणमात्रके लिये सुन्दरी बनी हुई (किन्तु राक्षसी होनेके कारण सर्वदा भयङ्कर रूपवाली) उस शूर्पनखाको, वायुके अभावसे शान्त समुद्रतरङ्गको चन्द्रमाके समान संक्षुब्ध कर दिया ॥ ३६ ॥

फलमस्योपहासस्य सद्यः प्राप्स्यसि पश्य माम् ।
मृग्याः परिभवो व्याघ्र्यामित्यवेहि त्वया कृतम् ॥ ३७ ॥

फलमिति । श्लोकद्वयेनान्वयः । अस्योपहासस्य फलं सद्यः सम्प्रत्येव प्राप्स्यसि । मां पश्य । त्वया कर्त्र्या कृतमुपहासरूपं करणं व्याघ्र्यां विषये मृग्याः कर्त्र्याः परिभव इत्यवेहि ॥ ३७ ॥

"इस उपहास (मज़ाक) का फल शीघ्र पावोगी, मुझे देखो; तुमसे किया गया यह उपहास 'व्याघ्रीके विषयमें मृगीद्वारा किया गया तिरस्कार है' यह समझो । (जिस प्रकार व्याघ्रीका तिरस्कार करनेवाली मृगीका कुशल नहीं होता, उसी प्रकार तेरे द्वारा किये गये मेरे उपहासका बुरा फल भी शीघ्र ही तुम्हें मिलेगा)" ॥ ३७ ॥

इत्युक्त्वा मैथिलीं भर्तुरङ्के निविशतीं भयात् ।
रूपं शूर्पणखा नाम्नः सदृशं प्रत्यपद्यत ॥ ३८ ॥

इतीति । भयाद्भर्तुरङ्के निविशतीमालिङ्गन्तीं मैथिलीमित्युक्त्वा शूर्पणखा नाम्नः सदृशम्, शूर्पाकारनखयुक्तमित्यर्थः । रूपमाकारं प्रत्यपद्यत स्वीचकार, अदर्शयदित्यर्थः ॥ ३८ ॥

भयसे पति (राम) की गोदमें छिपती हुई सीतासे ऐसा कहकर शूर्पनखाने नामके समान (भयङ्कर) रूप धारण कर लिया ॥ ३८ ॥

लक्ष्मणः प्रथमं श्रुत्वा कोकिलामञ्जुवादिनीम् ।
शिवाघोरस्वनां पश्चाद् बुबुधे विकृतेति ताम् ॥ ३९ ॥

लक्ष्मण इति । लक्ष्मणः प्रथमं कोकिलावन्मञ्जुवादिनीं पश्चाच्छिवावद्घोरस्वनां जम्बुकीभीषणरवां तां शूर्पणखां श्रुत्वा, तस्याः स्वनं श्रुत्वेत्यर्थः । सुस्वनः शङ्खः श्रूयते इतिवत्प्रयोगः । विकृता मायाविनीति बुबुधे बुद्धवान् । कर्तरि लिट् ॥ ३९ ॥

लक्ष्मणने पहले कोकिलके समान मधुर बोलनेवाली तथा बादमें स्यारिन (शृगाली) के समान भयङ्कर स्वरवाली उस (के शब्द) को सुनकर 'यह मायाविनी है' ऐसा जाना ॥३९॥

पर्णशालामथ क्षिप्रं विकृष्टासिः प्रविश्य सः ।
वैरूप्यपौनरुक्त्येन भीषणां तामयोजयत् ॥ ४० ॥

पर्णशालामिति । अथ स लक्ष्मणो विकृष्टासिः कोशोद्धृतखड्गः सन् क्षिप्रं पर्णशालां प्रविश्य । भीषयतीति भीषणाम् । नन्द्यादित्वाल्ल्युट् कर्तरि । तां राक्षसीं कर्णनासादिच्छेदादथवैरूप्यं तस्य वैरूप्यस्य पौनरुक्त्यं द्वैगुण्यं लक्षणया । तेनायोजयद्योजितवान् । स्वभावत एव विकृतां तां कर्णादिच्छेदेन पुनरतिविकृतामकरोदित्यर्थः ॥ ४० ॥

इसके बाद वह लक्ष्मण (म्यानसे) तलवारको खैंचे हुए, झट पर्णकुटीमें घुसकर भयङ्कर रूपवाली उस (शूर्पनखा) को कुरूपकी पुनरुक्तिसे युक्तकर दिया अर्थात् राक्षसी होनेके कारण पहलेसे ही कुरुप उस शूर्पनखाको उसके नाक–कान काटकर अधिक कुरूप कर दिया ॥ ४० ॥

सा वक्रनखधारिण्या वेणुकर्कशपर्वया ।
अङ्कुशाकारयाऽङ्गुल्या तावतर्जयदम्बरे ॥ ४१ ॥

सेति । सा वक्रनखं धारयतीति वक्रनखधारिणी । तया वेणुवत्कर्कशपर्वया । अत एवाङ्कुशस्याकार इवाकारो यस्याः सा तया अङ्गुल्या । तौ राघवावम्बरे व्योम्नि स्थितां । 'अम्बरं व्योम्नि वाससि' इत्यमरः । अतर्जयद्भर्त्सयत् । "तर्ज भर्त्सने" इति धातोश्चौरादिकादनुदात्तेत्वादात्मनेपदेन भाव्यम् । तथापि चक्षिङो ङित्करणाज्ज्ञापकादनुदात्तेत्त्वनिमित्तस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वात्परस्मैपदमूह्यमित्युक्तमाख्यातचन्द्रिकायाम् "तर्जयते भर्त्सयते तर्जयतीत्यपि च दृश्यते कविषु" इति ॥ ४१ ॥

उस (शूर्पनखा) ने टेढ़े नखोंवाली, बांसके समान पोरोंवाली तथा अङ्कुशके समान आकारवाली अङ्गुलिसे, आकाशमें (पहुंचकर) उन दोनों (राम–लक्ष्मण) को डराया ॥ ४१ ॥

प्राप्य चाशु जनस्थानं खरादिभ्यस्तथाविधम् ।
रामोपक्रममाचख्यौ रक्षःपरिभवं नवम् ॥ ४२ ॥

प्राप्येति । साऽशु जनस्थानं प्राप्य खरादिभ्यो राक्षसेभ्यस्तथाविधं स्वाङ्गच्छेदात्मकं नासिकाच्छेदरूपम् । उपक्रम्यत इत्युपक्रमः । कर्मणि घञ्प्रत्ययः । रामस्य कर्तुरुपक्रमः । रामोपक्रमम् , रामेणादावुपक्रान्तमित्यर्थः । "उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्" इति क्लीबत्वम् । नवं रक्षसां कर्मभूतानां परिभवमाचख्यौ च ॥४२॥

और शीघ्र जनस्थान (दण्डकारण्यका एक भाग-विशेष) को प्राप्तकर खर आदिसे रामके उस व्यवहाररूप राक्षसोंके सर्वप्रथम तिरस्कारको बतलाया ॥ ४२ ॥

मुखावयवलूनां तां नैर्ऋता यत्पुरो दधुः ।
रामाभियायिनां तेषां तदेवाभूदमङ्गलम् ॥ ४३ ॥

मुखेति । नैर्ऋता राक्षसाः । 'नैर्ऋतो यातुरक्षसी' इत्यमरः । मुखावयवेषु कर्णादिषु लूनां छिन्नां तां पुरो दधुरग्रे चक्रुरिति यत्तदेव रामाभियायिनां राममभिद्रवतां तेषाममङ्गलमभूत् ॥ ४३ ॥

राक्षसोंने जो नकटी और कनकटी उस (शूर्पनखा) को आगे किया, वही रामके प्रति चढ़ाई करनेवाले राक्षसोंका अशकुन हुआ । (यात्रामें सामने अङ्ग-भङ्ग व्यक्तिको देखना ज्यौतिष-शास्त्रमें अमङ्गल-कारक माना गया है) ॥ ४३ ॥

उदायुधानापततस्तान्दृप्तान्प्रेक्ष्य राघवः ।
निदधे विजयाशंसां चापे सीतां च लक्ष्मणे ॥ ४४ ॥

उदायुधेति । उदायुधानुद्यतायुधानापतत आगच्छतो दृप्तान् गर्वितांस्तान्खरादीन्प्रेक्ष्य राघवश्चापे धनुषि विजयस्याशंसामाशां लक्ष्मणे सीतां च निदधे । सीतारक्षणे लक्ष्मणं नियुज्य स्वयं युद्धाय सन्नद्ध इति भावः ॥ ४४ ॥

रामने शस्त्र उठाये हुए और आते हुए अभिमानी उन राक्षसोंको देखकर धनुषमें विजयकी आशाको और लक्ष्मणमें सीताको रक्खा अर्थात् सीताकी रक्षाके लिये लक्ष्मणको नियुक्तकर स्वयं युद्धके लिये तैयार हो गये ॥ ४४ ॥

एको दाशरथिः कामं यातुधानाः सहस्रशः ।
ते तु यावन्त एवाजौ तावांश्च ददृशे स तैः ॥ ४५ ॥

एक इति । दाशरथी राम एकोऽद्वितीयः । यातुधानः कामं सहस्रशः सन्तीति शेषः । तैर्यातुधानैस्तु स राम आजौ युद्धे ते यातुधाना यावन्तो यावत्संख्याका एव तावांस्तावत्संख्याकश्च ददृशे ॥ ४५ ॥

यद्यपि राम अकेले थे और राक्षस हजारों थे, किन्तु उन राक्षसोंने जितने राक्षस थे, उतने रामको संग्राममें देखा ॥ ४५ ॥

असज्जनेन काकुत्स्थः प्रयुक्तमथ दूषणम् ।
न चक्षमे शुभाचारः स दूषणमिवात्मनः ॥ ४६ ॥

असज्जनेनेति । अथ शुभाचारो रणे साधुचारी सद्वृत्तश्च स काकुत्स्थोऽसज्जनेन दुर्जनेन रक्षोजनेन च प्रयुक्तं प्रेषितमुच्चारितं च दूषणं दूषयतीति दूषणस्तं दूषणाख्यं राक्षसमात्मनो दूषणं दोषमिव न चक्षमे न सेहे । प्रतिकर्तुं प्रवृत्त इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

सदाचरणवाले रामने दुष्ट राक्षसलोगोंसे भेजे गये उस ('दूषण' नामक राक्षस) को उस प्रकार क्षमा नहीं किया, जिस प्रकार सदाचारी व्यक्ति दुर्जनोंके उच्चारित अपने दोषको क्षमा नहीं करता है ॥ ४६ ॥

तं शरैः प्रतिजग्राह खरत्रिशिरसौ च सः ।
क्रमशस्ते पुनस्तस्य चापात्सममिवोद्ययुः ॥ ४७ ॥

तमिति । स रामस्तं दूषणं खरत्रिशिरसौ च शरैः प्रतिजग्राह, प्रतिजहारेत्यर्थः । क्रमशो यथाक्रमम् । प्रयुक्ता अपीति शेषः । तस्य ते शराः पुनश्चापात्समं युगपदिवोद्ययुः । अतिलघुहस्त इति भावः ॥ ४७ ॥

उस (राम) ने उस ('दूषण' नामक राक्षस) को तथा खर और त्रिशिराको प्रतिग्रहण किया (उनके विरुद्ध युद्ध किया)। उनके क्रमसे (एकके बाद दूसरा) छोड़े गये भी बाण मानो धनुषसे एक साथ निकले। (रामने इतना शीघ्र बाण छोड़े कि क्रमशः छोड़े गये भी बाण एक साथ ही छोड़े गये-से मालूम पड़ते थे) ॥ ४७ ॥

तैस्त्रयाणां शितैर्बाणैर्यथापूर्वविशुद्धिभिः ।
आयुर्देहातिगैः पीतं रुधिरं तु पतत्रिभिः ॥ ४८ ॥

तैरिति । देहमतीत्य भित्त्वा गच्छन्तीति देहातिगाः । तैर्यथास्थिता पूर्वविशुद्धिर्येषां तैः । अतिवेगत्वेन देहभेदात्प्रागिव रुधिरलेपरहितैरित्यर्थः । शितैस्तीक्ष्णैस्तैर्बाणैस्त्रयाणां खरादीनामायुर्जीवितं पीतम् । रुधिरं तु पतत्रिभिः पक्षिभिः पीतम् ॥ ४८ ॥

देहको भेदन करनेवाले, पहले (देह भेदनके पूर्व) के समान शुद्धियुक्त (मारनेपर भी रक्तरहित होनेसे स्वच्छ) और तीक्ष्ण उन बाणोंने उन तीनों ('दूषण, खर और त्रिशिरा) की आयुको पी लिया (उन्हें मार डाला) और उनके रक्तको पक्षियोंने पीया ॥४८॥

तस्मिन्रामशरोत्कृत्ते बले महति रक्षसाम् ।
उत्थितं ददृशेऽन्यच्च कबन्धेभ्यो न किञ्चन ॥ ४९ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन्रामशरैरुत्कृत्ते छिन्ने महति रक्षसां बले उत्थितमुत्थानक्रियाविशिष्टं प्राणिनां कबन्धेभ्यः शिरोहीनशरीरेभ्यः । 'कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरम्' इत्यमरः । अन्यन्नान्यत्किञ्चन न ददृशे । कबन्धेभ्य इत्यत्र "अन्याराद्" इति पञ्चमी । निःशेषं हतमित्यर्थः ॥ ४९ ॥

राक्षसोंकी उस बड़ी सेनाके राम-बाणोंसे काटे (मारे) जानेपर ऊपर उठे हुए धड़ (ढेर लगे हुए शिरसे हीन देह) के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखाई पड़ा अर्थात् सब राक्षसोंको रामने मार दिया ॥ ४९ ॥

सा बाणवर्षिणं रामं योधयित्वा सुरद्विषाम् ।
अप्रबोधाय सुष्वाप गृध्रच्छाये वरूथिनी ॥ ५० ॥

सेति । सा सुरद्विषां रक्षसां वरूथिनी सेना बाणवर्षिणं रामं योधयित्वा युद्धं कारयित्वा । गृध्राणां छाया गृध्रच्छायम् । "छाया बाहुल्ये" इति क्लीबत्वम् । तस्मिन्नप्रबोधायापुनर्बोधाय सुष्वाप, ममारेत्यर्थः । अत्र सुरतश्रान्तकान्तासमाधिर्ध्वन्यते ॥

राक्षसों की वह सेना बाण बरसानेवाले रामको लड़ाकर (फिर) नहीं जागनेके लिये गीधों (के पंखों) की छायामें सो गयी अर्थात् मर गयी ॥ ५० ॥

राघवास्त्रविदीर्णानां रावणं प्रति रक्षसाम् ।
तेषां शूर्पणखैवैका दुष्प्रवृत्तिहराऽभवत् ॥ ५१ ॥

राघवेति । एका शूर्पवन्नखानि यस्याः सा शूर्पणखा । "पूर्वपदात्संज्ञायामगः" इति णत्वम् । "नखमुखात्संज्ञायाम्" इति ङीप्प्रतिषेधः । सैव रावणं प्रति राघवास्त्रैर्विदीर्णानां हतानां तेषां रक्षसां खरादीनां दुष्प्रवृत्तिं वार्तां हरति प्रापयतीति दुष्प्रवृत्तिहराऽभवत् । 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः । "हरतेरनुद्यमनेऽच्" इत्यच्प्रत्ययः ॥५१॥

रामके अस्त्रोंसे मारे गये उन राक्षसोंके बुरे समाचारको रावणके पास पहुंचाने वाली एक शूर्पणखा ही बची ॥ ५१ ॥

निग्रहात्स्वसुराप्तानां वधाच्च धनदानुजः ।
रामेण निहितं मेने पदं दशसु मूर्धसु ॥ ५२ ॥

निग्रहादिति । स्वसुः शूर्पणखाया निग्रहादङ्गच्छेदादाप्तानां बन्धूनां खरादीनां वधाच्च कारणाद्धनदानुजो रावणो रामेण दशसु मूर्धसु पदं पादं निहितं मेने ॥ ५२ ॥

बहन (शूर्पनखा) को अङ्गविकल करनेसे तथा प्रिय बान्धवोंके मारनेसे रावणने (अपने) दशों मस्तकोंपर राम का पैर रखना समझा ॥ ५२ ॥

रक्षसा मृगरूपेण वञ्चयित्वा स राघवौ ।
जहार सीतां पक्षीन्द्रप्रयासक्षणविघ्नितः ॥ ५३ ॥

रक्षसेति । स रावणो मृगरूपेण रक्षसा मारीचेन राघवौ वञ्चयित्वा प्रतार्य पक्षीन्द्रस्य जटायुषः प्रयासेन युद्धरूपेण क्षणं विघ्नितः सञ्जातविघ्नः सन् सीतां जहार ॥५३॥

उस (रावण) ने (सुवर्णके) मृगरूप धारण करने वाले राक्षस (मारीच) से राम-लक्ष्मणको वञ्चितकर पक्षिराज ('जटायु' नामक गृद्ध) से क्षणमात्र विघ्नयुक्त होकर सीताका हरण कर लिया ॥ ५३ ॥

तौ सीतान्वेषिणौ गृध्रं लूनपक्षमपश्यताम् ।
प्राणैर्दशरथप्रीतेरनृणं कण्ठवर्तिभिः ॥ ५४ ॥

ताविति । सीतान्वेषिणौ तौ राघवौ लूनपक्षं रावणेन छिन्नपक्षं कण्ठवर्तिभिः प्राणैर्दशरथप्रीतेर्दशरथसख्यस्यानृणमृणैर्विमुक्तं गृध्रं जटायुषमपश्यतां दृष्टवन्तौ । दृशेर्लङि रूपम् ॥ ५४ ॥

सीताको ढूंढ़ते हुए उन दोनों (राम-लक्ष्मण) ने कटे हुए पङ्खोंवाले और कण्ठमें आये हुए प्राणोंसे दशरथ की मित्रतासे ऋणमुक्त गृद्ध जटायुको देखा । (दशरथकी पुत्रवधू सीताको छुड़ानेके लिये शत्रुसे युद्धकर मरणावस्थाको प्राप्त होनेसे गृद्धराज 'जटायु' को दशरथ की मित्रतासे ऋणमुक्त समझना चाहिये) ॥ ५४ ॥

स रावणहृतां ताभ्यां वचसाऽऽचष्ट मैथिलीम् ।
आत्मनः सुमहत्कर्म व्रणैरावेद्य संस्थितः ॥ ५५ ॥

स इति । स जटायू रावणहृतां मैथिलीं ताभ्यां रामलक्ष्मणाभ्याम् । "क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम्" इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । वचसा वाग्वृत्याऽऽचष्ट । आत्मनः सुमहत्कर्म युद्धरूपं व्रणैरावेद्य संस्थितो मृतः ॥ ५५ ॥

वह (जटायु) उन दोनों (राम-लक्ष्मण) से सीताको रावणसे हरण की हुई वचनसे कहकर अपने बड़े भारी कर्म (सीताकी रक्षाके लिये रावणसे युद्धरूप कर्म) को अपने घावोंसे ही बतलाकर मर गया ॥ ५५ ॥

तयोस्तस्मिन्नवीभूतपितृव्यापत्तिशोकयोः ।
पितरीवाग्निसंस्कारात्परा ववृतिरे क्रियाः ॥ ५६ ॥

तयोरिति । व्यापत्तिर्मरणम् । नवीभूतः पितृव्यापत्तिशोको पितुः दशरथस्य व्यापत्तेर्मरणस्य शोकः ययोस्तौ तयो राघवयोस्तस्मिन्गृध्रे पितरीवाग्निसंस्कारादग्निसंस्कारमारभ्य परा उत्तराः क्रिया ववृतिरेऽवर्तन्त । तस्य पितृवदौर्ध्वदेहिकं चक्रतुरित्यर्थः ॥ ५६ ॥

नया हो गया है पिता (दशरथ) के मरणका शोक जिनका ऐसे उन दोनों (राम— लक्ष्मण के उस (जटायु) में अग्निसंस्कार (दाह) से लेकर सब कार्य पिताके समान हुआ । (उन दोनोंने जटायुके मरनेपर पिताके मरनेके समान शोक किया और दाह आदि सब पारलौकिक संस्कार भी पिताके समान ही किया) ॥ ५६ ॥

वधनिर्धूतशापस्य कबन्धस्योपदेशतः ।
मुमूर्च्छ सख्यं रामस्य समानव्यसने हरौ ॥ ५७ ॥

वधेति । वधेन रामकृतेन निर्धूतशापस्य देवभुवं गतस्य कबन्धस्य रक्षोविशेष-स्योपदेशतो रामस्य समानव्यसने समानापदि, कलत्रवियोगदुःखिते सख्यार्थिनी-त्यर्थः, हरौ कपौ सुग्रीवे । 'शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्यमरः । सख्यं मुमूर्छ ववृधे ॥ ५७ ॥

रामके मारनेसे शापसे मुक्त कबन्धके बतलानेसे रामकी मित्रता (भाई वालिके द्वारा स्त्री के हरण किये जाने के कारण रामके) समान दुःखवाले वानर (सुग्रीव) में बढ़ने लगी ॥

स हत्वा वालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते ।
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत् ॥ ५८ ॥

स इति । वीरः स रामो वालिनं सुग्रीवाग्रजं हत्वा चिरकाङ्क्षिते तत्पदे वालि-स्थाने, धातोः स्थान आदेशमिव, आदेशभूतं धात्वन्तरमिवेत्यर्थः । सुग्रीवं संन्यवेश-स्स्थापितवान् । यथा "अस्तेर्भूः" इत्यस्तिधातोः स्थान आदेशो भूधातुरस्तिकार्यम-शेषं समभिधत्ते तद्वदिति भावः । आदेशो नाम शब्दान्तरस्य स्थाने विधीयमानं शब्दान्तरमभिधीयते ॥ ५८ ॥

उस (राम) ने वालीको मारकर धातुके स्थानपर आदेशके समान ('अस्, पा' आदि धातुओंके स्थानपर क्रमशः "अस्तेर्भू" तथा "पाघ्राध्मा······" इत्यादि सूत्रोंसे विहित 'भू' और 'पिब' आदि आदेशके समान) सुग्रीवको चिरकालसे अभिलषित उस (वाली) के स्थान पर रक्खा ॥ ५८ ॥

इतस्ततश्च वैदेहीमन्वेष्टुं भर्तृचोदिताः ।
कपयश्चेरुरार्तस्य रामस्येव मनोरथाः ॥ ५९ ॥

इत इति । वैदेहीमन्वेष्टुं मार्गितुं भर्त्रा सुग्रीवेण चोदिताः प्रयुक्ताः कपयो हनु-मत्प्रमुखाः आर्तस्य विरहातुरस्य रामस्य मनोरथाः कामा इव इतस्ततश्चेरुर्ना-नादेशेषु बभ्रमुः ॥ ५९ ॥

स्वामी (सुग्रीव) के द्वारा सीताको खोजनेके लिये वानर (हनुमान, अङ्गद आदि) रामके मनोरथके समान इधर-उधर घूमने लगे ॥ ५९ ॥

प्रवृत्तावुपलब्धायां तस्याः सम्पातिदर्शनात् ।
मारुतिः सागरं तीर्णः संसारमिव निर्ममः ॥ ६० ॥

प्रवृत्ताविति । सम्पातिर्नाम जटायुषो ज्यायान्भ्राता । तस्य दर्शनात् । तन्मुखा-दिति भावः । तस्याः सीतायाः प्रवृत्तौ वार्तायाम् । 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः । उपलब्धायां ज्ञातायां सत्याम् । मारुतस्यापत्यं पुमान्मारुतिः हनूमान्सागरम् । ममे-त्येतदव्ययं ममतावाचि । तद्रहितो निर्ममो निःस्पृहः संसारमविद्याबन्धनमिव । तीर्ण-स्ततार । तरतेः कर्तरि क्तः ॥ ६० ॥

सम्पाति ('जटायु' का भाई) के देखनेसे उस (सीता) की बात मालूम होनेपर, संसार को अहङ्कार रहित व्यक्तिके समान, समुद्रको पार कर गये ॥ ६० ॥

दृष्टा विचिन्वता तेन लङ्कायां राक्षसीवृता ।
जानकी विषवल्लीभिः परीतेव महौषधिः ॥ ६१ ॥

दृष्टेति । लङ्कायां रावणराजधान्यां विचिन्विता मृगयमाणेन तेन मारुतिना राक्ष-सीभिर्वृता जानकी विषवल्लीभिः परीता परिवृता महौषधिः सञ्जीविनीलतेव दृष्टा ॥

(सीताको) ढूंढ़ते हुए हनुमान्ने, विषलताओंसे घिरी हुई महौषधिके समान राक्षसियोंसे घिरी हुई सीताको लङ्कामें देखा ॥ ६१ ॥

तस्यै भर्तुरभिज्ञानमङ्गुलीयं ददौ कपिः ।
प्रत्युद्गतमिवानुष्णैस्तदानन्दाश्रुबिन्दुभिः ॥ ६२ ॥

तस्या इति । कपिर्हनूमान्भर्तू रामस्य सम्बन्ध्यभिज्ञानं अभिज्ञायत इत्यभिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानसाधकमङ्गुलीयमूर्मिकाम् । 'अङ्गुलीयकमूर्मिका' इत्यमरः । "जिह्वामूला-ङ्गुलेश्छः" इति छप्रत्ययः, तस्यै जानक्यै ददौ । किंविधमङ्गुलीयम् । अनुष्णैः शीतलै-स्तस्या आनन्दाश्रुबिन्दुभिः प्रत्युद्गतमिव स्थितम् । भर्त्रभिज्ञानदर्शनादानन्दबाष्पो जात इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

कपि (वानर अर्थात् हनुमान्) ने उस (सीता) के लिये पति (राम) के दिये हुए चिह्न रूप अँगूठी को, ठण्डे तथा उस सीताके आनन्द जन्य आंसूकी बूँदोंसे निर्गतके समान, दिया ॥ ६२ ॥

निर्वाप्य प्रियसन्देशैः सीतामक्षवधोद्धतः ।
स ददाह पुरीं लङ्कां क्षणासोढारिनिग्रहः ॥ ६३ ॥

निर्वाप्येति । स कपिः । प्रियस्य रामस्य सन्देशैर्वाचिकैः सीतां निर्वाप्य सुख-यित्वा । अक्षस्य रावणकुमारस्य वधेनोद्धतो दृप्तः सन् । क्षणं सोढोऽरेरिन्द्रजितः कर्तुः

निग्रहो बन्धो ब्रह्मास्त्रबन्धरूपो येन स तथोक्तः सन् । लङ्कां पुरीं ददाह भस्मीचकार ॥

सीताको प्रिय (राम) के संदेशोंसे सन्तुष्टकर अक्ष (रावणका पुत्र) के मारनेसे उद्धत तथा क्षणमात्र शत्रु (मेघनाद) के बन्धनको सहन किये हुए उस (हनुमान) ने लङ्का नगरीको जला दिया ॥ ६३ ॥

प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायादर्शयत्कृती ।
हृदयं स्वयमायातं वैदेह्या इव मूर्तिमत् ॥ ६४ ॥

प्रतीति । कृती कृतकृत्यः कपिः स्वयमायातं मूर्तिमद्वैदेह्या हृदयमिव स्थितं तस्या एव प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायादर्शयत् ॥ ६४ ॥

कृतकृत्य उस (हनुमान्) ने, स्वयं आये हुए मूर्तिमान् सीताके हृदयके समान, (सीताके दिये हुए) प्रत्यभिज्ञान चूडामणि को रामके लिये दिखलाया (दिया) ॥ ६४ ॥

स प्राप हृदयन्यस्तमणिस्पर्शनिमीलितः ।
अपयोधरसंसर्गां प्रियालिङ्गननिर्वृतिम् ॥ ६५ ॥

स इति । हृदये वक्षसि न्यस्तस्य धृतस्य मणेरभिज्ञानरत्नस्य स्पर्शेन निमीलितो मोहितः स रामोऽविद्यमानः पयोधरसंसर्गः स्तनस्पर्शो यस्यास्तां तथाभूतां प्रियाया आलिङ्गनेन या निर्वृतिरानन्दस्तां प्राप ॥ ६५ ॥

हृदयपर रखे हुए चूडामणिके स्पर्शसे आँख मूंदे हुए उस (राम) ने स्तनके स्पर्शसे रहित प्रिया (सीता) के आलिङ्गनके सुखको पाया ॥ ६५ ॥

श्रुत्वा रामः प्रियोदन्तं मेने तत्सङ्गमोत्सुकः ।
महार्णवपरिक्षेपं लङ्कायाः परिखालघुम् ॥ ६६ ॥

श्रुत्वेति । प्रियाया उदन्तं वार्ताम् । 'उदन्तः साधुवार्तयोः' इति विश्वः । श्रुत्वा तस्याः सीतायाः सङ्गम उत्सुको रामो लङ्कायाः सम्बन्धी यो महार्णव एव परिक्षेपः परिवेषस्तं परिखालघुं दुर्गवेष्टनवत्सुतरं मेने ॥ ६६ ॥

प्रिया (सीता) के वृत्तान्तको सुनकर उससे मिलनेके लिये उत्सुक रामने लङ्का-सम्बन्धी समुद्ररूपी घेरेको खाईके समान छोटा (आसानीसे पार होने योग्य) समझा ॥ ६६ ॥

स प्रतस्थेऽरिनाशाय हरिसैन्यैरनुद्रुतः ।
न केवलं भुवः पृष्ठे व्योम्नि सम्बाधवर्तिभिः ॥ ६७ ॥

स इति । केवलमेकं भुवः पृष्ठे भूतले न किन्तु व्योम्नि च सम्बाधवर्तिभिः सङ्कटगामिभिर्हरिसैन्यैः कपिबलैरनुद्रुतोऽन्वितः सन्स रामोऽरिनाशाय प्रतस्थे चचाल ॥ ६७

केवल पृथ्वीपर ही नहीं अपि तु आकाशमें भी (अधिक भीड़के कारण) कठिनतासे चलने वाली वानरोंकी सेनाओं से अनुगत उस रामने शत्रु (रावण) के नाशके लिये प्रस्थान किया ॥ ६७ ॥

निविष्टमुदधेः कूले तं प्रपेदे विभीषणः ।
स्नेहाद्राक्षसलक्ष्म्येव बुद्धिमाविश्य चोदितः ॥ ६८ ॥

निविष्टमिति । उदधेः कूले निविष्टं तं रामम् । विशेषेण भीषयते शत्रूनिति विभीषणो रावणानुजः । राक्षसलक्ष्म्या स्नेहाद् बुद्धिं कर्तव्यताज्ञानमाविश्य चोदितः प्रणोदित इव । प्रपेदे प्राप्तः ॥ ६८ ॥

राक्षस-लक्ष्मीके द्वारा स्नेहसे बुद्धिमें प्रवेश कर प्रेरित हुए के समान विभिषणने समुद्रके तटपर स्थित उस (राम) को प्राप्त किया (रामके पास पहुंचे) ॥ ६८ ॥

तस्मै निशाचरैश्वर्यं प्रतिशुश्राव राघवः ।
काले खलु समारब्धा फलं बध्नन्ति नीतयः ॥ ६९ ॥

तस्मादिति । राघवस्तस्मै विभीषणाय । "प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता" इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । निशाचरैश्वर्यं राक्षसाधिपत्यं प्रतिशुश्राव प्रतिज्ञातवान् । तथा हि । कालेऽवसरे समारब्धाः प्रक्रान्ता नीतयः फलं बध्नन्ति गृह्णन्ति खलु । जनयन्तीत्यर्थः ॥ ६९ ॥

रामने उस (विभिषण) के लिये राक्षसोंका ऐश्वर्य (राज्य) देनेकी प्रतिज्ञा की, क्योंकि समयपर आरम्भकी गई नीतियां सफल होती हैं ॥ ६९ ॥

स सेतुं बन्धयामास प्लवगैर्लवणाम्भसि ।
रसातलादिवोन्मग्नं शेषं स्वप्नाय शार्ङ्गिणः ॥ ७० ॥

स इति । स रामो लवणं क्षारमम्भो यस्यासौ लवणाम्भस्तस्मिंल्लवणाब्धौ प्लवगैः प्रयोज्यैः । शार्ङ्गिणो विष्णोः स्वप्नाय शयनाय रसातलात्पातालादुन्मग्नमुत्थितं शेषमिव स्थितम् । सेतुं बन्धयामास ॥ ७० ॥

उस (राम) ने वानरोंके द्वारा क्षारसमुद्रमें, विष्णुको सोनेके लिये पातालसे ऊपर आकर स्थित शेषनागके समान, पुलको बनवाया ॥ ७० ॥

तेनोत्तीर्य पथा लङ्कां रोधयामास पिङ्गलैः ।
द्वितीयं हेमप्राकारं कुर्वद्भिरिव वानरैः ॥ ७१ ॥

तेनेति । रामस्तेन पथा सेतुमार्गेणोत्तीर्य । सागरमिति शेषः । पिङ्गलैः सुवर्णवर्णैरत एव द्वितीयं हेमप्राकारं कुर्वद्भिरिव स्थितैर्वानरैर्लङ्कां रोधयामास ॥ ७१ ॥

(उस रामने) उस मार्ग (पुल) से समुद्रके पार उतरकर पिङ्गल (वर्णवाले होने से) दूसरी चहारदिवारीको बनाते हुए के समान वानरोंसे लङ्काको घेर लिया ॥ ७१ ॥

रणः प्रववृते तत्र भीमः प्लवगरक्षसाम् ।
दिग्विजृम्भितकाकुत्स्थपौलस्त्यजयघोषणः ॥ ७२ ॥

रण इति । तत्र लङ्कायां प्लवगानां रक्षसां च भीमो भयङ्करो दिग्विजृम्भितं काकुत्स्थपौलस्त्ययोरामरावणयोर्जयघोषणं जयशब्दो यस्मिन्स तथोक्तो रणः प्रववृते प्रवृत्तः। 'अस्त्रियां समरानीकरणाः कलहविग्रहौ' इत्यमरः॥ ७२ ॥

वहां पर (लङ्कामें) दिशाओंमें फैलती हुई राम तथा रावणकी जयघोषणावाला, वानर और राक्षसोंका भयङ्कर युद्ध होने लगा ॥ ७२ ॥

पादपाविद्धपरिघः शिलानिष्पिष्टमुद्गरः ।
अतिशस्त्रनखन्यासः शैलरुग्णमतङ्गजः ॥ ७३ ॥

पादपेति । किंविधो रणः । पादपैर्वृक्षैराविद्धा भग्नाः परिघा लोहबद्धकाष्ठानि यस्मिन्स तथोक्तः । 'परिघः परिघातनः' इत्यमरः । शिलाभिर्निष्पिष्टाश्चूर्णिता मुद्गरा अयोघना यस्मिन्स तथोक्तः । 'द्रुघणो मुद्गरघनौ' इत्यमरः । अतिशस्त्राः शस्त्राण्यतिक्रान्ता नखन्यासा यस्मिन्स तथोक्तः । शैलै रुग्णा भग्ना मतङ्गजा यस्मिन्स तथोक्तः ॥ ७३ ॥

(जिसमें–) पेड़ोंसे परिघ भग्न किये गये हैं, पत्थरों (चट्टानों) से मुद्गर चूर, चूर कर दिये गये हैं, नखोंकी प्रहार, शस्त्र प्रहारको उल्लङ्घन कर गये हैं । राक्षसोंके खड्ग आदिकी अपेक्षा वानरोंके नखप्रहार ही बढ़ गये हैं । और पर्वतोंसे मतवाले हाथी व्याकुल किये गये हैं, (ऐसा युद्ध हुआ) ॥ ७३ ॥

अथ रामशिरश्छेददर्शनोद्भ्रान्तचेतनाम् ।
सीतां मायेति शंसन्ती त्रिजटा समजीवयत् ॥ ७४ ॥

अथेति । अथानन्तरम् । छिद्यते इति छेदः खण्डः । शिर एव छेद इति विग्रहः । रामशिरश्छेदस्य विद्युज्जिह्वाख्यराक्षसमायानिर्मितस्य दर्शनेनोद्भ्रान्तचेतनां गतसंज्ञां सीतां त्रिजटा नाम काचित्सीतापक्षपातिनी राक्षसी मायाकल्पितं नास्येतत्सत्यमिति शंसन्ती ब्रुवाणा । "शप्श्यनोर्नित्यम्" इति नित्यं नुमागमः । समजीवयत् ॥ ७४ ॥

('विद्युज्जिह्व' नामक राक्षससे मायाकृत) रामके मस्तकका कटना देखनेसे व्याकुल चित्तवाली सीताको त्रिजटा ने "यह माया है" ऐसा कहकर जिलाया (धैर्य दिया) ॥ ७४ ॥

कामं जीवति मे नाथ इति सा विजहौ शुचम् ।
प्राङ्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीवितास्मीति लज्जिता ॥ ७५ ॥

काममिति । सा सीता मे नाथो जीवतीति हेतोः शुचं शोकं कामं विजहौ तत्याज । किन्तु प्राक्पूर्वमस्य नाथस्यान्तं नाशं सत्यं यथार्थं मत्वा जीवितवत्यस्मीति हेतोर्लज्जिता लज्जावती । कर्तरि क्तः । दुःखादपि दुःसहो लज्जाभर इति भावः ॥ ७५ ॥

उस (सीता) ने—'मेरे स्वामी (रामजी) जीवित हैं" यह जानकर शोकको बिलकुल छोड़ दिया, किन्तु 'पहले इन (प्राणनाथ राम) की मृत्यु को सत्य मानकर भी मैं जीती रह गई अर्थात् उसी क्षण नहीं मरी" इस कारण लज्जित हुई ॥ ७५ ॥

गरुडापातविश्लिष्टमेघनादास्त्रबन्धनः ।
दाशरथ्योः क्षणक्लेशः स्वप्नवृत्त इवाभवत् ॥ ७६ ॥

गरुडेति । गरुडस्तार्क्ष्यः तस्यापातेनागमेन विश्लिष्टं मेघनादस्येन्द्रजितोऽस्त्रेण नागपाशेन बन्धनं यस्मिन्स तथोक्तः । क्षणक्लेशो दाशरथ्यो रामलक्ष्मणयोः । स्वप्नवृत्तः स्वप्नावस्थायां भूत इवाभवत् ॥ ७६ ॥

गरुड़के आनेसे नष्ट हो गया है मेघनाद का नागास्त्र बन्धन जिसका ऐसा राम-लक्ष्मण का क्षणिक क्लेश स्वप्नमें हुएके समान मालूम हुआ ॥ ७६ ॥

ततो बिभेद पौलस्त्यः शक्त्या वक्षसि लक्ष्मणम् ।
रामस्त्वनाहतोऽप्यासीद्विदीर्णहृदयः शुचा ॥ ७७ ॥

तत इति । ततः पौलस्त्यो रावणः शक्त्या कासूनामकेनायुधेन । 'कासूसामर्थ्ययोः शक्तिः' इत्यमरः । लक्ष्मणं वक्षसि बिभेद विदारयामास । रामस्त्वनाहतोऽप्यहतोऽपि शुचा शोकेन विदीर्णहृदय आसीत् ॥ ७७ ॥

इसके बाद रावणने शक्ति ('कासु' नामके शस्त्र) से लक्ष्मणको हृदयमें मारा, राम आघात (चोट) रहित होकर भी शोकसे विदीर्ण हृदयवाले हो गये ॥ ७७ ॥

स मारुतिसमानीतमहौषधिहतव्यथः ।
लङ्कास्त्रीणां पुनश्चक्रे विलापाचार्यकं शरैः ॥ ७८ ॥

स इति । स लक्ष्मणो मारुतिना मरुत्सुतेन हनुमता समानीतया महौषध्या सञ्जीविन्या हतव्यथः सन्पुनः शरैर्लङ्कास्त्रीणां विलापे परिदेवने । 'विलापः परिदेवनम्' इत्यमरः । आचार्यकमाचार्यकर्म । "योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्" इति वुञ् । चक्रे । पुनरपि राक्षसाञ्जघानेति व्यज्यते ॥ ७८ ॥

वह (लक्ष्मण) हनुमानसे लाई गई औषध (सञ्जीवनी बूटी) से व्यथा रहित होकर बाणोंसे लङ्काकी स्त्रियोंके रोनेमें आचार्य कर्म किये (राक्षसोंको बाणोंसे मारा, जिससे वहां की स्त्रियां विलापकर रोने लगीं) ॥ ७८ ॥

स नादं मेघनादस्य धनुश्चेन्द्रायुधप्रभम् ।
मेघस्येव शरत्कालो न किञ्चित्पर्यशेषयत् ॥ ७९ ॥

स इति । स लक्ष्मणः । शरत्कालो मेघस्येव । मेघनादस्येन्द्रजितो नादं सिंहनादम् । अन्यत्र गर्जितं च इन्द्रायुधप्रभं शक्रधनुःप्रभं धनुश्च किञ्चिदल्पमपि न पर्यशेषय न्नावशेषितवान् । तमवधीदित्यर्थः ॥ ७९ ॥

उस (लक्ष्मण) ने मेघनादके गर्जन तथा इन्द्र धनुष के समान कान्तिवाले धनुषको—(दोनोंमें) किसी को भी उस प्रकार नहीं छोड़ा, जिस प्रकार शरदृतु बरसातके मेघके गर्जन और इन्द्र धनुषको नहीं छोड़ता (नष्ट कर देता) है । (लक्ष्मणने मेघनादको मार डाला) ॥ ७९ ॥

कुम्भकर्णः कपीन्द्रेण तुल्यावस्थः स्वसुः कृतः ।
रुरोध रामं शृङ्गीव टङ्कच्छिन्नमनःशिलः ॥ ८० ॥

कुम्भकर्ण इति । कपीन्द्रेण सुग्रीवेण स्वसुः शूर्पणखायास्तुल्यावस्थो नासाकर्णच्छेदेन सदृशः कृतः कुम्भकर्णष्टङ्केन शिलाभेदकशस्त्रेण छिन्ना मनः शिला रक्तवर्णधातुविशेषो यस्य स तथोक्तः । 'टङ्कः पाषाणदारणः' इति 'धातुर्मनः शिलाद्यद्रेः' इति चामरः । शृङ्गी शिखरीव । रामं रुरोध ॥ ८० ॥

वानर राज (सुग्रीव) के द्वारा बहन (शूर्पणखा) के समान किया गया (नाक—कान से रहित किया गया, अत एव) टाँकी (छेनी) से काटे गये मैनसिलवाले पर्वतके समान स्थित कुम्भकर्ण रामको घेर लिया ॥ ८० ॥

अकाले बोधितो भ्रात्रा प्रियस्वप्नो वृथा भवान् ।
रामेषुभिरितीवासौ दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥ ८१ ॥

अकाल इति । प्रियस्वप्न इष्टनिद्रोऽनुजो भवान्वृथा भ्रात्रा रावणेनाकाले बोधित इतीवासौ कुम्भकर्णो रामेषुभी रामबाणैर्दीर्घनिद्रां मरणं प्रवेशितो गमितः । यथा लोकेष्विष्टवस्तुविनाशदुःखितस्य ततोऽपि भूयिष्ठमुपपाद्यते तद्वदिति भावः ॥ ८१ ॥

"सोनेको अधिक पसन्द करनेवाले तुम व्यर्थ हो" इस प्रकार भाई (रावण) के द्वारा असमयमें जगाया गया मानों इसी कारणसे रामके बाणोंने उसे महानिद्रामें प्रविष्ट करा दिया । (रामबाणोंके प्रहारसे कुम्भकर्ण मारा गया) ॥ ८१ ॥

इतराण्यपि रक्षांसि पेतुर्वानरकोटिषु ।
रजांसि समरोत्थानि तच्छोणितनदीष्विव ॥ ८२ ॥

इतराणीति । इतराणि रक्षांस्यपि वानरकोटिषु । समरोत्थानि रजांसि तेषां रक्षसां शोणितनदीषु रक्तप्रवाहेष्विव पेतुः । निपत्य मृतानीत्यर्थः ॥ ८२ ॥

और भी बहुतसे राक्षस, उनके रक्तकी नदियों पर समरमें उड़ी हुई धूलिके समान वानरोंकी सेनापर गिरे (गिरकर मरे) ॥ ८२ ॥

निर्ययावथ पौलस्त्यः पुनर्युद्धाय मन्दिरात् ।
अरावणमरामं वा जगदद्येति निश्चितः ॥ ८३ ॥

निर्ययाविति । अथ पौलस्त्यो रावणः । अद्य जगदरावणं रावणशून्यमरामं रामशून्यं वा भवेदिति निश्चितो निश्चितवान् । कर्तरि क्तः । विजयमरणयोरन्यतरनिश्चयवान्पुनर्युद्धाय मन्दिरान्निर्ययौ निर्जगाम ॥ ८३ ॥

इसके बाद रावण "आज संसार रावण या रामसे हीन हो जावेगा (मैं ही मर जाऊंगा या रामको ही मारूंगा)" ऐसा निश्चयकर राज भवनसे युद्धके लिये निकला ॥ ८३ ॥

रामं पदातिमालोक्य लङ्केशं च वरूथिनम् ।
हरियुग्यं रथं तस्मै प्रजिघाय पुरन्दरः ॥ ८४ ॥

रामिति । पादाभ्यामततीति पदातिः तं पादचारिणं रामम् । वरूथो रथगुप्तिः । 'रथगुप्तिर्वरूथो ना' इत्यमरः । अत्र वरूथेन रथो लक्ष्यते । वरूथिनं रथिनं लङ्केशं चालोक्य पुरन्दर इन्द्रः । युगं वहन्तीति युग्या रथाश्वाः । "तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्" इति यत्प्रत्ययः । हरियुग्यं कपिलवर्णाश्वम् । 'शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्यमरः । रथं तस्मै रामाय प्रजिघाय प्रहितवान् ॥ ८४ ॥

इन्द्रने रामको पैदल तथा लङ्कापति (रावण) को रथपर सवार देखकर उन (राम) के लिये हरित (सब्ज) घोड़ोंसे युक्त रथको भेजा ॥ ८४ ॥

तमाधूतध्वजपटं व्योमगङ्गोर्मिवायुभिः ।
देवसूतभुजालम्बी जैत्रमध्यास्त राघवः ॥ ८५ ॥

तमिति । राघवो व्योमगङ्गोर्मिवायुभिराधूतध्वजपटम् । मार्गवशादिति भावः । जेतैव जैत्रो जयनशीलः तं जैत्रम् । जेतृशब्दात्तृन्नन्तात् "प्रज्ञादिभ्यश्च" इति स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । तं रथं देवसूतभुजालम्बी मातलिहस्तावलम्बः सन्नध्यास्ताधिष्ठितवान् । आसेलँङ् ॥ ८५ ॥

आकाश गङ्गाकी लहरोंकी वायुसे उड़ते हुए पताकाके वस्त्रवाले विजयशील उस रथपर देवसारथि (मातलि) के हाथको पकड़कर रामचन्द्र सवार हुए ॥ ८५ ॥

मातलिस्तस्य माहेन्द्रमामुमोच तनुच्छदम् ।
यत्रोत्पलदलक्लैब्यमस्त्राण्यापुः सुरद्विषाम् ॥ ८६ ॥

मातलिरिति । मातलिरिन्द्रसारथिर्माहेन्द्रम् । तनुरछाद्यतेऽनेनेति तनुच्छदो वर्म ।

"पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण" इति घः । तं तस्य रामस्यामुमोचासञ्जयामास । यत्र तनुच्छदे सुरद्विषामस्त्राण्युत्पलदलानां यत्क्लैब्यं नपुंसकत्वं निरर्थकत्वं तदापुः ॥ ८६ ॥

मातलि (इन्द्रका सारथि) ने इन्द्रका कवच रामको पहनाया, जिस (कवच) पर राक्षसोंके शस्त्र कमल पत्रके समान नपुंसकताको प्राप्त किया (राक्षसोंके द्वारा छोड़े गये अस्त्र कमलके पत्रके समान व्यर्थ हो गये) ॥ ८६ ॥

अन्योन्यदर्शनप्राप्तविक्रमावसरं चिरात् ।
रामरावणयोर्युद्धं चरितार्थमिवाभवत् ॥ ८७ ॥

अन्योन्येति । चिरादन्योन्यदर्शनेन प्राप्तविक्रमावसरं रामरावणयोर्युद्धमायोधनं चरितार्थं सफलमभवदिव । प्राप्तपराक्रमावसरदौर्लभ्याद्विफलस्याद्य तल्लाभात्साफल्य-मुत्प्रेक्ष्यते ॥ ८७ ॥

बहुत समयके बाद परस्परको देखनेसे पराक्रमके अवसरको प्राप्त किया हुआ राम-रावणका युद्ध मानो सफल हो गया ॥ ८७ ॥

भुजमूर्धोरुबाहुल्यादेकोऽपि धनदानुजः ।
ददृशे ह्ययथापूर्वो मातृवंश इव स्थितः ॥ ८८ ॥

भुजेति । यथाभूतः पूर्वं यथापूर्वः सुप्सुपेति समासः । यथापूर्वो न भवतीत्यय-थापूर्वः । निहतबन्धुत्वादन्यः परिचारशून्य इत्यर्थः । अत एवैकोऽपि सन् धनदानुजो रावणः । भुजाश्च मूर्धानश्चोरवः पादाश्च भुजमूर्धोरु । प्राण्यङ्गत्वाद्द्वन्द्वैकवद्भावः । तस्य बाहुल्याद्बहुत्वाद्धेतोः । तद्बहुत्वे यादवः—'दशास्यो विंशतिभुजश्चतुष्पान्मा-तृमन्दिरे' इति । मातृवंशे मातृसम्बन्धिनि वर्गे स्थित इव ददृशे दृष्टो हि । 'वंशो वेणौ कुले वर्गे' इति विश्वः । अत्र रावणमातू रक्षोजातित्वाद्वर्गो रक्षोवर्ग इति लभ्यते । अतश्चैकोऽप्यनेकरक्षः परिवृत इवालक्ष्यतेत्यर्थः ॥ ८८ ॥

पहलेसे भिन्न (समस्त बन्धुओंके क्षयहो जानेसे) अकेला रावण बहुतसे बाहु, मस्तक तथा पैरों वाला (बीस बाहु, दश मस्तक और चार पैरोंवाला) माताके कुलमें स्थितके समान दिखाई पड़ता था (अकेला होकर भी अनेक राक्षसोंसे युक्त दिखाई पड़ता था) ॥ ८८ ॥

जेतारं लोकपालानां स्वमुखैरर्चितेश्वरम् ।
रामस्तुलितकैलासमरातिं बह्वमन्यत ॥ ८९ ॥

जेतारमिति । लोकपालानामिन्द्रादीनां जेतारम् । "कर्तृकर्मणोः कृति" इति कर्म-णि षष्ठी । स्वमुखैः स्वशिरोभिरर्चितेश्वरं तुलितकैलासमुत्क्षिप्तरुद्राद्रिं तमेवं शौर्यवीर्य-सत्त्वसम्पन्नं महावीर्यमरातिं शत्रुं रामो गुणग्राहित्वाज्जेतव्योत्कर्षस्य जेतुः स्वोत्कर्षहे-

तुस्वाञ्च बहुमन्यत। साधु मद्विक्रमस्यायं पर्याप्तो विषय इति बहुमानमकरोदित्यर्थः। बह्विति क्रियाविशेषणम् ॥ ८९ ॥

लोकपालों को जीतनेवाले, अपने मस्तकोंसे शिवजी की पूजा करनेवाले और कैलास पर्वतको उठानेवाले रावणको रामने (अपने पराक्रमके) योग्य माना ॥ ८९ ॥

तस्य स्फुरति पौलस्त्यः सीतासङ्गमशंसिनि।
निचखानाधिकक्रोधः शरं सव्येतरे भुजे ॥ ९० ॥

तस्येति। अधिकक्रोधः पौलस्त्यः स्फुरति स्पन्दमानेऽत एव सीतासङ्गमशंसिनि सीतायाः सङ्गमं शंसतीति तस्मिन् तस्य रामस्य सव्य इतरो यस्मात्सव्येतरे दक्षिणे। "न बहुव्रीहौ" इतीतरशब्दस्य सर्वनाम संज्ञाप्रतिषेधः। भुजे शरं निचखान निखातवान् ॥ ९० ॥

अत्यन्त क्रोध युक्त रावण, फरकते हुए (अत एव) सीताके सङ्गमको सूचित करते हुए उस (राम) के दाहिने बाहुमें बाण मारा ॥ ९० ॥

रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः।
विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥ ९१ ॥

रावणस्येति। रामेणास्तः क्षिप्त आशुगो बाणः। विश्रवसोऽपत्यं पुमान् रावणः। विश्रवःशब्दादपत्येऽर्थेऽण्प्रत्यये सति। "विश्रवसो विश्रवणरवणौ" इति रवणादेशः। तस्य रावणस्यापि हृदयं वक्षो भित्त्वा विदार्य। उरगेभ्यः पातालवासिभ्यः प्रियमाख्यातुमिव भुवं विवेश ॥ ९१ ॥

रामका छोड़ा हुआ बाण उस रावणके भी हृदय का भेदनकर मानों पातालवासी नागोंसे प्रिय सन्देश कहनेके लिये भूमिमें घुस गया ॥ ९१ ॥

वचसैव तयोर्वाक्यमस्त्रमस्त्रेण निघ्नतोः।
अन्योन्यजयसंरम्भो ववृधे वादिनोरिव ॥ ९२ ॥

वचसवेति। वाक्यं वचसैवास्त्रमस्त्रेण निघ्नतोः प्रतिकुर्वतोस्तयो रामरावणयोः। वादिनोः कथकयोरिव। अन्योन्यविषये जयसंरम्भो ववृधे ॥ ९२ ॥

बातको बातसे ही और अस्त्रोंसे अस्त्रों को नष्ट करते उन दोनों (राम-रावण) का कथकके समान परस्पर विजयका क्रोध बढ़ गया। (जिस प्रकार वादी तथा प्रतिवादी बातसे ही बातको नष्ट करते हुए परस्परमें जीतने के लिये क्रमशः क्रोधित हो जाते हैं, उसी प्रकार एक दूसरे के शस्त्रोंको शस्त्रोंसे ही नष्ट करते हुए वे दोनों परस्परमें विजय प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त कुपित हो गये) ॥ ९२ ॥

विक्रमव्यतिहारेण सामान्याऽभूद्द्वयोरपि ।
जयश्रीरन्तरा वेदिर्मत्तवारणयोरिव ॥ ९३ ॥

विक्रमेति । जयश्रीर्विक्रमस्य व्यतिहारेण पर्यायक्रमेण तयोर्द्वयोरपि । अन्तरा मध्ये । अव्ययमेतत् । वेदिर्वेद्याकारा भित्तिर्मत्तवारणयोरिव । सामान्या साधारणाऽभूत्, नात्वन्यतरनियतेत्यर्थः । अत्र मत्तवारणयोरित्यत्र द्वयोरित्यत्र च "अन्तरान्तरेण युक्ते" इति द्वितीया न भवति । अन्तराशब्दस्योक्तरीत्यान्यत्रान्वयात् । मध्ये कामं प भित्ति कृत्वा गजौ योधयन्तीति प्रसिद्धिः ॥ ९३ ॥

पराक्रमके व्यतिहारसे (कभी रामके पराक्रम बढ़नेसे तथा कभी रावणके पराक्रम बढ़नेसे) उन दोनोंके मध्यगत विजयलक्ष्मी उस प्रकार सामान्य (कभी रामके पक्षमें कभी रावणके पक्षमें) हुई, जिस प्रकार लड़ते हुए दो मतवाले हाथियोंके बीचमें वेदी सामान्य रूपमें होती है (किसी वेदीके आकारवाली भित्तिको मध्यमें करके दो हाथियों का परस्परमें युद्ध करना लोक-प्रसिद्ध है) ॥ ९३ ॥

कृतप्रतिकृतप्रीतैस्तयोर्मुक्तां सुरासुरैः ।
परस्परशरव्राताः पुष्पवृष्टिं न सेहिरे ॥ ९४ ॥

कृतेति । स्वयमस्त्रप्रयोगः कृतं प्रतिकृतं परकृतप्रतीकारस्ताभ्यां प्रीतैः सुरासुरैर्यथासंख्यं तयो रामरावणयोर्मुक्तां पुष्पवृष्टिम् । द्वयीमिति शेषः । परस्परं शरव्राता न सेहिरे । अहमेवालं किं त्वयेति चान्तराल एवेतरेतरबाणवृष्टिरितरेतरपुष्पवृष्टिमवारयदित्यर्थः ॥ ९४ ॥

कृत (किसी पर मारनेके लिये छोड़ा गया अस्त्र) तथा प्रतिकृत (अपनी रक्षाके लिये उस छोड़े गये अस्त्र को नष्ट करनेके लिये अस्त्र छोड़ना) से प्रसन्न देवता और राक्षसोंसे की गई पुष्प वृष्टिको परस्पर का बाणसमूह नहीं सहन किया । (राम तथा रावण परस्परमें एक दूसरेपर अस्त्र छोड़कर मारते थे तथा उसके छोड़े गये अस्त्र को अपने अस्त्रसे छिन्न-भिन्नकर आत्म-रक्षा करते थे, स्वर्गस्थ देवता तथा राक्षस प्रसन्न होकर क्रमशः राम तथा रावणपर पुष्पवर्षा करते थे, किन्तु ये दोनों इतना अधिक बाण छोड़ते थे कि पुष्प भूमिमें नहीं गिरकर ऊपरही रह जाते थे) ॥ ९४ ॥

अयःशङ्कुचितां रक्षः शतघ्नीमथ शत्रवे ।
हृतां वैवस्वतस्येव कूटशाल्मलिमक्षिपत् ॥ ९५ ॥

अथ इति । अथ रक्षो रावणोऽयसः लोहस्य शङ्कुभिः कीलैश्चितां कीर्णां शतघ्नीं लोहकण्टककीलितयष्टिविशेषाम् । 'शतघ्नी तु चतुस्ताला लोहकण्टकसञ्चिता यष्टिः' इति केशवः । हृतां विजयलब्धाम् । वैवस्वतस्यान्तकस्य कूटशाल्मलिमिव । शत्रवे

राघवायाक्षिपदिक्षिप्तवान् । कूटशाल्मलिरिव कूटशाल्मलिरिति व्युत्पत्त्या वैवस्वतगदा-या गौणी संज्ञा । कूटशाल्मलिर्नामैकमूलप्रकृतिः कण्टकीवृक्षविशेषः । 'रोचनः कूटशा-ल्मलिः' इत्यमरः । तत्सादृश्यं च गदाया अयःशङ्कुचितत्वादनुसन्धेयम् ॥ ९५ ॥

इसके बाद राक्षस (रावण) ने लोहके कीलोंसे व्याप्त शतघ्नी (यष्टिके आकारवाले शस्त्र–विशेष) को, विजयमें प्राप्त हुई यमराजके कूटशाल्मलि (कण्टकयुक्त मूलवाली शाल्मलीके समान गदा) के समान राम को मारनेके लिये फेंका ॥ ९५ ॥

राघवो रथमप्राप्तां तामाशां च सुरद्विषाम् ।
अर्धचन्द्रमुखैर्बाणैश्चिच्छेद कदलीसुखम् ॥ ९६ ॥

राघव इति । राघवो रथमप्राप्तां तां शतघ्नीं सुरद्विषां रक्षसामाशां विजयतृष्णां च । 'आशा तृष्णादिशोः प्रोक्ता' इति विश्वः । अर्धचन्द्र इव मुखं येषां तैर्बाणैः कद-लीवत्सुखं यथा तथा चिच्छेद । अथवा कदल्यामिव सुखमक्लेशो यस्मिन्कर्मणि तद्विति विग्रहः ॥ ९६ ॥

रामने रथतक नहीं पहुँची हुई उस गदाको तथा राक्षसों की आशाको अर्द्धचन्द्राकार फलों वाले बाणोंसे केलेके समान सुख पूर्वक काट दिया (राक्षसोंको आशा थी कि इस शक्तिसे राम अवश्यमेव मर जायेंगे, किन्तु जब रामने उसको केलेके समान अनायासही काट दिया तो उनकी आशा नष्ट हो गई) ॥ ९६ ॥

अमोघं सन्दधे चास्मै धनुष्येकधनुर्धरः ।
ब्राह्ममस्त्रं प्रियाशोकशल्यनिष्कर्षणौषधम् ॥ ९७ ॥

अमोघमिति । एकोऽद्वितीयो धनुर्धरो रामः प्रियायाः शोक एव शल्यं तस्य निष्क-र्षणमुद्धारकं यदौषधं तदमोघं सफलं ब्राह्मं ब्रह्मदेवताकमस्त्रमभिमन्त्रितं बाणमस्मै रावणाय च, तद्वधार्थमित्यर्थः । धनुषि सन्दधे ॥ ९७ ॥

प्रधान धनुर्धर (राम) ने प्रिया सीताके शोक रूपी काँटेके निकालनेमें औषधरूप सफल ब्रह्मास्त्रको इस (रावणको मारने) के लिये धनुषपर रक्खा ॥ ९७ ॥

तद्व्योम्नि शतधा भिन्नं ददृशे दीप्तिमन्मुखम् ।
वपुर्महोरगस्येव करालफणमण्डलम् ॥ ९८ ॥

तदिति । व्योम्नि शतधा भिन्नं प्रसृतं दीप्तिमन्ति मुखानि यस्य तद् ब्रह्मास्त्रम् । करालं भीषणं तुङ्गं वा फणमण्डलं यस्य तत्तथोक्तम् । 'करालो दन्तुरे तुङ्गे करालो भी-षणेऽपि च' इति विश्वः । महोरगस्य शेषस्य वपुरिव । ददृशे दृष्टम् ॥ ९८ ॥

आकाशमें सैकड़ों तरफ फैला हुआ, चमकते हुए फलों (अग्रभागों) वाला वह (ब्रह्मास्त्र) भयङ्कर फणा–समूहवाले शेषके शरीरके समान दिखलाई पड़ा ॥ ९८ ॥

तेन मन्त्रप्रयुक्तेन निमेषार्धादपातयत् ।
स रावणशिरःपङ्क्तिमज्ञातव्रणवेदनाम् ॥ ९९ ॥

तेनेति । स रामो मन्त्रप्रयुक्तेन तेनास्त्रेणाज्ञातव्रणवेदनामतिशैघ्र्यादननुभूतव्रणदुःखां रावणशिरःपङ्क्तिं निमेषार्धादपातयत्पातयामास ॥ ९९ ॥

उस (राम) ने मन्त्र पूर्वक छोड़े गये उस (ब्रह्मास्त्र) से (अत्यन्त शीघ्रताके कारण) वेदना का अनुभव नहीं करनेवाले, रावणके मस्तक–समूहको आधे पलकमें (काटकर) गिरा दिया ॥ ९९ ॥

बालार्कप्रतिमेवाप्सु वीचिभिन्ना पतिष्यतः ।
रराज रक्षःकायस्य कण्ठच्छेदपरम्परा ॥ १०० ॥

बालार्केति । पतिष्यत आसन्नपातस्य रक्षःकायस्य रावणकलेवरस्य छिद्यन्त इति छेदाः खण्डाः । कण्ठानां ये छेदास्तेषां परम्परा पङ्क्तिः । वीचिभिर्भिन्ना नानाकृताऽप्सु बालार्कस्य प्रतिमा प्रतिबिम्बमिव रराज । अर्कस्य बालविशेषणमारुण्यसिद्ध्यर्थमिति भावः ॥ १०० ॥

आसन्नपात (भविष्यमें शीघ्रही गिरनेवाले) रावण–शरीरके कण्ठोंके खण्डोंका समूह जलमें तरङ्गसे अनेकधा भिन्न प्रातःकालके सूर्यकी प्रतिबिम्बके समान शोभित हुई ॥ १०० ॥

मरुतां पश्यतां तस्य शिरांसि पतितान्यपि ।
मनो नातिविशश्वास पुनः सन्धानशङ्किनाम् ॥ १०१ ॥

मरुतामिति । पतितानि तस्य रावणस्य शिरांसि पश्यतामपि पुनःसन्धानशङ्किनाम् । पूर्वं तथादर्शनादिति भावः । मरुताममराणाम् । 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः । मनः चित्तं नातिविशश्वासातिविश्वासं न प्राप ॥ १०१ ॥

रावणके गिरे हुए भी शिरोंको देखते हुए फिर जुट जानेकी शङ्का करनेवाले देवोंका मन पूरा २ विश्वास नहीं किया । (शिवजीकी पूजामें मस्तकोंको काटकर चढ़ानेपर जिस प्रकार वे पुनः जुट गये, उसी प्रकार फिरभी न जुट जांय ऐसी शङ्का देवताओंके मनमें कुछ २ बनी रही) ॥ १०१ ॥

अथ मदगुरुपक्षैर्लोकपालद्विपानामनुगतमलिवृन्दैर्गण्डभित्तीर्विहाय ।
उपनतमणिबन्धे मूर्ध्नि पौलस्त्यशत्रोः सुरभि सुरविमुक्तं पुष्पवर्षं पपात ॥

अथेति । अथ मदेन गजगण्डसञ्चारसक्रान्तेन गुरुपक्षैर्भारायमाणपक्षैरलिवृन्दैर्लोकपालद्विपानामैरावतादीनां गगनवर्तिनां गण्डभित्तीर्विहायानुगतमनुद्रुतं सुरभि सुगन्धि । 'सुरभिश्चम्पके स्वर्णे जातीफलवसन्तयोः । गन्धोपले सौरभेय्यां

सल्लकीमातृभेदयोः ॥ सुगन्धौ च मनोज्ञे च वाच्यवत्सुरभि स्मृतम्' । इति विश्वः । सुरविमुक्तं पुष्पवर्षमुपनत आसन्नो मणिबन्धो राज्याभिषेकसमये भावी यस्य तस्मिन्पौलस्त्यशत्रो रामस्य मूर्ध्नि शिरसि पपात । इदमेव राज्याभिषेकसूचकमिति भावः । मालिनीवृत्तमेतत् ॥ १०२ ॥

इसके बाद भावी रामराज्याभिषेकमें समीपतममणिबन्धयुक्त होनेवाले, रामके (अथवा—अञ्जलि युक्त) मस्तकपर देवोंने फूलों की वर्षा की, तब उन फूलोंके अतिशय सुगन्धित होनेके कारण हाथियोंके मदजल का पान करनेसे भारी पंखोंवाले भी भ्रमरसमूह दिक्पालोंके हाथियोंके गण्डस्थलको छोड़कर उन फूलों पर ही आगये थे ॥ १०२ ॥

यन्ता हरेः सपदि संहृतकार्मुकज्य-
मापृच्छ्य राघवमनुष्ठितदेवकार्यम् ।
नामाङ्करावणशराङ्कितकेतुयष्टि-
मूर्ध्वं रथं हरिसहस्रयुजं निनाय ॥ १०३ ॥

यन्तेति । हरेरिन्द्रस्य यन्ता मातलिः सपदि संहृतकार्मुकज्यमनुष्ठितं देवकार्यं रावणवधरूपं येन तं राघवमापृच्छ्य साधु यामीत्यामन्त्र्य । नामाङ्कैर्नामाक्षरचिह्नै रावणशरैरङ्किता चिह्निता केतुयष्टिर्ध्वजदण्डो यस्य तम् । हरीणां वाजिनां सहस्रेण युज्यत इति हरिसहस्रयुक् तम् । 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्युभयत्राप्यमरः । रथमूर्ध्वं निनाय नीतवान् ॥ १०३ ॥

इन्द्रका सारथि (मातलि) धनुष-बाण को समेटे हुए, देवकार्य (रावण-वधरूप) को पूरा किये हुए (राम) से पूछ कर नाम खुदे हुए रावण के बाणों से चिह्नित पताका के दण्डवाले सहस्र घोड़ों से युक्त रथको ऊपर (स्वर्ग में) ले गया ॥ १०३ ॥

रघुपतिरपि जातवेदोविशुद्धां प्रगृह्य प्रियां
प्रियसुहृदि विभीषणे सङ्गमय्य श्रियं वैरिणः ।
रविसुतसहितेन तेनानुयातः ससौमित्रिणा
भुजविजितविमानरत्नाधिरूढः प्रतस्थे पुरीम् ॥ १०४ ॥

रघुपतिरिति । रघुपतिरपि जातवेदस्यग्नौ विशुद्धां जातशुद्धिं प्रियां सीतां प्रगृह्य स्वीकृत्य । प्रियसुहृदि विभीषणे वैरिणो रावणस्य श्रियं राज्यलक्ष्मीं सङ्गमय्य सक्तां कृत्वा । गमेर्ण्यन्ताल्ल्यप्प्रत्ययः । "मितां ह्रस्वः" इति ह्रस्वः । "ल्यपि लघुपूर्वात्" इति णेरयादेशः । रविसुतसहितेन सुग्रीवयुक्तेन ससौमित्रिणा सलक्ष्मणेन तेन विभीषणेनानुयातोऽनुगतः सन् । विमानं रत्नमिव विमानरत्नमित्युपमितसमासः । भुज-

विजितं यद्विमानरत्नं पुष्पकं तदारूढः सन् । पुरीमयोध्यां प्रतस्थे । "समवप्रविभ्यः स्थः" इत्यात्मनेपदम् । अत्र प्रस्थानक्रियाया अकर्मकत्वेऽपि तदङ्गभूतोद्देशक्रियापेक्षया सकर्मकत्वम् । अस्ति च धातूनां क्रियान्तरोपसर्जनकस्वार्थाभिधायकत्वम् । यथा 'कुसूलान्पचति' इत्यादावादानक्रियागर्भः पाको विधीयत इति ॥ १०४ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये रावणवधो नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

राम भी अग्नि (परीक्षा से) शुद्ध प्रिया (सीता) को ग्रहणकर, प्रिय मित्र विभीषणको शत्रु (रावण) की राज–लक्ष्मी देकर सूर्य–तनय (सुग्रीव तथा लक्ष्मणके सहित उस (विभीषण) से अनुगत होकर बाहु (–बल) से जीते गये विमान श्रेष्ठ पुष्पक विमानपर सवार होकर अयोध्या पुरीको चले ॥ १०४ ॥

यह 'मणिप्रभा, टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'रावणवन्ध'
नामक द्वादश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः

त्रैलोक्यशल्योद्धरणाय सिन्धोश्चकार बन्धं मरणं रिपूणाम् ।
पुण्यप्रणामं भुवनाभिरामं रामं विरामं विपदामुपासे ॥

अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः ।
रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच ॥१॥

अथेति । अथ प्रस्थानानन्तरम् । जानातीति ज्ञः । "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इत्यनेन कप्रत्ययः । गुणानां ज्ञो गुणज्ञः । रत्नाकरादिवर्ण्यविषयगुणाभिज्ञ इत्यर्थः । स रामाभिधानो हरिर्विष्णुः शब्दो गुणो यस्य तच्छब्दगुणमात्मनः स्वस्य पदं विष्णुपदम्, आकाशमित्यर्थः । 'वियद्विष्णुपदम्' इत्यमरः । "शब्दगुणकमाकाशम्" इति तार्किकाः । विमानेन पुष्पकेण विगाहमानः सन् । रत्नाकरं समुद्रं वीक्ष्य मिथो रहसि । 'मिथोऽन्योन्यं रहस्यपि' इत्यमरः । जायां पत्नीं सीतामिति वक्ष्यमाणप्रकारेणोवाच । रामस्य हरिरित्यभिधानं निरङ्कुशमहिमद्योतनार्थम् । मिथोग्रहणं गोष्ठीविश्रम्भसूचनार्थम् ॥ १ ॥

त्रैलोक्य–कण्टक नाशको जो सिन्धु बांधा रिपु हना ।
उस लोक–सुन्दर कष्टहर श्री राम को सेवूं घना ॥

इसके बाद गुणज्ञाता रामनामक विष्णुशब्द गुणवाले, अपने (विष्णु के) पद को अर्थात् आकाशको विमान से पार करते हुए समुद्रको देखकर एकान्तमें प्रिया (सीता) से यह कहने लगे ॥ १ ॥

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम्।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम् ॥ २ ॥

वैदेहीति। हे वैदेहि सीते ! आ मलयान्मलयपर्यन्तम्। "पञ्चम्यपाङ्परिभिः" इति पञ्चमी। पदद्वयं चैतत्। मत्सेतुना विभक्तं द्विधाकृतम्, अस्यायतसेतुनेत्यर्थः। हर्षाधिक्याच्च मद्ग्रहणम्। फेनिलं फेनवन्तम्। "फेनादिलच्च" इतीलच्प्रत्ययः। क्षिप्रकारी चायमिति भावः। अम्बुराशिम्। छायापथेन विभक्तं शरत्प्रसन्नमाविष्कृतचारुतारमाकाशमिव पश्य मम महानयं प्रयासस्त्वदर्थं इति हृदयम्। छायापथो नाम ज्योतिश्चक्रमध्यवर्ती कश्चित्तिरश्चीनोऽवकाशः ॥ २ ॥

हे जनकनन्दिनि ? मलय पर्वततक मेरे पुलसे विभक्त और फेनयुक्त, छायापथसे विभक्त, शरद् ऋतुमें निर्मल सुन्दर ताराओंसे युक्त आकाशके समान, समुद्रको देखो ॥२॥

गुरोर्यियक्षोः कपिलेन मेध्ये रसातलं सङ्क्रमिते तुरङ्गे।
तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः पूर्वैः किलायं परिवर्धितो नः ॥ ३ ॥

गुरोरिति। यियक्षोर्यष्टुमिच्छोः। यजेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। गुरोः सगरस्य मेध्येऽश्वमेधार्हे तुरगे हये कपिलेन मुनिना रसातलं पातालं सङ्क्रमिते सति। तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः खनद्भिर्नोऽस्माकं पूर्वैर्वृद्धैः सगरसुतैरयं समुद्रः परिवर्धितः किल। किलेत्यैतिह्ये। अतो मः पूज्य इति भावः। यद्यपि तुरङ्गहारी शतक्रतुस्तथापि तस्य कपिलसमीपे दर्शनात्स एवेति तेषां भ्रान्तिः तन्मत्त्वैव कविना कपिलेनेति निर्दिष्टम् ॥ ३ ॥

(अश्वमेध) यज्ञ करनेके इच्छुक गुरु (पूज्य सगर) के यज्ञिय (यज्ञ—सम्बन्धी) घोड़ेको कपिलमुनि के पास (इन्द्रके द्वारा चुराकर) पातालमें बांधेजानेपर उस घोड़े के लिये पृथ्वीको खोदने वाले हमारे पूर्वजों (सगर के साठ सहस्र पुत्रों) ने इस समुद्रको बढ़ाया है ॥३॥

गर्भं दधत्यर्कमरीचयोऽस्माद्विवृद्धिमत्राश्नुवते वसूनि।
अबिन्धनं वह्निमसौ बिभर्ति प्रह्लादनं ज्योतिरजन्यनेन ॥ ४ ॥

गर्भमिति। अर्कमरीचयोऽस्मादब्धेः। अपादानात्। गर्भमम्मयं दधति, वृष्ट्यर्थमित्यर्थः। अयमर्थो दशमसर्गे—'ताभिर्गर्भः' इत्यत्र स्पष्टीकृतः। अयं लोकोपकारीति भावः। अत्राब्धौ वसूनि धनानि। 'धने रत्ने वसु स्मृतम्' इति विश्वः। विवृद्धिमश्नुवते प्राप्नुवन्ति, सम्पद्यन्त इत्यर्थः। असावाप इन्धनं दाह्यं यस्य तद्दाहकं वह्निं

बिभर्ति । अपकारेऽप्याश्रितं न त्यजतीति भावः । अनेन प्रह्लादनमाह्लादकं ज्योतिश्चन्द्रोऽजनि जनितम् । जनेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ् । सौम्य इति भावः ॥ ४ ॥

इस समुद्रसे सूर्य-किरण (जलमय) गर्भ धारण करते हैं, इस समुद्र में रत्न बढ़ते हैं, यह समुद्र जिसका जलही इन्धन है ऐसी वडवाग्नि को धारण करता है और इस समुद्र ने आह्लादक तेज अर्थात् चन्द्रमा को उत्पन्न किया है ॥ ४ ॥

तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं स्थितं दश व्याप्य दिशो महिम्ना ।
विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा ॥ ५ ॥

तामिति । तां तामनेकाम् । "नित्यवीप्सयोः" इति वीप्सायां द्विरुक्तिः । अवस्थामक्षोभाद्यवस्थाम् । विष्णुपक्षे-सत्त्वाद्यवस्थाम् । प्रतिपद्यमानं भजमानं महिम्ना दश दिशो व्याप्य स्थितं विष्णोरिवास्य रत्नाकरस्य रूपं स्वरूपमुक्तरीत्या बहुप्रकारत्वाद्व्यापकत्वाच्चेदृक्तयेयत्तया वा प्रकारतः परिमाणतश्चानवधारणीयं दुर्निरूपम् ॥ ५ ॥

उन २ (अनेक) अवस्थाओंको (समुद्रपक्षमें—अक्षोभ आदि तथा विष्णु पक्षमें—सत्त्व आदि अवस्थाओंको) ग्रहण करते हुए तथा महिमासे दशो दिशाओं में व्याप्त होकर स्थित विष्णुके समान इस समुद्रका स्वरूप 'ऐसा है तथा इतना है' इस प्रकार निश्चय करनेकेलिये अशक्य है ॥ ५ ॥

नाभिप्ररूढाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान्पुरुषोऽधिशेते ॥ ६ ॥

नाभीति । युगान्ते कल्पान्त उचिता परिचिता योगा स्वात्मनिष्ठैव निद्रेव निद्रा यस्य स पुरुषो विष्णुर्लोकान् भूर्भुवादीन्संहृत्य । नाभ्यां प्ररूढं यदम्बुरुहं पद्मं तदासनेन तन्नाभिकमलाश्रयेण प्रथमेन धात्रा दक्षादीनामपि स्रष्ट्रा पितामहेन संस्तूयमानः सन् । अमुमधिशेते, अमुष्मिञ्छेत इत्यर्थः । कल्पान्तेऽप्यस्तीति भावः ॥ ६ ॥

प्रलय-काल में योग-निद्राको ग्रहण किये हुये विष्णु संसारका संहारकर, नाभिसे उत्पन्न कमलपर स्थित (दक्ष प्रजा- पति आदि की सृष्टिकरनेवाले) आदि ब्रह्मासे स्तुति किये जाते हुए इसी समुद्रमें सोते हैं अर्थात् यह प्रलय कालमें भी नष्ट नहीं होता है ॥ ६ ॥

पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धाः शरण्यमेनं शतशो महीध्राः ।
नृपा इवोपप्लविनः परेभ्यो धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते ॥ ७ ॥

पक्षच्छिदेति । पक्षच्छिदा गोत्रभिदेन्द्रेण । उभयत्र "सत्सूद्विष०"-इत्यादिना

क्विप्। आत्तगन्धा हृतगर्वाः, अभिभूता इत्यर्थः। 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः' इति विश्वः। 'आत्तगन्धोऽभिभूतः स्यात्' इत्यमरः। महीं धारयन्तीति महीध्राः पर्वताः। मूलविभुजादित्वात्कप्रत्ययः। शतं शतं शतशः शरण्यं रक्षणसमर्थमेनं समुद्रम्। परेभ्यः शत्रुभ्य उपप्लविनो भयवन्तो नृपा धर्मोत्तरं धर्मप्रधानं मध्यमं मध्यमभूपालमिव। आश्रयन्ते। 'अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः' इति कामन्दकः। आर्तबन्धुरिति भावः॥ ७॥

पङ्खोंके काटनेवाले इन्द्र के द्वारा गर्व-शून्य किये गये जीते गये पर्वत सैकड़ों के शरण में सम्यक् व्यवहार करने वाले उस प्रकार आश्रय करते हैं, जिस प्रकार शत्रुओं से पीडित राजा धर्मात्मा मध्यम राजाका आश्रय करते हैं॥ ७॥

रसातलादादिभवेन पुंसा भुवः प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः।
अस्याच्छमम्भः प्रलयप्रवृद्धं मुहूर्तवक्त्राभरणं बभूव॥ ८॥

रसातलादिति। आदिभवेन पुंसाऽऽदिवराहेण रसातलात्प्रयुक्तोद्वहनक्रियायाः कृतोद्धरणक्रियायाः। विवाहक्रिया च व्यज्यते। भुवो भूदेवतायाः प्रलये प्रवृद्धमस्याब्धेरच्छमम्भो मुहूर्तं वक्त्राभरणं लज्जारक्षणार्थं मुखावगुण्ठनं बभूव। तदुक्तम्—"उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना" इति॥ ८॥

जब आदि पुरुष (वराह) ने पातालसे पृथ्वी का उद्धार किया (विष्णु पक्षमें—विवाह किया) तब प्रलय-काल में बढा हुआ इस का जल मुहूर्त भर के लिये उस पृथ्वी के मुखका भूषण हुआ (वि० पक्ष में पृथ्वी रूपिणी नववधू के लज्जा निवारणार्थ घूंघट हुआ)॥ ८॥

मुखार्पणेषु प्रकृतिप्रगल्भाः स्वयं तरङ्गाधरदानदक्षः।
अनन्यसामान्यकलत्रवृत्तिः पिबत्यसौ पाययते च सिन्धूः॥ ९॥

मुखेति। अन्येषां पुंसां सामान्या साधारणा न भवतीत्यनन्यसामान्या कलत्रेषु वृत्तिर्भोगरूपा यस्य स तथोक्तः। इममेवार्थं प्रतिपादयति—तरङ्ग एवाधरस्तस्य दाने समर्पणे दक्षश्चतुरोऽसौ समुद्रो मुखार्पणेषु प्रकृत्या सख्यादिप्रेरणं विना प्रगल्भा धृष्टाः सिन्धूर्नदीः। 'सिन्धुः समुद्रे नद्यां च' इति विश्वः। स्वयं पिबति पाययते च। तरङ्गाधरमिति शेषः। "न पादम्याङ्यमा०" इत्यादिना पिबतेर्ण्यन्तात्सिद्धं परस्मैपदनिषेधः "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ०" इत्यादिना सिन्धूनां कर्मत्वम्। दम्पत्योर्युगपत्परस्पराधरपानमनन्यसाधारणमिति भावः॥ ९॥

(नदीरूप) स्त्रियों में अनन्य साधारण भोग करनेवाला और स्वयं तरङ्गरूप अधरको देनेवाला यह समुद्र मुख-दान करने में स्वभावतः धृष्ट नदियों को स्वयं पान करता है और कराता है। (सम्भोगकाल में दम्पतिका परस्पर अधरपान करना कामतन्त्र प्रसिद्ध है)॥ ९॥

ससत्त्वमादाय नदीमुखाम्भः सम्मीलयन्तो विवृताननत्वात् ।
अमी शिरोभिस्तिमयः सरन्ध्रैरूर्ध्वं वितन्वन्ति जलप्रवाहान् ॥ १० ॥

ससत्त्वमिति । अमी तिमयो मत्स्यविशेषाः । तदुक्तम्—"अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनमायतः" इति । विवृताननत्वाद्व्यात्तमुखत्वाद्धेतोः, आननविवृत्त्येत्यर्थः । ससत्त्वं मत्स्यादिप्राणिसहितं नदीमुखाम्भ आदाय सम्मीलयन्तश्चञ्चुपुटानि संवृण्वन्तः सन्तः सरन्ध्रैः शिरोभिर्जलप्रवाहानूर्ध्वं वितन्वन्ति । जलयन्त्रक्रीडासमाधिर्व्यज्यते ॥ १० ॥

ये तिमि (बड़ी२ मछलियां) मुख को बहुत बड़ा होने के कारण नदियों के मुहाने के जन्तुओं के सहित जल को (मुख में) लेकर फिर मुख को बन्द करती हुई छिद्र युक्त मस्तकों के ऊपरी भाग से (फौव्वारे के समान) जल की धारा को छोड़ती हैं ॥ १० ॥

मातङ्गनक्रैः सहसोत्पतद्भिर्भिन्नान्द्विधा पश्य समुद्रफेनान् ।
कपोलसंसर्पितया य एषां व्रजन्ति कर्णक्षणचामरत्वम् ॥ ११ ॥

मातङ्गेति । सहसोत्पतद्भिर्मातङ्गनक्रैर्मातङ्गाकारैर्ग्राहैर्द्विधा भिन्नान्समुद्रफेनान्पश्य । ये फेना एषां जलमातङ्गनक्राणां कपोलेषु संसर्पितया संसर्पणेन हेतुना कर्णेषु क्षणं चामरत्वं व्रजन्ति ॥ ११ ॥

एकाएक उछलते हुए गजाकार विशाल ग्राह से दो भागों में विभक्त समुद्र के फेनोंको देखो, जो फेन इन (ग्राहों) के कपोलके पास स्थित होनेसे क्षणमात्र कानों में चामरभाव को धारण करते हैं ॥ ११ ॥

वेलानिलाय प्रसृता भुजङ्गा महोर्मिविस्फूर्जथुनिर्विशेषाः ।
सूर्यांशुसम्पर्कसमृद्धरागैर्व्यज्यन्त एते मणिभिः फणस्थैः ॥ १२ ॥

वेलेति । वेलानिलाय । वेलानिलं पातुमित्यर्थः । "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इत्यनेन चतुर्थी । प्रसृता निर्गता महोर्मीणां विस्फूर्जथुरुद्रेकः । "टुवितोथुच्" इत्यथुच्प्रत्ययः । तस्मान्निर्विशेषा दुर्ग्रहभेदा एते भुजङ्गाः सूर्यांशुसम्पर्केण समृद्धरागैः प्रवृद्धकान्तिभिः फणस्थैर्मणिभिर्व्यज्यन्त उन्नीयन्ते ॥ १२ ॥

तीरकी वायुका पान करने के लिये बाहर निकले हुए, बड़े २ तरङ्गों के बढ़ने के समान स्थित ये सर्प सूर्य-किरणों के पड़ने से चमकते हुए फणास्थित मणियों से मालूम पडते हैं ॥

तवाधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु पर्यस्तमेतत्सहसोर्मिवेगात् ।
ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथञ्चित्क्लेशादपक्रामति शङ्खयूथम् ॥ १३ ॥

तवेति । तवाधरस्पर्धिषु, अधरसदृशेष्वित्यर्थः । विद्रुमेषु प्रवालेषु सहसोर्मिवेगा-

त्पर्यस्तं प्रोत्थितमूर्ध्वाङ्कुरैर्विद्रुमप्ररोहैः प्रोतमुखं स्यूतवदनमेतच्छङ्खानां यूथं वृन्दं कथ-
ञ्चित्क्लेशादपक्रामति विलम्ब्यापसरतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

तुम्हारे अधरके समान प्रवालों (मूंगाओं) में सहसा तरङ्गों के वेग से ऊपर आया हुआ ऊपर में स्थित (प्रवालों के) अङ्कुरों में फँसा हुआ शङ्ख-समूह किसी प्रकार कठिनाई से अर्थात् रुकने से कुछ विलम्बकर अलग होता है ॥ १३ ॥

प्रवृत्तमात्रेण पयांसि पातुमावर्तवेगाद्भ्रमता घनेन ।
आभाति भूयिष्ठमयं समुद्रः प्रमथ्यमानो गिरिणेव भूयः ॥ १४ ॥

प्रवृत्तेति। पयांसि पातुं प्रवृत्त एव प्रवृत्तमात्रो न तु पीतवांस्तेनावर्तवेगात्। 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः। भ्रमता घनेन मेघेनायं समुद्रो भूयः पुनरपि गिरिणा मन्दरेण प्रमथ्यमान इव भूयिष्ठमत्यन्तमाभाति ॥ १४ ॥

जलको पीनेके लिये आरम्भ करते हुए भँवर (पानी का चकोह) से घूमते हुए बादलसे यह समुद्र फिर सुमेरु से मथे जाते हुए के समान अत्यन्त शोभित होता है ॥ १४ ॥

दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी तमालतालीवनराजिनीला ।
आभाति वेला लवणाम्बुराशेर्धारानिबद्धेव कलङ्करेखा ॥ १५ ॥

दूरादिति। अयश्चक्रनिभस्य लोहचक्रसदृशस्य। लवणाम्बुराशेर्दूरात्तन्व्यणुत्वेनाव-भासमाना तमालतालीवनराजिभिर्नीला वेला तीरभूमिर्धारानिबद्धा चक्राश्रिता कल-ङ्करेखा मालिन्यरेखेव। आभाति। 'मालिन्यरेखां तु कलङ्कमाहुः' इति दण्डी ॥ १५ ॥

लोहचक्र के समान खारसमुद्रकी दूरसे छोटी मालूम पड़ती हुई और तमालों तथा तालों की वनराजिसे श्यामवर्णवाली वेला धारासे निबद्ध कलङ्करेखा के समान मालूम पड़ती है ॥

वेलानिलः केतकरेणुभिस्ते सम्भावयत्याननमायताक्षि ।
मामक्षमं मण्डनकालहानेर्वेत्तीव बिम्बाधरबद्धतृष्णम् ॥ १६ ॥

वेलेति। हे आयताक्षि ! 'वेला स्यात्तीरनीरयोः' इति विश्वः। वेलानिलः समु-द्रतीरवायुः केतकरेणुभिस्त आननं सम्भावयति। किमर्थमित्यपेक्षायामुत्प्रेक्षते— बिम्बाधरे बद्धतृष्णं मां मण्डनेनाभरणक्रियया कालहानिर्विलम्बस्तस्या अक्षममसह-मानम्। कर्मणि षष्ठी। कालहानिमसहमानं वेत्तीव वेत्ति किम्। नो चेत्कथं सम्भावये-दित्यर्थः ॥ १६ ॥

हे विशाललोचनवाली सीता ! समुद्रतट की हवा (तुम्हारे अधरोंके प्यासे और मण्डन-जन्य समयातिक्रम (विलम्ब) को सहने में असमर्थ मुझको जानती हुई—के समान, केतकी-पुष्प-के परागोंसे तुम्हारे मुखको अलङ्कृत कर रही है ॥ १६ ॥

एते वयं सैकतभिन्नशुक्तिपर्यस्तमुक्तापटलं पयोधेः ।
प्राप्ता मुहूर्तेन विमानवेगात्कूलं फलावर्जितपूगमालम् ॥ १७ ॥

एत इति । एते वयं सैकतेषु भिन्नाभिः स्फुटिताभिः शुक्तिभिः पर्यस्तानि परितः क्षिप्तानि मुक्तानां पटलानि यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । फलैरावर्जिताः आनमिताः पूगमाला यस्मिंस्तत्पयोधेः सागरस्य कूलं तीरं विमानवेगात्पुष्पकविमानवेगान्मुहूर्तेन प्राप्ताः ॥

ये हमलोग बालुओंसे फूटी हुई शुक्तियों से फैलते हुए मुक्ता-समूहवाले और फलों के भारसे झुके हुए सुपारी के वृक्षों के समूह वाले, समुद्र-तट पर विमान की तीव्र गति के कारण मुहूर्त (दोघड़ी) में पहुच गये ॥ १७ ॥

कुरुष्व तावत्करभोरु पश्चान्मार्गे मृगप्रेक्षिणि दृष्टिपातम् ।
एषा विदूरीभवतः समुद्रात्सकानना निष्पततीव भूमिः ॥ १८ ॥

कुरुष्वेति । 'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' इत्यमरः । करभ इवोरू यस्याः सा करभोरूः "ऊरूत्तरपदादौपम्ये" इत्यूङ् । तस्याः सम्बुद्धिः करभोरु ! मृगवत्प्रेक्षत इति विग्रहः । हे मृगवत्प्रेक्षिणि ! तावत्पश्चान्मार्गे लङ्घिताध्वनि दृष्टिपातं कुरुष्व एषा सकानना भूमिर्विदूरीभवतः समुद्रान्निष्पतति निष्क्रामतीव । विदूरशब्दाद्विशेष्यनिघ्नाच्च्विः ॥ १८ ॥

हे करभोरू, हे मृगनयनी ? ज़रा पीछे के रास्ते को देखो, वनके सहित यह भूमि दूर होते हुए समुद्रसे मानों निकल रही है ॥ १८ ॥

क्वचित्पथा सञ्चरते सुराणां क्वचिद्घनानां पततां क्वचिच्च ।
यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम् ॥ १९ ॥

क्वचिदिति । हे देवि ! विमानं पुष्पकं मे मनसोऽभिलाषो यथाविधस्तथा प्रवर्तते पश्य, क्वचित्सुराणां पथा मार्गेण सञ्चरते । क्वचिद् घनानां क्वचित्पततां पक्षिणां च पथा सञ्चरते । "समस्तृतीयायुक्तात्" इति सम्पूर्वाच्चरतेरात्मनेपदम् ॥ १९ ॥

(हे प्रिये !) जैसी मेरी इच्छा होती है, यह पुष्पक विमान वैसे ही चलता है, देखो ? कहीं देवताओं के कहीं मेघों के और कहीं पक्षियोंके मार्ग से (चलता है)॥ १९ ॥

असौ महेन्द्रद्विपदानगन्धिस्त्रिमार्गगावीचिविमर्दशीतः ।
आकाशवायुर्दिनयौवनोत्थानाचामति स्वेदलवान्मुखे ते ॥ २० ॥

असाविति । महेन्द्रद्विपदानगन्धिरैरावतमदगन्धिः त्रिभिर्मार्गैर्गच्छतीति त्रिमार्गगा गङ्गा "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इत्यनेनोत्तरपदसमासः । तस्या वियद्गङ्गाया वीचीनां विमर्देन सम्पर्केण शीतोऽसावाकाशवायुर्दिनयौवनोत्थान्मध्याह्नसम्भवांस्ते मुखे स्वेदलवानाचामति हरति । अनेन सुरपथसञ्चारो दर्शितः ॥ २० ॥

ऐरावत के मद से सुगन्धियुक्त, आकाशगङ्गाके तरङ्गों के स्पर्श से शीतल यह आकाश-वायु मध्याह्न के कारण उत्पन्न तुम्हारे मुख में पसीनों को सुखा रहा है ॥ २० ॥

करेण वातायनलम्बितेन स्पृष्टस्त्वया चण्डि कुतूहलिन्या ।
आमुञ्चतीवाभरणं द्वितीयमुद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते ॥ २१ ॥

करेणेति । हे चण्डि कोपने ! 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपनः' इत्यमरः । कुतूहलिन्या विनोदार्थिन्या त्वया कर्त्र्या वातायने गवाक्षे लम्बितेनावस्रंसितेन करेण स्पृष्ट उद्भिन्नविद्युद्वलयो घनस्ते द्वितीयमाभरणं वलयमामुञ्चतीव अर्पयतीव । चण्डीत्यनेन कोपनशीलत्वाद्भीतः क्षिप्रं त्वां मुञ्चति मेघ इति व्यज्यते ॥ २१ ॥

हे कोपशीले ! कौतुकवश तुम (विमानकी) खिड़की से बाहर निकाले हुए हाथ से मेघ को स्पर्श करती है तब चमकती हुई बिजुली रूप कङ्कणवाला वह मेघ तुमको मानो दूसरा भूषण देता है ॥ २१ ॥

अमी जनस्थानमपोढविघ्नं मत्वा समारब्धनवोटजानि ।
अध्यासते चीरभृतो यथास्वं चिरोज्झितान्याश्रममण्डलानि ॥२२॥

अमीति । अमी चीरभृतस्तापसा जनस्थानमपोढविघ्नमपास्तविघ्नं मत्वा ज्ञात्वा समारब्धा नवा उटजाः पर्णशाला येषु तानि । 'पर्णशालोटजोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । चिरोज्झितानि, राक्षसभयादित्यर्थः । आश्रममण्डलान्याश्रमविभागान्यथास्वं स्वं स्वमनतिक्रम्याध्यासतेऽधितिष्ठन्ति ॥ २२ ॥

ये वल्कल-धारी (तपस्वी) जनस्थान (दण्डकारण्यका भू-भाग-विशेष) को निर्विघ्न मानकर बनायी जारही हैं नयी पर्णशालायें जिन में ऐसे, (राक्षसों के भय से पहले) बहुत समय तक छोड़े हुए आश्रमों में अपने २ क्रमसे निवास कर रहे हैं ॥ २२ ॥

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥ २३ ॥

सैषेति । सा पूर्वानुभूता स्थल्येषा, दृश्यत इत्यर्थः । अत्र स्थल्यां त्वां विचिन्वताऽन्विष्यता मया । त्वच्चरणारविन्देन यो विश्लेषो वियोगस्तेन यद् दुःखं तस्मादिव बद्धमौनं निःशब्दम् उर्व्यां भ्रष्टमेकं नूपुरं मञ्जीरः । 'मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । अदृश्यत दृष्टम् । हेतूत्प्रेक्षा ॥ २३ ॥

यह वही वनभूमि है, जहां तुम को ढूंढ़ते हुए मैंने भूमिपर नूपुरको पाया था, जो मानों तुम्हारे चरण-कमलके विरह जन्य दुःखसे मौन दिखलाई पड़ता था ॥ २३ ॥

त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता मे ।
अदर्शयन्वक्तुमशक्नुवत्यः शाखाभिरावर्जितपल्लवाभिः ॥ २४ ॥

त्वमिति । हे भीरु भयशीले ! "ऊङुतः" इत्यूङ् ततो नदीत्वात्सम्बुद्धौ ह्रस्वः । त्वं रक्षसा रावणेन यतो येन मार्गेण । सार्वविभक्तिकस्तसिः । अपनीताऽपहृता तं मार्गं वागिन्द्रियाभावाद्वक्तुमशक्नुवत्य एता लता वीरुध आवर्जिता नमिताः पल्लवाः पाणिस्थानीया याभिस्ताभिः शाखाभिः स्वावयवभूताभिः कृपया मेऽदर्शयन् । हस्तचेष्टया सूचयन्नित्यर्थः । 'शाखा वृक्षान्तरे भुजे' इति विश्वः । लताऽऽदीनामपि ज्ञानमस्त्येव, तदुक्तं मनुना–"अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः" इति ॥ २४ ॥

हे भीरु ? राक्षस (रावण) तुमको जिस रास्ते से ले गया, बोलने में असमर्थ इन लताओं ने झुकते हुए पल्लवोंवाली डालियोंसे उस मार्ग को कृपा कर मुझे दिखलाया ॥ २४ ॥

मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम् ।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ॥२५॥

मृग्य इति । दर्भाङ्कुरेषु भक्ष्येषु निर्व्यपेक्षा निःस्पृहा मृग्यो मृगाङ्गनाश्चोत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि दक्षिणस्यां दिशि व्यापारयन्त्यः प्रवर्तयन्त्यः सत्यस्तवागतिज्ञं गत्यनभिज्ञं मां समबोधयन् , दृष्टिचेष्टया त्वद्गतिमबोधयन्नित्यर्थः ॥ २५ ॥

कुशाओं के अङ्कुर में निस्पृह हरिणियां भी ऊपर किये हुए पलक-समूह वाले नेत्रोंसे दक्षिण दिशा की ओर देखती हुई तुम्हारी गति को नहीं जाननेवाले मुझ को तुम्हारा रास्ता बतलाई ॥ २५ ॥

एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखि शृङ्गम् ।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम् ॥ २६ ॥

एतदिति । माल्यवतो नाम गिरेरम्बरलेख्यभ्रङ्कषं शृङ्गं शिखरमेतत्पुरस्तादग्रे आविर्भवति यत्र शृङ्गे घनैर्मेघैर्नवं पयो मया त्वद्विप्रयोगेण यदश्रु तच्च समं युगपद्विसृष्टं मुक्तम् । मेघदर्शनाद्दुर्षतुल्यमश्रु विमुक्तमिति भावः ॥ २६ ॥

आकाश को छूने वाला अर्थात् बहुत ऊँचा माल्यवान् पर्वत का यह शिखर दिख रहा है, जहांपर नये मेघने जल को तथा मैंने तुम्हारे विरहसे उत्पन्न आँसूओं साथ बरसाये थे अर्थात् बरसते हुए मेघको देखकर तुम्हारे विरह से पीडित होकर मैंने अत्यन्त रोया था २६

गन्धश्च धाराहतपल्वलानां कादम्बमर्धोद्गतकेसरं च ।
स्निग्धाश्च केकाः शिखिनांबभूवुर्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे ॥२७॥

गन्ध इति । यस्मिञ्छृङ्गे धाराभिर्वर्षधाराभिराहतानां पल्वलानां गन्धश्च अर्धोद्गतकेसरं कादम्बं नीपकुसुमं च स्निग्धाः मधुराः शिखिनां बर्हिणाम् 'शिखिनौ वह्निबर्हिणौ' इत्यमरः । केकाश्च त्वया विना मेऽसह्यानि बभूवुः । "नपुंसकेन–" इति नपुंसकैकशेषः ॥ २७ ॥

जिस (माल्यवानके शिखर) पर वर्षाकी धाराओंसे ताडित पल्लवोंका गन्ध, आधे निकले हुए केसरोंवाला कदम्बपुष्प और मयूरोंके मनोहर शब्द तुम्हारे बिना मुझे असह्य हो गये थे ॥ २७ ॥

पूर्वानुभूतं स्मरता च यत्र कम्पोत्तरं भीरु तवोपगूढम् ।
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथञ्चिद्घनगर्जितानि ॥ २८ ॥

पूर्वेति । किञ्च हे भीरु ! यत्र शृङ्गे पूर्वानुभूतं कम्पोत्तरं कम्पप्रधानं तवोपगूढमुपगूहनं मेघस्तनितश्रवणेन भीरुस्वभावत्वात्त्वया, कृतमालिङ्गनमित्यर्थः । स्मरता मया गुहाविसारीणि घनगर्जितानि कथञ्चिदतिवाहितानि स्मारकत्वेनोद्दीपकत्वात् , क्लेशेन गमितानीत्यर्थः ॥ २८ ॥

हे भीरु ! जिस (महेन्द्र के शिखर) पर पहले अनुभूत (मेघ के भयङ्कर गर्जनेसे डरने के कारण) अधिक कम्पन युक्त तुम्हारे आलिङ्गन को स्मरण करते हुए मैंने गुफाओं (प्रतिध्वनित होनेसे) में बढ़े हुए, मेघ-गर्जनको किसी तरह अर्थात् बड़े कष्टसे बिताया ॥ २८ ॥

आसारसिक्तक्षितिबाष्पयोगान्मामक्षिणोद्यत्र विभिन्नकोशैः ।
विडम्ब्यमाना नवकन्दलैस्ते विवाहधूमारुणलोचनश्रीः ॥ २९ ॥

आसारेति । यत्र शृङ्गे विभिन्नकोशैर्विकसितकुड्मलैर्नवकन्दलैः कन्दलीपुष्पैररुणवर्णैरासारेण धारासम्पातेन । 'धारासम्पात आसारः' इत्यमरः । सिक्तायाः क्षितेर्बाष्पस्य धूमवर्णस्य योगाद्धेतोर्विडम्ब्यमानाऽनुक्रियमाणा ते विवाहधूमेनारुणा लोचनश्रीः सादृश्यात्स्मर्यमाणेति शेषः । मामक्षिणोदपीडयत् ॥ २९ ॥

जिस (मन्दराचलके शिखर) पर खिली हुई कलियोंवाले कन्दली-पुष्पोंने धारापूर्वक वर्षा होनेसे भीगी हुई भूमिसे निकलते हुए भाफके द्वारा अनुकृत, विवाहकालिक (हवनके) धूमसे लाल नेत्रोंकी शोभाने (स्मरण आने पर) मुझे पीडित किया ॥ २९ ॥

उपान्तवानीरवनोपगूढान्यालक्ष्यपारिप्लवसारसानि ।
दूरावतीर्णा पिबतीव खेदादमूनि पम्पासलिलानि दृष्टिः ॥ ३० ॥

उपान्तेति । उपान्तवानीरवनोपगूढानि पार्श्ववञ्जुलवनच्छन्नान्यालक्ष्य ईषद्दृश्याः पारिप्लवाश्चञ्चलाः सारसा येषु तान्यमूनि पम्पासलिलानि पम्पासरोजलानि दूरादवतीर्णा मे दृष्टिरत एव खेदात्पिबतीव, न विहातुमुत्सहत इत्यर्थः ॥ ३० ॥

समीपस्थ वेंतके उपवनोंसे ढके हुए और थोड़ा २ दिखलाई पड़ते हुए सारस पक्षियोंवाले, पम्पासरके जलको दूरसे पड़ती हुई मेरी दृष्टि मानो खेदसे पी रही है । (पम्पासरके जलको दूरसे देखता हुआ मैं उससे दृष्टि हटाना नहीं चाहता) ॥ ३० ॥

अत्रावियुक्तानि रथाङ्गनाम्नामन्योन्यदत्तोत्पलकेसराणि ।
द्वन्द्वानि दूरान्तरवर्तिना ते मया प्रिये सस्पृहमीक्षितानि ॥ ३१ ॥

अत्रेति । अत्र पम्पासरस्यन्योन्यस्मै दत्तोत्पलकेसराण्यवियुक्तानि रथाङ्गनाम्नां द्वन्द्वानि चक्रवाकमिथुनानि ते तव दूरान्तरवर्तिना दूरदेशवर्तिना मया हे प्रिये ! सस्पृहं साभिलाषमीक्षितानि । तदानीं त्वामस्मार्षमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

हे प्रिये ! इस पम्पासर पर परस्परमें एक दूसरेको कमलदेनेवाले, वियोगरहित चकवा-चकइयोंकी जोड़ीको तुमसे दूर रहते हुए मैंने बड़े स्नेहसे देखा था। (उन्हे देखनेसे तुम्हारा स्मरण हो जाता था) ॥ ३१ ॥

इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तवकाभिनम्राम् ।
त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः ॥ ३२ ॥

इमामिति । किञ्च स्तनवदभिरामाभ्यां स्तवकाभ्यामभिनम्रां तन्वीमिमां तटाशोकस्य लतां शाखामतस्त्वत्प्राप्तिबुद्ध्या त्वमेव प्राप्तेति भ्रान्त्या परिरब्धुमालिङ्गितुं कामो यस्य सोऽहं सौमित्रिणा लक्ष्मणेन साश्रुः निषिद्धः नेयं सीतेति निवारितः । परिरब्धुकाम इत्यत्र "तुं काममनसोरपि" इति वचनान्मकारलोपः ॥ ३२ ॥

स्तनके समान मनोहर गुच्छोंसे झुकी हुई और पतली इस तटवर्तिनी अशोकलताको "तुम्हें मैंने पा लिया" इस विचारसे आलिङ्गन करने को इच्छुक तथा रोते हुए मुझको लक्ष्मणने रोका ॥ ३२ ॥

अमूर्विमानान्तरलम्बिनीनां श्रुत्वा स्वनं काञ्चनकिङ्किणीनाम् ।
प्रत्युद्व्रजन्तीव खमुत्पतन्त्यो गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वाम् ॥ ३३ ॥

अमूरिति । विमानस्यान्तरेष्ववकाशेषु लम्बन्ते यास्तासां काञ्चनकिङ्किणीनां स्वनं श्रुत्वा स्वयूथशब्दभ्रमात्खमाकाशमुत्पतन्त्योऽमूर्गोदावरीसारसपङ्क्तयस्त्वां प्रत्युद्व्रजन्तीव ॥ ३३ ॥

विमानमें लगी हुई स्वर्णमयी छोटी २ घंटियों (घुघुरों) के स्वरको सुनकर (अपने झुण्डके भ्रम होनेसे) आकाश की ओर उड़ते हुए ये गोदावरी नदी के सारसोंका झुंड मानो तुम्हारी अगवानी कर रहे हैं ॥ ३३ ॥

एषा त्वया पेशलमध्ययाऽपि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता ।
आनन्दयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे ॥ ३४ ॥

एषेति । पेशलमध्ययाऽपि, भारासहयाऽपीत्यर्थः । त्वया घटाम्बुभिः संवर्धिता बालचूता यस्याः सा, उन्मुखा अस्मदभिमुखास्त्वत्संवर्धिता एव कृष्णसारा यस्याः

सा चिराद् दृष्टैषा पञ्चवटी मे मन आनन्दयत्याह्लादयति । पञ्चवटीशब्दः पूर्वमेव व्याख्यातः ॥ ३४ ॥

कृशोदरी (होनेसे भार ले चलनेमें असमर्थ) होने पर भी तुमने घड़ोंसे सींचकर जहांके आमकी गाँछियों (छोटे २ पौधों) को बढाया है, ऐसी तथा मुझे देखकर सामने आते हुए कृष्णसार मृगोंवाली एवं बहुत दिनोंके बाद देखी गयी भी यह पञ्चवटी मुझे आनंदित कर रही है ॥ ३४ ॥

अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः ।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥ ३५ ॥

अत्रेति । अत्र पञ्चवट्यां गोदा गोदावरी तस्याः समीपेऽनुगोदम् "अनुर्यत्समया" इत्यव्ययीभावः । मृगयाया निवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदो रहो रहसि अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा सन्नहं वानीरगृहेषु सुप्तः स्मरामि । वाक्यार्थः कर्म सुप्त इति यत्तत्स्मरामीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

इस (पञ्चवटी) में गोदावरी नदी के समीप शिकारसे लौटा हुआ, तरङ्गों की (शीतल) वायुसे खेदरहित, वेतोंके कुञ्जोंमें एकान्तमें तुम्हारे अङ्कमें शिरको रखकर सोया हुआ मैं (उसको) स्मरण करता हूं ॥ ३५ ॥

भ्रूभेदमात्रेण पदान्मघोनः प्रभ्रंशयां यो नहुषं चकार ।
तस्याविलाम्भःपरिशुद्धिहेतोर्भौमो मुनेः स्थानपरिग्रहोऽयम् ॥ ३६ ॥

भ्रूभेदेति । यो मुनिर्भ्रूभेदमात्रेण भ्रूभङ्गमात्रेणैव नहुषं राजानं मघोनः पदादिन्द्रत्वात्प्रभ्रंशयाञ्चकार प्रभ्रंशयति स्म । आविलाम्भःपरिशुद्धिहेतोः कलुषजलप्रसादहेतोस्तस्य मुनेरगस्त्यस्य । अगस्त्योदये शरदि जलं प्रसीदतीत्युक्तं प्राक् । भूमौ भवो भौमः स्थानपरिग्रह आश्रमोऽयं दृश्यते इति शेषः । भौम इत्यनेन दिव्योऽप्यस्तीत्युक्तम् । परिगृह्यते इति परिग्रहः । स्थानमेव परिग्रह इति विग्रहः ॥ ३६ ॥

जिस (अगस्त्य मुनि) ने केवल भ्रुकुटि टेढी करनेसे ही नहुषको इन्द्रपद से गिरा दिया, मलिन जल की शुद्धि (निर्मल) होनेके कारणभूत (अगस्त्यके उदय होनेपर अर्थात् शरदृतु में बरसाती मलिन जलका निर्मल होना सर्वानुभवसिद्ध है) उस मुनिका भूमिपर स्थित यह आश्रम है ॥ ३६ ॥

त्रेताऽग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम् ।
घ्रात्वा हविर्गन्धि रजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा ॥ ३७ ॥

त्रेताऽग्नीति । अनिन्द्यकीर्तेस्तस्यागस्त्यस्याक्रान्तविमानमार्गं हविर्गन्धोऽस्यास्तीति हविर्गन्धि त्रेताऽग्निरग्नित्रयम् । 'अग्नित्रयमिदं त्रेता' इत्यमरः । पृषोदरादित्वादेत्व-

म् । त्रेताऽग्नेर्धूमाग्रमिदं घ्रात्वाऽऽघ्राय रजसो गुणाद्विमुक्तो मे ममात्माऽन्तःकरणं लघिमानं लघुत्वगुणं समश्नुते प्राप्नोति ॥ ३७ ॥

प्रशंसनीय यशस्वी, उस (अगस्त्य) मुनिके आकाशमें व्याप्त, हविष्यके गन्धवाले, त्रेताग्नि (प्राजापत्य, आहवनीय और गार्हपत्य अग्नि) के धूमाग्रको सूंघकर रजोगुण रहित मेरा अन्तःकरण लघुताको प्राप्त करता है ॥ ३७ ॥

एतन्मुनेर्मानिनि शातकर्णेः पञ्चाप्सरो नाम विहारवारि ।
आभाति पर्यन्तवनं विदूरान्मेघान्तरालक्ष्यमिवेन्दुबिम्बम् ॥ ३८ ॥

एतदिति । हे मानिनि ! शातकर्णेर्मुनेः सम्बन्धि पञ्चाप्सरो नामप ञ्चाप्सर इति प्रसिद्धम् । पञ्चाप्सरसो यस्मिन्निति विग्रहः । पर्यन्तेषु वनानि यस्य तत्पर्यन्तवनमेतद्विहारवारि क्रीडासरो विदूरात् । मेघानामन्तरे मध्य आलक्ष्यमीषद्दृश्यम् । 'आङीषदर्थेऽभिव्याप्तौ' इत्यमरः । इन्दुबिम्बमिव आभाति ॥ ३८ ॥

हे मानिनि ! 'शातकर्णि' नामक मुनिका समीपस्थवनोंसे युक्त विहारयोग्य जलवाला 'पञ्चाप्सरस' नामक तालाब दूरसे मेघके मध्यमें स्थित कुछ २ दिखाई पड़नेवाले चन्द्रबिम्बके समान शोभित होता है ॥ ३८ ॥

पुरा स दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिश्चरन्मृगैः सार्धमृषिर्मघोना ।
समाधिभीतेन किलोपनीतः पञ्चाप्सरोयौवनकूटबन्धम् ॥ ३९ ॥

पुरेति । पुरा पूर्वस्मिन्काले दर्भाङ्कुरमात्रवृत्तिस्तन्मात्राहारो मृगैः सार्धं सह चरन्स ऋषिः समाधेस्तपसो भीतेन मघोनेन्द्रेण पञ्चानामप्सरसां यौवनम् । "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" इत्यनेनोत्तरपदसमासः । तदेव कूटबन्धं कपटयन्त्रमुपनीतः । 'उन्माथः कूटयन्त्रं स्यात्' इत्यमरः । किलेत्यैतिह्ये । मृगसाहचर्यान्मृगवदेव बद्ध इति भावः ॥ ३९ ॥

पहले केवल कुशाङ्कुरोंसे जीवन यात्रा करनेवाले अर्थात् केवल कुशाङ्कुर खाकर रहनेवाले और मृगोंके साथ चरते हुए उस मुनिको, (उनकी) समाधिसे डरे हुए इन्द्रने पांच अप्सराओं के यौवनरूपी कपट जाल में फँसा दिया (युवती पांच अप्सराओं को भेजकर उन्हें तप से भ्रष्ट कर दिया ॥ ३९ ॥

तस्यायमन्तर्हितसौधभाजः प्रसक्तसङ्गीतमृदङ्गघोषः ।
वियद्गतः पुष्पकचन्द्रशालाः क्षणं प्रतिश्रुन्मुखराः करोति ॥४०॥

तस्येति । अन्तर्हितसौधभाजो जलान्तर्गतप्रासादगतस्य तस्य शातकर्णेरयं प्रसक्तः सन्ततः सङ्गीतमृदङ्गघोषो वियद्गतः सन्पुष्पकस्य चन्द्रशालाः शिरोगृहाणि ।

"चन्द्रशाला शिरोगृहम्' इत्यमरः । क्षणं प्रतिश्रुद्भिः प्रतिध्वानैर्मुखरा ध्वनन्तीः करोति । 'स्त्री प्रतिश्रुत्प्रतिध्वाने' इत्यमरः ॥ ४० ॥

जलके मध्यमें बने हुए महलोंमें निवास करनेवाले उस (शातकर्णि) मुनिका, होते हुए संगीत का मृदङ्गनाद आकाशमें पहुंच कर पुष्पकविमानके चन्द्रभवनों को क्षण भर प्रतिध्वनिसे शब्दायमान कर रहा है ॥ ४० ॥

हविर्भुजामेधवतां चतुर्णां मध्ये ललाटन्तपसप्तसप्तिः ।
असौ तपस्यत्यपरस्तपस्वी नाम्ना सुतीक्ष्णश्चरितेन दान्तः ॥ ४१ ॥

हविरिति । नाम्ना सुतीक्ष्णः सुतीक्ष्णनामा चरितेन दान्तः सौम्योऽसावपरस्तपस्वी एधवतामिन्धनवताम् । 'काष्ठं दार्विन्धनं त्वेधः' इत्यमरः । चतुर्णां हविर्भुजामग्नीनां मध्ये ललाटं तपतीति ललाटन्तपः सूर्यः । "असूर्यललाटयोर्दृशितपोः" इति खश्प्रत्ययः । "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इत्यनेन मुमागमः । ललाटन्तपः सप्तसप्तिः सप्ताश्वः सूर्यो यस्य स तथोक्तः सन् तपस्यति तपश्चरति । "कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः"इति क्यङ् । "तपसः परस्मैपदं च" इति वक्तव्यम् ॥ ४१ ॥

जितेन्द्रिय चरितवाले 'सुतीक्ष्ण' नामक यह दूसरे तपस्वी इन्धन युक्त चार अग्नियोंके मध्यमें ललाटको तप्तकरनेवाले सूर्यसे युक्त होकर तपस्या कर रहे हैं । (पञ्चाग्निमें चारो दिशाओंमें जलती हुई चार अग्नि तक सूर्य रूपपञ्चम अग्नि के मध्यमें स्थित होकर तपस्या करनेका शास्त्रीय विधान है, अत एव माघमें—'तेजस्विमध्ये तेजस्वी दवीयानपि गण्यते । ....पञ्चतपसः पञ्चमस्तपनो यथा" कहा है ॥ ४१ ॥

अमुं सहासप्रहितेक्षणानि व्याजार्धसन्दर्शितमेखलानि ।
नालं विकर्तुं जनितेन्द्रशङ्कं सुराङ्गनाविभ्रमचेष्टितानि ॥ ४२ ॥

अमुमिति । जनितेन्द्रशङ्कं जनिता इन्द्रस्य शङ्का भयं येन तं, तपसेति शेषः । अमुं सुतीक्ष्णं सहासंप्रहितानीक्षणानि दृष्टयो येषु तानि व्याजेन केनचिन्मिषेण । 'पुंस्यर्धोऽर्धं समेंऽशके' इति विश्वः । अर्धमीषत्सन्दर्शिता मेखला काञ्ची येषु तानि सुराङ्गनानामिन्द्रप्रेषितानां विभ्रमा विलासा एव चेष्टितानि विकर्तुं स्खलयितुमलं, समर्थानि न बभूवुरिति शेषः ॥ ४२ ॥

जिसमें हँसते हुए कटाक्ष हैं, ऐसी तथा जिसमें किसी बहानेसे करधनीके आधे भाग दिखाये गये हैं ऐसी, देवाङ्गनाओं की विलास युक्त चेष्टायें, तपस्यासे इन्द्रको भयभीत करने वाले 'सुतीक्ष्ण' मुनि को विकृत (तपोभ्रष्ट) नहीं कर सकीं ॥ ४२ ॥

एषोऽक्षमालावलयं मृगाणां कण्डूयितारं कुशसूचिलावम् ।
सभाजने मे भुजमूर्ध्वबाहुः सव्येतरं प्राध्वमितः प्रयुङ्क्ते ॥ ४३ ॥

एष इति । ऊर्ध्वबाहुरेष सुतीक्ष्णोऽक्षमालैव वलयं यस्य तं मृगाणां कण्डूयितारं कुशा एव सूचयस्ता लुनातीति कुशसूचिलावस्तम् । "कर्मण्यण्" इत्यण् । एभिर्विशेषणैर्जपशीलत्वं भूतदया कर्मठत्वं च द्योत्यते । सव्यादितरं दक्षिणं भुजं मे मम सभाजने सम्माननिमित्ते "निमित्तात्कर्मयोगे" इति सप्तमी । इतः प्राध्वं प्रकृतानुकूलबन्धं प्रयुङ्क्ते प्रेरयति । 'आनुकूल्यार्थकं प्राध्वम्' इत्यमरः । अव्ययं चैतत् ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वबाहु (वाम बाहुको सर्वदा ऊपर ही रखनेवाले) यह (सुतीक्ष्ण) मुनि अक्षमालारूपी वलयवाले, मृगको खुजलानेवाले तथा कुशरूपी सूइयोंको काटनेवाले दाहिने हाथको मेरे सत्कारमें लगा रहे हैं अर्थात् दाहिने हाथसे मेरा सत्कार कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

वाचंयमत्वात्प्रणतिं ममैष कम्पेन किञ्चित्प्रतिगृह्य मूर्ध्नः ।
दृष्टिं विमानव्यवधानमुक्तां पुनः सहस्रार्चिषि सन्निधत्ते ॥ ४४ ॥

वाचंयमत्वादिति । एष सुतीक्ष्णः वाचं यच्छति नियमयतीति वाचंयमो मौनव्रती । "वाचि यमो व्रते" इति खच्प्रत्ययः । "वाचंयमपुरन्दरौ च" इति मुम् । तस्य भावस्तत्त्वान्मम प्रणतिं किञ्चिन्मूर्ध्नः कम्पेन प्रतिगृह्य विमानेन व्यवधानं तिरोधानं तस्मान्मुक्ताम् । "अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः" इत्यनेन पञ्चमीसमासः । दृष्टिं पुनः सहस्रार्चिषि सूर्ये सन्निधत्ते, सम्यङ्निधत्त इत्यर्थः । अन्यथाऽकर्मकत्वप्रसङ्गात् ॥ ४४ ॥

इस (सुतीक्ष्ण) मुनिने मौन होनेके कारण, मेरे प्रणामको मस्तकको कुछ हिलानेसे स्वीकृत कर पुष्पक विमानसे दृष्टिको हटाकर फिर सूर्यमें लगा लिया है ॥ ४४ ॥

अदः शरण्यं शरभङ्गनाम्नस्तपोवनं पावनमाहिताग्नेः ।
चिराय सन्तर्प्य समिद्भिरग्निं यो मन्त्रपूतां तनुमप्यहौषीत् ॥ ४५ ॥

अद इति । शरणे रक्षणे साधु शरण्यं पावयतीति पावनम् । अदो दृश्यमानं तपोवनमाहिताग्नेः शरभङ्गनाम्नो मुनेः सम्बन्धि, यः शरभङ्गश्चिराय चिरमग्निं समिद्भिः सन्तर्प्य तर्पयित्वा ततो मन्त्रैः पूतां शुद्धां तनुमप्यहौषीद्धुतवान् , जुहोतेर्लुङ् ॥

अग्निहोत्र करनेवाले 'शरभङ्ग' मुनिका, शरणागतोंके लिये यह तपोवन है, जिस मुनिने चिरकाल तक समिधाओंसे अग्नि को सन्तुष्ट कर मन्त्रोंसे पवित्र शरीरको भी हवन कर दिया था ॥ ४५ ॥

छायाविनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठसम्भाव्यफलेष्वमीषु ।
तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु ॥ ४६ ॥

छायेति । अधुनाऽस्मिन्काले तस्य शरभङ्गस्य सम्बन्धिन्यतिथीनां सपर्याऽतिथिपूजा । 'पूजा नमस्यापचितिः सपर्यार्चार्हणाः समाः' इत्यमरः । छायाभिर्विनीतोऽप-

नीतोऽध्वपरिश्रमो यैस्तेषु भूयिष्ठानि बहुतमानि सम्भाव्यानि श्लाघ्यानि फलानि येषां तेष्वमीषु पादपेष्वाश्रमवृक्षेषु सुपुत्रेष्विव स्थिता तत्पुत्रैरिव पादपैरनुष्ठीयत इत्यर्थः॥४६॥

इस समय उस (शरभङ्ग) मुनिकी अतिथि–पूजा छायासे मार्ग के परिश्रमको हरनेवाले तथा अत्यन्त मधुरफलोंवाले, सुपुत्रोंके समान इन वृक्षोंमें रह गई है अर्थात् अतिथियोंके आनेपर शरभङ्ग मुनिके सुपुत्रोंके समान ये वृक्ष छाया तथा मधुर फलोंके द्वारा अतिथि—सत्कार करते हैं ॥ ४६ ॥

धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः ।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः ॥ ४७ ॥

धारेति । धारा निर्झरधाराः, यद्वा धारया सातत्येन स्वनोद्गारिदर्येव मुखं यस्य सः शृङ्गं, शिखरं विषाणं च तस्याग्रे लग्नोऽम्बुद एव वप्रपङ्को वप्रक्रीडासक्तपङ्को यस्य सः असौ चित्रकूटो हे बन्धुरगात्रि ! उन्नतानताङ्गि ! 'बन्धुरं तून्नतानतम्' इत्यमरः । दृप्तः ककुद्मान्वृषभ इव मे चक्षुर्बध्नात्यनन्यासक्तं करोति ॥ ४७ ॥

हे मनोहर शरीरवाली सीता ! कन्दराओंके आगेमें झरनोंसे कलकल शब्द युक्त धाराको गिराता हुआ तथा चोटीके ऊपर मेघरूपी वप्रक्रीडाके पङ्कसे युक्त यह चित्रकूट पर्वत कन्दराके समान मुखसे सदा सशब्द धाराको गिराते–हुए और सींगके ऊपरमें मेघके समान वप्रक्रीडा करने (अखाड़ने) में लगे पङ्कवाले मतवाले साँढके समान मेरी दृष्टिको अपनी ओरसे नहीं हटने देता है ॥ ४७ ॥

एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी ।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ॥ ४८ ॥

एषेति । प्रसन्नो निर्मलः स्तिमितो निःस्पन्दः प्रवाहो यस्याः सा विदूरस्यान्तरस्य मध्यवर्त्यवकाशस्य भावात्तन्वी दूरदेशवर्तित्वात्तनुत्वेनावभासमाना मन्दाकिनी नाम काचिच्चित्रकूटनिकटगैषा सरिन्नगोपकण्ठे भूमेः कण्ठगता मुक्तावलीव भाति । अत्र नगस्य शिरस्त्वं तदुपकण्ठस्य कण्ठत्वं च गम्यते ॥ ४८ ॥

निर्मल तथा शान्तप्रवाहवाली, दूर होनेसे पतली दिखाई देती हुई यह मन्दाकिनी नदी पर्वत (चित्रकूट) के समीपमें कण्ठमें लटकती हुई मुक्ता–मालाके समान शोभित हो रही है ॥

अयं सुजातोऽनुगिरं तमालः प्रवालमादाय सुगन्धि यस्य ।
यवाङ्कुरापाण्डुकपोलशोभी मयाऽवतंसः परिकल्पितस्ते ॥ ४९ ॥

अयमिति । गिरः समीपेऽनुगिरम् । "गिरेश्च सेनकस्य" इति समासान्तष्टच्प्रत्ययः । सुजातः स तमालोऽयं दृश्यते यस्य तमालस्य शोभनो गन्धो यस्य तत्सुगन्धि । "गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः" इत्यनेनेकारः समासान्तः । प्रवालं पल्लवमादाय मया

ते यवाङ्कुरवदापाण्डौ कपोले शोभी शोभते यः सोऽवतंसः कर्णालङ्कारः परिकल्पितः ॥

पर्वतके समीपमें यह तमाल (दिखाई दे रहा) है, जिसके सुगन्ध युक्त पल्लवको लेकर मैने यवाङ्कुरके समान पाण्डु कपोलमें शोभायमान तुम्हारा कर्णभूषण बनाया था ॥ ४९ ॥

अनिग्रहत्रासविनीतसत्त्वमपुष्पलिङ्गात्फलबन्धिवृक्षम् ।
वनं तपः साधनमेतदत्रेराविष्कृतोदग्रतरप्रभावम् ॥ ५० ॥

अनिग्रहेति । अनिग्रहत्रासा दण्डभयरहिता अपि विनीताः सत्त्वा जन्तवो यस्मिंस्तत् । अपुष्पलिङ्गात्पुष्परूपनिमित्तं विनैव फलबन्धिनः फलग्राहिणो वृक्षा यस्मिंस्तत् । अत एवाविष्कृतोदग्रतरप्रभावमत्रेर्मुनेस्तपसः साधनं वनमेतत् ॥ ५० ॥

बन्धन तथा मारणके भय नहीं रहनेसे शान्त जन्तुओंवाला, विना फूलके ही फलनेवाले वृक्षोंवाला अत एव प्रभाववाला यह 'अत्रि' मुनिके तपका साधनभूत वन अर्थात् तपोवन है ॥

अत्राभिषेकाय तपोधनानां सप्तर्षिहस्तोद्धृतहेमपद्माम् ।
प्रवर्तयामास किलानुसूया त्रिस्रोतसं त्र्यम्बकमौलिमालाम् ॥ ५१ ॥

अत्रेति । अत्र वनेऽनुसूयात्रिपत्नी सप्त च ऋषयश्च सप्तर्षयः । "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" इति तत्पुरुषसमासः । तेषां हस्तैरुद्धृतानि हेमपद्मानि यस्यास्तां त्र्यम्बकमौलिमालां हरशिरःस्रजं त्रिस्रोतसं भागीरथीं तपोधनानामृषीणामभिषेकाय स्नानाय प्रवर्तयामास प्रवाहयामास । किलेत्यैतिह्ये ॥ ५१ ॥

इस तपोवनमें अनुसूया ('अत्रि' मुनिकी पत्नी) ने सप्तर्षियोंके हाथसे तोड़े गये हैं सुवर्ण कमल जिसके ऐसी तथा शिवजीके मस्तक की माला रूप गङ्गाको मुनियोंके स्नानके लिये प्रवाहित कराया है ॥ ५१ ॥

वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः ।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढा इव शाखिनोऽपि ॥५२॥

वीरासनैरिति । वीरासनैर्जयसाधनैः ध्यानं जुषन्ते सेवन्त इति ध्यानजुषः, समाधिसेविन इत्यर्थः । तेषां तैरुपविश्य ध्यायतामृषीणां सम्बन्धिनः समध्यासितवेदिमध्याः इदं वीरासनस्थानीयम् । अमी शाखिनोऽपि निवाते निष्कम्पतया योगाधिरूढा इव ध्यानभाज इव विभान्ति ध्यायन्तोऽपि निश्चलाङ्गा भवन्ति । वीरासने वसिष्ठः— "एकपादमथैकस्मिन्विन्यस्योरुणि संस्थितम् । इतरस्मिंस्तथा चान्यं वीरासनमुदाहृतम् ॥" इति ॥ ५२ ॥

वीरासनसे (बैठकर) ध्यान करनेवाले ऋषियोंके, वेदिमध्यमें स्थित ये वृक्ष भी वायुके अभावसे स्थिर होनेके कारण ध्यान करते हुएके समान शोभते हैं ॥ ५२ ॥

त्वया पुरस्तादुपयाचितो यः सोऽयं वटः श्याम इति प्रतीतः ।
राशिर्मणीनामिव गारुडानां सपद्मरागः फलितो विभाति ॥ ५३ ॥

त्वयेति । त्वया पुरस्तात्पूर्वं य उपयाचितः प्रार्थितः । तथा च रामायणे— "न्यग्रोधं तमुपस्थाय वैदेही वाक्यमब्रवीत् । नमस्तेऽस्तु महावृक्ष पालयेन्मे व्रतं पतिः ॥" इति । श्याम इति प्रतीतः स वटोऽयं फलितः सन् । सपद्मरागो गारुडानां मणीनां मरकतानां राशिरिव विभाति ॥ ५३ ॥

तुमने पहले जिसकी प्रार्थना की थी, वह 'श्याम' नामसे प्रसिद्ध यह वट अर्थात् 'श्यामवट' पद्मराग मणियोंके सहित गारुत्मक (विल्लौर) मणियोंकी ढेरके समान शोभता है ॥

'क्वचित्—'इत्यादिभिश्चतुर्भिः श्लोकैः प्रयागे गङ्गायमुनासङ्गमं वर्णयति—

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा ।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव ॥ ५४ ॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः ।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव ॥ ५५ ॥
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव ।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा ॥ ५६ ॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥ ५७ ॥

क्वचिदित्यादि । हे अनवद्याङ्गि ! यमुनातरङ्गैर्भिन्नप्रवाहा व्यामिश्रौघा गङ्गा जाह्नवी विभाति । त्वं पश्य । केव, क्वचित्प्रदेशे प्रभया लिम्पन्ति सन्निहितमिति प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैरनुविद्धा सह गुम्फिता मुक्तामयी यष्टिरिव हारावलिरिव विभाति । अन्यत्र प्रदेशे इन्दीवरैर्नीलोत्पलैरुत्खचितान्तरा सह ग्रथिता सितपङ्कजानां पुण्डरीकाणां मालेव विभातीति सर्वत्र सम्बन्धः । क्वचित्कादम्बसंसर्गवती नीलहंससंसृष्टा प्रियं मानसं नाम सरो येषां तेषां खगानां राजहंसानां पङ्क्तिरिव । 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः' इत्यमरः । अन्यत्र कालागुरुणा दत्तपत्रा रचितमकरिकापत्रा भुवश्चन्दनकल्पिता भक्तिरिव क्वचिच्छायासु विलीनैः स्थितैस्तमोभिः शबलीकृता कर्बुरीकृता चान्द्रमसी प्रभा चन्द्रिकेव । अन्यत्र रन्ध्रेष्वालक्ष्यनभःप्रदेशा शुभ्रा शरदभ्रलेखा शरन्मेघपङ्क्तिरिव क्वचित्कृष्णोरगभूषणा भस्माङ्गरागेश्वरस्य तनुरिव विभाति । शेषो व्याख्यातः । कलापकम् ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

कलापक

हे अनिन्दित शरीरवाली (सीता) ! कान्तिसे (समीपस्थ वस्तुओंको) लिप्त करते हुए

इन्द्रनील मणियोंसे जड़ी गयी मोतीकी छड़ीके समान, दूसरी ओर नील कमलोंसे मध्य २ में व्याप्त श्वेत कमलोंकी मालाके समान, नीलहंसोंसे युक्त श्वेत हंसपक्षियोंकी पङ्क्तिके समान, दूसरी ओर कालागुरुकी मकरिका (मकराकार रचना-विशेष) चन्दन से बनाई हुई पृथ्वी की रचनाके समान, कहीं पर (वृक्ष आदिको) छायामें पड़ती हुई कर्बुरित चाँदनीके समान दूसरी ओर छिद्रोंमें (मेघसे शून्य भागमें कहीं २ दिखलाई पड़ रहा है आकाश-प्रदेश जिसके ऐसी शरद् ऋतुके मेघ-लेखाके समान, कृष्णसर्पसे अलङ्कृत भस्मको लगाये हुए शिवजीके शरीरके समान, यमुनाके तरङ्गोंसे भिन्नप्रवाहवाली गङ्गा शोभित हो रही है ५४-५७

समुद्रपत्न्योर्जलसन्निपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात् ।
तत्त्वावबोधेन विनाऽपि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः ॥ ५८ ॥

समुद्रेति । अत्र समुद्रपत्न्योर्गङ्गायमुनयोर्जलसन्निपाते सङ्गमेऽभिषेकात्स्नानात् पूतात्मनां शुद्धात्मनां पुंसां तत्त्वावबोधेन तत्त्वज्ञानेन विनाऽपि तनुत्यजां प्रारब्धशरीरत्यागानन्तरं भूयः पुनः शरीरबन्धः शरीरयोगो नास्ति किल । अन्यत्र ज्ञानादेव मुक्तिः । अत्र तु स्नानादेव मुक्तिरित्यर्थः ॥ ५८ ॥

यहां दोनो नदियों (गङ्गा-यमुनाके) सङ्गममें स्नान करनेसे पवित्र आत्मावालोंको ज्ञान प्राप्तिके विना भी मरने पर फिर शरीर धारण नहीं होता है अर्थात् वे केवल यहां स्नानमात्रसे ही मुक्तिको पाते हैं ॥ ५८ ॥

पुरं निषादाधिपतेरिदं तद्यस्मिन्मया मौलिमणिं विहाय ।
जटासु बद्धास्वरुदत्सुमन्त्रः कैकेयि कामाः फलितास्तवेति ॥ ५९ ॥

पुरमिति । निषादाधिपतेर्गुहस्य तत्पुरमिदम् । यस्मिन्पुरे मया मौलिमणिं विहाय जटासु बद्धासु रचितासु सतीषु सुमन्त्रः । 'हे कैकेयि ! तव कामा मनोरथाः फलिताः सफला जाताः' इत्यरुदत् । "रुदिर् अश्रुविमोचने" इति धातोर्लुङ् ॥ ५९ ॥

यह निषादराज ('गुह') का नगर ('शृङ्गवेरपुर') है, जहां पर मेरे मुकुटमणिको छोड़कर जटाके बांधने पर 'हे कैकेयि ! तुम्हारे मनोरथ सफल हुए' ऐसे (कहकर) सुमन्त रोये थे ॥ ५९ ॥

पयोधरैः पुण्यजनाङ्गनानां निर्विष्टहेमाम्बुजरेणु यस्याः ।
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति ॥ ६० ॥

पयोधरैरिति । पुण्यजनाङ्गनानां यक्षस्त्रीणां पयोधरैः स्तनैर्निर्विष्ट उपभुक्तो हेमाम्बुजरेणुर्यस्य तत् । तत्र ताः क्रीडन्तीति व्यज्यते । ब्रह्मण इदं ब्राह्मणम् । "नस्तद्धिते" इति टिलोपः । ब्राह्मं सरो मानसाख्यं यस्याः सरय्वाः बुद्धेर्महत्तत्वस्याव्यक्तं प्रधानमिव कारणम् आप्तस्य वाच आप्तवाचो वेदाः । यद्वा बहुव्रीहिणा मुनयः उदाहरन्ति प्रवदन्ते ॥ ६० ॥

यक्ष-स्त्रियां जिसके स्वर्णकमलोंके परागको स्तनोंमें लगाती हैं ऐसे मानससरोवरको जिस (सरयु नदी) का, बुद्धि (महत्तत्व) के अव्यक्त (प्रधान) के समान, कारण आप्तवाक् अर्थात् आप्तोंका वचन वेद या आप्तवचनवाले मुनि लोग कहते हैं। (वेद या मुनि लोग जिस सरयु नदीको मानससरोवरसे निकली बतलाते हैं)—॥ ६० ॥

जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनु राजधानीम् ।
तुरङ्गमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि ॥ ६१ ॥

जलानीति । यूपः संस्कृतः पशुबन्धनार्हो दारुविशेषः । तीरनिखातयूपा या सरयूस्तुरङ्गमेधा अश्वमेधास्तेष्ववभृथार्थमेवावतीर्णैरवरूढैरिक्ष्वाकुभिरिक्ष्वाकुगोत्रापत्यैर्नृपैः । तद्राजत्वादणो लुक् । पुण्यतरीकृतान्यतिशयेन पुण्यानि कृतानि जलान्ययोध्यां राजधानीं नगरीमनुसमीपे तया लक्षितयेत्यर्थः । अनुशब्दस्य "लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः" इत्यनेन कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया । वहति प्रापयति ॥ ६१ ॥

तीरमें गाड़े गये यूप (यज्ञ-पशु बाँधनेके लिये मन्त्रोंसे संस्कृत स्तम्भ-विशेष) वाली जो (सरयु नदी) अश्वमेध यज्ञके अवभृथ (यज्ञका समाप्ति-सूचक अन्तिम स्नान-विशेष) के लिये उतरे (प्रवेश किये) हुए इक्ष्वाकुवंशके राजाओंसे अधिक पवित्र जलको अयोध्या-समीपमें धारण करती प्राप्त कराती ॥ ६१ ॥

यां सैकतोत्सङ्गसुखोचितानां प्राज्यैः पयोभिः परिवर्धितानाम् ।
सामान्यधात्रीमिव मानसं मे सम्भावयत्युत्तरकोसलानाम् ॥ ६२ ॥

यामिति । यां सरयूं मे मानसं कर्तृ सैकतं पुलिनं तदेवोत्सङ्गः तत्र यत्सुखं तत्रोचितानां प्राज्यैः प्रभूतैः पयोभिरम्बुभिः क्षीरैश्च । 'पयः क्षीरं पयोऽम्बु च' इत्यमरः परिवर्धितानां पुष्टानामुत्तरकोसलानामुत्तरकोसलेश्वराणां सामान्यधात्रीं साधारणमातरमिव सम्भावयति । 'धात्री जनन्यामलकीवसुमत्युपमातृषु' इति विश्वः ॥ ६२ ॥

जिस (सरयू नदी) को मेरा चित्त तट रूप गोदमें (मातृपक्षमें—तटके समान गोदमें) सुखके योग्य तथा पर्याप्त जलसे (मातृपक्षमें-दूधसे) बढाये तथा परिपुष्ट किये गये उत्तर-कोशलके राजाओंकी सामान्य धात्री (सर्व-साधारण माता) के समान सत्कृत करता है ॥६२॥

सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता ।
दूरे वसन्तं शिशिरानिलैर्मां तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव ॥ ६३ ॥

सेयमिति । मदीया जननी कौसल्येव मान्येन पूज्येन तेन राज्ञा दशरथेन वियुक्ता सेयं सरयूर्दूरे वसन्तम् , प्रोष्यागच्छन्तमित्यर्थः । मां पुत्रभूतं शिशिरानिलैस्तरैङ्गरेव हस्तैरुपगूहतीवालिङ्गतीव ॥ ६३ ॥

पूज्य उस राजा (दशरथजी) के द्वारा छोड़ी गई मेरी माता (कौसल्या) के समान वह यह सरयू नदी दूर स्थित (परदेशमें निवास करते हुए) मुझको ठण्ढी हवावाले तरङ्ग रूप हाथोंसे (मातृपक्षमें—तरङ्गोंके समान हाथोंसे) आलिङ्गित कर रही है ॥ ६३ ॥

विरक्तसन्ध्याकपिशं पुरस्ताद्यतो रजः पार्थिवमुज्जिहीते ।
शङ्के हनूमत्कथितप्रवृत्तिः प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः ॥ ६४ ॥

विरक्तेति । विरक्ताऽतिरक्ता या सन्ध्या तद्वत्कपिशं ताम्रवर्णम् । पृथिव्या इदं पार्थिवम् । रजो धूलिः पुरस्तादग्रे यतो यस्मात्कारणादुज्जिहीत उद्गच्छति । तस्मात् हनुरस्यास्तीति हनूमान् । "शरादीनां च" इति दीर्घः । तेन कथिता प्रवृत्तिरस्मदागमनवार्ता यस्मै स भरतः ससैन्यः सन्मां प्रत्युद्गत इति शङ्के तर्कयामि । 'शङ्का भयवितर्कयोः' इति शब्दार्णवे । अत्र यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तच्छब्दलाभः ॥ ६४ ॥

जिस कारण आगे अत्यन्त लाल वर्ण सन्धाकालके समान कपिश वर्ण पृथ्वीकी धूलि उठ रही है, (अतः) हनुमानके कहनेसे मेरे समाचारको मालूमकर भरत सेनाके साथ मेरी अगवानीको आगये हैं ऐसा समझता हूं ॥ ६४ ॥

अद्धा श्रियं पालितसङ्गराय प्रत्यर्पयिष्यत्यनघां स साधुः ।
हत्वा निवृत्ताय मृधे खरादीन्संरक्षितां त्वामिव लक्ष्मणो मे ॥ ६५ ॥

अद्धेति । किञ्च साधुः सज्जनः स भरतः । 'साधुर्वार्धुषिके चारौ सज्जने चाभिधेयवत्' इति विश्वः । पालितसङ्गराय पालितपितृप्रतिज्ञाय मे मह्यमनघामदोषां भोगाभावादनुच्छिष्टां किन्तु संरक्षितां श्रियम् । मृधे युद्धे खरादीन्हत्वा निवृत्ताय मे लक्ष्मणः संरक्षितामनघां त्वामिव प्रत्यर्पयिष्यत्यद्धा सत्यम् । 'तत्त्वे त्वद्धाऽञ्जसा द्वयम्' इत्यमरः ॥ ६५ ॥

सज्जन वह (भरत पित्रा ज्ञापालन रूप) प्रतिज्ञाको पूरा किये हुए मेरे लिये (स्वयं भोग न करके रक्षाकरनेसे) निर्दोष लक्ष्मीको वस्तुतः उस प्रकार समर्पण करेंगे, जिस प्रकार युद्धमें खर आदि राक्षसोंको मारकर लौटे हुए मेरे लिये सज्जन लक्ष्मण ने निर्दोष एवं सुरक्षित तुमको सौंपा था ॥

असौ पुरस्कृत्य गुरुं पदातिः पश्चादवस्थापितवाहिनीकः ।
वृद्धैरमात्यैः सह चीरवासा मामर्घ्यपाणिर्भरतोऽभ्युपैति ॥ ६६ ॥

असाविति । असौ पदातिः पादाभ्यामतीति पदातिः पादचारी चीरवासा वल्कलवसनो भरतः पश्चात्पृष्ठभागेऽवस्थापिता वाहिनी सेना येन स तथोक्तः सन् । "नद्यृतश्च" इति कप् । गुरुं वसिष्ठं पुरस्कृत्य वृद्धैरमात्यैः सहार्घ्यपाणिः सन्मामभ्युपैति ॥ ६६ ॥

पैदल तथा वल्कल पहने हुए यह भरत सेनाको पीछे कर तथा गुरु (वसिष्ठ मुनि) को आगेकर वृद्ध मन्त्रियोंके साथ हाथमें अर्घ्य लिये हुए मेरे सन्मुख आरहे हैं ॥ ६६ ॥

पित्रा विसृष्टां मदपेक्षया यः श्रियं युवाऽप्यङ्कगतामभोक्ता ।
इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्रमभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम् ॥ ६७ ॥

पित्रेति । यो भरतः पित्रा विसृष्टां दत्तामङ्कमुत्सङ्गं च गतामपि यां श्रियं युवाऽपि मदपेक्षया मद्भक्त्याऽभोक्ता सन् । तृन्नन्तत्वात् "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इति षष्ठीनिषेधः । इयन्ति वर्षाण्येतावतो वत्सरान् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । तया श्रिया सह स्त्रियेति च गम्यते । उग्रं दुश्चरमासिधारं नाम व्रतमभ्यस्यतीव वर्तयतीव । 'युवा युवत्या सार्धं यन्मुग्धभर्तृवदाचरेत् । अन्तर्निवृत्तसङ्गः स्यादासिधारव्रतं हि तत् ॥' इति यादवः । इदं चासिधाराचङ्क्रमणतुल्यत्वादासिधारव्रतमित्युक्तम् ॥ ६७ ॥

जो भरत पिताजीके द्वारा दी हुई तथा अङ्कमें आई हुई लक्ष्मीको मेरी अपेक्षा (मेरी भक्ति) के कारण युवा होकर भी नहीं भोग करते हुए इतने दिन (चौदह) वर्षोंतक उस श्री (पक्षमें स्त्री) के साथ मानों कठिन 'आसिधार व्रत' (तलवार की धारपर चलनेके समान अतिकष्टसाध्य व्रत) का अभ्यास कर रहे हैं ॥ ६७ ॥

एतावदुक्तवति दाशरथौ तदीयामिच्छां विमानमधिदेवतया विदित्वा ।
ज्योतिष्पथादवततार सविस्मयाभिरुद्वीक्षित प्रकृतिभिर्भरतानुगाभिः ॥६८॥

एतावदिति । दाशरथौ राम एतावदुक्तवति सति विमानं पुष्पकं कर्तृ, तदीयां रामसम्बन्धिनीमिच्छामधिदेवतया मिषेण विदित्वा, तत्प्रेरितं सदित्यर्थः । सविस्मयाभिर्भरतानुगाभिः प्रकृतिभिः प्रजाभिरुद्वीक्षितम् ऊर्ध्वदृष्टं सज्ज्योतिष्पथादाकाशादवततार ॥ ६८ ॥

रामके ऐसा (श्लो० —६७) कहने पर उनकी इच्छाको अधिदेवतासे मालूम कर आश्चर्यित तथा भरतके पीछे चलनेवाली प्रजाओंसे देखा गया वह पुष्पकविमान आकाश से (भूमिपर) उतरा ॥ ६८ ॥

तस्मात्पुरःसरविभीषणदर्शितेन सेवाविचक्षणहरीश्वरदत्तहस्तः ।
यानादवातरददूरमहीतलेन मार्गेण भङ्गिरचितस्फटिकेन रामः ॥ ६९ ॥

तस्मादिति । रामः सेवायां विचक्षणः कुशली हरीश्वरः सुग्रीवस्तेन दत्तो हस्तो हस्तावलम्बो यस्य तादृशः सन् । स्थलज्ञत्वात्पुरःसरो विभीषणस्तेन दर्शितेनादूरमासन्नं महीतलं यस्य तेन भङ्गिभिर्विच्छित्तिभी रचितस्फटिकेन बद्धस्फटिकेन सोपानपर्वणा मार्गेण तस्माद्यानात्पुष्पकादवातरदवतीर्णवान् । तरतेर्लङ् ॥ ६९ ॥

राम सेवाचतुर वानरपति (सुग्रीव) के हाथ कर का अवलम्बन कर आगे चलनेवाले

विभीषणसे प्रदर्शित तथा समीपवर्ती भूमिवाले (भूमिसे थोड़ा ऊँचा), तथा स्फटिक मणि की रचनावाले (सीढ़ी के) मार्गसे उस पुष्पक विमान पर से उतरे ॥ ६७ ॥

इक्ष्वाकुवंशगुरवे प्रयतः प्रणम्य स भ्रातरं भरतमर्घ्यपरिग्रहान्ते ।
पर्यश्रुरस्वजत मूर्धनि चोपजघ्रौ तद्भक्त्यपोढपितृराज्यमहाभिषेके ॥ ७० ॥

इक्ष्वाकिति । प्रयतः स राम इक्ष्वाकुवंशगुरवे वसिष्ठाय प्रणम्य नमस्कृत्यार्घ्यस्य परिग्रहः स्वीकारस्तस्यान्ते पर्यश्रुः परिगतानन्दबाष्पः सन् भ्रातरं भरतमस्वजताऽऽलिङ्गत् । तस्मिन्रामे भक्त्यापोढः परिहृतः पितृराज्यमहाभिषेको येन तस्मिन्मूर्धन्युपजघ्रौ च । "घ्रा गन्धोपादाने" लिटि रूपम् ॥ ७० ॥

पवित्रात्मा राम इक्ष्वाकु वंशके गुरु (वसिष्ठ मुनि) को प्रणाम कर अर्घ्य ग्रहण करनेके बाद में भाई भरतको (आनन्दके कारण) अश्रुयुक्त होते हुए आलिङ्गन किया और उन (राम) में भक्तिसे पिता (दशरथ) के दिये हुए राज्याभिषेकका त्याग करनेवाले मस्तकको सूंघा । (छोटे भाईके मस्तकका सूंघना या चूमना शास्त्रोंमें वत्सलता का लक्षण माना गया है)॥

श्मश्रुप्रवृद्धिजनिताननविक्रियांश्च प्लक्षान्प्ररोहजटिलानिव मन्त्रिवृद्धान् ।
अन्वग्रहीत्प्रणमतः शुभदृष्टिपातैर्वार्तानुयोगमधुराक्षरया च वाचा ॥ ७१ ॥

श्मश्रिवति । श्मश्रूणां मुखरोम्णां प्रवृद्धया संस्काराभावादभिवृद्धया जनिताननेषु विक्रिया विकृतिर्येषां तानत एव प्ररोहैः शाखाऽवलम्बिभिरधोमुखैर्मूलैर्जटिलाञ्जटावतः प्लक्षान्न्यग्रोधानिव स्थितान् । प्रणमतो मन्त्रिवृद्धांश्च शुभैः कृपार्द्रैर्दृष्टिपातैरवलोकनैर्वार्तयानुयोगेन कुशलप्रश्नेन मधुराक्षरया वाचा चान्वग्रहीदनुगृहीतवान् ॥ ७१ ॥

दाढ़ी–मूंछ बढनेसे विकृत (संस्कारहीन होनेसे शोभा रहित) मुखवाले बरोहोंसे जटिल बड़ वृक्षोंके समान स्थित, प्रणाम करते हुए वृद्धमन्त्रियोंको स्नेह पूर्वक देखनेसे कुशल प्रश्न युक्त मधुर वचनोंसे (उस रामने) अनुगृहीत किया ॥ ७१ ॥

दुर्जातबन्धुरयमृक्षहरीश्वरो मे पौलस्त्य एष समरेषु पुरः प्रहर्ता ।
इत्यादृतेन कथितौ रघुनन्दनेन व्युत्क्रम्य लक्ष्मणमुभौ भरतो ववन्दे ॥ ७२ ॥

दुर्जातेति । अयं मे दुर्जातबन्धुरापद्बन्धुः । 'दुर्जातं व्यसनं प्रोक्तम्' इति विश्वः । ऋक्षहरीश्वरः सुग्रीवः । एष समरेषु पुरः प्रहर्ता पौलस्त्यो विभीषण । इत्यादृतेनादरवता । कर्तरि क्तः । रघूणां नन्दनेन रामेण कथितावुभौ विभीषणसुग्रीवौ लक्ष्मणमनुजमपि व्युत्क्रम्यालिङ्गनादिभिरसम्भाव्य भरतो ववन्दे ॥ ७२ ॥

"ये मेरे दुखके बन्धु तथा भालुओं और वानरोंके राजा सुग्रीव हैं, एवं युद्धमें आगे (बढ़कर शत्रुओं पर) प्रहार करनेवाले ये पुलस्त्य–सन्तान अर्थात् विभीषण हैं" इस प्रकार

रामके द्वारा बतलाये गये उन दोनों (सुग्रीव और विभीषण) को भरतने लक्ष्मणको छोड़कर (लक्ष्मणका आलिङ्गन आदिसे सत्कार करनेके पहले) प्रणाम किया ॥ ७२ ॥

सौमित्रिणा तदनु संससृजे स चैनमुत्थाप्य नम्रशिरसं भृशमालिलिङ्ग ।
रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणकर्कशेन क्लिश्यन्निवास्य भुजमध्यमुरःस्थलेन ॥७३॥

सौमित्रिणेति । तदनु सुग्रीवादिवन्दनानन्तरं स भरतः सौमित्रिणा संससृजे सङ्गतः । "सृज विसर्गे" दैवादिकात्कर्तरि लिट् । नम्रशिरसं प्रणतमेनं सौमित्रिमुत्थाप्य भृशं गाढमालिलिङ्ग च । किं कुर्वन् । रूढेन्द्रजित्प्रहरणव्रणैः कर्कशेनास्य सौमित्रेरुरःस्थलेन भुजमध्यं स्वकीयं क्लिश्यन्निव पीडयन्निव क्लिश्नातिरयं सकर्मकः । 'क्लिश्नाति भुवनत्रयम्' इति दर्शनात् । ननु रामायणे—"ततो लक्ष्मणमासाद्य वैदेहीं च परन्तपः । अभिवाद्य ततः प्रीतो भरतो नाम चाब्रवीत् ॥" इति भरतस्य कानिष्ठ्यं प्रतीयते, किमर्थं ज्यैष्ठ्यमवलम्ब्यानार्जवेन श्लोको व्याख्यातः ? सत्यम् । किन्तु रामायणश्लोकार्थष्टीकाकृतोक्तः श्रूयताम् । "ततो लक्ष्मणमासाद्य—" इत्यादिश्लोक आसादनं लक्ष्मणवैदेह्योः अभिवादनं तु वैदेह्या एव अन्यथा पूर्वोक्तं भरतस्य ज्यैष्ठ्यं विरुध्येतेति ॥ ७३ ॥

उसके बाद वह (भरत) लक्ष्मणसे मिले—प्रणाम कर नम्रमस्तक इस (लक्ष्मण) को उठाकर इन्द्रजित् (रावणपुत्र मेघनाद) के घावोंसे कठोर इस लक्ष्मण कि छातीसे मानों भुजमध्य (अपनी छाती) को पीडित करते हुए आलिङ्गन किया । (लक्ष्मणकी छातीको मेघनादके प्रहारके व्रणोंसे चिह्नित देखकर भरतको हार्दिक कष्ट हुआ) ॥ ७३ ॥

रामाज्ञया हरिचमूपतयस्तदानीं कृत्वा मनुष्यवपुरारुरुहुर्गजेन्द्रान् ।
तेषु क्षरत्सु बहुधा मदवारिधाराः शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरे ते ॥

रामेति । तदानीं हरिचमूपतयो रामाज्ञया मनुष्यवपुः कृत्वा गजेन्द्रानारुरुहुः । बहुधा मदवारिधाराः क्षरत्सु वर्षत्सु तेषु गजेन्द्रेषु ते कपियूथनाथाः शैलाधिरोहणसुखान्युपलेभिरेऽनुबभूवुः ॥ ७४ ॥

उस समय वानर सेनापति राम की आज्ञासे मनुष्यके शरीरको धारण कर गजराजों पर चढ़ गये । अत्यधिक मद-धाराको गिराते हुए उन हाथियों पर उन वानर-सेना पतियोंने (झरनोंसे पानी गिराते हुए) पहाड़ों पर चढ़नेका सुख प्राप्त किया ॥ ७४ ॥

सानुप्लवः प्रभुरपि क्षणदाचराणां भेजे रथान्दशरथप्रभवानुशिष्टः ।
मायाविकल्परचितैरपि ये तदीयैर्न स्यन्दनैस्तुलितकृत्रिमभक्तिशोभाः ॥

सानुप्लव इति । सानुप्लवः सानुगः । 'अभिसारस्त्वनुसरः सहायोऽनुप्लवोऽनुगः' इति यादवः । क्षणदाचराणां रक्षसां प्रभुर्विभीषणोऽपि प्रभवत्यस्मादिति

प्रभवो जनको दशरथः प्रभवो यस्य स दशरथप्रभवो रामः तेनानुशिष्ट आज्ञप्तः सन् रथान् भेजे । तानेव विशिनष्टि—ये रथा मायाविकल्पर्चितैः सङ्कल्पविशेषनिर्मितैरपि तदीयैर्विभीषणीयैः स्यन्दनैः रथैस्तुलितकृत्रिमभक्तिशोभास्तुलिता समीकृता कृत्रिमा क्रियया निर्वृत्ता भक्तीनां शोभा येषां ते तथोक्ता न भवन्ति । तेऽपि तत्साम्यं न लभन्त इत्यर्थः । कृत्रिमेत्यत्र "ड्वितः क्त्रिः" इति क्त्रिप्रत्ययः । "क्त्रेर्मम्नित्यम्" इति ममागमः ॥ ७५ ॥

दशरथ-नन्दन (राम) की आज्ञा पाये हुए निशाचरराज (विभीषण) भी अनुगामियों के साथ उन रथोंपुर सवार हुए, जो माया की कल्पनासे बनाये गये उन (राक्षसों) के रथोंसे बराबर की गयी बनावटी शोभावाले नहीं हुए ॥ ७५ ॥

भूयस्ततो रघुपतिर्विलसत्पताक-
मध्यास्त कामगति सावरजो विमानम् ।
दोषातनं बुधबृहस्पतियोगदृश्य-
स्तारापतिस्तरलविद्युदिवाभ्रवृन्दम् ॥ ७६ ॥

भूय इति । ततो रघुपतिः सावरजो भरतलक्ष्मणसहितः सन् विलसत्पताकं कामेनेच्छाऽनुसारेण गतिः यस्य तद्विमानं भूयः पुनरपि । बुधबृहस्पतिभ्यां योगेन दृश्यो दर्शनीयस्तारापतिश्चन्द्रो दोषाभवं दोषातनम् । "सायंचिरम्प्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च" इत्यनेन दोषाशब्दादव्ययाट्ट्युप्रत्ययः । तरलविद्युच्चलत्तडिदभ्रवृन्दमिव अध्यास्ताधिष्ठितवान् ॥ ७६ ॥

उसके बाद अनुजों (भरत तथा लक्ष्मण) के सहित राम पताकासे शोभायमान और इच्छानुसार गमन करनेवाले पुष्पक विमान पर फिर उस प्रकार सवार हुए, जिस प्रकार बुध तथा बृहस्पतिके संगसे दर्शनीय चन्द्रमा रातमें चञ्चल विजुली युक्त मेघ-समूह पर सवार होता (गमन करता) है ॥ ७६ ॥

तत्रेश्वरेण जगतां प्रलयादिवोर्वीं वर्षात्ययेन रुचमभ्रघनादिवेन्दोः ।
रामेण मैथिलसुतां दशकण्ठकृच्छ्रात्प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं भरतो ववन्दे ॥

तत्रेति । तत्र विमाने । जगतामीश्वरेणादिवराहेण प्रलयादुर्वीमिव वर्षाऽत्ययेन शरदागमेनाभ्रघनान्मेघसङ्घातादिन्दो रुचं चन्द्रिकामिव । रामेण दशकण्ठ एव कृच्छ्रं सङ्कटं तस्मात्प्रत्युद्धृतां धृतिमतीं सन्तोषवतीं मैथिलसुतां सीतां भरतो ववन्दे ॥ ७७ ॥

उस विमानके ऊपर, जगत्पति (वराह भगवान्) के द्वारा प्रलयसे बचाई गई पृथ्वीके समान तथा शरदृतुके द्वारा मेघ समूहसे बचाई गई चन्द्रच्छविके समान रामके द्वारा रावणके कष्टसे बचाई गई धैर्य धारिणी सीताको भरतने प्रणाम किया ॥ ७७ ॥

लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रतं तद्वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः ।
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शिरोऽस्य साधोरन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य ॥

लङ्केश्वरेति । लङ्केश्वरस्य रावणस्य प्रणतीनां भङ्गेन निरासेन दृढव्रतमखण्डितपातिव्रत्यमत एव वन्द्यं तज्जनकात्मजायाश्चरणयोर्युगं ज्येष्ठानुवृत्त्या जटिलं जटायुक्तं साधोः सज्जनस्यास्य भरतस्य शिरश्चेत्युभयं समेत्य मिलित्वाऽन्योन्यस्य पावनं शोधकमभूत् ॥ ७८ ॥

लङ्केश्वर (रावण) के प्रणामों को भङ्ग करनेसे (रावणकी प्रार्थना ठुकरा देनेसे) दृढ व्रतवाला (अत एव) वन्दनीय, उस जनकनन्दिनी (सीता) का वह चरण युगल और बड़े (भाई राम) के अनुवृत्ति करनेवाला जटायुक्त महात्मा इस भरतका मस्तक—ये दोनों मिलकर परस्परको पवित्र करनेवाले हुए ॥ ७८ ॥

क्रोशार्धं प्रकृतिपुरःसरेण गत्वा काकुत्स्थः स्तिमितजवेन पुष्पकेण ।
शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः साकेतोपवनमुदारमध्युवास ॥ ७९ ॥

क्रोशार्द्धमिति । आर्यः पूज्यः काकुत्स्थो रामः प्रकृतयः प्रजाः पुरः सर्यो यस्य तेन स्तिमितजवेन मन्दवेगेन पुष्पकेण । क्रोशोऽध्वपरिमाणविशेषः । क्रोशार्धं क्रोशैकदेशं गत्वा शत्रुघ्नेन प्रतिविहिताः सज्जिता उपकार्याः पटभवनानि यस्मिंस्तदुदारं महत्साकेतस्यायोध्याया उपवनमध्युवासाधितष्ठौ । 'साकेतः स्यादयोध्यायां कोसलानन्दिनी तथा' इति यादवः ॥ ७९ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये दण्डकाप्रत्यागमनो नाम त्रयोदशः सर्गः॥ १३ ॥

पूज्यराम, प्रजावर्ग जिसके आगे २ चल रहे हैं, ऐसे मन्दगतिवाले पुष्पक विमानसे आधाकोश चलकर शत्रुघ्नसे सजाये गये तम्बूकनात टेण्ट आदि वस्त्र-भवनों वाले अयोध्याके सुन्दर उपवनमें निवास किया ॥ ७९ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'दण्डकाप्रत्यागमन'
नामक त्रयोदश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः ।

सञ्जीवनं मैथिलकन्यकायाः सौन्दर्यसर्वस्वमहानिधानम् ।
शशाङ्कपङ्केरुहयोः समानं रामस्य वन्दे रमणीयमास्यम् ॥

भर्तुः प्रणाशादथ शोचनीयं दशाऽन्तरं तत्र समं प्रपन्ने ।
अपश्यतां दाशरथी जनन्यौ छेदादिवोपघ्नतरोर्व्रतत्यौ ॥ १ ॥

भर्तुरिति । अथोपवनाधिष्ठानानन्तरं दाशरथी रामलक्ष्मणौ । उपघ्नतरोराश्रयवृक्षस्य । "उपघ्न आश्रये" इति निपातः । तस्य छेदाद् व्रतत्यौ लते इव । 'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः । भर्तुर्दशरथस्य प्रणाशाच्छोचनीयं दशाऽन्तरमवस्थाऽन्तरम् । 'अवस्थायां वस्त्रान्ते स्याद्दशाऽपि' इति विश्वः । प्रपन्ने प्राप्ते जनन्यौ कौसल्यासुमित्रे तत्र साकेतोपवने समं युगपदपश्यताम् । दृशेः कर्तरि लङ् ॥ १ ॥

सञ्जीवनौषध भूमिजाके कान्ति सम्पत् के खनी ।
चन्द्र पद्म समान बन्दौ राममुख सुन्दर मनी ॥

इसके बाद वहांपर (उपवनमें) राम-लक्ष्मणने पतिके मरनेसे शोचनीय दशाको पाई हुई दोनों माताओं (कौसल्या तथा सुमित्रा) को, समीपस्थ वृक्षके कटनेसे शोचनीय दशाको पाई हुई दो लताओंके समान, एक साथ देखा ॥ १ ॥

उभावुभाभ्यां प्रणतौ हतारी यथाक्रमं विक्रमशोभिनौ तौ ।
विस्पष्टमस्रान्धतया न दृष्टौ ज्ञातौ सुतस्पर्शसुखोपलम्भात् ॥ २ ॥

उभाविति । यथाक्रमं स्वस्वमातृपूर्वकं प्रणतौ नमस्कृतवन्तौ हतारी हतशत्रुकौ विक्रमशोभिनौ तावुभौ रामलक्ष्मणावुभाभ्यामस्रैरश्रुभिरन्धतया हेतुना । 'अस्रमश्रु च शोणितम्' इति यादवः । विस्पष्टं न दृष्टौ किन्तु सुतस्पर्शेन यत्सुखं तस्योपलम्भादनुभवाज्ज्ञातौ ॥ २ ॥

दोनो माताओंको क्रमपूर्वक प्रणाम किये हुए, शत्रुओंका नाश किये हुए (अत एव) पराक्रमसे शोभमान उन दोनों (राम लक्ष्मण) को आनन्दाश्रु बहते रहनेसे अन्धी-सी होनेके कारण (माताओंने) नहीं देखा, किन्तु पुत्रके स्पर्शके सुख को प्राप्त होनेसे (उन दोनों पुत्रों को) पहचाना ॥ २ ॥

आनन्दजः शोकजमश्रु बाष्पस्तयोरशीतं शिशिरो बिभेद ।
गङ्गासरय्वोर्जलमुष्णतप्तं हिमाद्रिनिस्यन्द इवावतीर्णः ॥ ३ ॥

आनन्दज इति । तयोर्मात्रोरानन्दजः शिशिरो शीतलः बाष्पः शोकजमशीतमुष्ण-

मश्रु। उष्णतप्तं ग्रीष्मतप्तं गङ्गासरय्वोर्जलं कर्म अवतीर्णो हिमाद्रेर्निस्यन्दो निर्झर इव बिभेद, आनन्देन शोकस्तिरस्कृत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

उन दोनों (कौसल्या तथा सुमित्रा) के आनन्दोत्पन्न ठण्डे आँसूने, ठण्डा एवं गर्म गङ्गाके जलके गिरते हुए हिमालयके झरनेके प्रवाहके समान, शोकजन्य आँसूको दूर कर दिया। (यहां ठंण्डे आनन्दजन्य आँसूके द्वारा शोकजन्य गर्म आँसूको दूर करने के वर्णनसे पुत्र प्राप्तिजन्य आनन्दसे पतिमरणजन्य शोक दूर हो गया यह कहा गया है, शीतल जलसे गर्म जलको भी शीतल हो जाना प्रसिद्ध है) ॥ ३ ॥

ते पुत्रयोर्नैर्ऋतशस्त्रमार्गानार्द्रानिवाङ्गे सदयं स्पृशन्त्यौ ।
अपीप्सितं क्षत्रकुलाङ्गनानां न वीरसूशब्दमकामयेताम् ॥ ४ ॥

त इति। ते मातरौ पुत्रयोरङ्गे शरीरे नैर्ऋतशस्त्राणां राक्षसशस्त्राणां मार्गान्व्रणान् शस्त्रघातकिणानार्द्रान्सरसानिव सदयं स्पृशन्त्यौ क्षत्रकुलाङ्गनानामीप्सितमिष्टमपि वीरसूर्वीरमातेति शब्दं नाकामयेताम्। वीरप्रसवो दुःखहेतुरिति भावः ॥ ४ ॥

वे दोनों (कौसल्या तथा सुमित्रा) दोनों पुत्रों (राम तथा लक्ष्मण) के राक्षस–शस्त्रोंसे किये गये आर्द्र (ताजा) के समान व्रणोंको दया पूर्वक (धीरे) स्पर्श करती हुई क्षत्रिय कुलवधुओंके अत्यन्त अभिलषित भी वीरसू (वीर पुत्र पैदाकरने वाली) शब्दकी इच्छा नहीं की। (वीर सन्तान पैदा करना महान् कष्ट का कारण होता है, यह मानकर उसकी चाहना नहीं की) ॥ ४ ॥

क्लेशावहा भर्तुरलक्षणाऽहं सीतेति नाम स्वमुदीरयन्ती ।
स्वर्गप्रतिष्ठस्य गुरोर्महिष्यावभक्तिभेदेन वधूर्ववन्दे ॥ ५ ॥

क्लेशावहेति। आवहतीत्यावहा भर्तुः क्लेशावहा क्लेशकारिणी अत एवालक्षणाऽहं सीतेति स्वं नामोदीरयन्ती स्वर्गः प्रतिष्ठाऽऽस्पदं यस्य तस्य स्वर्गस्थितस्य गुरोः श्वशुरस्य महिष्यौ श्वश्र्वौ। 'वधूः स्नुषा वधूर्जायास्नुषा' इत्यमरः। अभक्तिभेदेन ववन्दे। स्वर्गप्रतिष्ठस्येत्यनेन श्वश्रूवैधव्यदर्शनदुःखं सूचितम् ॥ ५ ॥

'कुलक्षणवाली मैं सीता पतिको कष्ट देने वाली हुई' इस प्रकार अपने नामको कहती हुई वह सीताने स्वर्गगत श्वशुर की दोनों पट रानियों (कौसल्या–सुमित्रा) को विना भेद भाव के प्रणाम किया ॥ ५ ॥

उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽसौ वृत्तेन भर्ता शुचिना तवैव ।
कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या ॥ ६ ॥

उत्तिष्ठेति। ननु 'वत्से! उत्तिष्ठ। असौ सानुजो भर्ता तवैव शुचिना वृत्तेन मह-

कृच्छ्रं दुःखं तीर्णस्तीर्णवान्' इति प्रियार्हां तां वधूं प्रियमप्यमिथ्या सत्यं ते श्वश्र्वा-वूचतुः । उभयं दुर्वचमिति भावः ॥ ६ ॥

उन दोनों (कौशल्या तथा सुमित्रा) ने स्नेह करने योग्य सीतासे "हे पुत्रि ! उठो, तुम्हारे पवित्र आचरणसे ही अनुजके सहित पति (राम) ने बड़े भारी कष्टको पार कर लिया है" इस प्रकार प्रिय होते हुए भी सत्य वचन को कहा ॥ ६ ॥

अथाभिषेकं रघुवंशकेतोः प्रारब्धमानन्दजलैर्जनन्योः ।
निर्वर्तयामासुरमात्यवृद्धास्तीर्थाहृतैः काञ्चनकुम्भतोयैः ॥ ७ ॥

अथेति । अथ जनन्योरानन्दजलैरानन्दबाष्पैः प्रारब्धं प्रक्रान्तं रघुवंशकेतो राम-स्याभिषेकममात्यवृद्धास्तीर्थेभ्यो गङ्गाप्रमुखेभ्य आहृतैरानीतैः काञ्चनकुम्भतोयैर्निर्वर्त-यामासुर्निष्पादयामासुः ॥ ७ ॥

इसके बाद वृद्ध मन्त्रियोंने दोनों माताओं (कौसल्या तथा सुमित्रा) के आनन्द जन्य आँसूसे आरम्भ किये हुए रघुवंश केतु (रघुवंशियोंमें पताकाके समान उन्नत) रामके अभिषेकको तीर्थोंसे लाये हुए, सुवर्ण घटके जलोंसे पूरा किया ॥ ७ ॥

सरित्समुद्रान्सरसीश्च गत्वा रक्षःकपीन्द्रैरुपपादितानि ।
तस्यापतन्मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रभवा इवापः ॥ ८ ॥

सरिदिति । रक्षःकपीन्द्रैः सरितो गङ्गाद्याः समुद्रान्पूर्वादीन्सरसीर्मानसादींश्च गत्वा उपपादितान्युपनीतानि जलानि जिष्णोर्जयशीलस्य । "ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः" इति ग्स्नुप्रत्ययः । तस्य रामस्य मूर्ध्नि विन्ध्यस्य विन्ध्याद्रेर्मूर्ध्नि मेघप्रभवा आप उदकानीव अपतन् ॥ ८ ॥

राक्षसों तथा वानरोंके स्वामी (सुग्रीव तथा विभीषण) से गङ्गादि नदी, पूर्व-पश्चिम आदि समुद्र तथा मानस आदि सरोवरों को जाकर लाये गये जल, विन्ध्याचलकी शिखरपर मेघ जन्य जलके समान विजयी रामके मस्तकपर गिरे ॥ ८ ॥

तपस्विवेषक्रिययाऽपि तावद्यः प्रेक्षणीयः सुतरां बभूव ।
राजेन्द्रनेपथ्यविधानशोभा तस्योदिताऽऽसीत्पुनरुक्तदोषा ॥ ९ ॥

तपस्वीति । यो रामस्तपस्विवेषक्रिययाऽपि तपस्विवेषरचनयाऽपि सुतरामत्यन्तं प्रेक्षणीयस्तावद्दर्शनीय एव बभूव । तस्य राजेन्द्रनेपथ्यविधानेन राजवेषरचनयोदिता या शोभा सा पुनरुक्तं नाम दोषो यस्याः सा पुनरुक्तदोषा द्विगुणाऽऽसीत् ॥ ९ ॥

जो (राम) तपस्विके वेश धारण करनेसे भी अत्यन्त सुन्दर थे, उनकी राजराजेश्वरों के भूषणोंके धारण करनेसे उत्पन्न शोभा पुनरुक्त दोषवाली हुई ॥ ९ ॥

स मौलरक्षोहरिभिः ससैन्यस्तूर्यस्वनानन्दितपौरवर्गः ।
विवेश सौधोद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानीम् ॥ १० ॥

स इति । स रामः ससैन्यस्तूर्यस्वनैरानन्दितपौरवर्गः सन्, मूले भवा मौला मन्त्रिवृद्धास्तै रक्षोभिर्हरिभिश्च सह सौधेभ्य उद्गतलाजवर्षामुत्तोरणामन्वयराजधानी-मयोध्यां विवेश प्रविष्टवान् ॥ १० ॥

बाजाओंके शब्दसे नागरिकोंको आनन्दित करते हुए सेना-सहित वे (रामचन्द्रजी) महलोंसे (स्त्रियोंके द्वारा) खील (लावा) बरसाने वाली तथा तोरणयुक्त, अपने वंशके परम्परागत राजधानी (अयोध्यापुरी) में प्रवेश किये ॥ १० ॥

सौमित्रिणा सावरजेन मन्दमाधूतबालव्यजनो रथस्थः ।
धृतातपत्रो भर न साक्षादुपायसङ्घात इव प्रवृद्धः ॥ ११ ॥

सौमित्रिणेति । सावरजेन शत्रुघ्नयुक्तेन सौमित्रिणा लक्ष्मणेन मन्दमाधूते बाल-व्यजने चामरे यस्य स रथस्थो भरतेन धृतातपत्र एव चतुर्व्यूहो रामः प्रवृद्धः साक्षा-दुपायानां सामादीनां सङ्घातः समष्टिरिव । विवेशेति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ११ ॥

रथपर बैठे हुए रामको छोटे भाई (शत्रुघ्न) के साथ लक्ष्मणजी चामर डुला रहे थे, भरतजी श्वेतच्छत्र लगाये हुए थे, ऐसे वे (रामचन्द्रजी) उन्नत उपायों (साम, दान, दण्ड और भेद) के समुदायके समान (अयोध्यामें प्रवेश किये) ॥ ११ ॥

प्रासादकालागुरुधूमराजिस्तस्याः पुरो वायुवशेन भिन्ना ।
वनान्निवृत्तेन रघूत्तमेन मुक्ता स्वयं वेणिरिवावभासे ॥ १२ ॥

प्रासादेति । वायुवशेन भिन्ना प्रासादे यः कालागुरुधूमस्तस्य राजी रेखा। वना-न्निवृत्तेन रघूत्तमेन रामेण स्वयं मुक्ता तस्याः पुरः पुर्या वेणिरिव आबभासे। पुरोऽपि पतिव्रतासमाधिरुक्तः। "न प्रोषिते तु संस्कुर्यान्न वेणीं च प्रमोचयेत्" इति हारीतः ॥ १२ ॥

उस अयोध्यानगरीके महलोंमें कालागुरु धूप जलाये जा रहे थे, हवासे फैला हुआ उनका धूआं ऐसा शोभित होता था कि मानो वनसे लौटे हुए रामने उस नगरीकी चोटी (केशसमूह) को खोल दिया हो ॥ १२ ॥

श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम् ।
प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः ॥ १३ ॥

श्वश्रूजनेति । श्वश्रूजनैरनुष्ठितचारुवेषां कृतसौम्यनेपथ्याम् । 'आकल्पवेषौ नेप-थ्यम्' इत्यमरः। कर्णीरथः स्त्रीयोग्योऽल्परथः। 'कर्णीरथः प्रवहणं डयनं रथगर्भके' इति

यादवः। तत्रस्थां रघुवीरपत्नीं सीतां साकेतनार्यः प्रासादवातायनेषु दृश्यबन्धैर्लक्ष्यपुटै-रञ्जलिभिः प्रणेमुः ॥ १३ ॥

अयोध्याकी स्त्रियोंने सासुओं (कौसल्या—सुमित्रा) के द्वारा भूषण-वस्त्र पहनकर सुसज्जित तथा कर्णीरथ (स्त्रियों के चढ़नेयोग्य पालकी गाड़ी) पर बैठी हुई सीताको महलों में दिखलाई पड़ती हुई अञ्जलियोंको बांधकर प्रणाम किया ॥ १३ ॥

स्फुरत्प्रभामण्डलमानुसूयं सा बिभ्रती शाश्वतमङ्गरागम् ।
रराज शुद्धेति पुनः स्वपुर्यै सन्दर्शिता वह्निगतेव भर्त्रा ॥ १४ ॥

स्फुरदिति । स्फुरत्प्रभामण्डलमानुसूयमनुसूयया दत्तं शाश्वतं सदातनमङ्गरागं विलेपनद्रव्यं बिभ्रती सा सीता भर्त्रा स्वपुर्यै शुद्धेति सन्दर्शिता पुनर्वह्निगतेव रराज ॥ १४ ॥

फैंकते हुए प्रभा—समूहवाले अनुसूयाके दिये हुए अविनश्वर अङ्गराग को लगाई हुई सीता ऐसी शोभायमान होती थी जैसे रामचन्द्र फिर उसे अग्निमें प्रवेशकराकर अपनी नगरी (अयोध्या) के लिये "यह सीता शुद्ध है" यह दिखला रहे हों ॥ १४ ॥

वेश्मानि रामः परिबर्हवन्ति विश्राण्य सौहार्दनिधिः सुहृद्भ्यः ।
बाष्पायमाणो बलिमन्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश ॥ १५ ॥

वेश्मानीति । सुहृदो भावः सौहार्दं सौजन्यम् । "हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च" इत्युभयपदवृद्धिः । सौहार्दनिधी रामः सुहृद्भ्यः परिबर्हवन्त्युपकरणवन्ति वेश्मानि विश्राण्य दत्वा । आलेख्यशेषस्य चित्रमात्रशेषस्य पितुर्बलिमत्पूजायुक्तं निकेतं गृहं बाष्पायमाणो बाष्पमुद्वमन्विवेश । "बाष्पोष्मभ्यामुद्वमने" इति क्यङ् प्रत्ययः ॥१५॥

सज्जनताके आकर राम मित्रोंके लिये सब साधनों से परिपूर्ण घरोंको (ठहरनेके लिये) देकर पूजित, चित्र—मात्र बचे हुए पिता (दशरथजी) के कमरे में रोते हुए प्रवेश किये ॥१५॥

कृताञ्जलिस्तत्र यदम्ब सत्यान्नाभ्रश्यत स्वर्गफलाद् गुरुर्नः ।
तच्चिन्त्यमानं सुकृतं तवेति जहार लज्जां भरतस्य मातुः ॥ १६ ॥

कृताञ्जलिरिति । तत्र निकेतने कृताञ्जलिः सन् रामः । हे अम्ब ! नो गुरुः पिता स्वर्गः फलं यस्य तस्मात्सत्यान्नाभ्रश्यत न भ्रष्टवानिति यदभ्रंशनं तच्चिन्त्यमानं विचार्यमाणं तव सुकृतम् । इत्येवं प्रकारेण भरतस्य मातुः कैकेय्या लज्जां जहारापानयत्, राज्ञां प्रतिज्ञापरिपालनं स्वर्गसाधनमित्यर्थः । भरतग्रहणं तदपेक्षयाऽपि कैकेय्यनुसरणद्योतनार्थम् ॥ १६ ॥

वहांपर हाथ जोड़े हुए "हेमात;! हमारे पिताजी स्वर्गरूप फल देनेवाले सत्यको जो नहीं

छोड़ा था ,फिर करने परवह तुम्हारा ही सत्कर्म है" ऐसा कहकर भरतकी माता (कैकेयी) के लज्जाको दूर किया ॥ १६ ॥

तथैव सुग्रीवविभीषणादीनुपाचरत्कृत्रिमसंविधाभिः ।
सङ्कल्पमात्रोदितसिद्धयस्ते क्रान्ता यथा चेतसि विस्मयेन ॥ १७ ॥

तथैवेति । सुग्रीवविभीषणादीन् । संविधीयन्त इति संविधा भोग्यवस्तूनि । कृत्रिमसंविधाभिस्तथा तेन प्रकारेणैवोपाचरत् । यथा सङ्कल्पमात्रेणेच्छामात्रेणोदितसिद्धयस्ते सुग्रीवादयश्चेतसि विस्मयेन क्रान्ता आक्रान्ताः ॥ १७ ॥

(रामने) सुग्रीव और विभीषण आदिका तैयार की गयी सामग्रियोंसे ऐसा सत्कार किया कि केवल इच्छा करते सब साधनों के पहुंच जाने से वे मनमें आश्चर्य करने लगे ॥१७॥

सभाजनायोपगतान्स दिव्यान्मुनीन्पुरस्कृत्य हतस्य शत्रोः ।
शुश्राव तेभ्यः प्रभवादि वृत्तं स्वविक्रमे गौरवमादधानम् ॥ १८ ॥

सभाजनेति । स रामः सभाजनायाभिनन्दनायोपगतान्दिवि भवान्मुनीनगस्त्यादीन्पुरस्कृत्य हतस्य शत्रो रावणस्य प्रभवादि जन्मादिकं स्वविक्रमे गौरवमुत्कर्षमादधानं वृत्तं तेभ्यो मुनिभ्यः शुश्राव श्रुतवान्, विजितोत्कर्षाज्जेतुरुत्कर्ष इत्यर्थः ॥ १८ ॥

(राज्याभिषेकका) अभिनन्दन करनेके लिये आये हुए (अगस्त्य आदि) दिव्य मुनियों का सत्कारकर रामने उन लोगों से अपने पराक्रमके महत्वको बढाने वाला मारे गये शत्रु (रावण) के जन्मादिका वृत्तान्त सुना ॥ १८ ॥

प्रतिप्रयातेषु तपोधनेषु सुखादविज्ञातगतार्धमासान् ।
सीतास्वहस्तोपहृताग्र्यपूजान्रक्षःकपीन्द्रान् विससर्ज रामः ॥ १९ ॥

प्रतीति । तपोधनेषु मुनिषु प्रतिप्रयातेषु प्रतिनिवृत्य गतेषु सत्सु सुखादविज्ञात एव गतोऽर्धमासो येषांताननन्तरं सीतायाः स्वहस्तेनोपहृता दत्ताग्र्यपूजोत्तमसम्भावना येभ्यस्तान् । एतेन सौहार्दातिशय उक्तः । रक्षःकपीन्द्रान्रामो विससर्ज विसृष्टवान् ॥ १९ ॥

तपस्वियों के चले जाने पर सुख पूर्वक रहनेसे बीते हुए आधे महीने समयको नहीं जानने वाले तथा जिनके लिये स्वयं सीताजी अपने हाथों से सत्कारके लिये सामग्री लाई हैं, ऐसे राक्षस तथा वानरोंके राजा (सुग्रीव तथा विभीषणको) रामने विदा किया ॥ १९ ॥

तच्चात्मचिन्तासुलभं विमानं हृतं सुरारेः सह जीवितेन ।
कैलासनाथोद्वहनाय भूयः पुष्पं दिवः पुष्पकमन्वमंस्त ॥ २० ॥

तदिति । तच्चात्मचिन्तासुलभं स्वेच्छामात्रलभ्यं सुरारे रावणस्य जीवितेन

सह हृतं दिवः पुष्पं पुष्पवदाभरणभूतं पुष्पकं विमानं भूयः पुनरपि कैलासनाथस्य कुबेरस्योद्वहनायान्वमंस्तानुज्ञातवान् । मन्यतेर्लुङ् । भूयोग्रहणेन पूर्वमप्येतत्कौबेरमेवेति सूच्यते ॥ २० ॥

इच्छामात्रसे उपस्थित होने वाले तथा देवशत्रु (रावण) के प्राणोंको साथमें हरण किये हुए (आकाश-कुसुम के समान दुर्लभ) उस पुष्पक विमानको कुबेरको चढ़नेके लिये फिर भेज दिया ॥ २० ॥

पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः ।
धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम् ॥ २१ ॥

पितुरिति । राम एवं पितुर्नियोगाच्छासनाद्वनवासं निस्तीर्यानन्तरं प्रतिपन्नराज्यः प्राप्तराज्यः सन् । धर्मार्थकामेषु यथा तथैवावरजेष्वनुजेषु समां वृत्तिं प्रपेदे, अवैषम्येण व्यवहृतवानित्यर्थः ॥ २१ ॥

इस प्रकार पिताकी आज्ञासे बनवासको समाप्त कर राज्यको पाये हुए राम धर्म, अर्थ और काममें तथा छोटे भाइयोंमें समान व्यवहार करने लगे ॥ २१ ॥

सर्वासु मातृष्वपि वत्सलत्वात्स निर्विशेषप्रतिपत्तिरासीत् ।
षडाननापीतपयोधरासु नेता चमूनामिव कृत्तिकासु ॥ २२ ॥

सर्वास्विति । स रामो वत्सलत्वात्स्निग्धत्वात्, न तु लोकप्रतीत्यर्थम् । 'स्निग्धस्तु वत्सलः' इत्यमरः । सर्वासु मातृष्वपि निर्विशेषप्रतिपत्तिस्तुल्यसत्कार आसीत् । कथमिव चमूनां नेता षण्मुखः षड्भिराननैरापीताः पयोधराः स्तना यासां तासु कृत्तिकास्विव ॥ २२ ॥

स्नेह भाजन होने से वे (राम) सब माताओंमें उसप्रकार समान आदर करते थे, जिस प्रकार जिनके स्तनोंको बचपन में पीया है ऐसी कृत्तिकाओं का आदर कार्तिकेय समान करते हैं। (ज्योतिष सिद्धान्तके अनुसार कृत्तिका नक्षत्रोंकी संख्या तीन है अतः छे मुखवाले कार्तिकेयको पीने के लिये ६ स्तनोंका होना उचित ही है, और इस प्रकार कौसल्यादि तीनों राममाताओं का उपमानोपमेय भाव भी सङ्घटित हो जाता है) ॥ २२ ॥

तेनार्थवाँल्लोभपराङ्मुखेन तेन घ्नता विघ्नभयं क्रियावान् ।
तेनास लोकः पितृमान्विनेत्रा तेनैव शोकापनुदेन पुत्री ॥ २३ ॥

तेनेति । लोको लोभपराङ्मुखेन वदान्येन तेन रामेणार्थवान् धनिक आस बभूव । तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययमेतत् । विघ्नेभ्यो भयं घ्नता नुदता तेन क्रियावाननुष्ठानवानास । विनेत्रा नियामकेन तेन पितृमानास, पितृवाश्रयच्छ्रतीत्यर्थः । शोकमपनुदतीति

शोकापनुदो दुःखस्य हर्ता तेन । "नुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः" इति कप्रत्ययः। तेन पुत्री पुत्रवानास, पुत्रवदानन्दयतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

प्रजालोग रामके लोभशून्य (दाता) होनेसे धनिक, विघ्ननाशक होनेसे अपने २ कर्तव्यमें संलग्न, विनय-शिक्षक होनेसे पितावाले और शोक-नाशक होनेसे पुत्रवान् थे ॥२३॥

स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रेमे विदेहाधिपतेर्दुहित्रा।
उपस्थितश्चारु वपुस्तदीयं कृत्वोपभोगोत्सुकयेव लक्ष्म्या ॥ २४ ॥

स इति। स रामः कालेऽवसरे पौराणां कार्याणि प्रयोजनानि समीक्ष्य विदेहाधिपतेर्दुहित्रा सीतया उपभोगोत्सुकयाऽत एव तदीयं सीतासम्बन्धि चारु वपुः कृत्वा स्थितया लक्ष्म्येव । उपस्थितः सङ्गतः सन् रेमे। 'उपस्थानं तु सङ्गतिः' इति यादवः ॥ २ ॥

वे राम यथासमय राजकार्य देखकर उस (सीता) के सुन्दर शरीर करके भोगके लिये उत्कण्ठित लक्ष्मीके समान सीताके साथ वहां उपस्थित होकर (पहुंचकर) रमण करते थे ॥ २४ ॥

तयोर्यथाप्रार्थितमिन्द्रियार्थानासेदुषोः सद्मसु चित्रवत्सु।
प्राप्तानि दुःखान्यपि दण्डकेषु सञ्चिन्त्यमानानि सुखान्यभूवन् ॥२५॥

तयोरिति। चित्रवत्सु वनवासवृत्तान्तालेख्यवत्सु सद्मसु यथाप्रार्थितं यथेष्टमिन्द्रियार्थानिन्द्रियविषयाञ्छब्दादीनासेदुषोः प्राप्तवतोस्तयोः सीतारामयोर्दण्डकेषु दण्डकारण्येषु प्राप्तानि दुःखान्यपि विरहविलापान्वेषणादीनि सञ्चिन्त्यमानानि स्मर्यमाणानि सुखान्यभूवन्। स्मारकं तु चित्रदर्शनमिति द्रष्टव्यम् ॥ २५ ॥

वनवासकी घटनाओंके चित्रोंसे सुसज्जित महलोंमें इच्छानुसार इन्द्रिय-विषयोंको प्राप्त करते हुए उन दोनों (सीता और राम) के स्मरण किये गये दण्डकारण्यमें मिले हुए दुःख भी सुख देने वाले हुए ॥ २५ ॥

अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण।
आनन्दयित्री परिणेतुरासीदनक्षरव्यञ्जितदोहदेन ॥ २६ ॥

अथेति। अथ सीताऽधिकस्निग्धविलोचनेनात्यन्तमसृणलोचनेन शरवत्तृणविशेषवत्पाण्डुरेणात एवानक्षरमवाग्व्यापारं यथा भवति तथा व्यञ्जितं प्रकटितं दोहदं गर्भो येन तेन मुखेन परिणेतुः पत्युः। कर्मणि षष्ठी। आनन्दयित्र्यासीत् ॥ २६ ॥

इसके बाद सीता अधिक सुन्दरनेत्रोंवाले तथा कासके समान पाण्डुवर्ण (अत एव) विना कहे ही गर्भावस्थाको बतलानेवाले मुखसे पति (राम) को आनन्द देनेवाली हुई। (सीताको मुखपाण्डुरतासे गर्भिणी जानकर राम बहुत आनन्दित हुए) ॥ २६ ॥

तामङ्कमारोप्य कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तराक्रान्तपयोधराग्राम्।
विलज्जमानां रहसि प्रतीतः पप्रच्छ रामां रमणोऽभिलाषम् ॥२७॥

तामिति। प्रतीतो गर्भज्ञानवान्। रमयतीति रमणः प्रियां कृशाङ्गयष्टिं वर्णान्तरेण नीलिम्नाऽऽक्रान्तपयोधराग्रां विलज्जमानां तां रामां रहस्यङ्कमारोप्याभिलाषं मनोरथं पप्रच्छ। एतच्च—"दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात्" इति शास्त्रात्, न तु लौल्यादित्यनुसन्धेयम् ॥ २७ ॥

प्रसन्न पति (रामचन्द्रने) दुर्बल शरीरलतावाली तथा श्यामवर्णवाले स्तनाग्रोंवाली सलज्ज प्रियाको एकान्तमें गोदमें बैठाकर उसका मनोभिलषित (तुम क्या चाहती हो, ऐसी उसकी गर्भावस्थाका दोहद) पूछा ॥ २७ ॥

सा दष्टनीवारबलीनि हिंस्रैः सम्बद्धवैखानसकन्यकानि।
इयेष भूयः कुशवन्ति गन्तुं भागीरथीतीरतपोवनानि ॥ २८ ॥

सेति। सा सीता हिंस्रैर्दष्टा नीवारा एव बलयो येषु तानि। तिर्यग्भिक्षुकादिदानं बलिः। सम्बद्धाः कृतसम्बन्धाः कृतसख्या वैखानसानां कन्यका येषु तानि कुशवन्ति भागीरथीतीरतपोवनानि भूयः पुनरपि गन्तुमियेषाभिललाष ॥ २८ ॥

वह (सीता) जहां ऋषियोंके द्वारा पशु-पक्षी मनुष्यादिके लिये दिये जानेवाले नीवार ('तीनी' नामक मुनिधान्य-विशेष) को हिंसक खाजाते हैं, ऐसे, वैखानस (वानप्रस्थ) मुनियोंकी कन्याओंके साथ जहां सम्बन्ध (प्रेम भाव) हो गया है ऐसे, और कुशाओंवाले गंगाजीके तीरोंपर स्थित तपोवनोंको फिर जानेके लिये इच्छा की ॥ २८ ॥

तस्यै प्रतिश्रुत्य रघुप्रवीरस्तदीप्सितं पार्श्वचरानुयातः।
आलोकयिष्यन्मुदितामयोध्यां प्रासादमभ्रंलिहमारुरोह ॥ २९ ॥

तस्या इति। रघुप्रवीरो रामस्तस्यै सीतायै तत्पूर्वोक्तमीप्सितं मनोरथं प्रतिश्रुत्य पार्श्वचरैस्तत्कालोचितैरनुयातः सन् मुदितां तामयोध्यामालोकयिष्यन् अभ्रं लेढीत्यभ्रंलिहमभ्रङ्कषं प्रासादमारुरोह। "वहाभ्रे लिहः" इति खश्प्रत्ययः। "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इति मुमागमः ॥ २९ ॥

रघुश्रेष्ठ (राम) उसके लिये 'वैसा ही करेंगे' ऐसा स्वीकारकर पार्श्ववर्ती अनुचरसे अनुगत होते हुए सुप्रसन्न अयोध्यापुरीको देखनेके लिये, आकाशको छूते हुए (बहुत ऊँचे) महलपर चढ़े ॥ २९ ॥

ऋद्धापणं राजपथं स पश्यन्विगाह्यमानां सरयूं च नौभिः।
विलासिभिश्चाध्युषितानि पौरैः पुरोपकण्ठोपवनानि रेमे ॥ ३० ॥

ऋद्धेति। स रामः ऋद्धाः समृद्धा आपणाः पण्यभूमयो यस्मिंस्तं राजपथं

नौभिः समुद्रवाहिनीभिर्विगाह्यमानां सरयूं च । पौरैर्विलासिभिरध्युषितानि पुरोपकण्ठोपवनानि च पश्यन् रेमे । विलासिन्यश्च विलासिनश्च विलासिनः । "पुमान्स्त्रिया" इत्येकशेषः ॥ ३० ॥

वे (राम) समृद्धि युक्त दूकानोंवाले राजमार्ग (सड़कों) को, नावों से पारकी जाती हुई सरयू नदीको और विलासी नागरिकोंसे युक्त नगरके समीपस्थ उपवनोंको देखते हुए प्रसन्न हुए ॥ ३० ॥

स किंवदन्तीं वदतां पुरोगः स्ववृत्तमुद्दिश्य विशुद्धवृत्तः ।
सर्पाधिराजोरुभुजोऽपसर्पं पप्रच्छ भद्रं विजितारिभद्रः ॥ ३१ ॥

स इति । वदतां वाग्मिनां पुरोगः श्रेष्ठो विशुद्धवृत्तः सर्पाधिराजः शेषस्तद्वद्गुरू भुजौ यस्य स विजितारिभद्रो विजितारिश्रेष्ठः स रामः स्ववृत्तमुद्दिश्य भद्रं भद्रनामकमपसर्पं चरं किंवदन्तीं जनवादं पप्रच्छ । 'अपसर्पश्चरः स्पशः' इति, 'किंवदन्ती जनश्रुतिः' इति चामरः ॥ ३१ ॥

वक्ताओंमें श्रेष्ठ, शुद्ध आचरणवाले, शेष नागके समान दृढ़ बाहुवाले और श्रेष्ठ शत्रुओंको जीतनेवाले उस (राम) ने अपने आचरणके विषयमें की जानेवाली लोकचर्चाको 'भद्र' नामक गुप्तचरसे पूछा ॥ ३१ ॥

निर्बन्धपृष्टः स जगाद सर्वं स्तुवन्ति पौराश्चरितं त्वदीयम् ।
अन्यत्र रक्षोभवनोषितायाः परिग्रहान्मानवदेव देव्याः ॥ ३२ ॥

निर्बन्धेति । निर्बन्धेनाग्रहेण पृष्टः सोऽपसर्पो जगाद । किमिति । हे मानवदेव । रक्षोभवन उषिताया देव्याः सीतायाः परिग्रहात्स्वीकारादन्यत्रैतदंशे, तं वर्जयित्वेत्यर्थः । त्वदीयं सर्वं चरितं पौराः स्तुवन्ति ॥ ३२ ॥

आग्रहपूर्वक पूछनेपर उस ('भद्र' नामक गुप्तचर) ने कहा कि "हे राजन् ! नागरिक लोग रावणके यहां रही हुई देवी (सीताजी) को पुनः ग्रहण करनेके अतिरिक्त आपके सब व्यवहारकी प्रशंसा करते हैं अर्थात् सीताजीको पुनः पत्नीरूपमें स्वीकार करना पसन्द नहीं करते ॥ ३२ ॥

कलत्रनिन्दागुरुणा किलैवमभ्याहतं कीर्तिविपर्ययेण ।
अयोघनेनाय इवाभितप्तं वैदेहिबन्धोर्हृदयं विदद्रे ॥ ३३ ॥

कलत्रेति । एवं किल कलत्रनिन्दया गुरुणा दुर्वहेण कीर्तिविपर्ययेणापकीर्त्याऽऽभ्याहतं वैदेहिबन्धोर्वैदेहिवल्लभस्य । "ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्" इति ह्रस्वः, कालिदास इतिवत् । हृदयम् अयोघनेनाभितप्तं सन्तप्तमय इव विदद्रे विदीर्णम् । कर्तरि लिट् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार पत्नीकी निन्दासे गम्भीर अपयशसे ताडित रामका हृदय लोहेके घनसे ताडित तप्त लोहेके समान विदीर्ण हो गया ॥ ३३ ॥

किमात्मनिर्वादकथामुपेक्षे जायामदोषामुत सन्त्यजामि ।
इत्येकपक्षाश्रयविक्लवत्वादासीत्स दोलाचलचित्तवृत्तिः ॥ ३४ ॥

किमिति । आत्मनो निर्वादोऽपवाद एव कथा ताम् किमुपेक्षे । उत अदोषां साध्वीं जायां सन्त्यजामि । उभयत्रापि प्रश्ने लट् । इत्येकपक्षाश्रयेऽन्यतरपक्षपरिग्रहे विक्लवत्वादपरिच्छेत्तृत्वात्स रामो दोलेव चला चित्तवृत्तिर्यस्य स आसीत् ॥ ३४ ॥

"क्या मैं अपने अपकीर्ति (बदनामी) की बातकी उपेक्षा कर दूं, या निर्दोष स्त्री (सीता) को छोड़ दूँ" इस प्रकार एक पक्षके स्वीकार करनेमें व्याकुलता होनेसे वे (राम) दोलायमान (झूलेपर चढ़े हुएके समान) चित्तवाले हो गये ॥ ३४ ॥

निश्चित्य चानन्यनिवृत्ति वाच्यं त्यागेन पत्न्याः परिमार्ष्टुमैच्छत् ।
अपि स्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीयः ॥ ३५ ॥

निश्चित्येति । किञ्च । वाच्यमपवादं, नास्त्यन्येन त्यागातिरिक्तोपायेन निवृत्तिर्यस्य तदनन्यनिवृत्ति निश्चित्य पत्न्यास्त्यागेन परिमार्ष्टुं परिहर्तुमैच्छत् । तथा हि, यशोधनानां पुंसां स्वदेहादपि यशो गरीयो गुरुतरम् । इन्द्रियार्थात्स्रक्चन्दनवनिताऽऽदेरिन्द्रियविषयाद्गरीय इति किमुत वक्तव्यम् । "पञ्चमी विभक्ते" इत्युभयत्रापि पञ्चमी । सीता चेन्द्रियार्थ एव ॥ ३५ ॥

फिर अन्य प्रकारसे दूर नहीं करने योग्य अपकीर्ति (निन्दा—बदनामी), को सीताके त्याग करनेसे दूर करना चाहा । यशोधन (यशको ही धन माननेवालों) का यश अपने शरीरसे भी श्रेष्ठ होता है, फिर इन्द्रियके विषयोंसे भी श्रेष्ठ होता है, यह क्या कहना है ॥ ३५ ॥

स सन्निपात्यावरजान्हतौजास्तद्विक्रियादर्शनलुप्तहर्षान् ।
कौलीनमात्माश्रयमाचचक्षे तेभ्यः पुनश्चेदमुवाच वाक्यम् ॥ ३६ ॥

स इति । हतौजा निस्तेजस्कः स रामस्तस्य रामस्य विक्रियादर्शनेन लुप्तहर्षानवरजान्सन्निपात्य सङ्गमय्यात्माश्रयं स्वविषयकं कौलीनं निन्दां तेभ्य आचचक्षे । पुनरिदं वाक्यमुवाच च ॥ ३६ ॥

क्षीण तेजवाले (उदास मुखड़ेवाले) वे राम छोटे भाईयोंको बुलाकर उनके विकार (उदासी) को देखकर दुःखित उन लोगोंसे 'अपने विषयमें होनेवाली निन्दाको कहकर फिर यह वचन कहे—॥ ३६ ॥

राजर्षिवंशस्य रविप्रसूतेरुपस्थितः पश्यत कीदृशोऽयम् ।
मत्तः सदाचारशुचेः कलङ्कः पयोदवातादिव दर्पणस्य ॥ ३७ ॥

राजर्षीति । रवेः प्रसूतिर्जन्म यस्य तस्य राजर्षिवंशस्य सदाचारशुचेः सद्वृत्ता-च्छुद्धान्मत्तो मत्सकाशात् । दर्पणस्य पयोदवातादिव, अम्भः कणादित्यर्थः। कीदृशोऽयं कलङ्क उपस्थितः प्राप्तः पश्यत ॥ ३७ ॥

"सूर्यवंशीय राजर्षियोंके कुलमें उत्पन्न और सदाचारी मुझसे मेघकी हवासे दर्पणके समान यह कैसा (अकल्पनीय) कलङ्क पैदा हुआ" यह तुमलोग देखो ॥ ३७ ॥

पौरेषु सोऽहं बहुलीभवन्तमपां तरङ्गेष्विव तैलबिन्दुम् ।
सोढुं न तत्पूर्वमवर्णमीशे आलानिकं स्थाणुमिव द्विपेन्द्रः ॥ ३८ ॥

पौरेष्विति । सोऽहम् । अपां तरङ्गेषु तैलबिन्दुमिव पौरेषु बहुलीभवन्तं प्रसरन्त-म् । स एव पूर्वो यस्य स तम् । तत्पूर्वमवर्णमपवादम् । 'अवर्णाक्षेपनिर्वादपरीवादा-पवादवत्' इत्यमरः । द्विपेन्द्रः । आलानमेवालानिकम् । विनयादित्वात्स्वार्थे ठक् । अथवाऽऽलानं बन्धनं प्रयोजनमस्येत्यालानिकम् । "प्रयोजनम्" इति ठक् । स्थाणुं स्तम्भमिव । चूतवृक्ष इतिवत्सामान्यविशेषभावादपौनरुक्त्यं द्रष्टव्यम् । सोढुं नेशे न शक्नोमि ॥ ३८ ॥

वह मैं जलके तरङ्गोंपर तैलबिन्दुके समान नागरिकोंमें फैलते हुए सर्वप्रथम अपयशको उस प्रकार सहनेमें असमर्थ हूं (वर्दाश्त नहीं कर सकता) जिस प्रकार गजराज पहले पहल बांधनेवाले खूंटेको सहनेमें असमर्थ होता है ३८ ॥

तस्यापनोदाय फलप्रवृत्तावुपस्थितायामपि निर्व्यपेक्षः ।
त्यक्ष्यामि वैदेहसुतां पुरस्तात्समुद्रनेमिं पितुराज्ञयेव ॥ ३९ ॥

तस्येति । तस्यावर्णस्यापनोदाय दूरीकरणाय फलप्रवृत्तावपत्योत्पत्तावुपस्थितायां सत्यामपि निर्व्यपेक्षो निःस्पृहः सन् । वैदेहसुताम् । पुरस्तात्पूर्वं पितुराज्ञया समुद्र-नेमिं समुद्रो नेमिरिव नेमिर्यस्याः सा भूमिः । तामिव त्यक्ष्यामि ॥ ३९ ॥

उस (अपयश) को दूर करनेके लिये फलको मालूम करते हुए भी निःस्पृह होकर सीता को पिताकी आज्ञासे सम्पूर्ण पृथ्वीके समान छोड़ूंगा ॥ ३९ ॥

ननु सर्वथा साध्वी न त्याज्येत्याह—

अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान्मतो मे ।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः ॥ ४० ॥

अवैमीति । एनां सीतामनघा साध्वीति चावैमि । किन्तु मे मम लोकापवादो

बलवान्मतः । कुतः । हि यस्मात्प्रजाभिर्भूमेश्छाया प्रतिबिम्बं शुद्धिमतो निर्मलस्य शशिनो मलत्वेन कलङ्कत्वेनारोपिता । अतो लोकापवाद एव बलवानित्यर्थः ॥ ४० ॥

इसे (सीताको) मैं निर्दोष जानता हूं, फिर भी लोकनिन्दाको मैं बड़ा मानता हूं, क्योंकि (चन्द्रमामें पड़नेवाली) भूमिकी परछाहीं को लोग निर्मल चन्द्रमाका कलङ्क कहते है, । (उसके अवास्तविक होनेपर भी लोग उसे ही सत्य मानते हैं, इसी प्रकार सीताके निर्दोष होनेपर, झूठी होने पर भी लोकनिन्दाको ही सत्य मानना तथा उसे दूर करना उचित मानता हूं) ॥ ४० ॥

रक्षोवधान्तो न च मे प्रयासो व्यर्थः स वैरप्रतिमोचनाय ।
अमर्षणः शोणितकाङ्क्षया किं पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः ॥ ४१ ॥

रक्ष इति । किञ्च मे रक्षोवधान्तः प्रयासो व्यर्थो न, किन्तु स वैरप्रतिमोचनाय वैरशोधनाय । तथा हि, अमर्षणोऽसहनो द्विजिह्वः सर्पः पदा पादेन स्पृशन्तं पुरुषं शोणितकाङ्क्षया दशति किम् ? किन्तु वैरनिर्यातनायेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

और रावणको मारनेका मेरा प्रयास व्यर्थ नहीं समझना चाहिये, क्योंकि वह तो विरोध का बदला लेनेके लिये था, क्या असहनशील (क्रोधी) सर्प पैरसे दबानेवाले व्यक्तिको रक्त पीने के लिये डँसता है ? अर्थात् नहीं, वह तो केवल बदला लेनेके लिये ही काटता है ॥ ४१ ॥

तदेष सर्गः करुणार्द्रचित्तैर्न मे भवद्भिः प्रतिषेधनीयः ।
यद्यर्थिता निर्हृतवाच्यशल्यान्प्राणान्मया धारयितुं चिरं वः ॥ ४२ ॥

तदिति । तत्तस्मादेष मे सर्गो निश्चयः । 'सर्गः स्वभावनिर्मोक्षनिश्चयाध्यायसृष्टिषु' इत्यमरः । करुणार्द्रचित्तैर्भवद्भिर्न प्रतिषेधनीयः । निर्हृतं वाच्यमेव शल्यं येषां तान्प्राणान्मया चिरं धारयितुं धारणं कारयितुं वो युष्माकमर्थितार्थित्वमिच्छा यदि । अस्तीति शेषः ॥ ४२ ॥

इस कारण निन्दारूप काँटेको निकालनेसे मेरा जीना चाहते हो तो करुणार्द्र होकर तुम लोग मेरे इस निश्चयको मना मत करना (क्योंकि ऐसी निन्दा होनेपर मैं जीनेकी अपेक्षा मर जाना अच्छा समझता हूं) ॥ ४२ ॥

इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां नितान्तरूक्षाभिनिवेशमीशम् ।
न कश्चन भ्रातृषु तेषु शक्तो निषेद्धुमासीदनुमोदितुं वा ॥ ४३ ॥

इतीति । इत्युक्तवन्तं जनकात्मजायां विषये नितान्तरूक्षाभिनिवेशमतिक्रूराग्रहमीशं स्वामिनं तेषु भ्रातृषु मध्ये कश्चनापि निषेद्धुं निवारयितुमनुमोदितुं प्रवर्तयितुं वा शक्तो नासीत्, पक्षद्वयस्यापि प्रबलत्वादित्यर्थः ॥ ४३ ॥

ऐसा कहे हुए सीतामें अत्यन्त कठोर निश्चय किये हुए राजा (राम) को भाइयोंमें से न तो कोई निषेध कर सका और न समर्थन कर सका ॥ ४३ ॥

स लक्ष्मणं लक्ष्मणपूर्वजन्मा विलोक्य लोकत्रयगीतकीर्तिः ।
सौम्येति चाभाष्य यथार्थभाषी स्थितं निदेशे पृथगादिदेश ॥ ४४ ॥

स इति । लोकत्रयगीतकीर्तिस्त्रैलोक्ये प्रथितयशा यथार्थभाषी लक्ष्मणपूर्वजन्मा लक्ष्मणाग्रजः स रामो निदेशे स्थितमाज्ञाकारिणं लक्ष्मणं विलोक्य 'हे सौम्य, सुभग' इत्याभाष्य च पृथग्भरतशत्रुघ्नाभ्यां विनाकृत्यादिदेशाज्ञापयामास ॥ ४४ ॥

तीनों लोकमें व्याप्त यशवाले, यथार्थवक्ता और लक्ष्मणके बड़े भाई वे (राम सर्वदा आज्ञापालनेवाले) लक्ष्मणसे ' हे सौम्य !' ऐसा सम्बोधितकर अलग (व्यक्ति गत रूप से) कहे—

प्रजावती दोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेव ।
स त्वं रथी तद्व्यपदेशनेयां प्रापय्य वाल्मीकिपदं त्यजैनाम् ॥ ४५ ॥

प्रजेति । दोहदो गर्भिणीमनोरथः, तच्छंसिनी ते प्रजावती भ्रातृजाया । 'प्रजावती भ्रातृजाया' इत्यमरः । तपोवनेषु स्पृहयालुरेव सस्पृहेव । "स्पृहिगृहिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच्" इत्यनेनालुच्प्रत्ययः । स त्वं रथी सन् । तद्व्यपदेशेन दोहदमिषेण नेयां नेतव्यामेनां सीतां वाल्मीकेः पदं स्थानं प्रापय्य गमयित्वा "विभाषापः" इत्ययादेशः । त्यज ॥ ४५ ॥

दोहद (गर्भकालीन इच्छा) को बतलाने वाली तुम्हारी भाभी (भौजाई सीता) तपोवनोंमें जाना ही चाहती है, वह तुम रथ पर सवार होकर उस बहाने से इसे वाल्मीकिके आश्रमको पहुंचाकर छोड़ आवो ॥ ४५ ॥

स शुश्रुवान्मातरि भार्गवेण पितुर्नियोगात्प्रहृतं द्विषद्वत् ।
प्रत्यग्रहीदग्रजशासनं तदाज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया ॥ ४६ ॥

स इति । पितुर्जमदग्नेर्नियोगाच्छासनाद्भार्गवेण जामदग्न्येन कर्त्रा । "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इत्यनेन षष्ठीप्रतिषेधः । मातरि द्विषतीव द्विषद्वत् । "तत्र तस्येव" इति वतिप्रत्ययः । प्रहृतं प्रहारं शुश्रुवाञ्श्रुतवान् । "भाषायां सदवसश्रुवः" इति क्वसुप्रत्ययः । स लक्ष्मणस्तदग्रजशासनं प्रत्यग्रहीत् । हि यस्माद् गुरूणामाज्ञाऽविचारणीया ॥ ४६ ॥

जिसप्रकार परशुरामने माताको शत्रुके समान मारने के लिये पिता की आज्ञाको सुनकर स्वीकार किया था अर्थात् तदनुसार माताको मारा भी था, उसी प्रकार लक्ष्मणने बड़े भाई (राम) की आज्ञा को स्वीकार किया क्योंकि बड़ोंकी आज्ञा विचारणीय नहीं होती (अर्थात् गुरुजन की यह आज्ञा उचित है या अनुचित ऐसा विचार करना ठीक नहीं) ॥ ४६ ॥

अथानुकूलश्रवणप्रतीतामत्रस्नुभिर्युक्तधुरं तुरङ्गैः।
रथं सुमन्त्रप्रतिपन्नरश्मिमारोप्य वैदेहसुतां प्रतस्थे ॥ ४७ ॥

अथेति। अथासौ लक्ष्मणः। अनुकूलश्रवणेन प्रतीतामिष्टाकर्णनेन तुष्टां वैदेहसुतामत्रस्नुभिरभीरुभिर्गर्भिणीवहनयोग्यैः। "त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः" इति क्नुप्रत्ययः। तुरङ्गैर्युक्तधुरं सुमन्त्रेण प्रतिपन्नरश्मि गृहीतप्रग्रहं रथमारोप्य प्रतस्थे ॥ ४७ ॥

परशुरामके प्रसङ्गकी यह पौराणिक वार्ता पहले (११।६५) लिखी जा चुकी है।

इसके बाद (ये लक्ष्मण) अनुकूल बात (तपोवनमें जाना) सुननेसे प्रसन्न जनक-नन्दिनी को निडर (किसी नवीन वस्तु या जानवर आदिको देखकर नहीं भड़कने या अड़ने वाले) घोड़ों से युक्त हुए और सुमन्त्रसे हांके जाते हुए रथपर चढ़ाकर (तपोवनको) चल पड़े ॥ ४७ ॥

सा नीयमाना रुचिरान्प्रदेशान्प्रियङ्करो मे प्रिय इत्यनन्दत्।
नाबुद्ध कल्पद्रुमतां विहाय जातं तमात्मन्यसिपत्रवृक्षम् ॥ ४८ ॥

सेति। सा सीता रुचिरान्मनोज्ञान्प्रदेशान्नीयमाना प्राप्यमाणा सती मे मम प्रियः प्रियं करोतीति प्रियङ्करः प्रियकारीत्यनन्दत्। "क्षेमप्रियमद्रेऽण्च" इति चकाराखच्प्रत्ययः। तं प्रियमात्मनि विषये कल्पद्रुमतां सुरवृक्षतां विहायासिपत्रवृक्षं जातं नाबुद्ध नाज्ञासीत्। बुध्यतेर्लुङ्। असिपत्रः खड्गाकारदलः कोऽप्यपूर्वो वृक्षविशेषः। 'असिपत्रो भवेत्कोषाकारे च नरकान्तरे' इति विश्वः। आसन्नघातुक इति भावः ॥ ४८ ॥

मनोहर स्थानोंको लिवा जाती हुई सीता "मेरे प्रिय (राम) प्रिय करनेवाले हैं" ऐसा (समझती हुई) प्रसन्न हुई, (किन्तु) अपने विषयमें कल्पवृक्षके भावको छोड़कर असिपत्र वन (जिस वनके पौधें और वृक्षादिके पत्ते तलवारके समान हैं, ऐसे दुखदायी सघन वन) के वृक्ष (अत्यन्त दुखदायी) बने हुए उनको नहीं समझा ॥ ४८ ॥

जुगूह तस्याः पथि लक्ष्मणो यत्सव्येतरेण स्फुरता तदक्ष्णा।
आख्यातमस्यै गुरु भावि दुःखमत्यन्तलुप्तप्रियदर्शनेन ॥ ४९ ॥

जुगूहेति। पथि लक्ष्मणो यद् दुःखं तस्याः सीताया जुगूह प्रतिसंहृतवांस्तद्गुरु भावि भविष्यद् दुःखमत्यन्तलुप्तं प्रियदर्शनं यस्य तेन स्फुरता सव्येतरेण दक्षिणेनाक्ष्णाऽस्यै सीताया आख्यातम्। स्त्रीणां दक्षिणाक्षिस्फुरणं दुर्निमित्तमाहुः ॥ ४९ ॥

लक्ष्मणने जिस बातको रास्तेमें छिपाया, उस भावी महान् दुःखको प्रिय (रामके) दर्शनसे सर्वदाके लिये वञ्चित रहनेवाली फड़कती हुई दाहिनी आंखने सीतासे बतला दिया (दाहिनी आंख के फड़कनेसे सीताको भावी प्रिय-विरहकी आशङ्का होने लगी) ॥ ४९ ॥

सा दुर्निमित्तोपगताद्विषादात्सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा।
राज्ञः शिवं सावरजस्य भूयादित्याशशंसे करणैरबाह्यैः॥ ५० ॥

सेति। सा सीता दुर्निमित्तेन दक्षिणाक्षिस्फुरणरूपेणोपगतात् प्राप्ताद्विषादाद् दुःखात्सद्यः परिम्लानमुखारविन्दा क्लान्तमुखकमला सता सावरजस्य सानुजस्य राज्ञो रामस्य शिवं भूयादित्यबाह्यैः करणैरन्तःकरणैराशशंसे। शंसतेरपेक्षायामात्मनेपदमिष्यते। करणैरिति बहुवचनं क्रियावृत्त्यभिप्रायम्। पुनः पुनराशशंसेत्यर्थः॥ ५०॥

अशकुनके कारण उत्पन्न विषादसे तत्काल मलिन मुखकमलवाली वह (सीता) "छोटे भाईके सहित राजा (रामचन्द्र) का कल्याण हो" ऐसा अन्तः करणसे कहने (मनाने) लगी॥ ५०॥

गुरोर्नियोगाद्वनितां वनान्ते साध्वीं सुमित्रातनयो विहास्यन्।
अवार्यतेवोत्थितवीचिहस्तैर्जह्नोर्दुहित्रा स्थितया पुरस्तात्॥ ५१॥

गुरोरिति। गुरोर्ज्येष्ठस्य नियोगात्साध्वीं वनिताम्, अस्याज्यामित्यर्थः। वनान्ते विहास्यंस्त्यक्ष्यन्सुमित्रातनयो लक्ष्मणः पुरस्तादग्रे स्थितया जह्नोर्दुहित्रा जाह्नव्योत्थितैर्वीचिहस्तैरवार्यतेव। अकार्यं मा कुर्वित्यवार्यतेव। इत्युत्प्रेक्षा॥ ५१॥

बड़े भाई (राम) की आज्ञासे पतिव्रता स्त्री (सीता) को भविष्यमें छोड़ते हुए सुमित्राकुमार (लक्ष्मण)को मानो आगे स्थित गङ्गाजीके ऊपर उठते हुए तरङ्गरूपी हाथोंने मना किया॥ ५१॥

रथात्स यन्त्रा निगृहीतवाहात्तां भ्रातृजायां पुलिनेऽवतार्य।
गङ्गां निषादाहृतनौविशेषस्ततार सन्धामिव सत्यसन्धः॥ ५२॥

रथादिति। सत्यसन्धः सत्यप्रतिज्ञः स लक्ष्मणो यन्त्रा सारथिना निगृहीतवाहाद्बद्धाश्वाद्रथाद् भ्रातृजायां पुलिनेऽवतार्यारोप्य निषादेन किरातेनाहृतनौविशेष आनीतहढनौकः सन्। गङ्गां भागीरथीं सन्धां प्रतिज्ञामिव ततार। 'सन्धा प्रतिज्ञा मर्यादा' इत्यमरः॥ ५२॥

सत्य प्रतिज्ञावाले वे (लक्ष्मण) सारथि (सुमन्त्र) से रोके गये घोड़ोंवाले रथसे उस भाभी (सीताजी) को किनारेपर उतारकर निषादके द्वारा लायी हुई नावसे गङ्गाको प्रतिज्ञा के समान पार किये॥ ५२॥

अथ व्यवस्थापितवाक्कथञ्चित्सौमित्रिरन्तर्गतबाष्पकण्ठः।
औत्पातिकं मेघ इवाश्मवर्षं महीपतेः शासनमुज्जगार॥ ५३॥

अथेति । अथ कथञ्चिद्व्यवस्थापिता प्रकृतिमापादिता वाग्येन सः अन्तर्गतबाष्पः कण्ठो यस्य सः, कण्ठस्तम्भिताश्रुरित्यर्थः । सौमित्रिर्महीपतेः शासनम् । मेघ उत्पाते भवमौत्पातिकमश्मवर्षं शिलावर्षमिव उज्जगारोद्गीर्णवान् । दारुणत्वेनावाच्यत्वादुज्जगारेत्युक्तम् ॥ ५३ ॥

इसके बाद किसी प्रकार अर्थात् बड़ी कठिनाईसे अपने वचनको प्रकृतिस्थकर (कहनेके लिये दृढ़ होकर) वाष्पसे गद्गदकण्ठवाले लक्ष्मण, उत्पातमें होनेवाली ओलोंकी वर्षाको मेघके समान, राजाकी आज्ञाको बाहर किया अर्थात् कहा ॥ ५३ ॥

ततोऽभिषङ्गानिलविप्रविद्धा प्रभ्रश्यमानाभरणप्रसूना ।
स्वमूर्तिलाभप्रकृतिं धरित्रीं लतेव सीता सहसा जगाम ॥ ५४ ॥

तत इति । ततः अभिषङ्गः भर्तृपरित्यागरूपः पराभवः । 'अभिषङ्गः पराभवे' इत्यमरः । स एवानिलस्तेन विप्रविद्धा अभिहता । प्रभ्रश्यमानानि पतन्त्याभरणान्येव प्रसूनानि यस्याः सा सीता लतेव । सहसा स्वमूर्तिलाभस्य स्वशरीरलाभस्य स्वोत्पत्तेः प्रकृतिं कारणं धरित्रीं जगाम, भूमौ पपातेत्यर्थः । स्त्रीणामापदि मातैव शरणमिति भावः ॥ ५४ ॥

इसके बाद तिरस्कार रूपी आंधीसे अभिहत तथा गिरते हुए पुष्परूपी भूषणोंवाली लताके समान वह अपने शरीरके उत्पत्तिका कारणभूत पृथ्वीको प्राप्त हुई अर्थात् तेज हवाके लगनेसे गिरते हुए फूलोंवाली लता जिस प्रकार पृथ्वी पर पड़ती है, उसी प्रकार निन्दासे अभिहत एवं गिरते हुए भूषणोंवाली सीता अपनी उत्पत्तिके कारण पृथ्वीपर गिर पड़ी ॥

पौराणिक वार्ता—अनावृष्टिसे देशमें कई वर्षोंतक लगातार अकाल पड़नेपर महर्षियोंकी आज्ञासे मिथिलानरेश जनकजीने स्वयं हल चलाया, उसी समय हलके अग्रभागसे सीताजी उत्पन्न हुई, पृथ्वी उनकी माता तथा पालन-पोषण करनेसे जनकजी पिता हुए ।

इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वां त्यजेदकस्मात्पतिरार्यवृत्तः ।
इति क्षितिः संशयितेव तस्यै ददौ प्रवेशं जननी न तावत् ॥ ५५ ॥

इक्ष्वाकिति । इक्ष्वाकुवंशप्रभवः, महाकुलप्रसूतिरित्यर्थः । आर्यवृत्तः साधुचरितः पतिर्भर्ता त्वामकस्मादकारणात्कथं त्यजेत्, असम्भावितमित्यर्थः । इति संशयितेव सन्दिहानेव तावत् , त्यागहेतुज्ञानावधेः प्रागित्यर्थः । जननी क्षितिस्तस्यै सीतायै प्रवेशम् , आत्मनीति शेषः । न ददौ ॥ ५५ ॥

"इक्ष्वाकु वंशमें उत्पन्न एवं सदाचारी पति (राम) तुमको एकाएक क्यों छोड़ रहे हैं?" इस प्रकार सन्देहयुक्त-सी माता पृथ्वीने उस सीताके लिये (अपनेमें) प्रवेश (स्थान) नहीं दिया ॥ ५५ ॥

सा लुप्तसंज्ञा न विवेद दुःखं प्रत्यागतासुः समतप्यतान्तः ।
तस्याः सुमित्राऽऽत्मजयत्नलब्धो मोहादभूत्कष्टतरः प्रबोधः ॥ ५६ ॥

सेति । लुप्तसंज्ञा नष्टचेतना मूर्च्छिता सा दुःखं न विवेद । प्रत्यागतासुर्लब्धसंज्ञा सत्यन्तः समतप्यत, दुःखेनादह्यतेत्यर्थः । तपेः कर्मणि लङ् । कर्मकर्तरीति केचित् । तन्न । "तपस्तपः कर्मकस्यैव" इति यङ्नियमात् । तस्याः सीतायाः सुमित्राऽऽत्मजयत्नलब्धः प्रबोधो मोहात्कष्टतरोऽति दुःखदोऽभूत् । दुःखवेदनासम्भवादिति भावः ॥ ५६ ॥

वह (सीता) मूर्च्छित होकर दुःखको नहीं जाना (और) होशमें आकर अन्तःकरणमें सन्तप्त होने लगी । सुमित्रा-तनय (लक्ष्मण) के बहुत प्रयत्नों (शीतल जल-सिञ्चन आदि) से प्राप्त उस (सीता) का ज्ञान (होशमें आना) मूर्च्छासे अधिक कष्ट कारक हुआ ॥५६॥

न चावदद्भर्तुरवर्णमार्या निराकरिष्णोर्वृजिनादृतेऽपि ।
आत्मानमेव स्थिरदुःखभाजं पुनः पुनर्दुष्कृतिनं निनिन्द ॥ ५७ ॥

नेति । आर्या साध्वी सा सीता वृजिनादृते एनसो विनाऽपि । 'कलुषं वृजिनैनोऽघम्' इत्यमरः । "अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते" इत्यनेन पञ्चमी । निराकरिष्णोर्निरासकस्य । "अलंकृञ्निराकृञ्" इत्यनेनेष्णुच्प्रत्ययः । भर्तुरवर्णमपवादं न चावदन्नैवावादीत् । किन्तु स्थिरदुःखभाजमत एव दुष्कृतिनमात्मानं पुनः पुनर्निनिन्द ॥ ५७ ॥

साध्वी (सीता) ने विना अपराधके त्याग करनेवाले पति (राम) को निन्दित वचन नहीं कहा, किन्तु स्थिर दुःखको भोगनेवाली, अपनी पापी आत्माकी ही वार २ निन्दा की ॥५७॥

आश्वास्य रामावरजः सतीं तामाख्यातवाल्मीकिनिकेतमार्गः ।
निघ्नस्य मे भर्तृनिदेशरौक्ष्यं देवि क्षमस्वेति बभूव नम्रः ॥ ५८ ॥

आश्वास्येति । रामावरजो लक्ष्मणः सतीं साध्वीं तामाश्वास्य आख्यात उपदिष्टो वाल्मीकेर्निकेतस्याश्रमस्य मार्गो येन स तथोक्तः सन् । निघ्नस्य पराधीनस्य । 'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः । मे भर्तृनिदेशेन स्वाम्यनुज्ञया हेतुना यद्रौक्ष्यं पारुष्यं तद्धे देवि ! क्षमस्व इति नम्रः प्रणतो बभूव ॥ ५८ ॥

रामके छोटे भाई (लक्ष्मण) साध्वी सीताको आश्वासन (ढाढ़स) देकर वाल्मीकि आश्रमका रास्ता बतलाकर "हे देवि ! पराधीन मेरे, स्वामीकी आज्ञाकी रूक्षता (रूखापन) को क्षमा करो" यह कह कर प्रणाम किये ॥ ५८ ॥

सीता तमुत्थाप्य जगाद वाक्यं प्रीताऽस्मि ते सौम्य चिराय जीव ।
बिडौजसा विष्णुरिवाग्रजेन भ्रात्रा यदित्थं परवानसि त्वम् ॥ ५९ ॥

सीतेति। सीता तं लक्ष्मणमुत्थाप्य वाक्यं जगाद। किमिति। हे सौम्य साधो! ते प्रीताऽस्मि चिराय चिरं जीव। यद्यस्मात्। बिडौजसेन्द्रेण विष्णुरुपेन्द्र इव अग्रजेन ज्येष्ठेन भ्रात्रा त्वमित्थं परवान्परतन्त्रोऽसि॥ ५९॥

उनको उठाकर सीता बोली—"हे सौम्य! तुम चिरंजीवी होवो, मैं तुमपर प्रसन्न हूं, जो तुम बड़े भाई से इन्द्रसे विष्णुके समान इस प्रकार पराधीन हो॥५९॥

श्वश्रूजनं सर्वमनुक्रमेण विज्ञापय प्रापितमत्प्रणामः।
प्रजानिषेकं मयि वर्तमानं सूनोरनुध्यायत चेतसेति॥ ६०॥

श्वश्रूजनमिति। सर्वं श्वश्रूजनमनुक्रमेण प्रापितमत्प्रणामः सन्, मत्प्रणाममुक्त्वेत्यर्थः। विज्ञापय। किमिति। निषिच्यत इति निषेकः। मयि वर्तमानं सूनोस्त्वत्पुत्रस्य प्रजानिषेकं गर्भं चेतसाऽनुध्यायत शिवमस्त्विति चिन्तयतेति॥ ६०॥

यथायोग्य सब सासुओंसे मेरा प्रणाम कहकर कहना कि—'मुझमें स्थित, (रामचन्द्रजी) के सन्तानवीर्य अर्थात् गर्भको आपलोग हृदयसे स्मरण रखना अर्थात् उसकी मङ्गल कामना करना॥ ६०॥

वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य॥ ६१॥

वाच्य इति। स राजा त्वया मद्वचनान्मद्वचनमिति कृत्वा। ल्यब्लोपे पञ्चमी। वाच्यो वक्तव्यः। किमित्यत आह—'वह्नौ' इत्यादिभिः सप्तभिः श्लोकैः। अक्ष्णोः समीपे समक्षम्। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः, सामीप्यार्थे वा। "अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः" इति समासान्तष्टच्प्रत्ययः। समक्षमग्रे वह्नौ विशुद्धामपि मां लोकवादस्य मिथ्याऽपवादस्य श्रवणाद्धेतोरहासीरत्याक्षीरिति यत्तच्छ्रुतस्य प्रख्यातस्य कुलस्य सदृशं किम्? किन्त्वसदृशमित्यर्थः। यद्वा श्रुतस्य श्रवणस्य चेति योजना। कामचार्यसीति भावः॥ ६१॥

मेरे कहनेसे उस राजा (रामचन्द्रजी) को तुम कहना कि—प्रत्यक्षमें अग्निमें शुद्ध भी मुझको लोक-निन्दाके सुनने से जो तुमने छोड़ दिया है वह लोकविख्यात तुम्हारे कुलके योग्य है?॥ ६१॥

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शङ्कनीयः।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः॥ ६२॥

कल्याणेति। अथवा कल्याणबुद्धेः सुधियस्तव कर्तुः मयि विषयेऽयं त्यागो न कामचार इच्छया करणं न शङ्कनीयः, कामचारशङ्काऽपि न क्रियत इत्यर्थः। किन्तु ममैव जन्मान्तरपातकानामप्रसह्यो विपच्यत इति विपाकः फलं स एव विस्फूर्जथुरशनिनिर्घोषः। 'स्फूर्जथुर्वज्रनिर्घोषः' इत्यमरः॥ ६२॥

अथवा इसे श्रेष्ठ बुद्धिवाले तुम्हारी मनमानी करने की आशङ्का मुझे नहीं करनी चाहिये, (किन्तु) मेरे दूसरे जन्मोंके पापोंका असह्य परिणाम रूप वज्रपात (या बिजलीकी कड़क) है॥

उपस्थितां पूर्वमपास्य लक्ष्मीं वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः ।
तदास्पदं प्राप्य तयातिरोषात्सोढाऽस्मि न त्वद्भवने वसन्ती ॥ ६३ ॥

उपस्थितामिति । पूर्वमुपस्थितां प्राप्तां लक्ष्मीमपास्य मया सार्धं वनं प्रपन्नोऽसि । प्राप्तोऽसि । तत्तस्मात्तया लक्ष्म्याऽतिरोषात्त्वद्भवन आस्पदं प्रतिष्ठाम् । "आस्पदं प्रतिष्ठायाम्" इति निपातः । प्राप्य वसन्त्यहं सोढा नास्मि ॥ ६३ ॥

पहले प्राप्त हुई राजलक्ष्मीको छोड़कर मेरे साथ बनको गये थे, इस कारण तुम्हारे यहां आदर पाकर रहती हुई मुझे उस राजलक्ष्मीने सहन नहीं किया ॥ ६३ ॥

निशाचरोपप्लुतभर्तृकाणां तपस्विनीनां भवतः प्रसादात् ।
भूत्वा शरण्या शरणार्थमन्यं कथं प्रपत्स्ये त्वयि दीप्यमाने ॥ ६४ ॥

निशाचरेति । निशाचरैरुपप्लुताः पीडिता भर्तारो यासां ता निशाचरोपप्लुतभर्तृकाः । "नद्यृतश्च" इति कप्प्रत्ययः । तासां तपस्विनीनां भवतः प्रसादादनुग्रहाच्छरण्या शरणसमर्था भूत्वा । अद्य त्वयि दीप्यमाने प्रकाशमाने सत्येव शरणार्थमन्यं तपस्विनं कथं प्रपत्स्ये प्राप्स्यामि ॥ ६४ ॥

राक्षसोंसे पीड़ित पतियोंवाली तपस्विनियोंके शरण्य (शरणागतमें सद्व्यवहार करनेवाली) होकर आपके समर्थ रहते हुए दूसरे के शरणपानेके लिये कैसे जाऊँ ? ॥ ६४ ॥

किं वा तवात्यन्तवियोगमोघे कुर्यामुपेक्षां हतजीवितेऽस्मिन् ।
स्याद्रक्षणीयं यदि मे न तेजस्त्वदीयमन्तर्गतमन्तरायः ॥ ६५ ॥

किं वेति । किं वाऽथवा तव सम्बन्धिनाऽत्यन्तेन पुनःप्राप्तिरहितेन वियोगेन मोघे निष्फलेऽस्मिन्हतजीविते तुच्छजीविते उपेक्षां कुर्यां कुर्यामेव । रक्षणीयं रक्षणार्हमन्तर्गतं कुक्षिस्थं त्वदीयं तेजः शुक्रं गर्भरूपम् । 'शुक्रं तेजोरेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च' इत्यमरः । मे ममान्तरायो विघ्नो न स्याद्यदि ॥ ६५ ॥

अथवा यदि रक्षा करने योग्य मुझमें स्थित तुम्हारा तेज (गर्भ) यदि बाधक नहीं होता तो तुम्हारे नित्य विरहके कारण निष्फल इस अभागे जीवनकी भी मैं उपेक्षा कर देती अर्थात् मर जाती ॥ ६५ ॥

साऽहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये ।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥ ६६ ॥

सेति । साऽहं प्रसूतेरूर्ध्वं सूर्यनिविष्टदृष्टिः सती तथाविधं तपश्चरितुं यतिष्ये,

यथा भूयस्तेन तपसा मे मम जनमान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता स्याः विप्रयोगश्च न स्यात् ॥

वह मैं सन्तानके बाद सूर्यकी ओर देखती हुई वैसा तप करनेके लिये प्रयत्न करूंगी, जिससे जन्मान्तर में भी मेरे पति तुम्हीं होवो, और (मेरा तुमसे) वियोग न हो ॥ ६६ ॥

नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः ।
निर्वासिताऽप्येवमतस्त्वयाऽहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया ॥ ६७ ॥

नृपस्येति । वर्णानां ब्राह्मणादीनामाश्रमाणां ब्रह्मचर्यादीनां च पालनं यत्स एव नृपस्य धर्मो मनुना प्रणीत उक्तः । अतः कारणादेवं त्वया निर्वासिता निष्कासिताऽप्यहं तपस्विभिः सामान्यं साधारणं यथा भवति तथाऽवेक्षणीया । कलत्रदृष्टयभावेऽपि वर्णाश्रमदृष्टिः सीतायां कर्तव्येत्यर्थः ॥ ६७ ॥

मनुने वर्णाश्रमकी रक्षा करना राजाका धर्म कहा है, इस कारण बाहर निकाली हुई भी मुझको तुम सामान्य तपस्विनी के समान देखना (मुझको पत्नी न समझते हुए एक तपस्विनी समझ कर वर्णाश्रम-पालन के नाते मेरी भी अन्य तपस्विनियोंके समान रक्षा करना) ॥ ६७ ॥

तथेति तस्याः प्रतिगृह्य वाचं रामानुजे दृष्टिपथं व्यतीते ।
सा मुक्तकण्ठं व्यसनातिभाराच्चक्रन्द विग्ना कुररीव भूयः ॥ ६८ ॥

तथेतीति । तथेति तस्याः सीताया वाचं प्रतिगृह्याङ्गीकृत्य रामानुजे लक्ष्मणे दृष्टिपथं व्यतीतेऽतिक्रान्ते सति सा सीता व्यसनातिभाराद् दुःखातिरेकान्मुक्तकण्ठं यथा स्यात्तथा वाङ्मुक्त्येत्यर्थः । विग्ना भीता कुररीवोत्क्रोशीव । 'उत्क्रोशकुररौ समौ' इत्यमरः । भूयो भूयिष्ठं चक्रन्द चुक्रोश ॥ ६८ ॥

"अच्छा, वैसा करूंगा" इस प्रकार उस (सीता) के वचनको स्वीकार कर लक्ष्मणके दृष्टि से ओझल हो जाने पर अत्यन्त कष्टके कारण डरी हुई मृगीके समान फिर कण्ठ खोल कर (पुक्का फाड़कर) रोने लगी ॥ ६८ ॥

नृत्यं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान्विजहुर्हरिण्यः ।
तस्याः प्रपन्ने समदुःखभावमत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि ॥ ६९ ॥

नृत्यमिति । मयूरा नृत्यं विजहुस्त्यक्तवन्तः । वृक्षाः कुसुमानि । हरिण्य उपात्तान्दर्भान् इत्थं तस्याः सीतायाः समदुःखभावं प्रपन्ने तुल्यदुःखत्वं प्राप्ते वनेऽप्यत्यन्तं रुदितमासीत् । यथा रामगेहेऽपीत्यपिशब्दार्थः ॥ ६९ ॥

मयूरोंने नाचना, वृक्षोंने पुष्प और हरिणियोंने प्राप्त हुई कुशाओंको छोड़ दिया; उसके समान दुःखको पाये हुए वनमें भी ('अपि' शब्दसे अयोध्याके राजभवनमें भी) अत्यधिक रोना होने लगा ॥ ६९ ॥

तामभ्यगच्छद्रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः ।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः ॥ ७० ॥

तामिति । कुशेध्माहरणाय यातः कविर्वाल्मीको रुदितानुसारी संस्तां सीतामभ्यगच्छत् । अभिगमनं च दयालुतयेत्याह—निषादेति । निषादेन व्याधेन विद्धस्याण्डजस्य क्रौञ्चस्य दर्शनेनोत्थ उत्पन्नो यस्य शोकः श्लोकत्वमापद्यत, श्लोकरूपेणाविरभूदित्यर्थः । स च श्लोकः पठ्यते—"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः । यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥" इति । तिरश्चामपि दुःखं न सेहे किमुतान्येषामिति भावः ॥ ७० ॥

कुशा तथा हवन–समिधा लानेके लिये (आश्रम से) चले हुए कवि वाल्मीकि रोनेके शब्दके अनुसार आकर उसे (सीताको) प्राप्त किया; जिसका निषाद (व्याधा) के द्वारा मारे गये पक्षी (क्रौञ्च पक्षी) के देखनेसे उत्पन्न शोक श्लोक रूपमें परिणत हो गया (श्लोक बन गया) ॥ ७० ॥

पौराणिक वार्ता—एक समय वाल्मीकि मुनि मध्याह्न स्नान करनेके लिये आश्रमके पासमें बहती हुई तमसा नदीको जा रहे थे, उसी समय एक व्याधा मैथुन करते हुए क्रौञ्च–मिथुनमें से एक नर पक्षी पर बाण चलाया, उसे मारते हुए देख कर दयार्द्र–हृदय महर्षिके मुखसे वेदसे भिन्न एक नया ही लौकिक छन्दमें एकाएक यह श्लोक निकलपड़ा—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः । यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् १"

अर्थात् "हे व्याध ? जो तुमने मैथुन करते हुए क्रौञ्च पक्षीकी जोड़ीमें–से काम–मोहित एक (नर–पुरुष पक्षी) को मारा, अतः तुम बहुत वर्षों तक प्रतिष्ठा (सुख) को मत प्राप्त कर ।"

इसके बाद ब्रह्माने प्रकट होकर रामचरित वर्णन करनेके लिये आदेश देते हुए उनको अप्रतिहत ज्ञान दिया और महर्षि वाल्मीकिने 'रामायण' की रचनाकी, इसी कारणसे 'वाल्मीकीय रामायण' आदिकाव्य तथा वाल्मीकि मुनि आदि कवि कहलाये ।

तमश्रु नेत्रावरणं प्रमृज्य सीता विलापाद्विरता ववन्दे ।
तस्यै मुनिर्दोहदलिङ्गदर्शी दाश्वान्सुपुत्राशिषमित्युवाच ॥ ७१ ॥

तमिति । सीता विलापाद्विरता सती नेत्रावरणं दृष्टिप्रतिबन्धकमश्रु प्रमृज्य तं मुनिं ववन्दे । दोहदलिङ्गदर्शी गर्भचिह्नदर्शी मुनिस्तस्यै सीतायै सुपुत्राशिषं तत्प्राप्तिहेतुभूतां दाश्वान्दत्तवानिति वक्ष्यमाणप्रकारेणावोच । "दाश्वान्साह्वान्मीढ्वांश्च" इति क्वस्वन्तो निपातः ॥ ७१ ॥

विलाप करना बन्दकर सीताने नेत्रके आवरण (देखनेमें बाधक) आँसूको पोंछ

कर मुनिको प्रणाम किया। गर्भके चिन्हको देखते हुए मुनि (वाल्मीकि मुनि) ने पुत्रवती होनेका आशीर्वाद देकर ऐसा कहा ॥ ७१ ॥

जाने विसृष्टां प्रणिधानतस्त्वां मिथ्याऽपवादक्षुभितेन भर्त्रा ।
तन्मा व्यथिष्ठा विषयान्तरस्थं प्राप्ताऽसि वैदेहि पितुर्निकेतम् ॥७२॥

जान इति । त्वां मिथ्याऽपवादेन क्षुभितेन भर्त्रा विसृष्टां त्यक्तां प्रणिधानतः समाधिदृष्ट्या जाने । हे वैदेहि ! विषयान्तरस्थं देशान्तरस्थं पितुर्जनकस्यैव निकेतं गृहं प्राप्ताऽसि । तत्तस्मान्मा व्यथिष्ठा मा शोचीः । व्यथेर्लुङ् । "न माङ्योगे" इत्यडागमप्रतिषेधः । भर्त्रोपेक्षितानां पितृगृहे वास एवोचित इति भावः ॥ ७२ ॥

झूठी लोक-निन्दासे क्षुब्ध पतिके द्वारा छोड़ी गई तुमको मैं ध्यानसे जानता हूँ। हे जनककुमारी ! दूसरे देशमें स्थित पिताके ही घर तुम पहुँच गई हो, अत एव दुखित मत होवो ॥ ७२ ॥

उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि ।
त्वां प्रत्यकस्मात्कलुषप्रवृत्तावस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे ॥ ७३ ॥

उत्खातेति । उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि । रावणादिकण्टकोद्धरणेन सर्वलोकोपकारिण्यपीत्यर्थः । सत्यप्रतिज्ञे सत्यसन्धेऽपि अविकत्थनेऽनात्मश्लाघिन्यपि इत्थंस्नेहपात्रेऽपि त्वां प्रत्यकस्मादकारणात्कलुषप्रवृत्तौ गर्हितव्यापारे भरताग्रजे मे मन्युः कोपोऽस्त्येव । सर्वगुणाच्छादकोऽयं दोष इत्यर्थः । सीताऽनुनयार्थोऽयं रामोपालम्भः ॥७३॥

तीनो लोकोंके कण्टकों को उखाड़े (राक्षसोंको मारे) हुए भी, (पिताकी आज्ञापालन कर १४ वर्ष वनमें रहने से) सत्य प्रतिज्ञावाले भी और आत्म-प्रशंसा नहीं करने वाले भी (उक्त तीनों गुणोंसे युक्त भी) तुम्हारे विषयमें निष्कारण निन्दित वर्ताव करनेवाले राम पर मेरा क्रोध है ही ॥ ७३ ॥

तवोरुकीर्तिः श्वशुरः सखा मे सतां भवोच्छेदकरः पिता ते ।
धुरि स्थिता त्वं पतिदेवतानां किं तन्न येनासि ममानुकम्प्या ॥ ७४ ॥

तवेति । उरुकीर्तिस्तव श्वशुरो दशरथो मे सखा । ते पिता जनकः सतां विदुषां भवोच्छेदकरो ज्ञानोपदेशादिना संसारदुःखध्वंसकारी । त्वं पतिदेवतानां पतिव्रतानां धुर्यग्रे स्थिता । येन निमित्तेन ममानुकम्प्याऽनुग्राह्या नासि तत्किम् । न किञ्चिदित्यर्थः ॥ ७४ ॥

बड़े यशस्वी तुम्हारे श्वशुर (दशरथ) मेरे मित्र थे, तुम्हारे पिता सज्जनोंके (ज्ञानोपदेश के द्वारा) संसारका नाश करने वाले हैं। पतिव्रताओंमें अग्रगणनीय तुम जिस कारण मेरी दयाके योग्य नहीं हो ऐसा कारण है ? अर्थात् ऐसा कोई कारण नहीं, जिससे मैं तुम्हारे ऊपर दया न करूं ॥ ७४ ॥

तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वे तपोवने वीतभया वसास्मिन् ।
इतो भविष्यत्यनघप्रसूतेरपत्यसंस्कारमयो विधिस्ते ॥ ७५ ॥

तपस्वीति । तपस्विसंसर्गेण विनीतसत्त्वे शान्तजन्तुकेऽस्मिंस्तपोवने वीतभया निर्भीका वस । इतोऽस्मिन्वनेऽनघप्रसूतेः सुखप्रसूतेस्तेऽपत्यसंस्कारमयो जातकर्मादिरूपो विधिरनुष्ठानं भविष्यति ॥ ७५ ॥

तपस्वियोंके संसर्गसे विनीत (हिंसक भावको छोड़े हुए) जन्तुओं वाले इस वनमें तुम निर्भय हो कर रहो । इस वनमें निर्विघ्न प्रसव करने वाली तेरी सन्तानका संस्कार कर्म होगा (अथवा निर्विघ्न प्रसव करने वाली तेरी सन्तानका संस्कार कर्म यहां से अर्थात् मेरी तरफ से होगा) ॥ ७५ ॥

अशून्यतीरां मुनिसन्निवेशैस्तमोपहन्त्रीं तमसां वगाह्य ।
तत्सैकतोत्सङ्गबलिक्रियाभिः सम्पत्स्यते ते मनसः प्रसादः ॥ ७६ ॥

अशून्येति । सन्निविशन्ते येष्विति सन्निवेशा उटजाः । अधिकरणार्थे घञ्प्रत्ययः । मुनीनां सन्निवेशैरुटजैरशून्यतीरां पूर्णतीरां तमसः शोकस्य पापस्य वा हन्त्रीम् । 'तमस्तु क्लीबे पापे नरकशोकयोः' इत्यमरः । तमसां नदीं वगाह्य तत्र स्नात्वा । बलिक्रियाऽपेक्षया पूर्वकालता । तस्याः सैकतोत्सङ्गेषु बलिक्रियाभिरिष्टदेवतापूजाविधिभिस्ते मनसः प्रसादः सम्पत्स्यते भविष्यति ॥ ७६ ॥

मुनियोंकी कुटियाओंसे अशून्य (परिपूर्ण) तीरवाली एवं शोक या पापका नाश करने वाली तमसा नदीमें गोता लगाकर उसके रेतीले तीरमें (इष्ट देवताओंकी) पूजासे तुम्हारा मन प्रसन्न होगा ॥ ७६ ॥

पुष्पं फलं चार्तवमाहरन्त्यो बीजं च बालेयमकृष्टरोहि ।
विनोदयिष्यन्ति नवाभिषङ्गामुदारवाचो मुनिकन्यकास्त्वाम् ॥ ७७ ॥

पुष्पमिति । ऋतुरस्य प्राप्त आर्तवम् , स्वकालप्राप्तमित्यर्थः । पुष्पं फलं च । अकृष्टरोह्यकृष्टक्षेत्रोत्थम् , अकृष्टपच्यमित्यर्थः । बलये हितं बालेयं पूजायोग्यम् । "छदिरुपधिबलेर्ढञ्" इति ढञ्प्रत्ययः । बीजं नीवारादि धान्यं चाहरन्त्य उदारवाचः प्रगल्भगिरो मुनिकन्यका नवाभिषङ्गां नूतनदुःखां त्वां विनोदयिष्यन्ति ॥ ७७ ॥

ऋतुओंमें पैदा होने वाले फूल तथा फलको तथा बिना जोते पैदा होने वाले पूजायोग्य (नीवार आदिके) बीजको लाती हुई तथा मधुर भाषिणी मुनिकन्यायें नवीन दुःखवाली तुमको प्रसन्न करेंगी ॥ ७७ ॥

पयोघटैराश्रमबालवृक्षान्संवर्धयन्ती स्वबलानुरूपैः ।
असंशयं प्राक् तनयोपपत्तेः स्तनन्धयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम् ॥ ७८ ॥

पय इति । स्वबलानुरूपैः स्वशक्त्यनुसारिभिः पयसामम्भसां घटैः स्तन्यैरिति च ध्वन्यते । आश्रमबालवृक्षान्संवर्धयन्ती त्वं तनयोपपत्तेः प्राक्पूर्वमसंशयं यथा तथा । स्तनं धयति पिबतीति स्तनन्धयः शिशुः । "नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः" इति खश्प्रत्ययः । "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इत्यनेन मुमागमः । तस्मिन्या प्रीतिस्तामवाप्स्यसि । ततः परं सुलभ एव विनोद इति भावः ॥ ७८ ॥

अपनी शक्तिके अनुकूल जलके घड़ोंसे आश्रमके छोटे २ वृक्षोंको (सींच २ कर) बढ़ाती हुई तुम पुत्रोत्पत्तिके पहले दूध पीनेवाले बच्चेके प्रेमको अवश्यमेव प्राप्त करेगी ॥ ७८ ॥

अनुग्रहप्रत्यभिनन्दिनीं तां वाल्मीकिरादाय दयाऽऽर्द्रचेताः ।
सायं मृगाध्यासितवेदिपार्श्वं स्वमाश्रमं शान्तमृगं निनाय ॥ ७९ ॥

अनुग्रहेति । दयाऽऽर्द्रचेता वाल्मीकिः अनुग्रहं प्रत्यभिनन्दतीति तथोक्तां तां सीतामादाय सायं मृगैरध्यासितवेदिपार्श्वमधिष्ठितवेदिप्रान्तं शान्तमृगं स्वमाश्रमं निनाय ॥ ७९ ॥

दयासे आर्द्र चित्तवाले वाल्मीकि मुनि उनके कृपाका प्रत्यभिनन्दन करने वाली उस (सीता) को लेकर सायङ्कालमें जहां पर वेदियोंके पासमें हरिण बैठे हैं ऐसे तथा शान्त हरिणों (या पशुओं) वाले अपने आश्रम में ले गये ॥ ७९ ॥

तामर्पयामास च शोकदीनां तदागमप्रीतिषु तापसीषु ।
निर्विष्टसारां पितृभिर्हिमांशोरन्त्यां कलां दर्श इवौषधीषु ॥ ८० ॥

तामिति । शोकदीनां तां सीतां तस्याः सीताया आगमेन प्रीतिर्यासां तासु तापसीषु । पितृभिरग्निष्वात्तादिभिर्निर्विष्टसारां भुक्तसारां हिमांशोरन्त्यामवशिष्टां कलां दर्शोऽमावास्याकाल ओषधीष्विव । अर्पयामास च । अत्र पराशरः-"पिबन्ति विमलं सोमं विशिष्टा तस्य ,या कला । सुधामृतमयीं पुण्यां तामिन्दोः पितरो मुने" ॥ इति । व्यासश्च-"अमायां तु सदा सोम ओषधीः प्रतिपद्यते" इति ॥ ८० ॥

(वाल्मीकि मुनिने) शोकसे दुःखित उस (सीता) को उसके आनेसे प्रसन्न हुई तपस्विनियोंमें उस प्रकार सौंपा (अग्निष्वात्त आदि) पितर से भुक्त सार वाली चन्द्रमाकी अन्तिम कलाको अमावस्या ओषधियोंमें समर्पित करता है ॥ ८० ॥

ता इङ्गुदीस्नेहकृतप्रदीपमास्तीर्णमेध्याजिनतल्पमन्तः ।
तस्यै सपर्याऽनुपदं दिनान्ते निवासहेतोरुटजं वितेरुः ॥ ८१ ॥

ता इति । तास्तापस्यस्तस्यै सीतायै सपर्याऽनुपदं पूजाऽनन्तरं दिनान्ते सायङ्काले निवास एव हेतुस्तस्य निवासहेतोः, निवासार्थमित्यर्थः । "षष्ठी हेतुप्रयोगे" इति षष्ठी । 'इङ्गुदी तापसतरुर्भूर्जे चर्मिमृदुत्वचौ' इत्यमरः । इङ्गुदीस्नेहेन कृतप्रदीपम्,

अन्तरास्तीर्णं मेध्यं शुद्धमजिनमेव तल्पं शय्या यस्मिंस्तमुटजं पर्णशालां वितेरुर्ददुः ॥ ८१ ॥

उन तपस्विनियोंने उस सीताके लिये, पूजनके बाद सायङ्कालमें निवास करने (सोने) के लिये इङ्गुदी–तैलके जलते हुए दीपक वाली, भीतरमें पवित्र बिछाये गये मृगचर्मकी शय्यावाली पर्णशाला को दिया ॥ ८१ ॥

तत्राभिषेकप्रयता वसन्ती प्रयुक्तपूजा विधिनाऽतिथिभ्यः ।
वन्येन सा वल्कलिनी शरीरं पत्युः प्रजासन्ततये बभार ॥ ८२ ॥

तत्रेति । तत्राश्रमेऽभिषेकेण स्नानेन प्रयता नियता वसन्ती विधिना शास्त्रेणातिथिभ्यः प्रयुक्तपूजा कृतसत्कारा वल्कलिनी सा सीता पत्युः प्रजासन्ततये सन्तानाविच्छेदाय हेतोः । वन्येन कन्दमूलादिना शरीरं बभार पुपोष ॥ ८२ ॥

वहां (आश्रममें) अभिषेक अर्थात् स्नानमें नियत, शास्त्रोक्त विधिसे अतिथि–सत्कार करनेवाली वल्कल धारण करती हुई वह सीता पति (रामचन्द्र) की सन्तानके विच्छेद (बीचमें नष्ट) नहीं होनेके लिये वनोत्पन्न कन्द–मूल–फल आदि से शरीर–पालन किया ८२

अपि प्रभुः सानुशयोऽधुना स्यात्किमुत्सुकः शक्रजितोऽपि हन्ता ।
शशंस सीतापरिदेवनान्तमनुष्ठितं शासनमग्रजाय ॥ ८३ ॥

अपीति । प्रभू राजाऽधुनाऽपि सानुशयः सानुतापः स्यात्किम् । इति काकुः । उत्सुकः शक्रजित इन्द्रजितो हन्ता लक्ष्मणोऽपि सीतापरिदेवनान्तं सीताविलापान्तमनुष्ठितं शासनमग्रजाय शशंस कथयामास ॥ ८३ ॥

"राजा (रामचन्द्र जी) अब भी (सीताके करुण सन्देशको सुनकर भी) दयालु होंगे क्या ?" इस प्रकार (विचार करते हुए) उत्कण्ठित, इन्द्रजित् (मेघनाद) के भी मारनेवाले (लक्ष्मण) सीताके विलापतक किये गये अनुशासन अर्थात् सीताके सन्देशको बड़ेभाई (राम) से कहा ॥ ८३ ॥

बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः ।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः ॥ ८४ ॥

बभूवेति । सहसा सपदि सबाष्पो रामः । तुषारवर्षी सहस्यचन्द्रः पौषेन्दुरिव बभूव । अत्यश्रुतया तुषारवर्षिणा पौषचन्द्रेण तुल्योऽभूत् । 'पौषे तैषसहस्यौ द्वौ' इत्यमरः । युक्तं चैतदित्याह–कौलीनाल्लोकापवादात् । 'स्यात्कौलीनं लोकवादे' इत्यमरः । भीतेन तेन रामेण वैदेहसुता सीता गृहान्निरस्ता । मनस्तो मनसस्तु न निरस्ता । पञ्चम्यास्तसिल् ॥ ८४ ॥

लक्ष्मणद्वारा सीताका सन्देश सुनकर तुषार बरसाने वाले पौषमासके चन्द्रमाके समान राम आंसू गिराने लगे, क्योंकि लोकनिन्दासे डरे हुए रामने सीताको घरसे निकालाथा, मनसे नहीं निकाला था (कारणकि सीताकी विशुद्धताके विषयमें रामको पूर्णतया विश्वास था) ८४

निगृह्य शोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः ।
स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास ॥ ८५ ॥

निगृह्येति । धीमान्वर्णानामाश्रमाणां चावेक्षणेऽनुसन्धाने जागरूकोऽप्रमत्तः । "जागर्तेरूकः" इत्यूकप्रत्ययः । रजोरिक्तमना रजोगुणशून्यचेताः स रामः स्वयमेव शोकं निगृह्य निरुध्य भ्रातृभिः साधारणभोगम् , शरीरस्थितिमात्रोपयुक्तमित्यर्थः । ऋद्धं समृद्धं राज्यं शशास ॥ ८५ ॥

बुद्धिमान्, वर्ण (ब्राह्मण आदि चार वर्ण) तथा आश्रम (ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रम) को देखनेमें सावधान तथा राजसिक गुणसे रहित अर्थात् सात्त्विक गुण युक्त चित्तवाले राम स्वयं ही शोकको दबाकर भाइयोंसे समान रूपमें भोग किये जाने वाले समृद्धिशाली राजका शासन करने लगे ॥ ८५ ॥

तामेकभार्यां परिवादभीरोः साध्वीमपि त्यक्तवतो नृपस्य ।
वक्षस्यसङ्घट्टसुखं वसन्ती रेजे सपत्नीरहितेव लक्ष्मीः ॥ ८६ ॥

तामिति । परिवादभीरोर्निन्दाभीरोरत एवैकभार्यामपि साध्वीमपि तां सीतां त्यक्तवतो नृपस्य रामचन्द्रस्य वक्षस्यसङ्घट्टसुखमसम्बाध्यसुखं वसन्ती लक्ष्मीः सपत्नीरहितेव रेजे दिदीपे । तस्य स्त्र्यन्तरपरिग्रहो नाभूदिति भावः ॥ ८६ ॥

निन्दाके भयसे साध्वी भी एक स्त्रीभी उस सीताका त्याग करने वाले राजा रामके हृदयमें कल्पनातीत सुखपूर्वक निवास करती हुई लक्ष्मी सपत्नी–रहित के समान शोभायमान हुई । (रामने एक पत्नीव्रतको धारण किया अर्थात् पुनः दूसरा विवाह नहीं किया) ॥ ८६ ॥

सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां
तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत्क्रतूनाजहार ।
वृत्तान्तेन श्रवणविषयप्रापिणा तेन भर्तुः
सा दुर्वारं कथमपि परित्यागदुःखं विषेहे ॥ ८७ ॥

सीतामिति । दशमुखरिपू रामः सीतां हित्वा त्यक्त्वाऽन्यां स्त्रियं नोपयेमे न परिणीतवानिति यत् । "उपाद्यमः स्वकरणे" इत्यात्मनेपदम् । किञ्च । तस्याः सीताया एव प्रतिकृतेः प्रतिमाया हिरण्मय्याः सखा प्रतिकृतिसखः सन् क्रतूनाजहाराहृतवा-

निति । "सस्त्रीको धर्ममाचरेत्" इति धर्मशास्त्रात् । यस्तेन श्रवणविषयप्रापिणा श्रोत्र-देशगामिना भर्तुर्वृत्तान्तेन वार्तया हेतुना सा सीता दुर्वारं दुर्निरोधं परित्यागेन यद् दुःखं तत्कथमपि विषेहे विसोढवती ॥ ८७ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये सीतापरित्यागो नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

रावणशत्रु (राम) ने सीताका त्यागकर दूसरा विवाह नहीं किया तथा उसीकी मूर्तिके साथ अर्थात् स्वर्णमयी सीताकी प्रतिमाको अर्द्धाङ्गिनी बनाकर जो यज्ञोंको किया। पतिके इस वृत्तान्तको सुनने से असह्य [illegible]मी त्यागके कष्टको उस (सीता) ने किसी प्रकार सहन किया ॥ ८७ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'सीतापरित्याग' नामक चतुर्दश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

आज दो सहस्र सात विक्रमीय वर्ष में । महाशिवरात्रिपर्वके हर्षप्रकर्ष में
रघुवंशका 'मणिप्रभा'ऽनुवाद चार सर्ग । राष्ट्रभाषामें किया विशद किया विवाद–वर्ग ॥ १ ॥
विश्वनाथ–पादाब्जमें अर्पित यह कृति भूरि । हो जन हर्षप्रदा सदा रामचरितमय भूरि ॥ २ ॥

पञ्चदशः सर्गः ।

आरण्यकं गृहस्थानं श्वशुरौ यद्रजःकणाः ।
स्वयमौद्वाहिकं गेहं तस्मै रामाय ते नमः ॥

कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम् ।
बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम् ॥ १ ॥

कृतेति । कृतसीतापरित्यागः स पृथिवीपालो रामो रत्नाकर एव मेखला यस्या॰ स्ताम्, सार्णवामित्यर्थः । केवलाम्, एकामित्यर्थः । पृथिवीमेव बुभुजे भुक्तवान्, न तु पार्थिवीमित्यर्थः । साऽपि रत्नखचितमेखला । पृथिव्याः कान्तासमाधिर्व्यज्यते । रामस्य स्त्र्यन्तरपरिग्रहो नास्तीति श्लोकाभिप्रायः ॥ १ ॥

यति-गृहस्थोंके श्वशुर जिसके हुए थे धूलि-कण ।
उद्वाह-मन्दिर थे स्वयं, उस राम-पदको नित नमन ॥

सीताका परित्यागकर वे राजा 'राम' समुद्ररूपी मेखला (करधनी) वाली केवल पृथ्वीका भोग करने लगे ॥ १ ॥

लवणेन विलुप्तेज्यास्तामिस्रेण तमभ्ययुः ।
मुनयो यमुनाभाजः शरण्यं शरणार्थिनः ॥ २ ॥

लवणेनेति । लवणेन लवणाख्येन तामिस्रेण तमिस्राचारिणा, रक्षसेत्यर्थः । विलु॰ प्तेज्या लुप्तयागक्रिया अत एव शरणार्थिनो यमुनाभाजो यमुनातीरवासिनो मुनयः शरण्यं शरणार्हं रक्षणसमर्थं तं रामं रक्षितारमभ्ययुः प्राप्ताः । यातेर्लङ् ॥ २ ॥

'लवण' नामक निशाचरसे नष्ट-भ्रष्ट किये गये यज्ञ करनेवाले, यमुना तटवासी शरणार्थी मुनिलोग शरणागतवत्सल रामके पास आये ॥ २ ॥

अवेक्ष्य रामं ते तस्मिन्न प्रजह्रुः स्वतेजसा ।
त्राणाभावे हि शापास्त्राः कुर्वन्ति तपसो व्ययम् ॥ ३ ॥

अवेक्ष्येति । ते मुनयो राममवेक्ष्य । रक्षितारमिति शेषः तस्मिंल्लवणे स्वतेजसा शापरूपेण न प्रजह्रुः । तथा हि, त्रायते इति त्राणं रक्षकम् । कर्तरि ल्युट् । तदभावे शाप एवास्त्रं येषां ते शापास्त्राः सन्तस्तपसो व्ययं कुर्वन्ति । शापदानात्तपसो व्यय इति प्रसिद्धेः ॥ ३ ॥

उन मुनियोंने रामको (अपना रक्षक) देखकर उस लवणासुरपर प्रहार नहीं किया अर्थात् लवणासुरको शाप देकर नष्ट नहीं किया; क्योंकि शाप ही अस्त्र है जिनका, ऐसे मुनिलोग रक्षकके न होनेपर तपको व्यय करते हैं । (क्रोधजन्य शापसे तप क्षीण होता है, अतएव मुनिलोग जबतक दूसरे रक्षकके द्वारा कार्यसिद्धि हो सकती है, तबतक किसी अपराधीको शापद्वारा दण्ड नहीं देते हैं ॥ ३ ॥

प्रतिशुश्राव काकुत्स्थस्तेभ्यो विघ्नप्रतिक्रियाम् ।
धर्मसंरक्षणार्थैव प्रवृत्तिर्भुवि शार्ङ्गिणः ॥ ४ ॥

प्रतीति । काकुत्स्थो रामस्तेभ्यो मुनिभ्यो विघ्नप्रतिक्रियां लवणवधरूपां प्रतिशुश्राव प्रतिजज्ञे। "प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता" इत्यनेन चतुर्थी। तथा हि, भुवि शार्ङ्गिणः विष्णोः प्रवृत्ती रामरूपेणावतरणं धर्मसंरक्षणमेवार्थः प्रयोजनं यस्याः सा तथैव ॥ ४ ॥

काकुत्स्थ (राम) ने उन मुनियोंसे विघ्नके प्रतिकार करने (लवणको मारने) की प्रतिज्ञा की, क्योंकि धर्म-रक्षाके लिये ही पृथ्वीपर विष्णुका अवतार होता है ॥ ४ ॥

ते रामाय वधोपायमाचख्युर्विबुधद्विषः ।
दुर्जयो लवणः शूली विशूलः प्रार्थ्यतामिति ॥ ५ ॥

त इति । ते मुनयो रामाय विबुधद्विषः सुरारेर्लवणस्य वधोपायमाचख्युः । लुनातीति लवणः । नन्द्यादित्वाल्ल्युः । तत्रैव निपातनाण्णत्वम् । लवणः शूली शूलवान्दुर्जयोऽजय्यः । किन्तु विशूलः शूलरहितः प्रार्थ्यतामभिगम्यताम् । 'याच्ञायामभियाने च प्रार्थना कथ्यते बुधैः' इति केशवः ॥ ५ ॥

उन मुनियोंने रामसे देववैरी लवणासुरके वधके उपायको—"वह लवणासुर शूलवाला और दुर्जय किन्तु शूल रहित है, उसपर चढ़ाई कीजिये" इस प्रकार कहा ॥ ५ ॥

आदिदेशाथ शत्रुघ्नं तेषां क्षेमाय राघवः ।
करिष्यन्निव नामास्य यथार्थमरिनिग्रहात् ॥ ६ ॥

आदिदेशेति । अथ तेषां मुनीनां क्षेमाय क्षेमकरणाय राघवो रामः शत्रुघ्नमादिदेश । अत्रोत्प्रेक्षते-अस्य शत्रुघ्नस्य नामारिनिग्रहाच्छत्रुहननाद्धेतोः । यथाभूतोऽर्थो यस्य तद्यथार्थं करिष्यन्निव । शत्रून्हन्तीति शत्रुघ्नः । "अमनुष्यकर्तृके च इति चकारात्कृतघ्नशत्रुघ्नादयः सिद्धा इति दुर्गसिंहः । पाणिनीयेऽपि बहुलग्रहणाद्यथेष्टसिद्धिः । "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति ॥ ६ ॥

इसके बाद रामने उन मुनियोंके कल्याणके लिये शत्रुघ्नको—शत्रुके निग्रह करने (दण्ड देने) से इन (शत्रुघ्न) के नामको चरितार्थ करते हुए के समान—आज्ञा दी । (लवणासुरको मारनेके लिये शत्रुघ्नको भेजा) ॥ ६ ॥

रामस्य स्वयमप्रयाणे हेतुमाह—

यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परन्तपः ।
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः ॥ ७ ॥

य इति । हि यस्मात् पराञ्छत्रूंस्तापयतीति परन्तपः । "द्विषत्परयोस्तापेः" इति खच्प्रत्ययः । "खचि ह्रस्वः" इति ह्रस्वः । रघूणां मध्ये यः कश्चनैकः । अपवादो विशेषशास्त्रमुत्सर्गं सामान्यशास्त्रमिव । परं शत्रुं व्यावर्तयितुं बाधितुमीश्वरः समर्थः । अतः शत्रुघ्नमेवादिदेशेति पूर्वेणान्वयः ॥ ७ ॥

शत्रुको दण्डित करनेवाला रघुवंशियोंमें कोई भी एक व्यक्ति शत्रुको पराजित करनेके लिये इस प्रकार समर्थ होता है, जिस प्रकार अपवाद शास्त्र उत्सर्ग शास्त्रको रोकनेमें समर्थ होता है ॥ ७ ॥

अग्रजेन प्रयुक्ताशीस्ततो दाशरथी रथी ।
ययौ वनस्थलीः पश्यन्पुष्पिताः सुरभीरभीः ॥ ८ ॥

अग्रजेनेति । ततोऽग्रजेन रामेण प्रयुक्ताशीः कृताशीर्वादो रथी रथिकोऽभीर्निर्भीको दाशरथिः पुष्पाणि सञ्जातानि यासां ताः पुष्पिताः सुरभीरामोदमाना वनस्थलीः पश्यन् ययौ ॥ ८ ॥

इसके बाद बड़े भाई (राम) से आशीर्वादको पाये हुए दशरथ-कुमार (शत्रुघ्न) रथपर सवार होकर निर्भय हो खिले हुए फूलोंवाली तथा सुगन्धित वनस्थलियोंको देखते हुए चले ॥ ८ ॥

रामादेशादनुगता सेना तस्यार्थसिद्धये ।
पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत् ॥ ९ ॥

रामेति । रामादेशादनुगता सेना तस्य शत्रुघ्नस्य । अध्ययनमर्थोऽभिधेयो यस्य तस्य । धातोः "इङ् अध्ययने" इत्यस्य धातोः पश्चादधिरध्युपसर्ग इव । अर्थसिद्धये प्रयोजनसाधनायेत्येकत्र । अन्यत्राभिधेयसाधनाय अभवत् । 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः । यथा "इङिकावध्युपसर्गं न व्यभिचरतः" इति न्यायेनाध्युपसर्गः स्वयमेवार्थसाधकस्य धातोः सन्निधिमात्रेणोपकरोति सेनाऽपि तस्य तद्वदिति भावः ॥ ९ ॥

रामकी आज्ञासे शत्रुघ्नके पीछे चलती हुई सेना अध्ययनार्थक (इङ्) धातुके अनुगत 'अधि' (उपसर्ग) के समान हुई । (जिस प्रकार "इङ् अध्ययने" धातुका साथ 'अधि' उपसर्ग कभी नहीं छोड़ता, उसी प्रकार शत्रुघ्नका साथ सेनाने कभी नहीं छोड़ा-बराबर उनके पीछे चलती रही) ॥ ९ ॥

आदिष्टवर्त्मा मुनिभिः स गच्छँस्तपतां वरः ।
विरराज रथप्रष्ठैर्वालखिल्यैरिवांशुमान् ॥ १० ॥

आदिष्टेति । रथप्रष्ठै रथाग्रगामिभिः । "प्रष्ठोऽग्रगामिनि" इति निपातः । मुनिभिः पूर्वोक्तैरादिष्टवर्त्मा निर्दिष्टमार्गो गच्छंस्तपतां देदीप्यमानानां मध्ये वरः श्रेष्ठः स शत्रुघ्नः । वालखिल्यैर्मुनिभिरंशुमान्सूर्य इव विरराज । तेऽपि रथप्रष्ठा इत्यनुसन्धेयम् ॥

रथगामी मुनियोंके द्वारा बतलाये गये मार्गवाले तेजस्वि-श्रेष्ठ वह शत्रुघ्न रथगामी बालखिल्य मुनियोंसे तेजस्वि-श्रेष्ठ सूर्यके समान शोभित हुए ॥ १० ॥

तस्य मार्गवशादेका बभूव वसतिर्यतः ।
रथस्वनोत्कण्ठमृगे वाल्मीकीये तपोवने ॥ ११ ॥

तस्येति। यतो गच्छतः। इण्धातोः शतृप्रत्ययः। तस्य शत्रुघ्नस्य मार्गवशाद्रथस्वन उत्कण्ठा उद्ग्रीवा मृगा यस्मिंस्तस्मिन्वाल्मीकीये वाल्मीकिसम्बन्धिनि। "वृद्धाच्छः" इति छप्रत्ययः। तपोवन एका वसती रात्रिर्बभूव। तत्रैकां रात्रिमुषित इत्यर्थः। 'वसती रात्रिवेश्मनोः' इत्यमरः॥ ११॥

जाते हुए उस शत्रुघ्नके रथकी ध्वनिसे उत्कण्ठित हरिणोंवाले, वाल्मीकि मुनिके तपोवनमें (उस शत्रुघ्नका) एक निवास हुआ अर्थात् शत्रुघ्न एक रात वाल्मीकि मुनिके आश्रममें ठहरे॥ ११॥

तमृषिः पूजयामास कुमारं क्लान्तवाहनम्।
तपःप्रभावसिद्धाभिर्विशेषप्रतिपत्तिभिः॥ १२॥

तमिति। क्लान्तवाहनं श्रान्तयुग्यं तं कुमारं शत्रुघ्नमृषिर्वाल्मीकिस्तपःप्रभावसिद्धाभिर्विशेषप्रतिपत्तिभिरुत्कृष्टसम्भावनाभिः आसनशयनपानादिभिः पूजयामास॥

ऋषि (वाल्मीकि) ने थके हुए वाहनों (घोड़े आदि सवारियों) वाले उस शत्रुघ्नका तपस्यासे सिद्ध विशेष सामग्रियोंद्वारा (अतिथि) सत्कार किया॥ १२॥

तस्यामेवास्य यामिन्यामन्तर्वत्नी प्रजावती।
सुतावसूत सम्पन्नौ कोशदण्डाविव क्षितिः॥ १३॥

तस्यामिति। तस्यामेव यामिन्यां रात्रावस्य शत्रुघ्नस्य। अन्तरस्या अस्तीत्यन्तर्वत्नी गर्भिणी। 'अन्तर्वत्नी च गर्भिणी' इत्यमरः। "अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्" इति ङीप् नुगागमश्च। प्रजावती भ्रातृजाया सीता। क्षितिः सम्पन्नौ समग्रौ कोशदण्डाविव सुतावसूत॥ १३॥

इस (शत्रुघ्न) की गर्भिणी भाभी (सीता) ने उसी रातमें समान कान्तिवाले दो पुत्रोंको वैसे उत्पन्न किया, जैसे पृथ्वी कोष तथा दण्डको उत्पन्न करती है॥ १३॥

सन्तानश्रवणाद्भ्रातुः सौमित्रिः सौमनस्यवान्।
प्राञ्जलिर्मुनिमामन्त्र्य प्रातर्युक्तरथो ययौ॥ १४॥

सन्तानेति। भ्रातुर्ज्येष्ठस्य सन्तानश्रवणाद्धेतोः सौमनस्यवान्प्रीतिमान्सौमित्रिः शत्रुघ्नः प्रातर्युक्तरथः सज्जरथः सन्। प्राञ्जलिः कृताञ्जलिर्मुनिमामन्त्र्यापृच्छ्य ययौ॥

इसके बाद प्रातःकाल भाई (रामचन्द्रजी) के पुत्रोत्पत्तिको सुननेसे प्रसन्न शत्रुघ्न रथको सजाकर बद्धाञ्जलि होकर वाल्मीकि मुनिसे पूछकर चल दिये॥ १४॥

स च प्राप मधूपघ्नं कुम्भीनस्याश्च कुक्षिजः।
वनात्करमिवादाय सत्त्वराशिमुपस्थितः॥ १५॥

स इति। स शत्रुघ्नश्च मधूपघ्नंनाम लवणपुरं प्राप। कुम्भीनसी नाम रावणस्वसा तस्याः कुक्षिजः पुत्रो लवणश्च वनात्करं बलिमिव सत्त्वानां प्राणिनां राशिमादायोपस्थितः प्राप्तः॥ १५॥

वे शत्रुघ्न 'मधूपघ्न' नामक लवण-नगरीमें पहुंचे, (वहां पर) कुम्भीनसी-पुत्र लवणासुर वनसे कर (टैक्स) के समान जीवसमूहको लेकर उपस्थित हुआ ॥ १५ ॥

धूमधूम्रो वसागन्धी ज्वालाबभ्रुशिरोरुहः ।
क्रव्याद्गणपरीवारश्चिताऽग्निरिव जङ्गमः ॥ १६ ॥

धूमेति । किम्भूतो लवणः । धूम इव धूम्रः कृष्णलोहितवर्णः । 'धूम्रधूमलौ कृष्णलोहिते' इत्यमरः । वसागन्धो हृन्मेदोगन्धः । सोऽस्यास्तीति वसागन्धी । 'हृन्मेदस्तु वपा वसा' इत्यमरः । ज्वाला इव बभ्रवः पिशङ्गाः शिरोरुहाः केशा यस्य स तथोक्तः। 'विपुले नकुले विष्णौ बभ्रुः स्यात्पिङ्गले त्रिषु' इत्यमरः । क्रव्यं मांसमदन्तीति क्रव्यादो राक्षसाः, तेषां गण एव परीवारो यस्य स तथोक्तः । अत एव जङ्गमश्चरिष्णुश्चिताऽग्निरिव स्थितः । कृशानुपक्षे–धूमैर्धूम्रवर्णः । ज्वाला एव शिरोरुहाः । क्रव्यादो गृध्रादयः इत्यनुसन्धेयम् ॥ १६ ॥

(वह लवणासुर) धूंएके समान धूम्र (लाल-काला) वर्णवाला, चर्बीके समान गन्धवाला, अग्निकी ज्वालाके समान पिङ्गलवर्णयुक्त केशोंवाला, राक्षसपरिवारवाला अर्थात् राक्षसोंसे युक्त—धूएंसे धूम्रवर्णवाली, ज्वालारूपी पिङ्गल केशोंवाली, कच्चे मांसको भक्षण करनेवाले गीध आदिसे युक्त-जङ्गम (चलने-फिरनेवाली) चिताग्निके समान था ॥१६॥

अपशूलं तमासाद्य लवणं लक्ष्मणानुजः ।
रुरोध सम्मुखीनो हि जयो रन्ध्रप्रहारिणाम् ॥ १७ ॥

अपशूलमिति । लक्ष्मणानुजः शत्रुघ्नोऽपशूलं शूलरहितं तं लवणमासाद्य रुरोध । तथा हि, रन्ध्रप्रहारिणां रन्ध्रप्रहरणशीलानाम् । अपशूलतैवात्र रन्ध्रम् । जयः सम्मुखीनो हि सम्मुखस्य दर्शनो हि । "यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः" इति खप्रत्ययः । अधिकारलक्षणार्थस्तु दुर्लभ एव ॥ १७ ॥

लक्ष्मणके छोटे भाई (शत्रुघ्न) ने शूलरहित उस लवणासुरको प्राप्तकर रोका; क्योंकि छिद्रयुक्त (शस्त्रादि साधनके न रहनेसे निर्बल) शत्रुपर प्रहार करनेवालोंकी विजय सामने रहती है अर्थात् निर्बल शत्रुपर प्रहार करनेवाले योद्धाकी अवश्य ही विजय होती है॥

नातिपर्याप्तमालक्ष्य मत्कुक्षेरद्य भोजनम् ।
दिष्ट्या त्वमसि मे धात्रा भीतेनेवोपपादितः ॥ १८ ॥
इति सन्तर्ज्य शत्रुघ्नं राक्षसस्तज्जिघांसया ।
प्रांशुमुत्पाटयामास मुस्तास्तम्बमिव द्रुमम् ॥ १९ ॥

नातीत्यादि । युग्मम् । राक्षसो लवणः । अद्य मत्कुक्षेः । भुज्यत इति भोजनम् । भोज्यं मृगादिकं नातिपर्याप्तमनतिसमग्रमालक्ष्य दृष्ट्वा भीतेनेव धात्रा दिष्ट्या भाग्येन मे त्वमुपपादितः कल्पितोऽसि । इति शत्रुघ्नं सन्तर्ज्य तस्य शत्रुघ्नस्य जिघांसया हन्तुमिच्छया प्रांशुमुन्नतं द्रुमम् । मुस्तास्तम्बमिव अक्लेशेनोत्पाटयामास ॥ १८–१९ ॥

"आज मेरे पेटके योग्य परिपूर्ण भोजन (इन वन्य मृग आदि पशुओं) को नहीं देखकर डरे हुए-से ब्रह्माने भाग्यसे तुमको मेरा भोजन कल्पित किया है" ऐसा डराकर राक्षस लवणासुर उस शत्रुघ्नको मारनेकी इच्छासे 'मोथा' नामक घासके डण्ठलके समान (अनायाससे) एक बड़े वृक्षको उखाड़ लिया ॥ १८-१९ ॥

सौमित्रेर्निशितैर्बाणैरन्तरा शकलीकृतः ।
गात्रं पुष्परजः प्राप न शाखी नैर्ऋतेरितः ॥ २० ॥

सौमित्रेरिति । नैर्ऋतेरितो रक्षःप्रेरितः शाख्यन्तरा मध्ये निशितैर्बाणैः शकलीकृतः सन्सौमित्रेः शत्रुघ्नस्य गात्रं न प्राप । किन्तु पुष्परजः प्राप ॥ २० ॥

लवणासुरके द्वारा फेंका गया वह वृक्ष सुमित्राकुमार (शत्रुघ्न) के तीक्ष्ण बाणोंसे बीचमें खण्डशः होकर नहीं पहुंच सका (शत्रुघ्नके तीक्ष्ण बाणोंसे बीचमें ही टुकड़ा २ होकर गिर पड़ा); किन्तु (उस वृक्ष के) पुष्पोंका पराग (शत्रुघ्नके पास) पहुंचा ॥ २० ॥

विनाशात्तस्य वृक्षस्य रक्षस्तस्मै महोपलम् ।
प्रजिघाय कृतान्तस्य मुष्टिं पृथगिव स्थितम् ॥ २१ ॥

विनाशादिति । रक्षो लवणस्तस्य वृक्षस्य विनाशाद्धेतोः । महोपलं महान्तं पाषाणम् । पृथक्स्थितं कृतान्तस्य यमस्य मुष्टिमिव । मुष्टिशब्दो द्विलिङ्गः । तस्मै शत्रुघ्नाय प्रजिघाय प्रहितवान् ॥ २१ ॥

उस वृक्षके नष्ट (खण्डशः होकर असफल) होनेसे राक्षस लवणासुरने उस शत्रुघ्न (को मारने) के लिये यमराजके पृथक् स्थित मुष्टि (मुक्का) के समान बड़ा भारी पत्थर फेंका ॥ २१ ॥

ऐन्द्रमस्त्रमुपादाय शत्रुघ्नेन स ताडितः ।
सिकतात्वादपि परां प्रपेदे परमाणुताम् ॥ २२ ॥

ऐन्द्रमिति । स महोपलः शत्रुघ्नेनैन्द्रमिन्द्रदेवताकमस्त्रमुपादाय ताडितोऽभिहतः सन् । सिकतात्वात्सिकताभावादपि परां परमाणुतां प्रपेदे । यतोऽणुर्नास्ति स परमाणुरित्याहुः ॥ २२ ॥

इन्द्रास्त्र लेकर शत्रुघ्नसे अभिहत उस पत्थर ने बालू (रेत) से भी अधिक छोटा २ परमाणुभावको प्राप्त किया अर्थात् शत्रुघ्नने ऐन्द्रास्त्रसे उस पत्थरको खण्डितकर परमाणुके समान छोटा२ कर दिया ॥ २२ ॥

तमुपाद्रवदुद्यम्य दक्षिणं दोर्निशाचरः ।
एकताल इवोत्पातपवनप्रेरितो गिरिः ॥ २३ ॥

तमिति । निशाचरो राक्षसो दक्षिणं दोः 'ककुद्दोषणी' इति भगवतो भाष्यकारस्य प्रयोगाद्दोष्शब्दस्य नपुंसकत्वं द्रष्टव्यम् । 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इति पुंलिङ्गसाह-

चर्यात्पुंस्त्वं च । तथा च प्रयोगः—"दोषं तस्य तथाविधस्य भजतः" इति । सव्येतरं बाहुमुद्यम्य एकस्तालस्तदाख्यवृक्षो यस्मिन्स एकतालः । उत्पातपवनेन प्रेरितो गिरिरिव । तं शत्रुघ्नमुपाद्रवदभिद्रुतः ॥ २३ ॥

राक्षस लवणासुर दाहिना हाथ उठाकर एक ताड़ वृक्षवाले वायु-प्रेरित पर्वतके समान, उस शत्रुघ्नपर (प्रहार करनेके लिये) दौड़ा ॥ २३ ॥

कार्ष्णेन पत्रिणा शत्रुः स भिन्नहृदयः पतन् ।
आनिनाय भुवः कम्पं जहाराश्रमवासिनाम् ॥ २४ ॥

कार्ष्णेनेति । सः शत्रुर्लवणः । कार्ष्णेन वैष्णवेन पत्त्रिणा बाणेन । उक्तं च रामायणे—"एवमेप प्रजनितो विष्णोस्तेजोमयः शरः" इति । 'विष्णुर्नारायणः कृष्ण' इत्यमरः । भिन्नहृदयः पतन्भुवः कम्पमानिनायानीतवान्, देहभारादित्यर्थः । आश्रमवासिनां कम्पं जहार । तन्नाशादकुतोभया बभूवुरित्यर्थः ॥ २४ ॥

वैष्णव (विष्णु देवतावाला) बाणसे भिन्न (बिंधे हुए) हृदयवाला वह शत्रु (लवणासुर) गिरता हुआ पृथ्वीको कम्पनयुक्त कर दिया (कँपादिया) तथा आश्रमवासियों (मुनियों) के कम्पन (भय) को हरण कर लिया अर्थात् उसके मरनेसे मुनि लोग निर्भय हो गये ॥ २४ ॥

वयसां पङ्क्तयः पेतुर्हतस्योपरि विद्विषः ।
तत्प्रतिद्वन्द्विनो मूर्ध्नि दिव्याः कुसुमवृष्टयः ॥ २५ ॥

वयसामिति । हतस्य विद्वेष्टीति विद्विट् तस्य विद्विषो राक्षसस्योपरि वयसां पक्षिणां पङ्क्तयः पेतुः । तत्प्रतिद्वन्द्विनः शत्रुघ्नस्य मूर्ध्नि तु दिव्याः कुसुमवृष्टयः पेतुः ॥

मारे गये शत्रु (लवणासुर) के ऊपर (उसके मांसको भक्षण करनेके लिये) पक्षियोंका समूह गिरने लगा तथा उस लवणासुरके शत्रु (शत्रुघ्न) के मस्तकपर दिव्य पुष्प गिरने लगे अर्थात् आकाशसे पुष्पवृष्टि होने लगी ॥ २५ ॥

स हत्वा लवणं वीरस्तदा मेने महौजसः ।
भ्रातुः सोदर्यमात्मानमिन्द्रजिद्वधशोभिनः ॥ २६ ॥

स इति । स वीरः शत्रुघ्नो लवणं हत्वा तदात्मानं महोजसो महाबलस्येन्द्रजिद्वधेन शोभिनो भ्रातुर्लक्ष्मणस्य समानोदरे शयितं सोदर्यमेकोदरं मेने । "सोदराद्यः" इति यप्रत्ययः ॥ २६ ॥

शूरवीर (शत्रुघ्न) ने लवणासुरको मारकर उस समय अपनेको महापराक्रमी इन्द्रविजयी मेघनादको मारनेसे शोभाशाली भाई (लक्ष्मण) का सहोदर माना ('लवणासुरको मारकर इस समय मैं लक्ष्मणका वास्तविक सहोदर बना, ऐसा समझा) ॥ २६ ॥

तस्य संस्तूयमानस्य चरितार्थैस्तपस्विभिः ।
शुशुभे विक्रमोदग्रं व्रीडयाऽवनतं शिरः ॥ २७ ॥

तस्येति । चरितार्थैः कृतार्थैः कृतकार्यैस्तपस्विभिः संस्तूयमानस्य तस्य शत्रुघ्नस्य विक्रमेणोदग्रमुन्नतं व्रीडया लज्जयाऽवनतं नम्रं शिरः शुशुभे । विक्रान्तस्य लज्जैव भूषणमिति भावः ॥ २७ ॥

कृतकृत्य तपस्वियोंसे प्रशंसित होते हुए उस शत्रुघ्नका पराक्रमसे उन्नत (किन्तु) लज्जासे नम्र मस्तक शोभित हुआ । (लवणासुरके वधसे कृतकृत्य मुनिलोग जब शत्रुघ्नकी प्रशंसा करने लगे तब उन्होंने मस्तकको विनयजन्य लज्जासे झुका लिया, अतः वह बहुत सुन्दर मालूम पड़ता था) ॥ २७ ॥

उपकूलं स कालिन्द्याः पुरीं पौरुषभूषणः ।
निर्ममे निर्ममोऽर्थेषु मधुरां मधुराकृतिः ॥ २८ ॥

उपकूलमिति । पौरुषभूषणः । अर्थेषु विषयेषु निर्ममो निःस्पृहः । मधुराकृतिः सौम्यरूपः स शत्रुघ्नः कालिन्द्या यमुनाया उपकूलं कूले । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । मधुरां नाम पुरीं निर्ममे निर्मितवान् ॥ २८ ॥

पुरुषार्थ है भूषण जिसका ऐसे, विषयोंमें ममतारहित और प्रियदर्शन उस शत्रुघ्नने यमुनाके तटपर 'मथुरा' नगरीको बसाया ॥ २८ ॥

या सौराज्यप्रकाशाभिर्बभौ पौरविभूतिभिः ।
स्वर्गाभिष्यन्दवमनं कृत्वेवोपनिवेशिता ॥ २९ ॥

येति । या पूः । शत्रुघ्नः शोभनो राजा यस्याः पुरः सा सुराज्ञी सुराज्ञ्या भावः सौराज्यम् । तेन प्रकाशाभिः प्रकाशमानाभिः पौराणां विभूतिभिरैश्वर्यैः । स्वर्गस्याभिष्यन्दोऽतिरिक्तजनः तस्य वमनमाहरणं कृत्वोपनिवेशितोपस्थापितेव बभौ । अत्र कौटिल्यः - "भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा जनपदं परदेशप्रवाहेण स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा निवेशयेत्" इति ॥ २९ ॥

जो मथुरा श्रेष्ठ राजासे युक्त होनेके कारण प्रकाशशील नागरिक ऐश्वर्योंसे स्वर्गके अतिरिक्त लोगोंको लाकर बसायी गयी के समान शोभती थी ॥ २९ ॥

तत्र सौधगतः पश्यन्यमुनां चक्रवाकिनीम् ।
हेमभक्तिमतीं भूमेः प्रवेणीमिव पिप्रिये ॥ ३० ॥

तत्रेति । तत्र मधुरायां सौधगतो हर्म्यारूढः स चक्रवाकिनीं चक्रवाकवतीं यमुनाम् । हेमभक्तिमतीं सुवर्णरचनावतीं भूमेः प्रवेणीं वेणीमिव । 'वेणिः प्रवेणी' इत्यमरः । पश्यन्पिप्रिये प्रीतः । 'प्रीङ् प्रीणने' इति धातोर्दैवादिकाल्लिट् ॥ ३० ॥

उस मथुरामें महलके छतपर चढ़े हुए वे शत्रुघ्न चक्रवाक (चकवा) से युक्त यमुनाको पृथ्वीकी स्वर्णमयी रचनावाली चोटीके समान देखते हुए प्रसन्न हुए ॥ ३० ॥

सम्प्रति रामसन्तानवृत्तान्तमाह—

सखा दशरथस्यापि जनकस्य च मन्त्रकृत् ।
सञ्चस्कारोभयप्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि ॥ ३१ ॥

सखेति । दशरथस्य जनकस्य च सखा मन्त्रकृन्मन्त्रद्रष्टा स वाल्मीकिरपि । "सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः" इति क्विप् । उभयोर्दशरथजनकयोः प्रीत्या स्नेहेन मैथिलेयौ मैथिलीपुत्रौ यथाविधि यथाशास्त्रं सञ्चस्कार संस्कृतवान् । जातकर्मादिभिरिति शेषः ॥ ३१ ॥

दशरथ तथा जनकके भी मित्र मन्त्रद्रष्टा (वाल्मीकि मुनि) ने दोनों (दशरथ और जनक) के प्रेमसे दोनों मैथिली-पुत्रोंका (देखें, श्लो० १३) विधिपूर्वक संस्कार किया ॥३१॥

स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया ।
कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः ॥ ३२ ॥

स इति । स कविर्वाल्मीकिः कुशैर्दर्भैर्लवैर्गोपुच्छलोमभिः । 'लवो लवणकिञ्जल्कपक्ष्मगोपुच्छलोमसु' इति वैजयन्ती । उन्मृष्टो गर्भक्लेदो गर्भोपद्रवो ययोस्तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ मैथिलेयौ तेषां कुशानां च लवानां चाख्यया नामतो नाम्ना यथासंख्यं कुशलवावेव चकार किल । कुशोन्मृष्टः कुशः । लवोन्मृष्टो लवः ॥ ३२ ॥

उस (आदि) कवि अर्थात् वाल्मीकिने, कुश तथा लव (गोपुच्छके रोएं) से दूर किया गया है गर्भजन्य उपद्रव जिनका ऐसे उन दोनों (सीताके पुत्रों) का नाम उन (कुश तथा लव = गोपुच्छके रोएं) के नामपर 'कुश और लव' ही रक्खा। (आदि कवि वाल्मीकिने आश्रम सुलभकुश तथा गोपुच्छके रोमोंसे सीताके पुत्रोंका गर्भजन्य उपद्रव नष्ट किया था, अतः कुश तथा गोपुच्छरोमके नामपर उन दोनों पुत्रोंका नाम भी 'कुश तथा लव' रखा) ॥ ३२ ॥

साङ्गं च वेदमध्याप्य किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवौ ।
स्वकृतिं गापयामास कविप्रथमपद्धतिम् ॥ ३३ ॥

साङ्गमिति । किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवावतिक्रान्तबाल्यौ तौ साङ्गं[1] च वेदमध्याप्य कवीनां प्रथमपद्धतिम्, कविताबीजमित्यर्थः । स्वकृतिं काव्यं रामायणाख्यं गापयामास । गापयतेर्लिट्, शब्दकर्मकत्वात् "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ" इत्यनेन द्विकर्मकत्वम् ॥ ३३ ॥

उनके बचपनके कुछ बीत जानेपर ६ अङ्गों[1]के सहित वेदको पढ़ाकर कवियोंका सर्वप्रथम कविताबीजभूत अपनी रचना (रामायण) को उन दोनोंसे गान कराया ॥ ३३ ॥

रामस्य मधुरं वृत्तं गायन्तौ मातुरग्रतः ।
तद्वियोगव्यथां किञ्चिच्छिथिलीचक्रतुः सुतौ ॥ ३४ ॥

रामस्येति । तौ सुतौ रामस्य वृत्तं मातुरग्रतो मधुरं गायन्तौ तद्वियोगव्यथां रामविरहवेदनां किञ्चिच्छिथिलीचक्रतुः लघूकृतवन्तौ ॥ ३४ ॥

---

१. तदुक्तम्—"शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गतिः ।
छन्दोविचितिरित्येतत्षडङ्गो वेद उच्यते ॥" इति ।

माता (सीता) के आगे रामके मधुर कथाको गाते हुए उन दोनों पुत्रोंने उन (राम) के वियोगके दुःखको कुछ कम किया। (पुत्रोंसे गायी जाती हुई मधुर रामकथाको सुनकर रामके विरहसे उत्पन्न सीताका दुःख कुछ कम हुआ) ॥ ३४ ॥

इतरेऽपि रघोर्वंश्यास्त्रयस्त्रेताऽग्नितेजसः ।
तद्योगात्पतिवत्नीपु पत्नीष्वासन्द्विसूनवः ॥ ३५ ॥

इतरेऽपीति । रघोर्वंश्या वंशे भवाः । त्रेतेत्यग्नयस्त्रेताऽग्नयः । तेषां तेज इव तेजो येषां ते त्रेताऽग्नितेजसः । इतरे रामादन्ये त्रयो भरतादयोऽपि तद्योगात्तेषां योगाद्भरतादिसम्बन्धात्पतिवत्नीषु भर्तृमतीषु जीवत्पतिकासु, ख्यातिमतीष्वित्यर्थः । 'पतिवत्नी सभर्तृका' इत्यमरः । "अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्" इति ङीप्प्रत्ययो नुगागमश्च । पत्नीषु द्विसूनव आसन् । द्वौ द्वौ सूनू येषां ते द्विसूनव इति विग्रहः । क्वचित्संख्याशब्दस्य वृत्तिविषये वीप्सार्थत्वं सप्तपर्णादिवत् ॥ ३५ ॥

रघुवंशोत्पन्न तथा त्रेताग्निके समान तेजस्वी अन्य (भरत आदि तीनों) भी सौभाग्यवती पत्नियोंमें उन २ (भरत आदि) के सम्बन्धसे दो दो पुत्रवाले हुए। (भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नके भी दो-दो पुत्र हुए) ॥ ३५ ॥

शत्रुघातिनि शत्रुघ्नः सुबाहौ च बहुश्रुते ।
मधुराविदिशे सून्वोर्निदधे पूर्वजोत्सुकः ॥ ३६ ॥

शत्र्विति । पूर्वजोत्सुको ज्येष्ठप्रियः शत्रुघ्नो बहुश्रुते शत्रुघातिनि सुबाहौ च तन्नामकयोः सून्वोर्मधुरा च विदिशा च ते नगर्यौ निदधे । निधाय गत इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

बड़े भाईके लिये उत्कण्ठित शत्रुघ्नने शत्रुनाशक 'सुबाहु' तथा 'बहुश्रुत' (नामक अपने) दो पुत्रोंको 'मथुरा' तथा 'विदिशा' (के राज्य) को दे दिया ॥ ३६ ॥

भूयस्तपोव्ययो मा भूद्वाल्मीकेरिति सोऽत्यगात् ।
मैथिलीतनयोद्गीतनिःस्पन्दमृगमाश्रमम् ॥ ३७ ॥

भूय इति । स शत्रुघ्नो मैथिलीतनययोः कुशलवयोरुद्गीतेन निःस्पन्दमृगं गीतप्रियतया निश्चलहरिणं वाल्मीकेराश्रमम् । भूयः पुनरपि तपोव्ययः संविधानकरणार्थं तपोहानिर्मा भूदिति हेतोः अत्यगात् । अतिक्रम्य गत इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

वे शत्रुघ्न सीताके पुत्र (लव तथा कुश) के (रामचरित) गानसे शान्त मृगोंवाले वाल्मीकिके आश्रमको, 'तपस्यामें फिर बाधा न हो' इस कारण छोड़कर चले गये अर्थात् लौटते समय फिर तपोवनमें न जाकर सीधे अयोध्या लौट गये ॥ ३७ ॥

वशी विवेश चायोध्यां रथ्यासंस्कारशोभिनीम् ।
लवणस्य वधात्पौरैरीक्षितोऽत्यन्तगौरवम् ॥ ३८ ॥

वशीति । वशी स लवणस्य वधाद्धेतोः पौरैः पौरजनैरत्यन्तं गौरवं यस्मिन्कर्मणि तत्तथेक्षितः सन् । रथ्यासंस्कारैस्तोरणादिभिः शोभते या तामयोध्यां विवेश च ॥३८॥

जितेन्द्रिय (उन शत्रुघ्न) ने लवणासुरके मारनेसे नागरिकों (अयोध्यावासियों) के द्वारा अत्यन्त गौरवपूर्वक देखे जाते हुए मार्गोंकी सजावटसे शोभित अयोध्यामें प्रवेश किया ॥३८॥

स ददर्श सभामध्ये सभासद्भिरुपस्थितम् ।
रामं सीतापरित्यागादसामान्यपतिं भुवः ॥ ३९ ॥

स इति । स शत्रुघ्नः सभामध्ये सभासद्भिः सभायां सीदन्ति ते तैः सभ्यैरुपस्थितं सेवितं सीतापरित्यागाद्भुवोऽसामान्यपतिमसाधारणपतिं रामं ददर्श ॥ ३९ ॥

उस शत्रुघ्नने सभाके बीचमें सभासदोंसे सेवित तथा सीताके परित्यागसे पृथ्वीके असाधारण पति रामको देखा (पहले रामजी सीता तथा पृथ्वी; इन दोनोंके पति थे; किन्तु सीताका त्यागकर देनेपर अब केवल पृथ्वीका ही पति रहे ऐसे रामको सभासदोंसे सेवित सभाके मध्यमें विराजमान रामको शत्रुघ्नने देखा) ॥ ३९ ॥

तमभ्यनन्दत्प्रणतं लवणान्तकमग्रजः ।
कालनेमिवधात्प्रीतस्तुराषाडिव शार्ङ्गिणम् ॥ ४० ॥

तमिति । अग्रजो रामो लवणस्यान्तकं हन्तारं प्रणतं तं शत्रुघ्नम् । कालनेमिर्नाम राक्षसः तस्य वधात्प्रीतः । तुरां वेगं सहत इति तुराषाडिन्द्रः । "छन्दसि सहः" इति ण्विः । यद्वा सहतेर्णिचि कृत साहयतेः क्विप् । "अन्येषामपि दृश्यते" इति पूर्वपदस्य दीर्घः । "सहेः साडः सः" इति षत्वम् । शार्ङ्गिणमुपेन्द्रमिव अभ्यनन्दत् ॥४०॥

बड़े भाई (राम) ने नम्र तथा लवणासुरघातक (शत्रुघ्न) का प्रसन्न होते हुए उस प्रकार अभिनन्दन किया, जिस प्रकार कालनेमिके वधसे प्रसन्न (बड़े भाई) इन्द्रने (छोटे भाई) विष्णुका अभिनन्दन किया था । ("उपेन्द्र इन्द्रावरजः………" इत्यादिकों तथा पौराणिक वचनोंसे विष्णु इन्द्रके छोटे भाई माने जाते हैं) ॥ ४० ॥

स पृष्टः सर्वतो वार्तमाख्यद्राज्ञे न सन्ततिम् ।
प्रत्यर्पयिष्यतः काले कवेराद्यस्य शासनात् ॥ ४१ ॥

स इति । स शत्रुघ्नः पृष्टः सन् । सर्वतो वार्तं कुशलं राज्ञे रामायाख्यदाख्यातवान् । चक्षिङो लुङ् । "चक्षिङः ख्याञ्" इति ख्याञादेशः । "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्" इत्यङ् । "आतो लोप इटि च"इत्याकारलोपः । ख्यातेर्वा लुङ् । सन्ततिं कुशलवोत्पत्तिं नाख्यत् । कुतः कालेऽवसरे प्रत्यर्पयिष्यत आद्यस्य कवेर्वाल्मीकेः शासनात् ॥ ४१ ॥

पूछे जानेपर उस शत्रुघ्नने राजा (राम) से सब कुशल कहा, किन्तु भविष्यमें (बालकोंको) समर्पण करनेवाले कवि (वाल्मीकि मुनि) की आज्ञासे (सीताकी) सन्तान (के समाचार) को नहीं कहा ॥ ४१ ॥

अथ जानपदो विप्रः शिशुमप्राप्तयौवनम् ।
अवतार्याङ्कशय्यास्थं द्वारि चक्रन्द भूपतेः ॥ ४२ ॥

अथेति। अथ जनपदे भवो जानपदो विप्रः। कश्चिदिति शेषः। अप्राप्तयौवनं शिशुम्। मृतमिति शेषः। भूपते रामस्य द्वार्यङ्कशय्यास्थं यथा तथाऽवतार्याङ्कस्थत्वेनैवावरोप्य चक्रन्द चुक्रोश॥ ४२॥

इसके बाद राज्यनिवासी ब्राह्मण युवावस्थाको नहीं पाये हुए बालक (मृतपुत्र) को राजद्वारपर गोदमें रखकर चिल्लाकर रोने लगा॥ ४२॥

शोचनीयाऽसि वसुधे या त्वं दशरथाच्च्युता।
रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात् कष्टतरं गता॥ ४३॥

शोचनीयेति। हे वसुधे! दशरथाच्च्युता भ्रष्टा या त्वं रामहस्तमनुप्राप्य कष्टात्कष्टतरं गता सती शोचनीयाऽसि॥ ४३॥

"हे पृथ्वी! तुम शोचनीय हो, जो (तुम) दशरथसे हीन होकर रामके हाथमें पड़कर अधिकसे अधिक कष्टको प्राप्त हुई हो"॥ ४३॥

श्रुत्वा तस्य शुचो हेतुं गोप्ता जिह्राय राघवः।
न ह्यकालभवो मृत्युरिक्ष्वाकुपदमस्पृशत्॥ ४४॥

श्रुत्वेति। गोप्ता रक्षको राघवस्तस्य विप्रस्य शुचः शोकस्य हेतुं पुत्रमरणरूपं श्रुत्वा जिह्राय लज्जितः। कुतः। हि यस्मादकालभवः अप्राप्तकालोत्पन्नः मृत्युरिक्ष्वाकूणां पदं राष्ट्रं नास्पृशत्। वृद्धे जीवति यवीयान्न म्रियत इत्यर्थः॥ ४४॥

रक्षक अर्थात् राजा राम उस (ब्राह्मण) के शोकका कारण (बालकपुत्रकी मृत्यु) सुनकर लज्जित हुए; क्योंकि इक्ष्वाकुवंशियोंके राज्यमें अकालमृत्यु नहीं होती है अर्थात् वृद्धके जीवित रहते युवा या बालककी मृत्यु कभी नहीं होती॥ ४४॥

स मुहूर्तं क्षमस्वेति द्विजमाश्वास्य दुःखितम्।
यानं सस्मार कौबेरं वैवस्वतजिगीषया॥ ४५॥

स इति। स रामो दुःखितं द्विजं मुहूर्तं क्षमस्वेत्याश्वास्य वैवस्वतस्यान्तकस्यापि जिगीषया जेतुमिच्छया कौबेरं यानं पुष्पकं सस्मार॥ ४५॥

उस रामने 'मुहूर्तमात्र क्षमा करो' इस प्रकार दुःखित ब्राह्मणको आश्वासन देकर यमराजको जीतनेकी इच्छासे कुबेरके विमान (पुष्पक विमान) का स्मरण किया॥ ४५॥

आत्तशस्त्रस्तदध्यास्य प्रस्थितः स रघूद्वहः।
उच्चचार पुरस्तस्य गूढरूपा सरस्वती॥ ४६॥

आत्तेति। स रघूद्वहो राम आत्तशस्त्रः सन् तत्पुष्पकमध्यास्य प्रस्थितः। अथ तस्य पुरो गूढरूपा सरस्वत्यशरीरा वागुच्चचारोद्बभूव॥ ४६॥

शस्त्रधारी वे रघुश्रेष्ठ राम उस (पुष्पक विमान) पर सवार होकर चले, (उस समय) उनके सामने आकाशवाणी हुई॥ ४६॥

राजन्प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्तते ।
तमन्विष्य प्रशमयेर्भवितासि ततः कृती ॥ ४७ ॥

राजन्निति । हे राजन् ! ते प्रजासु कश्चिदपचारो वर्णधर्मव्यतिकरः प्रवर्तते । तमपचारमन्विष्य प्रशमयेः । ततः कृती कृतकृत्यो भवितासि भविष्यसि ॥ ४७ ॥

हे राजन् ! तुम्हारी प्रजाओंमें कोई हीनाचरण (वर्णाश्रम धर्मके प्रतिकूल व्यवहार) हो रहा है, उसे पता लगाकर नष्ट करो; तब (तुम) सफल होवोगे" ॥ ४७ ॥

इत्याप्तवचनाद्रामो विनेष्यन्वर्णविक्रियाम् ।
दिशः पपात पत्रेण वेगनिष्कम्पकेतुना ॥ ४८ ॥

इतीति । इत्याप्तवचनाद्रामो वर्णविक्रियां वर्णापचारं विनेष्यन्नपनेष्यन्वेगेन निष्कम्पहेतुना पत्रेण वाहनेन पुष्पकेण । 'पत्रं वाहनपक्षयोः' इत्यमरः । दिशः पपात धावति स्म ॥ ४८ ॥

इस वर्ण-विकार (वर्णाश्रम धर्मके प्रतिकूल व्यवहार) को भविष्यमें दूर करनेवाले राम वेगसे कम्पनरहित पताकावाले (पुष्पक) विमानसे दिशाओंको दौड़े (सब दिशाओंमें पता लगानेके लिए चल पड़े) ॥ ४८ ॥

अथ धूमाभिताम्राक्षं वृक्षशाखाऽवलम्बिनम् ।
ददर्श कञ्चिदैक्ष्वाकस्तपस्यन्तमधोमुखम् ॥ ४९ ॥

अथेति । अथेक्ष्वाकुवंशप्रभव ऐक्ष्वाको रामः । "कोपधादण्" इत्यणि कृते "दाण्डिनायन-" इत्यादिनोकारलोपनिपातः । धूमेन पीयमानेनाभिताम्राक्षं वृक्षशाखाऽवलम्बिनमधोमुखं तपस्यन्तं तपश्चरन्तं कञ्चित्पुरुषं ददर्श ॥ ४९ ॥

इसके बाद इक्ष्वाकुवंशी रामने धूम्रपानसे लाल आँखोंवाले, वृक्षकी डालसे लटकते हुए और नीचे मुखकर तपस्या करते हुए किसी (पुरुष) को देखा ॥ ४९ ॥

पृष्टनामान्वयो राज्ञा स किलाचष्ट धूमपः ।
आत्मानं शम्बुकं नाम शूद्रं सुरपदार्थिनम् ॥ ५० ॥

पृष्टेति । राज्ञा नाम चान्वयश्च तौ पृष्टौ नामान्वयौ यस्य स तथोक्तः । धूमं पिबतीति धूमपः । "सुपि" इति योगविभागात्कप्रत्ययः । स पुरुष आत्मानं सुरपदार्थिनं स्वर्गार्थिनम् । अनेन प्रयोजनमपि पृष्टमिति ज्ञेयम् । शम्बुकं नाम शूद्रमाचष्ट बभाषे किल ॥ ५० ॥

राजाके द्वारा नाम तथा वंशके पूछनेपर उस धूम्रपानकर्ता (पुरुष) ने अपनेको स्वर्गाभिलाषी शम्बुक नामक शूद्र बतलाया ॥ ५० ।

तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानां तमघावहम् ।
शीर्षच्छेद्यं परिच्छिद्य नियन्ता शस्त्रमाददे ॥ ५१ ॥

तपस्येति । तपस्यनधिकारित्वात्प्रजानामघावहं दुःखावहं तं शूद्रं शीर्षच्छेद्यम् । "शीर्षच्छेदाद्यच्च" इति यत्प्रत्ययः । परिच्छिद्य निश्चित्य नियन्ता रक्षको रामः शस्त्रमाददे जग्राह ॥ ५१ ॥

तपस्याका अधिकारी नहीं होनेसे प्रजाओंके बीचमें पापी उसे शिर काटने योग्य निश्चयकर (उसे मारनेके लिए) शासनकर्ता (राम) ने शस्त्र ग्रहण किया ॥ ५१ ॥

स तद्वक्त्रं हिमक्लिष्टकिञ्जल्कमिव पङ्कजम् ।
ज्योतिष्कणाहतश्मश्रु कण्ठनालादपातयत् ॥ ५२ ॥

स इति । स रामो ज्योतिष्कणैः स्फुलिङ्गैराहतानि दग्धानि श्मश्रूणि यस्य तत्तस्य वक्त्रम् । हिमक्लिष्टकिञ्जल्कं पङ्कजमिव । कण्ठ एव नालं तस्मादपातयत् ॥ ५२ ॥

उस रामने (शस्त्राघातजन्य) चिनगारियोंसे जले हुए दाढ़ीके बालवाले, उस (शम्बुक नामक तपस्वी) के मस्तकको, हिम (पाला) से जले हुए केसरवाले कमलके समान, कण्ठसे गिरा दिया अर्थात् उसका शिर काटकर गर्दनसे अलगकर दिया ॥ ५२ ॥

कृतदण्डः स्वयं राज्ञा लेभे शूद्रः सतां गतिम् ।
तपसा दुश्चरेणापि न स्वमार्गविलङ्घिना ॥ ५३ ॥

कृतदण्ड इति । शूद्रः शम्बुको राज्ञा स्वयं कृतदण्डः कृतशिक्षः सन् । सतां गतिं लेभे । दुश्चरेणापि स्वमार्गविलङ्घिना, अनधिकारदुष्टेनेत्यर्थः । तपसा न लेभे । अत्र मनुः—"राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवः । निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥" इति ॥ ५३ ॥

स्वयं राजाके द्वारा दण्डित वह शूद्र सद्गतिको प्राप्त हुआ, (किन्तु) अपने मार्ग (शास्त्रविहिताचार) के विरोधी कठिन तपसे भी सद्गतिको नहीं प्राप्त किया ॥ ५३ ॥

रघुनाथोऽप्यगस्त्येन मार्गसन्दर्शितात्मना ।
महौजसा संयुयुजे शरत्काल इवेन्दुना ॥ ५४ ॥

रघुनाथ इति । रघुनाथोऽपि मार्गसन्दर्शितात्मना महौजसाऽगस्त्येन । इन्दुना शरत्काल इव संयुयुजे सङ्गतः । इन्दावपि विशेषणं योज्यम् । रघुनाथेत्यत्र क्षुभ्नादित्वाण्णत्वाभावः ॥ ५४ ॥

राम भी मार्गमें दर्शन दिये हुए महातेजस्वी अगस्त्यजीसे, चन्द्रमासे शरत्कालके समान मिले ॥ ५४ ॥

कुम्भयोनिरलङ्कारं तस्मै दिव्यपरिग्रहम् ।
ददौ दत्तं समुद्रेण पीतेनेवात्मनिष्क्रयम् ॥ ५५ ॥

कुम्भेति । कुम्भयोनिरगस्त्यः पीतेन समुद्रेणात्मनिष्क्रयमिवात्ममोचनमूल्यमिव दत्तम् । अत एव परिगृह्यते इति व्युत्पत्त्या दिव्यपरिग्रहः, दिव्यानां परिग्राह्य इत्यर्थः । तमलङ्कारं तस्मै रामाय ददौ ॥ ५५ ॥

अगस्त्यजीने पीतपूर्व (पहले पीये गये) समुद्रके द्वारा अपने छुटकाराके बदलेमें दिये गये देवताओंके ग्रहण करने योग्य अलङ्कारको रामके लिये दिया ॥ ५५ ॥

तं दधन्मैथिलीकण्ठनिर्व्यापारेण बाहुना ।
पश्चान्निववृते रामः प्राक्परासुर्द्विजात्मजः ॥ ५६ ॥

तमिति । मैथिलीकण्ठनिर्व्यापारेण आलिङ्गनरहितेन बाहुना तमलङ्कारं दधद्रामः पश्चान्निववृते निवृत्तः । परासुर्मृतो द्विजात्मजः प्राग्रामात्पूर्वं निववृते ॥ ५६ ॥

सीताके कण्ठके व्यापारसे रहित (सीताका त्यागकर देनेसे उसके कण्ठका आलिङ्गन नहीं करनेवाले) बाहुसे उस (अगस्त्यजीके दिये हुए अलङ्कार) को धारण करते राम पीछे लौटे और मरा हुआ ब्राह्मणका पुत्र पहले लौटा (रामके वापस आनेके पहले ही ब्राह्मणका मरा हुआ पुत्र जी गया ॥ ५६ ॥

तस्य पूर्वोदितां निन्दां द्विजः पुत्रसमागतः ।
स्तुत्या निवर्तयामास त्रातुर्वैवस्वतादपि ॥ ५७ ॥

तस्येति । पुत्रसमागतः पुत्रेण सङ्गतो द्विजो वैवस्वतादन्तकादपि त्रातू रक्षकस्य । "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इत्यपादानात्पञ्चमी । तस्य रामस्य पूर्वोदितां पूर्वोक्तां निन्दां स्तुत्या निवर्तयामास ॥ ५७ ॥

पुत्रसे मिला हुआ वह ब्राह्मण पहले की गयी (देखें-श्लो० ४३) उन (राम) की निन्दाको यमराजसे भी बचानेवाले रामकी स्तुतिसे दूर किया । (पुत्रके जीवित हो जानेपर ब्राह्मणने रामकी बहुत स्तुति करके पहले जो रामकी निन्दा (देखें श्लो० ४३) की थी, उसका परिमार्जन किया) ॥ ५७ ॥

तमध्वराय मुक्ताश्वं रक्षःकपिनरेश्वराः ।
मेघाः सस्यमिवाम्भोभिरभ्यवर्षन्नुपायनैः ॥ ५८ ॥

तमिति । अध्वरायाश्वमेधाय मुक्ताश्वं तं रामं रक्षःकपिनरेश्वराः सुग्रीवविभीषणादयो राजानश्च मेघा अम्भोभिः सस्यमिव उपायनैरभ्यवर्षन् ॥ ५८ ॥

(अश्वमेध) यज्ञके लिये घोड़ा छोड़े हुए उस रामको राक्षस (विभीषण आदि), वानर (सुग्रीव आदि) और राजाओं (भारतवासी अन्य नरेद्रों) उस प्रकार भेंट दिये, जिस प्रकार मेघ धान्यको जल देता है ॥ ५८ ॥

दिग्भ्यो निमन्त्रिताश्चैनमभिजग्मुर्महर्षयः ।
न भौमान्येव धिष्ण्यानि हित्वा ज्योतिर्मयान्यपि ॥ ५९ ॥

दिग्भ्य इति । निमन्त्रिता आहूता महर्षयश्च भूम्याः सम्बन्धीनि भौमानि धिष्ण्यानि स्थानान्येव न । 'धिष्ण्यं स्थाने गृहे भेऽग्नौ' इत्यमरः । किन्तु ज्योतिर्मयानि नक्षत्ररूपाणि धिष्ण्यान्यपि हित्वा दिग्भ्य एनं राममभिजग्मुः ॥ ५९ ॥

(रामके द्वारा) निमन्त्रित महर्षिलोग केवल भूमिस्थित निवास-स्थानोंको ही छोड़कर

नाना दिशाओंसे रामके पास नहीं आये, किन्तु दिव्य निवास-स्थानोंको भी छोड़कर नाना दिशाओंसे रामके पास आये ॥ ५९ ॥

उपशल्यनिविष्टैस्तैश्चतुर्द्वारमुखी बभौ ।
अयोध्या सृष्टलोकेव सद्यः पैतामही तनुः ॥ ६० ॥

उपशल्येति । चत्वारि द्वाराण्येव मुखानि यस्याः सा चतुर्द्वारमुख्ययोध्या । उपशल्येषु ग्रामान्तेषु निविष्टैः । 'ग्रामान्त उपशल्यं स्यात्' इत्यमरः । तैर्महर्षिभिः । सद्यः सृष्टलोका पितामहस्येयं पैतामही तनूर्मूर्तिरिव बभौ ॥ ६० ॥

चार द्वाररूपी चार मुखवाली वह अयोध्या पुरी ग्रामान्तमें ठहरे हुए उन महर्षियोंसे तत्काल लोकसृष्ट करनेवाले (चार मुखवाले) ब्रह्माके शरीरके समान शोभित होने लगी ॥

श्लाघ्यस्त्यागोऽपि वैदेह्याः पत्युः प्राग्वंशवासिनः ।
अनन्यजानेः सैवासीद्यस्माज्जाया हिरण्मयी ॥ ६१ ॥

श्लाघ्य इति । वैदेह्यास्त्यागोऽपि श्लाघ्यो वर्ण्य एव । कुतः । यस्मात् । प्राग्वंशः प्राचीनस्थूणो यज्ञशालाविशेषः तद्वासिनः । नास्त्यन्या जाया यस्य तस्यानन्यजानेः । "जायाया निङ्" इति समासान्तो निङादेशः । पत्यू रामस्य हिरण्मयी सौवर्णी । "दाण्डिनायन-" इत्यादिसूत्रेण निपातः । सा निजैव जाया पत्न्यासीत् । कविवाक्यमेतत् ॥ ६१ ॥

सीताका त्याग भी प्रशंसनीय था; क्योंकि यज्ञशालामें स्थित एकपत्नीक पति (राम) की सुवर्णनिर्मित वही (सीता ही) स्त्री थी । (सीताका त्यागकर रामने दूसरा विवाह नहीं किया और यज्ञमें सुवर्णनिर्मित सीताकी प्रतिमाको ही अपनी सहधर्मिणीके स्थानमें रखकर यज्ञको पूर्ण किया) ॥ ६१ ॥

विधेरधिकसम्भारस्ततः प्रववृते मखः ।
आसन्यत्र क्रियाविघ्ना राक्षसा एव रक्षिणः ॥ ६२ ॥

विधेरिति । ततो विधेः शास्त्रादधिकसम्भारोऽतिरिच्यमानपरिकरो मखः प्रववृते प्रवृत्तः । यत्र मखे विहन्यन्त एभिरिति विघ्नाः प्रत्यूहाः । "घञर्थे कविधानम्" इति कः । क्रियाविघ्ना अनुष्ठानविघातका राक्षसा एव रक्षिणो रक्षका आसन् ॥ ६२ ॥

इसके बाद शास्त्र-विहित विधिसे अधिक साधनवाला यज्ञ आरम्भ हुआ, जिस यज्ञमें विघ्न करनेवाले राक्षस ही रक्षक थे (तो फिर उस यज्ञके निर्विघ्न पूर्ण होनेमें क्या सन्देह हो सकता है) ॥ ६२ ॥

अथ प्राचेतसोपज्ञं रामायणमितस्ततः ।
मैथिलेयौ कुशलवौ जगतुर्गुरुचोदितौ ॥ ६३ ॥

अथेति । अथ मैथिलेयौ मैथिलीतनयौ । "स्त्रीभ्यो ढक्" । कुशलवौ गुरुणा वाल्मीकिना चोदितौ प्रेरितौ सन्तौ । प्राचेतसो वाल्मीकिः । उपज्ञायत इत्युपज्ञा ।

"आतश्चोपसर्गे" इति कर्मण्यङ्प्रत्ययः। प्राचेतसस्योपज्ञा प्राचेतसोपज्ञम्। प्राचेतसेनादौ ज्ञातमित्यर्थः। 'उपज्ञा ज्ञानमाद्यं स्यात्' इत्यमरः। "उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्" इति नपुंसकत्वम्। अय्यते ज्ञायतेऽनेनेत्ययनं, रामस्यायनं चरितं रामायणं रामायणाख्यं काव्यम्। "पूर्वपदात्संज्ञायामगः" इति णत्वम्। उत्तरायणमितिवत्। इतस्ततो जगतुः। गायतेर्लिट्॥ ६३॥

इसके बाद गुरु (वाल्मीकि मुनि) की आज्ञासे सीताके पुत्र कुश तथा लव वाल्मीकि मुनिकी प्रथम रचना रामायणको इधर-उधर गाने लगे॥ ६३॥

वृत्तं रामस्य वाल्मीकेः कृतिस्तौ किन्नरस्वनौ।
किं तद्येन मनो हर्तुमलं स्यातां न शृण्वताम्॥ ६४॥

वृत्तमिति। रामस्य वृत्तं वर्ण्यम्। वस्त्विति शेषः। वाल्मीकेः कृतिः काव्यम्, गेयमिति शेषः। तौ कुशलवौ किन्नरस्वनौ किन्नरकण्ठौ गायकौ, पुनरिति शेषः। अत एव तत्किं येन निमित्तेन तौ शृण्वतां मनो हर्तुमलं शक्तौ न स्याताम्। सर्वं सरसमित्यर्थः॥ ६४॥

(एक तो) रामका चरितरूप वस्तु (दूसरे) वाल्मीकि मुनिकी रचनारूप गान और (फिर) किन्नरके समान मधुर कण्ठध्वनिवाले वे दोनों (कुश तथा लवरूप) गायक; (अतएव), वह क्या वस्तु थी, जो वे दोनों (कुश तथा लव) सुननेवालोंके मनको हरण करनेके लिये पर्याप्त (पूर्णतया समर्थ) नहीं होते। (सुन्दर रामका चरित, वाल्मीकि मुनिकी रचनारूपी उत्तम गान तथा किन्नरतुल्य मधुर कण्ठध्वनिवाले वे दोनों गायक— इन सब साधनोंके एकसे एकके उत्तम होनेसे उन दोनों ने सुननेवालोंके मनको हरण कर लिया॥

रूपे गीते च माधुर्यं तयोस्तज्ज्ञैर्निवेदितम्।
ददर्श सानुजो रामः शुश्राव च कुतूहली॥ ६५॥

रूप इति। ते जानन्तीति तज्ज्ञाः। तैस्तज्ज्ञैरभिज्ञैर्निवेदितं तयोः कुशलवयो रूपे आकारे गीते च माधुर्यं रामणीयकं सानुजो रामः कुतूहली सानन्दः सन् यथासंख्यं ददर्श शुश्राव च॥ ६५॥

उसके जानकारोंसे बतलाये गये, उन दोनोंके रूप (शरीर-सौन्दर्य) तथा गानकी मधुरताको छोटे भाइयोंके साथ कौतूहलयुक्त रामने (क्रमसे) देखा और सुना॥ ६५॥

तद्गीतश्रवणैकाग्रा संसदश्रुमुखी बभौ।
हिमनिष्यन्दिनी प्रातर्निर्वातेव वनस्थली॥ ६६॥

तदिति। तयोर्गीतश्रवणे एकाग्रसक्ताश्रुमुखी। आनन्दादिति भावः। संसत्सभा प्रातर्हिमनिष्यन्दिनी निर्वाता वातरहिता वनस्थलीव। बभौ शुशुभे। आनन्दपारवश्यान्निष्पन्दमास्त इत्यर्थः॥ ६६॥

उन दोनोंके गानको सुननेमें आसक्त और (सीताके स्मरणसे) आँसुओंको गिराती

हुई सभा प्रातःकालमें हिमपात करती हुई वायुरहित वनस्थलीके समान शोभित हुई ॥६६॥

वयोवेषविसंवादि रामस्य च तयोस्तदा ।
जनता प्रेक्ष्य सादृश्यं नाक्षिकम्पं व्यतिष्ठत ॥ ६७ ॥

वय इति । जनता जनानां समूहः । "ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्" इति तल्प्रत्ययः । वयोवेषाभ्यामेव विसंवादि विलक्षणं तदा तयोः कुशलवयो रामस्य च सादृश्यं प्रेक्ष्य । नास्त्यक्षिकम्पं यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा । नञर्थस्य नशब्दस्य बहुव्रीहिः । व्यतिष्ठतातिष्ठत् । "समवप्रविभ्यः स्थः" इत्यात्मनेपदम् । विस्मयादनिमिषमद्राक्षीदित्यर्थः ॥ ६७ ॥

उस समय जनताने अवस्था तथा वेशसे विलक्षण रामकी तथा उन दोनों (कुश तथा लव) की समानताको देखकर नेत्रस्पन्दसे रहित होकर स्थित हुई अर्थात् राम तथा उन की समानाकृतिको एकटक देखती रही ॥ ६७ ॥

उभयोर्न तथा लोकः प्रावीण्येन विसिष्मिये ।
नृपतेः प्रीतिदानेषु वीतस्पृहतया यथा ॥ ६८ ॥

उभयोरिति । लोको जन उभयोः कुमारयोः प्रावीण्येन नैपुण्येन तथा न विसिष्मिये न विस्मितवान्, यथा नृपतेः प्रीतिदानेषु वीतस्पृहतया नैःस्पृह्येण विसिष्मिये ॥

लोग उन दोनों (कुश तथा लव) की निपुणतासे वैसा आश्चर्यित नहीं हुए, जैसा राजा (राम) के प्रीतिदानोंमें निःस्पृह भावसे आश्चर्यित हुए ॥ ६८ ॥

गेये को नु विनेता वां कस्य चेयं कृतिः कवेः ।
इति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ वाल्मीकिमशंसताम् ॥ ६९ ॥

गेय इति । गेये गीते को नु वां युवयोर्विनेता शिक्षकः । नुशब्दः प्रश्ने । 'नु पृच्छायां वितर्के च' इत्यमरः । इयं च कस्य कवेः कृतिरिति राज्ञा स्वयं पृष्टौ तौ कुशलवौ वाल्मीकिमशंसतामुक्तवन्तौ, विनेतारं कविं चेत्यर्थः । 'गेये केन विनीतौ वाम्' इति पाठे वामिति युष्मदर्थप्रतिपादकमव्ययं द्रष्टव्यम् । तथा चायमर्थः—केन पुंसा वां युवां गेये गीतविषये विनीतौ शिक्षितौ । कर्मणि निष्ठाप्रत्ययः ॥ ६९ ॥

"तुम दोनोंको किसने गाना सिखलाया है तथा यह रचना किस कविकी है ?" ऐसा राजाके पूछनेपर उन दोनोंने वाल्मीकिको बतलाया ॥ ६९ ॥

अथ सावरजो रामः प्राचेतसमुपेयिवान् ।
ऊरीकृत्यात्मनो देहं राज्यमस्मै न्यवेदयत् ॥ ७० ॥

अथेति । अथ सावरजो रामः प्राचेतसं वाल्मीकिमुपेयिवान्प्राप्तः सन् । देहमात्मानम् ऊरीकृत्य, आत्मानं स्थापयित्वेत्यर्थः । राज्यमस्मै प्राचेतसाय न्यवेदयत्समर्पितवान् ॥ ७० ॥

इसके बाद छोटे भाइयोंके सहित रामने वाल्मीकिके पास जाकर अपनी आत्माका स्थापनकर राज्यको इस वाल्मीकि मुनिके लिये समर्पित कर दिया ॥ ७० ॥

स तावाख्याय रामाय मैथिलेयौ तदात्मजौ ।
कविः कारुणिको वव्रे सीतायाः सम्परिग्रहम् ॥ ७१ ॥

स इति । करुणा प्रयोजनमस्य कारुणिको दयालुः । "प्रयोजनम्" इति ठञ् । 'स्याद्दयालुः कारुणिकः' इत्यमरः । स कवी रामाय मैथिलेयौ तदात्मजौ रामसुताबाख्याय सीतायाः सम्परिग्रहं स्वीकारं वव्रे ययाचे ॥ ७१ ॥

दयालु कवि (आदिकवि वाल्मीकि मुनि) ने मैथिलीकुमार उन दोनोंको रामका पुत्र बतलाकर रामसे सीताको स्वीकार करनेके लिये याचना की ॥ ७१ ॥

तात शुद्धा समक्षं नः स्नुषा ते जातवेदसि ।
दौरात्म्याद्रक्षसस्तां तु नात्रत्याः श्रद्दधुः प्रजाः ॥ ७२ ॥

तातेति । हे तात ! ते स्नुषा सीता नोऽस्माकमक्ष्णोः समीपं समक्षम् । "अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः" इति समासान्तष्टच् । जातवेदसि वह्नौ शुद्धा, नास्माकमविश्वास इत्यर्थः । किन्तु रक्षसो रावणस्य दौरात्म्यादत्रत्याः प्रजास्तां न श्रद्दधुर्न विशश्वसुः ॥ ७२ ॥

"हे तात ! आपकी स्नुषा (पुत्रवधूसमा सीता) हमारे सामने अग्निमें शुद्ध हुई है (अतएव हमें इसके ऊपर अविश्वास नहीं है किन्तु) यहांकी प्रजाओंने रावणकी दुष्टतासे (उस अग्निशुद्धिपर) विश्वास नहीं किया ॥ ७२ ॥

ताः स्वचारित्रमुद्दिश्य प्रत्याययतु मैथिली ।
ततः पुत्रवतीमेनां प्रतिपत्स्ये त्वदाज्ञया ॥ ७३ ॥

ता इति । मैथिली स्वचारित्रमुद्दिश्य ताः प्रजाः प्रत्याययतु विश्वासयतु । विश्वासस्य बुद्धिरूपत्वात् । "णौ गमिरबोधने" इति इणो गम्यादेशो नास्ति । ततोऽनन्तरं पुत्रवतीमेनां सीतां त्वदाज्ञया प्रतिपत्स्ये स्वीकरिष्ये ॥ ७३ ॥

(अतएव यह) अपने चरित्र (सदाचार) का लक्ष्यकर उन प्रजाओंको विश्वास दिलावे, तब "मैं पुत्र सहित इस (सीता) को आपकी आज्ञासे स्वीकार करूंगा" ॥ ७३ ॥

इति प्रतिश्रुते राज्ञा जानकीमाश्रमान्मुनिः ।
शिष्यैरानाययामास स्वसिद्धिं नियमैरिव ॥ ७४ ॥

इतीति । राज्ञेति प्रतिश्रुते प्रतिज्ञाते सति मुनिराश्रमाज्जानकीं शिष्यैः प्रयोज्यैः स्वसिद्धिं स्वार्थसिद्धिं नियमैस्तपोभिरिव आनाययामास ॥ ७४ ॥

ऐसा (श्लो० ७२-७३) राजा (राम) के प्रतिज्ञा करनेपर मुनिने तपस्याओंसे अपनी सिद्धिके समान सीताको शिष्योंसे बुलवाया ॥ ७४ ॥

अन्येद्युरथ काकुत्स्थः सन्निपात्य पुरौकसः ।
कविमाह्वाययामास प्रस्तुतप्रतिपत्तये ॥ ७५ ॥

अन्येद्युरिति । अथ काकुत्स्थो रामः । अन्येद्युरन्यस्मिन्नहनि प्रस्तुतप्रतिपत्तये प्रकृतकार्यानुसन्धानाय पुरौकसः पौरान् सन्निपात्य मेलयित्वा, कविं वाल्मीकिमाह्वाययामासाकारयामास ॥ ७५ ॥

इसके बाद रामने दूसरे दिन उपस्थित कार्यकी सिद्धिके लिये नगरवासियोंको एकत्रितकर कवि (वाल्मीकि) को बुलवाया ॥ ७५ ॥

स्वरसंस्कारवत्यासौ पुत्राभ्यामथ सीतया ।
ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरुपस्थितः ॥ ७६ ॥

स्वरेति । अथ स्वर उदात्तादिः । संस्कारः शब्दशुद्धिः तद्वत्या ऋचा सावित्र्योदर्चिषं सूर्यमिव पुत्राभ्यामुपलक्षितया सीतया करणेनोदर्चिषं राममसौ मुनिरुपस्थित उपतस्थे ॥ ७६ ॥

(उदात्तआदि) स्वरकी शुद्धिसे युक्त ऋचा (सावित्री) से तेजस्वी सूर्यके समान, पुत्रयुक्त सीतासे तेजस्वी रामके पास वाल्मीकि मुनि उपस्थित हुए ॥ ७६ ॥

काषायपरिवीतेन स्वपदार्पितचक्षुषा ।
अन्वमीयत शुद्धेति शान्तेन वपुषैव सा ॥ ७७ ॥

काषायेति । कषायेण रक्तं काषायम् । "तेन रक्तं रागात्" इत्यण् । तेन परिवीतेन संवृतेन स्वपदार्पितचक्षुषा शान्तेन प्रसन्नेन वपुषैव सा सीता शुद्धा साध्वीत्यन्वमीयतानुमिता ॥ ७७ ॥

गेरुआ वस्त्र पहने हुए अपने पैरपर दृष्टि डाले हुए शान्त शरीरसे ही "वह (सीता) शुद्ध है" ऐसा अनुमान (लोगोंको ज्ञात) हुआ ॥ ७७ ॥

जनास्तदालोकपथात्प्रतिसंहृतचक्षुषः ।
तस्थुस्तेऽवाङ्मुखाः सर्वे फलिता इव शालयः ॥ ७८ ॥

जना इति । तस्याः सीतायाः कर्मण आलोकपथाद्दर्शनमार्गात्प्रतिसंहृतचक्षुषो विवर्तितदृष्टयः सर्वे जनाः । फलिताः शालय इव । अवाङ्मुखा अवनतमुखास्तस्थुः ॥

सीताको देखनेसे अपनी दृष्टिको हटाये हुए सब लोगोंने फले हुए धानके समान (अपने-अपने) मुखको नीचे कर लिया ॥ ७८ ॥

तां दृष्टिविषये भर्तुर्मुनिरास्थितविष्टरः ।
कुरु निःसंशयं वत्से स्ववृत्ते लोकमित्यशात् ॥ ७९ ॥

तामिति । आस्थितविष्टरोऽधिष्ठितासनो मुनिः । हे वत्से ! भर्तुर्दृष्टिविषये समक्षं स्ववृत्ते स्वचरिते विषये लोकं निःसंशयं कुरु । इति तां सीतामशाच्छास्ति स्म ॥७९॥

आसनपर बैठे हुए मुनिने "हे वत्से! पति (राम) के सामने अपने सदाचारके विषयमें लोगोंको सन्देहरहित करो" ऐसा सीतासे कहा ॥ ७९ ॥

अथ वाल्मीकिशिष्येण पुण्यमावर्जितं पयः।
आचम्योदीरयामास सीता सत्यां सरस्वतीम् ॥ ८० ॥

अथेति। अथ वाल्मीकिशिष्येणावर्जितं दत्तं पुण्यं पूतं पयो जलमाचम्य सीता सत्यां सरस्वतीं वाचमुदीरयामासोच्चारयामास ॥ ८० ॥

इसके बाद वाल्मीकिके शिष्यके द्वारा दिये गये पवित्र जलसे आचमनकर सीताने सत्य वचन कहा—॥ ८० ॥

वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे।
तथा विश्वम्भरे देवि मामन्तर्धातुमर्हसि ॥ ८१ ॥

वागिति। वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ विषये मे व्यभिचारः स्खालित्यं न यथा नास्ति यदि तथा तर्हि। विश्वं बिभर्तीति विश्वम्भरा भूमिः। "संज्ञायां भृतॄ—" इत्यादिना खच्प्रत्ययः। "अरुर्द्विषद्–" इत्यादिना मुमागमः। हे विश्वम्भरे देवि! मामन्तर्धातुं गर्भे वासयितुमर्हसि ॥ ८१ ॥

वचन, मन और कर्मसे पतिके विषयमें यदि मैं स्खलित नहीं हुई हूं, तब हे मातः (वसुन्धरे) मुझे अन्तर्हित कर लो अर्थात् अपने भीतर मुझे समा लो ॥ ८१ ॥

एवमुक्ते तया साध्व्या रन्ध्रात्सद्योभवाद् भुवः।
शातह्रदमिव ज्योतिः प्रभामण्डलमुद्ययौ ॥ ८२ ॥

एवमिति। साध्व्या पतिव्रतया तया सीतयैवमुक्ते सति सद्योभवाद् भुवोरन्ध्राच्छातह्रदं वैद्युतं ज्योतिरिव प्रभामण्डलमुद्ययौ ॥ ८२ ॥

पतिव्रता सीताके ऐसा कहनेपर तत्काल फटती हुई पृथ्वीसे विजुलीके समान प्रभासमूह ऊपर निकला ॥ ८२ ॥

तत्र नागफणोत्क्षिप्तसिंहासननिषेदुषी।
समुद्ररशना साक्षात्प्रादुरासीद्वसुन्धरा ॥ ८३ ॥

तत्रेति। तत्र प्रभामण्डले नागफणोत्क्षिप्ते सिंहासने निषेदुष्यासीना समुद्ररशना समुद्रमेखला साक्षात्। वसूनि धारयतीति वसुन्धरा भूमिः। "खचि ह्रस्वः" इति ह्रस्वः। प्रादुरासीत् ॥ ८३ ॥

उस प्रभासमूहमें सर्पकी फणासे ऊपर उठाये हुए सिंहासनपर बैठी हुई समुद्ररूपी करधनीवाली साक्षात् पृथ्वी प्रकट हुई ॥ ८३ ॥

सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृप्रणिहितेक्षणाम्।
मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन्पातालमभ्यगात् ॥ ८४ ॥

सेति। सा वसुन्धरा भर्तरि प्रणिहितेक्षणां दत्तदृष्टिं सीतामङ्कमारोप्य तस्मिन् भर्तरि रामे मा मेति मा हरेति व्याहरति वदत्येव, व्याहरन्तमनादृत्येत्यर्थः। "षष्ठी चानादरे" इति सप्तमी। पातालमभ्यगात् ॥ ८४ ॥

वह माता पृथ्वी पतिको देखती हुई सीताको गोदमें रखकर राम के "नहीं, नहीं" कहते रहनेपर भी उनके निषेधकी उपेक्षा करके पाताल चली गयी ॥ ८४ ॥

धरायां तस्य संरम्भं सीताप्रत्यर्पणैषिणः।
गुरुर्विधिबलापेक्षी शमयामास धन्विनः ॥ ८५ ॥

धरायामिति। सीताप्रत्यर्पणमिच्छतीति तथोक्तस्य धन्विन आत्तधनुषस्तस्य रामस्य धरायां विषये संरम्भं विधिबलापेक्षी दैवशक्तिदर्शी गुरुर्ब्रह्मा शमयामास। अवश्यम्भावी विधिरिति भावः ॥ ८५ ॥

सीताके प्रत्यर्पण (वापसी) चाहनेवाले धनुर्धारी राम के क्रोधको विधिके विधानको कोई नहीं टाल सकता, ऐसा जाननेवाले वसिष्ठ और वाल्मीकि ने शान्त किया ॥ ८५ ॥

ऋषीन्विसृज्य यज्ञान्ते सुहृदश्च पुरस्कृतान्।
रामः सीतागतं स्नेहं निदधे तदपत्ययोः ॥ ८६ ॥

ऋषीनिति। रामो यज्ञान्ते पुरस्कृतान्पूजितानृषीन्वाल्मीक्यादीन्सुहृदश्च विभीषणादीन् विसृज्य सीतागतं स्नेहं तदपत्ययोः कुशलवयोर्निदधे ॥ ८६ ॥

राम यज्ञके अन्तमें सत्कृत मुनियों तथा मित्रोंको विदाकर सीता-विषयक स्नेह अपने पुत्रोंमें करने लगे ॥ ८६ ॥

युधाजितश्च सन्देशात्स देशं सिन्धुनामकम्।
ददौ दत्तप्रभावाय भरताय भृतप्रजः ॥ ८७ ॥

युधेति। किञ्च। भृतप्रजः स रामो युधाजितो भरतमातुलस्य सन्देशात्सिन्धुनामकं देशं दत्तप्रभावाय दत्तैश्वर्याय, रामेणेति शेषः। भरताय ददौ ॥ ८७ ॥

प्रजाका पालन करते हुए रामने युधाजित् (भरत के मामा) के कहनेसे 'सिन्धु' नामक देशको रामसे प्रभावित भरतके लिये दिया ॥ ८७ ॥

भरतस्तत्र गन्धर्वान्युधि निर्जित्य केवलम्।
आतोद्यं ग्राहयामास समत्याजयदायुधम् ॥ ८८ ॥

भरत इति। तत्र सिन्धुदेशे भरतोऽपि युधि गन्धर्वान्निर्जित्य केवलमेकमातोद्यं वीणाम्। "ततं वीणादिकं वाद्यमानद्धं मुरजादिकम्। वंशादिकं तु सुषिरं कांस्यतालादिकं घनम् ॥ चतुर्विधमिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकम् ॥" इत्यमरः। ग्राहयामास। आयुधं समत्याजयत्त्याजितवान्। ग्रहित्यज्योर्ण्यन्तयोर्द्विकर्मकत्वं नित्यमित्यनुसन्धेयम् ॥ ८८ ॥

वहां (गान्धर्व देशमें) भरतने युद्धमें सब गन्धर्वोंको जीतकर उनसे केवल वीणा ग्रहण कराया और शस्त्रका ग्रहण करना छुड़ा दिया। (भरतसे पराजित गन्धर्वोंने फिर किसी युद्धमें शस्त्रको नहीं ग्रहण किया; किन्तु सदा गान करनेके लिये केवल वीणा ग्रहण किया) ॥ ८८ ॥

स तक्षपुष्कलौ पुत्रौ राजधान्योस्तदाख्ययोः ।
अभिषिच्याभिषेकार्हौ रामान्तिकमगात्पुनः ॥ ८९ ॥

स इति। स भरतः। अभिषेकार्हौ तक्षपुष्कलौ नाम पुत्रौ तदाख्ययोः, तक्षपुष्कलाख्ययोरित्यर्थः। पुष्कलं पुष्कलावत्यां तक्षं तक्षशिलायामिति राजधान्योर्नगर्योरभिषिच्य पुना रामान्तिकमगात् ॥ ८९ ॥

वे भरत राज्याभिषेकके योग्य 'तक्ष' तथा 'पुष्कल' नामक अपने पुत्रोंको उनके नामसे प्रसिद्ध 'तक्षशिला' और 'पुष्कलावती' नामकी दो राजधानियोंमें क्रमशः अभिषिक्तकर फिर रामके पास लौट आये ॥ ८९ ॥

अङ्गदं चन्द्रकेतुं च लक्ष्मणोऽप्यात्मसम्भवौ ।
शासनाद्रघुनाथस्य चक्रे कारापथेश्वरौ ॥ ९० ॥

अङ्गदमिति। लक्ष्मणोऽपि रघुनाथस्य रामस्य शासनादङ्गदं चन्द्रकेतुं च तदाख्यावात्मसम्भवौ पुत्रौ। कारापथो नाम देशः। तस्येश्वरौ चक्रे॥ ९० ॥

लक्ष्मणने भी रामके आदेशसे 'अङ्गद' तथा 'चन्द्रकेतु' नामक अपने पुत्रोंको 'कारापथ' (नामक देश) का स्वामी बना दिया ॥ ९० ॥

इत्यारोपितपुत्रास्ते जननीनां जनेश्वराः ।
भर्तृलोकप्रपन्नानां निवापान्विदधुः क्रमात् ॥ ९१ ॥

इतीति। इत्यारोपितपुत्रास्ते जनेश्वरा रामादयो भर्तृलोकप्रपन्नानां स्वर्यातानां जननीनां क्रमान्निवापाञ्छ्राद्धादीन्विदधुश्चक्रुः। 'पितृदानं निवापः स्यात्' इत्यमरः॥९१॥

इस प्रकार (श्लो० ८७–९०) पुत्रोंको (पूर्वोक्त देशोंमें) स्थापितकर उन प्रजारक्षकों (राम आदि चारों भाइयों) ने पतिलोकको प्राप्त (मरी हुई) माताओंके क्रमशः तर्पणों (श्राद्ध आदि पारलौकिक कर्मों) को किया ॥ ९१ ॥

उपेत्य मुनिवेषोऽथ कालः प्रोवाच राघवम् ।
रहःसंवादिनौ पश्येदावां यस्तं त्यजेरिति ॥ ९२ ॥

उपेत्येति। अथ कालोऽन्तको मुनिवेषः सन्नुपेत्य राघवं प्रोवाच। किमित्याह—रहस्येकान्ते संवादिनौ सम्भाषिणावावां यः पश्येत्। रहस्यभङ्गं कुर्यादित्यर्थः। तं त्यजेरिति ॥ ९२ ॥

इसके बाद काल अर्थात् मृत्युने मुनिका वेष धारणकर रामके पास आकर "एकान्तमें

वार्तालाप करते हुए हम दोनोंको जो कोई देखे, उसका तुम त्याग कर देना" ऐसा कहा।९२

तथेति प्रतिपन्नाय विवृतात्मा नृपाय सः।
आचख्यौ दिवमध्यास्व शासनात्परमेष्ठिनः ॥ ९३ ॥

तथेतीति। स कालस्तथेति प्रतिपन्नाय नृपाय रामाय विवृतात्मा प्रकाशितनिजस्वरूपः सन्। परमेष्ठिनो ब्रह्मणः शासनाद्दिवमध्यास्वेत्याचख्यौ ॥ ९३ ॥

उस (काल) ने "वैसा ही हो" इस प्रकार स्वीकार किये हुए रामसे अपना रूप प्रकट करके "ब्रह्माके आदेशसे अब आप स्वर्गको चलें" ऐसा कहा ॥ ९३ ॥

विद्वानपि तयोर्द्वाःस्थः समयं लक्ष्मणोऽभिनत्।
भीतो दुर्वाससः शापाद्रामसन्दर्शनार्थिनः ॥ ९४ ॥

विद्वानिति। द्वाःस्थो द्वारि नियुक्तो लक्ष्मणो विद्वानपि पूर्वश्लोकोक्तं जानन्नपि रामसन्दर्शनार्थिनो दुर्वाससो मुनेः शापाद्भीतः सन्। तयोः कालरामयोः समयं संवादमभिनद्बिभेद ॥ ९४ ॥

द्वारपर स्थित हुए लक्ष्मणने (राम तथा मुनिवेषी कालके शर्तको) जानते हुए भी रामके दर्शनको चाहनेवाले दुर्वासा ऋषिके शापसे डरकर उन दोनों (राम तथा काल) के संवादको भिन्न कर दिया। (परस्पर भाषण करते हुए उन दोनोंके सामने जाकर उसमें बाधा डाल दी) ॥ ९४ ॥

स गत्वा सरयूतीरं देहत्यागेन योगवित्।
चकारावितथां भ्रातुः प्रतिज्ञां पूर्वजन्मनः ॥ ९५ ॥

स इति। योगविद्योगमार्गवेदी स लक्ष्मणः सरयूतीरं गत्वा देहत्यागेन पूर्वजन्मनो भ्रातुः प्रतिज्ञामवितथां सत्यां चकार ॥ ९५ ॥

योगके ज्ञाता उस लक्ष्मणने 'सरयू' नदीके तटपर जाकर शरीर त्याग करनेसे बड़े भाई (राम) की प्रतिज्ञा (देखें श्लो० ९२-९३) को सत्य किया ॥ ९५ ॥

तस्मिन्नात्मचतुर्भागे प्राङ्नाकमधितस्थुषि।
राघवः शिथिलं तस्थौ भुवि धर्मस्त्रिपादिव ॥ ९६ ॥

तस्मिन्निति। चतुर्थो भागश्चतुर्भागः। संख्याशब्दस्य वृत्तिविषये पूरणार्थत्वं शतांशवत्। आत्मचतुर्भागे तस्मिँल्लक्ष्मणे प्राङ्नाकमधितस्थुषि पूर्वं स्वर्गं जग्मुषि सति राघवो रामः। भुवि त्रिपाद्धर्म इव शिथिलं तस्थौ। पादविकलो हि शिथिलं तिष्ठतीति भावः। त्रेतायां धर्मस्त्रिपादित्याहुः। पादश्चतुर्थांशः अङ्घ्रिश्च ध्वन्यते। 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः। त्रयः पादा यस्यासौ त्रिपात्। "संख्यासुपूर्वस्य" इत्यकारलोपः समासान्तः ॥ ९६ ॥

अपने चतुर्थांश (चौथाई हिस्सा) उस (लक्ष्मण) के पहले स्वर्गमें जानेपर राम पृथ्वी पर तीन पादवाले धर्मके समान शिथिल रहने लगे। (त्रेता युगमें धर्मके तीन पाद होनेसे

वह शिथिल होकर रहता है, तीन पादवाले व्यक्तिका एक पादसे हीन होनेपर शिथिल रहना स्वाभाविक ही है) ॥ ९६ ॥

स निवेश्य कुशावत्यां रिपुनागाङ्कुशं कुशम् ।
शरावत्यां सतां सूक्तैर्जनिताश्रुलवं लवम् ॥ ९७ ॥
उदक्प्रतस्थे स्थिरधीः सानुजोऽग्निपुरःसरः ।
अन्वितः पतिवात्सल्यात् गृहवर्जमयोध्यया ॥ ९८ ॥

स इत्यादीति । युग्मम् । स्थिरधीः स रामः । रिपव एव नागा गजास्तेषामङ्कुशं निवारकं कुशं कुशावत्यां पुर्यां निवेश्य स्थापयित्वा । सूक्तैः समीचीनवचनैः सतां जनिता अश्रुलवा अश्रुलेशा येन तं लवं लवाख्यं पुत्रम् । 'लवो लेशे विलासे च छेदने रामनन्दने' इति विश्वः । शरावत्यां पुर्याम् । "शरादीनां च" इति शरकुशशब्दयोर्दीर्घः । निवेश्य सानुजोऽग्निपुरःसरः सन् । पत्यौ भर्तरि वात्सल्यादनुरागात् । गृहान्वर्जयित्वा गृहवर्जम् । "द्वितीयायां च" इति णमुल् । अयं क्वचिदपरीप्सायामपीष्यते । "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्" इत्येकाचः शेषतया व्याख्यातत्वात् । परीप्सा त्वरा । अयोध्ययाऽन्वितोऽनुगत उदक्प्रतस्थे ॥ ९७ ॥ ९८ ॥

स्थिर बुद्धिवाले वे राम शत्रुरूपी हाथीके अङ्कुशभूत कुशको 'कुशावती' में तथा सुन्दर वचनोंसे सज्जनोंके नेत्रोंमें आंसू लानेवाले (सज्जनोंको रुलानेवाले) लवको 'शरावती' में स्थापितकर छोटे भाइयोंके सहित हो, अग्निको आगे लिये हुए, स्वामी (राजा) में स्नेह होनेसे घर छोड़कर अयोध्यासे युक्त होकर उत्तर दिशाको चले ॥ ९७-९८ ॥

जगृहुस्तस्य चित्तज्ञाः पदवीं हरिराक्षसाः ।
कदम्बमुकुलस्थूलैरभिवृष्टां प्रजाऽश्रुभिः ॥ ९९ ॥

जगृहुरिति । चित्तज्ञा हरिराक्षसाः कदम्बमुकुलस्थूलैः प्रजाऽश्रुभिरवृष्टां तस्य रामस्य पदवीं मार्गं जगृहुः, तेऽप्यनुजग्मुरित्यर्थः ॥ ९९ ॥

रामके चित्तको जाननेवाले वानरों तथा राक्षसोंने कदम्बपुष्पकी कलिकाके समान बड़ी २ (बूंदोंवाली) प्रजाकी आंसुओंसे भिगे हुए मार्गको ग्रहण किया अर्थात् रामके पीछे वानर तथा राक्षस भी चले ॥ ९९ ॥

उपस्थितविमानेन तेन भक्तानुकम्पिना ।
चक्रे त्रिदिवनिश्रेणिः सरयूरनुयायिनाम् ॥ १०० ॥

उपस्थितेति । उपस्थितं प्राप्तं विमानं यस्य तेन । भक्ताननुकम्पत इति भक्तानुकम्पिना । तेन रामेणानुयायिनां सरयूस्त्रिदिवनिश्रेणिः स्वर्गाधिरोहिणी चक्रे । 'निश्रेणिस्त्वधिरोहिणी' इत्यमरः ॥ १०० ॥

विमानको प्राप्त, भक्तवत्सल उस रामने अनुगमन करनेवालों (अपने पीछे आनेवाले वानरों, राक्षसों तथा अयोध्यावासी प्रजाओं) के लिये सरयूको स्वर्गको सीढ़ी बना दिया अर्थात् रामके पीछे जो २ व्यक्ति सरयूतटपर आये, वे सब अनायास ही स्वर्गमें पहुंच गये॥

यद्गोप्रतरकल्पोऽभत्सम्मर्दस्तत्र मज्जताम् ।
अतस्तदाख्यया तीर्थं पावनं भुवि पप्रथे ॥ १०१ ॥

यदिति । यद्यस्मात्तत्र सरय्वां मज्जतां सम्मर्दः गोप्रतरो गोप्रतरणम् । तत्कल्पोऽभूत् । अतस्तदाख्यया गोप्रतराख्यया पावनं शोधकं तीर्थं भुवि पप्रथे ॥ १०१ ॥

जिस कारण वहां (सरयू में) स्नान करनेवालोंकी भीड़ गौकी सरलतासे तैरनेके समान हुई, इस कारण पृथ्वीपर वह 'गोप्रतर' नामसे प्रसिद्ध पवित्र तीर्थ हो गया ॥ १०१ ॥

स विभुर्विबुधांशेषु प्रतिपन्नात्ममूर्तिषु ।
त्रिदशीभूतपौराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

स इति । विभुः प्रभुः स रामो विबुधानामंशेषु सुग्रीवादिषु प्रतिपन्नात्ममूर्तिषु सत्सु त्रिदशीभूता देवभुवनं गता ये पौरास्तेषां नूतनसुराणां स्वर्गान्तरमकल्पयत् ॥

सर्वसमर्थ उस रामने देवोंके अंशभूत सुग्रीव आदिके अपनी २ मूर्ति (पूर्व देवभाव) को प्राप्त कर लेनेपर नये देव बने हुए नगरवासियोंके लिये दूसरा स्वर्ग बनाया ॥ १०२ ॥

निर्वर्त्यैवं दशमुखशिरश्छेदकार्यं सुराणां
विष्वक्सेनः स्वतनुमविशत्सर्वलोकप्रतिष्ठाम् ।
लङ्कानाथं पवनतनयं चोभयं स्थापयित्वा
कीर्तिस्तम्भद्वयमिव गिरौ दक्षिणे चोत्तरे च ॥ १०३ ॥

निर्वर्त्येति । विष्वक्सेनो विष्णुरेवं सुराणां दशमुखशिरश्छेदकार्यं निर्वर्त्य निष्पाद्य । लङ्कानाथं विभीषणं पवनतनयं हनूमन्तं चोभयं कीर्तिस्तम्भद्वयमिव । दक्षिणे गिरौ चित्रकूटे चोत्तरे गिरौ हिमवति च स्थापयित्वा । सर्वलोकप्रतिष्ठां सर्वलोकाश्रयभूतां स्वतनुं स्वमूर्तिमविशत् ॥ १०३ ॥

इति सञ्जीविनीव्याख्यायां श्रीरामस्वर्गारोहणो नाम पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

इस प्रकार विष्णु भगवान्ने रावणके वधरूप देवकार्यको पूराकर लङ्काधीश (विभीषण) तथा पवनकुमार हनुमान को दो कीर्तिस्तम्भ'के समान दक्षिणपर्वत (चित्रकूट) तथा उत्तर पर्वत (हिमालय) पर स्थापितकर समस्त संसारके आश्रयभूत अपने शरीरमें प्रवेश किया ॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीकामें पञ्चदश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः ।

वृन्दारका यस्य भवन्ति भृङ्गा मन्दाकिनी यन्मकरन्दबिन्दुः ।
तवारविन्दाक्ष पदारविन्दं वन्दे चतुर्वर्गचतुष्पदं तत् ॥

अथेतरे सप्त रघुप्रवीरा ज्येष्ठं पुराजन्मतया गुणैश्च ।
चक्रुः कुशं रत्नविशेषभाजं सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि ॥ १ ॥

अथेति । अथ रामनिर्वाणानन्तरमितरे लवादयः सप्त रघुप्रवीराः पुरः पूर्वं जन्म यस्य तस्य भावस्तत्ता तया । गुणैश्च ज्येष्ठं कुशं रत्नविशेषभाजं तत्तच्छ्रेष्ठवस्तुभागिनं चक्रुः । तदुक्तम्-"जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते" इति । तथा हि, सुभ्रातृणां भावः सौभ्रात्रम् । "हायनान्तयुवादिभ्योऽण्" इत्यनेन युवादित्वादण्प्रत्ययः । एषां कुशलवादीनां कुलानुसारि वंशानुगतं हि ॥ १ ॥

अमर जिसके भ्रमर हैं औ जाह्नवी मकरन्दकण ।
चतुर्वर्गके चतुष्पाद उस पद्मपादको है नमन ॥

इसके (रामके स्वर्गारोहणके) बाद रघुवंशिश्रेष्ठ अन्य सातों (राम-पुत्र लव, भरत-पुत्र तक्ष और पुष्कल, शत्रुघ्न-पुत्र सुबाहु और बहुश्रुत) ने पहले जन्म लेनेसे तथा गुणोंसे श्रेष्ठ कुशको उत्तमोत्तम रत्न दिये, क्योंकि इन (रघुवंशियों) का सद्भ्रातृभाव कुलक्रमागत (खान्दानी) होता है ॥ १ ॥

ते सेतुवार्तागजबन्धमुख्यैरभ्युच्छ्रिताः कर्मभिरप्यवन्ध्यैः ।
अन्योन्यदेशप्रविभागसीमां वेलां समुद्रा इव न व्यतीयुः ॥ २ ॥

त इति । सेतुर्जलबन्धः । वार्ता कृषिगोरक्षणादिः । 'वार्ता कृष्याद्युदन्तयोः' इति विश्वः । गजबन्ध आकरेभ्यो गजग्रहणं ते मुख्यं प्रधानं येषां तैरवन्ध्यैः सफलैः कर्मभिरभ्युच्छ्रिताः, अतिसमर्था अपीत्यर्थः । ते कुशादयः । प्रविभज्यन्त इति प्रविभागाः अन्योन्यदेशप्रविभागानां या सीमा ताम् । वेलां समुद्रा इव । न व्यतीयुर्नातिचक्रमुः । अत्र कामन्दकः—"कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम् । खन्याकरधनादानं शून्यानां च निवेशनम् ॥ अष्टवर्गमिमं साधुः स्वयं वृद्धोऽपि वर्धयेत् ॥" इति ॥ २ ॥

नदी आदिका बांध बनवाना, खेती तथा गोपालन आदि करना तथा आकरोंसे हाथियोंको ग्रहण करना आदि सफल कर्मोंसे अत्यन्त समृद्धियुक्त भी वे (कुश आदि) परस्परके देशके विभाजनकी सीमाका उल्लङ्घन उस प्रकार नहीं किया, जिस प्रकार समुद्र तट का उल्लङ्घन नहीं करता है ॥ २ ॥

चतुर्भुजांशप्रभवः स तेषां दानप्रवृत्तेरनुपारतानाम् ।
सुरद्विपानामिव सामयोनिर्भिन्नोऽष्टधा विप्रससार वंशः ॥ ३ ॥

चतुर्भुजांशप्रभव इति। चतुर्भुजो विष्णुः तस्यांशा रामादयः। ते प्रभवाः कारणानि यस्य स तथोक्तः। दानं त्यागो मदश्च। 'दानं गजमदे त्यागे' इति विश्वः। प्रवृत्तिर्व्यापारः प्रवाहश्च। दानप्रवृत्तेरनुपारतानां तेषां कुशलवादीनां स वंशः। सामयोनिः सामवेदप्रभवो दानप्रवृत्तेरनुपारतानां सुरद्विपानां दिग्गजानां वंश इव अष्टधा भिन्नः सन्। विप्रससार विस्तृतोऽभूत्। सामयोनिरित्यत्र पालकाप्यः—"सूर्यस्याण्डकपाले द्वे समानीय प्रजापतिः। हस्ताभ्यां परिगृह्याथ सप्त सामान्यगायत। गायतो ब्रह्मणस्तस्मात्समुत्पेतुर्मतङ्गजाः॥" इति॥ ३॥

दान देनेसे विमुख नहीं होनेवाले उन (कुश आदि) का विष्णुके अंश (राम आदि) से उत्पन्न वह वंश मदप्रवाहसे युक्त दिग्गजोंके सामवेदोत्पन्न वंशके समान आठ भागोंमें विभक्त होकर बढ़ने लगा॥ ३॥

अथार्धरात्रे स्तिमितप्रदीपे शय्यागृहे सुप्तजने प्रबुद्धः।
कुशः प्रवासस्थकलत्रवेषामदृष्टपूर्वां वनितामपश्यत्॥ ४॥

अथेति। अथ। अर्धं रात्रेरर्धरात्रः। 'अर्धं नपुंसकम्" इत्येकदेशसमासः। "अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः" इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः। "रात्राह्नाहाः पुंसि" इति नियमात्पुंस्त्वम्। अर्धरात्रे निशीथे स्तिमितप्रदीपे सुप्तजने शय्यागृहे प्रबुद्धः, न तु सुप्तः। कुशः प्रवासस्थकलत्रवेषां प्रोषितभर्तृकावेषाम्। अदृष्टा पूर्वमित्यदृष्टपूर्वा ताम्। सुप्सुपेति समासः। वनितामपश्यत्॥ ४॥

इसके बाद आधीरातमें शान्त दीपोंवाले और सोये हुए लोगोंवाले शयनागारमें जगे हुए कुशने प्रोषित (परदेशमें स्थित) पतिवाली स्त्रीके वेषको धारण की हुई तथा पहले कभी नहीं देखी गयी अर्थात् अपरिचित स्त्रीको देखा॥ ४॥

सा साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः स्थित्वा पुरस्तात्पुरुहूतभासः।
जेतुः परेषां जयशब्दपूर्वं तस्याञ्जलिं बन्धुमतो बबन्ध॥ ५॥

सेति। सा वनिता साधुसाधारणपार्थिवर्द्धेः सज्जनसाधारणराज्यश्रियः पुरुहूतभास इन्द्रतेजसः परेषां शत्रूणां जेतुर्बन्धुमतस्तस्य कुशस्य पुरस्तात्स्थित्वा जयशब्दः पूर्वं यथा तथाऽञ्जलिं बबन्ध॥ ५॥

उस स्त्रीने सज्जन साधारणके लिये है राजलक्ष्मी जिसकी ऐसे, इन्द्रके समान तेजस्वी, शत्रुओंके विजयी और भाइयोंवाले उस कुशके आगे खड़ी होकर पहले 'जय' शब्दका उच्चारणकर हाथजोड़ लिया॥ ५॥

अथानपोढार्गलमप्यगारं छायामिवादर्शतलं प्रविष्टाम्।
सविस्मयो दाशरथेस्तनूजः प्रोवाच पूर्वार्धविसृष्टतल्पः॥ ६॥

अथेति। अथ सविस्मयः पूर्वार्धेन शरीरपूर्वभागेन विसृष्टतल्पस्त्यक्तशय्यो दाशरथेस्तनूजः कुशः। अनपोढार्गलमनुद्घाटिताविष्कम्भमपि। 'तद्विष्कम्भोऽर्गलं ना'

इत्यमरः । अगारम् । आदर्शतलं छायामिव प्रविष्टां तां वनितां प्रोवाचावदत् ॥ ६ ॥

इसके बाद आश्चर्ययुक्त, पूर्वार्द्ध अर्थात् कटिके ऊपरी भागसे शय्याको छोड़े हुए (पैर फैलाये शय्यापर बैठे हुए) रामके पुत्र कुश आगल (किवाड़की किल्ली) नहीं खोले गये अर्थात् बन्द मकानमें भी, दर्पणके भीतर छायाके समान प्रवेश की हुई, उस स्त्रीसे बोले—।६।

लब्धान्तरा सावरणेऽपि गेहे योगप्रभावो न च लक्ष्यते ते ।
बिभर्षि चाकारमनिर्वृतानां मृणालिनी हैममिवोपरागम् ॥ ७ ॥
का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा किं वा मदभ्यागमकारणं ते ।
आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनः परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥ ८ ॥

लब्धान्तरेति । युग्मम् । सावरणेऽपि गेहे लब्धान्तरा लब्धावकाशा । त्वमिति शेषः । योगप्रभावश्च ते न लक्ष्यते । मृणालिनी हैमं हिमकृतमुपरागमुपद्रवमिव । अनिर्वृतानां दुःखितानामाकारं बिभर्षि च । न हि योगिनां दुःखमस्तीति भावः । किं च । हे शुभे ! त्वं का । कस्य वा परिग्रहः पत्नी । ते तव मदभ्यागमे कारणं वा किम् । वशिनां जितेन्द्रियाणां रघूणां मनः परस्त्रीषु विषये विमुखा प्रवृत्तिर्यस्य तत्त-थाभूतं मत्वाऽऽचक्ष्व ॥ ७ ॥ ८ ॥

"तुम बन्द कमरे (घर) में भी आ गयी हो, तुम्हारा योगविषयक कोई प्रभाव भी नहीं दिखायी पड़ता है, (क्योंकि) हिमजनित उपद्रव को मृणालिनीके समान दुःखियोंके आकृतिको तुम धारण कर रही हो (योगियोंको कभी दुःख नहीं होता और तुम दुःखिया हो रही हो; अत एव तुमने योगसिद्धिसे इस बन्द कमरेमें प्रवेश किया है ऐसी कल्पना करना ठीक नहीं है) । हे शुभे ! तुम कौन हो और किसकी पत्नी हो ? अथवा मेरे पास तुम्हारे आनेमें क्या कारण है ? जितेन्द्रिय रघुवंशियोंके मनको परस्त्रीसे विमुख व्यवहारवाला मानकर कहो ॥ ७-८ ॥

तमब्रवीत्सा गुरुणाऽनवद्या या नीतपौरा स्वपदोन्मुखेन ।
तस्याः पुरः सम्प्रति वीतनाथां जानीहि राजन्नधिदेवतां माम् ॥ ९ ॥

तमिति । सा वनिता तं कुशमब्रवीत् । अनवद्याऽदोषा या पूः स्वपदोन्मुखेन विष्णुपदोन्मुखेन गुरुणा त्वत्पित्रा नीतपौरा हे राजन् ! मां सम्प्रति वीतनाथामनाथां तस्याः पुरो नगर्या अयोध्याया अधिदेवतां जानीहि ॥ ९ ॥

उस स्त्रीने लवसे कहा—"अनिन्दनीय जिस (अयोध्या) नगरीसे अपने पद (वैकुण्ठ) के लिये उन्मुख तुम्हारे पिता (राम) पुरवासियोंको अपने साथ (स्वर्गमें) ले गये हैं, हे राजन् ! उस नगरीकी इस समय अनाथ अधिष्ठात्री देवी मुझको जानो अर्थात् उस अयोध्यापुरीकी मैं अनाथ अधिष्ठात्री देवी हूं ॥ ९ ॥

वस्त्वौकसारामभिभूय साऽहं सौराज्यबद्धोत्सवया विभूत्या ।
समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति प्रपन्ना करुणामवस्थाम् ॥ १० ॥

वस्वौकसारामिति। साऽहं सौराज्येन राजन्वत्तया हेतुना बद्धोत्सवया विभूत्या। वस्वौकसाराऽलकापुरी। 'अलकापुरी वस्वौकसारा स्यात्' इति कोशः। अथवा मानसोत्तरशैलशिखरवर्तिनी शक्रनगरी। 'वस्वौकसारा शक्रस्य' इति विष्णुपुराणात्। तामभिभूय तिरस्कृत्य समग्रशक्तौ त्वयि सूर्यवंश्ये सति करुणामवस्थां दीनां दशां प्रपन्ना प्राप्ता ॥ १० ॥

वह मैंने (पहले) सुन्दर राजा रहनेसे उत्सवयुक्त ऐश्वर्यसे अलकापुरी या इन्द्रपुरीका तिरस्कारकर (इस समय) सम्पूर्ण शक्तिवाले सूर्यवंशी तुम्हारे रहनेपर दीनावस्थानको प्राप्त किया है ॥ १० ॥

विशीर्णतल्पाट्टशतो निवेशः पर्यस्तशालः प्रभुणा विना मे।
विडम्बयत्यस्तनिमग्नसूर्यं दिनान्तमुग्रानिलभिन्नमेघम् ॥ ११ ॥

विशीर्णेति। तल्पान्यट्टालिकाः। 'तल्पं शय्याऽट्टदारेषु' इत्यमरः। अट्टानि गृहभेदाः। 'अट्टं भक्ते च शुष्के च क्षौमेऽत्यर्थे गृहान्तरे' इति विश्वः। विशीर्णानि तल्पानामट्टानां च शतानि यस्य स तथोक्तः। 'विशीर्णकल्पाट्टशतो निवेशः' इति वा पाठः। अट्टाः क्षौमाः। 'स्यादट्टः क्षौममस्त्रियाम्' इत्यमरः। ईषदसमाप्तं विशीर्णानि विशीर्णकल्पान्यट्टशतानि यस्य स तथोक्तः। पर्यस्तशालः स्रस्तप्राकारः। 'प्राकारो वरणः शालः' इत्यमरः। प्रभुणा स्वामिना विनैवम्भूतो मे निवेशो निवेशनम्। अस्तनिमग्नसूर्यमस्ताद्रिलीनार्कमुग्रानिलेन भिन्नमेघं दिनान्तं विडम्बयत्यनुकरोति ॥११॥

स्वामी (राम) के विना अस्त-व्यस्त हुए सैकड़ों अट्टालिकाओं (या शय्याओं) वाला तथा टूटे हुए घेरे (परकोटा = चारदिवारी) वाला मेरा घर अस्ताचलमें छिपे (डूबे) हुए सूर्यवाले तथा तीक्ष्ण वायुसे बिखरे हुए मेघवाले सायंकालके समान हो रहा है ॥ ११ ॥

निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः सञ्चरोऽभूदभिसारिकाणाम्।
नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः ॥१२॥

निशास्विति। निशासु भास्वन्ति दीप्तिमन्ति कलान्यव्यक्तमधुराणि नूपुराणि यासां तासामभिसारिकाणाम्।'कान्तार्थिनी तु या याति सङ्केतं साऽभिसारिका' इत्यमरः। यो राजपथः। सञ्चरत्यनेनेति सञ्चरः। सञ्चारसाधनमभूत्। "गोचरसञ्चरवहव्रजव्यजापणनिगमाश्च" इत्यनेन घप्रत्ययान्तो निपातः। नदत्सु मुखेषु या उल्कास्ताभिर्विचितामिषाभिरन्विष्टमांसाभिः शिवाभिः क्रोष्ट्रीभिः स राजपथो वाह्यते गम्यते। वहेरन्यो वहिधातुरस्तीत्युपदेशः ॥ १२ ॥

रात्रिमें जो राजमार्ग चमकते तथा मधुर ध्वनि करते हुए नूपुरवाली अभिसारिकाओंके जानेका साधन था, वह राजमार्ग (इस समय) चिल्लानेसे जलते हुए मुखसे मांसको ढूढ़नेवाली स्यारियाँ चलती हैं ॥ १२ ॥

आस्फालितं यत्प्रमदाकराग्रैर्मृदङ्गधीरध्वनिमन्वगच्छत् ।
वन्यैरिदानीं महिषैस्तदम्भः शृङ्गाहतं क्रोशति दीर्घिकाणाम् ॥ १३ ॥

आस्फालितमिति । यदम्भः प्रमदाकराग्रैरास्फालितं ताडितं सत् । जलक्रीडा-स्विति शेषः । मृदङ्गानां यो धीरध्वनिस्तमन्वगच्छदन्वकरोत् । तद्दीर्घिकाणामम्भ इदानीं वन्यैर्महिषैः कर्तृभिः शृङ्गैर्विषाणैराहतं सत्क्रोशति, न तु मृदङ्गध्वनिमनुकरोतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

जो (बावरियोंका जल, पहले जलक्रीडा करते समय) युवती स्त्रियोंके हस्ताघातसे मृदङ्गके ध्वनिका अनुकरण करता था, वह बावरियोंका जल जङ्गली भैंसोंके शृङ्गसे आहत होकर रोता है (वैसा मृदङ्गध्वनिका अनुकरण नहीं करता है) ॥ १३ ॥

वृक्षेशया यष्टिनिवासभङ्गान्मृदङ्गशब्दापगमादलास्याः ।
प्राप्ता दवोल्काहतशेषबर्हाः क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्वम् ॥ १४ ॥

वृक्षेशया इति । यष्टिरेव निवासः स्थानं तस्य भङ्गात् । वृक्षे शेरत इति वृक्षेशयाः । "अधिकरणे शेतेः" इत्यच्प्रत्ययः । "शयवासवासिष्वकालात्" इत्यलुक्सप्तम्याः । मृदङ्गशब्दानामपगमादभावादलास्या नृत्यशून्याः । दवोऽरण्यवह्निः । 'दवदावौ वनारण्यवह्नी' इत्यमरः । तस्योल्काभिः स्फुलिङ्गैर्हतेभ्यः शेषाणि बर्हाणि येषां ते क्रीडामयूरा वनबर्हिणत्वं वनमयूरत्वं प्राप्ताः ॥ १४ ॥

डण्टेपर बैठना छूट जानेसे (पहले स्थान-स्थानपर मयूरोंके बैठनेके लिये छोटे छोटे लकड़ियोंके टुकड़े टँगे हुए थे, परन्तु इस समय उसके नहीं रहनेसे) वृक्षोंपर सोनेवाले तथा मृदङ्गकी ध्वनि नहीं सुननेसे नृत्य नहीं करनेवाले और दवाग्निकी चिनगारियोंसे जलकर बचे हुए पङ्खवाले क्रीडा-मयूर जंगली मयूर हो गये हैं ॥ १४ ॥

सोपानमार्गेषु च येषु रामा निक्षिप्तवत्यश्चरणान्सरागान् ।
सद्यो हतन्यङ्कुभिरस्रदिग्धं व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे ॥ १५ ॥

सोपानेति । किञ्च येषु सोपानमार्गेषु रामा रमण्यः सरागांल्लाक्षारसार्द्रांश्चरणान्निक्षिप्तवत्यः । तेषु मे मम मार्गेषु सद्यो हतन्यङ्कुभिर्मारितमृगैर्व्याघ्रैरस्रदिग्धं रुधिरलिप्तं पदं निधीयते ॥ १५ ॥

जिन सीढ़ियोंपर रमणियां महावर लगे हुए पैरोंको रखती थीं अर्थात महावर लगाकर चलती थीं, उन मेरे सोपानमार्गोंपर तत्काल मृगोंको मारनेवाले बाघ रक्तरञ्जित पैर रख रहे हैं ॥ १५ ॥

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः ।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥ १६ ॥

चित्रेति । पद्मवनमवतीर्णाः प्रविष्टाः, तथा लिखिता इत्यर्थः । करेणुभिः करिणीभिः । चित्रगताभिरेव । 'करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे' इत्यमरः । दत्तमृणालभङ्गाश्चित्रद्विपा

आलेख्यमातङ्गाः। नखा एवाङ्कुशाः तेषामाघातैर्विभिन्नकुम्भाः सन्तः संरब्धसिंहप्रहृतं कुपितसिंहप्रहारं वहन्ति ॥ १६ ॥

कमलवनमें प्रविष्ट, हथिनियोंके द्वारा दिये गये मृणालखण्ड जिनके लिये ऐसे चित्रित हाथी नखरूपी अङ्कुशके प्रहारसे विदीर्ण कुम्भवाले होकर क्रोधित सिंहके प्रहार को प्राप्तकर रहे हैं। (चित्रमें दिखाया गया है कि हाथी कमलवनमें प्रविष्ट है, हथिनियां उसके लिये मृणाल खण्ड दे रही हैं, उन चित्रित हाथियोंको वास्तविक हाथी मानकर सिंहोंने उनके माथोंपर पञ्जा मारकर उनके मस्तकस्थ कुम्भोंको विदीर्ण कर दिया है) ॥ १६ ॥

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति सङ्गान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥ १७ ॥

स्तम्भेष्विति। उत्क्रान्तवर्णक्रमा विशीर्णवर्णविन्यासास्ताश्च धूसराश्च यास्तासां स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानां स्त्रीप्रतिकृतीनां दारुमयीणां फणिभिर्विमुक्ता निर्मोकाः कञ्चुका एव पट्टाः। 'समौ कञ्चुकनिर्मोकौ' इत्यमरः। सङ्गात्सक्तत्वात्स्तनोत्तरीयाणि स्तनाच्छादनवस्त्राणि भवन्ति ॥ १७ ॥

(स्थान-स्थानपर) छूटे हुए रंग तथा धूसर वर्णवाली खम्भोंमें बनी मूर्तियोंके स्तनोंके वस्त्र सर्पोंसे छोड़े हुए केंचुल हो रहे हैं। (खंभोंमें जो मूर्तियां बनी हुई हैं, उनमें लिपटे हुए सर्पोंने जो केंचुल छोड़ा है, वही उन मूर्तियोंके स्तनोंके वस्त्र हो रहे हैं तथा जगह जगहसे उनके रंग छूट गये हैं और वे मलिन वर्ण हो गयी हैं) ॥ १७ ॥

कालान्तरश्यामसुधेषु नक्तमितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु ।
त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादाः ॥ १८ ॥

कालान्तरेति। कालान्तरेण कालभेदवशेन श्यामसुधेषु मलिनचूर्णेष्वितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु हर्म्येषु गृहेषु नक्तं रात्रौ मुक्तागुणानां शुद्धिरिव शुद्धिः स्वाच्छ्यं येषां तादृशा अपि ततः पूर्वं ये मूर्च्छन्ति स्म त एव चन्द्रपादाश्चन्द्ररश्मयः। 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः। न मूर्च्छन्ति, न प्रतिफलन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥

बहुत समयसे पुताई नहीं करानेसे काली पुताई वाले तथा इधर-उधर (कहीं २ पर) जमे हुए घास वाले महलोंपर रातमें मोती की लड़ीके समान निर्मल भी वे ही चन्द्र किरण प्रतिबिम्बित नहीं होते हैं। (पहले महलोंके सर्वदा पुताईसे निर्मल रहनेके कारण उनपर रातमें चन्द्रमाकी किरणें प्रतिबिम्ब होती थीं, किन्तु अब बहुत समयसे पुताई नहीं होनेसे वे काले पड़ गये हैं, कहीं २ घास जम गयी हैं; अत एव उनपर पहले प्रतिबिम्बित होने वाले ही चन्द्रकिरण अब प्रतिबिम्बित नहीं हो रहे हैं) ॥ १८ ॥

आवर्ज्य शाखाः सदयं च यासां पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः ।
वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरैस्ताः क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीयाः ॥ १९ ॥

आवर्ज्येति। किञ्च विलासिनीभिः सदयं शाखा लताऽवयवानावर्ज्यानमय्य

यासां लतानां पुष्पाण्युपात्तानि गृहीतानि ता मदीया उद्यानलताः वन्यैः पुलिन्दैर्म्लेच्छविशेषैरिव वानरैः, उभयैरपीत्यर्थः। क्लिश्यन्ते पीड्यन्ते। क्लिश्नातेः कर्मणि लट्। 'भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः' इत्यमरः॥ १९॥

विलासिनी स्त्रियां जिनकी डालियोंको (टूटनेके भयसे) धीरेसे झुकाकर फूल तोड़ती थीं, मेरी उन उद्यान लताओंको जंगली पुलिन्द (म्लेच्छजाति—कोल भील आदि) तथा वानर छिन्न-भिन्न करते हैं॥ १९॥

रात्रावनाविष्कृतदीपभासः कान्तामुखश्रीवियुता दिवाऽपि।
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालैर्विच्छिन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः॥ २०॥

रात्राविति। रात्रावनाविष्कृतदीपभासः अप्रकटीकृतदीपदीप्तयः, दीपप्रभाशून्या इत्यर्थः। दिवाऽपि दिवसेऽपि कान्तामुखानां श्रिया कान्त्या वियुता रहिता विच्छिन्नो नष्टो धूमप्रसरो येषां ते गवाक्षाः कृमितन्तुजालैर्लूतातन्तुवितानैस्तिरस्क्रियन्ते छाद्यन्ते॥ २०॥

रात्रिमें दीपकके प्रकाशको बाहर नहीं फैलने देनेवाली और दिनमें भी स्त्रियोंके (खिड़कियों पर नहीं जानेसे) मुखकी शोभासे हीन खिड़कियां मकड़ियोंके जालोंसे आछन्न होनेके कारण धूंए का निकलना भी बन्द कर रही हैं। (खिड़कियोंमें मकड़ियोंके जाल हैं, इसलिये उनपर से झांकनेके लिये दिनमें कोई स्त्री नहीं जाती, रातमें उनसे दीपकोंके प्रकाश बाहर नहीं निकलते और न धूंआ ही बाहर निकलता है)॥ २०॥

बलिक्रियावर्जितसैकतानि स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति।
उपान्तवानीरगृहाणि दृष्ट्वा शून्यानि दूये सरयूजलानि॥ २१॥

बलीति। 'बलिः पूजोपहारः स्यात्' इति शाश्वतः। बलिक्रियावर्जितानि सैकतानि येषां तानि। स्नानीयानि स्नानसाधनानि चूर्णादीनि। "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति करणेऽनीयर् प्रत्ययः। स्नानीयसंसर्गमनाप्नुवन्ति सरयूजलानि शून्यानि रिक्तान्युपान्तेषु वानीरगृहाणि येषां तानि च दृष्ट्वा दूये परितप्ये॥ २१॥

पूजन-क्रियासे हीन तटवाले, स्नानार्थ चूर्णसे रहित और पासमें बेंतोंके कुञ्जोंवाले सरयूके जलको देखकर मैं दुःखित होती हूं॥ २१॥

तदर्हसीमां वसतिं विसृज्य मामभ्युपैतुं कुलराजधानीम्।
हित्वा तनुं कारणमानुषीं तां यथा गुरुस्ते परमात्ममूर्तिम्॥ २२॥

तदिति। तत्तस्मादिमां वसतिं कुशावतीं विसृज्य कुलराजधानीं राज्ञा धीयतेऽस्यामिति राजधानी तामयोध्यां मामभ्युपैतुमर्हसि। कथमिव। ते गुरुः पिता रामस्तां प्रसिद्धां कारणवशान्मानुषीं तनुं मानुषमूर्तिं हित्वा परमात्ममूर्तिं यथा विष्णुमूर्तिमिव॥ २२॥

इस कारण तुम इस (कुशावती नगरी) को छोड़कर कुल-राजधानी (अयोध्या) को मुझे उस प्रकार प्राप्त करा दो (पहुंचा दो), जिस प्रकार तुम्हारे पिता (राम) ने कारण वश प्राप्त किये हुए मानव-शरीरको छोड़कर परमात्माकी मूर्तिको प्राप्त कर लिया है ॥ २२ ॥

तथेति तस्याः प्रणयं प्रतीतः प्रत्यग्रहीत्प्राग्रहरो रघूणाम् ।
पूरप्यभिव्यक्तमुखप्रसादा शरीरबन्धेन तिरोबभूव ॥ २३ ॥

तथेतीति । रघूणां प्राग्रहरः श्रेष्ठः कुशस्तस्याः पुरः प्रणयं याच्ञां प्रतीतो हृष्टः संस्तथेति प्रत्यग्रहीत्स्वीकृतवान् । पूः पुराधिदेवताऽप्यभिव्यक्तमुखप्रसादा सती । इष्टलाभादिति भावः । शरीरबन्धेन शरीरयोगेन करणेन तिरोबभूवान्तर्दधे, मानवं रूपं विहाय दैवं रूपमग्रहीदित्यर्थः ॥ २३ ॥

रघुवंशियोंमें श्रेष्ठ कुश ने प्रसन्न होकर उस (नगरी की अधिष्ठात्री देवता) की याचना को "वैसा ही हो" इस प्रकार स्वीकार कर लिया और प्रसन्न मुख वाली वह (नगरी की अधिष्ठात्री देवता) भी शरीररचनासे अन्तर्धान हो गयी अर्थात् प्रत्यक्ष दृश्यमान मानव— शरीरको छोड़कर अप्रत्यक्ष देवशरीर को धारण कर लिया ॥ २३ ॥

तदद्भुतं संसदि रात्रिवृत्तं प्रातर्द्विजेभ्यो नृपतिः शशंस ।
श्रुत्वा त एनं कुलराजधान्याः साक्षात्पतित्वे वृतमभ्यनन्दन् ॥ २४ ॥

तदिति । नृपतिः कुशस्तदद्भुतं रात्रिवृत्तं रात्रिवृत्तान्तं प्रातः संसदि सभायां द्विजेभ्यः शशंस । ते द्विजाः श्रुत्वैनं कुशं कुलराजधान्याः साक्षात्स्वयमेव पतित्वे विषये वृतमभ्यनन्दन् । पतित्वेन वृतोऽसीत्यपूजयन् । आशीर्भिरिति शेषः । अत्र गार्ग्यः—"दृष्ट्वा स्वप्नं शोभनं नैव सुप्यात्पश्चाद्दृष्टो यः स पाकं विधत्ते । शंसेदिष्टं तत्र साधुर्द्विजेभ्यस्ते चाशीर्भिः प्रीणयेयुर्नरेन्द्रम्॥" इदमपि स्वप्नतुल्यमिति भावः ॥

राजा (कुश) ने प्रातःकाल सभामें आश्चर्यकारक उस रात्रिके वृत्तान्तको ब्राह्मणोंसे कहा और उन्होंने साक्षात् कुल राजधानी (अयोध्या) के द्वारा पतिरूपमें स्वीकृत इस कुशका (आशीर्वाद देकर) अभिनन्दन किया ॥ २४ ॥

कुशावतीं श्रोत्रियसात्स कृत्वा यात्राऽनुकूलेऽहनि सावरोधः ।
अनुद्रुतो वायुरिवाभ्रवृन्दैः सैन्यैरयोध्याऽभिमुखः प्रतस्थे ॥ २५ ॥

कुशावतीमिति । स कुशः कुशावतीं श्रोत्रियेषु छान्दसेष्वधीनां श्रोत्रियसात् । "तदधीनवचने" इति सातिप्रत्ययः । "श्रोत्रियँश्छन्दोऽधीते" इति निपातः । 'श्रोत्रियश्छान्दसौ समौ' इत्यमरः । कृत्वा यात्राऽनुकूलेऽहनि सावरोधः सान्तःपुरः सन् । वायुरभ्रवृन्दैरिव । सैन्यैरनुद्रुतोऽनुगतः सन्नयोध्याऽभिमुखः प्रतस्थे ॥ २५ ॥

वे 'कुश' कुशावती नगरीको वैदिकोंके अधीनकर (उन्हें दान देकर) यात्राके अनुकूल (शुभ मुहूर्तयुक्त) दिनमें अन्तःपुरके सहित मेघसमूहसे अनुगत वायुके समान सेनासे अनुगत होकर अयोध्याको चले ॥ २५ ॥

सा केतुमालोपवना बृहद्भिर्विहारशैलानुगतेव नागैः ।
सेना रथोदारगृहा प्रयाणे तस्याभवज्जङ्गमराजधानी ॥ २६ ॥

सेति । केतुमाला एवोपवनानि यस्याः सा बृहद्भिर्नागैर्गजैर्विहारशैलैः क्रीडाशैलैरनुगतेव स्थिता । रथा एवोदारगृहा यस्याः सा सा सेना तस्य कुशस्य प्रयाणे जङ्गमराजधानी सञ्चारिणी नगरीवाभवद्बभूव ॥ २६ ॥

यात्रामें पताकाओंकी पङ्क्तियां ही हैं उपवन जिसकी ऐसी, बड़े २ हाथियोंसे क्रीडा पर्वतके समान स्थित, रथरूपी मनोहर भवनोंवाली वह सेना उस कुशकी जङ्गम (चलने-फिरने वाली) राजधानी हुई ॥ २६ ॥

तेनातपत्रामलमण्डलेन प्रस्थापितः पूर्वनिवासभूमिम् ।
बभौ बलौघः शशिनोदितेन वेलामुदन्वानिव नीयमानः ॥ २७ ॥

• तेनेति । आतपत्रमेवामलं मण्डलं बिम्बं यस्य तेन तेन कुशेन पूर्वनिवासभूमिमयोध्यां प्रति प्रस्थापितो बलौघः । आतपत्रवदमलमण्डलेनोदितेन शशिना वेलां नीयमानः प्राप्यमाणः । उदकमस्यास्तीत्युदन्वान् उदधिरिव बभौ । "उदन्वानुदधौ च" इति निपातनात्साधुः ॥ २७ ॥

श्वेतच्छत्ररूप निर्मल मण्डलवाले कुशके द्वारा प्रथम निवासस्थान (अयोध्या पुरी) को भेजा गया सेनासमूह उगे हुए श्वेतच्छत्रके समान निर्मल (एवं गोल) मण्डलवाले चन्द्रमाके द्वारा तीर पर लाये जाते हुए समुद्रके समान शोभित हुआ । (चन्द्रमाके उदय होनेपर समुद्रका तीरकी ओर बढ़ना सर्वानुभवसिद्ध है) ॥ २७ ॥

तस्य प्रयातस्य वरूथिनीनां पीडामपर्याप्तवतीव सोढुम् ।
वसुन्धरा विष्णुपदं द्वितीयमध्यारुरोहेव रजश्छलेन ॥ २८ ॥

तस्येति । प्रयातस्य प्रस्थितस्य तस्य कुशस्य वरूथिनीनां सेनानां कर्त्रीणाम् । "कर्तृकर्मणोः कृति" इति कर्तरि षष्ठी । पीडां सोढुमपर्याप्तवतीवाशक्तेव वसुन्धरा रजश्छलेन द्वितीयं विष्णुपदमाकाशमध्यारुरोहेव । इत्युत्प्रेक्षा ॥ २८ ॥

प्रस्थान किये हुए कुशकी सेनाओंकी पीडा (भार) को नहीं सहती हुईके समान पृथ्वी धूलिके व्याजसे मानों दूसरे विष्णुपद अर्थात् आकाशको चली गयी ॥ २८ ॥

उद्यच्छमाना गमनाय पश्चात्पुरो निवेशे पथि च व्रजन्ती ।
सा यत्र सेना ददृशे नृपस्य तत्रैव सामग्र्यमतिं चकार ॥ २९ ॥

उद्यच्छमानेति । पश्चात्कुशावत्याः सकाशाद्गमनाय प्रयाणाय तथा पुरोऽग्रे निवेशे निमित्ते, निवेष्टुं चेत्यर्थः । उद्यच्छमानोद्योगं कुर्वती । "समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे" इत्यस्य सकर्मकाधिकारत्वादात्मनेपदम् । पथि च व्रजन्ती नृपस्य कुशस्य सा सेना यत्र पश्चात्पुरो मध्ये वा ददृशे तत्रैव सामग्र्यमतिं कृत्स्नताबुद्धिं चकार, अपरिमिता तस्य सेनेत्यर्थः ॥ २९ ॥

(कुशावती) नगरीके पिछले भागमें चलनेके लिये तैयार, आगेमें ठहरी हुई तथा मार्गमें चलती हुई कुशकी सेनाको जहांपर (नगरके नीचले भागमें, आगे या मार्गमें) लोगोंने देखा, वहीं पर "यह सम्पूर्ण सेना है" ऐसा विचार किया अर्थात् कुशकी सेनाके थोड़ेसे अंशको भी अत्यन्त विशाल होनेसे लोगोंने पूरी सेना समझा ॥ २९ ॥

तस्य द्विपानां मदवारिसेकात्खुराभिघाताच्च तुरङ्गमाणाम् ।
रेणुः प्रपेदे पथि पङ्कभावं पङ्कोऽपि रेणुत्वमियाय नेतुः ॥ ३० ॥

तस्येति । नेतुस्तस्य कुशस्य द्विपानां मदवारिभिः सेकात्तुरङ्गमाणां खुराभिघाताच्च यथासङ्ख्यं पथि रेणू रजः पङ्कभावं पङ्कतां प्रपेदे पङ्कोऽपि रेणुत्वमियाय, तस्य तावदस्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥

नायक कुशके हाथियोंके मदजलके सिञ्चनसे और घोड़ोंके खुरोंके आघातसे रास्ते में (क्रमशः) धूलि कीचड़ हो गयी और कीचड़ धूलि हो गया ॥ ३० ॥

मार्गैषिणी सा कटकान्तरेषु वैन्ध्येषु सेना बहुधा विभिन्ना ।
चकार रेवेव महाविरावा बद्धप्रतिश्रुन्ति गुहामुखानि ॥ ३१ ॥

मार्गैषिणीति । वैन्ध्येषु विन्ध्यसम्बन्धिषु कटकान्तरेषु नितम्बावकाशेषु । 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रेः' इत्यमरः । मार्गैषिणी मार्गावलोकिनी । अत एव बहुधा विभिन्ना । महाविरावा दीर्घशब्दा सा सेना । रेवेव नर्मदेव । 'रेवा तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलकन्यका' इत्यमरः । गुहामुखानि बद्धप्रतिश्रुन्ति प्रतिध्वानवन्ति चकाराकरोत् ॥ ३१ ॥

विन्ध्य पर्वतके मध्यभागमें मार्गको खोजती हुई अनेक टुकड़ियोंमें विभक्त अत्यन्त शब्द करती हुई उस सेनाने महाध्वनि करती हुई रेवा नदीके समान गुफाओंको प्रतिध्वनित कर दिया ॥ ३१ ॥

स धातुभेदारुणयाननेमिः प्रभुः प्रयाणध्वनिमिश्रतूर्यः ।
व्यलङ्घयद्विन्ध्यमुपायनानि पश्यन्पुलिन्दैरुपपादितानि ॥ ३२ ॥

स इति । धातूनां गैरिकादीनां भेदेनारुणा आरक्ता याननेमी रथचक्रधारा यस्य । प्रयाणे ये ध्वनयः क्ष्वेडहेषादयः तन्मिश्राणि तूर्याणि यस्यैवंविधः स प्रभुः कुशः । पुलिन्दैः किरातैरुपपादितानि समर्पितान्युपायनानि पश्यन् । विन्ध्यं व्यलङ्घयत् ॥३२॥

(पर्वतके) धातुओंके भेदन करनेसे अर्थात् उसको तोड़ते हुए चलनेसे लाल हो गया है रथके पहियेका घेरा जिसका ऐसे, तथा यात्राकी ध्वनि (सेना, हाथी, घोड़े आदिके शब्द) से मिश्रित हो रहे हैं तुर्य (तुरही बाजा) जिसके ऐसे स्वामी कुश (पर्वतवासी) पुलिन्दोंसे लाये गये उपायनोंको देखते हुए विन्ध्य पर्वतको लांघ गये ॥ ३२ ॥

तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम् ।
अयत्नबालव्यजनीबभूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः ॥ ३३ ॥

तीर्थ इति । तदीये वैन्ध्ये तीर्थेऽवतारे गजा एव सेतुस्तस्य बन्धाद्धेतोः प्रतीपगां पश्चिमवाहिनीं गङ्गामुत्तरतोऽस्य कुशस्य नभोलङ्घनेन लोलपक्षा हंसा अयत्नेन बालव्यजनीबभूवुश्चामराण्यभूवन् । अभूततद्भावे च्विः ॥ ३३ ॥

विन्ध्यके तटपर हाथियोंका पुल बन जानेसे उलटे (अर्थात् पश्चिम दिशा में बहनेवाली गंगाके उत्तर भागमें कुशके, आकाशमें उड़नेसे चञ्चल पंखोंवाले हंस अनायास ही चामर हो गये ॥ ३३ ॥

स पूर्वजानां कपिलेन रोषाद्भस्मावशेषीकृतविग्रहाणाम् ।
सुरालयप्राप्तिनिमित्तमम्भस्त्रैस्रोतसं नौलुलितं ववन्दे ॥ ३४ ॥

स इति । स कुशः कपिलेन मुनिना रोषाद्भस्मावशेषीकृता विग्रहा देहा येषां तेषां पूर्वजानां वृद्धानां सगराणां सुरालयस्य स्वर्गस्य प्राप्तौ निमित्तं नौभिर्लुलितं क्षुभितम् । त्रिस्रोतस इदं त्रैस्रोतसं गाङ्गमम्भो ववन्दे ॥ ३४ ॥

कुशने कपिल मुनिके क्रोधसे भस्मावशिष्ट शरीरवाले अर्थात् जले हुए पुरुषाओंकी स्वर्गप्राप्तिका कारण तथा नौकाओंसे चञ्चल गङ्गाजलकी वन्दना की ॥ ३४ ॥

पौराणिक कथा—इक्ष्वाकुवंशोत्पन्न राजा सगरने सौवां अश्वमेध यज्ञ करते समय जब यज्ञके घोड़ेको छोड़ा तब अपने पदके छिन जानेके भयसे इन्द्रने चुपकेसे घोड़ेको पाताल लोकमें तपस्या करते हुए कपिल मुनिके आश्रममें बांध दिया। तदनन्तर उसको खोजते हुए राजासगरके साठ सहस्र पुत्रोंने पृथ्वीको खोद पातालमें जाकर कपिलमुनिके आश्रममें घोड़ेको बंधा देख—इसी कपटीने इस घोड़ेको चुराकर यहां बांध रखा है और अब यह हमलोगोंको देख झूठे ध्यान लगाकर बैठ गया है, ऐसा विचारकर उनपर पादप्रहार किया। उससे क्रुद्ध महर्षिने नेत्रोत्पन्न अग्निसे उन्हें क्षणमात्रमें भस्म कर डाला। बाद घोड़े तथा सगरपुत्रोंको खोजते हुएलोगोंने वहां जाकर जले हुए साठ सहस्र राजकुमारोंकी पर्वताकार भस्म राशि तथा बंधे हुए घोड़े और कपिल मुनि को देखकर सब वृत्तान्त मालूम किया और उक्त मुनिके आदेशसे ही भस्मीभूत उन लोगोंकी स्वर्गप्राप्तिके लिये तपस्या द्वारा गङ्गाजीको वहां लानेका निश्चयकर तपस्याके लिये हिमालयपर पहुंचकर कठिन तपस्यामें लग गये। इस प्रकार वंशानुवंशजके तपस्या करते करते भगीरथने गङ्गाजीको प्रसन्न किया और अपने रथके अनुसार उन्हें कपिलाश्रममें—जहां उनके पुरुषा भस्म हुए थे—लाकर उनका उद्धार किया। वर्तमानकालमें उस स्थानको 'गङ्गासागर' कहते हैं और प्रत्येक मकरसंक्रान्तिको स्नानार्थं जहाज द्वारा वहाँ लोग जाते हैं ॥ ३४ ॥

इत्यध्वनः कैश्चिदहोभिरन्ते कूलं समासाद्य कुशः सरय्वाः ।
वेदिप्रतिष्ठान्विततताध्वराणां यूपानपश्यच्छतशो रघूणाम् ॥ ३५ ॥

इतीति । इति कैश्चिदहोभिरध्वनोऽन्तेऽवसाने कुशः सरय्वाः कूलं समासाद्य

विततध्वराणां विस्तृतमखानां रघूणाम्। वेदिः प्रतिष्ठास्पदं येषां तान्। यूपाञ्छत-शोऽपश्यत् ॥ ३५ ॥

इस प्रकार (श्लो० २५-३४) कई दिनों में मार्गके अन्तमें सरयू नदीके तीरको प्राप्त-कर कुशने बड़े बड़े यज्ञोंके करनेवाले रघुवंशियोंके, वेदियोंपर बने सैकड़ों यज्ञस्तम्भोंको देखा ॥ ३५ ॥

आधूय शाखाः कुसुमद्रुमाणां स्पृष्ट्वा च शीतान्सरयूतरङ्गान्।
तं क्लान्तसैन्यं कुलराजधान्याः प्रत्युज्जगामोपवनान्तवायुः ॥ ३६ ॥

आधूयेति। कुलराजधान्या उपवनान्तवायुः कुसुमद्रुमाणां शाखा आधूयेष-द्धूत्वा, सुरभिर्मन्दश्चेत्यर्थः। शीतान्सरयूतरङ्गांश्च स्पृष्ट्वा। अनेन शैत्योक्तिः। क्लान्त-सैन्यं तं कुशं प्रत्युज्जगाम ॥ ३६ ॥

वंशपरम्परागत राजधानी (अयोध्या पुरी) के उपवनकी वायुने पुष्पित वृक्षोंकी डालियोंको थोड़ा कम्पितकर और सरयूके शीतल तरङ्गोंका स्पर्शकर थकी हुई सेनावाले कुशकी अगवानी की। (शीतल, मन्द और सुगन्ध वायुने थकी हुई सेनाके सहित कुशकी थकावट (मार्गश्रम) को दूर किया) ॥ ३६ ॥

अथोपशल्ये रिपुमग्नशल्यस्तस्याः पुरः पौरसखः स राजा।
कुलध्वजस्तानि चलध्वजानि निवेशयामास बली बलानि ॥ ३७ ॥

अथेति। अथ रिपुषु मग्नं शल्यं शङ्कुः शरो वा यस्य सः। 'शल्यं शङ्कौ शरे वंशे' इति विश्वः। पौराणां सखा पौरसखः। "राजाहःसखिभ्यष्टच्" इत्यनेन टच्-प्रत्ययः। कुलस्य ध्वजश्चिह्नभूतो बली स राजा चलाश्चलन्तो वा ध्वजा येषां तानि तानि बलानि सैन्यानि तस्याः पुरः पुर्या उपशल्ये ग्रामान्ते। 'ग्रामान्त उपशल्यं स्यात्' इत्यमरः। निवेशयामास ॥ ३७ ॥

शत्रुओंमें शल्य (कील तुल्य कष्ट या बाण) को मग्न करनेवाले, नागरिकों (अयोध्या-वासियों) के मित्र, कुलके ध्वजरूप अर्थात् उन्नत और बली राजा कुशने चञ्चल पताकाओं-वाली उस सेनाको ग्रामके पासमें ठहराया ॥ ३७ ॥

तां शिल्पिसङ्घाः प्रभुणा नियुक्तास्तथागतां सम्भृतसाधनत्वात्।
पुरं नवीचक्रुरपां विसर्गान्मेघा निदाघग्लपितामिवोर्वीम् ॥ ३८ ॥

तामिति। प्रभुणा नियुक्ताः शिल्पिनां तक्षादीनां सङ्घाः सम्भृतसाधनत्वान्मि-लितोपकरणत्वात्तां तथागतां, शून्यामित्यर्थः। पुरमयोध्याम्। मेघा अपां विसर्गा-ज्जलसेकान्निदाघग्लपितां ग्रीष्मतप्तामुर्वीमिव। नवीचक्रुः परिपूरयाञ्चक्रुः ॥ ३८ ॥

राजा कुशसे नियुक्त कारीगरोंने साधनोंके सञ्चित होनेसे—(पहले) सूनी नगरी (अयोध्या पुरी) को उस प्रकार नयी कर दिया, जिस प्रकार मेघ पानी छोड़ने (वर्षा करने) से—गर्मीके द्वारा मुर्झायी हुई पृथ्वीको नयी कर देता है ॥ ३८ ॥

ततः सपर्यां सपशूपहारां पुरः परार्घ्यप्रतिमागृहायाः।
उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिर्निर्वर्तयामास रघुप्रवीरः॥ ३९॥

तत इति। ततो रघुप्रवीरः कुशः प्रतिमा देवताप्रतिकृतयः, अर्च्या इत्यर्थः। परार्घ्यप्रतिमागृहायाः प्रशस्तदेवतायतनायाः पुर उपोषितैर्वास्तुविधानविद्भिः प्रयोज्यैः पशूपहारैः सहितां सपशूपहारां सपर्यां पूजां निर्वर्तयामास कारयामास। अत्र ण्यन्ताण्णिच्पुनरित्यनुसन्धेयम्। अन्यथा वृतेरकर्मकस्याकरोत्यर्थत्वे कारयत्यर्थाभावप्रसङ्गात्। भवितव्यं वृतेरण्यन्तकर्त्रा प्रयोज्यत्वेन तन्निर्देशात्प्रयोगान्तरस्यापेक्षितत्वात्॥ ३९॥

इसके बाद रघुश्रेष्ठ कुशने कुलपूज्य देवताका निवासस्थान उस नगरीकी पशुओंको बलिसहित पूजाको उपवास किये हुए या समीपस्थ एवं गृह-विधिको जाननेवालों (विद्वानों) के द्वारा पूरा करवाया॥ ३९॥

तस्याः स राजोपपदं निशान्तं कामीव कान्ताहृदयं प्रविश्य।
यथार्हमन्यैरनुजीविलोकं सम्भावयामास यथाप्रधानम्॥ ४०॥

तस्या इति। स कुशस्तस्याः पुरः सम्बन्धि राजोपपदं [राजशब्दपूर्वं निशान्तं, राजभवनमित्यर्थः। 'निशान्तं भवनोषसोः' इति विश्वः। कामी कान्ताहृदयमिव प्रविश्य। अन्यैर्निशान्तैरनुजीविलोकममात्यादिकं यथाप्रधानं मान्यानुसारेण। यथार्हं यथोचितं, तत्तदुचितगृहैरित्यर्थः। सम्भावयामास सम्भावितवान्॥ ४०॥

राजा कुश उस (अयोध्या पुरी) के राजपूर्वक निशान्त (भवन) अर्थात् राजभवनमें कान्ताके मनमें कामीके समान प्रवेशकर अन्यान्य (दूसरे २) भवनोंके द्वारा प्रधानके क्रमसे अनुचरोंका सत्कार किया। (स्वयं राजभवनमें प्रवेशकर मंत्री आदिके निवास करनेके लिये योग्यतानुसार दूसरे भवनोंको देकर अन्यान्य अनुचरोंका सत्कार किया)॥ ४०॥

सा मन्दुरासंश्रयिभिस्तुरङ्गैः शालाविधिस्तम्भगतैश्च नागैः।
पूराबभासे विपणिस्थपण्या सर्वाङ्गनद्धाभरणेव नारी॥ ४१॥

सेति। विपणिस्थानि पण्यानि क्रयविक्रयार्हवस्तूनि यस्याः सा। 'विपणिः पण्यवीथिका' इत्यमरः। सा पूरयोध्या मन्दुरासंश्रयिभिरश्वशालासंश्रयणशीलैः। 'वाजिशाला तु मन्दुरा' इत्यमरः। "जिदक्षि-" इत्यादिनेनिप्रत्ययः। तुरङ्गैरश्वैः। शालासु गेहेषु ये विधिना स्थापिताः स्तम्भास्तान्गतैः प्राप्तैर्नागैश्च। सर्वाङ्गेषु नद्धान्याभरणानि यस्याः सा नारीव। आबभासे॥ ४१॥

बाजारकी श्रेणियोंमें रखी हुई विक्रेय वस्तुओंवाली वह नगरी घुड़शालाओंमें रहनेवाले घोड़ोंसे तथा गजशालाओंमें सविधि स्थापित खम्भोंमें बंधे हुए हाथियोंसे सम्पूर्ण शरीरमें आभूषण पहनी हुई स्त्रीके समान शोभित हुई॥ ४१॥

वसन्स तस्यां वसतौ रघूणां पुराणशोभामधिरोपितायाम् ।
न मैथिलेयः स्पृहयाम्बभूव भर्त्रे दिवो नाप्यलकेश्वराय ॥ ४२ ॥

वसन्निति । स मैथिलेयः कुशः पुराणशोभां पूर्वशोभामधिरोपितायां तस्यां रघूणां वसतावयोध्यायां वसन् । दिवो भर्त्रे देवेन्द्राय तथाऽलकेश्वराय कुबेरायापि न स्पृहयाम्बभूव, तावपि न गणयामासेत्यर्थः । "स्पृहेरीप्सितः" इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । एतेनायोध्याया अन्यनगरातिशायित्वं गम्यते ॥ ४२ ॥

प्राचीन शोभाको पुनः प्राप्त की हुई रघुवंशियोंकी उस नगरी (अयोध्या पुरी) में निवास करते हुए मैथिलीकुमार कुशने स्वर्गाधीश (इन्द्र) तथा अलकाधीश (कुबेर) की भी स्पृहा नहीं की अर्थात् अपने सामने इन्द्र और कुबेरको भी कुछ नहीं समझा ॥४२॥

कुशस्य कुमुद्वतीसङ्गमं प्रस्तौति—

अथास्य रत्नग्रथितोत्तरीयमेकान्तपाण्डुस्तनलम्बिहारम् ।
निःश्वासहार्यांशुकमाजगाम घर्मः प्रियावेषमिवोपदेष्टुम् ॥ ४३ ॥

अथास्येति । अथास्य कुशस्य । रत्नैर्मुक्तामणिभिर्ग्रथितान्युत्तरीयाणि यस्मिंस्तम् । एकान्तमत्यन्तं पाण्ड्वोः स्तनयोर्लम्बिनो हारा यस्मिंस्तम् । निःश्वासहार्याण्यतिसूक्ष्माण्यंशुकानि यत्र तम् । एवं शीतलप्रायं प्रियाया वेषं नेपथ्यमुपदेष्टुमिव घर्मो ग्रीष्म आजगाम ॥ ४३ ॥

इसके बाद कुशके रत्नोंसे गुथे हुए दुपट्टेवाले, अत्यन्त निर्मल स्तनोंपर लटकते हुए हारवाले और श्वाससे हटाने योग्य अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म वस्त्रवाले प्रियाके वेशको मानो उपदेश करनेके लिये ग्रीष्मकाल आया ॥ ४३ ॥

अगस्त्यचिह्नादयनात्समीपं दिगुत्तरा भास्वति सन्निवृत्ते ।
आनन्दशीतामिव बाष्पवृष्टिं हिमस्रुतिं हैमवतीं ससर्ज ॥ ४४ ॥

अगस्त्येति । अगस्त्यः चिह्नं यस्य तस्मादयनान्मार्गाद्दक्षिणायनाद्भास्वति समीपं सन्निवृत्ते सति । उत्तरा दिक् । आनन्दशीतां बाष्पवृष्टिमिव । हैमवतीं हिमवत्सम्बन्धिनीं हिमस्रुतिं हिमनिष्यन्दं ससर्ज । अत्र प्रोषितप्रियासमागमसमाधिर्गम्यते ॥

दक्षिणायनसे सूर्यके (अपने) पास लौटनेपर उत्तर दिशाने आनन्दसे शीतल बाष्पवृष्टिके समान हिमालयके ठण्डे निष्यन्दको छोड़ा अर्थात् ठण्डी ओस पड़ने लगी ॥ ४४ ॥

प्रवृद्धतापो दिवसोऽतिमात्रमत्यर्थमेव क्षणदा च तन्वी ।
उभौ विरोधक्रियया विभिन्नौ जायापती सानुशयाविवास्ताम् ॥ ४५ ॥

प्रवृद्ध इति । अतिमात्रं प्रवृद्धतापो दिवसः । अत्यर्थमेवानल्पं तन्वी कृशा क्षणदा च इत्येतावुभौ । विरोधक्रियया प्रणयकलहादिना विरोधाचरणेन विभिन्नौ सानुशयौ सानुतापौ जायापती दम्पती इव आस्ताम्, तयोरपि तापकार्श्यसम्भवात्सदृशावभूतामित्यर्थः ॥ ४५ ॥

अत्यन्त सन्तापयुक्त दिन और अत्यन्त दुर्बल अर्थात् छोटी (रात्रि)—ये दोनों, प्रणयकलह आदि परस्पर विरुद्ध व्यवहारसे पृथक् हुए पश्चात्तापयुक्त दम्पती (स्त्री-पुरुष) के समान थे ॥ ४५ ॥

दिने दिने शैवलवन्त्यधस्तात्सोपानपर्वाणि विमुञ्चदम्भः ।
उद्दण्डपद्मं गृहदीर्घिकाणां नारीनितम्बद्वयसं बभूव ॥ ४६ ॥

दिने दिन इति । दिने दिने प्रतिदिनं शैवलवन्त्यधस्ताद्यानि सोपानानां पर्वाणि भङ्गयस्तानि विमुञ्चत् । अत एवोद्दण्डपद्मं गृहदीर्घिकाणामम्भः । नारीनितम्बः प्रमाणमस्य नारीनितम्बद्वयसं बभूव, विहारयोग्यमभूदित्यर्थः । "प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः" इति द्वयसच्प्रत्ययः ॥ ४६ ॥

प्रतिदिन शैवालयुक्त सीढ़ियोंको छोड़ता (घटता) हुआ (अतएव जलसे) ऊपर उठे हुए डण्ठलयुक्त कमलवाला भवनोंकी बावरियोंका पानी स्त्रियोंके नितम्बके बराबर रह गया॥

वनेषु सायन्तनमल्लिकानां विजृम्भणोद्गन्धिषु कुड्मलेषु ।
प्रत्येकनिक्षिप्तपदः सशब्दं संख्यामिवैषां भ्रमरश्चकार ॥ ४७ ॥

वनेष्विति । वनेषु विजृम्भणेन विकासेनोद्गन्धिषूत्कटसौरभेषु । "गन्धस्य-" इत्यादिना समासान्त इकारादेशः । सायन्तनमल्लिकानां कुड्मलेषु सशब्दं यथा तथा प्रत्येकमेकैकस्मिन्निक्षिप्तपदः, मकरन्दलोभादित्यर्थः । भ्रमर एषां कुड्मलानां संख्यां गणनां चकारेव ॥ ४७ ॥

वनमें खिलनेसे उत्कट गन्धवाले सायंकालीन मल्लिका-पुष्पोंकी कलिकाओंपर शब्द पूर्वक (गुञ्जनके साथ २ प्रत्येकपर) पैर रखता (बैठता) हुआ भ्रमर मानो इनकी गिन्ती कर रहा था ॥ ४७ ॥

स्वेदानुविद्धार्द्रनखक्षताङ्के भूयिष्ठसंदष्टशिखं कपोले ।
च्युतं न कर्णादपि कामिनीनां शिरीषपुष्पं सहसा पपात ॥ ४८ ॥

स्वेदानुविद्धेति । स्वेदानुविद्धमार्द्रं नूतनं नखक्षतमङ्को यस्य तस्मिन्कामिनीनां कपोले भूयिष्ठमत्यर्थं सन्दष्टशिखं विश्लिष्टकेसरम् । अत एव कर्णाच्च्युतमपि शिरीषपुष्पं सहसा न पपात ॥ ४८ ॥

स्वेद (पसीना) से युक्त, आर्द्र (ताजा) नखक्षतसे चिह्नित कामिनियोंके कपोलमें अत्यन्त पृथग्भूत केसरवाला अत एव कानसे गिरा हुआ भी शिरीषका पुष्प एकाएक नहीं गिरा (किन्तु पसीनेसे गीला तथा आर्द्र नखक्षतमें सट जानेसे कुछ विलम्बसे गिरा) ॥४८॥

यन्त्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान्रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य ।
शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः ॥ ४९ ॥

यन्त्रप्रवाहैरिति । ऋद्धिमन्तो धनिका धारागृहेषु यन्त्रधारागृहेषु शिशिरैर्यन्त्रप्र-

वाद्दैर्यन्त्रसञ्चारितसलिलपूरैः परीतान्व्याप्तान्मलयोद्भवस्य रसेन चन्दनोदकेन धौतान्क्षालिताञ्छिलाविशेषान्मणिमयासनान्यधिशय्य तेषु शयित्वाऽऽतपं निन्युरातपपरिहारं चक्रुः ॥ ४९ ॥

धनिकोंने फौब्बारेवाले घरोंमें ठण्डे फौब्बारोंसे युक्त तथा चन्दन-जलसे धोये गये चट्टानोंपर सोकर ग्रीष्मको बिताया ॥ ४९ ॥

स्नानार्द्रमुक्तेष्वनुधूपवासं विन्यस्तसायन्तनमल्लिकेषु ।
कामो वसन्तात्ययमन्दवीर्यः केशेषु लेभे बलमङ्गनानाम् ॥ ५० ॥

स्नानार्द्रेति । वसन्तस्यात्मसहकारिणोऽत्ययेनातिक्रमेण मन्दवीर्योऽतिदुर्बलः कामः स्नानार्द्राश्च ते मुक्ताश्च, धूपसञ्चारणार्थमित्यर्थः । तेषु अनुधूपवासं धूपवासानन्तरं विन्यस्ताः सायन्तनमल्लिका येषु तेषु । अङ्गनानां केशेषु बलं लेभे, तैरुद्दीपित इत्यर्थः ॥ ५० ॥

वसन्त ऋतुके बीतनेसे शिथिलशक्ति कामदेवने स्नानसे आर्द्र एवं खुले हुए तथा धूपवाससे सुगन्धितकर सायंकालमें गुथे हुए, मल्लिकाके फूलोंवाले कामिनियोंके केशोंमें शक्तिलाभ किया अर्थात् उक्त प्रकारके कामिनियोंके बालोंको देखनेसे कामोद्दीपन हुआ ॥ ५० ॥

आपिञ्जरा बद्धरजःकणत्वान्मञ्जर्युदारा शुशुभेऽर्जुनस्य ।
दग्ध्वाऽपि देहं गिरिशेन रोषात्खण्डीकृता ज्येव मनोभवस्य ॥ ५१ ॥

आपिञ्जरेति । बद्धरजःकणत्वाद् व्याप्तरजःकणत्वादापिञ्जरोदारा द्राघीयस्यर्जुनस्य ककुभवृक्षस्य । 'इन्द्रद्रुः ककुभोऽर्जुनः' इत्यमरः । मञ्जरी देहं दग्ध्वाऽपि रोषाद्गिरिशेन गिरिरस्त्यस्य निवासत्वेन गिरिशस्तेन । लोमादित्वाच्छप्रत्ययः । गिरौ शेत इति विग्रहे तु । "गिरौ शेतेर्डः" इत्यस्य छन्दसि विधानाल्लोके प्रयोगानुपपत्तिः स्यात् । तस्मात्पूर्वोक्तमेव विग्रहवाक्यं न्याय्यम् । खण्डीकृता मनोभवस्य ज्या मौर्वीव शुशुभे ॥ ५१ ॥

पराग-कणके व्याप्त होनेसे अत्यन्त पिञ्जरित श्रेष्ठ अर्जुन वृक्षकी मञ्जरी (काम के) शरीरको जलाकर भी क्रोधसे शिवजीके द्वारा खण्डित कामदेवकी प्रत्यञ्चा (धनुषकी तांत) के समान शोभती थी ॥ ५१ ॥

मनोज्ञगन्धं सहकारभङ्गं पुराणशीधुं नवपाटलं च ।
सम्बध्नता कामिजनेषु दोषाः सर्वे निदाघावधिना प्रमृष्टाः ॥ ५२ ॥

मनोज्ञेति । मनोज्ञगन्धमिति सर्वत्र सम्बध्यते । सहकारभङ्गं चूतःपल्लवखण्डम् । पुराणं वासितं शेरतेऽनेनेति शीधु पक्वेक्षुरसप्रकृतिकः सुराविशेषस्तम् । "शीङो धुक्" इत्युणादिसूत्रेण 'शीङ् स्वप्ने' इत्यस्माद्धातोर्धुक्प्रत्ययः । 'पक्वैरिक्षुरसैरस्त्री शीधुः पक्वरसः शिवः' इति यादवः । नवं पाटलायाः पुष्पं पाटलं च सम्बध्नता सङ्घटयता निदाघावधिना ग्रीष्मकालेन । 'अवधिस्त्ववधाने स्यात्सीम्नि काले बिलेऽपि

च' इति विश्वः। कामिजनेषु विषये सर्वे दोषास्तापादयः प्रमृष्टाः परिहृताः॥ ५२॥

सुगन्धित आमके पल्लव-खण्ड, पुराण (सुवासित) गन्नेका मद्य और नये पाटलाके पुष्पको सङ्कटित करते हुए ग्रीष्मकालने कामियोंके विषयमें सब दोषोंको दूर कर दिया अर्थात् ग्रीष्मकालमें सुगन्धित आम्र पल्लवखण्ड आदिके द्वारा कामोत्तेजन होनेसे उन कामियोंकी सम्पूर्ण कमी पूरी हो गयी॥ ५२॥

जनस्य तस्मिन्समये विगाढे बभूवतुर्द्वौ सविशेषकान्तौ।
तापापनोदक्षमपादसेवौ स चोदयस्थौ नृपतिः शशी च॥ ५३॥

जनस्येति। तस्मिन्समये ग्रीष्मे विगाढे कठिने सति जनस्य द्वौ सविशेषं सातिशयं यथा तथा कान्तौ बभूवतुः। कौ द्वौ। तापापनोदे क्षमा योग्या पादयोरङ्घ्र्योः पादानां रश्मीनां च सेवा ययोस्तावुदयस्थावभ्युदयस्थौ स च नृपतिः शशी च॥५३॥

ताप (चन्द्रपक्षमें—गर्मी तथा कुशपक्षमें—सन्ताप = दुःख) के अत्यन्त तीव्र होनेपर लोगोंके लिये ताप (चन्द्रपक्षमें—गर्मी, कुशपक्षमें—दुःख) के दूर करनेमें समर्थ पादों (चन्द्रपक्षमें—किरणों तथा कुशपक्षमें—चरणों) की सेवावाले उदयप्राप्त राजा कुश तथा चन्द्र—ये दोनों ही अत्यन्त प्रिय हुए॥ ५३॥

अथोर्मिलोलोन्मदराजहंसे रोधोलतापुष्पवहे सरय्वाः।
विहर्तुमिच्छा वनितासखस्य तस्याम्भसि ग्रीष्मसुखे बभूव॥ ५४॥

अथेति। अथोर्मिषु लोलाः सतृष्णा उन्मदा राजहंसा यस्मिंस्तस्मिन्। 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इत्यमरः। रोधोलतापुष्पाणां वहे प्रापके। पचाद्यच्। ग्रीष्मेषु सुखे सुखकरे सरय्वा अम्भसि पयसि तस्य कुशस्य वनितासखस्य, वनिताभिः सहेत्यर्थः। विहर्तुमिच्छा बभूव॥ ५४॥

इसके बाद तरङ्गोंसे चञ्चल या सतृष्ण एवं उन्मद राजहंसोंवाले तथा तीरस्थ लताओंके फूलोंको बहानेवाले ग्रीष्मकालमें सुखप्रद सरयू नदीके जलमें स्त्रीके साथ राजा कुशको विहार करनेकी इच्छा हुई॥ ५४॥

स तीरभूमौ विहितोपकार्यामानायिभिस्तामपकृष्टनक्राम्।
विगाहितुं श्रीमहिमानुरूपं प्रचक्रमे चक्रधरप्रभावः॥ ५५॥

स इति। चक्रधरप्रभावो विष्णुतेजाः स कुशस्तीरभूमौ विहितोपकार्या यस्यास्ताम्। आनायो जालमेषामस्तीत्यानायिनो जालिकाः। "जालमानायः" इति निपातः। 'आनायः पुंसि जालं स्यात्' इत्यमरः। तैरपकृष्टनक्रामपनीतग्राहां तां सरयूं श्रीमहिम्नोः सम्पत्प्रभावयोरनुरूपं योग्यं यथा तथा विगाहितुं प्रचक्रमे। अत्र कामन्दकः—"परितापिषु वासरेषु पश्यंस्तटलेखास्थितमाप्तसैन्यचक्रम्। सुविशोधितनक्रमीनजालं व्यवगाहेत जलं सुहृत्समेतः॥" इति॥ ५५॥

विष्णुतुल्य प्रभाववाले कुश जिसके तटपर सामियाना टेण्ट आदि लगे हैं ऐसी,

जालवालों (मल्लाहों) द्वारा मगरसे हीन की गयी सरयूमें सम्पत्ति तथा प्रभावके अनुसार जलक्रीड़ा करने लगे ॥ ५५ ॥

सा तीरसोपानपथावतारादन्योन्यकेयूरविघट्टिनीभिः ।
सनूपुरक्षोभपदाभिरासीदुद्विग्नहंसा सरिदङ्गनाभिः ॥ ५६ ॥

सेति। सा सरित्सरयूस्तीरसोपानपथेनावताराद्वतरणादन्योन्यं केयूरविघट्टिनीभिः सनद्धाङ्गदसङ्घर्षिणीभिः सनूपुरक्षोभाणि सनूपुरस्खलनानि पदानि यासां ताभिरङ्गनाभिर्हेतुभिरुद्विग्नहंसा भीतहंसाऽऽसीत् ॥ ५६ ॥

वह (सरयू) नदी तीरस्थ सीढ़ियोंके रास्ते उतरनेके कारण (अधिकतम संख्या होनेसे) परस्परमें बाजूबन्दोंके संघर्षणवाली तथा बजते हुए नूपुरोंवाली स्त्रियोंसे व्याकुल हंसोंवाली हो गयी (अत्यधिक जनसङ्घर्षसे सरयूके तटपर रहनेवाले हंस व्याकुल हो गये) ॥ ५६ ॥

परस्पराभ्युक्षणतत्पराणां तासां नृपो मज्जनरागदर्शी ।
नौसंश्रयः पार्श्वगतां किरातीमुपात्तवालव्यजनां बभाषे ॥ ५७ ॥

परस्परेति । नौसंश्रयः परस्परमभ्युक्षणे सेचने तत्पराणामासक्तानां तासां स्त्रीणां मज्जने रागोऽभिलापस्तद्दर्शी नृपः पार्श्वगतामुपात्तवालव्यजनां गृहीतचामरां किरातीं चामरग्राहिणीं बभाषे । 'किरातस्तु द्रुमान्तरे । स्त्रियां चामरवाहिन्यां मत्स्यजात्यन्तरे द्वयोः ॥' इति केशवः ॥ ५७ ॥

नावपर बैठे हुए तथा परस्परमें पानीका छींटा फेंकती हुई उन स्त्रियोंके स्नानमें राग (अभिलाष) को देखनेवाले राजा कुशने चँवर डुलाती हुई पार्श्ववर्तिनी किरातीसे कहा ॥५७॥

पश्यावरोधैः शतशो मदीयैर्विगाह्यमानो गलिताङ्गरागैः ।
सन्ध्योदयः साभ्र इवैष वर्णं पुष्यत्यनेकं सरयूप्रवाहः ॥ ५८ ॥

पश्येति । गलिताङ्गरागैर्मदीयैः शतशोऽवरोधैर्विगाह्यमानो विलोड्यमान एष सरयूप्रवाहः । साभ्रः समेघः सन्ध्योदयः सन्ध्याऽऽविर्भाव इव । अनेकं नानाविधं वर्णं रक्तपीतादिकं पुष्यति पश्य । वाक्यार्थः कर्म ॥ ५८ ॥

देखो—धुले हुए अङ्गराग (कुङ्कुमादि) वाली मेरे अन्तःपुरकी स्त्रियोंसे विलोडित सरयू नदीका प्रवाह मेघयुक्त सन्ध्याकालके समान अनेक रङ्गोंको प्राप्त कर रहा है ॥ ५८ ॥

विलुप्तमन्तःपुरसुन्दरीणां यदञ्जनं नौलुलिताभिरद्भिः ।
तद्बध्नतीभिर्मदरागशोभां विलोचनेषु प्रतिमुक्तमासाम् ॥ ५९ ॥

विलुप्तमिति । नौलुलिताभिर्नौक्षुभिताभिरद्भिरन्तःपुरसुन्दरीणां यदञ्जनं कज्जलं विलुप्तं हृतं तदञ्जनं विलोचनेषु नयनेषु मदेन या रागशोभा तां बध्नतीभिर्घटयन्तीभिरद्भिरासां प्रतिमुक्तं प्रत्यर्पितम् । प्रतिनिधिदानमपि तत्कार्यकारित्वात्प्रत्यर्पणमेवेति भावः ॥ ५९ ॥

नावसे सञ्चलित पानीने रनिवासकी सुन्दरियोंके जिस अञ्जनको नष्ट कर दिया (धो डाला) है, उस अञ्जनको इन सुन्दरियोंके नेत्रोंमें मदराजकी सुन्दरता करनेवाले पानीने वापस कर दिया अर्थात् पानीसे अञ्जनके धुल जानेपर भी उनकी आंखोंमें स्नान करनेसे मदराजसौन्दर्य (लालिमा) आ गया है॥ ५९॥

एता गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानमुद्वोढुमशक्नुवत्यः।
गाढाङ्गदैर्बाहुभिरप्सु बालाः क्लेशोत्तरं रागवशात्प्लवन्ते॥ ६०॥

एता इति। गुरु दुर्वहं श्रोणिपयोधरं यस्यात्मन इति विग्रहः। गुरुश्रोणिपयोधरत्वादात्मानं शरीरमुद्वोढुमशक्नुवत्य एता बालाः गाढाङ्गदैः श्लिष्टाङ्गदैर्बाहुभिः क्लेशोत्तरं दुःखप्रायं यथा तथा रागवशात्क्रीडाभिनिवेशपारतन्त्र्यात्प्लवन्ते तरन्ति॥६०॥

नितम्बों तथा स्तनोंके दुर्वह (भारी) होनेसे देहके ढोनेमें असमर्थ होती हुईं बालाएं चिपके हुए बाजूबन्दोंवाले बाहुओंसे (जलक्रीडाके लिये) अधिक चाहना होनेसे क्लेशपूर्वक (कठिनतासे) पानीमें तैरती हैं॥ ६०॥

अमी शिरीषप्रसवावतंसाः प्रभ्रंशिनो वारिविहारिणीनाम्।
पारिप्लवाः स्रोतसि निम्नगायाः शैवाललोलांश्छलयन्ति मीनान्॥६१॥

अमी इति। वारिविहारिणीनामासां प्रभ्रंशिनो भ्रष्टा निम्नगायाः स्रोतसि पारिप्लवाश्चञ्चलाः। 'चञ्चलं तरलं चैव पारिप्लवपरिप्लवे' इत्यमरः। अमी शिरीषप्रसवा एवावतंसाः कर्णभूषाः शैवाललोलाञ्जलनीलीप्रियान्। 'जलनीली तु शैवालम्' इत्यमरः। मीनांश्छलयन्ति प्रादुर्भावयन्ति। शैवालप्रियत्वाच्छिरीषेषु शैवालभ्रमात्प्रादुर्भवन्तीत्यर्थः॥ ६१॥

जलविहार करनेवाली इन सुन्दरियोंके गिरे हुए तथा नदी (सरयू) के जलमें चञ्चल ये शिरीषपुष्प-निर्मित कर्णभूषण शेवालमें चञ्चल मछलियोंको वञ्चित करती हैं। (शेवालके भ्रमसे मछलियां इन शिरीष-पुष्प रचित कर्णभूषणोंमें शरीर रगड़नेके लिये जाकर वञ्चित हो जाती हैं)॥ ६१॥

आसां जलास्फालनतत्पराणां मुक्ताफलस्पर्धिषु शीकरेषु।
पयोधरोत्सर्पिषु शीर्यमाणः संलक्ष्यते न च्छिदुरोऽपि हारः॥ ६२॥

आसामिति। जलस्यास्फालने तत्पराणामासक्तानामासां स्त्रीणां मुक्ताफलस्पर्धिषु मौक्तिकानुकारिषु पयोधरेषु स्तनेषूत्सर्पन्त्युत्पतन्ति ये तेषु शीकरेषु शीकराणां मध्ये शीर्यमाणो गलन्हारोऽत एव छिदुरः स्वयं छिन्नोऽपि न सँल्लक्ष्यते। "विदिभिदिच्छिदेः कुरच्" इति कुरच्प्रत्ययः। शीकरसंसर्गाच्छिन्न इति न ज्ञायत इति भावः॥ ६२॥

पानी को उछालती हुईं इन सुन्दरियोंके मुक्ताफल (मोती) के समान तथा स्तनोंपर

(उनके आघातसे) उछलते हुए जलकणों (के मध्य) में शीर्ण होकर (टूटकर) गिरता हुआ भी हार लक्षित नहीं होता है ॥ ६२ ॥

आवर्तशोभा नतनाभिकान्तेर्भङ्गो भ्रुवां द्वन्द्वचराः स्तनानाम् ।
जातानि रूपावयवोपमानान्यदूरवर्तीनि विलासिनीनाम् ॥ ६३ ॥

आवर्तशोभेति । विलासिनीनां विलसनशीलानां स्त्रीणाम् । "वौ कषलषकत्थस्रम्भः" इति घिनुण्प्रत्ययः । रूपावयवानामुपमेयानां यान्युपमानानि लोकप्रसिद्धानि तान्यदूरवर्तीन्यन्तिकगतानि जातानि । कस्य किमुपमानमित्यत्राह—नतनाभिकान्तेर्निम्ननाभिशोभाया आवर्तशोभा । 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः । भ्रुवां भङ्गस्तरङ्गः । स्तनानां द्वन्द्वचराश्चक्रवाकाः । उपमानमिति सर्वत्र सम्बध्यते ॥ ६३ ॥

विलासिनियोंके रूप तथा अवयवों की उपमाएं अत्यन्त निकटस्थ हो गयीं, (यथा-) गहरी नाभि की शोभा की भंवर की कान्ति, भ्रुवों (की शोभा) की तरङ्ग भङ्ग और स्तनों (की शोभा) की चक्रवाक (उपमा हो गये) अर्थात् सुन्दरियों की गहरीनाभि, भ्रू और स्तनों की अत्यधिक समानता को क्रमशः पानीके भंवर, तरङ्ग भङ्ग और चक्रवाक प्राप्त कर रहे हैं ॥ ६३ ॥

तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापैः प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम् ।
श्रोत्रेषु सम्मूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदङ्गवाद्यम् ॥ ६४ ॥

तीरस्थलीति । उत्कलापैरुच्चबर्हैः प्रस्निग्धा मधुराः केका येषां तैस्तीरस्थलीषु स्थितैर्बर्हिभिर्मयूरैरभिनन्द्यमानं रक्तं श्राव्यं गीतानुगं गीतानुसार्यासां स्त्रीणां सम्बन्धि वार्येव मृदङ्गस्तस्य वाद्यं वाद्यध्वनिः श्रोत्रेषु सम्मूर्च्छति व्याप्नोति ॥ ६४ ॥

नाचते हुए, मनोहर केका (मयूर वाणी) वाले तथा तीरस्थलीस्थित मयूरोंसे अभिनन्दित होती हुई सुनने योग्य गीत की अनुगमनशील इन (जलक्रीडासक्त विलासिनियों) की जलरूप मृदङ्गकी ध्वनि कानों में व्याप्त हो रही है ॥ ६४ ॥

सन्दष्टवस्त्रेष्वबलानितम्बेष्विन्दुप्रकाशान्तरितोडुतुल्याः ।
अमी जलापूरितसूत्रमार्गा मौनं भजन्ते रशनाकलापाः ॥ ६५ ॥

सन्दष्टेति । सन्दष्टवस्त्रेषु जलसेकात्संश्लिष्टांशुकेष्वबलानां नितम्बेष्वधिकरणेष्विन्दुप्रकाशेन ज्योत्स्नयाऽन्तरितान्यावृतानि यान्युडूनि नक्षत्राणि तत्तुल्याः । मुक्तामयत्वादिति भावः । अमी जलापूरितसूत्रमार्गाः, निश्चला इत्यर्थः । रशना एव कलापा भूषाः । 'कलापो भूषणे बर्हे' इत्यमरः । मौनं, निःशब्दतामित्यर्थः । भजन्ते ॥

(भींगनेसे) सटे हुए कपड़ेवाले स्त्रियोंके नितम्बोंपर चांदनीसे छिपे हुए ताराओंके समान ये जलपूर्ण सूत्रमार्गवाले अर्थात् निश्चल करधनी रूप भूषण मौन (झङ्कारशून्य) हो रहे हैं ॥ ६५ ॥

एताः करोत्पीडितवारिधारा दर्पात्सखीभिर्वदनेषु सिक्ताः ।
वक्रेतराग्रैरलकैस्तरुण्यश्चूर्णारुणान्वारिलवान्वमन्ति ॥ ६६ ॥

एता इति । दर्पात्सखीजनं प्रति करैरुत्पीडिता उत्सारिता वारिधारा याभिस्ताः स्वयमपि पुनस्तथैव सखीभिर्वदनेषु सिक्ता एतास्तरुण्यो वक्रेतराग्रैर्जलसेकादृज्वग्रैरलकैः करणैश्चूर्णैः कुङ्कुमादिभिररुणान्वारिलवानुदकबिन्दून्वमन्ति वर्षन्ति ॥ ६६ ॥

दर्पके कारण हाथसे जलको उछालनेवाली तथा (पुनः उसी प्रकार अर्थात् हाथसे जलको उछालकर) सखियोंके द्वारा मुखमें सिक्त हुई ये (विलासिनियां) सीधे अग्रभागवाले केशोंसे चूर्णों (केशमें लगाये गये सुगन्धित कुङ्कुमादि चूर्णों) से जलकी लाल २ बूंदोंको गिरा रही हैं। (आनन्दजन्य दर्पसे विलासिनी स्त्रियां एवं उनकी सखियाँ परस्परमें एक दूसरेपर हाथसे जल उछाल रही हैं तथा भींगनेसे सीधे अग्रभागवाले इनके बालोंसे कुङ्कुमादि चूर्णोंसे मिश्रित होनेसे जलकी लाल २ बूंदे टपक रही हैं) ॥ ६६ ॥

उद्बन्धकेशश्च्युतपत्रलेखो विश्लेषिमुक्ताफलपत्रवेष्टः ।
मनोज्ञ एव प्रमदामुखानामम्भोविहाराकुलितोऽपि वेषः ॥ ६७ ॥

उद्बन्धकेशेति । उद्बन्धा उद्भ्रष्टाः केशा यस्मिन्सः । च्युतपत्रलेखः च्युतपत्ररचनः । विश्लेषिणो विस्रंसिनो मुक्ताफलपत्रवेष्टा मुक्तामयताटङ्का यस्मिन्सः । एवमम्भोविहाराकुलितोऽपि प्रमदामुखानां वेषो नेपथ्यं मनोज्ञ एव । 'रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति' इति भावः ॥ ६७ ॥

खुले हुए बालोंवाला, (गण्डस्थलोंपर) धुली हुई पत्ररचनावाला और मोतियोंके बने ताटङ्क (कर्णभूषण-विशेष) से रहित एवं जल-विहारसे अस्तव्यस्त भी विलासिनियोंका वेष मनोहर ही है ॥ ६७ ॥

स नौविमानादवतीर्य रेमे विलोलहारः सह ताभिरप्सु ।
स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मिनीकः करेणुभिर्वन्य इव द्विपेन्द्रः ॥ ६८ ॥

स इति । स कुशो नौर्विमानमिव नौविमानम् । उपमितसमासः । तस्मादवतीर्य विलोलहारः संस्ताभिः स्त्रीभिः सह करेणुभिः सह स्कन्धावलग्नोद्धृतपद्मिन्युत्पाटिता नलिनी यस्य स तथोक्तः सन् । "नद्यृतश्च" इति कप्प्रत्ययः । वन्यो द्विपेन्द्र इव । अप्सु रेमे ॥ ६८ ॥

चञ्चल हारवाले उस कुशने विमानके तुल्य नावसे उतरकर उन विलासिनियोंके साथ, हथिनियोंके साथ कन्धेपर स्थित उखाड़ी हुई कमलिनीवाले हाथीके समान जलमें विहार करने लगे ॥ ६८ ॥

ततो नृपेणानुगताः स्त्रियस्ता भ्राजिष्णुना सातिशयं विरेजुः ।
प्रागेव मुक्ता नयनाभिरामाः प्राप्येन्द्रनीलं किमुतोन्मयूखम् ॥ ६९ ॥

तत इति । ततो भ्राजिष्णुना प्रकाशनशीलेन । "भुवश्च" इति चकारादिष्णुच् ।

नृपेणानुगताः सङ्गतास्ताः स्त्रियः सातिशयं यथा तथा विरेजुः। प्रागेव इन्द्रनीलयोगात्पूर्वमेव, केवला अपीत्यर्थः। मुक्ता मणयो नयनाभिरामाः उन्मयूखमिन्द्रनीलं प्राप्य किमुत, अभिरामा इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ६९ ॥

इसके बाद शोभनशील राजा कुशसे अनुगत (सम्मिलित) वे स्त्रियां अत्यधिक शोभने लगीं; क्योंकि मुक्ताएं पहलेसे ही देखनेमें सुन्दर होती हैं, ऊपर फैलती हुई किरणोंवाले इन्द्रनील (नीलम) को पाकर क्या कहना है अर्थात् निश्चितरूपसे अधिक शोभती हैं ॥ ६९ ॥

वर्णोदकैः काञ्चनशृङ्गमुक्तैस्तमायताक्ष्यः प्रणयादसिञ्चन् ।
तथागतः साऽतितरां बभासे सधातुनिष्यन्द इवाद्रिराजः ॥ ७० ॥

वर्णोदकैरिति। तं कुशमायताक्ष्यः काञ्चनस्य शृङ्गैर्मुक्तानि तैर्वर्णोदकैः कुङ्कुमादिवर्णद्रव्यसहितोदकैः प्रणयात्स्नेहादसिञ्चन्। तथागतस्तथास्थितः, वर्णोदकसिक्त इत्यर्थः। स कुशः सधातुनिष्यन्दो गैरिकद्रव्ययुक्तोऽद्रिराज इव। अतितरां बभासेऽत्यर्थं चकासे ॥ ७० ॥

सुवर्णमयी पिचकारियोंसे छोड़े गये कुङ्कुमादिके रंगयुक्त पानीसे विशाल नेत्रोंवाली उन सुन्दरियोंने उस कुशको सिञ्चित किया और वैसे अर्थात् स्त्रियोंके द्वारा रंगयुक्त पानी से भींगे हुए वे कुश धातु (गैरिक आदि) के निष्यन्दसे युक्त हिमालयके समान शोभित हुए ॥ ७० ॥

तेनावरोधप्रमदासखेन विगाहमानेन सरिद्वरां ताम् ।
आकाशगङ्गारतिरप्सरोभिर्वृतो मरुत्वाननुयातलीलः ॥ ७१ ॥

तेनेति। अवरोधप्रमदासखेनान्तःपुरसुन्दरीसहचरेण तां सरिद्वरां सरयूं विगाहमानेन तेन कुशेनाकाशगङ्गायां रतिः क्रीडा यस्य सोऽप्सरोभिर्वृत आवृतो मरुत्वानिन्द्रोऽनुयातलीलोऽनुकृतश्रीः। अभूदिति शेषः। इन्द्रमनुकृतवानित्यर्थः ॥ ७१ ॥

अन्तःपुरकी प्रमदाओंके सहित नदीश्रेष्ठ सरयूमें विहार करते हुए कुशने अप्सराओंके साथ आकाशगङ्गामें रमण (जल क्रीडा) करते हुए इन्द्रकी शोभाको प्राप्त किया ॥ ७१ ॥

यत्कुम्भयोनेरधिगम्य रामः कुशाय राज्येन समं दिदेश ।
तदस्य जैत्राभरणं विहर्तुरज्ञातपातं सलिले ममज्ज ॥ ७२ ॥

यदिति। यदाभरणं रामः कुम्भयोनेरगस्त्यादधिगम्य प्राप्य कुशाय राज्येन समं दिदेश ददौ, राज्यसममूल्यमित्यर्थः। सलिले विहर्तुः क्रीडितुरस्य कुशस्य तज्जैत्राभरणं जयशीलमाभरणमज्ञातपातं सन् ममज्ज बुब्रोड ॥ ७२ ॥

राम (कुशके पिता) ने अगस्त्य मुनिसे प्राप्त जिस मणिको राज्यके साथ कुशके लिए दिया था, उन (कुश) का विजयशील वह आभरण बिना जाने हुए गिरकर पानीमें डूब गया ॥ ७२ ॥

स्नात्वा यथाकाममसौ सदारस्तीरोपकार्यां गतमात्र एव ।
दिव्येन शून्यं वलयेन बाहुमपोढनेपथ्यविधिर्ददर्श ॥ ७३ ॥

स्नात्वेति । असौ कुशः सदारः सन् यथाकामं यथेच्छं स्नात्वा विगाह्य । तीरे योपकार्यां पूर्वोक्तां तां गतमात्रो गत एवापोढनेपथ्यविधिरकृतप्रसाधन एव दिव्येन वलयेन शून्यं बाहुं ददर्श ॥ ७३ ॥

स्त्रियोंके साथ इच्छानुसार स्नानकर तीरस्थित सामियाने (पट-निर्मित भवन) में आते ही विना शृङ्गार किये हुए उस कुशने दिव्य कङ्कणसे सूना हाथ देखा ॥ ७३ ॥

जयश्रियः संवननं यतस्तदामुक्तपूर्वं गुरुणा च यस्मात् ।
सेहेऽस्य न भ्रंशमतो न लोभात्स तुल्यपुष्पाभरणो हि धीरः ॥ ७४ ॥

जयश्रिय इति । यतः कारणात्तदाभरणं जयश्रियः संवननं वशीकरणम् । 'वशक्रिया संवननम्' इत्यमरः । यस्माच्च गुरुणा पित्राऽऽमुक्तपूर्वं पूर्वमामुक्तम्, आवृतमित्यर्थः । सुप्सुपेति समासः । अतो हेतोरस्याभरणस्य भ्रंशं नाशं न सेहे । लोभाच्च । कुतः । हि यस्माद्धीरो विद्वान्स कुशस्तुल्यानि पुष्पाण्याभरणानि च यस्य सः । पुष्पेष्विवाभरणेषु धृतेषु निर्माल्यबुद्धिं करोतीत्यर्थः ॥ ७४ ॥

जिस कारणसे पिता (राम) ने विजयलक्ष्मीका वशीकरण वह भूषण कुशको पहनाया था, अत एव वे (कुश) उस भूषणका गिरना नहीं सह सके (उसके गिरनेसे उन्हें अपार दुःख हुआ), लोभसे नहीं; क्योंकि वे कुश पुष्प तथा भूषणको समान समझते थे ॥ ७४ ॥

ततः समाज्ञापयदाशु सर्वानानायिनस्तद्विचये नदीष्णान् ।
बन्ध्यश्रमास्ते सरयूं विगाह्य तमूचुरम्लानमुखप्रसादाः ॥ ७५ ॥

तत इति । ततः नद्यां स्नान्ति कौशलेनेति नदीष्णाः तान् । "सुपि" इति योगविभागात्कप्रत्ययः । "निनदीभ्यां स्नातेःकौशले" इति षत्वम् । सर्वानानायिनो जालिकांस्तस्याभरणस्य विचयेऽन्वेषणे निमित्त आशु समाज्ञापयदादिदेश । त आनायिनः सरयूं विगाह्य विलोड्य बन्ध्यश्रमा विफलप्रयासास्तथाऽपि तद्भर्तिं ज्ञात्वाऽम्लानमुखप्रसादाः सश्रीकमुखाः सन्तस्तं कुशमूचुः ॥ ७५ ॥

नदीमें अच्छी तरह गोता लगानेवाले सभी जालिकों (जाल लगानेवाले धीवरों) को उस (पितृदत्त आभरण) को खोजनेके लिए उस कुशने शीघ्र आज्ञा दी। सरयूको विलोडित (उसमें अच्छी तरह खोज) कर व्यर्थ परिश्रमवाले (रत्नको नहीं प्राप्त किए हुए) भी प्रसन्नमुख होते हुए वे (जालिक) उस कुशसे बोले ॥ ७५ ॥

कृतः प्रयत्नो न च देव लब्धं मग्नं पयस्याभरणोत्तमं ते ।
नागेन लौल्यात्कुमुदेन नूनमुपात्तमन्तर्ह्रदवासिना तत् ॥ ७६ ॥

कृत इति । हे देव ! प्रयत्नः कृतः । पयसि मग्नं त आभरणोत्तमं न च लब्धम् ।

किन्तु तदाभरणमन्तर्ह्रदवासिना कुमुदेन कुमुदाख्येन नागेन पन्नगेन लौल्याल्लोभादुपात्तं गृहीतम्। नूनमिति वितर्के ॥ ७६ ॥

"हे देव! (हम लोगोंने) यत्न किया, (किन्तु) पानी में डूबे हुए आपके उस श्रेष्ठ भूषणको (हम) नहीं पाये। 'उस (अमूलरत्न) को ह्रदके भीतर निवास करनेवाले 'कुमुद' नामक नागने लोभसे ले लिया है, यह हमारा अनुमान है" ॥ ७६ ॥

ततः स कृत्वा धनुराततज्यं धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षः।
गारुत्मतं तीरगतस्तरस्वी भुजङ्गनाशाय समाददेऽस्त्रम् ॥ ७७ ॥

तत इति। ततो धनुर्धरः कोपविलोहिताक्षस्तरस्वी बलवान्स कुशस्तीरगतः सन्धनुराततज्यमधिज्यं कृत्वा भुजङ्गस्य कुमुदस्य नाशाय गारुत्मतं गरुत्मद्देवताकमस्त्रं समाददे ॥ ७७ ॥

इसके बाद क्रोधसे लाल नेत्रोंवाले धनुर्धारी एवं बलवान् उस कुशने (सरयूके) तटपर जाकर नागको मारनेके लिए धनुष चढ़ाकर गारुड अस्त्रको ग्रहण किया ॥ ७७ ॥

तस्मिन्ह्रदः संहितमात्र एव क्षोभात्समाविद्धतरङ्गहस्तः।
रोधांसि निघ्नन्नवपातमग्नः करीव वन्यः परुषं ररास ॥ ७८ ॥

तस्मिन्निति। तस्मिन्नस्त्रे संहितमात्रे सत्येव ह्रदः क्षोभाद्धेतोः समाविद्धाः सङ्घट्टितास्तरङ्गा एव हस्ता यस्य स रोधांसि निघ्नन्पातयन्। अवपाते गजग्रहणगर्ते मग्नः पतितः। 'अवपातस्तु हस्त्यर्थे गर्तश्छन्नस्तृणादिना' इति यादवः। वन्यः करीव परुषं घोरं ररास दध्वान ॥ ७८ ॥

उस (कुश) के पास जाते ही क्षोभसे फेंकते हुए तरङ्गरूपी हाथोंवाला वह ह्रद तटोंको गिराता हुआ गढेमें गिरे हुए जङ्गली हाथीके समान उच्च स्वर करने लगा ॥ ७८ ॥

तस्मात्समुद्रादिव मथ्यमानादुद्वृत्तनक्रात्सहसोन्ममज्ज।
लक्ष्म्येव सार्धं सुरराजवृक्षः कन्यां पुरस्कृत्य भुजङ्गराजः ॥ ७९ ॥

तस्मादिति। मथ्यमानात्समुद्रादिव। उद्वृत्तनक्रात्क्षुभितग्राहात्तस्माद् ह्रदात्। लक्ष्म्या सार्धं सुरराजस्येन्द्रस्य वृक्षः पारिजात इव। कन्यां पुरस्कृत्य भुजङ्गराजः कुमुदः सहसोन्ममज्ज ॥ ७९ ॥

मथे जाते हुए समुद्रसे लक्ष्मीसहित पारिजात वृक्षके समान व्याकुल मगरोंवाले उस ह्रदसे कन्याको आगे करके वह नागराज ऊपर निकला ॥ ७९ ॥

विभूषणप्रत्युपहारहस्तमुपस्थितं वीक्ष्य विशां पतिस्तम्।
सौपर्णमस्त्रं प्रतिसञ्जहार प्रह्वेष्वनिर्बन्धरुषो हि सन्तः ॥ ८० ॥

विभूषणेति। विशां पतिर्मनुजपतिः कुशः। 'द्वौ विशौ वैश्यमनुजौ' इत्यमरः। विभूषणं प्रत्युपहरति प्रत्यर्पयतीति विभूषणप्रत्युपहारः। कर्मण्यण्। विभूषणप्रत्युप-

हारो हस्तो यस्य तम् । उपस्थितं प्राप्तं तं कुमुदं वीक्ष्य सौपर्णं गारुत्मतमस्त्रं प्रतिसञ्जहार । तथा हि, सन्तः प्रह्वेषु नम्रेष्वनिर्बन्धरुषोऽनियतकोपा हि ॥ ८० ॥

राजा (कुश) ने भूषणरूप प्रत्युपहारको हाथमें लेकर उपस्थित नागको देखकर गारुडास्त्रको समेट लिया (उसका प्रहार नहीं किया); क्योंकि सज्जन लोग नम्र व्यक्तियोंपर क्रोध करनेका हठ अर्थात् क्रोध नहीं करते हैं ॥ ८० ॥

त्रैलोक्यनाथप्रभवं प्रभावात्कुशं द्विषामङ्कुशमस्त्रविद्वान् ।
मानोन्नतेनाप्यभिवन्द्य मूर्ध्ना मूर्धाभिषिक्तं कुमुदो बभाषे ॥ ८१ ॥

त्रैलोक्येति । अस्त्रं विद्वानस्त्रविद्वान् । "न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्" इत्यनेन षष्ठीनिषेधः । "द्वितीयाश्रित—" इत्यत्र गम्यादीनामुपसंख्यानाद् द्वितीयेति योगविभागाद्वा समासः । गारुडास्त्रमहिमाभिज्ञ इत्यर्थः । कुमुदः । त्रयो लोकास्त्रैलोक्यम् । चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः । त्रैलोक्यनाथो रामः प्रभवो जनको यस्य तम् । अत एव प्रभावाद् द्विषामङ्कुशं निवारकं मूर्धाभिषिक्तं राजानं कुशं मानोन्नतेनापि मूर्ध्नाऽभिवन्द्य प्रणम्य बभाषे ॥ ८१ ॥

अस्त्रज्ञाता (गरुडास्त्रके प्रभावको जाननेवाला) 'कुमुद' (नामका नाग) त्रैलोक्यपति (राम) के पुत्र तथा प्रभावसे शत्रुओंके अङ्कुश राजा कुशको मानसे उन्नत भी मस्तकसे अभिवादनकर बोला ॥ ८१ ॥

अवैमि कार्यान्तरमानुषस्य विष्णोः सुताख्यामपरां तनुं त्वाम् ।
सोऽहं कथं नाम तवाचरेयमाराधनीयस्य धृतेर्विघातम् ॥ ८२ ॥

अवैमीति । त्वाम् । ओदनान्तरस्तण्डुल इतिवत्कार्यान्तरः कार्यार्थः । 'स्थानात्मीयान्यतादर्थ्यरन्ध्रान्तर्येषु चान्तरम्' इति शाश्वतः । स चासौ मानुषश्चेति तस्य विष्णो रामस्य सुताख्यां पुत्रसंज्ञामपरां तनुं मूर्तिमवैमि । "आत्मा वै पुत्रनामासि" इति श्रुतेरित्यर्थः । स जानन्नहमाराधनीयस्योपास्यस्य तव धृतेः प्रीतेः । "धृ प्रीतौ" इति धातोः स्त्रियां क्तिन् । विघातं कथं नामाचरेयम् , असम्भावितमित्यर्थः ॥ ८२ ॥

आपको कार्य (देवकार्य) के लिये मनुष्य (रूपधारण किये हुए) विष्णुका पुत्ररूप शरीर अर्थात् पुत्र मैं जानता हूं; वह मैं पूजनीय आपकी प्रीतिके विपरीत व्यवहार कैसे करूंगा ? अर्थात् कदापि नहीं करूंगा ॥ ८२ ॥

कराभिघातोत्थितकन्दुकेयमालोक्य बालातिकुतूहलेन ।
ह्रदात्पतज्ज्योतिरिवान्तरिक्षादादत्त जैत्राभरणं त्वदीयम् ॥ ८३ ॥

कराभिघातेति । कराभिघातेनोत्थित ऊर्ध्वं गतः कन्दुको यस्याः सा । कन्दुकार्थमूर्ध्वं पश्यन्तीत्यर्थः । इयं बालातिकुतूहलेनात्यन्तकौतुकेनान्तरिक्षाज्ज्योतिर्नक्षत्रमिव । 'ज्योतिर्भद्योतदृष्टिषु' इत्यमरः । ह्रदात्पतत्त्वदीयं जैत्राभरणमालोक्यादत्तागृह्णात् ॥

हाथके अभिघातसे ऊपर उछले हुए गेंदवाली अर्थात् गेंदके लिये ऊपर देखती हुई इस

बाला (अबोध कन्या) ने अत्यन्त कुतूहलसे आकाशसे गिरता हुआ ताराके समान ह्रदसे गिरते हुए आपके विजयशील आभरणको ले लिया ॥ ८३ ॥

तदेतदाजानुविलम्बिना ते ज्याघातरेखाकिणलाञ्छनेन ।
भुजेन रक्षापरिघेण भूमेरुपैतु योगं पुनरंसलेन ॥ ८४ ॥

तदेतदिति । तदेतदाभरणमाजानुविलम्बिना दीर्घेण । ज्याघातेन या रेखा रेखाकाराग्रन्थयस्तासां किणं चिह्नं तदेव लाञ्छनं यस्य तेन । भूमे रक्षायाः परिघेण रक्षाऽर्गलेन । 'परिघो योगभेदास्त्रमुद्गरेऽर्गलघातयोः" इत्यमरः । अंसलेन बलवता ते भुजेन पुनर्योगं सङ्गतिमुपैतु । एतैर्विशेषणैर्महाभाग्यशौर्यधुरन्धरत्वबलवत्त्वादि गम्यते॥

इस कारण यह (भूषण) आजानुलम्बी (घुटनेतक लटकते हुए अर्थात् विशाल), प्रत्यञ्चाके आघातजन्य रेखारूप व्रण (गड्ढे) से चिह्नित पृथ्वीकी रक्षाके लिये परिघरूप और बलवान् बाहुसे फिर संयुक्त होवे अर्थात् इस भूषणको आप फिर बाहुमें धारण करें ॥

इमां स्वसारं च यवीयसीं मे कुमुद्वतीं नार्हसि नानुमन्तुम् ।
आत्मापराधं नुदतीं चिराय शुश्रूषया पार्थिव पादयोस्ते ॥ ८५ ॥

इमामिति । किञ्च । हे पार्थिव ! ते तव पादयोश्चिराय शुश्रूषया परिचर्यया । 'शुश्रूषा श्रोतुमिच्छायां परिचर्याप्रदानयोः' इति विश्वः । आत्मापराधमाभरणग्रहणरूपं नुदतीम्, परिजिहीर्षन्तीमित्यर्थः । "आशंसायां भूतवच्च"इति चकाराद्वर्तमानार्थे शतृप्रत्ययः । "आच्छीनद्योर्नुम्" इत्यस्य वैकल्पिकत्वान्नुमभावः । इमां मे यवीयसीं कनिष्ठां स्वसारं भगिनीं कुमुद्वतीमनुमन्तु नार्हसीति न, अर्हस्येवेत्यर्थः॥८५॥

हे राजन् ! आपके चरणोंकी बहुत समय तक सेवा करनेसे अपने अपराधको दूर करती हुई 'कुमुद्वती' नामकी मेरी इस छोटी बहनको आप स्वीकार करनेके योग्य नहीं हैं, ऐसा नहीं है अर्थात् इसे अवश्य स्वीकार करें ॥ ८५ ॥

इत्यूचिवानुपहृताभरणः क्षितीशं श्लाघ्यो भवान्स्वजन इत्यनुभाषितारम् ।
संयोजयांविधिवदास समेतबन्धुः कन्यामयेन कुमुदः कुलभूषणेन ॥ ८६ ॥

इतीति । इति पूर्वश्लोकोक्तमूचिवानुक्तवान् । ब्रुवः क्वसुः । उपहृताभरणः उपहृतमाभरणं यस्मै प्रत्यर्पिताभरणः कुमुदः । हे कुमुद ! भवाञ्श्लाघ्यः स्वजनो बन्धुः इत्थमनुभाषितारमनुवक्तारं क्षितीशं कुशं समेतबन्धुर्युक्तबन्धुः सन् कन्यामयेन कन्यारूपेण कुलयोर्भूषणेन विधिवत्संयोजयामास । न केवलं तदीयमेव, किन्तु स्वकीयमपि भूषणं तस्मै दत्तवानिति ध्वनिः । आम्प्रत्ययानुप्रयोगयोर्व्यवधानं तु प्रागेव समाहितम् ॥ ८६ ॥

ऐसा (श्लो० ८२-८५) कहनेवाला तथा भूषणको प्रत्यर्पण करनेवाला उस 'कुमुद' नामक नागराजने "आप मेरे प्रशंसनीय स्वजन हैं" ऐसा कहते हुए राजा कुशको बान्धवों सहित होकर कन्यारूप कुलभूषणसे विभूषितकर दिया ॥ ८६ ॥

तस्याः स्पृष्टे मनुजपतिना साहचर्याय हस्ते
माङ्गल्योर्णावलयिनि पुरः पावकस्योच्छिखस्य ।
दिव्यस्तूर्यध्वनिरुदचरद्व्यश्नुवानो दिगन्तान्
गन्धोदग्रं तदनु ववृषुः पुष्पमाश्चर्यमेघाः ॥ ८७ ॥

तस्या इति । मनुजपतिना कुशेन साहचर्याय, सहधर्माचरणायेत्यर्थः । माङ्गल्या मङ्गले साधुर्योर्णा मेषादिलोम । 'ऊर्णा मेषादिलोम्नि स्यात्' इत्यमरः । अत्र लक्षणया तन्निर्मितं सूत्रमुच्यते । तया वलयिनि वलयवति तस्याः कुमुद्वत्या हस्ते पाणावुच्छिखस्योदर्चिषः पावकस्य पुरोऽग्रे स्पृष्टे गृहीते सति दिगन्तान्व्यश्नुवानो व्याप्नुवन्दिव्यस्तूर्यध्वनिरुदचरदुत्थितः । तदन्वाश्चर्या अद्भुता मेघा गन्धेनोदग्रमुत्कटं पुष्पं पुष्पाणि । जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । ववृषुः । आश्चर्यशब्दस्य । 'रौद्रं तूग्रममी त्रिषु । चतुर्दश' इत्यमरवचनात्त्रिलिङ्गत्वम् ॥ ८७ ॥

राजा (कुश) के, साहचर्य (सहधर्मिणी बनाने) के लिये मङ्गलार्थ ऊनी सूतक बने कङ्कणयुक्त उस 'कुमुद्वती' के हाथको जलती हुई अग्निके सामने ग्रहण करनेपर दिशाओंके अन्ततक फैलनेवाली दिव्य तुर्यध्वनि हुई तथा आश्चर्यजनक मेघोंने श्रेष्ठ गन्धयुक्त पुष्पोंकी वर्षा की ॥ ८७ ॥

इत्थं नागस्त्रिभुवनगुरोरौरसं मैथिलेयं
लब्ध्वा बन्धुं तमपि च कुशः पञ्चमं तक्षकस्य ।
एकः शङ्कां पितृवधरिपोरत्यजद्वैनतेया-
च्छान्तव्यालामवनिमपरः पौरकान्तः शशास ॥ ८८ ॥

इत्थमिति । इत्थं नागः कुमुदः । त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनम् । "तद्धितार्थ" इत्यादिना तत्पुरुषः । अदन्तद्विगुत्वेऽपि पात्राद्यदन्तत्वान्नपुंसकत्वम् । 'पात्राद्यदन्तैरेकार्थो द्विगुर्लक्ष्यानुसारतः' इत्यमरः । तस्य गुरू रामः । तस्यौरसं धर्मपत्नीजं पुत्रम् । "औरसो धर्मपत्नीजः" इति याज्ञवल्क्यः । मैथिलेयं कुशं बन्धुं लब्ध्वा । कुशोऽपि च तक्षकस्य पञ्चमं पुत्रं तं कुमुदं बन्धुं लब्ध्वा एकस्तयोरन्यतरः कुमुदः पितृवधेन रिपोर्वैनतेयाद्गरुडात् । गुरुणा वैष्णवांशेन कुशेन त्याजितक्रौर्यादिति भावः । शङ्कां भयमत्यजत् । अपरः कुशः शान्तव्यालां कुमुदाज्ञया वीतसर्पभयामवनिमत एव पौरकान्तः पौरप्रियः सञ्छशास ॥ ८८ ॥

इति सञ्जीविनी व्याख्यायां कुमुद्वतीपरिणयो नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

इस प्रकार नाग ('कुमुद' नामक नाग) ने त्रिभुवनाधीश (राम) के पुत्र मैथिली-कुमार (कुश) को बन्धु (रूपमें) प्राप्तकर और कुश भी तक्षकके पञ्चम पुत्र 'कुमुद' को

बन्धु प्राप्तकर (उन दोनोंमेंसे) एक अर्थात् 'कुमुद' नागने (कुशके कहनेसे विष्णुके अंश-भूत पिता रामके द्वारा गरुडकी क्रूरताका त्याग करानेसे) पिताके मारनेसे शत्रु गरुडसे भयको छोड़ा और दूसरे अर्थात् कुशने (कुमुदकी आज्ञासे) सर्पभयसे रहित पृथ्वीका शासन नागरिगोंका प्रिय बनकर किया ॥ ८८ ॥

यह 'मणिप्रभा' व्याख्यामें 'रघुवंश' महाकाव्यका 'कुमुद्वती-परिणय' नामक षोडश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः ।

नमो रामपदाम्भोजं रेणवो यत्र सन्ततम् । कुर्वन्ति कुमुदप्रीतिमरण्यगृहमेधिनः ॥

अतिथिं नाम काकुत्स्थात्पुत्रं प्राप कुमुद्वती ।
पश्चिमाद्यामिनीयामात्प्रसादमिव चेतना ॥ १ ॥

अतिथिमिति । कुमुद्वती काकुत्स्थात्कुशादतिथिं नाम पुत्रम् । चेतना बुद्धिः पश्चिमादन्तिमाद्यामिन्या रात्रेर्यामात्प्रहरात् । 'द्वौ यामप्रहरौ समौ' इत्यमरः । प्रसादं वैशद्यमिव प्राप । ब्राह्मे सर्वेषां बुद्धिवैशद्यं भवतीति प्रसिद्धिः ॥ १ ॥

जो पराग नित वन्यगृहीके, कुमुद-प्रेमको करते हैं ।
रामचन्द्रके उन पदपद्मोंको प्रणाम हम करते हैं ॥

कुमुद्वती ('कुमुद' नामक नागकी छोटी बहन)ने कुश से 'अतिथि' नामक पुत्रको उस प्रकारप्राप्त किया, जिस प्रकार चेतना (बुद्धि) रात्रिके अन्तिम प्रहरसे प्रसाद (स्वच्छता) को प्राप्त करती है ॥ १ ॥

स पितुः पितृमान्वंशं मातुश्चानुपमद्युतिः ।
अपुनात्सवितेवोभौ मार्गावुत्तरदक्षिणौ ॥ २ ॥

स इति । पितृमान् प्रशस्तपितृकः । प्रशंसाऽर्थे मतुप् । सुशिक्षित इत्यर्थः । अनुपमद्युतिः । सवितुश्चेदं विशेषणम् । सोऽतिथिः पितुः कुशस्य मातुः कुमुद्वत्याश्च वंशम् । सवितोत्तरदक्षिणावुभौ मार्गाविव । अपुनात्पवित्रीकृतवान् ॥ २ ॥

सुशिक्षित तथा अनुपम कान्तिवाले उस 'अतिथि' ने पिता तथा माताके वंशको उस प्रकार पवित्र किया, जिस प्रकार सूर्य उत्तर और दक्षिण मार्गको (उत्तरायण तथा दक्षिणायन होनेपर) पवित्र करते हैं ॥ २ ॥

तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदां वरः ।
पश्चात्पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत्पिता ॥ ३ ॥

तमिति । अर्थाञ्छब्दार्थान्दानसङ्ग्रहादिक्रियाप्रयोजनानि च विदन्तीत्यर्थविदः ।

तेषां वरः श्रेष्ठः पिता कुशस्तमतिथिमादौ प्रथमं कुलविद्यानामान्वीक्षिकीत्रयीवार्ता-दण्डनीतीनामर्थमभिधेयमग्राहयद्बोधयत् । पश्चात्पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत्स्वीकारितवान्, उदवाहयदित्यर्थः । ग्रहेर्ण्यन्तस्य सर्वत्र द्विकर्मकत्वमस्तीत्युक्तं प्राक् ॥३॥

अर्थ (शब्दार्थ तथा दान–संग्रहादि कार्यके प्रयोजनों) के ज्ञाता पिता (कुश) ने पहले उसे (अतिथि) को कुलविद्या (आन्वीक्षिकी आदि वंशपरम्परागत राजनीति विद्या) के अर्थका ग्रहण कराया अर्थात् राजनीतिको पढ़ाया और बादमें राजकन्याओंके पाणिको ग्रहण कराया अर्थात् राजकुमारियोंके साथ उनका विवाह कर दिया ॥ ३ ॥

जात्यस्तेनाभिजातेन शूरः शौर्यवता कुशः ।
अमन्यतैकमात्मानमनेकं वशिना वशी ॥ ४ ॥

जात्य इति । जातौ भवो जात्यः कुलीनः शूरो वशी कुशोऽभिजातेन कुलीनेन । 'अभिजातः कुलीनः स्यात्' इत्यमरः । शौर्यवता वशिना तेनातिथिना करणेन एकमात्मानम् । एको न भवतीत्यनेकस्तम् । अमन्यत । सर्वगुणसामग्र्यादात्मजमात्मन एव रूपान्तरममंस्तेत्यर्थः ॥ ४ ॥

कुलीन, शूरवीर तथा जितेन्द्रिय कुशने कुलीन, शूरवीर तथा जितेन्द्रिय उस 'अतिथि'के द्वारा अकेले भी अपनेको अनेक समझा अर्थात् 'अतिथि' नामक अपने पुत्रमें अपने सम्पूर्ण गुणोंके होनेसे उसे अपना ही रूपान्तर माना ॥ ४ ॥

स कुलोचितमिन्द्रस्य साहायकमुपेयिवान् ।
जघान समरे दैत्यं दुर्जयं तेन चावधि ॥ ५ ॥

स इति । स कुशः कुलोचितं कुलाभ्यस्तमिन्द्रस्य साहायकं सहकारित्वम् । "योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्" इत्यनेन वुञ् । उपेयिवान्प्राप्तः सन्समरे नामतोऽर्थतश्च दुर्जयं दैत्यं जघानावधीत् । तेन दैत्येनावधि हतश्च । "लुङि च" इति हनो वधादेशः ॥ ५ ॥

उस कुशने अपने वंश (रघुवंश) के योग्य इन्द्रकी सहायताकर युद्धमें 'दुर्जय' (दुःखसे जीतने योग्य तथा 'दुर्जय' नामक) दैत्यको मारा तथा (स्वयं भी) उससे मारे गये ॥ ५ ॥

तं स्वसा नागराजस्य कुमुदस्य कुमुद्वती ।
अन्वगात्कुमुदानन्दं शशाङ्कमिव कौमुदी ॥ ६ ॥

तमिति । कुमुदस्य नाम नागराजस्य स्वसा कुमुद्वती कुशपत्नी । कुमुदानन्दं शशाङ्कं कौमुदी ज्योत्स्नेव । तं कुशमन्वगात् । कुशस्तु । कुः पृथ्वी तस्या मुत्प्रीतिः सैवानन्दो यस्येति कुमुदानन्दः, परानन्देन स्वयमानन्दतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

नागराज 'कुमुद' की बहन 'कुमुद्वती' ने कुमुदको विकसित करनेवाले चन्द्रमाकी चांदनीके समान पृथ्वीको हर्षसे आनन्दित करनेवाले उस कुशका अनुगमन किया अर्थात् कुशकी मृत्युके बाद वह सती हो गयी ॥ ६ ॥

तयोर्दिवस्पतेरासीदेकः सिंहासनार्धभाक् ।
द्वितीयाऽपि सखी शच्याः पारिजातांशभागिनी ॥ ७ ॥

तयोरिति । तयोः कुशकुमुद्वत्योर्मध्ये एकः कुशो दिवस्पतेरिन्द्रस्य सिंहासनार्धं सिंहासनैकदेशः तद्भागासीत् । द्वितीया कुमुद्वती शच्या इन्द्राण्याः पारिजातांशस्य भागिनी ग्राहिणी । "सम्पृच-" इत्यादिना भजेर्घिनुण्प्रत्ययः । सख्यासीत् । कस्कादित्वाद्दिवस्पतिः साधुः ॥ ७ ॥

उन दोनों (कुश तथा कुमुद्वती) मेंसे एक (कुश) स्वर्गाधीश इन्द्रके आधे आसनको प्राप्त करनेवाले बने तथा दूसरी (कुमुद्वती) इन्द्राणीकी पारिजातका भाग लेनेवाली सखी बनी अर्थात् अपने-अपने पुण्यकर्मोसे दोनोंने स्वर्गमें श्रेष्ठ स्थान पाया ॥ ७ ॥

तदात्मसम्भवं राज्ये मन्त्रिवृद्धाः समादधुः ।
स्मरन्तः पश्चिमामाज्ञां भर्तुः सङ्ग्रामयायिनः ॥ ८ ॥

तदिति । सङ्ग्रामयायिनः सङ्ग्रामं यास्यतः । आवश्यकार्थे णिनिः । "अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः" इति षष्ठीनिषेधः । भर्तुः स्वामिनः कुशस्य पश्चिमामन्तिमामाज्ञां विपर्यये पुत्रोऽभिषेक्तव्य इत्येवंरूपां स्मरन्तो मन्त्रिवृद्धास्तदात्मसम्भवमतिथिं राज्ये समादधुर्निदधुः ॥ ८ ॥

(इन्द्रकी सहायता करनेके लिये) संग्राममें जानेवाले स्वामी (कुश) की अन्तिम आज्ञाको स्मरण करते हुए बूढ़े मन्त्रियोंने उनके पुत्र (अतिथि) को राजगद्दीपर बैठाया ॥

ते तस्य कल्पयामासुरभिषेकाय शिल्पिभिः ।
विमानं नवमुद्वेदि चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितम् ॥ ९ ॥

त इति । ते मन्त्रिणस्तस्यातिथेरभिषेकाय शिल्पिभिरुद्वेद्युन्नतवेदिकं चतुःस्तम्भप्रतिष्ठितं चतुर्षु स्तम्भेषु प्रतिष्ठितं नवं विमानं मण्डपं कल्पयामासुः कारयामासुः ॥९॥

उन (बूढ़े मन्त्रियों) ने कारीगरोंसे उस (अतिथि) के राज्याभिषेकके लिये चार खम्भोंपर स्थित ऊंची वेदीवाला विमान बनवाया ॥ ९ ॥

तत्रैनं हेमकुम्भेषु सम्भृतैस्तीर्थवारिभिः ।
उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम् ॥ १० ॥

तत्रेति । तत्र विमाने भद्रपीठे पीठविशेषे उपवेशितमेनमतिथिं हेमकुम्भेषु सम्भृतैः सङ्गृहीतैस्तीर्थवारिभिः करणैः प्रकृतयो मन्त्रिणः उपतस्थुः ॥ १० ॥

उत्तम आसनपर बैठाये गये उस 'अतिथि'का मन्त्रियोंने सुवर्णके कलसोंमें रखे हुए तीर्थजलोंसे अभिषेक किया ॥ १० ॥

नदद्भिः स्निग्धगम्भीरं तूर्यैराहतपुष्करैः ।
अन्वमीयत कल्याणं तस्याविच्छिन्नसन्तति ॥ ११ ॥

नदद्भिरिति । आहतं पुष्करं मुखं येषां तैः । 'पुष्करं करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे

जले' इत्यमरः । स्निग्धं मधुरं गम्भीरं च नदद्भिस्तूर्यैस्तस्यातिथेरविच्छिन्नसन्तस्य-विच्छिन्नपारम्पर्यं कल्याणं भावि शुभमन्वमीयतानुमितम् ॥ ११ ॥

बजाये जाते हुए मुखवाले अत एव मधुर एवं गम्भीर ध्वनि करते हुए बाजाओंसे उस (अतिथि) के कल्याणकी अविच्छिन्न परम्परा वाला होनेका अनुमान होता था अर्थात् 'अतिथि'के कल्याणकी परम्परा कभी भी नहीं टूटेगी, ऐसा अनुमान किया गया ॥ ११ ॥

दूर्वायवाङ्कुरप्लक्षत्वगभिन्नपुटोत्तरान् ।
ज्ञातिवृद्धैः प्रयुक्तान्स भेजे नीराजनाविधीन् ॥ १२ ॥

दूर्वेति । सोऽतिथिः । दूर्वाश्च यवाङ्कुराश्च प्लक्षत्वचश्चाभिन्नपुटा बालपल्लवाश्चोत्तराणि प्रधानानि येषु तान् । अभिन्नपुटानि मधूकपुष्पाणीति केचित् । कमलानीत्यन्ये। ज्ञातिषु ये वृद्धास्तैः प्रयुक्तान्नीराजनाविधीन्भेजे ॥ १२ ॥

उस 'अतिथि'ने दूब, यवके अङ्कुर (जई, भुजरियां), पीपलका छाल तथा नये पल्लवों (मतान्तरसे महुएके फूलों या कमलों) से युक्त, जातिमें वृद्ध जनोंसे की गयी आरती को प्राप्त किया अर्थात् जातिके बड़े-बूढ़े लोगोंने नवाभिषिक्त राजा 'अतिथि'की दूर्वादियुक्त आरती की ॥ १२ ॥

पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः ।
उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेक्तुं द्विजातयः ॥ १३ ॥

पुरोहितेति । पुरोहितपुरोगाः पुरोहितप्रमुखा द्विजातयो ब्राह्मणाः जिष्णुं जयशीलं तमतिथिं जैत्रैर्जयशीलैरथर्वभिर्मन्त्रविशेषैः करणैः पूर्वमभिषेक्तुमुपचक्रमिरे॥

पुरोहित आदि ब्राह्मणोंने पहले विजयशील अथर्व-मन्त्रोंसे जयशील उस 'अतिथि' का अभिषेक करना आरम्भ किया ॥ १३ ॥

तस्यौघमहती मूर्ध्नि निपतन्ती व्यरोचत ।
सशब्दमभिषेकश्रीर्गङ्गेव त्रिपुरद्विषः ॥ १४ ॥

तस्येति । तस्यातिथेर्मूर्ध्नि सशब्दं निपतन्त्योघमहती महाप्रवाहा । अभिषिच्यतेऽनेनेत्यभिषेको जलम् । स एव श्रीः । यद्वा तस्य श्रीः समृद्धिस्त्रिपुरद्विषः शिवस्य मूर्ध्नि निपतन्ती गङ्गेव व्यरोचत । त्रयाणां पुराणां द्वेष्टीति विग्रहः ॥ १४ ॥

उस 'अतिथि'के मस्तक पर गिरती हुई ध्वनि सहित महाप्रवाहयुक्त अभिषेक लक्ष्मी शङ्करजीके मस्तक पर ध्वनिके साथ गिरती हुई महाप्रवाहयुक्त गङ्गाके समान शोभित हुई ॥

स्तूयमानः क्षणे तस्मिन्नलक्ष्यत स वन्दिभिः ।
प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारङ्गैरभिनन्दितः ॥ १५ ॥

स्तूयमान इति । तस्मिन्क्षणेऽभिषेककाले वन्दिभिः स्तूयमानः सोऽतिथिः प्रवृद्धः प्रवृद्धवान् । कर्तरि क्तः । अत एव सारङ्गैश्चातकैरभिनन्दितः पर्जन्यो मेघ इव । अलक्ष्यत ॥ १५ ॥

उस समय वन्दियोंसे स्तुत समृद्धिमान् वह 'अतिथि' चातकोंसे अभिनन्दित बढ़े हुए मेघके समान दिखलायी पड़ते थे ॥ १५ ॥

तस्य सन्मन्त्रपूताभिः स्नानमद्भिः प्रतीच्छतः ।
ववृधे वैद्युतस्याग्नेर्वृष्टिसेकादिव द्युतिः ॥ १६ ॥

तस्येति । सन्मन्त्रैः पूताभिः शुद्धाभिरद्भिः स्नानं प्रतीच्छतः कुर्वतस्तस्य वृष्टिसेकात् । विद्युतोऽयं वैद्युतस्तस्याबिन्धनस्याग्नेरिव । द्युतिर्ववृधे ॥ १६ ॥

श्रेष्ठ मन्त्रोंके द्वारा पवित्र जलसे स्नान करते हुए उस 'अतिथि'की कान्ति वर्षाके सिञ्चन से विद्युत्सम्बन्धी अग्निके तेजके समान बढ़ गयी ॥ १६ ॥

स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु ।
यावतैषां समाप्येरन्यज्ञाः पर्याप्तदक्षिणाः ॥ १७ ॥

स इति । सोऽतिथिरभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो गृहस्थेभ्यस्तावत्तावत्परिमाणं वसु धनं ददौ । यावता वसुनैषां स्नातकानां पर्याप्तदक्षिणाः समग्रदक्षिणा यज्ञाः समाप्येरन् तावद्ददावित्यन्वयः ॥ १७ ॥

राज्याभिषेकके अन्तमें उस 'अतिथि' राजाने उन ब्राह्मणोंके लिये उतना धन दिया, जितनेसे उनको पर्याप्त (परिपूर्ण) दक्षिणावाला यज्ञ समाप्त हो जाय ॥ १७ ॥

ते प्रीतमनसस्तस्मै यामाशिषमुदैरयन् ।
सा तस्य कर्मनिर्वृत्तैर्दूरं पश्चात्कृता फलैः ॥ १८ ॥

ते इति । प्रीतमनसस्ते स्नातकास्तस्मै अतिथये यामाशिषमुदैरयन्व्याहरन्साशीस्तस्यातिथेः कर्मनिर्वृत्तैः पूर्वपुण्यनिष्पन्नैः फलैः साम्राज्यादिभिर्दूरं दूरतः पश्चात्कृता । स्वफलदानस्य तदानीमनवकाशात्कालान्तरोद्वीक्षणं चकारेत्यर्थः ॥ १८ ॥

प्रसन्नचित्त उन ब्राह्मणोंने उस 'अतिथि' के लिये जो आशीर्वाद दिया, वह उस 'अतिथि' के पूर्व कर्मोंसे प्राप्त फलोंके द्वारा बहुत बादके लिये हुआ अर्थात् 'अतिथि' के साम्राज्यादि फल पूर्वजन्मार्जित होनेसे उन ब्राह्मणोंके दिये गये आशीर्वाद का फल बहुत बाद प्राप्त होनेवाला हुआ ॥ १८ ॥

बन्धच्छेदं स बद्धानां वधार्हाणामवध्यताम् ।
धुर्याणां च धुरो मोक्षमदोहं चादिशद्गवाम् ॥ १९ ॥

बन्धच्छेदेति । सोऽतिथिर्बद्धानां बन्धच्छेदं वधार्हाणामवध्यताम् । धुरं वहन्तीति धुर्या बलीवर्दादयस्तेषां धुरो भारस्य मोक्षं गवामदोहं वत्सानां पानार्थं दोहनिवृत्तिं चाविशदादिदेश ॥ १९ ॥

उस 'अतिथि' ने बँधे हुए (कैदी आदि) लोगोंको बन्धनसे छोड़नेकी, मारे जानेवालों (फाँसीका दण्ड पाये हुए अपराधी आदि) को नहीं मारने की, भार ढोनेवालों (बैल-

खच्चर आदि) को भार न ढोने की, और (केवल बछड़ोंके दूध पीनेके लिये) गायों का दुहना बन्द करनेकी आज्ञा दी ॥ १९ ॥

क्रीडापतत्त्रिणोऽप्यस्य पञ्जरस्थाः शुकादयः ।
लब्धमोक्षास्तदादेशाद्यथेष्टगतयोऽभवन् ॥ २० ॥

क्रीडापतत्त्रिण इति । पञ्जरस्थाः शुकादयोऽस्यातिथेः क्रीडापतत्त्रिणोऽपि, किमुतान्य इत्यपिशब्दार्थः । तदादेशात्तस्यातिथे शासनाल्लब्धमोक्षाः सन्तो यथेष्टं गतिर्येषां ते स्वेच्छाचारिणोऽभवन् ॥ २० ॥

पिंजड़ेमें रहनेवाले क्रीडाके लिये पाले गये पक्षी (तोता, मैना आदि) भी उस 'अतिथि' की आज्ञासे छुटकारा पाकर स्वेच्छा-पूर्वक विचरण करने लगे (उनकी आज्ञासे क्रीडार्थ पाले गये पञ्जरस्थ पक्षियोंको भी छोड़ दिया गया) ॥ २० ॥

ततः कक्ष्यान्तरन्यस्तं गजदन्तासनं शुचि ।
सोत्तरच्छदमध्यास्त नेपथ्यग्रहणाय सः ॥ २१ ॥

तत इति । ततः सोऽतिथिर्नेपथ्यग्रहणाय प्रसाधनस्वीकाराय । कक्ष्यान्तरं हर्म्याङ्गणविशेषः । 'कक्ष्या प्रकोष्ठे हर्म्यादेः' इत्यमरः । तत्र न्यस्तं स्थापितं शुचि निर्मलं सोत्तरच्छदमास्तरणसहितं गजदन्तस्यासनं पीठमध्यास्त, तत्रोपविष्ट इत्यर्थः ॥

इसके बाद वे 'अतिथि' आभूषण पहननेके लिये दूसरे प्रकोष्ठमें गये और वहीं रखे हुये हाथी दाँतके बने हुए तथा चादर बिछे हुए श्वेत सिंहासन पर बैठे ॥ २१ ॥

तं धूपाश्यानकेशान्तं तोयनिर्णिक्तपाणयः ।
आकल्पसाधनैस्तैस्तैरुपसेदुः प्रसाधकाः ॥ २२ ॥

तमिति । तोयेन निर्णिक्तपाणयः क्षालितहस्ताः प्रसाधका अलङ्कर्तारो धूपेन गन्धद्रव्यधूपेनाश्यानकेशान्तं शोषितकेशपाशान्तं तमतिथिं तैस्तैराकल्पस्य नेपथ्यस्य साधनैर्गन्धमाल्यादिभिरुपसेदुरुपतस्थुः, अलञ्चक्रुरित्यर्थः ॥ २२ ॥

जलसे हाथ धोए हुए प्रसाधकों (शृङ्गार करनेवालों) ने धूप देनेसे सूखे हुए केशवाले उस 'अतिथि' को उन २ शृङ्गार सामग्रियोंसे अलङ्कृत किया ॥ २२ ॥

तेऽस्य मुक्तागुणोन्नद्धं मौलिमन्तर्गतस्रजम् ।
प्रत्यूपुः पद्मरागेण प्रभामण्डलशोभिना ॥ २३ ॥

त इति । ते प्रसाधका मुक्तागुणेन मौक्तिकसरेणोन्नद्धमुद्बद्धमन्तर्गतस्रजमस्यातिथेर्मौलिं धम्मिल्लं प्रभामण्डलशोभिना पद्मरागेण माणिक्येन प्रत्यूपुः प्रत्युप्तं चक्रुः ॥ २३ ॥

उन शृङ्गारकर्ताओंने ऊपर उठाकर मोतियों की लड़ीसे बाँधे गये तथा बीचमें (पुष्पों- की) मालासे युक्त उस 'अतिथि' के बालोंके बीच-बीचमें प्रभा-समूहसे शोभमान माणि- क्योंको गूंथा ॥ २३ ॥

चन्दनेनाङ्गरागं च मृगनाभिसुगन्धिना ।
समापय्य ततश्चक्रुः पत्रं विन्यस्तरोचनम् ॥ २४ ॥

चन्दनेनेति । किं च । मृगनाभ्या कस्तूरिकया सुगन्धिना चन्दनेनाङ्गरागमङ्गविलेपनं समापय्य समाप्य ततोऽनन्तरं विन्यस्ता रोचना गोरोचना यस्मिंस्तत्पत्रं पत्ररचनां चक्रुः ॥ २४ ॥

कस्तूरीसे सुगन्धित चन्दनसे अङ्गमें लेपन करके बादमें गोरोचनसे युक्त पत्र-रचना की ॥

आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान् ।
आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः ॥ २५ ॥

आमुक्तेति । आमुक्ताभरण आसञ्जिताभरणः । स्रजोऽस्यास्तीति स्रग्वी । "अस्मायामेधास्रजो विनिः" इति विनिप्रत्ययः। हंसाश्चिह्नमस्येति हंसचिह्नं यद्दुकूलं तद्वान् । अत्र बहुव्रीहिणैवार्थसिद्धे मतुबानर्थक्येऽपि सर्वधनीत्यादिवत्कर्मधारयादपि मत्वर्थीयं प्रत्ययमिच्छन्ति । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । राज्यश्रीरेव वधूर्नवोढा तस्या वरो वोढा । 'वधूःस्नुषा नवोढा स्त्री वरो जामातृषिङ्गयोः' इति विश्वः । सोऽतिथिरतिशयेन प्रेक्ष्यो दर्शनीय आसीत् । वरोऽप्येवंविशेषणः ॥ २५ ॥

मोतियोंके भूषणोंको पहने हुए, माला धारण किये हुए और हंसके चित्रोंसे युक्त वस्त्रको पहने हुए राज्यलक्ष्मीरूपिणी नवोढा (नयी दुलहिन) के वर (पति) वे 'अतिथि' देखनेमें अत्यन्त सुन्दर लगते थे ॥ २५ ॥

नेपथ्यदर्शिनश्छाया तस्यादर्शे हिरण्मये ।
विरराजोदिते सूर्ये मेरौ कल्पतरोरिव ॥ २६ ॥

नेपथ्येति । हिरण्मये सौवर्ण आदर्शे दर्पणे नेपथ्यदर्शिनो वेषं पश्यतस्तस्यातिथेश्छाया प्रतिबिम्बम् । उदिते सूर्ये दर्पणकल्पे मेरौ यः कल्पतरुस्तस्य छायेव विरराज । तस्य सूर्यसङ्क्रान्तबिम्बस्य सम्भवान्मेरावित्युक्तम् ॥ २६ ॥

सुवर्णके बने दर्पणमें शृङ्गारको देखनेवाले उस 'अतिथि' का प्रतिबिम्ब सूर्योदय होनेपर सुमेरु पर्वतमें कल्पवृक्षके (प्रतिबिम्बके) समान शोभित हुआ ॥ २६ ॥

स राजककुदव्यग्रपाणिभिः पार्श्ववर्तिभिः ।
ययावुदीरितालोकः सुधर्मानवमां सभाम् ॥ २७ ॥

स इति । सोऽतिथी राजककुदानि राजचिह्नानि छत्रचामरादीनि । 'प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । तेषु व्यग्राः पाणयो येषां तैः पार्श्ववर्तिभिर्जनैरुदीरितालोक उच्चारितजयशब्दः । 'आलोको जयशब्दः स्यात्' इति हलायुधः । सुधर्माया देवसभाया अनवमामन्यूनां सभामास्थानीं ययौ । 'स्यात्सुधर्मा देवसभा' इत्यमरः ॥ २७ ॥

राजचिह्न (छत्र-चामर आदि धारण करने) से व्यस्त हाथोंवाले पार्श्ववर्ती लोगोंसे

जय-जयकार किये जाते हुए वे 'अतिथि' इन्द्रसभाके समान सभा (-भवन) में पहुंचे ॥

वितानसहितं तत्र भेजे पैतृकमासनम् ।
चूडामणिभिरुद्घृष्टपादपीठं महीक्षिताम् ॥ २८ ॥

वितानेति। तत्र सभायां वितानेनोल्लोचेन सहितम् । 'अस्त्री वितानमुल्लोच' इत्यमरः । महीक्षितां राज्ञां चूडामणिभिः शिरोरत्नैरुद्घृष्टमुल्लिखितं पादपीठं यस्य तत्। पितुरिदं पैतृकम्। "ऋतष्ठञ्" इति ठञ्प्रत्ययः। आसनं सिंहासनं भेजे ॥२८॥

वहांपर चँदोवा लगे हुए तथा राजाओंके मुकुटमणियोंसे उल्लिखित (प्रणाम करते हुए राजाओंके मुकुटमणियोंसे छूए गये) पिताके सिंहासनपर बैठे ॥ २८ ॥

शुशुभे तेन चाक्रान्तं मङ्गलायतनं महत् ।
श्रीवत्सलक्षणं वक्षः कौस्तुभेनेव कैशवम् ॥ २९ ॥

शुशुभ इति। तेन चाक्रान्तम्। श्रीवत्सो नाम चिह्नविशेषः। तल्लक्षणं श्रीवत्सरूपम् । 'श्रीवत्सनन्द्यावर्तादिविच्छेदा बहवो द्वयोः' इति सज्जनः । महदधिकं मङ्गलायतनं मङ्गलगृहसभारूम् । कौस्तुभेन मणिनाऽऽक्रान्तं श्रीवत्सलक्षणम् । केशवस्येदं कैशवम्। वक्ष इव शुशुभे ॥ २९ ॥

उस 'अतिथि' से युक्त विशाल एवं मङ्गल स्थान वह 'श्रीवत्स' नामक गृह-विशेष 'कौस्तुभ' मणिसे युक्त महामङ्गल-स्थान श्रीवत्स (विष्णु भगवान्‌की छातीका चिह्न-विशेष) से चिह्नित विष्णुकी छातीके समान शोभित हुआ ॥ २९ ॥

बभौ भूयः कुमारत्वादाधिराज्यमवाप्य सः ।
रेखाभावादुपारूढः सामग्र्यमिव चन्द्रमाः ॥ ३० ॥

बभाविति । सोऽतिथिः कुमारत्वाद्बाल्याद्भूयो यौवराज्यमवाप्यैवानन्तरम्। अधिराजस्य भाव आधिराज्यं महाराज्यमवाप्य । रेखाभावादर्धेन्दुत्वमवाप्यैव सामग्र्यमुपारूढः पूर्णतां गतश्चन्द्रमा इव बभौ इति व्याख्यानम्। तदपि यौवराज्याभावनिश्चये ज्याय एव ॥ ३० ॥

वे 'अतिथि' कुमारभाव होनेसे युवराजपदको प्राप्तकर तथा बादमें राज्यश्रीको प्राप्तकर रेखारूपसे पूर्णताको प्राप्त हुये अर्थात् चन्द्रमाके समान शोभित हुए ॥ ३० ॥

प्रसन्नमुखरागं तं स्मितपूर्वाभिभाषिणम् ।
मूर्तिमन्तममन्यन्त विश्वासमनुजीविनः ॥ ३१ ॥

प्रसन्नेति। प्रसन्नो मुखरागो मुखकान्तिर्यस्य तं स्मितपूर्वं यथा तथाऽभिभाषिणमाभाषणशीलं तमतिथिमनुजीविनः सेवकाः मूर्तिमन्तं विग्रहवन्तं विश्वासं विस्रम्भममन्यन्त। 'समौ विस्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः ॥ ३१ ॥

अनुचरोंने प्रसन्न मुखकान्तिवाले तथा पहले मुस्कराकर भाषण करनेवाले उस 'अतिथि' को मूर्तिमान् विश्वास जैसा माना ॥ ३१ ॥

स पुरं पुरुहूतश्रीः कल्पद्रुमनिभध्वजाम् ।
क्रममाणश्चकार द्यां नागेनैरावतौजसा ॥ ३२ ॥

स इति । पुरुहूतश्रीः सोऽतिथिः कल्पद्रुमाणां निभाः समाना ध्वजा यस्यास्तां पुरमयोध्यामैरावतस्य ओज इवौजो बलं यस्य तेन नागेन कुञ्जरेण क्रममाणश्चरन् । "अनुपसर्गाद्वा" इति वैकल्पिकमात्मनेपदम् । द्यां चकार, स्वर्गलोकसदृशीं चकारेत्यर्थः । 'द्यौः स्वर्गसुरवर्त्मनोः' इति विश्वः ॥ ३२ ॥

इन्द्रके समान श्रीवाले उस 'अतिथि' ने कल्पवृक्षके समान पताकाओंवाली (अयोध्या) नगरीको ऐरावतके समान बलवान् हाथीसे घूमते हुए, स्वर्ग (के समान) बना दिया॥३२॥

तस्यैकस्योच्छ्रितं छत्रं मूर्ध्नि तेनामलत्विषा ।
पूर्वराजवियोगौष्म्यं कृत्स्नस्य जगतो हृतम् ॥ ३३ ॥

तस्येति । तस्यैकस्य मूर्ध्नि छत्रमुच्छ्रितमुन्नमितम् । अमलत्विषा तेन छत्रेण कृत्स्नस्य जगतः पूर्वराजस्य कुशस्य वियोगेन यदौष्म्यं सन्तापस्तद्धृतं नाशितम् । अत्र छत्रोन्नमनसन्तापहरणलक्षणयोः कारणकार्ययोर्भिन्नदेशत्वादसङ्गतिरलङ्कारः । तदुक्तम्—"कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे सत्यसङ्गतिः" इति ॥ ३३ ॥

उस एक 'अतिथि' के मस्तक पर छत्र लगा हुआ था, (किन्तु) उस श्वेतच्छत्रने सम्पूर्ण जगत् (प्रजा) के पूर्व पहले राजा (कुश) के विरहसे उत्पन्न सन्तापको दूर कर दिया। (एक व्यक्तिके छत्रका संसारके सन्तापको दूर करना आश्चर्यजनक है। यह अद्भुत कार्य राजा 'अतिथि' के प्रतापसे हुआ) ॥ ३३ ॥

धूमादग्नेः शिखाः पश्चादुदयादंशवो रवेः ।
साऽतीत्य तेजसां वृत्तिं सममेवोत्थितो गुणैः ॥ ३४ ॥

धूमादिति । अग्नेर्धूमात्पश्चात्, अनन्तरमित्यर्थः । शिखा ज्वालाः । रवेरुदयात्पश्चादनन्तरमंशवः । उत्तिष्ठन्त इति शेषः । सोऽतिथिस्तेजसामग्न्यादीनां वृत्तिं स्वभावमतीत्य गुणैः समं सहैवोत्थित उदितः, अपूर्वमिदमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

अग्निकी ज्वाला (धूम) के बाद तथा सूर्यकी किरणें उदयके बाद दृष्टिगोचर होती हैं, किन्तु वे 'अतिथि' तेजस्वियों (अग्नि आदि) के स्वभावका अतिक्रमणकर गुणों (प्रताप, दया, दाक्षिण्य आदि) के साथ ही उदित हुए ॥ ३४ ॥ ॥

तं प्रीतिविशदैर्नेत्रैरन्वयुः पौरयोषितः ।
शरत्प्रसन्नैर्ज्योतिर्भिर्विभावर्य इव ध्रुवम् ॥ ३५ ॥

तमिति । पौरयोषितः प्रीत्या विशदैः प्रसन्नैर्नेत्रैः करणैस्तमतिथिमन्वयुरनुजग्मुः, सदृष्टिप्रसारमद्राक्षुरित्यर्थः । कथमिव । शरदि प्रसन्नैर्ज्योतिर्भिर्नक्षत्रैर्विभावर्यो रात्रयो ध्रुवमिव, ध्रुवपाशबद्धत्वात्ताराचक्रस्येत्यर्थः ॥ ३५ ॥

नगरकी नारियोंने प्रेमसे प्रसन्न नेत्रोंसे, निर्मल ताराओंसे ध्रुवका रात्रिओंके समान उस 'अतिथि' का अनुगमन किया अर्थात् प्रसन्न नेत्रोंसे उस 'अतिथि' को देखा ॥ ३५ ॥

अयोध्यादेवताश्चैनं प्रशस्तायतनार्चिताः ।
अनुदध्युरनुध्येयं सान्निध्यैः प्रतिमागतैः ॥ ३६ ॥

अयोध्येति । प्रशस्तेष्वायतनेष्वालयेष्वर्चिता अयोध्यादेवताश्चानुध्येयमनुग्राह्यमेनमतिथिं प्रतिमागतैरर्चासङ्क्रान्तैः सान्निध्यैः सन्निधानैरनुदध्युरनुजगृहुः । "अनुध्यानमनुग्रहः" इत्युत्पलमालायाम् । तदनुग्रहबुद्ध्या सन्निदधुरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

श्रेष्ठ देवमन्दिरोंमें पूजित अयोध्यापुरीस्थ देवताओंने भी अनुग्रहके योग्य इस 'अतिथि' पर प्रतिमाओंमें आये हुए अपने सामीप्यसे अनुग्रह किया अर्थात् पूजाकालमें प्रतिमाओंमें आकर पूजन स्वीकार करनेसे उनको अनुगृहीत किया ॥ ३६ ॥

यावन्नाश्यायते वेदिरभिषेकजलाप्लुता ।
तावदेवास्य वेलाऽन्तं प्रतापः प्राप दुःसहः ॥ ३७ ॥

यावन्नेति । अभिषेकजलैराप्लुता सिक्ता वेदिरभिषेकवेदिर्यावन्नाश्यायते न शुष्यति । कर्तरि लट् । तावदेवास्य राज्ञो दुःसहः प्रतापो वेलाऽन्तं वेलापर्यन्तं प्राप ॥३७॥

राज्याभिषेकके जलसे भींगी हुई वेदी जबतक सूखने भी नहीं पायी, तभीतक इस 'अतिथि' का दुःसह प्रताप समुद्रतटतक पहुंच गया ॥ ३७ ॥

वसिष्ठस्य गुरोर्मन्त्राः सायकास्तस्य धन्विनः ।
किं तत्साध्यं यदुभये साधयेयुर्न सङ्गताः ॥ ३८ ॥

वसिष्ठस्येति । गुरोर्वसिष्ठस्य मन्त्राः । धन्विनस्तस्यातिथेः सायकाः । इत्युभये सङ्गताः सन्तो यत्साध्यं न साधयेयुस्तत्तादृक्साध्यं किम् , न किञ्चिदित्यर्थः । तेषामसाध्यं नास्तीति भावः ॥ ३८ ॥

गुरु वसिष्ठके मन्त्र तथा धनुर्धारी उस 'अतिथि' के बाण ये दोनों मिलकर वह कौन-सा कार्य था, जिसे सिद्ध न कर सकें अर्थात् उनके लिये कोई कार्य असाध्य नहीं था ॥३८॥

स धर्मस्थसखः शश्वदर्थिप्रत्यर्थिनां स्वयम् ।
ददर्श संशयच्छेद्यान्व्यवहारानतन्द्रितः ॥ ३९ ॥

स इति । धर्मे तिष्ठन्तीति धर्मस्थाः सभ्याः । "राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः" इत्युक्तलक्षणाः । तेषां सखा धर्मस्थसखः, तत्सहित इत्यर्थः । अतन्द्रितोऽनलसः स नृपः शश्वत् , अन्वहमित्यर्थः । अर्थिनां साध्यार्थवतां प्रत्यर्थिनां तद्विरोधिनां च संशयच्छेद्यान्संशयाद्धेतोश्छेद्यान्परिच्छेद्यान् , सन्दिग्धत्वादवश्यनिर्णेयानित्यर्थः । व्यवहारानृणादानादिविवादान्स्वयं ददर्शानुसन्दधौ, न तु प्राड्विवाकमेव नियुक्तवानित्यर्थः । अत्र याज्ञवल्क्यः-"व्यवहारान्नृपः पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह" इति ॥ ३९ ॥

वह 'अतिथि' धार्मिक सभासदोंके साथ निरालस होकर अर्थी तथा प्रत्यर्थी (मुद्दई-मुद्दालह) के सन्दिग्ध विवादों (मुकदमों) को स्वयं देखता था ॥ ३९ ॥

ततः परमभिव्यक्तसौमनस्यनिवेदितैः ।
युयोज पाकाभिमुखैर्भृत्यान्विज्ञापनाफलैः ॥ ४० ॥

तत इति । ततः परं व्यवहारदर्शनान्तरं भृत्याननुजीविनः । अभिव्यक्तं मुखप्रसादादिलिङ्गैः स्फुटीभूतं यत्सौमनस्यं स्वामिनः प्रसन्नत्वं तेन निवेदितैः सूचितैः पाकाभिमुखैः सिद्ध्युन्मुखैर्विज्ञापनानां विज्ञप्तीनां फलैः प्रेप्सितार्थैर्युयोज योजयामास । अत्र बृहस्पतिः-"नियुक्तः कर्मनिष्पत्तौ विज्ञप्तौ च यदृच्छया । भृत्यान्धनैर्मानयंस्तु नवोऽप्यक्षोभ्यतां व्रजेत् ॥" इति । कविश्च वक्ष्यति-"अक्षोभ्यः स नवोऽप्यासीत्" इत्यादिना । अत्र सौमनस्यफलयोजनादिभिर्नृपस्य वृत्तसमाधिर्व्यन्यत इत्यनुसन्धेयम् ॥ ४० ॥

इसके बाद (मुख प्रसन्नता आदिसे) स्पष्ट प्रसन्नताको सूचित करनेवाले तथा सिद्ध होनेवाले सूचनाओंके फलों (पारितोषिकों) से भृत्योंको युक्त किया अर्थात् कार्यसाधक भृत्योंको प्रसन्न होकर पारितोषिक दिया ॥ ४० ॥

प्रजास्तद्गुरुणा नद्यो नभसेव विवर्धिताः ।
तस्मिंस्तु भूयसीं वृद्धिं नभस्ये ता इवाययुः ॥ ४१ ॥

प्रजा इति । प्रजास्तस्यातिथेर्गुरुणा पित्रा कुशेन । नभसा श्रावणमासेन नद्य इव विवर्धिताः । तस्मिन्नतिथौ तु नभस्ये भाद्रपदे मासे ता इव नद्य इव भूयसीं वृद्धिमभ्युदयमाययुः, प्रजापोषणेन पितरमतिशयितवानित्यर्थः ॥ ४१ ॥

प्रजाएं उस 'अतिथि' के पितासे श्रावणमास (की वृष्टि) से नदियोंके समान बढ़ीं तथा उस 'अतिथि' के राजा होनेपर तो भाद्रपदमासमें उन (नदियों) के समान अत्यधिक वृद्धि (उन्नति) प्राप्त की ॥ ४१ ॥

यदुवाच न तन्मिथ्या यद्ददौ न जहार तत् ।
सोऽभूद्भग्नव्रतः शत्रूनुद्धृत्य प्रतिरोपयन् ॥ ४२ ॥

यदिति । सोऽतिथिर्यद्वाक्यं दानत्राणादिविषयमुवाच तन्न मिथ्याऽनृतं नाभूत् । यद्वस्तु ददौ तन्न जहार न पुनराददे । किन्तु शत्रूनुद्धृत्योत्खाय प्रतिरोपयन्पुनः स्थापयन्भग्नव्रतो भग्ननियमोऽभूत् ॥ ४२ ॥

उस 'अतिथि' ने जो कहा, वह असत्य नहीं हुआ अर्थात् वैसा ही किया तथा जो (दान आदि) दिया, उसे हरण नहीं किया अर्थात् पुनः वापस नहीं लिया; (सर्वदा उन्होंने सत्यव्रतका पालन किया); किन्तु शत्रुओंका उन्मूलनकर पुनः उस राज्यपर स्थापित करते हुए (राज्य भ्रष्टकर पुनः उनको उन्हींका राज्य वापस करते हुए) वे 'अतिथि' भग्न व्रतवाले हुए ॥ ४२ ॥

वयोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम्।
तानि तस्मिन्समस्तानि न तस्योत्सिषिचे मनः॥ ४३॥

वय इति। वयोरूपविभूतीनां यौवनसौन्दर्यैश्वर्याणां मध्य एकेकं मदकारणं मदहेतुः। तानि मदकारणानि तस्मिन् राज्ञि समस्तानि। मिलितानीति शेषः। तथाऽपि तस्यातिथेर्मनो नोत्सिषिचे न जगर्व। सिञ्चतेः स्वरितेत्वादात्मनेपदम्। अत्र वयोरूपादीनां गर्वहेतुत्वान्मदस्य च मदिराकार्यत्वेनातत्कारकत्वान्मदशब्देन गर्वो लक्ष्यत इत्याहुः। उक्तं च-"ऐश्वर्यरूपतारुण्यकुलविद्याबलैरपि। इष्टलाभादिना ह्येषामवज्ञा गर्व ईरितः। मदस्त्वानन्दसम्मोहः सम्भेदो मदिराकृतः॥" इति। अत एव कविनाऽपि 'उत्सिषिचे' इत्युक्तम्। न तु 'उन्माद' इति ॥ ४३॥

अवस्था (युवावस्था), सुन्दर रूप तथा ऐश्वर्य; इनमेंसे एक-एक गर्वका कारण होता है और उस 'अतिथि' में वे तीनों विद्यमान थे; किन्तु उनका मन गर्वित नहीं हुआ ॥४३॥

इत्थं जनितरागासु प्रकृतिष्वनुवासरम्।
अक्षोभ्यः स नवोऽप्यासीद् दृढमूल इव द्रुमः॥ ४४॥

इत्थमिति। इत्थमनुवासरमन्वहं प्रकृतिषु प्रजासु जनितरागासु जनित उत्पन्नो रागः प्रीतिर्यासु तासु सतीषु स राजा नवोऽपि। दृढमूलो द्रुम इव। अक्षोभ्योऽप्रधृष्य आसीत्॥ ४४॥

इस प्रकार प्रतिदिन अनुरक्त प्रजाओंमें वे 'अतिथि' नये होते हुए भी दृढ़ जड़वाले वृक्षके समान क्षोभरहित (अजेय) थे ॥ ४४॥

अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः।
अतः सोऽभ्यन्तरान्नित्यान्षट् पूर्वमजयद्रिपून्॥ ४५॥

अनित्या इति। यतो बाह्याः शत्रवः प्रतिनृपा अनित्याः, द्विषन्ति स्निह्यन्ति चेत्यर्थः। किञ्च। ते बाह्या विप्रकृष्टा दूरस्थाश्च। अतः सोऽभ्यन्तरानन्तर्वर्तिनो नित्यान्षड्रिपून्कामक्रोधादीन्पूर्वमजयत्। अन्तःशत्रुजये बाह्या अपि न दुर्जया इति भावः॥ ४५॥

बाहरी शत्रु (अन्य राजा आदि) अनित्य हैं और वे दूर भी रहते हैं, अतएव उस 'अतिथि' ने पहले अपने भीतर रहनेवाले तथा नित्य छः शत्रुओं (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य) को जीत लिया॥ ४५॥

प्रसादाभिमुखे तस्मिंश्चपलाऽपि स्वभावतः।
निकषे हेमरेखेव श्रीरासीदनपायिनी॥ ४६॥

प्रसादाभिमुख इति। स्वभावतश्चपलाऽपि श्रीः प्रसादाभिमुखे तस्मिन्नृपे। निकषे निकषोपले हेमरेखेव। अनपायिनी स्थिराऽऽसीत्॥ ४६॥

स्वभावसे ही चञ्चल भी लक्ष्मी प्रसन्न उस राजामें कसौटीपर स्वर्ण-रेखाके समान स्थिर बनी रही ॥ ४६ ॥

कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम् ।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः ॥ ४७ ॥

कातर्यमिति । केवला शौर्यवर्जिता नीतिः कातर्यं भीरुत्वम् । शौर्यं केवलमित्यनुषञ्जनीयम् । केवलं नीतिरहितं शौर्यं श्वापदचेष्टितम्, व्याघ्रादिचेष्टाप्रायमित्यर्थः । 'व्याघ्रादयो वनचराः पशवः श्वापदा मताः' इति हलायुधः । अतो हेतोः सोऽतिथिः समेताभ्यां सङ्गताभ्यामुभाभ्यां नीतिशौर्याभ्यां सिद्धिं जयप्राप्तिमन्वियेष गवेषितवान् ॥ ४७ ॥

केवल (शूरताहीन) राजनीति (से ही कार्य करना) कायरता है तथा केवल (राजनीतिहीन) शूरता (से ही कार्य करना) हिंसक जन्तुओं (व्याघ्र-सिंह आदि) की चेष्टा (के समान) है। अतः उस 'अतिथि' ने सम्मिलित उन दोनों (राजनीति तथा शूरता) से सिद्धिकी खोज की अर्थात् समयानुसार राजनीति और वीरता; दोनोंका आश्रयकर कार्यसिद्धि करनेकी चेष्टा की ॥ ४७ ॥

न तस्य मण्डले राज्ञो न्यस्तप्रणिधिदीधितेः ।
अदृष्टमभवत्किञ्चिद्व्यभ्रस्येव विवस्वतः ॥ ४८ ॥

नेति । न्यस्ताः सर्वतः प्रहिताः प्रणिधयश्चरा एव दीधितयो रश्मयो यस्य तस्य । 'प्रणिधिः प्रार्थने चरे' इति शाश्वतः । तस्य राज्ञः । व्यभ्रस्य निर्मेघस्य विवस्वतः सूर्यस्येव । मण्डले स्वविषये किञ्चिदल्पमप्यदृष्टमज्ञातं नाभवन्नासीत् , स चारचक्षुषा सर्वमपश्यदित्यर्थः ॥ ४८ ॥

नियुक्त किये गये गुप्तचररूप किरणोंवाले उस राजाके देश अर्थात् राज्यमें गुप्तचरोंके समान फैलाये गये किरणोंवाले मेघरहित सूर्यके मण्डलके समान कोई भी (शत्रुकार्य या पदार्थ) अदृष्ट (अप्रत्यक्ष, अज्ञात) नहीं रहा। (सर्वत्र नियुक्त गुप्तचरोंके द्वारा वे अतिथि समस्त राज्यके कार्योंको मालूम करते थे) ॥ ४८ ॥

रात्रिन्दिवविभागेषु यदादिष्टं महीक्षिताम् ।
तत्सिषेवे नियोगेन स विकल्पपराङ्मुखः ॥ ४९ ॥

रात्रिन्दिवमिति । रात्रौ च दिवा च रात्रिन्दिवम् । "अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुह–" इत्यादिनाऽधिकरणार्थे द्वन्द्वेऽच्प्रत्ययान्तो निपातः । अव्ययान्तत्वादव्ययत्वम् । अत्र षष्ठ्यर्थलक्षणया रात्रिन्दिवमिति, अहोरात्रयोरित्यर्थः । तयोर्विभागा अंशाः प्रहरादयः । तेषु महीक्षितां राज्ञां यदादिष्टमिदमस्मिन्काले कर्तव्यमिति मन्वादिभिरुपदिष्टं तत्स राजा विकल्पपराङ्मुखः संशयरहितः सन् । नियोगेन निश्चयेन सिषेवे, अनुष्ठितवानित्यर्थः । अत्र कौटिल्यः—"कार्याणां नियोगविकल्पस-

मुच्चया भवन्ति। अनेनैवोपायेन नान्येनेति नियोगः। अनेन वाक्येन वेति विकल्पः। अनेन चेति समुच्चयः" इति ॥ ४९ ॥

(राजनीतिकारोंने) रात-दिनके विभागोंमें राजाओंके लिये जो कुछ (कार्य करनेके लिये) कहा है, संशयरहित उस 'अतिथि' ने उसका नियमसे पालन किया अर्थात् राजनीतिशास्त्रकारोंके कथनानुसार रात-दिनके समयको विभागकर उस 'अतिथि' राजाने सब कार्योंका निरीक्षण किया ॥ ४९ ॥

मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः।
स जातु सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते ॥ ५० ॥

मन्त्र इति। तस्य राज्ञः प्रतिदिनं मन्त्रिभिः सह मन्त्रो विचारो बभूव। स मन्त्रः सेव्यमानोऽप्यन्वहमावर्त्यमानोऽपि जातु कदाचिदपि न सूच्यते न प्रकाश्यते। तत्र हेतुर्गुप्तद्वार इति संवृतेङ्गितकारादिज्ञानमार्ग इत्यर्थः ॥ ५० ॥

प्रतिदिन मन्त्रियोंके साथ उस 'अतिथि' की गुप्तमार्गवाली मन्त्रणा (गुप्त परामर्श) होती थी, रात-दिन की जाती हुई भी वह मन्त्रणा (किसीको) मालूम नहीं पड़ती थी ॥५०॥

परेषु स्वेषु च क्षिप्तैरविज्ञातपरस्परैः।
सोऽपसर्पैर्जजागार यथाकालं स्वपन्नपि ॥ ५१ ॥

परेष्विति। यथाकालमुक्तकालानतिक्रमेण स्वपन्नपि सोऽतिथिः परेषु शत्रुषु स्वेषु स्वकीयेषु च। मन्त्र्यादितीर्थेष्विति शेषः। क्षिप्तैः प्रहितैरविज्ञाताः परस्परे येषां तैः, अन्योन्याविज्ञातैरित्यर्थः। अपसर्पैश्चरैः। 'अपसर्पश्चरः स्पशः' इत्यमरः। जजागार बुद्धवान्, चारमुखेन सर्वमज्ञासीदित्यर्थः। अत्र कामन्दकः—"चारान्विचारयेत्तीर्थेष्वात्मनश्च परस्य च। पाषण्ड्यादीनविज्ञातानन्योन्यमितरैरपि ॥" इति ॥ ५१ ॥

यथासमय सोते हुए भी वे 'अतिथि' राजा शत्रुओं (के देशों) में तथा आत्मीय (मन्त्री-सेनापति आदि प्रकृतियों) में भेजे गये तथा आपसमें अपरिचित (एक दूसरेको गुप्तचर नहीं जाननेवाले) गुप्तचरोंसे निरन्तर जागरूक रहते थे ॥ ५१ ॥

दुर्गाणि दुर्ग्रहाण्यासंस्तस्य रोद्धुरपि द्विषाम्।
न हि सिंहो गजास्कन्दी भयाद् गिरिगुहाशयः ॥ ५२ ॥

दुर्गाणीति। द्विषां रोद्धू रोधकस्यापि, न तु स्वयं रोध्यस्येत्यर्थः। तस्य राज्ञो दुर्ग्रहाणि परैर्दुर्धर्षाणि दुर्गाणि महीदुर्गादीन्यासन्। न च निर्भीकस्य किं दुर्गैरिति वाच्यमित्यर्थान्तरन्यासमुखेनाह—न हीति। गजानास्कन्दति हिनस्तीती गजास्कन्दी सिंहो भयाद्धेतोः। गिरिगुहासु शेत इति गिरिगुहाशयो न हि, किन्तु स्वभावत एवेति शेषः। "अधिकरणे शेतेः" इत्यच्प्रत्ययः। अत्र मनुः-"धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा। नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥" इति ॥ ५२ ॥

शत्रुओंको रोकनेवाले भी उस 'अतिथि' के किले दुर्जेय थे; क्योंकि हाथियोंपर आक्रमण करनेवाला सिंह भयसे पहाड़की कन्दरामें नहीं सोता है। (किन्तु जैसे निर्भीक होकर भी सिंह सुरक्षित पर्वत-कन्दरामें सोता है, वैसे ही निर्भीक भी उस 'अतिथि' के किले शत्रुओं-के अजेय थे) ॥ ५२ ॥

भव्यमुख्याः समारम्भाः प्रत्यवेक्ष्या निरत्यया ।
गर्भशालिसधर्माणस्तस्य गूढं विपेचिरे ॥ ५३ ॥

भव्यमुख्या इति । भव्यमुख्याः कल्याणप्रधानाः, न तु विपरीताः । प्रत्यवेक्ष्या एतावत्कृतमेतावत्कर्तव्यमित्यनुसन्धानेन विचारणीयाः । अत एव निरत्यया निर्बाधा गर्भेऽभ्यन्तरे पच्यन्ते ये शालयस्तेषां सधर्माणः, अतिनिगूढा इत्यर्थः । "धर्माद-निच्केवलात्" इत्यनिच्प्रत्ययः समासान्तः । तस्य राज्ञः समारभ्यन्त इति सामा-रम्भाः कर्माणि गूढमप्रकाशं विपेचिरे, फलिता इत्यर्थः । 'फलानुमेयाः प्रारम्भाः' इति भावः ॥ ५३ ॥

प्रधानतः कल्याणकारी, विचारणीय (इतना कार्य पूर्ण हो चुका, अब इतना कार्य करना है इत्यादि प्रकारसे विचार करने योग्य, अतएव) विघ्नरहित तथा भीतरमें ही पकने वाले (साठी नामक) धानके समान धर्मवाले अर्थात् बाहर बिना प्रकाशित हुए ही सफल होनेवाले, उस 'अतिथि' के कार्य गुप्तरूपसे परिपक्व (सफल) होते थे अर्थात् फल-सिद्धि होनेपर ही उनके कार्यका अनुमान होता था ॥ ५३ ॥

अपथेन प्रववृते न जातूपचितोऽपि सः ।
वृद्धौ नदीमुखेनैव प्रस्थानं लवणाम्भसः ॥ ५४ ॥

अपथेनेति । सोऽतिथिरुपचितोऽपि वृद्धिं गतोऽपि सन् । जातु कदाचिदप्यपथेन कुमार्गेण न प्रववृते न प्रवृत्तः, मर्यादां न जहावित्यर्थः । तथा हि, लवणाम्भसो लव-णसागरस्य वृद्धौ पूरोत्पीडे सत्यां नदीमुखेनैव नदीप्रवेशमार्गेणैव प्रस्थानं निःसर-णम्, न त्वन्यथेत्यर्थः ॥ ५४ ॥

वृद्धिको प्राप्त भी उस 'अतिथि' ने कभी भी कुमार्ग को नहीं पकड़ा; क्योंकि बढ़नेपर भी क्षार-समुद्र नदीके रास्तेसे ही चलता है ॥ ५४ ॥

कामं प्रकृतिवैराग्यं सद्यः शमयितुं क्षमः ।
यस्य कार्यः प्रतीकारः स तन्नैवोदपादयत् ॥ ५५ ॥

काममिति । प्रकृतिवैराग्यं प्रजाविरागम् । दैवादुत्पन्नमिति शेषः । सद्यः कामं सम्यक्शमयितुं प्रतिकर्तुं क्षमः शक्तः स राजा यस्य प्रकृतिवैराग्यस्य प्रतीकारः कार्यः कर्तव्यः, अनर्थहेतुत्वादित्यर्थः । तद्वैराग्यं नोदपादयत् । उत्पन्नप्रतीकारादनुत्पादनं वरमिति भावः । अत्र कौटिल्यः—"क्षीणाः प्रकृतयो लोभं लुब्धा यान्ति विरागताम् ।

विरक्ता यान्त्यमित्रं वा भर्तारं घ्नन्ति वा स्वयम् ॥" तस्मात्प्रकृतीनां विरागकारणानि नोत्पादयेदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

प्रजाके वैराग्य (उत्पन्न प्रेमका अभाव) को तत्काल शान्त करनेमें समर्थ भी उस 'अतिथि' ने जिस (वैराग्य अर्थात् प्रेमाभाव या विरोध) को शान्त करना पड़े, उसको पैदा होने नहीं दिया । ("प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" नीति के अनुसार उस 'अतिथि' राजाने प्रजाओंमें उत्पन्न विरोधको शक्तिसे दबानेकी अपेक्षा उसे पैदा ही न होने देना अच्छा समझा) ॥ ५५ ॥

शक्येष्वेवाभवद्यात्रा तस्य शक्तिमतः सतः ।
समीरणसहायोऽपि नाम्भः प्रार्थी दवानलः ॥ ५६ ॥

शक्येष्विति । शक्तिमतः शक्तिसम्पन्नस्यापि सतस्तस्य राज्ञः शक्येषु शक्तिविषयेषु स्वस्माद्धीनबलेष्वेव विषये यात्रा दण्डयात्रा अभवत्, न तु समधिकेष्वित्यर्थः । तथा हि, समीरणसहायोऽपि दवानलोऽम्भःप्रार्थी जलान्वेषी न । दग्धुमिति शेषः । किन्तु तृणकाष्ठादिकमेवान्विष्यतीत्यर्थः । अत्र कौटिल्यः—"समज्यायोभ्यां सन्दधीत हीनेन विगृह्णीयाद्" इति ॥ ५६ ॥

शक्तिशाली भी उस 'अतिथि' की यात्रा (चढ़ाई) शक्य (जीतने योग्य अपनेसे दुर्बल राजाओं) पर ही हुई; क्योंकि वायुक सहायक होनेपर भी दावाग्नि जलकी चाहना नहीं करती अर्थात् जलको जलानेकी इच्छा नहीं करती (अपितु तृण-काष्ठादिको ही जलाती है) ॥

न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु ॥ ५७ ॥

नेति । स राजाऽर्थकामाभ्यां धर्मं न बबाधे न नाशितवान् । तेन धर्मेण च तावर्थकामौ न । अर्थं कामेन कामं वाऽर्थेन न बबाधे, एकत्रैवासक्तो नाभूदित्यर्थः । किन्तु त्रिषु धर्मार्थकामेषु सदृशस्तुल्यवृत्तिः अभूदित्यर्थः ॥ ५७ ॥

तीनों (अर्थ, धर्म तथा काम) में समान वृत्तिवाले उस 'अतिथि' राजाने अर्थ और कामसे धर्मको, धर्मसे अर्थ और कामको, अथवा कामसे अर्थको और अर्थसे कामको पीडित नहीं किया अर्थात् धर्म, अर्थ और काम तीनोंका समान रूपसे सेवन किया ॥ ५७ ॥

हीनान्यनुपकर्तॄणि प्रवृद्धानि विकुर्वते ।
तेन मध्यमशक्तीनि मित्त्राणि स्थापितान्यतः ॥ ५८ ॥

हीनानीति । मित्राणि हीनान्यतिक्षीणानि चेदनुपकर्तॄण्यनुपकारीणि । प्रवृद्धान्यतिसमृद्धानि चेद्विकुर्वते विरुद्धं चेष्टन्ते, अपकुर्वत इत्यर्थः । "अकर्मकाच्च" इत्यात्मनेपदम् । अतः कारणात्तेन राज्ञा मित्राणि सुहृदः । 'मित्रं सुहृदि मित्रोऽर्के' इति विश्वः । मध्यमशक्तीनि नातिक्षीणोच्छ्रितानि यथा तथा स्थापितानि ॥ ५८ ॥

दुर्बल मित्र कोई लाभ नहीं पहुंचाते तथा बलवान् मित्र विकारयुक्त हो जाते अर्थात्

हानि पहुंचाते हैं; अतएव उस 'अतिथि' ने मध्यम शक्तिवाले (राजाओं) को मित्र बनाया ॥

"शक्येष्वेवाभवद्यात्रा" इत्यादिनोक्तमर्थं सोपस्कारमाह—

परात्मनोः परिच्छिद्य शक्त्यादीनां बलाबलम् ।
ययावेभिर्बलिष्ठश्चेत्परस्मादास्त सोऽन्यथा ॥ ५९ ॥

परात्मन इति । सोऽतिथिः परात्मनोः शत्रोरात्मनश्च शक्त्यादीनां शक्तिदेशकालादीनां बलाबलं न्यूनाधिकभावं परिच्छिद्य निश्चित्य । एभिः शक्त्यादिभिः परस्माच्छत्रोर्बलिष्ठः स्वयमतिशयेन बलवांश्चेत् । बलशब्दान्मतुबन्तादिष्ठन्प्रत्ययः । "विन्मतोर्लुक्" इति मतुपो लुक् । ययौ यात्रां चक्रे । अन्यथा बलिष्ठश्चेदास्तातिष्ठत्, न ययावित्यर्थः । अत्र मनुः—"यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् । परस्य विपरीतं चेत्तदा यायादरीन्प्रति ॥ यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च । तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन् ॥" इति ॥ ५९ ॥

शत्रुओंका तथा अपने बलाबलका निश्चय करके वे 'अतिथि' राजा शत्रुसे अधिक बलवान् होते थे तब यात्रा अर्थात् उस दुर्बल शत्रु पर चढ़ाई करते थे; नहीं तो (शत्रुको अपनेसे अधिक बलवान् होनेपर) बैठ जाते थे अर्थात् उस बलवान् शत्रुपर चढ़ाई नहीं करते थे ॥

कोशेनाश्रयणीयत्वमिति तस्यार्थसङ्ग्रहः ।
अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते ॥ ६० ॥

कोशेनेति । कोशेनार्थचयेनाश्रयणीयत्वं भजनीयत्वम् । भवतीति शेषः । इति हेतोस्तस्य राज्ञः कर्तुः अर्थसङ्ग्रहः, न तु लोभादित्यर्थः । तथा हि, अम्बु गर्भे यस्य सोऽम्बुगर्भः । जीवनस्य जलस्य मूतः पुटबन्धो जीमूतो मेघः । "मूङ् बन्धने" पृषोदरादित्वात्साधुः । चातकैरभिनन्द्यते सेव्यते । अत्र कामन्दकः—"धर्महेतोस्तथार्थाय भृत्यानां रक्षणाय च । आपदर्थं च संरक्ष्यः कोशो धर्मवता सदा ॥" इति ॥६०॥

कोषसे आश्रयणीयता होती है अर्थात् लोग धनिक व्यक्तियोंका ही आश्रय करते हैं, इसीलिये (लोभसे नहीं) वे 'अतिथि' धनका संग्रह करते थे, क्योंकि जलसे पूर्ण मेघका (ही) चातक अभिनन्दन करता है ॥ ६० ॥

परकर्मापहः सोऽभूदुद्यतः स्वेषु कर्मसु ।
आवृणोदात्मनो रन्ध्रं रन्ध्रेषु प्रहरन् रिपून् ॥ ६१ ॥

परकर्मापह इति । स राजा परेषां कर्माणि सेतुवार्तादीन्यपहन्तीति परकर्मापहः सन् । "अन्येष्वपि दृश्यते" इत्यपिशब्दसामर्थ्याद्धन्तेर्डप्रत्ययः । स्वेषु कर्मसूद्यत उद्युक्तोऽभूत् । किञ्च । रिपून् रन्ध्रेषु प्रहरन्नात्मनो रन्ध्रं व्यसनादिकमावृणोत्संवृणोत्संवृतवान् । अत्र मनुः—"नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु । गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥" इति ॥ ६१ ॥

वे 'अतिथि' दूसरों (शत्रुराजाओं) के कार्यों (राज्योन्नतिकारक उद्योगों) का नाशक

तथा अपने कार्योंमें सर्वदा तत्पर थे और दूसरोंके छिद्रों (व्यसन आदि दुर्बलावस्थाओं) में प्रहार करते हुए अपने छिद्रोंको छिपाते थे ॥ ६१ ॥

पित्रा संवर्धितो नित्यं कृतास्त्रः साम्परायिकः ।
तस्य दण्डवतो दण्डः स्वदेहान्न व्यशिष्यत ॥ ६२ ॥

पित्रेति । दण्डो दमः सैन्यं वा तद्वतो दण्डवतो दण्डसम्पन्नस्य तस्य राज्ञः पित्रा कुशेन नित्यं संवर्धितः पुष्टः कृतास्त्रः शिक्षितास्त्रः । सम्परायो युद्धम् । 'युद्धायत्योः सम्परायः' इत्यमरः । तमर्हतीति साम्परायिकः । "तदर्हति" इति ठक्प्रत्ययः । दण्डः सैन्यम् । 'दण्डो यमे मानभेदे लगुडे दमसैन्ययोः' इति विश्वः । स्वदेहान्न व्यशिष्यत नाभिद्यत । स्वदेहेऽपि विशेषणानि योज्यानि । मूलबलं स्वदेहमिवारक्ष-दित्यर्थः ॥ ६२ ॥

सैन्यबलयुक्त उस 'अतिथि'का पिता (कुश) के द्वारा सर्वदा बढ़ाया गया, अस्त्रमें शिक्षित और युद्धके योग्य सैन्यबल शरीरसे भिन्न नहीं हुआ अर्थात् वे अपने शरीरके समान ही सेनाकी भी रक्षा करते थे ॥ ६२ ॥

सर्पस्येव शिरोरत्नं नास्य शक्तित्रयं परः ।
स चकर्ष परस्मात्तदयस्कान्त इवायसम् ॥ ६३ ॥

सर्पस्येवेति । सर्पस्य शिरोरत्नमिव अस्य राज्ञः शक्तित्रयं परः शत्रुर्न चकर्ष । स तु परस्माच्छत्रोस्तच्छक्तित्रयम् । अयस्कान्तो मणिविशेष आयसं लोहविकारमिव चकर्ष ॥ ६३ ॥

सर्पके मस्तकस्थ मणिके समान इनकी तीनों शक्तियों (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति) को शत्रुने आकृष्ट नहीं किया; किन्तु उस 'अतिथि' ने शत्रुसे तीनों शक्तियों-को लोहेको चुम्बकके समान आकृष्टकर लिया (अपनी ओर खींच लिया) ॥ ६३ ॥

वापीष्विव स्रवन्तीषु वनेषूपवनेष्विव ।
सार्थाः स्वैरं स्वकीयेषु चेरुर्वेश्मस्विवाद्रिषु ॥ ६४ ॥

वापीष्विति । स्रवन्तीषु नदीषु । वापीषु दीर्घिकास्विव । 'वापी तु दीर्घिका' इत्यमरः । वनेष्वरण्येषूपवनेष्वारामेष्विव । 'आरामः स्यादुपवनम्' इत्यमरः । अद्रिषु स्वकीयेषु वेश्मस्विव सार्था वणिक्प्रभृतयः स्वैरं स्वेच्छया चेरुश्चरन्ति स्म ॥६४॥

('अतिथि' के सुन्दर राज्यशासन होनेसे भयसे रहित) व्यापारी नदियोंमें बावलियोंके समान, जङ्गलोंमें बगीचेके समान और पहाड़ोंमें अपने घरोंके समान विचरण करते थे ॥

तपो रक्षन्स विघ्नेभ्यस्तस्करेभ्यश्च सम्पदः ।
यथास्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि षडंशभाक् ॥ ६५ ॥

तप इति । विघ्नेभ्यस्तपो रक्षन् । तस्करेभ्यः सम्पदश्च रक्षन् । स राजाश्रमैर्ब्रह्म-चर्यादिभिर्वर्णैरपि ब्राह्मणादिभिश्च यथास्वं स्वमनतिक्रम्य षडंशभाक्चक्रे । यथाक्रम-

माश्रमैस्तपसो वर्णैः सम्पदां च षष्ठांशभाक्कृत इत्यर्थः। षष्ठोऽशः षडंशः। सङ्ख्याशब्दस्य वृत्तिविषये पूरणार्थत्वमुक्तं प्राक्॥ ६५॥

विघ्नोंसे तपस्याकी तथा चोरोंसे सम्पत्तिकी रक्षा करते हुए उस 'अतिथि' को आश्रमों (ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों) तथा वर्णों (ब्राह्मण आदि चारो वर्णों) ने यथायोग्य (आश्रमोंने तपस्याके तथा वर्णोंने सम्पतिके) छठें हिस्सेका भागी बना दिया अर्थात् तपस्या तथा सम्पतिकी रक्षा करनेसे ब्रह्मचारी आदि चारों आश्रमों वाले और ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंवाले लोग क्रमशः अपनी अपनी तपस्या तथा सम्पति का छठां भाग राजा 'अतिथि' को देने लगे॥ ६५॥

खनिभिः सुषुवे रत्नं क्षेत्रैः सस्यं वनैर्गजान्।
दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः॥ ६६॥

खनिभिरिति। भूर्भूमिस्तस्मै राज्ञे रक्षासदृशं रक्षणानुरूपमेव वेतनं भृतिं दिदेश ददौ। कथम्। खनिभिराकरैः। 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्' इत्यमरः। रत्नं माणिक्यादिकं सुषुवेऽजीजनत्। क्षेत्रैः सस्यम्। वनैर्गजान्हस्तिनः सुषुवे॥ ६६॥

खानोंने रत्न, खेतोंने धान्य (अन्न) और वनोंने हाथियों का उत्पादन किया, (उत्पन्न कर 'अतिथि' के लिये इस प्रकार दिया) पृथ्वीने रक्षाके योग्य ही वेतन उस 'अतिथि' के लिये प्रदान किया॥ ६६॥

स गुणानां बलानां च षण्णां षण्मुखविक्रमः।
बभूव विनियोगज्ञः साधनीयेषु वस्तुषु॥ ६७॥

स इति। षण्मुखविक्रमः स राजा षण्णां गुणानां सन्धिविग्रहादीनां बलानां मूलभृत्यादीनां च साधनीयेषु वस्तुषु साध्येष्वर्थेषु विनियोगं जानातीति। विनियोगस्य ज्ञ इति वा विनियोगज्ञः। कर्मविवक्षायामुपपदसमासः। "आतोऽनुपसर्गे कः" इति कप्रत्ययः। शेषविवक्षायां षष्ठीसमासः। "इगुपध—" इत्यादिना कप्रत्ययः। बभूव। "इदमत्र प्रयोक्तव्यम्" इत्याद्यज्ञासीदित्यर्थः॥ ६७॥

कार्तिकेयके समान पराक्रमी वह 'अतिथि' छः गुणों[1] तथा छः बलों[2] के साधनीय प्रयोजनोंके कर्तव्य को जानने वाला हुआ। (वे 'अतिथि' राजा किस स्थानपर कैसा कार्य करना तथा कैसे व्यक्तिको किस स्थानपर नियुक्त करना आदिके कुशल ज्ञाता हुए)॥ ६७॥

इति क्रमात्प्रयुञ्जानो राजनीतिं चतुर्विधाम्।
आतीर्थादप्रतीघातं स तस्याः फलमानशे॥ ६८॥

इतीति। इति चतुर्विधाम्। सामाद्युपायैरिति शेषः। राजनीतिं दण्डनीतिं क्रमा-

---

(१) तदुक्तम्—"सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः।
षड्गुणाः" इत्यमरकोषः।

(२) तदुक्तं कोषे—"मौलं भृत्यः सुहृच्छ्रेणी द्विषदाटविकं बलम्।" इति।

स्सामादिक्रमादेव प्रयुञ्जानः स राजा आतीर्थान्मन्त्र्याद्यष्टादशात्मकतीर्थपर्यन्तम् । 'योनौ जलावतारे च मन्त्र्याद्यष्टादशस्वपि । पुण्यक्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थं स्यात्' इति हलायुधः । तस्या नीतेः फलमप्रतीघातमप्रतिबन्धं यथा तथा आनशे प्राप्तवान् । मन्त्र्यादिषु यमुद्दिश्य य उपायः प्रयुज्यते स तस्य फलतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

इस क्रमसे चार प्रकारकी राजनीति (साम, दान, दण्ड और भेद) को प्रयुक्त करते हुए उस 'अतिथि' ने अट्ठारह तीर्थोंतक निर्बाध रूपसे उस राजनीतिके फलको प्राप्त किया॥६८॥

कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि तस्मिन्सन्मार्गयोधिनि ।
भेजेऽभिसारिकावृत्तिं जयश्रीर्वीरगामिनी ॥ ६९ ॥

कूटयुद्धेति । कूटयुद्धविधिज्ञेऽपि कपटयुद्धप्रकाराभिज्ञेऽपि सन्मार्गेण योधिनि धर्मयोद्धरि तस्मिन्नतिथौ वीरगामिनी जयश्रीरभिसारिकावृत्तिं भेजे । 'कान्तार्थिनी तु या याति सङ्केतं साभिसारिका' इत्यमरः । जयश्रीस्तमन्विष्यागच्छदित्यर्थः ॥६९॥

कपटयुद्धकी विधिके ज्ञाता होनेपर भी सन्मार्ग अर्थात् धार्मिक युद्ध करते हुए उस 'अतिथि' में वीरको प्राप्त करने वाली विजयलक्ष्मीने अभिसारिकावत् वर्ताव किया अर्थात पतिको प्राप्त करनेकी अभिलाषिणी होकर 'अतिथि' के पास स्वयं गयी। (युद्धमें 'अतिथि' ने विजय पायी) ॥ ६९ ॥

प्रायः प्रतापभग्नत्वादरीणां तस्य दुर्लभः ।
रणो गन्धद्विपस्येव गन्धिभिन्नान्यदन्तिनः ॥ ७० ॥

प्राय इति । अरीणां सर्वेषामपि प्रतापेनातितेजसैव भग्नत्वात्तस्य राज्ञः । गन्धेन मदगन्धेनैव भिन्ना भग्ना अन्ये दन्तिनो येन तस्य गन्धद्विपस्येव । प्रायः प्रायेण रणो दुर्लभः । खलर्थयोगेऽपि शेषविवक्षायां षष्ठीमिच्छन्तीत्युक्तम् ॥ ७० ॥

शत्रुओंके (उस 'अतिथि' के) प्रतापसे हतोत्साह या पराजित होनेसे उस 'अतिथि' का (मदधाराके) गन्धसे अन्य हाथियोंको भग्न (परास्त) करनेवाले मदप्रवाहयुक्त हाथीके समान युद्ध होना प्रायः दुर्लभ ही था। (जिस प्रकार मदक्षरण करनेवाले मतवाले हाथीको मदके गन्धसे ही दूसरे हाथियोंके भग्नोत्साह होनेसे युद्ध करने का अवसर प्रायः कम मिलता है, उसी प्रकार उस 'अतिथि' के प्रतापसे ही उनके शत्रुओंके भग्नोत्साह हो जाने से किसी शत्रुसे युद्ध करनेका अवसर प्रायः कम मिलता था) ॥ ७० ॥

प्रवृद्धौ हीयते चन्द्रः समुद्रोऽपि तथाविधः ।
स तु तत्समवृद्धिश्च न चाभूत्ताविव क्षयी ॥ ७१ ॥

प्रवृद्धाविति । प्रवृद्धौ सत्यां चन्द्रो हीयते । समुद्रोऽपि तथाविधश्चन्द्रवदेव प्रवृद्धौ हीयते । 'प्रवृद्धः' इति वा पाठः । स राजा तु ताभ्यां चन्द्रसमुद्राभ्यां समा वृद्धिर्यस्य स तत्समवृद्धिश्चाभूत् । तौ चन्द्रसमुद्राविव क्षयी । "जिदृक्षि-" इत्यादिनेनिप्रत्ययः । नाभूत् ॥ ७१ ॥

बढ़े हुए चन्द्रमा तथा समुद्र भी क्षीण हो जाते हैं, किन्तु उन (चन्द्रमा तथा समुद्र) के समान बढ़ने वाले तो वे 'अतिथि' राजा हुए, पर उन दोनोंके समान क्षीण होनेवाले नहीं हुए अर्थात् सर्वदा समृद्धिमान् ही रहे ॥ ७१ ॥

सन्तस्तस्याभिगमनादत्यर्थं महतः कृशाः ।
उदधेरिव जीमूताः प्रापुर्दातृत्वमर्थिनः ॥ ७२ ॥

सन्त इति । अत्यर्थं कृशा दरिद्रा अत एवार्थिनो याचनशीलाः सन्तो विद्वांसो महतस्तस्य राज्ञोऽभिगमनात् । उदधेरभिगमनाज्जीमूता इव दातृत्वं वदान्यत्वं प्रापुः । अर्थिषु दानभोगपर्याप्तं धनं प्रयच्छतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

अत्यन्त दरिद्र याचक लोग उस राजाके पास जानेसे उस प्रकार (अत्यधिक धन पाकर) दाता बन गये, जिस प्रकार निर्जल मेघ समुद्रके पास जानेसे (उससे अत्यधिक जल पाकर जलको) देनेवाला बन जाता है ॥ ७२ ॥

स्तूयमानः स जिह्राय स्तुत्यमेव समाचरन् ।
तथाऽपि ववृधे तस्य तत्कारिद्वेषिणो यशः ॥ ७३ ॥

स्तूयमान इति । स राजा स्तुत्यं स्तोत्रार्हमेव यत्तदेव समाचरन्नत एव स्तूयमानः सन् । जिह्राय ललज्ज । तथाऽपि ह्रीणत्वेऽपि तत्कारिणः स्तोत्रकारिणो द्वेष्टीति तत्कारिद्वेषिणस्तस्य राज्ञो यशो ववृधे । "गुणाढ्यस्य सतः पुंसः स्तुतौ लज्जैव भूषणम्" इति भावः ॥ ७३ ॥

प्रशंसनीय (कार्य) को ही करते हुए वे 'अतिथि' प्रशसित होते हुए लज्जित होते थे, तथापि प्रशंसा करनेवालोंसे द्वेष करनेवाले (प्रशंसा कार्यको अभिनन्दन नहीं करनेवाले उस 'अतिथि' का यश बढ़ने लगा ॥ ७३ ॥

दुरितं दर्शनेन घ्नंस्तत्त्वार्थेन नुदंस्तमः ।
प्रजाः स्वतन्त्रयांचक्रे शश्वत्सूर्य इवोदितः ॥ ७४ ॥

दुरितमिति । स राजा । उदितः सूर्य इव । दर्शनेन दुरितं घ्नन्निवर्तयन् । तथा च स्मर्यते—"अग्निचित्कपिला सत्री राजा भिक्षुर्महोदधिः । दृष्टमात्राः पुनन्त्येते तस्मात्पश्येत नित्यशः ॥" इति । तत्त्वस्य वस्तुतत्त्वस्यार्थेन समर्थनेन च तमोऽज्ञानं ध्वान्तं च नुदञ्शश्वत्प्रजाः स्वतन्त्रयाञ्चक्रे स्वाधीनाश्चकार ॥ ७४ ॥

उस 'अतिथि' ने दर्शनसे पापको तथा वस्तुतत्त्वके समर्थनसे अज्ञानको (सूर्यपक्षमें— प्रकाशसे अन्धकारको) दूर करते हुए उदयप्राप्त सूर्यके समान सर्वदा प्रजाओंको स्वतन्त्र कर दिया ॥ ७४ ॥

इन्दोरगतयः पद्मे सूर्यस्य कुमुदेंऽशवः ।
गुणास्तस्य विपक्षेऽपि गुणिनो लेभिरेऽन्तरम् ॥ ७५ ॥

इन्दोरिति । इन्दोरंशवः पद्मेऽगतयः, प्रवेशरहिता इत्यर्थः । सूर्यस्यांशवः कुमुदेऽगतयः । । गुणिनस्तस्य गुणास्तु विपक्षे शत्रावप्यन्तरमवकाशं लेभिरे प्रापुः ॥७५॥

चन्द्रमाकी किरणों की कमलमें तथा सूर्यकी किरणों की कुमुदमें गति नहीं होती; किन्तु गुणवान् उस 'अतिथि' के गुणोंने शत्रुमें भी स्थान पाया अर्थात् शत्रु भी उस 'अतिथि' के गुणों की प्रशंसा करते थे ॥ ७५ ॥

पराभिसन्धानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम् ।
जिगीषोरश्वमेधाय धर्म्यमेव बभूव तत् ॥ ७६ ॥

पराभिसन्धानपरमिति । अश्वमेधाय जिगीषोरस्य विचेष्टितं दिग्विजयरूपं यद्यपि पराभिसन्धानपरं शत्रुवञ्चनप्रधानं तथाऽपि तद्धर्म्यं धर्मादनपेतमेव । "धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते" इति यत्प्रत्ययः । बभूव । "मन्त्रप्रभावोत्साहशक्तिभिः परान्सन्दध्यात्" इति कौटिल्यः ॥ ७६ ॥

अश्वमेध यज्ञके लिये विजयाभिलाषी उस 'अतिथि' की चेष्टा यद्यपि शत्रुओंको वञ्चित करने वाली थी, तथापि वह धर्मसे युक्त ही हुई । अथवा—उस 'अतिथि' की चेष्टा यद्यपि शत्रुको वञ्चित करनेवाली थी, तथापि अश्वमेध यज्ञके लिये विजयाभिलाषी (उस अतिथिकी) वह चेष्टा धर्मयुक्त ही हुई ॥ ७६ ॥

एवमुद्यन्प्रभावेण शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना ।
वृषेव देवो देवानां राज्ञां राजा बभूव सः ॥ ७७ ॥

एवमिति । एवं शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना शास्त्रोपदिष्टमार्गेण प्रभावेण कोशदण्डजेन तेजसा । 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः । उद्यन्नुद्युञ्जानः । स वृषा वासवो देवानां देवो देवदेव इव राज्ञां राजा राजराजो बभूव ॥ ७७ ॥

इस प्रकार शास्त्रप्रदर्शित मार्गवाले प्रभावसे (अथवा—अपने प्रभावसे शास्त्रप्रदर्शित मार्गसे अर्थात् सन्मार्ग पर चलकर अपने प्रभावद्वारा) उन्नत होते हुए वे 'अतिथि' देवोंके देव इन्द्रके समान राजाओंके राजा हो गये अर्थात् जैसे इन्द्र देव-देव हैं, वैसे ही 'अतिथि' भी 'राज-राज' हो गये ॥ ७७ ॥

पञ्चमं लोकपालानामूचुः साधर्म्ययोगतः ।
भूतानां महतां षष्ठमष्टमं कुलभूभृताम् ॥ ७८ ॥

पञ्चममिति । तम् । राजानमिति शेषः । साधर्म्ययोगतो यथाक्रमं लोकसंरक्षणपरोपकारभूधारणरूपसमानधर्मत्वबलाल्लोकपालानामिन्द्रादीनां चतुर्णां पञ्चममूचुः । महतां भूतानां पृथिव्यादीनां पञ्चानां षष्ठमूचुः । कुलभूभृतां कुलाचलानां महेन्द्रमलयादीनां सप्तानामष्टममूचुः ॥ ७८ ॥

(लोग उस राजराज 'अतिथि' को क्रमशः लोकरक्षा, परोपकार और पृथ्वी धारणरूप) समान धर्मके सम्बन्धसे लोकपालों (इन्द्र, यम, वरुण और कुबेर) में पाँचवा, महाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) में छटां और कुलपर्वतों (महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र) में आठवां कहने लगे ॥ ७८ ॥

दूरापवर्जितच्छत्रैस्तस्याज्ञां शासनार्पिताम्।
दधुः शिरोभिर्भूपाला देवाः पौरन्दरीमिव ॥ ७९ ॥

दूरापवर्जितच्छत्रैरिति। भूपालाः। शासनेषु पत्रेष्वर्पितामुपन्यस्तां तस्य राज्ञः आज्ञाम्। देवाः पौरन्दरीमैन्द्रीमाज्ञामिव। दूरापवर्जितच्छत्रैर्दूरात्परिहृतातपत्रैः शिरोभिर्दधुः ॥

राजाओंने शासनमें दी गयी उनकी आज्ञाको, देवोंके प्रति इन्द्रकी आज्ञाके समान दूरसे ही छत्र (श्वेतच्छत्ररूप राजचिह्न) से रहित मस्तकोंसे धारण किया अर्थात् मस्तक झुकाकर उस 'अतिथि' की आज्ञाका पालन किया ॥ ७९ ॥

ऋत्विजः स तथाऽऽनर्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ।
यथा साधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च ॥ ८० ॥

ऋत्विज इति। स राजा महाक्रतावश्वमेधे ऋत्विजो याजकान्दक्षिणाभिस्तथाऽऽनर्चार्चयामास। अर्चतेर्भौवादिकाल्लिट्। यथाऽस्य राज्ञो धनदस्य च नाम साधारणीभूतमेकीभूतम्। उभयोरपि धनदसंज्ञा यथा स्यात्तथेत्यर्थः ॥ ८० ॥

उस 'अतिथि' ने महायज्ञ अर्थात् अश्वमेध यज्ञमें ऋत्विजोंको दक्षिणाद्रव्य से उस प्रकार सत्कार किया, जिस प्रकार इस 'अतिथि' का और कुबेरका नाम समान हो गया अर्थात् अत्यधिक धनका दान देनेसे उस 'अतिथि' और कुबेरमें कोई भेद नहीं रह गया ॥८०॥

इन्द्राद्वृष्टिर्नियमितगदोद्रेकवृत्तिर्यमोऽभू-
द्यादोनाथः शिवजलपथः कर्मणे नौचराणाम्।
पूर्वापेक्षी तदनु विदधे कोषवृद्धिं कुबेर-
स्तस्मिन्दण्डोपनतचरितं भेजिरे लोकपालाः ॥ ८१ ॥

इन्द्रादिति। इन्द्राद्वृष्टिरभूत्। यमो नियमिता निवारिता गदस्य रोगस्योद्रेक एक वृत्तिर्येन सोऽभूत्। यादोनाथो वरुणो नौचराणां नाविकानां कर्मणे सञ्चाराय शिवजलपथः सुचरजलमार्गोऽभूत्। तदनु पूर्वापेक्षी रघुरामादिमहिमाभिज्ञः कुबेरः कोषवृद्धिं विदधे। इत्थं लोकपालास्तस्मिन् राज्ञि विषये दण्डोपनतस्य शरणागतस्य चरितं वृत्तिं भेजिरे। "दुर्बलो बलवत्सेवी विरुद्धाच्छङ्कितादिभिः। वर्तेत दण्डोपनतो भर्तर्येवमवस्थितः ॥" इति कौटिल्यः ॥ ८१ ॥

इति सञ्जीविनीव्याख्यायामतिथिवर्णनो नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

(उस 'अतिथि' के राजा होनेपर) इन्द्रद्वारा वर्षा हुई, यमने रोगवृद्धिको रोका, नाविकोंके कार्य (में सहायता देने) के लिये वरुणने जलमार्गको सुखपूर्वक पार होने योग्य बनाया और उसके बाद पहलेवालों (रघु, अज, दशरथ, राम आदि) की अपेक्षा करनेवाले कुबेरने (उस 'अतिथि' के) कोषको बढाया ॥ ८१ ॥

यह 'मणिप्रभा' में 'अतिथिवर्णन' नामक 'सप्तदश' सर्ग समाप्त हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः ।

यत्पादपांसुसम्पर्कादहल्यासीदपांसुला ।
कारुण्यसिन्धवे तस्मै नमो वैदेहिबन्धवे ॥

स नैषधस्यार्थपतेः सुतायामुत्पादयामास निषिद्धशत्रुः ।
अनूनसारं निषधान्नगेन्द्रात्पुत्रं यमाहुर्निषधाख्यमेव ॥ १ ॥

स इति । निषिद्धशत्रुर्निवारितरिपुः सोऽतिथिर्नैषधस्य निषधदेशाधीश्वरस्यार्थपते राज्ञः सुतायां निषधान्निषाधख्यान्नगेन्द्रात्पर्वतादनूनसारमन्वूनबलं पुत्रमुत्पादयामास । यं पुत्रं निषधाख्यं निषधनामकमेवाहुः ॥ १ ॥

जिसके चरणाम्बुजरज छूते ही गौतमपत्नी सती बनी ।
दया-सिन्धु सीता-बान्धव उसको मम प्रणति है भक्ति-सनी ॥

उस 'अतिथि' ने निषध देशाधीशकी कन्यामें निषध पर्वतके समान बलवान् पुत्र उत्पन्न किया, जिसको (लोग) 'निषध' ही कहते हैं अर्थात् जिसका नाम 'निषध' है॥१॥

तेनोरुवीर्येण पिता प्रजायै कल्पिष्यमाणेन ननन्द यूना ।
सुवृष्टियोगादिव जीवलोकः सस्येन सम्पत्तिफलोन्मुखेन ॥ २ ॥

तेनेति । उरुवीर्येणातिपराक्रमेणात एव प्रजायै लोकरक्षणार्थं कल्पिष्यमाणेन तेन यूना निषधेन पिताऽतिथिः सुवृष्टियोगात्सम्पत्तिफलोन्मुखेन पाकोन्मुखेन सस्येन जीवलोक इव । ननन्द जहर्ष ॥ २ ॥

प्रणि-समूह महापराक्रमी तथा भविष्य में प्रजारक्षाके लिये समर्थ युवक उस पुत्रसे इस प्रकार हर्षित हुआ जिस प्रकार अच्छी वृष्टि होनेसे पकनेवाले धान्यसे होता है ॥ २ ॥

शब्दादि निर्विश्य सुखं चिराय तस्मिन्प्रतिष्ठापितराजशब्दः ।
कौमुद्वतेयः कुमुदावदातैर्द्यामर्जितां कर्मभिरारुरोह ॥ ३ ॥

शब्दादीति । कुमुद्वत्या अपत्यं पुमान्कौमुद्वतेयोऽतिथिः शब्दादि शब्दस्पर्शादि सुखं सुखसाधनं विषयवर्गं निर्विश्योपभुज्य चिराय तस्मिन्निषधाख्ये पुत्रे प्रतिष्ठापितराजशब्दो दत्तराज्यः सन् । कुमुदावदातैर्निर्मलैः कर्मभिरश्वमेधादिभिरर्जितां सम्पादितां द्यां स्वर्गमारुरोह ॥ ३ ॥

'कुमुद्वती' पुत्र उस 'अतिथि' ने शब्द आदि (विषय-) सुखको चिरकालतक भोगकर तथा उस 'निषध' को राजा बनाकर कुमुदके समान निर्मल कर्मोंसे प्राप्त स्वर्गमें गमन किया॥३॥

पौत्रः कुशस्यापि कुशेशयाक्षः ससागरां सागरधीरचेताः ।
एकातपत्रां भुवमेकवीरः पुरर्गलादीर्घभुजो बुभोज ॥ ४ ॥

पौत्र इति । कुशेशयाक्षः शतपत्रलोचनः । 'शतपत्रं कुशेशयम्' इत्यमरः । सागरधीरचेताः समुद्रगम्भीरचित्त एकवीरोऽसहायशूरः पुरस्यार्गला कपाटविष्कम्भः ।

"तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यमरः। तद्वद्दीर्घभुजः कुशस्य पौत्रो निषधोऽपि ससागरामेकातपत्रां भुवं बुभोज पालयामास। "भुजोऽनवने" इत्युक्तेः परस्मैपदम्॥ ४॥

कमलतुल्य नेत्रवाले, समुद्रके समान धीर चित्तवाले, एक (मुख्य) शूरवीरवाले और नगर की (रक्षार्थ) आगलके समान लम्बी भुजावाले उस कुशपौत्र 'निषध' ने समुद्र तक एकच्छत्र (होकर) पृथ्वीका भोग किया॥ ४॥

तस्यानलौजास्तनयस्तदन्ते वंशश्रियं प्राप नलाभिधानः।
यो नड्वलानीव गजः परेषां बलान्यमृद्नान्नलिताभवक्त्रः॥ ५॥

तस्येति। अनलौजाः वह्नितेजाः नलाभिधानो नलाख्यस्तस्य निषधस्य तनयस्तस्य निषधस्यान्तेऽवसाने वंशश्रियं राज्यलक्ष्मीं प्राप। नलिनाभवक्त्रो यो नलः। गजो नड्वलानि नडप्रायस्थलानीव। "नडशादाड्ड्वलच्" इति ड्वलच्प्रत्ययः। परेषां बलान्यमृद्नान्ममर्द॥ ५॥

उस 'निषध' के अग्निके समान तेजस्वी 'नल' नामक पुत्रने उसके बाद कुललक्ष्मी (राज्य) को प्राप्त किया, जिस (नल) ने नासल बहुल स्थानको हाथीके समान, शत्रुओं की सेनाको मर्दित (छिन्न-भिन्न) कर दिया॥ ५॥

नभश्चरैर्गीतयशाः स लेभे नभस्तलश्यामतनुं तनूजम्।
ख्यातं नभःशब्दमयेन नाम्ना कान्तं नभोमासमिव प्रजानाम्॥ ६॥

नभ इति। नभश्चरैर्गन्धर्वादिभिर्गीतयशाः स नलो नभस्तलश्यामतनुं नभःशब्दमयेन नाम्ना ख्यातम्, नभःशब्दसंज्ञकमित्यर्थः। नभोमासमिव श्रावणमासमिव। प्रजानां कान्तं प्रियं तनूजं पुत्रं लेभे॥ ६॥

देव-गन्धर्वोंसे गाये गये यशवाले उस 'नल' ने आकाशके समान श्यामवर्ण शरीरवाले 'नभस्' नामसे प्रसिद्ध और श्रावण मासके समान प्रजाओंके प्रिय पुत्रको प्राप्त किया॥६॥

तस्मै विसृज्योत्तरकोसलानां धर्मोत्तरस्तत्प्रभवे प्रभुत्वम्।
मृगैरजर्यं जरसोपदिष्टमदेहबन्धाय पुनर्बबन्ध॥ ७॥

तस्मै इति। धर्मोत्तरो धर्मप्रधानः स नलः प्रभवे समर्थाय तस्मै नभसे तदुत्तरकोसलानां प्रभुत्वमाधिपत्यं विसृज्य दत्वा जरसा जरयोपदिष्टम्, वार्द्धके चिकीर्षितमित्यर्थः। मृगैरजर्यं तैः सह सङ्गतम्। "अजर्यं सङ्गतम्" इति निपातः। पुनरदेहबन्धाय पुनर्देहसम्बन्धनिवृत्तये बबन्ध, मोक्षार्थं वनं गत इत्यर्थः। अदेहबन्धायेत्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ्समास इष्यते॥ ७॥

धर्मप्रधान उस 'नल' ने उत्तरकोशल देशका स्वामित्वशक्तिमान् उस 'नभ' को देकर वृद्धावस्थामें अभिलसित मृगोंके साथको फिर (जन्मान्तरमें) देहके बन्धनरहित होनेके लिये (मुक्तिके लिए) फिर कर लिया॥ ७॥

तेन द्विपानामिव पुण्डरीको राज्ञामजय्योऽजनि पुण्डरीकः।
शान्ते पितर्याहृतपुण्डरीका यं पुण्डरीकाक्षमिव श्रिता श्रीः ॥ ८ ॥

तेनेति। तेन नभसा। द्विपानां पुण्डरीको दिग्गजविशेष इव। राज्ञामजय्यो जेतुमशक्यः। "क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे" इति निपातनात्साधुः। पुण्डरीकः पुण्डरीकाख्यः पुत्रोऽजनि जनितः। पितरि शान्ते स्वर्गते सति। आहृतपुण्डरीका गृहीतश्वेतपद्मा श्रीर्यं पुण्डरीकं पुण्डरीकाक्षं विष्णुमिव श्रिता ॥ ८ ॥

उस 'नभ' से हाथियोंके अजेय 'पुण्डरीक' (अग्नि कोणका दिग्गज) के समान राजाओंका अजेय 'पुण्डरीक' (नामका पुत्र) हुआ। पिता (नभ) के मरनेपर श्वेतकमलधारिणी लक्ष्मीने विष्णुके समान उस (पुण्डरीक) का आश्रय किया ॥ ८ ॥

स क्षेमधन्वानममोघधन्वा पुत्रं प्रजाक्षेमविधानदक्षम्।
क्ष्मां लम्भयित्वा क्षमयोपपन्नं वने तपः क्षान्ततरश्चचार ॥ ९ ॥

स इति। अमोघं धनुर्यस्य सोऽमोघधन्वा। "धनुषश्च" इत्यनङादेशः समासान्तः स पुण्डरीकः प्रजानां क्षेमविधाने दक्षं क्षमयोपपन्नं क्षान्तियुक्तं क्षेमं धनुर्यस्य तं क्षेमधन्वानं नाम पुत्रम्। "वा संज्ञायाम्" इत्यनङादेशः। क्ष्मां लम्भयित्वा प्रापय्य। लभेर्गत्यर्थत्वाद् द्विकर्मकत्वम्। क्षान्ततरोऽत्यन्तसहिष्णुः सन् वने तपश्चचार ॥ ९ ॥

सफल धनुषवाले वे (पुण्डरीक) प्रजाओंके कल्याण करनेमें समर्थ और क्षमासे युक्त अर्थात् सहनशील 'क्षेमधन्वा' नामक पुत्रको पृथ्वी सौंपकर (राज्यभार देकर) अत्यन्त सहनशील होते हुए वनमें तपस्या करने लगे ॥ ९ ॥

अनीकिनीनां समरेऽग्रयायी तस्यापि देवप्रतिमः सुतोऽभूत्।
व्यश्रूयतानीकपदावसानं देवादि नाम त्रिदिवेऽपि यस्य ॥ १० ॥

अनीकिनीनामिति। तस्य क्षेमधन्वनोऽपि समरेऽनीकिनीनां चमूनामग्रयायी देवप्रतिम इन्द्रादिकल्पः सुतोऽभूत्। अनीकपदावसानमनीकशब्दान्तं देवादि देवशब्दपूर्वं यस्य नाम देवानीक इति नामधेयं त्रिदिवे स्वर्गेऽपि व्यश्रूयत विश्रुतम् ॥ १० ॥

उस 'क्षेमधन्वा' को भी युद्धमें सेनाओंके आगे चलनेवाला देवतुल्य पुत्र हुआ, जिसका नाम स्वर्गमें भी अन्तमें 'अनीक' तथा आदि में 'देव' पदसे युक्त अर्थात् 'देवानीक' प्रसिद्ध हुआ ॥ १० ॥

पिता समाराधनतत्परेण पुत्रेण पुत्री स यथैव तेन।
पुत्रस्तथैवात्मजवत्सलेन स तेन पित्रा पितृमान्बभूव ॥ ११ ॥

पितेति। स पिता क्षेमधन्वा समाराधनतत्परेण शुश्रूषापरेण तेन पुत्रेण यथैव पुत्री बभूव तथैव स पुत्रो देवानीक आत्मजवत्सलेन तेन पित्रा पितृमान्बभूव, लोके पितृत्वपुत्रत्वयोः फलमनयोरेवासीदित्यर्थः ॥ ११ ॥

जिस प्रकार सेवामें तत्पर उस ('देवानीक' नामक) पुत्रसे पिता ('क्षेमधन्वा') सत्पुत्रवान् हुए, उसी प्रकार पुत्रवत्सल उस पितासे वह पुत्र भी श्रेष्ठ पितावाला हुआ ॥ ११ ॥

पूर्वस्तयोरात्मसमे चिरोढामात्मोद्भवे वर्णचतुष्टयस्य ।
धुरं निधायैकनिधिर्गुणानां जगाम यज्वा यजमानलोकम् ॥ १२ ॥

पूर्व इति । गुणानामेकनिधिर्यज्वा विधिवदिष्टवांस्तयोः पितृपुत्रयोर्मध्ये पूर्वः पिता क्षेमधन्वाऽऽत्मसमे स्वतुल्य आत्मोद्भवे पुत्रे देवानीके चिरोढां चिरधृतां वर्णचतुष्टयस्य धुरं रक्षाभारं निधाय यजमानलोकं यष्टृलोकं नाकं जगाम ॥ १२ ॥

गुणोंका मुख्य आकार तथा सविधि यज्ञकर्ता उन दोनों (पिता-पुत्रों) में पहला अर्थात् 'क्षेमधन्वा' नामक पिता आत्मतुल्य पुत्रमें चारों वर्णोंके चिरकालसे धारण किये गये भार (राज्यशासनभार) को रखकर यज्ञकर्ताओंके लोकको गये अर्थात् मर गये ॥ १२ ॥

वशी सुतस्तस्य वशंवदत्वात्स्वेषामिवासीद् द्विषतामपीष्टः ।
सकृद्विविग्नानपि हि प्रयुक्तं माधुर्यमीष्टे हरिणान्ग्रहीतुम् ॥ १३ ॥

वशीति । तस्य देवानीकस्य वशी समर्थः सुतोऽहीनगुर्नामेति वक्ष्यमाणनामकः। वशं वशकरं मधुरं वदतीति वशंवदः। "प्रियवशे वदः खच्" इति खच्प्रत्ययः। तस्य भावस्तत्त्वम् । तस्मादिष्टवादित्वात्स्वेषामिव द्विषतामपीष्टः प्रिय आसीत्। अर्थादेवानीकनिर्धारणं लभ्यते । तथा हि, प्रयुक्तमुच्चारितं माधुर्यं सकृदेकवारं विविग्नान्भीतानपि हरिणान्ग्रहीतुं वशीकर्तुमीष्टे शक्नोति ॥ १३ ॥

उस 'देवानीक' का वशीपुत्र मधुरभाषी होनेसे आत्मियोंके समान शत्रुओंका भी प्रिय हुआ; क्योंकि—उच्चारित मधुर वचन एकबार व्याकुल या डरे हुए हरिणोंको भी वशीभूत करनेमें समर्थ होता है ॥ १३ ॥

अहीनगुर्नाम स गां समग्रामहीनबाहुद्रविणः शशास ।
यो हीनसंसर्गपराङ्मुखत्वाद् युवाऽप्यनर्थैर्व्यसनैर्विहीनः ॥ १४ ॥

अहीनगुरिति । अहीनबाहुद्रविणः समग्रभुजपराक्रमः । 'द्रविणं काञ्चनं वित्तं द्रविणं च पराक्रमः' इति विश्वः । हीनसंसर्गपराङ्मुखत्वान्नीचसंसर्गविमुखत्वाद्धेतोर्युवाऽप्यनर्थैरनर्थैरनर्थकरैर्व्यसनैः पानद्यूतादिभिर्विहीनो रहितो योऽहीनगुर्नाम स पूर्वोक्तो देवानीकसुतः समग्रां सर्वां गां भुवं शशास ॥ १४ ॥

समस्त बाहुबलवाले उस ('अहीनगु') ने सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन किया, जो नौजवान होता हुआ भी नीचोंके संसर्गसे विमुख रहनेसे अनर्थकार व्यसनोंसे रहित था ॥ १४ ॥

गुरोः स चानन्तरमन्तरज्ञः पुंसां पुमानाद्य इवावतीर्णः ।
उपक्रमैरस्खलितैश्चतुर्भिश्चतुर्दिगीशश्चतुरो बभूव ॥ १५ ॥

गुरोरिति । पुंसामन्तरज्ञो विशेषज्ञश्चतुरो निपुणः सोऽहीनगुश्च गुरोः पितुरनन्तरम् । अवतीर्णो भुवं प्राप्त आद्यः पुमान्विष्णुरिव । अस्खलितैरप्रतिहतैश्चतुर्भिरु-

पक्रमैः सामाद्युपायैः । "सामादिभिरुपक्रमैः" इति मनुः । चतुर्दिगीशश्चतसृणां दिशामीशो बभूव ॥ १५ ॥

मनुष्योंके विशेष का ज्ञाता तथा चतुर जिस 'अहीनगु' ने अवतार लिये हुए आदि पुरुष (विष्णु भगवान्) के समान सफल चार उपायों (साम, दान, दण्ड और भेद) से चारों दिक्पालों को जीत लिया ॥ १५ ॥

तस्मिन्प्रयाते परलोकयात्रां जेतर्यरीणां तनयं तदीयम् ।
उच्चैः शिरस्त्वाज्जितपारियात्रं लक्ष्मीः सिषेवे किल पारियात्रम् ॥

तस्मिन्निति । अरीणां जेतरि तस्मिन्नहीनगौ परलोकयात्रां प्रयाते प्राप्ते सति । उच्चैः शिरस्त्वादुन्नतशिरस्कत्वाज्जितः पारियात्रः कुलशैलविशेषो येन तं पारियात्रं पारियात्राख्यं तदीयं तनयं लक्ष्मीः सिषेवे किल ॥ १६ ॥

शत्रुओंके विजेता उस 'अहीनगु' के परलोकयात्रा करनेपर (राज-) लक्ष्मीने उन्नत-मस्तक होनेसे पारियात्र (सात कुल पर्वतोंमेंसे एक पर्वत विशेष) को जीतनेवाले 'पारियात्र' नामक उनके पुत्रका सेवन करने लगी अर्थात् 'अहीनगु' के परनेपर उसका पुत्र 'पारियात्र' राजा हुआ ॥ १६ ॥

तस्याभवत्सूनुरुदारशीलः शीलः शिलापट्टविशालवक्षाः ।
जितारिपक्षोऽपि शिलीमुखैर्यः शालीनतामव्रजदीड्यमानः ॥ १७ ॥

तस्येति । तस्य पारियात्रस्योदारशीलो महावृत्तः । 'शीलं स्वभावे सद्वृत्ते' इत्यमरः । शिलापट्टविशालवक्षाःशिलः शिलाख्यः सूनुरभवत् । यः सूनुः शिलीमुखैर्बाणैः। 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः । जितारिपक्षोऽपीड्यमानः स्तूयमानः सन् । शालीनतामधृष्टतां लज्जामव्रजदगच्छत् । 'स्यादधृष्टे तु शालीनः' इत्यमरः । "शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः" इति निपातः ॥ १७ ॥

उस 'पारियात्र' का उदार स्वभाववाला और चट्टानके समान चौड़ी छातीवाला 'शिल' नामका पुत्र हुआ। बाणोंसे शत्रुओंके पक्षको जीतनेवाला भी जो स्तुति करनेपर लज्जित हुआ ॥ १७ ॥

तमात्मसम्पन्नमनिन्दितात्मा कृत्वा युवानं युवराजमेव ।
सुखानि सोऽभुङ्क्त सुखोपरोधि वृत्तं हि राज्ञामुपरुद्धवृत्तम् ॥ १८ ॥

तमिति । अनिन्दितात्माऽगर्हितस्वभावः स पारियात्र आत्मसम्पन्नं बुद्धिसम्पन्नम् । 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्त्म च' इत्यमरः । युवानं तं शिलं युवराजं कृत्वैव सुखान्यभुङ्क्त, न त्वकृत्वेत्येवकारार्थः । किमर्थं युवराजशब्दकरणमित्याशङ्क्यान्यथा सुखोपभोगो दुर्लभ इत्याह-सुखोपरोधीति । हि यस्माद्राज्ञां वृत्तं प्रजापालनादिरूपं सुखोपरोधि बहुलत्वात्सुखप्रतिबन्धकम् । अत एवोपरुद्धवृत्तम्, कारादिबद्धसदृशमित्यर्थः । उपरुद्धस्य स्वयमूढभारस्य च सुखं नास्तीति भावः ॥१८॥

अनिन्दित आत्मावाले उस 'पारियात्र' ने तरुण उस पुत्रको युवराज बनाकर ही सुखों का भोग किया; क्योंकि सुखरोधक राजाओंका व्यापार (प्रजापालन आदि कार्य) सुखको रोकनेवाला होता है, अतएव वह कारागार (जेल) के समान है ॥ १८ ॥

तं रागबन्धिष्ववितृप्तमेव भोगेषु सौभाग्यविशेषभोग्यम् ।
विलासिनीनामरतिक्षमाऽपि जरा वृथा मत्सरिणी जहार ॥ १९ ॥

तमिति । रागं बध्नन्तीति रागबन्धिनः, रागप्रवर्तका इत्यर्थः । तेषु भोगेषु विषयेष्ववितृप्तमेव सन्तम् । किञ्च । विलासिनीनां भोक्त्रीणां सौभाग्यविशेषेण सौन्दर्यातिशयेन हेतुना भोग्यं भोगार्हम् । "चजोः कु घिण्यतोः" इति कुत्वम् । तं पारियात्रं रतिक्षमा न भवतीत्यरतिक्षमाऽपि अत एव वृथा मत्सरिणी, रतिक्षमासु विलासिनीष्वित्यर्थः । जरा जहार वशीचकार ॥ १९ ॥

अनुराग करनेवाले भोगमें असन्तुष्ट तथा विलासिनी स्त्रियोंके (अपनी) अधिक सुन्दरताके कारण भोग करने योग उस 'पारियात्र' को रतिमें में असमर्थ भी (रतिमें समर्थ विलासिनी स्त्रियोंके साथ) द्वेष करनेवाली जरा (बुढापा) ने व्यर्थ ही वशमें कर लिया । ('पारियात्र' वृद्ध हो गये, परन्तु विषय-भोगसे उन्हें सन्तोष (निवृत्ति) नहीं हुआ) ॥ १९ ॥

उन्नाभ इत्युद्गतनामधेयस्तस्यायथार्थोन्नतनाभिरन्ध्रः ।
सुतोऽभवत्पङ्कजनाभकल्पः कृत्स्नस्य नाभिर्नृपमण्डलस्य ॥ २० ॥

उन्नाभेति । तस्य शिलाख्यस्योन्नाभ इत्युद्गतनामधेयः प्रसिद्धनामा यथार्थं यथा तथोन्नतं नाभिरन्ध्रं यस्य सः, गम्भीरनाभिरित्यर्थः । तदुक्तम्-"स्वरः सत्त्वं च नाभिश्च गाम्भीर्यं त्रिषु शस्यते ।" पङ्कजनाभिकल्पो विष्णुसदृशः कृत्स्नस्य नृपमण्डलस्य नाभिः प्रधानम् । 'नाभिः प्रधाने कस्तूरीमदेऽपि क्वचिदीरितः' इति विश्वः । सुतोऽभवत् । "अच्प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः" इत्यत्राजिति योगविभागादुन्नाभपद्मनाभादयः सिद्धाः ॥ २० ॥

उस 'शिल' के 'उन्नतनाभ' नामक स्वार्थविपरीत अधिक विशाल नाभिरन्ध्रवाला अर्थात् गंभीर नाभि होनेसे विपरीतार्थक 'उन्नतनाभ' नामक विष्णुके समान और सम्पूर्ण राज-समूहमें प्रधान पुत्र हुआ ॥ २० ॥

ततः परं वज्रधरप्रभावस्तदात्मजः संयति वज्रघोषः ।
बभूव वज्राकरभूषणायाः पतिः पृथिव्याः किल वज्रणाभः ॥ २१ ॥

तत इति । ततः परं वज्रधरप्रभाव इन्द्रतेजाः संयति सङ्ग्रामे वज्रघोषोऽशनितुल्यध्वनिर्वज्रणाभो नाम तस्योन्नाभस्यात्मजो वज्राणां हीरकाणामाकराः खनय एव भूषणानि यस्यास्तस्याः पृथिव्याः पतिर्बभूव किल खलु । 'वज्रं त्वस्त्री कुलिशशस्त्रयोः । मणिवेधे रत्नभेदेऽप्यशनावासनान्तरे ॥' इति केशवः ॥ २१ ॥

उसके बाद इन्द्रतुल्य प्रभाववाला, युद्धमें वज्रके समान (भयङ्कर) ध्वनि करनेवाला, हीरोंकी खानरूपी भूषणवाली पृथ्वीका पति 'वज्रनाभ' नामक उस 'उन्नतनाभ' का पुत्र हुआ॥

तस्मिन् गते द्यां सुकृतोपलब्धां तत्सम्भवं शङ्खणमर्णवान्ता ।
उत्खातशत्रुं वसुधोपतस्थे रत्नोपहारैरुदितैः खनिभ्यः ॥ २२ ॥

तस्मिन्निति । तस्मिन्वज्रणाभे सुकृतोपलब्धां सुधर्मार्जितां द्यां स्वर्गं गते सति । उत्खातशत्रुमुद्धृतशत्रुं शङ्खणं नाम तत्सम्भवं तदात्मजमर्णवान्ता वसुधा खनिभ्य आकरेभ्य उदितैरुत्पन्नै रत्नोपहारैरुत्कृष्टवस्तुसमर्पणैरुपतस्थे सिषेवे । 'जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते' इति भरतविश्वौ ॥ २२ ॥

उस 'वज्रनाभ' के धर्मार्जित स्वर्गमें जाने (मरने) पर शत्रुओंका उन्मूलन किये हुए 'शङ्खण' नामक उस 'वज्रनाभ' के पुत्रकी समुद्रपर्यन्त पृथ्वीने खानोंसे उत्पन्न रत्नोंके उपहारों द्वारा सेवा की अर्थात् 'वज्रनाभ' के पुत्र 'शङ्खण' ने समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका राज्य किया ॥२२॥

तस्यावसाने हरिदश्वधामा पित्र्यं प्रपेदे पदमश्विरूपः ।
वेलातटेषूषितसैनिकाश्वं पुराविदो यं व्युषिताश्वमाहुः ॥ २३ ॥

तस्येति । तस्य शङ्खणस्यावसानेऽन्ते हरिदश्वधामा सूर्यतेजाः । अश्विनोरिव रूपमस्येत्यश्विरूपोऽतिसुन्दरः । तत्पुत्र इति शेषः । पित्र्यमिति सम्बन्धिपदसामर्थ्यात् । पित्र्यं पदं प्रपेदे । वेलाटेषूषिता निविष्टाः सैनिका अश्वाश्च यस्य तम् । अन्वर्थनामानमित्यर्थः । यं पुत्रं पुराविदो वृद्धा व्युषिताश्वमाहुः ॥ २३ ॥

उस 'शङ्खण' के (मरनेके) बाद सूर्यके समान तेजस्वी तथा अश्विनीकुमारोंके समान (सुन्दर) रूपवाले (उस 'शङ्खण' को पुत्रने) पिताका पद (राज्य) प्राप्त किया; समुद्रतटों पर सैनिकों तथा घोड़ोंको रखनेसे इतिहासज्ञ लोग जिसको 'व्युषिताश्व' कहते हैं ॥ २३ ॥

आराध्य विश्वेश्वरमीश्वरेण तेन क्षितेर्विश्वसहो विजज्ञे ।
पातुं सहो विश्वसखः समग्रां विश्वम्भरामात्मजमूर्तिरात्मा ॥ २४ ॥

आराध्येति । तेन क्षितेरीश्वरेण व्युषिताश्वेन विश्वेश्वरं काशीपतिमाराध्योपास्य विश्वसहो नाम विश्वसखः समग्रां सर्वां विश्वम्भरां भुवं पातुं रक्षितुं सहत इति सहः क्षमः । पचाद्यच् । आत्मजमूर्तिः पुत्ररूप्यात्मा स्वयमेव । "आत्मा वै पुत्रनामासि" इति श्रुतेः । विजज्ञे सुषुवे । विपूर्वो जनिर्गर्भविमोचने वर्तते । यथाऽऽह भगवान्पाणिनिः-"समां समां विजायते" इति ॥ २४ ॥

पृथ्वीपति उस 'व्युषिताश्व' ने विश्वेश्वर (काशीपति शङ्कर भगवान्) की आराधना कर संसार का (या सबका) मित्र और सम्पूर्ण पृथ्वीका पालन करनेमें समर्थ 'विश्वसह' नामक पुत्ररूप आत्मा (स्वयं) को उत्पन्न किया (काशी विश्वेश्वरके पूजक उस 'व्युषिताश्व'का 'विश्वसह' नामक पुत्र हुआ) ॥ २४ ॥

अंशे हिरण्याक्षरिपोः स जाते हिरण्यनाभे तनये नयज्ञः ।
द्विषामसह्यः सुतरां तरूणां हिरण्यरेता इव सानिलोऽभूत् ॥ २५ ॥

अंश इति । नयज्ञो नीतिज्ञः स विश्वसहः । हिरण्याक्षरिपोर्विष्णोरंशे हिरण्यनाभे नाम्नि तनये जाते सति । तरूणां सानिलो हिरण्यरेता हुतभुगिव द्विषां सुतरामसह्योऽभूत् ॥ २५ ॥

नीतिज्ञ वह 'विश्वसह' हिरण्याक्षके शत्रु अर्थात् विष्णुके अंशभूत 'हिरण्यनाभ' नामक पुत्रके उत्पन्न होनेपर, वृक्षोंको वायु से युक्त अग्निके समान, शत्रुओंको असह्य हो गये ॥२५॥

पिता पितॄणामनृणस्तमन्ते वयस्यनन्तानि सुखानि लिप्सुः ।
राजानमाजानुविलम्बिबाहुं कृत्वा कृती वल्कलवान्बभूव ॥ २६ ॥

पितेति । पितॄणामनृणः, निवृत्तपितृऋण इत्यर्थः । "प्रजया पितृभ्यः" इति श्रुतेः । अत एव कृती, कृतकृत्य इत्यर्थः । पिता विश्वसहोऽन्ते वयसि वार्द्धकेऽनन्तान्यविनाशानि सुखानि लिप्सुः, मुमुक्षुरित्यर्थः । आजानुविलम्बिबाहुं दीर्घबाहुम् । भाग्यसम्पन्नमिति भावः । तं हिरण्यनाभं राजानं कृत्वा वल्कलवान्बभूव, वनं गत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

पितृ-ऋणसे मुक्त (अत एव) कृतकृत्य पिता (विश्वसह) अनन्तसुख (मोक्ष) को लाभ करनेका इच्छुक होकर आजानुबाहु (घुटने तक लम्बी भुजावाले) उस ('हिरण्यनाभ' नामक पुत्र) को राजा बनाकर (स्वयं) वल्कलधारी हो गये अर्थात् पुत्रको राज्यभार सौंप कर मुक्ति लाभके इच्छुक 'विश्वसह' जङ्गलमें तप करनेके लिये चले गये ॥ २६ ॥

कौसल्य इत्युत्तरकोसलानां पत्युः पतङ्गान्वयभूषणस्य ।
तस्यौरसः सोमसुतः सुतोऽभून्नेत्रोत्सवः सोम इव द्वितीयः ॥ २७ ॥

कौसल्य इति । उत्तरकोसलानां पत्युः पतङ्गान्वयभूषणस्य सूर्यवंशाभरणस्य सोमसुतः सोमं सुतवतः, यज्वन इत्यर्थः । "सोमे सुञः" इति क्विप् । तस्य हिरण्यनाभस्य । द्वितीयः सोमश्चन्द्र इव । नेत्रोत्सवो नयनानन्दकरः कौसल्य इति प्रसिद्ध औरसो धर्मपत्नीजः सुतोऽभूत् ॥ २७ ॥

उत्तर कोशलके राजा, सूर्यकुलभूषण तथा सोमरसका पान करने वाले अर्थात् यज्ञकर्ता उस 'हिरण्यनाभ' का दूसरे चन्द्रमाके समान नेत्रानन्ददायक 'कौशल्य' नामक पुत्र हुआ ॥२७॥

यशोभिराब्रह्मसभं प्रकाशः स ब्रह्मभूयंगतिमाजगाम ।
ब्रह्मिष्ठमाधाय निजेऽधिकारे ब्रह्मिष्ठमेव स्वतनुप्रसूतम् ॥ २८ ॥

यशोभिरिति । आ ब्रह्मसभाया आब्रह्मसभं ब्रह्मसदनपर्यन्तम् । अभिविधावव्ययीभावः । यशोभिः प्रकाशः प्रसिद्धः स कौसल्योऽतिशयेन ब्रह्मवन्तं ब्रह्मिष्ठम्, ब्रह्मविदमित्यर्थः । ब्रह्मशब्दान्मतुबन्तादिष्ठन्प्रत्यये "विन्मतोर्लुक्" इति मतुपो लुक् । "नस्तद्धिते" इति टिलोपः । ब्रह्मिष्ठं ब्रह्मिष्ठाख्यं स्वतनुप्रसूतं स्वात्मजमेव

निजे स्वकीयेऽधिकारे प्रजापालनकृत्य आधाय निधाय। ब्रह्मणो भावो ब्रह्मभूयं ब्रह्मत्वं तदेव गतिस्तामाजगाम, मुक्तोऽभूदित्यर्थः । 'स्याद् ब्रह्मभूयं ब्रह्मत्वम्' इत्यमरः । "भुवो भावे" क्यप् ॥ २८ ॥

कीर्तियोंसे ब्रह्मलोक तक प्रसिद्ध वे 'कौशल्य' ब्रह्मज्ञानी 'ब्रह्मिष्ठ' नामक अपने पुत्रको ही अपने अधिकार (राज्य) पर नियुक्तकर ब्रह्मत्व गति अर्थात् मुक्तिको प्राप्त किये ॥ २८ ॥

तस्मिन्कुलापीडनिभे विपीडं सम्यङ्महीं शासति शासनाङ्काम् ।
प्रजाश्चिरं सुप्रजसि प्रजेशे ननन्दुरानन्दजलाविलाक्ष्यः ॥ २९ ॥

तस्मिन्निति । कुलापीडनिभे कुलशेखरतुल्ये । 'वैकक्षकं तु तत् । यत्तिर्यक् क्षिप्तमुरसि शिखास्वापीडशेखरौ' इत्यमरः । सुप्रजसि तत्सन्तानवति । "नित्यमसिच्प्रजामेधयोः इत्यसिच्प्रत्ययः । तस्मिन्प्रजेशे प्रजेश्वरे ब्रह्मिष्ठे शासनाङ्कां शासनचिह्नां महीं विपीडं निर्बाधं यथा तथा सम्यक्शासति । आनन्दजलाविलाक्ष्य आनन्दबाष्पाकुलनेत्राः प्रजाश्चिरं ननन्दुः ॥ २९ ॥

कुलशेखर तुल्य तथा श्रेष्ठ प्रजावाले उस (ब्रह्मिष्ठ नामक) राजाके शासनसे अङ्कित पृथ्वीका यथायोग्य शासन करते रहनेपर आनन्दाश्रुसे आकुल अर्थात् परिपूर्ण नेत्रवाली प्रजा चिरकालतक आनन्दित रहीं ॥ २९ ॥

पात्रीकृतात्मा गुरुसेवनेन स्पष्टाकृतिः पत्ररथेन्द्रकेतोः ।
तं पुत्रिणां पुष्करपत्रनेत्रः पुत्रः समारोपयदग्रसंख्याम् ॥ ३० ॥

पात्रीकृतात्मेति । गुरुसेवनेन पित्रादिशुश्रूषया पात्रीकृतात्मा योग्यीकृतात्मा । 'योग्यभाजनयोः पात्रम्' इत्यमरः । पत्ररथेन्द्रकेतोर्गरुडध्वजस्य स्पष्टाकृतिः स्पष्टवपुः, तत्समरूप इत्यर्थः । 'आकृतिः कथिता रूपे सामान्यवपुषोरपि' इति विश्वः । पुष्करपत्रनेत्रः पद्मदलाक्षः पुत्रः पुत्राख्यो राजा । यद्वा पुत्रशब्द आवर्तनीयः । पुत्रः पुत्राख्यः पुत्रः सुतः । तं ब्रह्मिष्ठं पुत्रिणामग्रसंख्यां समारोपयत्, अग्रगण्यं चकारेत्यर्थः ॥ ३० ॥

गुरु (पिता-मातादि बड़ों) की सेवासे आत्माको सत्पात्र बनाये हुए और गरुडध्वज की स्पष्ट आकृति (विष्णुतुल्य देह) वाले तथा कमलपत्रके तुल्य नेत्रवाले 'पुत्र' नामक पुत्रने उस 'ब्रह्मिष्ठ' को सत्पुत्रवालोंकी प्रथम गणनामें रख दिया ॥ ३० ॥

वंशस्थितिं वंशकरेण तेन सम्भाव्य भावी स सखा मघोनः ।
उपस्पृशन्स्पर्शनिवृत्तलौल्यस्त्रिपुष्करेषु त्रिदशत्वमाप ॥ ३१ ॥

वंशस्थितिमिति । स्पृश्यन्त इति स्पर्शा विषयाः । तेभ्यो निवृत्तलौल्यो निवृत्ततृष्णः । अत एव मघोन इन्द्रस्य सखा मित्रं भावी भविष्यन्, स्वर्गं जिगमिषुरित्यर्थः । स ब्रह्मिष्ठो वंशकरेण वंशप्रवर्तकेन तेन पुत्रेण वंशस्थितिं कुलप्रतिष्ठां सम्भाव्य सम्पाद्य त्रिषु पुष्करेषु तीर्थविशेषेषु । "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" इति समासः। उपस्पृशन्स्नानं कुर्वंस्त्रिदशत्वं देवभूयमाप ॥ ३१ ॥

विषयोंसे निःस्पृह (अत एव) इन्द्रके भावी मित्र उस 'ब्रह्मिष्ठ' राजाने वंशके प्रवर्तक उस ('पुत्र' नामक पुत्र) से वंशस्थितिकी सम्भावनाकर त्रिपुष्करमें स्नान करते हुए अमरभावको प्राप्त किया ॥ ३१ ॥

तस्य प्रभानिर्जितपुष्परागं पौष्यां तिथौ पुष्यमसूत पत्नी ।
तस्मिन्नपुष्यन्नुदिते समग्रां पुष्टिं जनाः पुष्य इव द्वितीये ॥ ३२ ॥

तस्येति । तस्य पुत्राख्यस्य पत्नी पौष्यां पुष्पनक्षत्रयुक्तां पौर्णमास्यां तिथौ । 'पुष्ययुक्ता पौर्णमासी पौषी' इत्यमरः । "नक्षत्रेण युक्तः कालः" इत्यणप्रत्ययः । "टिड्ढाणञ्–" इत्यादिना ङीप् । प्रभया निर्जितः पुष्परागो मणिविशेषो येन तं पुष्यं पुष्याख्यमसूत । द्वितीये पुष्ये पुष्यनक्षत्र इव तस्मिन्नुदिते सति जनाः समग्रां पुष्टिं वृद्धिमपुष्यन् ॥ ३२ ॥

उस ('पुत्र' नामक राजा) की स्त्रीने पुष्प नक्षत्रसे युक्त तिथिमें कान्तिसे पुखराज मणिको जीतनेवाले 'पुष्य' (नामक पुत्र) को उत्पन्न किया । द्वितीय पुष्य नक्षत्रके समान उनके उत्पन्न होनेपर लोगोंने अत्युन्नति की ॥ ३२ ॥

महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा ।
तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः ॥ ३३ ॥

महीमिति । महेच्छो महाशयः । 'महेच्छस्तु महाशयः' इत्यमरः । जन्मभीरुः संसारभीः स पुत्रः सूनौ महीं परिकीर्य विसृज्य मनीषिणे ब्रह्मविद्याविदुषे जैमिनये मुनयेऽर्पितात्मा, शिष्यभूतः सन्नित्यर्थः । सयोगाद्योगिनस्तस्माज्जैमिनेर्योगं योगविद्यामधिगम्याजन्मने जन्मनिवृत्तये मोक्षायाकल्पत समपद्यत । 'रूपैः सम्पद्यमाने चतुर्थी वक्तव्या' मुक्त इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

महाशय एवं पुनः जन्मधारण करनेसे डरने वाले वे 'पुत्र' नामक राजा ('पुष्य' नामक) पुत्रको पृथ्वी देकर विद्वान् जैमिनि मुनिको आत्मसमर्पणकर अर्थात् जैमिनिका शिष्य बनकर योगी उस (जैमिनि) से योग सीखकर मुक्त हो गये ॥ ३३ ॥

ततः परं तत्प्रभवः प्रपेदे ध्रुवोपमेयो ध्रुवसन्धिरुर्वीम् ।
यस्मिन्नभूज्ज्यायसि सत्यसन्धे सन्धिर्ध्रुवः सन्नमतामरीणाम् ॥ ३४ ॥

तत इति । ततः परं स पुष्यः प्रभवः कारणं यस्य स तत्प्रभवः, तदात्मज इत्यर्थः । ध्रुवेणौत्तानपादिनोपमेयः । 'ध्रुव औत्तानपादिः स्यात्' इत्यमरः । ध्रुवसन्धिरुर्वीं प्रपेदे । ज्यायसि श्रेष्ठे सत्यसन्धे सत्यप्रतिज्ञे यस्मिन्ध्रुवसन्धौ सन्नमताम्, अनुद्धतानामित्यर्थः । अरीणां सन्धिर्ध्रुवः स्थिरोऽभूत् । ततः सार्थकनामेत्यर्थः ॥३४॥

उसके बाद उस 'पुष्य' के ध्रुवतुल्य 'ध्रुवसन्धि' नामक पुत्रने पृथ्वीको प्राप्त किया, श्रेष्ठ तथा सत्यप्रतिज्ञ जिस 'पुष्य' नामक राजामें झुकते (प्रणाम करते) हुए राजाओंकी स्थायी सन्धि हुई ॥ ३४ ॥

सुते शिशावेव सुदर्शनाख्ये दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने सः।
मृगायताक्षो मृगयाविहारी सिंहादवापद्विपदं नृसिंहः॥ ३५॥

सुत इति। मृगायताक्षो नृसिंहः पुरुषश्रेष्ठः स ध्रुवसन्धिर्दर्शात्ययेन्दुप्रियदर्शने प्रतिपच्चन्द्रनिभे सुदर्शनाख्ये सुते शिशौ सत्येव मृगयाविहारी सन्सिंहाद्विपदं मरणमवापत्। व्यसनासक्तिरनर्थावहेति भावः॥ ३५॥

मृगतुल्य विशाल नेत्रवाले तथा मनुष्यश्रेष्ठ उस 'ध्रुवसन्धि' ने अमावास्याके बाद (द्वितीयाके) चन्द्रमाके समान देखनेमें प्रिय 'सुदर्शन' नामक पुत्रके बालक रहने पर ही शिकार करते हुए, सिंहसे विपत्तिको प्राप्त किया अर्थात् वे सिंहसे मारे गये॥ ३५॥

स्वर्गामिनस्तस्य तमैकमत्यादमात्यवर्गः कुलतन्तुमेकम्।
अनाथदीनाः प्रकृतीरवेक्ष्य साकेतनाथं विधिवच्चकार॥ ३६॥

स्वर्गामिन इति। स्वर्गामिनः स्वर्यातस्य तस्य ध्रुवसन्धेरमात्यवर्गः। अनाथा नाथहीना अतएव दीनाः शोच्याः प्रकृतीः प्रजा अवेक्ष्य। कुलतन्तुं कुलावलम्बनमेकमद्वितीयं तं सुदर्शनमैकमत्याद्विधिवत्साकेतनाथमयोध्याधीश्वरं चकार॥ ३६॥

स्वर्ग प्राप्त उस 'ध्रुवसन्धि' के मन्त्रिसमूहने अनाथ होनेसे दुःखित प्रजाओंको देखकर कुलके आश्रय एक 'सुदर्शन' को ही एकमत (सर्वसम्मति) से विधिपूर्वक अयोध्याका राजा बनाया॥ ३६॥

नवेन्दुना तन्नभसोपमेयं शावैकसिंहेन च काननेन।
रघोः कुलं कुड्मलपुष्करेण तोयेन चाप्रौढनरेन्द्रमासीत्॥ ३७॥

नवेन्दुनेति। अप्रौढनरेन्द्रं तद्रघोः कुलं नवेन्दुना बालचन्द्रेण नभसा व्योम्ना। शावः शिशुरेकः सिंहो यस्मिन्। 'पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः। तेन काननेन च। कुड्मलं कुड्मलावस्थं पुष्करं पङ्कजं यस्मिंस्तेन तोयेन चोपमेयमुपमातुमर्हमासीत्। नवेन्द्वाद्युपमानेन तस्य वर्धिष्णुताशौर्यश्रीमत्त्वानि सूचितानि॥ ३७॥

अप्रौढ (बालक) राजावाला वह रघुकुल नये चन्द्रवाले आकाशके, बालक एक सिंहवाले वनके और अविकसित कमलवाले पानी (तालाव) के समान हुआ॥ ३७॥

लोकेन भावी पितुरेव तुल्यः सम्भावितो मौलिपरिग्रहात्सः।
दृष्टो हि वृण्वन्कलभप्रमाणोऽप्याशाः पुरोवातमवाप्य मेघः॥ ३८॥

लोकेनेति। स बालो मौलिपरिग्रहात्किरीटस्वीकाराद्धेतोः पितुस्तुल्यः पितृसरूप एव भावी भविष्यति लोकेन जनेन सम्भावितस्तर्कितः। तथा हि, कलभप्रमाणः कलभमात्रोऽपि मेघः पुरोवातमवाप्याशा दिशो वृण्वन्नाच्छन्दृष्टो हि॥ ३८॥

लोगोंने उस (बालक राजा) को मुकुट धारण करने (राजा बनने) से पिताके ही तुल्य होनेवाला समझा; क्योंकि हाथीके प्रमाणवाले (अत्यन्त थोड़े) भी मेघको पूर्ववायु (पुरवैया हवा) के साथसे दिशाओंको घेरते हुए देखा गया है॥ ३८॥

तं राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तमाधोरणालम्बितमग्र्यवेशम् ।
षड्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात्प्रैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण ॥ ३९ ॥

तमिति । राजवीथ्यां राजमार्गेऽधिहस्ति हस्तिनि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । यान्तं गच्छन्तम्, हस्तिनमारुह्य गच्छन्तमित्यर्थः । आधोरणालम्बितं शिशुत्वात्सादिना गृहीतमग्र्यवेशमुदारनेपथ्यं षड्वर्षाणि भूतः षड्वर्षः । "तद्धितार्थ-" इत्यादिना समासः । "तमधीष्टो भृतो भूतो भावी" इत्यधिकारे "चित्तवति नित्यम्" इति तद्धितस्य लुक् । ईषदसमाप्तः षड्वर्षः षड्वर्षदेशीयः । "ईषदसमाप्तौ-" इत्यादिना देशीयर्प्रत्ययः । तं षड्वर्षदेशीयमपि बालमपि तं सुदर्शनं पौराः प्रभुत्वात्पितृगौरवेण प्रैक्षन्त । पितरि यादृग्गौरवं तादृशेनैव ददृशुरित्यर्थः ॥ ३९ ॥

राजमार्गमें हाथीपर सवार होकर जाते हुए, (बालक होनेके कारण) हाथीवानसे ग्रहण किये (सम्हाले) गये, श्रेष्ठ भूषणवाले और छः वर्षकी अवस्थावाले भी उस ('सुदर्शन' नामक बालक राजा) को राजा होनेसे नागरिकोंने पिताके समान गौरवसे देखा । (बालक होनेपर भी राजा होनेसे उस 'सुदर्शन'को नगरवासियोंने पिताके समान पूज्य माना) ॥

कामं न सोऽकल्पत पैतृकस्य सिंहासनस्य प्रतिपूरणाय ।
तेजोमहिम्ना पुनरावृतात्मा तद्व्याप चामीकरपिञ्जरेण ॥ ४० ॥

काममिति । स सुदर्शनः पैतृकस्य सिंहासनस्य कामं सम्यक् प्रतिपूरणाय नाकल्पत, बालत्वाद्व्याप्तुं न पर्याप्त इत्यर्थः । चामीकरपिञ्जरेण कनकगौरेण तेजोमहिम्ना पुनस्तेजःसम्पदा त्वावृतात्मा विस्तारितदेहः संस्तत्सिंहासनं व्याप व्याप्तवान् ॥ ४० ॥

वे ('सुदर्शन' बालक होनेके कारण) पिताके सिंहासनको पूर्ण करनेके लिये भले ही नहीं समर्थ हुए; किन्तु सुवर्णके समान गौर तेजकी अधिकतासे विस्तृत देहवाले उन्होंने उस (सिंहासन) को व्याप्त (परिपूर्ण) कर दिया ॥ ४० ॥

तस्मादधः किञ्चिदिवावतीर्णावसंस्पृशन्तौ तपनीयपीठम् ।
सालक्तकौ भूतपयः प्रसिद्धैर्ववन्दिरे मौलिभिरस्य पादौ ॥ ४१ ॥

तस्मादिति । तस्मात्सिंहासनादपादानादधोऽधोदेशं प्रति किञ्चिदिवावतीर्णावीषल्लम्बौ तपनीयपीठं काञ्चनपीठमसंस्पृशन्तावल्पकत्वादव्याप्तौ सालक्तकौ लाक्षारसावसिक्तावस्य सुदर्शनस्य पादौ भूपतयः प्रसिद्धैरुन्नतैर्मौलिभिर्मुकुटैर्ववन्दिरे प्रणेमुः ॥

उस सिंहासनसे थोड़ा-सा नीचेकी ओर लटकते हुए तथा (छोटे होनेसे) सोनेके पादपीठको स्पर्श नहीं करते हुए, इस ('सुदर्शन' नामक बालक राजा) के अलक्तक लगे दोनों चरणोंको राजाओंने (पाद-स्पर्श करनेके लिये) कुछ ऊपर उठाये हुए मस्तकोंसे प्रणाम किया ॥ ४१ ॥

मणौ महानील इति प्रभावादल्पप्रमाणेऽपि यथा न मिथ्या।
शब्दो महाराज इति प्रतीतस्तथैव तस्मिन्युयुजेऽर्भकेऽपि॥ ४२॥

मणाविति। अल्पप्रमाणेऽपि मणाविन्द्रनीले प्रभावात्तेजिष्ठत्वाद्धेतोर्महानील इति शब्दो यथा मिथ्या निरर्थको न, तथैवार्भके शिशावपि तस्मिन्सुदर्शने प्रतीतः प्रसिद्धो महाराज इति शब्दो न मिथ्या युयुजे॥ ४२॥

छोटे आकारवाले भी (नीलम) मणिमें तेज (पानी) होनेसे 'महानील' यह नाम जिस प्रकार असत्य नहीं है, उसी प्रकार बाल भी उस 'सुदर्शन'में प्रसिद्ध 'महाराज' शब्द भी असत्य नहीं हुआ॥ ४२॥

पर्यन्तसञ्चारितचामरस्य कपोललोलोभयकाकपक्षात्।
तस्याननादुच्चरितो विवादश्चस्खाल वेलास्वपि नार्णवानाम्॥ ४३॥

पर्य्यन्तेति। पर्यन्तयोः पार्श्वयोः सञ्चारिते चामरे यस्य तस्य बालस्य सम्बन्धिनः कपोलयोर्लोलावुभौ काकपक्षौ यस्य तस्मादाननादुच्चरितो विवादो वाचनमर्णवानां वेलास्वपि न चस्खाल, शिशोरपि तस्याज्ञाभङ्गो नासीदित्यर्थः। चपलसंसर्गेऽपि महान्तो न चलन्तीति ध्वनिः। उभयकाकपक्षादित्यत्र "वृत्तिविषये उभयपुत्र इतिवदुभशब्दस्थाने उभयशब्दप्रयोगः" इत्युक्तं प्राक्॥ ४३॥

दोनों पार्श्वोंमें चलाये जाते हुए चामरोंवाले उस ('सुदर्शन' नामक नृपति) के कपोलद्वयमें हिलते हुए काकपक्षवाले मुखसे निकली हुई आज्ञा समुद्रोंके तटोंमें अर्थात् समुद्रतट तक भग्न नहीं हुई॥ ४३॥

निर्वृत्तजाम्बूनदपट्टशोभे न्यस्तं ललाटे तिलकं दधानः।
तेनैव शून्यान्यरिसुन्दरीणां मुखानि स स्मेरमुखश्चकार॥ ४४॥

निर्वृत्तेति। निर्वृत्ता जाम्बूनदपट्टशोभा यस्य तस्मिन्कृतकनकपट्टशोभे ललाटे न्यस्तं तिलकं दधानः स्मेरमुखः स्मितमुखः स राजाऽरिसुन्दरीणां मुखानि तेनैव तिलकेनैव शून्यानि चकार। अखिलमपि शत्रुवर्गमवधीदिति भावः॥ ४॥

स्वर्णनिर्मित पट्टसे शोभित ललाटमें लगाये गये तिलकको धारण करते हुए स्मितयुक्त मुखवाले, उस 'सुदर्शन' ने शत्रु-स्त्रियोंके मुखोंको उसीसे अर्थात् तिलकसे ही शून्य कर दिया। ('सुदर्शन' ने समस्त शत्रुओंको मारकर उनकी विधवा स्त्रियोंके ललाटको तिलक-शून्य कर दिया)॥ ४४॥

शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यः खेदं स यायादपि भूषणेन।
नितान्तगुर्वीमपि सोऽनुभावाद् धुरं धरित्र्या बिभराम्बभूव॥ ४५॥

शिरीषेति। शिरीषपुष्पाधिकसौकुमार्यः, कोमलाङ्ग इत्यर्थः। अत एव स राजा भूषणेनापि खेदं श्रमं यायाद्गच्छेत्। एवम्भूतः स नितान्तगुर्वीमपि धरित्र्या

धुरं भुवो भारमनुभावात्सामर्थ्याद्बिभराम्बभूव बभार। "भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च" इति विकल्पादाम्प्रत्ययः॥ ४५॥

शिरीषके पुष्पसे भी अधिक सुकुमार वे 'सुदर्शन' भूषणसे भी खिन्न होते थे; (पर) उन्होंने अत्यन्त भारी पृथ्वीके भारको प्रतापसे धारण किया॥ ४५॥

न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां कार्त्स्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत्।
सर्वाणि तावच्छ्रुतवृद्धयोगात्फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः॥ ४६॥

न्यस्ताक्षरामिति। अक्षरभूमिकायामक्षरलेखनस्थले न्यस्ताक्षरां रचिताक्षरपङ्क्तिरेखान्यासां लिपिं पञ्चाशद्वर्णात्मिकां मातृकां कार्त्स्न्येन यावन्न गृह्णाति, स सुदर्शनस्तावच्छ्रुतवृद्धयोगाद्विद्यावृद्धसंसर्गात्सर्वाणि दण्डनीतेर्दण्डशास्त्रस्य फलान्युपायुङ्क्तान्वभूत्। प्रागेव बद्धफलस्य तस्य पश्चादभ्यस्यमानं शास्त्रं संवादार्थमिवाभवदित्यर्थः॥

पाटीपर लिखे गये वर्णमालाको पूर्णतया जबतक (कोई) नहीं ग्रहण कर पाता है, तबतक वे 'सुदर्शन' विद्यावृद्धोंके साथसे दण्डनीतिके फलोंका उपयोग करने लगे। (पूर्वजन्मार्जित कर्मके द्वारा पहलेसे ही नियत फलवाले 'सुदर्शन' का शास्त्राभ्यास मानो मिलानके लिये हुआ)॥ ४६॥

उरस्यपर्याप्तनिवेशभागा प्रौढीभविष्यन्तमुदीक्षमाणा।
सञ्जातलज्जेव तमातपत्रच्छायाच्छलेनोपजुगूह लक्ष्मीः॥ ४७॥

उरसीति। उरस्यपर्याप्तो निवेशभागो निवासावकाशो यस्याः सा अत एव प्रौढीभविष्यन्तं वर्धिष्यमाणमुदीक्षमाणा प्रौढवपुष्मान्भविष्यतीति प्रतीक्षमाणा लक्ष्मीः सञ्जातलज्जेव साक्षादालिङ्गितुं लज्जितेव तं सुदर्शनमातपत्रच्छायाच्छलेनोपजुगूहालिलिङ्ग। छत्रच्छाया लक्ष्मीरूपेति प्रसिद्धिः। प्रौढाङ्गनायाः प्रौढपुरुषालाभे लज्जा भवतीति ध्वनिः॥ ४७॥

'सुदर्शन'की छातीपर अपूर्ण निवास करने योग्य स्थानवाली, भविष्यमें प्रौढ होते हुए (उन) को देखती हुई लक्ष्मीने लज्जित-सी होती हुई उस 'सुदर्शन'को छत्रकी छायाके बहानेसे आलिङ्गन किया॥ ४७॥

अनश्नुवानेन युगोपमानमबद्धमौर्वीकिणलाञ्छनेन।
अस्पृष्टखड्गत्सरुणाऽपि चासीद्रक्षावती तस्य भुजेन भूमिः॥ ४८॥

अनश्नुवानेनेति। युगोपमानं युगसादृश्यमनश्नुवानेनाप्राप्नुवता। अबद्धं मौर्वीकिणो ज्याघातग्रन्थिरेव लाञ्छनं यस्य तेन। अस्पृष्टः खड्गत्सरुः खड्गमुष्टिर्येन तेन। 'त्सरुः खड्गादिमुष्टौ स्यात्' इत्यमरः। एवंविधेनापि च तस्य सुदर्शनस्य भुजेन भूमी रक्षावत्यासीत्। शिशोरपि तस्य तेजस्तादृगित्यर्थः॥ ४८॥

जुवेकी समानताको अप्राप्त, प्रत्यञ्चाके चिह्न (घट्ठे, गट्टा) से रहित और तलवारकी मूठको नहीं स्पर्श किये हुए भी उस सुदर्शनके बाहुसे लक्ष्मी सुरक्षित थी॥ ४८॥

न केवलं गच्छति तस्य काले ययुः शरीरावयवा विवृद्धिम् ।
वंश्या गुणाः खल्वपि लोककान्ताः प्रारम्भसूक्ष्माः प्रथिमानमापुः ॥४६॥

नेति । काले गच्छति सति तस्य केवलं शरीरावयवा एव विवृद्धिं प्रसारं न ययुः । किन्तु वंशे भवा वंश्या लोककान्ता जनप्रियाः प्रारम्भे आदौ सूक्ष्मास्तस्य गुणाः शौर्यौदार्यादयोऽपि प्रथिमानं पृथुत्वमापुः खलु ॥ ४९ ॥

समयके व्यतीत होते रहनेपर उस 'सुदर्शन'के केवल शरीरके अवयव ही नहीं हृष्ट-पुष्ट हुए; किन्तु वंशज, लोक-रमणीय और आरम्भमें सूक्ष्म गुण भी पुष्टता (वृद्धि) को प्राप्त हुए ॥ ४९ ॥

स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन्निवाक्लेशकरो गुरूणाम् ।
तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः ॥ ५० ॥

स इति । स सुदर्शनः पूर्वस्मिञ्जन्मान्तरे जन्मविशेषे दृष्टपाराः स्मरन्निव गुरूणामक्लेशकरः सन् । त्रयाणां धर्मार्थकामानां वर्गस्त्रिवर्गः तस्याधिगमस्य प्राप्तेर्मूलं तिस्रो विद्यास्त्रयीवार्त्तादण्डनीतीः पित्र्याः पितृसम्बन्धिनीः प्रकृतीः प्रजाश्च जग्राह स्वायत्तीचकार । अत्र कौटिल्यः–"धर्माधर्मौ त्रय्यामर्थानर्थौ वार्त्तायां नयानयौ दण्डनीत्याम्" इति । अत्र दण्डनीतिर्नयद्वारा काममूलमिति द्रष्टव्यम् । आन्वीक्षिक्या अनुपादानं त्रय्यन्तर्भावपक्षमाश्रित्य । यथाऽऽह कामन्दकः–"त्रयीवार्त्तादण्डनीतिस्तिस्रो विद्या मनोर्मताः । त्रय्या एव विभागोऽयं येन सान्वीक्षिकी मता ॥" इति ॥ ५० ॥

पहले जन्मान्तरमें अन्ततक देखी गयीं (विद्याओंको) स्मरण करते हुएके समान, गुरुओंके सुखकारक उस 'सुदर्शन'ने पिता 'ध्रुवसन्धि' की तीनों विद्याओं (आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता) को तथा प्रकृतियों (मन्त्री, सेना आदि) को वशीभूत कर लिया ॥५०॥

व्यूह्य स्थितः किञ्चिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानुः ।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रेषु विनीयमानः ॥ ५१ ॥

व्यूह्येति । अस्त्रेषु धनुर्विद्यायां विनीयमानः शिक्ष्यमाणोऽत एवोत्तरार्धं पूर्वकायं किञ्चिदिव व्यूह्य विस्तीर्य स्थितः । उन्नद्धचूड ऊर्ध्वमुत्कृष्य बद्धकेशः । अञ्चितमाकुञ्चितं सव्यं जानु यस्य स आकर्णमाकृष्टं सबाणं धनुर्धन्वा येन स तथोक्तः सन् व्यरोचताशोभत ॥ ५१ ॥

अस्त्र-(धनुष)—विद्या सीखते हुए, पूर्वार्द्ध (नाभिसे ऊपरका भाग) शरीरको विस्तीर्ण करके स्थित, ऊपर उठाकर बांधे गये चूडावाले, शोभमान सव्य घुटनेवाले और कानतक खींचे हुए बाण सहित धनुषवाले (वे 'सुदर्शन' राजा) शोभित हुए ॥ ५१ ॥

अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं
मनसिजतरुपुष्पं रागबन्धप्रवालम् ।

अकृतकविधि सर्वाङ्गीणमाकल्पजातं
विलसितपदमाद्यं यौवनं स प्रपेदे ॥ ५२ ॥

अथेति । अथ स सुदर्शनो वनितानां नेत्रैर्निर्वेशनीयं भोग्यम् , नेत्रपेयमित्यर्थः । "निर्वेशो भृतिभोगयोः' इत्यमरः । मधु क्षौद्रम् । रागबन्धोऽनुरागसन्तान एव प्रवालः पल्लवो यस्य तत् । मनसिज एव तरुस्तस्य पुष्पं पुष्पभूतम् । अकृतकविध्यकृत्रिमसम्पादनम् । सर्वाङ्गं व्याप्नोतीति सर्वाङ्गीणम् । "तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति" इत्यनेन खप्रत्ययः । आकल्पजातमाभरणसमूहभूतम् । आद्यं विलसितपदं विलासस्थानं यौवनं प्रपेदे । विशिष्टमधुपुष्पाकल्पजातविलासपदत्वेन यौवनस्य चतुर्धाकरणात्सविशेषणमालारूपकमेतत् ॥ ५२ ॥

इसके बाद उस 'सुदर्शन'ने स्त्रियोंके नेत्रोंसे भोग्य अर्थात् स्त्रियोंके दर्शनीय मद्यरूप, कामदेव-वृक्षके पुष्परूप, अनुराग-समूहके नवपल्लव रूप, स्वाभाविक, समस्त शरीरमें व्याप्त, भूषणसमूहरूप, विलासके प्रथम (मुख्य) स्थान युवावस्थाको प्राप्त किया ॥ ५२ ॥

प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसन्दर्शिताभ्यः
समधिकतररूपाः शुद्धसन्तानकामैः ।
अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः
प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः ॥ ५३ ॥

प्रतिकृतिरचनाभ्य इति । दूतिभिः कन्यापरीक्षणार्थं प्रेषिताभिः सन्दर्शिताभ्यो-दूतिसन्दर्शिताभ्यः प्रतिकृतीनां तूलिकादिलिखितकन्याप्रतिमानां रचनाभ्यो विन्यासेभ्यः । "पञ्चमी विभक्ते" इति पञ्चमी । समधिकतररूपाः । चित्रनिर्माणादपि, रमणीयनिर्माणा इत्यर्थः । शुद्धसन्तानकामैरमात्यैराहृता आनीता राजकन्याः यूनस्तस्य सुदर्शनस्य सम्बन्धिन्यौ प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ श्रीश्च भूश्च ते अधिविविदुरधिविन्ने चक्रुः । आत्मना सपत्नीभावं चक्रुरित्यर्थः । 'कृतसापत्निकाऽध्यूढाऽधिविन्ना' इत्यमरः ॥ ५३ ॥

इति सञ्जीविनीव्याख्यायां वंशानुक्रमो नामाष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

दूतियों द्वारा दिखलाये गये चित्रोंसे भी सुन्दरी और शुद्ध सन्तानको चाहनेवाले मन्त्रियोंसे लायी गयी, राजकन्याओंने ('सुदर्शन'के द्वारा) पहले स्वीकृत की गयी लक्ष्मी तथा पृथ्वीको सपत्नी बनाया अर्थात् पूर्वसे ही श्रीपति तथा पृथ्वीपति युवक 'सुदर्शन' को पति बनाया ॥ ५३ ॥

यह 'मणिप्रभा' टीकामें 'वंशानुक्रम' नामक अष्टादश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः ।

मनसो मम संसारबन्धमुच्छेत्तुमिच्छतः ।
रामचन्द्रपदाम्भोजयुगलं निगडायताम् ॥

अग्निवर्णमभिषिच्य राघवः स्वे पदे तनयमग्नितेजसम् ।
शिश्रिये श्रुतवतामपश्चिमः पश्चिमे वयसि नैमिषं वशी ॥ १ ॥

अग्निवर्णमिति । श्रुतवतां श्रुतसम्पन्नानामपश्चिमः प्रथमो वशी जितेन्द्रियो राघवः सुदर्शनः पश्चिमे वयसि वार्द्धके स्वे पदे स्थानेऽग्नितेजसं तनयमग्निवर्णमभिषिच्य नैमिषं नैमिषारण्यं शिश्रिये श्रितवान् ॥ १ ॥

संसार-बन्धोच्छेदके इच्छुक हमारे स्वान्तका ।
निविडसम हो पाद-पङ्कजयुगल सीताकान्तका ॥

विद्वानोंमें प्रधान, रघु-कुलोत्पन्न एवं जितेन्द्रिय 'सुदर्शन' अन्तिम अवस्था (बुढ़ापा) में अग्नि के समान तेजस्वी 'अग्निवर्ण' नामक पुत्रको अपने स्थानपर अभिषिक्तकर नैमिषारण्यको चले गये ॥ १ ॥

तत्र तीर्थसलिलेन दीर्घिकास्तल्पमन्तरितभूमिभिः कुशैः ।
सौधवासमुटजेन विस्मृतः सञ्चिकाय फलनिःस्पृहस्तपः ॥ २ ॥

तत्रेति । तत्र नैमिषे तीर्थसलिलेन दीर्घिका विहारवापीरन्तरितभूमिभिः कुशैस्तल्पं शय्यामुटजेन पर्णशालया सौधवासं जलमन्दिरं विस्मृतो विस्मृतवान्सः । कर्तरि क्तः । फले स्वर्गादिफले निःस्पृहस्तपः सञ्चिकाय सञ्चितवान् ॥ २ ॥

वहांपर तीर्थ जलसे (विहारकी) बावलियोंको , भूमि पर बिछाये गये कुशोंसे पलंगको पर्णशालासे महलको भूले हुए (अतएव) फल प्राप्तिकी चाह नहीं करनेवाले वे 'सुदर्शन' तपका सञ्चय करने लगे ॥ २ ॥

लब्धपालनविधौ न तत्सुतः खेदमाप गुरुणा हि मेदिनी ।
भोक्तुमेव भुजनिर्जितद्विषा न प्रसाधयितुमस्य कल्पिता ॥ ३ ॥

लब्धपालनविधाविति । तत्सुतः सुदर्शनपुत्रोऽग्निवर्णो लब्धस्य राज्यस्य पालनकर्मणि खेदं नाप, अक्लेशेनापालयदित्यर्थः । कुतः । हि यस्माद् भुजनिर्जितद्विषा गुरुणा पित्रा मेदिन्यस्याग्निवर्णस्य भोक्तुमेव कल्पिता । प्रसाधयितुं न । प्रसाधनं कण्टकशोधनम् । अलङ्कृतिर्ध्वन्यते । तथा च यथाऽलङ्कृता युवतिः केवलमुपभुज्यते तद्वदिति भावः ॥ ३ ॥

उस 'सुदर्शन' के पुत्र (अग्निवर्ण) मिले हुए राज्य पालनमें खिन्न नहीं हुए अर्थात सरलतासे पृथ्वीपालन किये क्योंकि बाहु (-बल) से शत्रुओंको पराजित किये हुए पिता (सुदर्शन) ने इस (अग्निवर्ण) के भोगनेके लिये ही पृथ्वीको दिया था, कण्टकशोधन

(कण्टकतुल्य शत्रुओंको मारकर भोग करने) के लिये नहीं दिया था अर्थात् सुदर्शनने पहले ही सब शत्रुओंको बाहुबलसे जीतकर पृथ्वीको निष्कण्टक बनाकर 'अग्निवर्ण' को राजा बनाया था, अतएव उस 'अग्निवर्ण' को श्रृङ्गारिता स्त्रीके समान पृथ्वीका भोग मात्र करना था ॥ ३ ॥

सोऽधिकारमभिकः कुलोचितं काश्चन स्वयमवर्तयत्समाः ।
सन्निवेश्य सचिवेष्वतःपरं स्त्रीविधेयनवयौवनोऽभवत् ॥ ४ ॥

स इति । अभिकः कामुकः । "अनुकाभिकाभीकः कमिता" इति निपातः । 'कम्रः कामयिताऽभीकः कमनः कामनोऽभिकः' इत्यमरः । सोऽग्निवर्णः कुलोचितमधिकारं प्रजापालनं काश्चन समाः कतिचिद्वत्सरान्स्वयमवर्तयदकरोत् । अतः परं सचिवेषु सन्निवेश्य निधाय स्त्रीविधेयं स्त्र्यधीनं नवं यौवनं यस्य सोऽभवत्, स्त्र्यासक्तोऽभूदित्यर्थः ॥ ४ ॥

कामी उस 'अग्निवर्ण' ने कुछ वर्षोंतक कुलोचित अधिकार (प्रजापालन कार्य) को स्वयं किया, इसके बाद युवावस्थावाला वह कार्य मन्त्रियोंको सौंपकर स्त्रियोंके अधीन (स्त्रियोंमें आसक्त) हो गया ॥ ४ ॥

कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य वेश्मसु मृदङ्गनादिषु ।
ऋद्धिमन्तमधिकर्द्धिरुत्तरः पूर्वमुत्सवमपोहदुत्सवः ॥ ५ ॥

कामिनीसहचरस्येति । कामिनीसहचरस्य कामिनस्तस्य मृदङ्गनादिषु मृदङ्गनादवत्सु वेश्मस्वधिकर्द्धिः पूर्वस्मादधिकसम्भार उत्तर उत्सवः । ऋद्धिमन्तं साधनसम्पन्नं पूर्वमुत्सवमपोहदपानुदत् । उत्तरमुत्तरमधिका तस्योत्सवपरम्परा वृत्तेत्यर्थः ॥ ५ ॥

कामिनीयुक्त उस 'अग्निवर्ण' के मृदङ्ग बजते हुए महलोंमें पूर्वकी अपेक्षा बड़े समृद्धियुक्त उत्सवोंने पहलेके उत्सवको दबा दिया । (उत्तरोत्तर अधिक उत्सव 'अग्निवर्ण' के महलोंमें होता रहा) ॥ ५ ॥

इन्द्रियार्थपरिशून्यमक्षमः सोढुमेकमपि स क्षणान्तरम् ।
अन्तरेव विहरन्दिवानिशं न व्यपैक्षत समुत्सुकाः प्रजाः ॥ ६ ॥

इन्द्रियार्थपरिशून्यमिति । इन्द्रियार्थपरिशून्यं शब्दादिविषयरहितमेकमपि क्षणान्तरं क्षणभेदं सोढुमक्षमोऽशक्तः सोऽग्निवर्णो दिवा च निशा च दिवानिशमन्तरेव विहरन्समुत्सुका दर्शनाकाङ्क्षिणीः प्रजा न व्यपैक्षत नापेक्षितवान् ॥ ६ ॥

विषय-भोगसे रहित एक क्षणको भी सहन करनेमें असमर्थ उस 'अग्निवर्ण' ने रात-दिन अन्तःपुरमें ही विहार करते हुए उत्कण्ठित प्रजाओंकी अपेक्षा नहीं की (प्रजाके पालनादि कार्योंकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया) ॥ ६ ॥

गौरवाद्यदपि जातु मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकाङ्क्षितं ददौ ।
तद्गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम् ॥ ७ ॥

गौरवादिति । जातु कदाचिन्मन्त्रिणां गौरवाद् गुरुत्वाद्धेतोः, मन्त्रिवचनानुरोधादित्यर्थः । प्रकृतिभिः प्रजाभिः काङ्क्षितं यदपि दर्शनं ददौ तदपि गवाक्षविवरादवलम्बिना केवलेन चरणेन चरणमात्रेण कल्पितं सम्पादितम् । न तु मुखावलोकनप्रदानेनेत्यर्थः ॥ ७ ॥

मन्त्रियोंके गौरवसे प्रजाओंके द्वारा अभिलषित जो भी दर्शन दिया, वह केवल खिड़कीसे लटकते हुए केवल पैरसे ही दिया। मन्त्रियोंके आग्रहसे खिड़कीसे लटकते हुए पैरका दर्शन ही कभी २ प्रजाको होता था, उनके मुखका दर्शन प्रजाको कभी नहीं मिलता था) ॥ ७ ॥

तं कृतप्रणतयोऽनुजीविनः कोमलात्मनखरागरूषितम् ।
भेजिरे नवदिवाकरातपस्पृष्टपङ्कजतुलाऽधिरोहणम् ॥ ८ ॥

तमिति । कोमलेन मृदुलेनात्मनखानां रागेणारुण्येन रूषितं छुरितम् । अतएव नवदिवाकरातपेन स्पृष्टं व्याप्तं यत्पङ्कजं तस्य तुलां साम्यतामधिरोहति प्राप्नोतीति तुलाऽधिरोहणम् । तं चरणमनुजीविनः कृतप्रणतयः कृतनमस्काराः सन्तो भेजिरे सिषेविरे ॥ ८ ॥

कोमल अपने नखोंकी कान्तिसे युक्त (अतएव) प्रातःकालके सूर्यप्रकाशसे युक्त कमलकी समानता करनेवाले उस चरणको प्रणाम करते हुए भृत्योंने सेवन किया ॥ ८ ॥

यौवनोन्नतविलासिनीस्तनक्षोभलोलकमलाश्च दीर्घिकाः ।
गूढमोहनगृहास्तदम्बुभिः स व्यगाहत विगाढमन्मथः ॥ ९ ॥

यौवनेति । विगाढमन्मथः प्रौढमदनः सोऽग्निवर्णो यौवनेन हेतुनोन्नतानां विलासिनीस्तनानां क्षोभेणाघातेन लोलानि चञ्चलानि कमलानि यासां ताः । तदम्बुभिस्तासां दीर्घिकाणामम्बुभिर्गूढान्यन्तरितानि मोहनगृहाणि सुरतभवनानि यासु ताश्च दीर्घिका व्यवगाहत व्यलोडयत् । स्त्रीभिः सह दीर्घिकासु विजहारेत्यर्थः ॥ ९ ॥

तीव्र कामवासनावाले उस (अग्निवर्ण) ने युवावस्थासे उन्नत विलासिनी-स्तनोंके आघातसे चञ्चल कमलोंवाली और उन (बावलियों) के जलसे गूढ सुरत गृहोंवाली बावलियोंको विलोडित किया अर्थात् युवती स्त्रियोंके साथ बावलियोंमें जलक्रीडा की ॥ ९ ॥

तत्र सेकहृतलोचनाञ्जनैर्धौतरागपरिपाटलाधरैः ।
अङ्गनास्तमधिकं व्यलोभयन्नर्पितप्रकृतकान्तिभिर्मुखैः ॥ १० ॥

तत्रेति । तत्र दीर्घिकास्वङ्गनाः सेकेन हृतं लोचनाञ्जनं नेत्रकज्जलं येषां तैः । रज्यतेऽनेनेति रागो रागद्रव्यं लाक्षादि । रागस्य परिपाटलोऽङ्गगुणः । 'गुणे शुक्लादयः पुंसि' इत्यमरः । धौतो रागपरिपाटलो येषां ते तथोक्ता अधरा येषां तैः, निवृत्तसाङ्क्रमिकरागैरित्यर्थः । अत एवार्पितप्रकृतकान्तिभिः, अभिव्यञ्जितस्वाभाविकरागैरित्यर्थः । एवं भूतैर्मुखैस्तमग्निवर्णमधिकं व्यलोभयन्प्रलोभितवत्यः ॥ १० ॥

वहांपर अङ्गनाओंने सिञ्चनसे धुले हुए नेत्रके अञ्जनोंवाले, रंगके धुलनेसे रक्तवर्ण ओष्ठवाले (अतएव) अकृत्रिम (रंगोंके धुलनेसे स्वाभाविक) कान्तिवाले मुखोंसे उस 'अग्निवर्ण' को लुभाया ॥ १० ॥

घ्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणीः पानभूमिरचनाः प्रियासखः ।
अभ्यपद्यत स वासितासखः पुष्पिताः कमलिनीरिव द्विपः ॥ ११ ॥

घ्राणकान्तेति । प्रियासखः सोऽग्निवर्णो घ्राणकान्तेन घ्राणतर्पणेन मधुगन्धेन कर्षिणीर्मनोहारिणीः । रच्यन्त इति रचनाः । पानभूमय एव रचनाः, रचिताः पानभूमय इत्यर्थः । वासितासखः करिणीसहचरः । 'वासिता स्त्रीकरिण्योश्च' इत्यमरः । द्विपः पुष्पिताः कमलिनीरिव अभ्यपद्यताभिगतः ॥ ११ ॥

प्रियाओंके सहित वे 'अग्निवर्ण' नाकको तृप्त करनेवाले मद्य-गन्धसे आकृष्ट करनेवाली (मद्य-) पानभूमिको, खिली हुई कमलिनियोंको हथिनीके साथ हाथीके समान गये ॥११॥

सातिरेकमदकारणं रहस्तेन दत्तमभिलेषुरङ्गनाः ।
ताभिरप्युपहृतं मुखासवं सोऽपिबद्बकुलतुल्यदोहदः ॥ १२ ॥

सेति । अङ्गना रहो रहसि सातिरेकस्य सातिशयस्य मदस्य कारणं तेनाग्निवर्णेन दत्तं मुखासवं मद्यमभिलेषुः । बकुलेन तुल्यदोहदस्तुल्याभिलाषः । 'अथ दोहदम् । इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृट्' इत्यमरः । बकुलद्रुमस्याङ्गनामदार्थित्वात्तुल्याभिलाषत्वम् । सोऽपि ताभिरङ्गनाभिरुपहृतं दत्तं मुखासवमपिबत् ॥ १२ ॥

अङ्गनाओंने एकान्तमें (प्रियके द्वारा अपने हाथोंसे दिये जानेसे) अधिक मदका कारण उस 'अग्निवर्ण' से दिये गये मद्यकी चाहना की और बकुल (मौलसिरी) वृक्षके समान दोहदवाले 'अग्निवर्ण' ने भी उन (अङ्गनाओं) से दिये गये मद्यका पान किया ॥ १२ ॥

अङ्कमङ्कपरिवर्त्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे ।
वल्लकी च हृदयङ्गमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना ॥ १३ ॥

अङ्कमिति । अङ्कपरिवर्तनोचिते उत्सङ्गविहारार्हे उभे तस्याग्निवर्णस्याङ्कमशून्यतां पूर्णतां निन्यतुः । के उभे । हृदयङ्गमस्वना मनोहरध्वनिर्वल्लकी वीणा च । वल्गुवाङ्मधुरभाषिणी वामलोचना कामिन्यपि च । हृदयं गच्छतीति हृदयङ्गमः । खच्प्रकरणे गमेः सुप्युपसंख्यानात्खच्प्रत्ययः । अङ्काधिरोपितयोर्वीणावामाक्ष्योर्वाद्यगीताभ्यामरंस्तेत्यर्थः ॥ १३ ॥

पार्श्वमें रहने (विहार करने, शयन करने या रखने) के योग्य; हृदयङ्गम (मधुर) ध्वनिवाली वीणा तथा मधुरभाषिणी सुलोचना (सुन्दर नेत्रोंवाली) स्त्री;—इन दोनोंने उस 'अग्निवर्ण' के पार्श्वभागको अशून्य रखा अर्थात् उस 'अग्निमुख' के दोनों पार्श्वोंमें कामिनी स्त्री तथा वीणा रहती थीं ॥ १३ ॥

स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः ।
नर्तकीरभिनयातिलङ्घिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ॥ १४ ॥

स इति । कृती कुशलः स्वयं प्रहतपुष्करो वादितवाद्यमुखो लोलानि माल्यानि वलयानि च यस्य स तथोक्तो मनो हरन् । नर्तकीनामिति शेषः । सोऽग्निवर्णोऽभिनयातिलङ्घिनीः, अभिनयेषु स्खलन्तीरित्यर्थः । नर्तकीर्विलासिनीः । "शिल्पिनि ष्वुन्" इति ष्वुन्प्रत्ययः । "षिद्गौरादिभ्यश्च" इति ङीष् । 'नर्तकीलासिके समे' इत्यमरः । गुरुषु नाट्याचार्येषु पार्श्ववर्तिषु समीपस्थेषु सत्स्वेवालज्जयल्लज्जामगमयत् ॥ १४ ॥

(बाजा बजानेमें) निपुण, स्वयं बाजा (तबला-मृदङ्ग आदि) को बजाते हुए (अतएव) चञ्चल (हिलती हुई) माला तथा कङ्कणवाले नर्तकियों के मनको हरण करते हुए उस 'अग्निवर्ण' ने नृत्यका उल्लङ्घन (नियम-भङ्ग) करनेवाली नर्तकियोंको गुरुओं (नृत्य-वाद्य विद्याओंके आचार्यों) के समीप रहनेपर लज्जित कर दिया ॥ १४ ॥

चारु नृत्यविगमे च तन्मुखं स्वेदभिन्नतिलकं परिश्रमात् ।
प्रेमदत्तवदनानिलः पिबन्नत्यजीवदमरालकेश्वरौ ॥ १५ ॥

चार्विति । किञ्च । चारु सुन्दरं नृत्यविगमे लास्यावसाने परिश्रमान्नर्तनप्रयासात्स्वेदेन भिन्नतिलकं विशीर्णतिलकं तन्मुखं नर्तकीमुखं प्रेम्णा दत्तवदनानिलः प्रवर्तितमुखमारुतः पिबन् । अमराणामलकायाश्चेश्वराविन्द्रकुबेरावत्यजीवदतिक्रम्याजीवत् । ततोऽप्युत्कृष्टजीवित आसीदित्यर्थः । इन्द्रादेरपि दुर्लभमीदृशं सौभाग्यमिति भावः ॥ १५ ॥

सुन्दर तथा नृत्यके अन्तमें परिश्रमके कारण पसीनेसे विच्छिन्न तिलकवाले उस (नर्तकी) के मुखको (सुखानेके लिये) प्रेमसे मुखकी हवा देकर (मुखसे फूंक लगाकर) पान (चुम्बन) करते हुए उस 'अग्निवर्ण' ने इन्द्र तथा कुबेरके जीवनको भी अतिक्रमण कर दिया । (उक्त आनन्दको इन्द्र तथा कुबेरके जीवनसे भी उत्तम समझा)॥ १५ ॥

तस्य सावरणदृष्टसन्धयः काम्यवस्तुषु नवेषु सङ्गिनः ।
वल्लभाभिरुपसृत्य चक्रिरे सामिभुक्तविषयाः समागमाः ॥ १६ ॥

तस्येति । उपसृत्यान्यत्र गत्वा नवेषु नूतनेषु काम्यवस्तुषु शब्दादिष्विन्द्रियार्थेषु सङ्गिनः आसक्तिमतः सतस्तस्य सावरणाः प्रच्छन्ना दृष्टाः प्रकाशाश्च सन्धयः साधनानि येषु ते समागमाः सङ्गमा वल्लभाभिः प्रेयसीभिः सामिभुक्तविषया अर्धोपभुक्तेन्द्रियार्थाश्चक्रिरे । यथेष्टं भुक्तश्चेत्तर्ह्ययं निःस्पृहः सन्नस्मत्समीपं नायास्यतीति भावः । अत्र गोनर्दीयः—"सन्धिर्द्विविधः, सावरणः प्रकाशश्च । सावरणो भिक्षुक्यादिना । प्रकाशः स्वयमुपेत्य केनापि" इति । "इतः स्वयमुपसृत्य विशेषार्थं तत्र स्थितोऽनुपजापं स्वयं सन्धेयः" इति वात्स्यायनः । अन्यत्र गतं कथञ्चित्सन्धाय पुनरुपगमायार्धोपभोगेनानिवृत्ततृष्णं चक्रुरित्यर्थः ॥ १६ ॥

समीप जाकर नये-नये भोग्य वस्तुओंमें आसक्त उस 'अग्निवर्ण' के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष साधनोंवाले समागमोंको प्रियाओंने आधे भोगे गये विषयवाला कर दिया अर्थात् विषयभोगार्थ अन्यत्र गये हुए 'अग्निवर्ण' से किसी प्रकार मिलकर प्रियाओंने फिर आनेके लिये बाध्यकर उन्हें विषयभोगसे अर्द्धतुष्ट कर दिया ॥ १६ ॥

अङ्गुलीकिसलयाग्रतर्जनं भ्रूविभङ्गकुटिलं च वीक्षितम् ।
मेखलाभिरसकृच्च बन्धनं वञ्चयन्प्रणयिनीरवाप सः ॥ १७ ॥

अङ्गुलीकिसलयेति । सोऽग्निवर्णः प्रणयिनीः प्रेयसीर्वञ्चयन्नन्यत्र गच्छन्नङ्गुल्यः किसलयानि तेषामग्राणि तैस्तर्जनं भर्त्सनं भ्रूविभङ्गेन भ्रूभेदेन कुटिलं वक्रं वीक्षितं वीक्षणं चासकृन्मेखलाभिर्बन्धनं चावाप । अपराधिनो दण्ड्या इति भावः ॥ १७ ॥

अन्यत्र विषयभोगार्थ जाकर प्रियाओंको वञ्चित करनेवाले उस 'अग्निवर्ण' को प्रियाओंने अङ्गुलिरूप नवपल्लवाग्रभागसे तर्जित किया, भ्रू-भङ्गकर तिर्छा देखा तथा मेखलाओं (करधनियों) से अनेक बार बांधा ॥ १७ ॥

तेन दूतिविदितं निषेदुषा पृष्ठतः सुरतवाररात्रिषु ।
शुश्रुवे प्रियजनस्य कातरं विप्रलम्भपरिशङ्किनो वचः ॥ १८ ॥

तेनेति । सुरतस्य वारो वासरः तस्य रात्रिषु दूतीनां विदितं यथा तथा पृष्ठतः प्रियजनस्य पश्चाद्भागे निषेदुषा तेनाग्निवर्णेन विप्रलम्भपरिशङ्किनो विरहशङ्किनः । प्रियश्चासौ जनश्च प्रियजनः । तस्य कातरं वचः प्रियानयनेन मां पाहीत्येवमादि दीनवचनं शुश्रुवे ॥ १८ ॥

सुरत-दिनकी रात्रिओंमें दूतीके मालूम रहनेपर ही प्रियाके पीछे (छिपकर) बैठे हुए उस 'अग्निवर्ण' ने वञ्चनाकी शङ्का करनेवाली प्रियाका कातर वचन ('हे दूति ! प्रियतम 'अग्निवर्ण' को बिना लाये मैं जीवित नहीं रहूंगी, अतः उन्हें शीघ्र बुलालावो' इत्यादि दीनवचन) सुना ॥ १८ ॥

लौल्यमेत्य गृहिणीपरिग्रहान्नर्तकीष्वसुलभासु तद्वपुः ।
वर्तते स्म स कथञ्चिदालिखन्नङ्गुलीक्षरणसन्नवर्तिकः ॥ १९ ॥

लौल्यमिति । गृहिणीपरिग्रहाद्राज्ञीभिः समागमाद्धेतोर्नर्तकीषु वेश्यास्वसुलभासु दुर्लभासु सतीषु लौल्यमौत्सुक्यमेत्य प्राप्य । अङ्गुल्योः क्षरणेन स्वेदनेन सन्नवर्तिको विगलितशलाकः सोऽग्निवर्णस्तासां नर्तकीनां वपुस्तद्वपुरालिखन्कथञ्चिद्वर्तते स्माऽवर्तत ॥ १९ ॥

रानियोंके समागमसे (हटकर) नर्तकियों तथा दुर्लभ परस्त्रियोंमें लोलता प्राप्तकर (चलायमान चित्त होकर) अङ्गुलियोंके स्वेदयुक्त हो जानेसे गिरी हुई शलाका (चित्रकरनेवाली कूची) वाले उस 'अग्निवर्ण' ने उन नर्तकियों (या रानियां) के शरीर (स्तन, कपोल आदि) पर लिखते (मकरादिकी चित्रकारी करते) हुए किस प्रकार (बड़े कष्टके साथ) समय बिताया ॥ १९ ॥

प्रेमगर्वितविपक्षमत्सरादायताच्च मदनान्महीक्षितम् ।
निन्युरुत्सवविधिच्छलेन तं देव्य उज्झितरुषः कृतार्थताम् ॥ २० ॥

प्रेमगर्वितेति । प्रेम्णा स्वविषयेण प्रियस्यानुरागेण हेतुना गर्विते विपक्षे सपत्नीजने मत्सराद्वैरादायतात्प्रवृद्धान्मदनाच्च हेतोर्देव्यो राज्य उज्झितरुषस्त्यक्तरोषाः सत्यस्तं महीक्षितमुत्सवविधिच्छलेन महोत्सवकर्मव्याजेन । कृतोऽर्थः प्रयोजनं येन स कृतार्थः तस्य भावस्तत्तां निन्युः । मदनमहोत्सवव्याजान्नीतेन तेन स्वमनोरथं कारयामासुरित्यर्थः ॥ २० ॥

प्रेमसे गर्वित सपत्नी लोगोंमें असूयासे बढ़े हुए काम-वासना से प्रणय-कोपको छोड़ी हुई रानियोंने उत्सव कार्यके बहानेसे उस राजाको कृतार्थ किया। (मदनोत्सव करनेके बहानेसे उनके साथ सम्भोगादिकर अपने मनोरथको पूरा किया) ॥ २० ॥

प्रातरेत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः ।
प्राञ्जलिः प्रणयिनीः प्रसादयन्सोऽधुनोत्प्रणयमन्थरः पुनः ॥ २१ ॥

प्रातरिति । सोऽग्निवर्णः प्रातरेत्यागत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन हेतुना । दृशेर्ण्यन्ताल्ल्युट् । कृता खण्डनव्यथा यासां तास्तथोक्ताः, खण्डिता इत्यर्थः । तदुक्तम्—"ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता" इति । प्रणयिनीः प्राञ्जलिः प्रसादयंस्तथाऽपि प्रणयमन्थरः प्रणयेन नर्तकीगतेन मन्थरोऽलसः, तत्र शिथिलप्रयत्नः सन्नित्यर्थः । पुनरदुनोत्पर्यतापयत् ॥ २१ ॥

प्रातःकाल (दूसरी स्त्रियोंके) सम्भोगसे शोभित दर्शनसे अपने प्रेमके खण्डित होनेसे दुःखित (खण्डिता) प्रियाओंको हाथ जोड़कर प्रसन्न करते हुए उस 'अग्निवर्ण'ने प्रेममें शिथिल होकर उन्हें फिर सन्तप्त किया। (दूसरी स्त्रियोंके साथ सम्भोग करनेके चिह्नसे युक्त आये हुए पतिको देखकर ईर्ष्यासे कषाययुक्त स्त्री 'खण्डिता' कहलाती है) ॥ २१ ॥

स्वप्नकीर्तितविपक्षमङ्गनाः प्रत्यभैत्सुरवदन्त्य एव तम् ।
प्रच्छदान्तगलिताश्रुबिन्दुभिः क्रोधभिन्नवलयैर्विवर्तनैः ॥ २२ ॥

स्वप्नकीर्तितमिति । स्वप्ने कीर्तितो विपक्षः सपत्नजनो येन तम् । तमग्निवर्णम् । अवदन्त्य एव । त्वया गोत्रस्खलनं कृतमित्यनुपालम्भमाना एव । अङ्गनाः स्त्रियः प्रच्छदस्यास्तरणपटस्यान्ते मध्ये गलिता अश्रुबिन्दवो येषु तैः क्रोधेन भिन्नानि भग्नानि वलयानि येषु तैर्विवर्तनैः पराग्विलम्बनैः प्रत्यभैत्सुः प्रतिचक्रुः, तिरश्चक्रुरित्यर्थः ॥२२॥

स्वप्नमें सपत्नीका नाम लिये हुए उस 'अग्निवर्ण'से कुछ नहीं बोलती हुई स्त्रियोंने, ऊपर बिछाये गये चादरोंपर गिरती हुई अश्रुबिन्दु है जिनमें ऐसे तथा क्रोधसे तोड़ दिये गये हैं कङ्कण, जिनमें ऐसे विमुख होकर सोनेसे (उस 'अग्निवर्ण'को) तिरस्कृत किया ॥२२॥

क्लृप्तपुष्पशयनाँल्लतागृहानेत्य दूतिकृतमार्गदर्शनः ।
अन्वभूत्परिजनाङ्गनारतं सोऽवरोधभयवेपथूत्तरम् ॥ २३ ॥

क्लृप्तपुष्पशयनानिति। सोऽग्निवर्णो दूतिभिः कृतमार्गदर्शनः सन्। क्लृप्तपुष्पशयनाँल्लतागृहानेत्यावरोधादन्तःपुरजनाद्भयेन यो वेपथुः कम्पस्तदुत्तरं तत्प्रधानं यथा तथा परिजनाङ्गनारतं दासीरतमन्वभूत्। परिजनश्चासावङ्गना चेति विग्रहः। अत्र ङीबन्तस्यापि दूतीशब्दस्य छन्दोभङ्गभयाद्ध्रस्वत्वं कृतम्। 'अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं त्यजेद्गिराम्' इत्युपदेशात्॥ २३॥

दूतियोंसे बतलाये गये मार्गवाले उस 'अग्निवर्ण'ने बनायी गयी पुष्पोंकी शय्यावाले लता-भवनों (कुञ्जों) में जाकर अन्तःपुरके भयसे अधिक कम्पन युक्त होते हुए दासीजनोंके साथ सम्भोग किया॥ २३॥

नाम वल्लभजनस्य ते मया प्राप्य भाग्यमपि तस्य काङ्क्ष्यते।
लोलुपं ननु मनो ममेति तं गोत्रविस्खलितमूचुरङ्गनाः॥ २४॥

नामेति। मया ते वल्लभजनस्य प्रियजनस्य नाम प्राप्य तन्नाम्नाऽऽह्वानं लब्ध्वा तस्य त्वद्वल्लभजनस्य यद्भाग्यम्। तत्परिहासकारणमिति शेषः। तदपि काङ्क्ष्यते। ननु बत मम मनो लोलुपं गृध्नु। इत्यनेन प्रकारेण अङ्गनाः गोत्रे नाम्नि विस्खलितं स्खलितवन्तं तमग्निवर्णमूचुः। 'गोत्रं नाम्नि कुलेऽचले' इति यादवः। तन्नामलाभे सति तद्भाग्यमपि काङ्क्षिणो मनः। अहो तृष्णेति सोल्लुण्ठमुपालम्भन्तेत्यर्थः॥२४॥

"मैं तुम्हारी प्रियाके नामको सुनकर अवश्य ही उसके भाग्यको भी चाहती हूँ, (क्योंकि) मेरा मन लोभी है" इस प्रकार देवियोंने गोत्रस्खलित (स्वप्न या बातचीतमें दूसरी प्रियाका नाम लेने वाले) उस 'अग्निवर्ण' से कहा। (इस प्रकार उन्हें व्यङ्ग्यसे उपालम्भ किया)॥ २४॥

चूर्णबभ्रु लुलितस्रगाकुलं छिन्नमेखलमलक्तकाङ्कितम्।
उत्थितस्य शयनं विलासिनस्तस्य विभ्रमरतान्यपावृणोत्॥ २५॥

चूर्णबभ्र्विति। चूर्णबभ्रु चूर्णैर्व्यानतकरणैरधोमुखावस्थितायाः स्त्रियाश्चिकुरगलितैः कुङ्कुमादिभिर्बभ्रु पिङ्गलम्। 'बभ्रु स्यात्पिङ्गले त्रिषु' इत्यमरः। लुलितस्रगाकुलं करिपदाख्यबन्धे स्त्रिया भूमिगतमस्तकतया पतिताभिर्लुलितस्रग्भिराकुलम्। छिन्नमेखलं हरिविक्रमकरणैः स्त्रिया उच्छ्रितैकचरणत्वाद्गलितमेखलम्। अलक्तकाङ्कितं धैनुकबन्धे भूतलनिहितकान्ताचरणत्वाल्लाक्षारागरूषितं शयनं कर्तृ। उत्थितस्य। शयनादिति भावः। विलासिनस्तस्याग्निवर्णस्य विभ्रमरतानि लीलारतानि, सुरतबन्धविशेषानित्यर्थः। अपावृणोत्स्फुटीचकार। व्यानतादीनां लक्षणं रतिरहस्ये—"व्यानतं रतमिदं प्रिया यदि स्यादधोमुखचतुष्पदाकृतिः। तत्कटिं समधिरुह्य वल्लभः स्याद्वृषादिपशुसंस्थितस्थितिः॥ भूगतस्तनभुजास्यमस्तकामुन्नतस्फिचमधोमुखीं स्त्रियम्। क्रामति स्वकरकृष्टमेहने वल्लभे करिपदं तदुच्यते॥ योषिदेकचरणे समुत्थिते जायते हि हरिविक्रमाह्वयः। न्यस्तहस्तयुगला निजे पदे योषिदेति कटिरूढवल्लभा॥ अग्रतो यदि शनैरधोमुखी धैनुकं वृषवदुन्नते प्रिये॥" इति॥ २५॥

चूर्ण (गिरे हुए कुङ्कुमादि-चूर्ण) से पिङ्गल वर्ण, पड़ी हुई मालाओंसे व्याप्त, टूटी हुई करधनीवाली और महावरसे चिह्नित शय्या (शय्यासे) उठे हुए विलास उस 'अग्निवर्ण' के विलासयुक्त रमणको स्पष्ट करती थी ॥ २५ ॥

स स्वयं चरणरागमादधे योषितां न च तथा समाहितः ।
लोभ्यमाननयनः श्लथांशुकैर्मेखलागुणपदैर्नितम्बिभिः ॥ २६ ॥

स इति । सोऽग्निवर्णः स्वयमेव योषितां चरणयो रागं लाक्षारसमादधेऽर्पयामास । किञ्च । श्लथांशुकैः प्रियाङ्गस्पर्शादिति भावः । नितम्बिभिर्नितम्बवद्भिर्मेखलागुणपदैर्जघनैः । 'पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः क्लीबे तु जघनं पुरः' इत्यमरः । लोभ्यमाननयन आकृष्यमाणदृष्टिः सन् । तथा समाहितोऽवहितो नादधे यथा सम्यग्रागरचना स्यादिति भावः ॥ २६ ॥

उस 'अग्निवर्ण'ने स्त्रियोंके चरणोंमें महावर स्वयं लगाया, (किन्तु) शिथिल वस्त्रवाले एवं नितम्बवाले जघनोंसे लुब्धनेत्रवाले (वस्त्र हटनेसे नितम्बयुक्त जङ्घाओंके देखनेमें आसक्त) वे वैसा (पाद-रञ्जनके योग्य) सावधान नहीं रह सके अर्थात् स्त्रियोंके चरणोंको स्वयं रंगते हुए वे 'अग्निवर्ण' उनके वस्त्रहीन जघनोंको देखनेमें आसक्त होकर उत्तम प्रकारसे उनका चरण नहीं रंग सके ॥ २६ ॥

चुम्बने विपरिवर्तिताधरं हस्तरोधि रशनाविघट्टने ।
विघ्नितेच्छमपि तस्य सर्वतो मन्मथेन्धनमभूद्वधूरतम् ॥ २७ ॥

चुम्बन इति । चुम्बने प्रवृत्ते सति विपरिवर्तिताधरं परिहृतोष्ठम् । रशनाविघट्टने ग्रन्थिविस्रंसने प्रसक्ते सति हस्तं रुणद्धि वारयतीति हस्तरोधि । इत्थं सर्वतः सर्वत्र विघ्नितेच्छं प्रतिहतमनोरथमपि वधूनां रतं सुरतं तस्याग्निवर्णस्य मन्मथेन्धनं कामोद्दीपनमभूत् ॥ २७ ॥

प्रियाओंने चुम्बनमें मुख फेर लिया और करधनी खोलते समय हाथसे रोक दिया; इस तरह सब प्रकारसे रुकी हुई इच्छावाले भी वधूके रमणने उस 'अग्निवर्ण' के कामाग्निको बढ़ाया ॥ २७ ॥

दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीर्नर्मपूर्वमनुपृष्ठसंस्थितः ।
छायया स्मितमनोज्ञया वधूर्ह्रीनिमीलितमुखीश्चकार सः ॥ २८ ॥

दर्पणेष्विति । सोऽग्निवर्णो दर्पणेषु परिभोगदर्शिनीः सम्भोगचिह्नानि पश्यन्तीर्वधूर्नर्मपूर्वं परिहासपूर्वमनुपृष्ठं तासां पृष्ठभागे संस्थितः सन् । स्मितेन मनोज्ञया छायया दर्पणगतेन स्वप्रतिबिम्बेन ह्रीनिमीलितमुखीर्लज्जाऽवनतमुखीश्चकार । तमागतं दृष्ट्वा लज्जिता इत्यर्थः ॥ २८ ॥

दर्पणोंमें सम्भोगके चिह्नों (दन्तक्षत, नखक्षत आदि) को देखती हुईं स्त्रियोंके

परिहासपूर्वक पीछे खड़े हुए उस 'अग्निवर्ण' ने मुस्कानसे मनोहर (दर्पणोंमें पड़ी हुई अपनी) परिछाईंसे उन स्त्रियोंको लज्जासे नम्रमुखी कर दिया अर्थात् दर्पणमें प्रतिबिम्बित चुपके पीछे खड़ा होकर मुस्काते हुए 'अग्निवर्ण'को जानकर उक्त स्त्रियोंने लज्जासे मुखको नीचाकर लिया ॥ २८ ॥

कण्ठसक्तमृदुबाहुबन्धनं न्यस्तपादतलमग्रपादयोः ।
प्रार्थयन्त शयनोत्थितं प्रियास्तं निशाऽत्ययविसर्गचुम्बनम् ॥ २९ ॥

कण्ठसक्तेति । प्रियाः शयनादुत्थितं तमग्निवर्णं कण्ठसक्तं कण्ठार्पितं मृदुबाहुबन्धनं यस्मिंस्तत् । अग्रपादयोः स्वकीययोर्न्यस्ते पादतले यस्मिंस्तत् । निशाऽत्यये विसर्गो विसृज्य गमनं तत्र यच्चुम्बनं तत्प्रार्थयन्त । "दुह्याच्" इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् । अत्र गोनर्दीयः—"रतावसाने यदि चुम्बनादि प्रयुज्य यायान्मदनोऽस्य वासः" इति ॥ २९ ॥

प्रियाओंने शय्यासे उठे हुए उस 'अग्निवर्ण' से कण्ठमें कोमल बाहुसे बाँधकर, (अपने) अगले पैरमें रखे 'अग्निवर्ण'के चरणतलको रखकर प्रातःकाल में शय्या छोड़कर जाते समय चुम्बनकी प्रार्थना की ॥ २९ ॥

प्रेक्ष्य दर्पणतलस्थमात्मनो राजवेषमतिशक्रशोभिनम् ।
पिप्रिये न स तथा यथा युवा व्यक्तलक्ष्म परिभोगमण्डनम् ॥ ३० ॥

प्रेक्ष्येति । युवा सोऽग्निवर्णोऽतिशक्रं यथा तथा शोभमानमतिशक्रशोभिनं दर्पणतलस्थं दर्पणसङ्क्रान्तमात्मनो राजवेषं प्रेक्ष्य तथा न पिप्रिये न तुतोष यथा व्यक्तलक्ष्म प्रकटचिह्नं परिभोगमण्डनं प्रेक्ष्य पिप्रिये ॥ ३० ॥

युवक वे 'अग्निवर्ण' दर्पणमें प्रतिबिम्बित, इन्द्रकी शोभाको तिरस्कृत करनेवाले अपने राजवेषको देखकर वैसा प्रसन्न नहीं हुए, जैसा स्पष्ट चिह्नोंवाले सम्भोगमें सम्भोग शृङ्गारको देखकर प्रसन्न हुए ॥ ३० ॥

मित्रकृत्यमपदिश्य पार्श्वतः प्रस्थितं तमनवस्थितं प्रियाः ।
विद्म हे शठ ! पलायनच्छलान्यञ्जसेति रुरुधुः कचग्रहैः ॥ ३१ ॥

मित्रकृत्यमिति । मित्रकृत्यं सुहृत्कार्यमपदिश्य व्याजीकृत्य पार्श्वतः प्रस्थितमन्यतो गन्तुमुद्युक्तमनवस्थितमवस्थातुमक्षमं तमग्निवर्णं प्रियाः, हे शठ हे गूढविप्रियकारिन् 'गूढविप्रियकृच्छठः' इति दशरूपके । तव पलायनस्य च्छलान्यञ्जसा तत्त्वतः । 'तत्त्वे त्वद्धाऽञ्जसा द्वयम्' इत्यमरः । विद्म जानीमः । "विदो लटो वा" इति वैकल्पिको मादेशः । इति । उक्त्वेति शेषः । कचग्रहैः केशाकर्षणै रुरुधुः । अत्र गोनर्दीयः—"ऋतुस्नाताऽभिगमने मित्रकार्ये तथाऽऽपदि । त्रिष्वेतेषु प्रियतमः क्षन्तव्यो वारगम्यया ॥" इति । विरक्तलक्षणप्रस्तावे वात्स्यायनः—"मित्रकृत्यं चापदिश्यान्यत्र शेते" इति ॥ ३१ ॥

मित्र-कार्यका बहानाकर पाससे जाते हुए ठहरनेमें असक्त (विरक्त) उस 'अग्निवर्ण' को प्रियाओंने "हे कपटी (गुप्त सम्भोगके द्वारा हमारा अप्रिय करनेवाले) ! कपटसे तुम्हारे भागनेको हमलोग अच्छी तरह जानते हैं" ऐसा (कहकर उनके) केशोंको पकड़कर घेर लिया॥ ३१॥

तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम्॥ ३२॥

तस्येति। निर्दयरतिश्रमेणालसा निश्चेष्टा योषितः कण्ठसूत्रमालिङ्गनविशेषमपदिश्य व्याजीकृत्य पीवरस्तनाभ्यां विलुप्तचन्दनं प्रमृष्टाङ्गरागं तस्याग्निवर्णस्य बृहद्भुजान्तरमध्यशेरत वक्षःस्थले शेरते स्म। कण्ठसूत्रलक्षणं तु—"यत्कुर्वते वक्षसि वल्लभस्य स्तनाभिघातं निबिडोपगूहात्। परिश्रमार्थं शनकैर्विदग्धास्तत्कण्ठसूत्रं प्रवदन्ति सन्तः॥" इदमेव रतिरहस्ये स्तनालिङ्गनमित्युक्तम्। तथा च-"उरसि कमितुरुच्चैरादिशन्ती वराङ्गी स्तनयुगमुपधत्ते यत्स्तनालिङ्गनं तत्" इति॥ ३२॥

निर्दय (अत्यधिक) रमणके परिश्रमसे आलस्ययुक्त स्त्रियाँ 'कण्ठसूत्र' आलिङ्गनका बहानाकर बड़े-बड़े स्तनोंसे पोंछे गये चन्दनवाले उनकी विशाल छातीपर सो गयीं॥ ३२॥

सङ्गमाय निशि गूढचारिणं चारदूतिकथितं पुरोगताः।
वञ्चयिष्यसि कुतस्तमोवृतः कामुकेति चकृषुस्तमङ्गनाः॥ ३३॥

सङ्गमायेति। सङ्गमाय सुरतार्थं निशि गूढमज्ञातं चरतीष्टगृहं प्रति गच्छतीति गूढचारी। तं चारदूतिकथितम्। चरन्तीति गूढचारिण्यः। "ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः" इति णप्रत्ययः। चाराश्च ता दूत्यश्च चारदूत्यः ताभिः कथितं निवेदितं तमग्निवर्णमङ्गनाः पुरोऽग्रे गताः। अवरुद्धमार्गाः, सत्य इत्यर्थः। हे कामुक ! तमसा वृतो गूढः सन् कुतो वञ्चयिष्यसीति उपालभ्येति शेषः। चकृषुः, स्ववासं निन्युरित्यर्थः॥ ३३॥

सम्भोगके लिए रातमें छिपकर जाते हुए गुप्त घूमनेवाले दूतियोंसे बतलाये गये उस 'अग्निवर्ण'को आगे पहुंची हुई अङ्गनाएं "हे कामुक! अन्धकारमें छिपकर कैसे (हमलोगोंको) ठगोगे" ऐसा (कहकर अपने शयनगृहमें) खींच ले गयीं॥ ३३॥

योषितामुडुपतेरिवार्चिषां स्पर्शनिर्वृतिमसाववाप्नुवन्।
आरुरोह कुमुदाकरोपमां रात्रिजागरपरो दिवाशयः॥ ३४॥

योषितामिति। उडुपतेरिन्दोरर्चिषां भासामिव। 'ज्वाला भासो नपुंस्यर्चिः' इत्यमरः। योषितां स्पर्शनिर्वृतिं स्पर्शसुखमवाप्नुवन्। किञ्च, रात्रिषु जागरपरः दिवा दिवसेषु शेते स्वपितीति दिवाशयः। "अधिकरणे शेतेः" इत्यच्प्रत्ययः। असावग्निवर्णः कुमुदाकरस्योपमां साम्यमारुरोह प्राप॥ ३४॥

चन्द्रके किरणोंके समान; स्त्रियोंके स्पर्श-सुखको प्राप्त करते हुए तथा रात्रिमें जगनेसे दिनमें सोते हुए इस 'अग्निवर्ण' ने कुमुदाकरकी समताको प्राप्त किया ॥ ३४ ॥

वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितोरवः ।
शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयना व्यलोभयन् ॥ ३५ ॥

वेणुनेति । दशनैः पीडिताधरा दंष्ट्रोष्ठाः । नखपदैर्नखक्षतैरङ्कितोरवश्चिह्नितोरुसङ्गाः, व्रणिताधरोरुत्वादक्षमा इत्यर्थः । तथापि वेणुना वीणया चेत्युभयेन । अधरोरुपीडाकारिणेत्यर्थः । वेजिताः पीडिताः शिल्पं वेणुवीणावाद्यादिकं कुर्वन्तीति शिल्पकार्यो गायिकाः । "कर्मण्यण्" इत्यण् "टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः" इत्यनेन ङीप् । तं विजिह्मनयनाः कुटिलदृष्टयः सत्यः । स्वं चेष्टितं जानन्नपि वृथा नः पीडयतीति साभिप्रायं पश्यन्त्य इत्यर्थः । व्यलोभयन् । तथाविधालोकनमपि तस्याकर्षकमेवाभूदिति भावः ॥ ३५ ॥

दन्तक्षतसे पीडित अधरोंवाली तथा नखक्षतसे चिह्नित ऊरुओं (जघनों) वाली (तथापि क्रमशः ओष्ठ (अधर) तथा जघनोंको पीडित करनेवाली) वंशी तथा वीणासे दोनोंसे पीडित, शिल्प (वंशी तथा वीणा बजानेकी कला) को करती हुई अर्थात् वंशी तथा वीणा बजाती हुई कुटिलनेत्रवाली (दन्तक्षत एवं नखक्षतसे हमलोगोंको पीडित होना जानकर भी ये 'अग्निवर्ण' अधर एवं ऊरुके पीडाकरी वंशी तथा वीणा बजवा रहे हैं, इस कष्टयुक्त भावनासे कुटिल देखनेवाली) स्त्रियोंने उस 'अग्निवर्ण'को लुभाया (उक्त कारणसे पीड़ित स्त्रियोंके कुटिल दर्शनसे भी 'अग्निवर्ण'को आनन्द मिलता था) ॥ ३५ ॥

अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन् ।
स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः सञ्जघर्ष सह मित्रसन्निधौ ॥ ३६ ॥

अङ्गेति । अङ्गं हस्तादि । सत्त्वमन्तःकरणम् । वचनं गेयं चाश्रयः कारणं यस्य तदङ्गसत्त्ववचनाश्रयम् । आङ्गिकसात्त्विकवाचिकरूपेण त्रिविधमित्यर्थः । यथाह भरतः—"सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वजः" इति । नृत्यमभिनयं मिथो रहसि स्त्रीषु नर्तकीषूपधाय निधाय दर्शयन् । स मित्रसन्निधौ सहचरसमक्षं प्रयोगेऽभिनये निपुणैः कृतिभिः प्रयोक्तृभिरभिनयार्थप्रकाशकैर्नाट्याचार्यैः सह सञ्जघर्ष सङ्घर्षं कृतवान् । सङ्घर्षः पराभिभवेच्छा ॥ ३६ ॥

आङ्गिक, सात्त्विक तथा वाचिक (इन तीन प्रकारके) नृत्योंको स्त्रियोंके द्वारा कराकर दिखलाते हुए उस 'अग्निवर्ण' ने मित्रोंके पास चतुर प्रयोगकर्ताओं (नाट्याचार्यों) के साथ स्पर्धा की ॥ ३६ ॥

इतः प्रभृति तस्य कृत्रिमादिषु विरचितविहारप्रकारमाह—

अंसलम्बिकुटजार्जुनस्रजस्तस्य नीपरजसाऽङ्गरागिणः ।
प्रावृषि प्रमदबर्हिणेष्वभूत्कृत्रिमाद्रिषु विहारविभ्रमः ॥ ३७ ॥

अंसलम्बि इति । प्रावृष्यंसलम्बिन्यः कुटजानामर्जुनानां ककुभानां च स्रजो यस्य तस्य । नीपानां कदम्बकुसुमानां रजसाऽङ्गरागिणोऽङ्गरागवतस्तस्याग्निवर्णस्य प्रमद-बर्हिणेषून्मत्तमयूरेषु कृत्रिमाद्रिषु विहार एव विभ्रमो विलासोऽभूदभवत् ॥ ३७ ॥

वर्षाकालमें कन्धेसे लटकती हुई कौरैया तथा अर्जुनके फूलोंकी मालावाले तथा कदम्बके परागका अङ्गराग लगाये हुए उस 'अग्निवर्ण'ने मतवाले मोरोंवाले कृत्रिम (बनावटी) पर्वतोंमें विहाररूप विलास किया ॥ ३७ ॥

विग्रहाच्च शयने पराङ्मुखीर्नानुनेतुमबलाः स तत्वरे ।
आचकाङ्क्ष घनशब्दविक्लवास्ता विवृत्य विशतीर्भुजान्तरम् ॥ ३८ ॥

विग्रहाच्चेति । प्रावृषीत्यनुषज्यते । सोऽग्निवर्णो विग्रहात्प्रणयकलहाच्छयने शय्यायां पराङ्मुखीरबला अनुनेतुं न तत्वरे त्वरितवान् । किन्तु घनशब्देन घन-गर्जितेन विक्लवाश्चकिता अत एव विवृत्य स्वयमेवाभिमुखीभूय भुजान्तरं विशतीः प्रविशन्तीः । "आच्छीनद्योर्नुम्" इति नुम्विकल्पः । ता अबला आचकाङ्क्ष । स्वयं-ग्रहादेव साम्मुख्यमैच्छदित्यर्थः ॥ ३८ ॥

(वर्षाकालमें) उस 'अग्निवर्ण'ने प्रणयकलहसे शय्यापर विमुख (पीठ फेरी) हुई अबलाओंको मनानेकी शीघ्रता नहीं की, (किन्तु) मेघके गर्जनसे व्याकुल (अतएव) लौटकर (सामने मुखकर स्वयं) हृदयमें प्रवेश (आलिङ्गन) करती हुई उनको चाहा। (मेघ-गर्जनसे उत्पन्न कामोद्दीपनसे व्याकुल होकर प्रणयकलहमें विमुख होकर सोई हुई ये स्त्रियां स्वयं मेरी छातीसे लिपटकर आलिङ्गन करें, ऐसी इच्छा की) ॥ ३८ ॥

कार्तिकीषु सवितानहर्म्यभाग्यामिनीषु ललिताङ्गनासखः ।
अन्वभुङ्क्त सुरतश्रमापहां मेघमुक्तविशदां स चन्द्रिकाम् ॥ ३९ ॥

कार्तिकीष्विति । कार्तिकस्येमाः कार्तिक्यः । "तस्येदम्" इत्यण् । तासु यामिनीषु निशासु, शरद्रात्रिष्वित्यर्थः । सवितानान्युपरिवस्त्रावृतानि हर्म्याणि भजतीति सवि-तानहर्म्यभाक् । भजेर्ण्विप्रत्ययः । हिमवारणार्थं सवितानमुक्तम् । ललिताङ्गनासखः सोऽग्निवर्णः सुरतश्रमापहां मेघमुक्ता चासौ विशदा च ताम् । बहुलग्रहणात्सविषेण-समासः चन्द्रिकामन्वभुङ्क्त ॥ ३९ ॥

कार्तिककी रात्रियोंमें चँदोवे सहित महलके छतोंको सेवन करनेवाले सुन्दरियों सहित उस 'अग्निवर्ण' ने सम्भोगके खेदको दूर करनेवाली मेघरहित होनेसे निर्मल चाँदनीका भोग किया ॥ ३९ ॥

सैकतं च सरयूं विवृण्वतीं श्रोणिबिम्बमिव हंसमेखलम् ।
स्वप्रियाविलसितानुकारिणीं सौधजालविवरैर्व्यलोकयत् ॥ ४० ॥

सैकतमिति । किञ्च, हंसा एव मेखला यस्य तत्सैकतं पुलिनं श्रोणिबिम्बमिव

विवृण्वतीम् । अत एव स्वप्रियाविलासितान्यनुकरोतीति तद्विधां सरयूम् । सौधस्य जालानि गवाक्षाः त एव विवराणि तैर्व्यलोकयत् ॥ ४० ॥

और हंसरूप मेखला (करधनी,) वाले तटको नितम्बके अनुकरण करनेवाली सरयूको महलकी खिड़कियोंकी बिलों (छिद्रों) से देखा ॥ ४० ॥

मर्मरैरगुरुधूपगन्धिभिर्व्यक्तहेमरशनैस्तमेकतः ।
जह्रुराग्रथनमोक्षलोलुपं हैमनैर्निवसनैः सुमध्यमाः ॥ ४१ ॥

मर्मरैरिति । मर्मरैः संस्कारविशेषाच्छब्दायमानैः । 'अथ मर्मरः । स्वनिते वस्त्रपर्णानाम्' इत्यमरः । अगुरुधूपगन्धिभिर्व्यक्तहेमरशनैर्लौल्याल्लक्ष्यमाणकनकमेखलागुणैः हैमनैर्हेमन्ते भवैः । "सर्वत्राण्च तलोपश्च" इति हेमन्तशब्दादण्प्रत्ययस्तलोपश्च । निवसनैरंशुकैः सुमध्यमाः स्त्रिय एकतो नितम्बैकदेश आग्रथनमोक्षयोर्नीवीबन्धविस्रंसनयोर्लोलुपमासक्तं तं जह्रुराचकृषुः ॥ ४१ ॥

मर्मर (धूप देनेके कारण अधसुखे होकर चुर-मुर शब्द करनेवाले) अगरुके धूपसे गन्धयुक्त, चञ्चलताके कारण दिखलाई पड़ती हुई करधनियोंवाले हेमन्त-सम्बन्धी कपड़ोंसे सुन्दर कटिभागवाली स्त्रियोंने नितम्बके एक भागमें नीवीके बांधने और खोलनेमें लोलुप उस 'अग्निवर्ण' को आकृष्ट किया ॥ ४१ ॥

अर्पितस्तिमितदीपदृष्टयो गर्भवेश्मसु निवातकुक्षिषु ।
तस्य सर्वसुरतान्तरक्षमाः साक्षितां शिशिररात्रयो ययुः ॥ ४२ ॥

अर्पितेति । निवाता वातरहिताः कुक्षयोऽभ्यन्तराणि येषां तेषु गर्भवेश्मसु गृहान्तर्गृहेष्वर्पिता दत्ताः स्तिमिता निवातत्वान्निश्चला दीपा एव दृष्टयो याभिस्ताः । अत्रानिमिषदृष्टित्वं च गम्यते । सर्वसुरतान्तरक्षमास्तापस्वेदापनोदनत्वाद्दीर्घकालत्वाच्च सर्वेषां सुरतान्तराणां सुरतभेदानां क्षमाः क्रियार्हाः शिशिररात्रयस्तस्याग्निवर्णस्य साक्षितां ययुः । विविक्तकालदेशत्वाद्यथेच्छं विजहारेत्यर्थः ॥ ४२ ॥

वायुहीन भीतरी हिस्सोंवाले अन्दरके महलोंमें वायुहीन स्थान होनेसे स्थित दीपकरूप दृष्टिको लगायी हुई (एकटक देखती हुई) तथा सम्पूर्ण सुरतभेदों (कार्यों) के समर्थ रात्रियोंने उस 'अग्निवर्ण' के साक्षिताको प्राप्त किया । (अनुकूल समय तथा एकान्त स्थान होनेसे उन्होंने इच्छापूर्वक विविध प्रकारके सम्भोग किये) ॥ ४२ ॥

दक्षिणेन पवनेन सम्भृतं प्रेक्ष्य चूतकुसुमं सपल्लवम् ।
अन्वनैषुरवधूतविग्रहास्तं दुरुत्सहवियोगमङ्गनाः ॥ ४३ ॥

दक्षिणेनेति । अङ्गना दक्षिणेन पवनेन मलयानिलेन सम्भृतं जनितं सपल्लवं चूतकुसुमं प्रेक्ष्यावधूतविग्रहास्त्यक्तविरोधाः सत्यो दुरुत्सहवियोगं दुःसहविरहं तमन्वनैषुः । तद्विरहमसहमानाः स्वयमेवानुनीतवत्य इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

(वसन्त ऋतुमें) अङ्गनाओंने दक्षिण (अनुकूल, पक्षान्तरमें दक्षिण दिशावाली)

वायुसे उत्पन्न पल्लव सहित आम्रमञ्जरीको देखकर प्रणयकलहको छोड़ती हुई असह्य विरह-वाले उस 'अग्निवर्ण'को अनुनीत किया (स्वयं मनाया) ॥ ४३ ॥

ताः स्वमङ्कमधिरोप्य दोलया प्रेङ्खयन्परिजनापविद्धया।
मुक्तरज्जु निबिडं भयच्छलात्कण्ठबन्धनमवाप बाहुभिः ॥ ४४ ॥

ता इति। ता अङ्गनाः स्वमङ्कं स्वकीयमुत्सङ्गमधिरोप्य परिजनेनापविद्धया सम्प्रेषितया दोलया मुक्तरज्जु त्यक्तदोलासूत्रं यथा तथा प्रेङ्खयंश्चालयन्भयच्छलात्पतनभयमिषाद्बाहुभिरङ्गनाभुजैर्निबिडं कण्ठबन्धनमवाप प्राप। स्वयङ्ग्रहाश्लेषसुखमन्वभूदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

उन अङ्गनाओंको अपनी गोदमें बिठाकर दास-दासियोंसे हिलाये जाते हुए झूलेसे रस्सी छोड़कर चलाते हुए उस 'अग्निवर्ण'ने भयके बहाने उन अङ्गनाओंकी भुजाओंसे गाढ बन्धनको प्राप्त किया (झूलेसे गिरनेका बहाना स्वयं किये गये अङ्गनाओंके गाढ आलिङ्गनके सुखको 'अग्निवर्ण'ने प्राप्त किया) ॥ ४४ ॥

तं पयोधरनिषिक्तचन्दनैर्मौक्तिकग्रथितचारुभूषणैः।
ग्रीष्मवेषविधिभिः सिषेविरे श्रोणिलम्बिमणिमेखलैः प्रियाः ॥ ४५ ॥

तमिति। प्रियाः पयोधरेषु स्तनेषु निषिक्तमुत्क्षिप्तं चन्दनं येषु तैः। मौक्तिकैर्ग्रथितानि प्रोतानि चारुभूषणानि येषु तैः, मुक्ताप्रायाभरणैरित्यर्थः। श्रोणिलम्बिन्यो मणिमेखला मरकतादिमणियुक्तकटिसूत्राणि येषु तादृशैर्ग्रीष्मवेषविधिभिरुष्णकालोचितनेपथ्यविधानैः, शीतलोपायैरित्यर्थः। तमग्निवर्णं सिषेविरे ॥ ४५ ॥

प्रियाओंने स्तनोंमें लगाये गये चन्दनोंवाले, मुक्तमालाओं से गुथे हुए सुन्दर आभूषणोंवाले तथा नितम्बोंपर लटकती हुई मणियोंकी करधनियोंवाले ग्रीष्मकालीन वेषके उपायों (शीतकर यत्नों) से उस 'अग्निवर्ण'की सेवा की ॥ ४५ ॥

यत्स लग्नसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ।
तेन तस्य मधुनिर्गमात्कृशश्चित्तयोनिरभवत्पुनर्नवः ॥ ४६ ॥

यत्स इति। सोऽग्निवर्णो लग्नः सहकारश्चूतपल्लवो यस्मिंस्तं रक्तपाटलस्य पाटलकुसुमस्य समागमो यस्य तमासवं मद्यं पपौ। इति यत्तेनासवपानेन मधुनिर्गमाद्वसन्तापगमात्कृशो मन्दवीर्यस्तस्य चित्तयोनिः कामः पुनर्नवः प्रबलोऽभवत्॥४६॥

उस 'अग्निवर्ण'ने जो आम्रपल्लव लगे हुए तथा पाटलपुष्पसे युक्त मद्यका पान किया, उस मद्यके पानसे, वसन्तके बीतनेसे कृश (विषयभोगमें असमर्थ) हुए उस 'अग्निवर्ण'के मनकी कामवासना फिर नयी हो गयी ॥ ४६ ॥

एवमिन्द्रियसुखानि निर्विशन्नन्यकार्यविमुखः स पार्थिवः।
आत्मलक्षणनिवेदितानृतूनत्यवाहयदनङ्गवाहितः ॥ ४७ ॥

एवमिति। एवमनङ्गवाहितः कामप्रेरितोऽन्यकार्यविमुखः स पार्थिव इन्द्रियाणां

सुखानि सुखकराणि शब्दादीनि निर्विशन्ननुभवन्नात्मनो लक्षणैः कुटजखण्डारणादि-चिह्नैर्निवेदितान्। अयमृतुरिदानीं वर्तत इति ज्ञापितान्। ऋतून्वर्षादीनत्यवाहयदगमयत् ॥ ४७ ॥

इस प्रकार कामप्रेरित दूसरे कार्य (प्रजापालन, राज्यनिरीक्षणादि) से विमुख उस 'अग्निवर्ण' राजाने इन्द्रिय-सुखकर विषयोंको भोगते हुए, अपने लक्षणोंसे मालूम पड़ती हुई ऋतुओंको बिताया ॥ ४७ ॥

तं प्रमत्तमपि न प्रभावतः शेकुराक्रमितुमन्यपार्थिवाः ।
आमयस्तु रतिरागसम्भवो दक्षशाप इव चन्द्रमक्षिणोत् ॥ ४८ ॥

तमिति। प्रमत्तं व्यसनासक्तमपि तं नृपं प्रभावतोऽन्यपार्थिवा आक्रमितुमभिभवितुं न शेकुर्न शक्ताः। रतिरागसम्भव आमयो व्याधिस्तु, क्षयरोग इत्यर्थः। दक्षस्य दक्षप्रजापतेः शापश्चन्द्रमिव। अक्षिणोदकर्शयत्। शापोऽपि रतिरागसम्भव इति। अत्र दक्षः किलान्याः स्वकन्या उपेक्ष्य रोहिण्यामेव रममाणं राजानं सोमं शशाप। शापश्चाद्यापि क्षयरूपेण तं क्षिणोतीत्युपाख्यायते ॥ ४८ ॥

दूसरे राजा लोग (विषयासक्त होकर राज्यनिरीक्षण, प्रजापालन आदि कार्य नहीं करनेसे) प्रमाद करते हुए उस 'अग्निवर्ण'पर (उनके) प्रतापके कारण आक्रमण करनेके लिये समर्थ नहीं हुए; किन्तु रतिमें राग करनेसे उत्पन्न रोगने राजाको उस प्रकार क्षीणकर दिया, जिस प्रकार रति रागसे उत्पन्न दक्ष-शाप चन्द्रमाको क्षीण करता है ॥ ४८ ॥

पौराणिक कथा—दक्ष प्रजापतिने अन्य अपनी कन्याओंको छोड़कर रोहिणीमें ही अधिक रति करनेसे चन्द्रमाको क्षीण होनेका शाप दिया, वही शाप आजतक चन्द्रमाके क्षीण होनेमें कारण होता है।

दृष्टदोषमपि तन्न सोऽत्यजत्सङ्गवस्तु भिषजामनाश्रवः ।
स्वादुभिस्तु विषयैर्हृतस्ततो दुःखमिन्द्रियगणो निवार्यते ॥ ४९ ॥

दृष्टदोषमपीति। भिषजां वैद्यानामनाश्रवो वचसि न स्थितः। 'वचने स्थित आश्रवः' इत्यमरः, अविधेय इत्यर्थः। स दृष्टदोषमपि। रोगजननादिति शेषः। तत्सङ्गस्य वस्तु सङ्गवस्तु स्त्रीमद्यादिकं सङ्गजनकं वस्तु नात्यजत्। तथा हि। इन्द्रियगणः स्वादुभिर्विषयैर्हृतस्तु हृतश्चेत्ततस्तेभ्यो विषयेभ्यो दुःखं कृच्छ्रेण निवार्यते। यदि वार्यतेति शेषः। दुस्त्यजाः खलु विषया इत्यर्थः ॥ ४९ ॥

वैद्योंकी बात नहीं सुननेवाले उस 'अग्निवर्ण'ने देखे गये दोषोंवाले भी उस संसर्ग पदार्थ (स्त्री, मद्यआदि) को नहीं छोड़ा, क्योंकि प्रियकर विषयोंके वशीभूत इन्द्रिय—समूहको उधर (इन्द्रिय-प्रियकर विषयों) से दुःखपूर्वक रोका जाता है ॥ ४९ ॥

तस्य पाण्डुवदनाल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना ।
राजयक्ष्मपरिहानिराययौ कामयानसमवस्थया तुलाम् ॥ ५० ॥

तस्येति । तस्य राज्ञः पाण्डुवदना। अल्पभूषणा परिमिताभरणा सावलम्बं दासादिहस्तावलम्बसहितं गमनं यस्यां सा सावलम्बगमना । मृदुस्वना हीनस्वरा । राज्ञः सोमस्य यक्ष्मा राजयक्ष्मा क्षयरोगः तेन या परिहानिः क्षीणावस्था सा । कामयते विषयानिच्छति कामयानः । कमेर्णिङन्ताच्छानच् । "अनित्यमागमशासनम्" इति मुमागमाभावः । एतदेवाभिप्रेत्योक्तं वामनेनापि-"कामयानशब्दः सिद्धोऽनादिश्च" इति । तस्य समवस्थया कामुकावस्थया तुलां साम्यमाययौ प्राप कालकृतो विशेषोऽवस्था । 'विशेषः कालिकोऽवस्था' इत्यमरः ॥ ५० ॥

पाण्डुवर्ण मुखवाली, अत्यल्प भूषणोंवाली (जिसमें परिमित भूषण पहना जाय ऐसी) अवलम्बनके सहित (दासदासी या दण्ड आदिके सहारेसे) गमनवाली और क्षीणस्वरवाली क्षयरोगकी खिन्नताने कामुककी समान अवस्थाको प्राप्त किया अर्थात् 'अग्निवर्ण' क्षयरोगसे कामुकके समान पीले पड़ गये, परिमित आभूषण पहनने लगे, दास-दासीके हाथ आदिका सहारा लेकर चलने लगे और क्षीण स्वरसे बोलने लगे ॥ ५० ॥

व्योम पश्चिमकलास्थितेन्दु वा पङ्कशेषमिव घर्मपल्वलम् ।
राज्ञि तत्कुलमभूत्क्षयातुरे वामनार्चिरिव दीपभाजनम् ॥ ५१ ॥

व्योमेति । राज्ञि क्षयातुरे सति तत्कुलं पश्चिमकलायां स्थित इन्दुर्यस्मिंस्तत्कलावशिष्टेन्दु व्योम वा व्योमेव । वाशब्द इवार्थे । यथाह दण्डी—'इववद्वायथाशब्दौ' इति । पङ्कशेषं घर्मपल्वलमिव । वामनार्चिरल्पशिखं दीपभाजनं दीपपात्रमिवाभूत् ॥५१॥

राजा 'अग्निवर्ण'के क्षयरोगी होनेपर वह रघुकुल अन्तिमकलासे अवशिष्ट चन्द्रकलावाले आकाशके समान, कीचड़ मात्र बचे हुए ग्रीष्मकालीन छोटे जलाशयके समान, छोटी लव (ज्वाला) वाले दीपपात्रके समान हो गया ॥ ५१ ॥

बाढमेष दिवसेषु पार्थिवः कर्म साधयति पुत्रजन्मने ।
इत्यदर्शितरुजोऽस्य मन्त्रिणः शश्वदूचुरघशङ्किनीः प्रजाः ॥ ५२ ॥

बाढमिति । बाढं सत्यमेष पार्थिवो दिवसेषु पुत्रजन्मने पुत्रोदयार्थं कर्म जपादिकं साधयति । इत्येवमदर्शितरुजो निगूहितरोगाः सन्तोऽस्य राज्ञो मन्त्रिणोऽघशङ्किनीर्व्यसनशङ्किनीः प्रजाः शश्वदूचुः ॥ ५२ ॥

"ये राजा 'अग्निवर्ण' सत्य, दिनोंमें पुत्रोत्पत्तिके लिये पर्याप्त कर्मसाधन जपादि करते हैं" ऐसा उस 'अग्निवर्ण'के रोगको छिपानेवाले मन्त्रियोंने अनिष्टकी आशङ्का करनेवाली प्रजाओंसे सर्वदा कहा ॥ ५२ ॥

स त्वनेकवनितासखोऽपि सन्पावनीमनवलोक्य सन्ततिम् ।
वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं न प्रदीप इव वायुमत्यगात् ॥ ५३ ॥

स इति । स त्वग्निवर्णोऽनेकवनितासखः सन्नपि । पावनीं पित्रृणमोचनीं सन्त-

तिमनवलोक्य, पुत्रमनवाप्येत्यर्थः। वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं रोगम्। प्रदीपो वायुमिव। नात्यगान्नातिचक्राम, ममारेत्यर्थः ॥ ५३ ॥

फिर वे 'अग्निवर्ण' राजा अनेक स्त्रियोंके साथ रहते हुए भी पवित्र सन्तानको नहीं देखकर वैद्योंके यत्नको व्यर्थ करनेवाले रोगको वायुको दीपकके समान अतिक्रमण नहीं कर सके (रोगको नहीं जीत सके अर्थात् मर गये) ॥ ५३ ॥

तं गृहोपवन एव सङ्गताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा।
रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः सम्भृते शिखिनि गूढमादधुः ॥ ५४ ॥

तमिति। पश्चिमक्रतुविदान्त्येष्टिविधिज्ञेन पुरोधसा सङ्गताः समेता मन्त्रिणो गृहोपवन एव गृहाराम एव। 'आरामः स्यादुपवनम्' इत्यमरः। रोगशान्तिमपदिश्य शान्तिकर्म व्यपदिश्य तमग्निवर्णं सम्भृते समिद्धे शिखिन्यग्नौ गूढमप्रकाशमादधुर्निदधुः अग्निसंस्कारं चक्रुरित्यर्थः ॥ ५४ ॥

अन्तिम संस्कार (अन्त्येष्टि) की विधिके ज्ञाता पुरोहितके साथ मन्त्रियोंने मिलकर उस 'अग्निवर्ण'को गृहके उपवनमें ही रोगके शान्तिकर्मका बहाना करके जलती हुई अग्निमें गुप्तरूपसे (विना किसीसे दिखाये) जला दिया ॥ ५४ ॥

तैः कृतप्रकृतिमुख्यसंग्रहैराशु तस्य सहधर्मचारिणी।
साधुदृष्टशुभगर्भलक्षणा प्रत्यपद्यत नराधिपश्रियम् ॥ ५५ ॥

तैरिति। आशु शीघ्रं कृतः प्रकृतिमुख्यानां पौरजनप्रधानानां सङ्ग्रहः संनिपातनं यैस्तादृशैर्मन्त्रिभिः साधु निपुणं दृष्टशुभगर्भलक्षणा परीक्षितशुभगर्भचिह्ना तस्याग्निवर्णस्य सहधर्मचारिणी नराधिपश्रियं प्रत्यपद्यत राजलक्ष्मीं प्राप ॥ ५५ ॥

(फिर) शीघ्र ही प्रधान नागरिकोंको बुलाकर मन्त्रियोंसे अच्छी तरह मालूम हुए गर्भके लक्षणोंवाली उस 'अग्निवर्ण'की सहधर्मिणी (पटरानी) ने राजलक्ष्मीको प्राप्त किया ॥

तस्यास्तथाविधनरेन्द्रविपत्तिशोका-
दुष्णैर्विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तः।
निर्वापितः कनककुम्भमुखोज्झितेन
वंशाभिषेकविधिना शिशिरेण गर्भः ॥ ५६ ॥

तस्या इति। तथाविधया नरेन्द्रविपत्त्या यः शोकस्तस्मादुष्णैर्विलोचनजलैः प्रथमाभितप्तस्तस्या गर्भः कनककुम्भानां मुखैर्धारैरुज्झितेन शिशिरेण शीतलेन वंशाभिषेकविधिना लक्षणयाभिषेकजलेन निर्वापित आप्यायितः ॥ ५६ ॥

उस प्रकार राजा (पति) की विपत्ति (मृत्यु) जन्य शोकसे उष्ण अश्रुओंसे पहले सन्तप्त उस रानीका गर्भ स्वर्णकलशोंके मुखसे गिरे हुए ठण्डे वंशाभिषेककी विधिसे शीतल अर्थात् पूर्णतया तृप्त हुआ ॥ ५६ ॥

तं भावार्थं प्रसवसमयाकाङ्क्षिणीनां प्रजाना-
मन्तर्गूढं क्षितिरिव नभोबीजमुष्टिं दधाना ।
मौलैः सार्धं स्थविरसचिवैर्हेमसिंहासनस्था
राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद्भर्तुरव्याहताज्ञा ॥ ५७ ॥

तमिति। प्रसवो गर्भमोचनम्। फलं च विवक्षितम्। 'स्यादुत्पादे फले पुष्पे प्रसवो गर्भमोचने' इत्यमरः। तस्य यः समयस्तदाकाङ्क्षिणीनां प्रजानां भावार्थं भावाय, भूतय इत्यर्थः। 'भावो लीलाक्रियाचेष्टाभूत्यभिप्रायजन्तुषु' इति यादवः। क्षितिरन्तर्गूढं नभोबीजमुष्टिमिव। श्रावणमास्युप्तं बीजमुष्टिं यथा धत्ते तद्वदित्यर्थः। मुष्टिशब्दो द्विलिङ्गः। 'अक्लीबौ मुष्टिमुस्तकौ' इति यादवः। अन्तर्गूढमन्तर्गतं तं गर्भं दधाना हेमसिंहासनस्थाऽव्याहताज्ञा राज्ञी मौलैर्मूलादागतैर्वा। आप्तैरित्यर्थः। स्थविरसचिवैर्वृद्धामात्यैः सार्धं भर्तू राज्यं विधिवद्विध्यर्हम्, यथाशास्त्रमित्यर्थः। अर्हार्थे वतिप्रत्ययः। अशिषच्छास्ति स्म। "सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च" इति च्लेरङ्। "शास इदङ्हलोः" इतीकारः ॥ ५७ ॥

इति महामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितया सञ्जीविनीसमाख्यया व्याख्यया समेतो महाकविश्रीकालिदासकृतौ रघुवंशे महाकाव्ये अग्निवर्णश्रृङ्गारो नामैकोनविंशः सर्गः ॥ १९ ॥

फल-समय (फल लगनेवाले कार्तिक मास) को चाहनेवाली प्रजाओं (किसानों) की उन्नतिके लिये भीतरमें छिपे हुए तथा श्रावणमासमें बोये गये बीजकी मूठको धारण करती हुई पृथ्वीके समान प्रसूतिसमय (बालकके पैदा होनेका दशम मास) को चाहनेवाली प्रजाओंकी उन्नतिके लिये अन्तर्गुप्त (उदरमें स्थित) उस गर्भको धारण करती हुई राज-सिंहासनस्थ और अस्खलित शासनवाली उस रानीने विश्वासपात्र मन्त्रियोंके साथ विधिपूर्वक पतिके राज्यका शासन किया ॥ ५७ ॥

वैक्रमे, वसुखखाक्षि(२००८)वत्सरे सौम्ययुक्त'विजया'ख्यदिक्तिथौ ।
पूर्णतामुपगता 'मणिप्रभा' विश्वनाथपदपङ्कजेऽर्पिता ॥ १ ॥

हरगोविन्दभक्तेन हरगोविन्दशास्त्रिणा ।
हरगोविन्दतो लब्धं यत्तत्तत्र समर्पितम् ॥ २ ॥

समाप्तं रघुवंशमहाकाव्यम् ।

रघुवंशश्लोकानुक्रमणिका।

२५ र०

प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा-संस्कृत-पुस्तकालय,

पो० बा० नं० ८, बनारस-१

रघुवंशमहाकाव्यस्थानि सुभाषितानि ।

हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा । (१।१०)

सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः । (१।१८)

प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः । (१।७९)

स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः । (२।४)

भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि । (२।२२)

न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य । (२।३४)

शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति । (२।४०)

स्थातुं नियोक्तुर्नहि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन । (२।५६)

एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेस्वनास्था खलु भौतिकेषु । (२।५७)

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुः । (२।५८)

भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम् । (३।१४)

क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति । (३।२९)

पथः श्रुतेर्दर्शयितार ईश्वरा मलीमसामाददते न पद्धतिम् । (३।४६)

यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः । (३।४८)

पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते । (३।६२)

गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् । (३।७०)

प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम् । (४।६४)

आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव । (४।८६)

सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा । (५।१३)

पर्यायपीतस्य सुरैर्हिमांशोः कलाक्षयः श्लाघ्यतरो हि वृद्धेः । (५।१६)

निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि । (५।१७)

उष्णत्वमग्न्यातपसंप्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य । (५।५४)

प्रतिप्रियं चेद्भवतो न कुर्यां वृथा हि मे स्यात्स्वपदोपलब्धिः। (५।५६)

नक्षत्रताराग्रहसङ्कुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः। (६।२२)

भिन्नरुचिर्हि लोकः। (६।३०)

न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली। (६।६९)

रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन। (६।७९)

मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम्। (७।१५)

धूमो निवर्त्येत समीरणेन यतस्तु कक्षस्तत एव वह्निः। (७।५५)

न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय। (७।७१)

न हि तेन पथा तनुत्यजस्तनयावर्जितपिण्डकाङ्क्षिणः। (८।२६)

ननु तैलनिषेकबिन्दुना सह दीपार्चिरुपैति मेदिनीम्। (८।३८)

प्रतिकारविधानमायुषः सति शेषे हि फलाय कल्पते। (८।४०)

अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु। (८।४३)

विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया। (८।४६)

धिगिमां देहभृतामसारताम्। (८।५१)

वसुमत्या हि नृपाः कलत्रिणः। (८।८३)

परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्। (८।८५)

स्वजनाश्रु किलातिसन्ततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते। (८।८६)

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः। (८।८७)

द्रुमसानुमतां किमन्तरं यदि वायौ द्वितयेऽपि ते चलाः। (८।९०)

अपथे पदमर्पयन्ति हि श्रुतवन्तोऽपि रजोनिमीलिताः। (९।७४)

कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति (९।८०)

अभ्याक्षेपो भविष्यन्त्याः कार्यसिद्धेर्हि लक्षणम्। (१०।६)

याथार्थ्यं वेद कस्तव। (१०।२४)

स्तुतिभ्यो व्यतिरिच्यन्ते दूराणि चरितानि ते। (१०।३०)

स्वयमेव हि वातोऽग्नेः सारथ्यं प्रतिपद्यते। (१०।४०)

तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते। (११।१)

अप्यसुप्रणयिनां रघोः कुले न व्यहन्यत कदाचिदर्थिता। (११।२)

किं महोरगविसर्पिविक्रमो राजिलेषु गरुडः प्रवर्तते । (११।२७)

सद्य एव सुकृतां हि पच्यते कल्पवृक्षफलधर्मि काङ्क्षितम् । (११।५०)

पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः । (११।७५)

खातमूलमनिलो नदीरयैः पातयत्यपि मृदुस्तटद्रुमम् । (११।७६)

केवलोऽपि सुभगो नवाम्बुदः किम्पुनस्त्रिदशचापलाञ्छितः । (११।८०)

निर्जितेषु तरसा तपस्विनां शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये । (११।८९)

अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभवः । (१२।३३)

काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः । (१२।६९)

अपि स्वदेहात् किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीयः । (१४।३५)

छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः । (१४।४०)

अमर्षणः शोणितकाङ्क्षया किं पदा स्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः । (१४।४१)

आज्ञा गुरूणामविचारणीया । (१४।४६)

त्राणाभावे हि शापास्त्राः कुर्वन्ति तपसो व्ययम् । (१५।३)

धर्मसंरक्षणार्थैव प्रवृत्तिर्भुवि शार्ङ्गिणः । (१५।४)

संमुखीनो हि जयो रन्ध्रप्रहारिणाम् । (१५।१७)

सौभ्रात्रमेषां हि कुलानुसारि । (१६।१)

प्रह्वेष्वनिर्बन्धरुषो हि सन्तः । (१६।८०)

वयोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम् । (१७।४३)

न हि सिंहो गजास्कन्दी भयाद्गिरिगुहाशयः । (१७।५२)

समीरणसहायोऽपि नाम्भःप्रार्थी दवानलः । (१७।५६)

अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते । (१७।६०)

सक्तिविघ्नानपि हि प्रयुक्तं माधुर्यमीष्टे हरिणान् ग्रहीतुम् । (१८।१३)

सुखोपरोधि वृत्तं हि राज्ञामुपरुद्धवृत्तम् । (१८।१८)

स्वादुभिस्तु विषयैर्हृतस्ततो दुःखमिन्द्रियगणो निवार्यते । (१९।४९)